अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

हरिदत्त वेदालंकार

सरस्वती सदन, मसूरी

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(१६१६—१६६४)

लेखक

हरिदत्त वेदालंकार एम० ए०

प्राध्यापक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

प्रकाशक

सरस्वती सदन, मसूरी

जुलाई, १६६४] तृतीय संस्करण [मूल्य ११ रु०

प्रकाशक
सरस्वती सदन, मसूरी ।

मुद्रक
भारत मुद्रणालय, शाहदरा, दिल्ली ।

आयुष्मती उदिता
तथा
आयुष्मान् उदयन
को

तृतीय संस्करण की भूमिका

इस संस्करण में नवीन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का समावेश कर इसे पूर्ण रूप से संशोधित किया गया है। अक्टूबर १९६२ में चीन द्वारा भारत पर आक्रमण से उत्पन्न नवीन समस्याओं पर इसमें विशेष प्रकाश डाला गया है। प्रथम परिशिष्ट में भारत की चीन के प्रति मित्रतापूर्ण नीति, चीन के विश्वासघात, सीमा सम्बन्धी विवाद, तथा आक्रमण एवं युद्ध विराम, चीन के शान्ति प्रस्तावों तथा कोलम्बो प्रस्तावों का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। इस संस्करण में इस पर भी प्रकाश डाला गया है कि चीन ने अपने मित्र भारत पर किन कारणों से प्रेरित होकर हमला किया (५००–५०३) तथा युद्ध वन्द करने की घोषणा की (५०४–५)।

चीन के एक पुराने दार्शनिक सन वू का कथन है—'अपने को पहचानो तथा अपने शत्रु को समझो तो सौ लड़ाइयों में सौ विजएँ तुम्हारी होंगी'। इस दृष्टि से इस बार इस पुस्तक में चीनी विदेशनीति के मूल प्रेरक तत्त्वों, लक्ष्यों, साधनों तथा विभिन्न अवस्थाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है (पृ० ५०५–५२७), एशिया के तथा अफ्रीका के नव-जागरण की नवीन प्रवृत्तियों (४४८–५९), अरब जगत् (४८२–४), पाकिस्तान और चीन के नये गठबन्धन (५३३–५), मलायेशिया संघ (पृ० ५३०–३१), अफ्रीका के स्वतन्त्र होने वाले नए राज्यों का वर्णन किया गया है।

इस संस्करण में नवीनतम एवं महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर प्रकाश डालते हुए १०० पृष्ठ का मैटर बढ़ाया गया है। इस समय चीन और रूस में प्रवल सैद्धान्तिक मतभेद चल रहा है, इसका वर्णन करते हुए (५२३–७), लाओस (पृ० ३२०), यमन (३२१), काश्मीर की समस्याओं (२८७), क्यूबा का संकट (३९४), अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (३९७) का प्रतिपादन किया गया है। इस बात का भी विवेचन किया गया है कि हमारी दोनों गुटों से अलग रहने की विदेश नीति चीनी आक्रमण के बाद कहाँ तक सफल सिद्ध हुई है (४३९–४४७)।

इस संस्करण के संशोधन के लिए मुझे श्री सोहनलाल जी, सम्पादक करेण्ट ईवेण्टस, देहरादून से महत्त्वपूर्ण सामग्री मिली है। नई दिल्ली की **विश्व मामलों की भारतीय परिषद्** (Indian Council of World Affairs) के पुस्तकालयाध्यक्ष जी के सौजन्य से उसकी नवीन पुस्तकों से लाभ उठाने का सौभाग्य मिला है, अतः मैं इन सब महानुभावों का बहुत आभारी हूँ।

गुरुकुल कांगड़ी
२२ अप्रैल, १९६४

—हरिदत्त

द्वितीय संस्करण की भूमिका

यह बड़े हर्ष की बात है कि इस पुस्तक का प्रथम संस्करण अल्पकाल में ही समाप्त हो गया। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य प्रतिदिन समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाली घटनाओं की पृष्ठभूमि का ज्ञान कराना है। ये घटनाएँ ध्रुवीय महासागरों से बहकर आने वाले विशाल हिमखण्डों (Icebergs) के सदृश होती हैं। जिस प्रकार इन हिमखण्डों का पानी के ऊपर दिखाई देने वाला भाग बहुत थोड़ा तथा पानी में डूबा हुआ भाग बहुत अधिक होता है, इसी प्रकार दैनिक समाचार-पत्रों में छपने वाली अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का बहुत थोड़ा अंश अखबारों में प्रकाशित होता है, किन्तु इन्हें असाधारण महत्त्व प्रदान करने वाला बहुत बड़ा अंश इनके नीचे छिपा रहता है। इसे उद्घाटित करके अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का महत्त्व और मर्म स्पष्ट करना इस पुस्तक का मुख्य लक्ष्य है।

द्वितीय संस्करण का संशोधन करते समय इसमें अनेक नई महत्वपूर्ण घटनाओं का समावेश किया गया है। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कांगो का प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण बन गया है, इसमें उसका विस्तार से प्रतिपादन है (पृ० ३१६-२६)। रूस तथा अमेरिका के शीतयुद्ध पर प्रभाव डालने वाली घटनाओं—यू–२ विमान की जासूसी उड़ान (पृ० ३०८), आर–बी० ४७ की घटना (पृ० ३११), १९६० के शिखर सम्मेलन की निष्फलता (पृ० ३९४) तथा निरशस्त्रीकरण (पृ० ३८४) के प्रस्तावों का वर्णन है। १९६० का साल अफ्रीका की स्वतन्त्रता का वर्ष कहा जाता है। आज तक कभी किसी एक वर्ष में इतने अधिक राष्ट्र साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त नहीं हुए। इसमें इनका उल्लेख करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इनके प्रभाव का विवेचन किया गया है (पृ० ४७६)। इसके अतिरिक्त स्पेन के गृहयुद्ध (पृ० १७५), वाशिंगटन सम्मेलन के कारणों तथा परिणामों (पृ० ११२), सं० रा० संघ के कार्यों, इसके १९६० के १५वें अधिवेशन के महत्त्वपूर्ण निश्चयों पर नई सामग्री बढ़ायी गई है (पृ ३२६)। इसमें दिसम्बर १९६० तक ही घटनाओं का समावेश कर इसे यथासंभव अधिक से अधिक अद्यतनीन (up-to-date) बनाने का प्रयास किया गया है।

आशा है, यह नवीन संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में अनुराग रखने वाले पाठकों तथा विद्यार्थियों के लिए बड़ा उपयोगी एवं ज्ञानवर्द्धक होगा, इसे अद्यतनीन बनाने के लिए करैण्ट ईवेण्ट (Current Events) देहरादून के सम्पादक श्री सोहनलाल जी ने मुझे जो बहुमूल्य सहायता दी है, उसके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूँ।

—हरिदत्त

गुरुकुल कांगड़ी
३१ दिसम्बर, १९६०

प्रथम संस्करण की भूमिका

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमंच पर होने वाली घटनाओं की तुलना एक अंश में चित्रपट के पर्दे पर प्रदर्शित की जाने वाली घटनाओं से की जा सकती है। यदि आप कोई खेल शुरू होने के बहुत समय बाद पहुँचते हैं तो कथा के आरम्भिक भाग का ज्ञान न होने से कुछ समय तक आपको पर्दे पर दिखाई देने वाले दृश्य और पात्रों के कथोपकथन दुरूह रहस्य प्रतीत होते हैं, यही दशा दैनिक समाचार-पत्रों का अवलोकन करने वाले पाठकों तथा इनसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जानकारी चाहने वाले जिज्ञासु व्यक्तियों और विद्यार्थियों की होती है। प्रतिदिन समाचार पत्रों में बर्लिन की समस्या, निश्शस्त्रीकरण, आणविक आयुधों के नियन्त्रण, रूस और अमेरिका के शीतयुद्ध, मध्यपूर्व के देशों में क्रान्तियों के समाचार प्रकाशित होते रहते हैं, किन्तु इनकी पृष्ठ-भूमि का ज्ञान न होने से ये समाचार पाठकों को पूरी तरह समझ नहीं आते।

इस पुस्तक में इस बात का विनम्र प्रयास किया गया है कि १९१९ से अब तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रमुख समस्याओं की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला जाय, उनके प्रेरक तत्त्वों और कारणों का सरल, सरस, सुबोध, संक्षिप्त और प्रामाणिक परिचय दिया जाय। इसका प्रणयन आगरा, राजस्थान, बनारस, इलाहाबाद, बिहार, पटना आदि विभिन्न विश्वविद्यालयों में इस विषय का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की तथा सामान्य पाठकों की आवश्यकताएँ दृष्टि में रखते हुए किया गया है।

इस पुस्तक का प्रणयन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लिखे गए सर्वश्री शूमैन, हार्डी, कार, मदन गोपाल आदि के सुप्रसिद्ध ग्रंथों, चर्चिल आदि के विख्यात युद्ध संबंधी संस्मरणों के आधार पर किया गया है, लेखक इन सब ग्रन्थों का आभारी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की अनेक समस्यायें बड़ी जटिल और विवादास्पद हैं, लेखक ने इस बात का प्रयत्न किया है कि ऐसे प्रश्नों पर दोनों पक्षों का दृष्टिकोण उपस्थित किया जाय। उदाहरणार्थ रूस की विदेश नीति, साम्यवादी चीन की मान्यता और सं० रा० संघ में स्थान देने के बारे में उसने दोनों पक्षों की मान्यताओं का उल्लेख किया है। इस पुस्तक में प्रतिपादित कई मत सामान्य रूप से माने जाने वाले मतों से भिन्न हैं, उदाहरणार्थ प्रायः हिटलर को मुख्य रूप से वर्साय की संधि की उपज माना जाता है, यहाँ इसे प्रधान रूप से १९२९–३० की भीषण आर्थिक मन्दी का परिणाम बताया गया है (पृ० १३०)। प्रायः वर्साय की सन्धि की कठोरता को प्रथम विश्व युद्ध के बाद उत्पन्न होने वाली सब समस्याओं के लिए उत्तरदायी समझा जाता है, इस पुस्तक में इससे भिन्न मत प्रकट किया गया है। लेखक ने सर्वत्र पाद-टिप्पणियों द्वारा अपने कथनों को प्रमाणिक विद्वानों के ग्रन्थ-निर्देश द्वारा पुष्ट करने का प्रयत्न किया है।

इस पुस्तक में अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के विस्तार में न जाते हुए उन्हें उत्पन्न करने वाले मौलिक तत्त्वों और भौगोलिक परिस्थितियों पर अधिक बल दिया गया है। उदा-

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

प्रथम अध्याय

पेरिस का शान्ति-समझौता १९१९–२०

युद्ध का अन्त और शान्ति-समझौता

११ नवम्बर, १९१८ को प्रातःकाल पाँच बजे युद्धपीड़ित विश्व ने यह शुभ समाचार अतीव आनन्द के साथ सुना कि जर्मन प्रतिनिधियों ने आत्म-समर्पण करते हुए विराम-सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये हैं और ११ बजे दोनों पक्षों की ओर से युद्ध बन्द कर दिया जायगा। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति से सब देशों में अपार प्रसन्नता की लहर दौड़ना सर्वथा स्वाभाविक था क्योंकि अब तक इतिहास में इससे अधिक जन-धन की भीषण क्षति और विध्वंस किसी युद्ध में नहीं हुआ था। इसमें भाग लेने वाले दोनों पक्षों के साढ़े छः करोड़ सैनिकों में से १ करोड़ ३० लाख काल का ग्रास बने, इस प्रकार प्रति पाँच सैनिकों में से लगभग एक सैनिक लड़ते हुए मारा गया। दो करोड़ बीस लाख सैनिक घायल हुए, इस तरह प्रति तीन सैनिकों में से एक आहत हुआ, घायलों में से सत्तर लाख व्यक्ति बिल्कुल पंगु और बेकार हो गये। यह संख्या १७९० ई० से १९१३ ई० तक योरोप में होने वाले युद्धों के हताहतों की संख्या के दुगने से भी अधिक थी। सैनिकों के इस भीषण नर-संहार के अतिरिक्त हमलों, हत्याकांडों, भुखमरी और महामारी से मरने वाली नागरिक जनता की संख्या का सही अन्दाज़ा लगाना सम्भव नहीं है, वह इससे कहीं अधिक थी।

आर्थिक दृष्टि से भी यह युद्ध बड़ा व्ययसाध्य और विध्वंसक था। मित्रराष्ट्रों ने तथा जर्मनी और उसके सहयोगी राष्ट्रों ने युद्ध के संचालन में १ खरब ८६ अरब डालर की राशि व्यय की थी। यदि इसमें जल-थल में सम्पत्ति को पहुँचने वाली हानि की मात्रा जोड़ दी जाय तो इसका वास्तविक व्यय २ खरब ७० अरब डालर था।[1] इसकी विशालता का अनुमान इससे किया जा सकता है कि यदि यह ३५ करोड़ भारतीयों में बांटी जाती तो प्रति व्यक्ति को पौने चार हज़ार रुपये के लगभग प्राप्त होता।

इस भीषण युद्ध की समाप्ति पर सबसे बड़ा और जटिल प्रश्न शान्ति की स्थायी व्यवस्था करना था। इसमें राजनीतिज्ञों को युद्ध की अपेक्षा अधिक समय लगा। युद्ध सवा चार वर्ष (२८ जुलाई, १९१४ से ११ नवम्बर, १९१८) में समाप्त हुआ था, पर विभिन्न देशों के साथ शान्तिसन्धियां करने में पाँच वर्ष का समय लगा। मित्रराष्ट्रों ने २८ जून, १९१९ को जर्मनी के साथ वर्साय (Versailles) की सन्धि की, १० सितम्बर,

१. लैंगसम—वर्ल्ड सिन्स १९१९, सप्तम संस्करण, पृ० १–२

१९१९ को आस्ट्रिया के साथ सां जर्में (Saint Germain) की सन्धि की, बल्गारिया के साथ २७ नवम्बर को नयी (Nevilly) की सन्धि की, हंगरी के साथ ४ जून, १९२० को त्रियानों की सन्धि की, तुर्की के साथ १० अगस्त, १९२० को सेव्र (Sevres) की तथा २३ जुलाई, १९२३ को लोज़ान (Laussanne) की सन्धि की, ६ अगस्त, १९२४ को इस सन्धि के क्रियान्वित होने पर ही पूर्ण रूप से शान्ति स्थापित हुई, इसी बीच में १९२१–२२ में वाशिंगटन में महाशक्तियों ने सुदूरपूर्व में शान्ति बनाये रखने के लिए कुछ सन्धियां कीं। ये सब सन्धियां मिलकर **शान्ति-समझौता** (Peace Settlement) कहलाती हैं। १९१९ के बाद २० वर्ष तक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में घटित होने वाली सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का इन शान्तिसन्धियों के साथ गहरा सम्बन्ध है। अतः इस समय के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन के लिए शान्ति समझौते और सन्धियों का ज्ञान आवश्यक है। इन्हें कराने का प्रधान श्रेय पेरिस के शान्ति-सम्मेलन को है।

पेरिस का शान्ति-सम्मेलन और इसके प्रमुख नेता

युद्ध समाप्त होने पर शान्ति-सम्मेलन का केन्द्र फ्रांस की राजधानी पेरिस को चुना गया क्योंकि इस युद्ध में जर्मनी के आक्रमणों का प्रतिरोध करने में फ्रांस ने बहुत अधिक शौर्य प्रदर्शित किया था। शान्ति-सम्मेलन का पहला पूर्ण अधिवेशन (Plenary session) १८ जनवरी, १९१९ को हुआ। इसमें जर्मनी आदि हारे हुए देशों को छोड़कर विश्व के २७ राष्ट्रों के ७० प्रतिनिधि उपस्थित थे। प्रत्येक देश ने अपने प्रतिनिधि मण्डल के साथ अनेक सचिव, सहायक और परामर्शदाता भेजे थे। इतने अधिक प्रतिनिधियों का एक साथ बैठकर शान्तिपूर्वक विचार करना सम्भव न था, अतः इसका कार्य चलाने के लिए **'दस की परिषद्'** (Council of Ten) बनाई गई। इसमें निम्नलिखित पाँच राष्ट्रों के दो-दो प्रतिनिधि होते थे—संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान। किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि कार्य-संचालन और गोपनीयता की दृष्टि से 'दस की परिषद्' भी बहुत बड़ी है, अतः मार्च, १९१९ में यह घोषणा की गई कि भविष्य में सारा सन्धि-कार्य **'चार व्यक्तियों की परिषद्'** (Council of Four) करेगी, ये चार व्यक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली के मुख्य प्रतिनिधि राष्ट्रपति विल्सन, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री लायड जार्ज, फ्रेंच प्रधानमन्त्री क्लेमेन्सो, इटालियन प्रधानमन्त्री आरलैण्डो थे। ये **'चार बड़े'** (Big Four) कहलाते थे। अप्रैल, १९१९ में इटली के प्रधानमन्त्री आरलैण्डो विल्सन से रुष्ट होकर स्वदेश वापिस लौट गये और इसके बाद विल्सन, लायड जार्ज और क्लेमेन्सो की त्रिमूर्ति ने शान्ति-सम्मेलन के सब महत्त्वपूर्ण निर्णय किये। इनके व्यक्तित्व ने शान्तिसन्धियों पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला, अतः इनका परिचय आवश्यक है।

विल्सन—संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) उस समय वस्तुतः शान्ति का देवता और हजरत मूसा और ईसा की भाँति एक नया मसीहा समझा जाता था। निकल्सन (Nicholson) ने लिखा है कि वह अपने को मानवजाति की नई व्यवस्था करने वाला पैगम्बर मानता था। योरोप में

उस समय यह भावना थी कि केवल वही व्यक्ति विभिन्न राष्ट्रों के रागद्वेष और ईर्ष्या की भावना से ऊपर उठा हुआ तथा मानवता का त्राता है। अतः सब देशों में उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। जब वह लन्दन आया तो उसके दर्शनार्थियों की अपार भीड़ थी, जब वह पेरिस पहुँचा तो फ्रेंच उसे देखकर आनन्दाश्रुओं से गद्गद हो गये। प्राचीन रोमन साम्राज्य की समाप्ति के बाद योरोप में विल्सन जैसा भव्य स्वागत किसी राजनीतिज्ञ का नहीं हुआ था।

विल्सन बड़ा आदर्शवादी था, वह विश्व की नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का प्रतिनिधि था, उसे यह दृढ़ विश्वास था कि मानवजाति की रक्षा और उद्धार राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना से ही हो सकता है, वह इसे सब शान्ति-सन्धियों का अनिवार्य अंग बनाना चाहता था। उसमें बड़ी शान्ति, धैर्य, दूसरों को अपने मत का समर्थक बनाने वाली प्रभावशाली भाषणशैली की शक्ति थी। किन्तु वह मानसिक दृष्टि से लायड जार्ज और क्लेमेन्सो की अपेक्षा अधिक कुशाग्र और तीव्र नहीं था, अपने विचारों के विरोध को वैयक्तिक अपमान समझता था, विभिन्न निर्णयों को करने में विशेषज्ञों की सम्मतियों का आदर नहीं करता था, किन्तु अपने पहले से बने विचारों पर अधिक भरोसा रखता था। कूटनीतिज्ञता में अपने साथियों की अपेक्षा बहुत कम पारंगत था। योरोपियन समस्याओं के सम्बन्ध में उसकी जानकारी बड़ी सीमित थी। उसके आदर्शवाद और राष्ट्रसंघ की स्थापना के अत्यधिक उत्साह का दूसरे देशों ने पूरा लाभ उठाया क्योंकि विल्सन तथा उसका परामर्शदाता कर्नल हाउस राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए दूसरे देशों को सहमत करने के लिए इतने अधिक उत्सुक थे कि वे कई अंशों में विल्सन की चौदह शर्तों में स्वीकृत सिद्धान्तों की अवहेलना करने के लिए तैयार हो गए। पाल वर्डसल के मतानुसार क्षतिपूर्ति की समस्या के अतिरिक्त अन्य सभी प्रश्नों पर ब्रिटिश, जापानी और फ्रेंच विल्सन से राष्ट्रसंघ के नाम पर प्रायः अपनी अधिकांश बातें मनवाने में सफल हुए। चीनी जनता द्वारा बसा हुआ शाण्टुंग का प्रदेश विल्सन के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर चीन को मिलना चाहिए था, पर विल्सन ने राष्ट्रसंघ की स्थापना के लिए अन्य महाशक्तियों का सहयोग पाने के लिए इसे जापान को देने का निर्णय किया। यह स्वयमेव विल्सन द्वारा अपने सिद्धान्तों पर कुठाराघात था। किन्तु यह बड़े दुर्भाग्य और दुःख की बात है कि विल्सन ने जिस राष्ट्रसंघ के लिए अपने सिद्धान्तों का भी कुछ अंशों में बलिदान स्वीकार किया, उसी राष्ट्रसंघ को उसके अपने देश ने अस्वीकार कर दिया। १९१८ में कांग्रेस के चुनावों में विल्सन के विरोधी रिपब्लिकन दल को कांग्रेस के दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त हो गया और सीनेट ने राष्ट्रसंघ के विधान तथा वर्साय की सन्धि को स्वीकार करने का प्रस्ताव रद्द कर दिया।

लायड जार्ज—ब्रिटिश प्रधानमन्त्री तथा लिबरल दल के नेता लायड जार्ज (Lloyd George) का व्यक्तित्व, विशेषताएँ और उद्देश्य विल्सन से सर्वथा भिन्न थे। उसकी तीव्र बुद्धि, चातुर्यपूर्ण कूटनीति, बिजली की तेजी से निर्णय करने और बदलने की क्षमता, विशेषज्ञों की सम्मति पर भरोसा रखना, अनथक कार्यशक्ति, दूसरों की दुर्बलताओं को जानने का तथा उनसे लाभ उठाने का सामर्थ्य और विनोदप्रियता

बड़ी विलक्षण थी। लायड जार्ज को प्रायः दूसरों को अपने मत के अनुकूल बनाने में कोई कठिनाई नहीं होती थी, क्योंकि वह अपने प्रत्येक श्रोता के 'अहंभाव, दुर्बलता और स्वार्थ' के अनुरूप उस पर प्रभाव डालने वाली युक्तियों को प्रस्तुत करने में अत्यन्त पटु था। वह मौलिक सिद्धान्तों तथा विस्तृत ब्यौरे की बातों पर बहुत कम ध्यान देता था। ई० जे० डिल्लोन के मतानुसार उसके अधिकांश निर्णय कल्पना और अन्तर्दृष्टि (Intuition) के आधार पर होते थे और उसके निकटतम साथी भी कई बार कूटनीति में उसकी अगली चाल का अनुमान करने में सफल नहीं होते थे।

यद्यपि लायड जार्ज और उसकी लिबरल पार्टी ने १९१८ का पार्लियामैंट का चुनाव जर्मनी के साथ कठोर व्यवहार का समर्थन करने वाले ऐसे नारों के आधार पर चुना था कि 'जर्मनी से हर्जाना लिया जाय', 'शिलिंग के बदले शिलिंग और टन के बदले टन वसूल किया जाय', 'कैसर को फांसी पर लटकाया जाय'; किन्तु पेरिस की शान्ति-परिषद् में लायड जार्ज जर्मनी के प्रति फ्रांस की अपेक्षा अधिक मृदु और उदार व्यवहार का पक्षपाती था। फ्रांस की भाँति उसका उद्देश्य जर्मनी को पूर्ण रूप से कुचलना नहीं था, प्रत्युत उसके विपरीत ब्रिटिश व्यापार के पुनरुत्थान के लिए वह जर्मनी की अर्थव्यवस्था को पुनः सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करना चाहता था, क्योंकि उसकी दृष्टि में इससे जर्मनी में बोल्शेविक मत के प्रसार का निरोध और ब्रिटिश व्यापार की उन्नति सम्भव थी। वह विभिन्न प्रकार के समझौतों द्वारा जल्दी से जल्दी शान्ति स्थापित करना चाहता था ताकि ब्रिटिश व्यापार की उन्नति हो सके।

क्लेमेन्सो (Clemenceau)—फ्रांस का प्रधानमन्त्री और शान्ति-सम्मेलन का प्रधान इस परिषद् का सर्वोत्तम कूटनीतिज्ञ था, उसे अपने साथियों की अपेक्षा मानवीय प्रकृति का तथा विश्व की राजनीति का अधिक गहरा ज्ञान था। उसे फ्रांस का 'शेर' कहा जाता था, पर अब यह 'शेर' ७७ वर्ष का बूढ़ा हो चुका था, उसने १८७० में जर्मनी द्वारा फ्रांस के लज्जापूर्ण पराभव को अपनी आँखों से देखा था, अब वह स्वयमेव उसका पूर्ण प्रतिशोध लेने के लिए आतुर था। उसका मुख्य उद्देश्य जर्मनी को कुचलना और फ्रांस को सब प्रकार के भावी आक्रमणों से सुरक्षित बनाना था। कर्नल हाउस (House) के शब्दों में "उसे इस बात का दृढ़ विश्वास था कि जर्मनी शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता, उसका एक मात्र उद्देश्य जर्मनी का इतना दमन करना था कि वह फिर कभी फ्रांस के लिए संकट न बन सके।" वह बिस्मार्क की राजनीति का समर्थक था, उसे आदर्शवाद से बड़ी चिढ़ थी। वह विल्सन की चौदह शर्तों का व्यंग्य करते हुए कहा करता था—"अमेरिका के राष्ट्रपति की चौदह आज्ञायें हैं, जब कि भगवान की केवल दस ही आज्ञायें हैं।" अमेरिका के राज्य-मन्त्री लैंसिग ने फ्रेंच प्रधानमन्त्री की सफलता का कारण बताते हुए यह ठीक ही लिखा है—"वह यह जानते थे कि कब विरोध करना चाहिए और कब समझौता करना चाहिए। उन्हें आदर्शवाद के सही मूल्य का तथा इस बात का ज्ञान था कि विभिन्न देश इसका उत्साहपूर्ण समर्थन उस समय तक ही करते हैं, जब तक कि इससे उनके स्वार्थों पर कोई आंच नहीं आती।" शान्ति-सम्मेलन के प्रधान के रूप में क्लेमेन्सो का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण था, लैंसिग ने यह ठीक ही कहा है कि अपने व्यंग्यात्मक

वाक्यों, भाषण के प्रवाह तथा उग्रता से वह सब विरोधों को दबा देता था।

इस त्रिमूर्ति के अतिरिक्त इटली के प्रधानमन्त्री विट्टोरियो आरलैण्डो को भी 'चार बड़ों' में गिना जाता था। सिसलीवासी, कानून का भूतपूर्व अध्यापक यह विद्वान, प्रभावशाली वक्ता तथा चतुर राजनीतिज्ञ था। किन्तु अंग्रेजी का उत्तम ज्ञान न होने के कारण, यह शान्ति-परिषद् की कार्यवाही पर अपना विशेष प्रभाव नहीं डाल सका।

इस सम्मेलन में उपर्युक्त **'चार बड़ों'** के अतिरिक्त अमेरिका से लैनसिंग तथा हाउस, इंगलैंड से बालफोर और बोनर ला, फ्रांस से पिशोन, तारद्यू और काम्बो, इटली से सोन्नियो, बेल्जियम से हाइमैन्स, पोलैण्ड से दमोवस्की और पादरेफस्की, दक्षिण अफ्रीका से जनरल स्मट्स और बोथा, सम्मिलित हुए। सोवियत रूस को मार्च, १९१८ में जर्मनी से सन्धि कर लेने तथा पूंजीवाद का विरोधी होने के कारण आमन्त्रित नहीं किया गया था। जर्मनी आदि पराजित राष्ट्रों को सन्धि-पत्र तैयार हो जाने पर केवल हस्ताक्षर के लिए ही बुलाया गया था।

शान्ति-सम्मेलन के मूल आधार

शान्ति-सम्मेलन की बैठक आरम्भ होने पर यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि विभिन्न शान्ति-सन्धियों का क्या आधार हो। इस सम्बन्ध में दो प्रकार के मुख्य मत थे, अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन और जर्मनी का यह मत था कि शान्ति-सन्धियों का आधार विल्सन द्वारा युद्धकाल में प्रतिपादित सिद्धान्त होने चाहियें, और इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली युद्ध के समय की गई गुप्त सन्धियों के आधार पर शान्ति-समझौते की रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहते थे।

(क) विल्सन के सिद्धान्त—चौदह शर्तें (Fourteen points)—विल्सन ने अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने से पहले और बाद में बार-बार इस बात पर बल दिया था कि युद्ध के बाद शान्ति की व्यवस्था तथा स्थापना कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर होनी चाहिए, यदि ऐसा न हुआ तो शान्ति-सन्धि विजेता पक्ष द्वारा पराजित पक्ष पर बलपूर्वक थोपी हुई व्यवस्था होगी, हारा हुआ पक्ष इसे विवशता में स्वीकार किया हुआ अपमान समझेगा, इससे उत्पन्न हुआ असन्तोष और कटु स्मृति शान्ति की व्यवस्था को बालू पर बनी भीत की भाँति अस्थिर बना देगी। अतः २ अप्रैल, १९१७ को उसने कांग्रेस में अमेरिका के युद्धोद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा था—"विश्व की शान्ति का निर्माण राजनीतिक स्वतन्त्रता के सुपरीक्षित आधारों पर होना चाहिए। हमें अपनी कोई स्वार्थपूर्ति नहीं करनी है, हमें किसी विजय या प्रदेशों की आकांक्षा नहीं है, हम तो केवल मानवजाति के अधिकारों के संरक्षक हैं।" इन अधिकारों की विस्तृत व्याख्या विल्सन ने ८ जनवरी, १९१८ के कांग्रेस के भाषण में की। इसमें उसने यह कहा कि भावी शान्ति की व्यवस्था करते हुए निम्नलिखित १४ शर्तों का पालन किया जाना चाहिए :—

(१) शान्ति के सभी समझौते सार्वजनिक और खुले वार्तालाप द्वारा निश्चित हों, गुप्त रूप से तय न हों।

(२) विभिन्न देशों की प्रादेशिक जलीय सीमाओं से परे के समुद्रों पर युद्ध एवं

शान्ति के समय सब देशों को नौचालन की पूरी स्वतन्त्रता हो।

(३) सब देशों में व्यापार की परिस्थितियों में समानता स्थापित करने के लिए सब प्रकार के आर्थिक प्रतिबन्धों और चुंगियों को यथासम्भव हटा दिया जाय।

(४) सब राष्ट्रों के शस्त्रास्त्रों को इस सीमा तक घटाने के समझौते किए जायें कि ये शस्त्र केवल घरेलू रक्षा की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए रह जायें।

(५) सब औपनिवेशिक दावों का स्वतन्त्र रूप से, खुले दिल से और निष्पक्ष रूप से निपटारा इस सिद्धान्त के आधार पर हो कि ऐसे प्रश्नों का निर्णय करते समय सम्बद्ध जनता के हितों को, वहाँ की सरकार के न्याय्य दावों के साथ समान महत्त्व दिया जाय।

(६) रूस के समूचे प्रदेश से फौज हटा ली जायें।

(७) बेल्जियम को खाली कर दिया जाय और उसे पुनः पूर्णप्रभुतासम्पन्न (Sovereign) राष्ट्र बनाया जाय।

(८) समूचे फ्रेंच प्रदेश को स्वतन्त्र किया जाय, फ्रांस को आल्सेस लोरेन का प्रदेश वापिस किया जाय।

(९) इटली की सीमाओं की पुनर्व्यवस्था राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के आधार पर की जाय।

(१०) आस्ट्रिया-हंगरी की जनता को स्वतन्त्र विकास का पूर्ण अवसर दिया जाय।

(११) रूमानिया, सर्बिया, मांटीनीग्रो से फौजें हटा ली जायें, आक्रान्त प्रदेश वापिस किए जायें, सर्बिया को समुद्र तक पहुँचने का स्वतन्त्र मार्ग दिया जाय।

(१२) खलीफा के साम्राज्य के तुर्क अंशों का एक पृथक् सर्वोच्चसत्तासम्पन्न राज्य बनाया जाय, तुर्क-शासन में रहने वाली अन्य जातियों को स्वतन्त्र विकास का अवसर दिया जाय, दर्रे दानियाल और बासफोरस के जलडमरूमध्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अनुसार सब देशों के जहाजों और व्यापार के लिए खोल दिए जायें।

(१३) पोल लोगों द्वारा बसे असंदिग्ध पोल प्रदेशों से स्वतन्त्र पोलैण्ड का निर्माण किया जाय, इसे समुद्री मार्ग दिया जाय।

(१४) निश्चित शर्तों के आधार पर सब राष्ट्रों का एक सामान्य संगठन बनाया जाय, इसमें छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को बिना किसी भेदभाव के समान रूप से राजनीतिक स्वतन्त्रता की और प्रादेशिक अखण्डता की गारण्टी या वचन दिया जाय।

ये चौदह शर्तें राष्ट्रपति विल्सन ने पहले वैयक्तिक रूप में जर्मन सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कीं। अमेरिकन कांग्रेस ने जब इन शर्तों को स्वीकार कर लिया तो ये शर्तें मित्र-राष्ट्रों के पास भेजी गईं। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने इन शर्तों को दो संशोधनों के साथ स्वीकार किया। पहला संशोधन समुद्रों की स्वतन्त्रता की दूसरी शर्त के सम्बन्ध में था, इस विषय में ग्रेट ब्रिटेन ने शान्ति-सम्मेलन में विचार को पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। दूसरा संशोधन सातवीं तथा आठवीं शर्तों के विषय में था। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी मित्रराष्ट्रों की नागरिक जनता को तथा उसकी सम्पत्ति को जर्मन आक्रमण द्वारा पहुँची क्षति की पूर्ति करेगा। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण संशोधन था।

चार सिद्धान्त—११ फरवरी, १९१८ को कांग्रेस के एक भाषण में विलसन ने शान्ति-समझौते के आधारभूत चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। **पहला** सिद्धान्त शान्ति-समझौते के प्रत्येक अंश को न्याय पर आधारित बनाना था ताकि शान्ति स्थायी रह सके। **दूसरा** सिद्धान्त यह था कि विभिन्न जनसमूहों और प्रान्तों को जमीन-जायदाद की भाँति एक स्वामी से दूसरे स्वामी को देने की व्यवस्था बन्द की जाय। **तीसरा** सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक प्रादेशिक परिवर्तन उस प्रदेश में रहने वाली जनता के हित और कल्याण की दृष्टि से होना चाहिए, न कि विभिन्न प्रतिस्पर्धी राज्यों के दावों को पूरा करने के लिए। **चौथा** सिद्धान्त यह था कि सभी सुस्पष्ट राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं की अधिकतम पूर्ति और सन्तुष्टि होनी चाहिए ताकि योरोप और विश्व की शांति का कभी भंग न हो सके।

पाँच व्याख्यायें—विलसन ने न्यूयार्क में २७ सितम्बर, १९१८ को शांति के सम्बन्ध में अपनी सरकार के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में पाँच व्याख्याओं (Five Interpretations) की घोषणा की थी। ये निम्नलिखित थीं—(१) शान्ति-व्यवस्था का आधार निष्पक्ष न्याय होना चाहिए, विभिन्न जनसमूहों के अधिकार तुल्य समझे जाने चाहियें (२) किसी एक राष्ट्र या देश के विशेष हित को किसी समझौते का आधार तब तक नहीं बनाया जा सकता, जब तक कि यह हित अन्य सब लोगों के सामान्य हित के अनुकूल न हो (३) राष्ट्रसंघ के भीतर कोई संघ, समझौते या विशेष सन्धियां नहीं होनी चाहियें (४) राष्ट्र संघ में कोई विशेष स्वार्थपूर्ण आर्थिक संघ नहीं बन सकते (५) सब प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियां और समझौते पूर्ण रूप से संसार को ज्ञात होने चाहियें।

विलसन के उपर्युक्त सिद्धान्तों का सार यह है कि नई शान्ति-व्यवस्था करते हुए लोकतन्त्र, राष्ट्रीयता, आत्मनिर्णय (Self-determination) और राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों का पालन होना चाहिए। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि स्वेच्छाचारी, निरंकुश शासक शान्ति के लिए सबसे बड़ा संकट हैं, यदि इनके स्थान पर जनता द्वारा नियन्त्रित लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था सब देशों में स्थापित हो जाय, सब लोगों की न्यायोचित राष्ट्रीय महत्वाकांक्षायें पूर्ण कर दी जायें, बड़े राज्यों के आक्रमणों से छोटे राज्यों की रक्षा के लिए राष्ट्रसंघ स्थापित कर दिया जाय तो विश्व में स्थायी शान्ति बनी रह सकती है।

(ख) गुप्त सन्धियां—विलसन के उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त पेरिस की शान्ति-व्यवस्था का दूसरा बड़ा आधार युद्ध के समय विभिन्न मित्रराष्ट्रों द्वारा की गई गुप्त सन्धियां थीं। ये सन्धियां विलसन के उदात्त सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल थीं। जब जर्मनी ने विल्सन से विराम-सन्धि की प्रार्थना की तो उसने यह घोषणा की कि वह अपने भाषणों में प्रतिपादित सिद्धान्तों और विशेष रूप से चौदह शर्तों के आधार पर सन्धि-वार्ता करने को तैयार है। मित्रराष्ट्र गुप्त सन्धियों के कारण विलसन की चौदह शर्तों से तथा अन्य सिद्धान्तों से बँधना नहीं चाहते थे। इस पर विलसन ने मित्रराष्ट्रों को यह धमकी दी कि यदि वे अपनी ज़िद पर अड़े रहे तो अमेरिका जर्मनी के साथ पृथक् सन्धि कर लेगा और मित्रराष्ट्रों को आर्थिक सहायता देना बन्द कर देगा। अतः मित्रराष्ट्रों को विवश होकर विलसन की चौदह शर्तों को ऊपर बताये संशोधनों के

साथ सन्धि-चर्चा का आधार स्वीकार करना पड़ा, किन्तु फिर भी इन गुप्त सन्धियों का शान्ति-समझौते पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इनमें से निम्नलिखित सन्धियां उल्लेखनीय हैं :—

(१) **१९१५ का लन्दन का पैक्ट** (२६ अप्रैल, १९१५)—यह सन्धि इटली तथा ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के मध्य हुई थी, इसका उद्देश्य इटली को प्रलोभन देकर उसे मित्रराष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित करना था। इसमें मित्रराष्ट्रों ने इटली को युद्ध के बाद निम्नलिखित प्रदेश देना स्वीकार किया—ब्रेनर दर्रे तक दक्षिण टिरोल, ट्रीस्टे गोरिजिया, ग्रैडिस्का के नगर, इस्ट्रियन प्रायद्वीप का तथा डालमेशिया का बड़ा भाग तथा अल्बानिया में अवलोना; इस्ट्रिया और डालमेशिया का शेष भाग यूगोस्लाविया को देना निश्चित हुआ। यूगोस्लाविया इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं था क्योंकि समूचे डालमेशिया में स्लाव बसे हुए थे। युद्ध के बाद विल्सन ने इस सन्धि की व्यवस्था मानने से इन्कार किया।

(२) मार्च, १९१५ में फ्रांस, इंगलैंड और रूस ने तुर्की के खलीफा का साम्राज्य युद्ध की समाप्ति पर निम्नलिखित रूप में बांटने का गुप्त समझौता किया, सीरिया फ्रांस को दिया जाय और इसके बदले में ग्रेट ब्रिटेन फिलस्तीन और इराक पर अधिकार करे और रूस कुस्तुन्तुनिया के शहर को ले ले।

(३) **रूमानिया के साथ संधि** (अगस्त, १९१६)—रूमानिया ने मित्रराष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित होने के पुरस्कार-स्वरूप बुकोविना और ट्रांसिल्वेनिया के प्रदेश मांगे, मित्रराष्ट्रों ने एक गुप्त समझौते द्वारा उसे ये प्रदेश देना स्वीकार किया।

(४) **साइक्स-पीको समझौता** (१६ मई, १९१६)—इसके अनुसार ब्रिटिश विदेश कार्यालय के सर मार्क साइक्स (Sir Mark Sykes) ने तथा फ्रांस के जार्जेस पीको (Georges Picot) ने तुर्की के साम्राज्य का दोनों देशों में बंटवारा करने का गुप्त समझौता किया।

(५) **इटली के साथ सन्धि** (**१९ अप्रैल, १९१७**)—इटली को ज्यों ही साइक्स पीको गुप्त समझौते का पता लगा तो उसने भी तुर्क साम्राज्य के बंटवारे में अपना हिस्सा चाहा। परिणामस्वरूप इटली के साथ ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने सांजान्द मोरियें (*St. Jeande Maurienne*) की गुप्त सन्धि की। इसके अनुसार एशिया में समर्ना (Symrna) का जिला इटली को दिया जाना निश्चित हुआ। बाद में मित्रराष्ट्रों ने यह जिला यूनान को देने का निश्चय किया।

(६) **ग्रेट ब्रिटेन और जापान की सन्धि**—फरवरी, १९१७ में इन दोनों देशों में हुई गुप्त सन्धि के अनुसार जापान ने ग्रेट ब्रिटेन को समुद्री बेड़े की सहायता इस शर्त पर दी कि ग्रेट ब्रिटेन उस समय जर्मनी द्वारा अधिकृत शाण्टुंग प्रदेश पर तथा प्रशान्त महासागर में भूमध्य रेखा के उत्तर में अवस्थित जर्मनी के टापुओं पर जापान के अधिकार का समर्थन करेगा।

(७) **फ्रांस और रूस का समझौता** (मार्च, १९१७)—इसके अनुसार रूस ने फ्रांस को आल्सेस-लारेन, सार घाटी तथा राइन प्रदेश दिलाने में सहायता करने का आश्वासन इस शर्त पर दिलाया था कि फ्रांस उसे जर्मनी और आस्ट्रिया के साम्राज्यों

के कछ प्रदेश प्राप्त करने में सहयोग प्रदान करेगा।

इस प्रकार पेरिस सम्मेलन में जब राजनीतिज्ञ शान्ति की व्यवस्था करने के लिए एकत्र हुए तो उनके सम्मुख एक ओर तो विल्सन के उदात्त सिद्धान्त थे और दूसरी ओर अन्य देशों के साथ किए हुए गुप्त समझौते, जो अनेक अंशों में विल्सन के सिद्धान्तों के प्रतिकूल और विरोधी थे। अतः शान्ति-सम्मेलन का कार्य बड़े अशान्त और संघर्षपूर्ण वातावरण में हुआ। कई बार लायड ज़ार्ज, विल्सन और क्लेमेन्सो के तीव्र मतभेद के कारण सन्धि-वार्ता भंग होने की नौबत आ गई। यदि इस समय जर्मनी में विस्मार्क या तालेरां (Tallyrand) जैसा कोई कूटनीतिज्ञ होता तो जर्मनी इस मतभेद से बहुत लाभ उठाता। एक बार राष्ट्रपति विल्सन इतना निराश हो गया कि उसने अमेरिका वापिस लौटने के लिए अपना जलपोत 'जार्ज वाशिंगटन' मंगवा लिया था। एक अन्य अवसर पर इटली के प्रधानमन्त्री और विदेश-मन्त्री सम्मेलन छोड़कर स्वदेश वापिस लौट गये। इन सब मतभेदों के बावजूद शान्ति-सम्मेलन विभिन्न पराजित देशों के साथ सन्धियां सम्पन्न करने के कार्य में सफल हुआ।

वर्साय की सन्धि (२८ जून, १९१९)

यह शांति-सम्मेलन की सबसे अधिक विवादास्पद, महत्त्वपूर्ण और दीर्घाकार सन्धि थी। इंगलिश और फ्रेंच भाषाओं में तैयार की गई इस सन्धि में ८० हज़ार शब्द, १५ अध्याय और ४३९ धारायें थीं। जर्मनी के साथ की गई व्यवस्थाओं के अतिरिक्त इसमें राष्ट्रसंघ का, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (International Labour Organization) का तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय का संविधान और व्यवस्थायें थीं। इनका दूसरे अध्याय में वर्णन होगा, यहाँ केवल जर्मनी की विजय की मुख्य व्यवस्थाओं का उल्लेख किया जायेगा। ये निम्नलिखित हैं :—

(१) **प्रादेशिक व्यवस्थायें**—पश्चिम में जर्मनी को आल्सेस तथा लोरेन के प्रदेश वापिस करने पड़े, मार्सनेट (Marsnet), यूपेन और मालमेडी (Malmady) के जर्मन प्रदेश बेल्जियम को जर्मन आक्रमण से हुई क्षति की पूर्ति के लिए दिये गये। इस विषय में राजनीतिज्ञों में कोई मतभेद नहीं था। पर राइन प्रदेश और सार की घाटी के सम्बन्ध में शांति-सम्मेलन में काफी समय तक तीव्र मतभेद बना रहा।

फ्रांस की सुरक्षा की दृष्टि से क्लेमेन्सो की यह माँग थी कि जर्मनी की पश्चिमी सीमा राइन नदी होनी चाहिए और इस नदी के बायें तट पर आल्सेस से हालैण्ड के बीच में १० हजार वर्गमील का एक स्वतन्त्र तटस्थ राज्य बनाया जाय, १९१७ में रूस के साथ हुई एक गुप्त सन्धि में फ्रांस ने यह तय किया था कि जर्मनी द्वारा सन्धि की शर्तें पूरी होने तक यह प्रदेश फ्रेंच सेनाओं के अधिकार में रहे। यद्यपि यह प्रदेश, भाषा और जाति की दृष्टि से निर्विवाद रूप से जर्मन था, फिर भी फ्रांस भावी आक्रमणों से रक्षा के लिए इस प्रदेश पर स्वतन्त्र शासन चाहता था।

फ्रांस की इस योजना का लायड जार्ज और विल्सन दोनों ने घोर विरोध किया। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री इस व्यवस्था को दूसरे 'आल्सेस-लोरेन का निर्माण' समझता था।

अतः क्लेमेन्सो को राइन के पश्चिमी तट पर स्वतन्त्र राज्य का आग्रह छोड़ना पड़ा। इसके बदले में यह व्यवस्था की गई कि जर्मनी से सन्धि की शर्तें पूरी कराने के लिए इस प्रदेश में मित्रराष्ट्रों की सेना १५ वर्ष तक रहे तथा राइन के बायें तट को और पचास किलोमीटर तक दायें तट को स्थायी रूप से निश्शस्त्र कर दिया जाय, इसमें किसी प्रकार की कोई किलेबन्दी न हो सके। ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका ने फ्रांस को यह गारन्टी दी कि जर्मनी द्वारा अकारण फ्रांस पर हमला होने की दशा में वे उसकी सहायता करेंगे।

सार की घाटी के सम्बन्ध में भी फ्रेंच और ब्रिटिश दृष्टिकोण में भेद था। यह छोटा सा प्रदेश कोयले और कारखानों की दृष्टि से बड़ा समृद्ध था, १८१५ तक इस पर फ्रांस का अधिकार था, किन्तु इस समय यहाँ की जनता जर्मन थी। फिर भी क्लेमेन्सो कई कारणों से इस पर फ्रांस के राजनीतिक शासन की माँग कर रहा था, यह नये फ्रेंच सीमान्त के बिल्कुल समीप था, लोरेन के उद्योगों के साथ इसका गहरा सम्बन्ध था, इसका अधिकांश खानों का स्वामी प्रशिया या बवेरिया था, फ्रांस की कोयले की खानों का जर्मनी ने १९१८ में जान-बूझकर विध्वंस किया था, जर्मनी के पास कोयले की कोई कमी नहीं थी, अतः फ्रांस अपने कोयले की खानों की क्षति-पूर्ति के लिए सार की घाटी पर फ्रांस की राजनीतिक प्रभुता चाहता था। किन्तु विल्सन और लायड जार्ज दोनों इसके विरोधी थे। अतः इस प्रश्न पर भी फ्रांस को झुकना और समझौता करना पड़ा। वर्साय की सन्धि में इस प्रदेश पर राजनीतिक सर्वोच्चसत्ता जर्मनी की ही मानी गई, पर उसकी ओर से इसका शासन-प्रबन्ध राष्ट्रसंघ के एक आयोग को सौंपा गया, किन्तु खानों का स्वामित्व फ्रांस को दिया गया, १५ वर्ष बाद एक जनमत संग्रह की व्यवस्था की गयी, इसमें सार की घाटी वालों ने इस पर मत प्रकट करना था कि वे फ्रांस के शासन में रहना चाहते हैं या जर्मनी के शासन में या राष्ट्रसंघ के शासन में। यदि सारवासी जर्मनी के साथ मिलने की इच्छा प्रकट करें तो जर्मनी फ्रांस को निश्चित मूल्य देकर खानों को पुनः खरीद ले। इस मूल्य का निर्धारण एक फ्रेंच, एक जर्मन तथा राष्ट्र-संघ के एक विशेषज्ञ द्वारा होगा।

जर्मनी और डेन्मार्क की सीमा जनता की इच्छा द्वारा तय करने का निश्चय किया गया। श्लेसविग में जनमत संग्रह करके इसका उत्तरी भाग डेन्मार्क को तथा दक्षिणी भाग जर्मनी को दिया गया। पूर्व में जर्मनी को पोल लोगों द्वारा आवासित पश्चिमी प्रशिया, पोज़न और साइलीशिया के कुछ भाग पोलैण्ड को देने पड़े। विल्सन की १३वीं शर्त में निर्विवादरूप से पोल लोगों द्वारा बसे प्रदेश में पोलैण्ड के स्वतन्त्र राष्ट्र के निर्माण की तथा इसे समुद्री मार्ग देने की बात कही गई थी। पोलैण्ड को समुद्री मार्ग देने के लिए विशेषज्ञों ने यह सुझाव दिया कि पोलैण्ड को विस्चुला नदी के मुहाने के पास दोनों ओर पश्चिमी प्रशिया के जर्मन प्रदेश में से एक तंग पट्टी या गलियारा और डैन्ज़िग का बन्दरगाह दिया जाय। लायड जार्ज ने इस व्यवस्था का घोर विरोध किया। उसका यह तर्क था कि इससे प्रशिया दो टुकड़ों में बंट जायगा, पूर्वी प्रशिया शेष जर्मनी से विच्छिन्न होकर 'स्लाव समुद्र में जर्मन टापू मात्र' रह जायगा, डैन्ज़िग की ३ लाख से अधिक जर्मन जनता को तथा मेरियन वर्डर के चारों ओर जर्मन प्रदेश को

पोलैण्ड के शासन में देना ठीक नहीं है। किन्तु इसके विपरीत पोल राजनीतिज्ञ और क्लेमेन्सो डेढ़ लाख पूर्वी प्रशिया के जर्मन लोगों की अपेक्षा पोलैण्ड को समुद्री मार्ग देना अधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे और डैन्ज़िग को उसका स्वाभाविक बन्दरगाह मानते थे। अन्त में इस विवाद में यह समझौता किया गया कि डैन्ज़िग बन्दरगाह के चारों ओर सात सौ वर्ग मील का प्रदेश राष्ट्रसंघ के संरक्षण में एक स्वतन्त्र नगर बना दिया जाय, पोलैण्ड और डैन्ज़िग के मध्य एक संधि द्वारा पोलैण्ड को इस बन्दरगाह का पूर्ण एवं स्वतन्त्र उपयोग करने का अधिकार दिया जाय, डैन्ज़िग का प्रधान शासक या हाई कमिश्नर राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त किया जाय।

इस प्रकार वर्साय संधि द्वारा जर्मनी को पोज़न और पश्चिमी प्रशिया का अधिकांश भाग पोलैण्ड को देना पड़ा, उसकी स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी। एलेनस्टाइन (Allenstein), मेरियनवर्डर (Merienwerder) तथा साइलीशिया में जनमत संग्रह किये गये; पहले दो स्थानों में जनता ने जर्मनी के साथ रहने के पक्ष में मत दिया और साइलीशिया में जर्मन जनसंख्या वाला भाग जर्मनी के पास रहा, पर वहाँ उसे कुछ हिस्सा पोलैण्ड और जैकोस्लोवाकिया को देना पड़ा। मेमल का बन्दरगाह जर्मनी से लेकर लिथुआनिया को दिया गया। इस प्रकार योरोप में जर्मनी को २५ हजार वर्गमील के प्रदेश तथा ७० लाख की आबादी को खोना पड़ा।

जर्मनी के उपनिवेशों के सम्बन्ध में यह तो निश्चित था कि वे उसे वापिस नहीं किये जायेंगे। जनवरी १९१९ में जब इस प्रश्न पर विचार आरम्भ हुआ तो योरोप की महाशक्तियां इन्हें अपने साम्राज्य का अंग बनाना चाहती थीं। विल्सन ने इसका घोर विरोध किया, कर्नल हाउस तथा जनरल स्मट्स द्वारा सुविचारित मैण्डेट (Mandate) प्रणाली का समर्थन किया। इसका आशय यह था जो देश बहुत पिछड़े हुए हैं उनका समुचित कल्याण और विकास करना सभ्य देशों का पवित्र कर्त्तव्य है। अतः विभिन्न उपनिवेशों का शासन सभ्य राष्ट्रों को पवित्र धरोहर के रूप में राष्ट्रसंघ की ओर से उनकी उन्नति के लिए दिया जाना चाहिए और इन देशों को उपनिवेशों की वार्षिक प्रगति और उन्नति की रिपोर्ट राष्ट्रसंघ को भेजनी चाहिये। यद्यपि आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड तथा दक्षिण अफ्रीका के यूनियन ने इस मैण्डेट व्यवस्था का विरोध किया, किन्तु अन्त में इसे स्वीकार कर लिया गया और इसके अनुसार जर्मनी के उपनिवेश, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, दक्षिण अफ्रीका के यूनियन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और जापान को मैण्डेट के रूप में बांट दिये गये। जर्मन पूर्वी अफ्रीका ग्रेट ब्रिटेन को मिला, जर्मन दक्षिण पश्चिम अफ्रीका दक्षिण अफ्रीका के संघ को प्राप्त हुआ, टोगोलैण्ड तथा कैमरून का बंटवारा फ्रांस और इंगलैण्ड ने किया, प्रशान्त महासागर में भूमध्य रेखा के दक्षिण के टापू आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड को मिले और भूमध्य रेखा के उत्तर के टापू तथा शाण्टुंग में जर्मन अधिकार जापान को प्राप्त हुए।

शाण्टुंग के प्रश्न पर भी शान्ति-सम्मेलन में बड़ा संघर्ष हुआ। १८९७ ई० में जर्मन सम्राट् कैसर विलियम द्वितीय ने दो जर्मन मिशनरियों की चीन के शाण्टुंग प्रान्त में हत्या का समाचार पाते ही कियाओचौ में जर्मन बेड़ा भेज दिया और मार्च,

१८९८ में चीन को एक ऐसी सन्धि स्वीकार करने के लिए विवश किया, जिसके अनुसार चीन का कियाओचौ खाड़ी के समुद्र तट पर २०० वर्गमील का प्रदेश ९९ वर्ष के पट्टे पर जर्मनी को दिया गया और इसमें जर्मनी को किलेबन्दी करने, रेलमार्ग बनाने, रेलमार्ग के समीप की खानों का माल निकालने के विशेषाधिकार प्रदान किये गये और प्रशान्त महासागर में यह जर्मनी का बड़ा महत्त्वपूर्ण नौसैनिक केन्द्र बन गया। प्रथम विश्व-युद्ध में जापान मित्रराष्ट्रों के साथ था, १९१७ में हुई एक गुप्त सन्धि के अनुसार उसे ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली ने शाण्टुंग तथा प्रशान्त महासागर में भूमध्य रेखा के उत्तर में अवस्थित जर्मन टापू देने का निश्चय किया था। इस युद्ध में चीन की सरकार ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की थी। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में उसके प्रतिनिधियों ने शाण्टुंग और कियाओचौ के चीनी प्रदेश की माँग की तथा जापान ने भी उपर्युक्त सन्धि के अनुसार शाण्टुंग पर अपने स्वत्व का दावा किया। विल्सन इस मामले में चीनियों के पक्ष का समर्थक था और उसकी यह इच्छा थी कि शाण्टुंग प्रायद्वीप का अधिकार जापानियों को न सौंपा जाय।

पर जापान युद्ध के बीच में इस प्रदेश पर अधिकार कर चुका था और उसके प्रतिनिधि अपनी माँग पर अड़े हुए थे। जापान के सौभाग्य से इसी समय इटली के प्रतिनिधि फ्यूमे के प्रश्न पर शान्ति-सम्मेलन का बहिष्कार करके स्वदेश लौट चुके थे, अब जापानियों ने भी यह धमकी दी कि उनका शाण्टुंग पर अधिकार फौरन स्वीकार किया जाये अन्यथा वे पेरिस छोड़कर चले जायेंगे और राष्ट्रसंघ में सम्मिलित नहीं होंगे। एक सप्ताह तक पेरिस में शाण्टुंग का प्रश्न ही सर्वोपरि रहा, लायड जार्ज और क्लेमेन्सो ने यह घोषणा की वे १९१७ की सन्धि का पालन करने को बाध्य हैं। इस स्थिति में विल्सन को यह प्रतीत हुआ कि यदि उसने जापान का विरोध किया तो सम्भवतः राष्ट्रसंघ की व्यवस्था को अन्य राष्ट्र स्वीकार न करें। अतः राष्ट्रसंघ की रक्षा के लिए उसने इस प्रश्न पर झुकना स्वीकार किया और शाण्टुंग पर जापानी अधिकार मान लिया। फिर भी जापान ने इस प्रायद्वीप का राजनीतिक शासन चीन को देना मान लिया, अपने पास केवल जर्मनी वाले आर्थिक अधिकार ही रखे। १९२३ में उसने अपने वचन का पालन किया।

(२) **सैनिक व्यवस्थायें**—जर्मनी के पड़ोसी राष्ट्रों की सुरक्षा तथा निःशस्त्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ाने की दृष्टि से शान्ति-परिषद् ने जर्मनी की जल, स्थल और वायु सेना पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए। **पहला** प्रतिबन्ध यह था कि ३१ मार्च, १९२० के बाद जर्मन राज्य की स्थल सेना १ लाख से अधिक नहीं हो सकती। **दूसरा** प्रतिबन्ध यह था कि जर्मनी निश्चित मात्रा से अधिक शस्त्रास्त्र तथा रणसामग्री न तो बना सकता था, और न दूसरे देशों से मँगा सकता था। **तीसरे** प्रतिबन्ध के अनुसार अनिवार्य सैनिक सेवा (Conscription) की पद्धति का अन्त कर दिया गया, अधिक व्यक्ति सैनिक शिक्षा न ले सकें, इसके लिए यह व्यवस्था की गई थी कि अफसरों को कम से कम २५ वर्ष तक और साधारण सैनिकों को १२ वर्ष तक सेना में रहना पड़ेगा। **चौथा** प्रतिबन्ध उसकी नौसेना पर लगाया गया, यह छः युद्धपोतों, छः हल्के क्रूजरों और १२ टारपीडो नौकाओं से अधिक नहीं

हो सकती थी। जलसेना में १५००० से अधिक व्यक्ति नहीं हो सकते थे, वह न तो नये लड़ाकू जहाज प्राप्त कर सकता था और न ही इन्हें बना सकता था। जर्मनी पनडुब्बियां भी नहीं रख सकता था, उसके पास विद्यमान सभी पनडुब्बियां मित्रराष्ट्रों को सौंप देने या नष्ट करने की व्यवस्था की गयी थी। इस संधि में हेलिगोलैण्ड के बन्दरगाह की किलेबन्दी को नष्ट करने और पुनः कभी न बनाने का आदेश दिया गया था। **पाँचवां** प्रतिबन्ध वायुसेना पर था, वह किसी प्रकार के सैनिक हवाई जहाज नहीं रख सकता था। **छठा** प्रतिबन्ध जर्मन राज्य की सीमा में सेना के प्रयोग के सम्बन्ध में था, वह राइन नदी के बायें तट पर जर्मन प्रदेश में तथा दायें तट पर पचास किलोमीटर (३२ मील) के भीतर किसी प्रकार की किलेबन्दी नहीं कर सकता था, इस प्रदेश में स्थायी या अस्थायी रूप से कोई सेना नहीं रक्खी जा सकती थी।

वर्साय की संधि में जर्मनी के निःशस्त्रीकरण की उपर्युक्त व्यवस्थाओं का पालन करवाने के लिए मित्रराष्ट्रों के कमीशनों या आयोगों की स्थापना की व्यवस्था की गई थी।

(३) आर्थिक व्यवस्थायें—५ नवम्बर, १६१८ को मित्रराष्ट्रों ने विराम-सन्धि से पूर्व ही जर्मनी से "मित्रराष्ट्रों की नागरिक जनता को तथा उनकी सम्पत्ति को जर्मनी की जल, स्थल और वायु सेनाओं के आक्रमणों से पहुँची हुई क्षति" का हर्जाना देने की माँग की थी। किन्तु शान्ति-सम्मेलन आरम्भ होने पर ब्रिटिश और फ्रेंच प्रतिनिधियों ने इस बात पर बल दिया कि जर्मनी से केवल क्षतिपूर्ति ही नहीं, किन्तु युद्ध का सारा व्यय लिया जाना चाहिए, क्योंकि युद्ध छेड़ने का पूरा उत्तरदायित्व जर्मनी पर है। विलसन ने इसका विरोध करते हुए जर्मनी से केवल क्षतिपूर्ति की राशि वसूल करने पर बल दिया, लायड जार्ज और क्लेमेन्सो इससे सहमत हो गए। वर्साय संधि की धारा २३१ में क्षतिपूर्ति लेने का कारण स्पष्ट करते हुए कहा गया है "क्योंकि यह युद्ध जर्मनी और उसके साथियों द्वारा आरम्भ किया गया था, अतः जर्मनी यह स्वीकार करता है कि इससे होने वाली क्षति के लिए वह तथा उसके साथी देश उत्तरदायी हैं।" क्षति का स्वरूप तथा उसके लिए दी जाने वाली हर्जाने की राशि की मात्रा का निर्धारण करना बड़ा जटिल प्रश्न था। विलसन तथा उसके साथी क्षतिपूर्ति की एक निश्चित और तर्कसंगत मात्रा निश्चित करना चाहते थे, किन्तु अन्य मित्रराष्ट्र जर्मनी से अधिक से अधिक राशि वसूल करना चाहते थे। अन्त में यह निश्चय किया गया कि सन्धि में निश्चित राशि का उल्लेख करना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। क्लेमेन्सो का यह कहना था कि चाहे कितनी ही अधिक राशि नियत की जाय, वह फ्रेंच लोगों की आशा से न्यून होगी, और इसके परिणामस्वरूप उसके मंत्रिमण्डल का पतन हो जायेगा। लायड जार्ज ने भी इसका समर्थन किया और अन्त में इसके निर्धारण का कार्य एक क्षतिपूर्ति कमीशन को सौंप दिया गया। इसने १ मई, १६२१ से अगले ३० वर्षों में जर्मनी द्वारा चुकायी जाने वाली राशि की मात्रा और अदायगी के ढंग का निश्चय करना था। इस बीच में १ मई १६२१ तक जर्मनी को ५ अरब डालर की क्षतिपूर्ति देने को कहा गया। मित्रराष्ट्रों ने पनडुब्बियों द्वारा डुबोये गये जहाजों के बदले जर्मनी के व्यापारिक जहाज लेने शुरू किए। उन्होंने क्षतिपूर्ति आयोग को जर्मन सेनाओं द्वारा युद्ध के दिनों में छीने

गए तथा नष्ट किए पशुओं, मशीनों तथा अन्य सामग्री की सूचियां दीं और जर्मनी ने फ्रांस, लक्जमबर्ग तथा इटली को अगले दस वर्ष तक प्रभूत मात्रा में कोयला देना स्वीकार किया, उसने फ्रांस और बेल्जियम को बड़ी संख्या में घोड़े तथा अन्य पशु दिए, विभिन्न जर्मन उपनिवेशों में तथा मित्रराष्ट्रों में विद्यमान सरकारी और गैर सरकारी जर्मन पूंजी जब्त कर ली गई। मोरक्को, मिस्र और चीन में उसके विशेष व्यापारिक अधिकार समाप्त कर दिये गए। पाँच वर्ष तक के लिए मित्रराष्ट्रों को जर्मनी से कुछ वस्तुओं के आयात और निर्यात पर विशेष सुविधायें दी गई। एल्ब, ओडर, नीमन और डैन्यूब की नदियों को अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया ताकि स्विट्ज़रलैंड और जैकोस्लोवाकिया जैसे चारों ओर स्थल से घिरे देशों को समुद्र तक पहुँचने का मार्ग मिल सके। कील की नहर को भी अन्तर्राष्ट्रीय बना कर सब देशों के जहाजों के लिए खोल दिया गया। हैम्बर्ग और स्टैट्टिन के बन्दरगाहों में जैकोस्लोवाकिया के लिए स्वतन्त्र क्षेत्र बना दिए गए।

(४) **कानूनी व्यवस्थायें**—इस सन्धि की धारा २३१ में जर्मनी को युद्ध आरम्भ करने का अपराधी माना गया। जर्मन सम्राट् विलियम द्वितीय पर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को तथा सन्धियों की पवित्रता को भंग करने का भीषण आरोप लगाया गया। युद्ध के नियमों का उल्लंघन करने वाले जर्मनों पर मित्रराष्ट्रों के सैनिक न्यायालयों में अभियोग चलाने और दण्ड देने की व्यवस्था की गयी। बाद में इस प्रकार के सौ अपराधियों में से केवल १२ पर ही जर्मन न्यायालयों में अभियोग चलाये गये।

(५) **अन्य व्यवस्थायें**—वर्साय की सन्धि में बेल्जियम की तटस्थता की समाप्ति कर उसे इच्छानुसार अपनी रक्षा के लिए संधियां करने की स्वतन्त्रता दी गयी। इसी प्रकार लक्ज़मवर्ग की तटस्थता का अन्त कर दिया गया। जर्मनी ने आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता और अखण्डता स्वीकार की।

सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए इसके १४वें अध्याय में कई गारण्टियों की व्यवस्था की गयी। सन्धि लागू होने के बाद पन्द्रह वर्ष तक राइन नदी के पश्चिम के जर्मन प्रदेश में और इसके पुलों पर पन्द्रह वर्ष तक मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का अधिकार इस सन्धि को पालन कराने की दृष्टि से रखा गया। यदि जर्मनी सन्धि की शर्तों का ईमानदारी से पालन करता रहा तो पाँच वर्ष बाद कोलोन (Cologne) के क्षेत्र और पुल से मित्रराष्ट्रीय सेना हटा ली जायगी, दस वर्ष बाद कोब्लैन्स (Coblenz) के क्षेत्र से तथा १५ वर्ष बाद माइन्स (Mainz) के क्षेत्र से, यदि जर्मनी सन्धि की शर्तों का पालन न करे तो यह सेना पन्द्रह वर्ष के बाद भी जर्मन प्रदेश में बनी रह सकती थी।

वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी पर पड़े प्रभाव का वर्णन करते हुए लैंगसम ने यह ठीक ही लिखा है कि "इससे योरोप में जर्मन प्रदेश का आठवां भाग तथा ७० लाख व्यक्ति कम हो गये, उसके सारे उपनिवेश, १५% कृषि योग्य भूमि, १२% पशु, १०% कारखाने छिन गये। उसके व्यापारी जहाज़ ५७ लाख टन से घटकर केवल ५ लाख टन रह गये, ब्रिटेन की नौसेना से स्पर्धा करने वाली उसकी नौशक्ति बिल्कुल नष्ट कर दी गयी, स्थलसेना की अधिकतम संख्या एक लाख निश्चित कर दी गयी। उसे अपने कोयले के $\frac{२}{५}$ भाग से, लोहे के $\frac{२}{३}$ भाग से, जस्ते के $\frac{७}{१०}$ भाग से तथा आधे से अधिक सीसे

से हाथ धोना पड़ा। उपनिवेशों के छिन जाने से उसे रबड़ और तेल की भारी कमी हो गयी। वर्साय की प्रादेशिक व्यवस्थाओं ने उसके उद्योग-धन्धों और व्यापार को बिल्कुल चौपट कर दिया। क्षतिपूर्ति के लिए उसने कोरे चैक पर हस्ताक्षर कर दिए"।[२]

सन्धि पर हस्ताक्षर—७ मई, १९१९ को जर्मनी के साथ सन्धि की शर्तों का प्रारूप (Draft) जर्मन प्रतिनिधियों को सम्मेलन में बुलाकर दिया गया और यह कहा गया कि वे तीन सप्ताह के भीतर इस पर अपना लिखित वक्तव्य दे दें, इस विषय में कोई मौखिक वार्तालाप नहीं होगा। २९ मई को जर्मन प्रतिनिधियों के सन्धि-प्रस्तावों की आलोचना मित्रराष्ट्रों को प्राप्त हुई और इन पर मित्रराष्ट्रों की विशेषज्ञ समितियों ने विचार करने के उपरान्त केवल कुछ-छोटे मोटे संशोधन स्वीकार किये, जैसे—अपर साइलीशिया को पोलैण्ड को सीधा देने के बजाय जनमत संग्रह करना, पोलैण्ड के पश्चिमी सीमान्त तथा पूर्वी प्रशिया के रास्तों के सम्बन्ध में कुछ संशोधन करना, जर्मन सेना को घटाने की दर में कमी करना।

जर्मनी पर युद्ध शुरू करने का उत्तरदायित्व डालने वाली धारा २३१ को मित्रराष्ट्र सन्धि से निकालने के लिए तैयार नहीं हुए और उन्होंने जर्मन प्रतिनिधियों से पाँच दिन के भीतर सन्धि पर हस्ताक्षर करने को कहा, अन्यथा पुनः युद्ध छेड़ने की धमकी दी। तत्कालीन जर्मन सरकार ने अत्यन्त निराशा और दुःख के साथ अपनी पूरी विवशता समझते हुए तीव्र राष्ट्रीय अपमान के कड़वे घूंट को पीने का निश्चय किया, इस सन्धि पर हस्ताक्षर के लिए विदेश-मन्त्री हर्मन्न मुइलर (Harmann Muller) तथा उपनिवेश मन्त्री जोहान्नेस वेल (Johannes Bell) को पेरिस भेजा, यहाँ इनको बन्दियों की भाँति रखा गया और मित्रराष्ट्रों ने यह निश्चय किया कि जर्मनी के साथ सन्धि पर हस्ताक्षर पेरिस के समीप वर्साय के राजप्रासाद के उसी शीशमहल (Hall of Mirrors) में हों, जहाँ आज से पचास वर्ष पूर्व प्रशिया के राजा को जर्मन सम्राट घोषित किया गया था, इस प्रकार जर्मन साम्राज्य की जन्मभूमि में ही उसका अन्त्येष्टि संस्कार धूमधाम से किया जाय। २८ जून को क्रुद्ध फ्रेंच भीड़ द्वारा फेंके गये पत्थरों और गालियों की बौछाड़ सहते हुए जर्मन प्रतिनिधि पेरिस से वर्साय पहुँचे, ठीक ३ बजे दोपहर को वे शीशमहल में प्रविष्ट हुए, "मुइलर इस समय बिल्कुल पीला और घबराया हुआ था, किन्तु बेल बिल्कुल शांत था, सर्वप्रथम इन दोनों ने हस्ताक्षर किये और इसके बाद वर्णानुक्रम से अन्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने"। इस प्रकार वर्साय की सन्धि के अन्तिम दृश्य पर पटाक्षेप हुआ।

पेरिस के शान्ति-सम्मेलन ने जर्मनी के अतिरिक्त अन्य पराजित राष्ट्रों आस्ट्रिया, हंगरी, बलगारिया और तुर्की के साथ सन्धियों के मस्विदे तैयार किये। ये सब वर्साय की सन्धि के नमूने पर थे, इन्हें बनाने का श्रेय मुख्य रूप से पाँच व्यक्तियों की एक परिषद् को है, इसके प्रधान क्लेमेन्सो थे और इनमें चार बड़े राज्यों सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली का एक प्रतिनिधि होता था। ये सब सन्धिय

---

२. लैंगसम—वर्ल्ड सिन्स १९१९, पृ० २९

वर्साय की सन्धि की भाँति उस स्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं जहाँ इन पर दोनों पक्षों ने हस्ताक्षर किये थे।

आस्ट्रिया के साथ सां जर्मे (St. Germain) **की संधि** (१० सि० १९१९)—इस सन्धि का प्रारूप आस्ट्रियन प्रतिनिधि मण्डल को जून, १९१९ में दे दिया गया था। ३८१ धाराओं वाली इस सन्धि में राष्ट्रसंघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की व्यवस्थायें वर्साय की सन्धि जैसी ही थीं। इसकी बड़ी विशेषता आस्ट्रिया-हंगरी के पुराने विशाल साम्राज्य का बंटवारा करना और इसमें हिस्सा माँगने वाले पाँच देशों—जैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, इटली और रूमानिया के दावों को संतुष्ट करना था। इसमें महाशक्तियों के सम्मुख दो बड़े कार्य थे, एक ओर तो उन्हें इस साम्राज्य में बसी जैक, स्लोवाक, पोल, सर्ब, क्रोट, इटालियन आदि विभिन्न जातियों की राष्ट्रीय महत्वाकांक्षायें पूरी करना था, और दूसरी ओर आस्ट्रियन साम्राज्य का ऐसा न्यायपूर्ण बंटवारा करना था, जिससे योरोप की शान्ति सुरक्षित रहे। यह कार्य प्रायः विशेषज्ञों की विभिन्न समितियों ने किया, किन्तु कई बार जब राजनैतिक दृष्टि से 'चार बड़ों' में विवाद उत्पन्न हुए तब "विलसन और उसके साथियों ने फर्श पर बिछाये गये विशालकाय मानचित्रों पर घुटनों के बल बैठते हुए" जटिल प्रश्नों का निपटारा किया।

इस सन्धि के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया की आबादी और क्षेत्रफल ३ करोड़ तथा १,१५,००० वर्गमील से घटकर केवल ६५ लाख तथा ३२ हजार वर्गमील रह गया। उसे इटली को ट्रेण्टिनो, ट्रीस्टे, इस्ट्रिया तथा डालमेशियन तट पर दो द्वीप देने पड़े। दक्षिणी टिरोल में यद्यपि ढाई लाख जर्मन बसे हुए थे, किन्तु इटली इसे गुप्त सन्धियों के आधार पर तथा इस कारण माँग रहा था कि आल्प्स पर्वत उसकी स्वाभाविक सीमा है; ब्रेनर दर्रे तक के प्रदेश पर सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से उसका अधिकार होना चाहिये। जैकोस्लोवाकिया को बोहीमिया, मोराविया, निम्न आस्ट्रिया और लगभग सारा आस्ट्रियन साइलीशिया मिला, अन्तिम प्रदेश की सूडेटेन पर्वतमाला में ३० लाख जर्मन रहते थे। पोलैण्ड को आस्ट्रियन गैलिशिया का प्रदेश मिला। टेशेन (Teschen) का उद्योग-प्रधान जिला पोलैण्ड और जैकोस्लोवाकिया में बांटा गया। बुकोविना रूमानिया को तथा बाजनिया (Bosnia), हर्त्सेगोविना (Herzegovina) तथा डालमेशिया तट के कुछ अंश और टापू यूगोस्लाविया को मिले। आस्ट्रिया की सेना घटाकर ३० हजार कर दी गई, नौसेना के नाम पर उसे केवल डेन्यूब नदी में पुलिस की तीन किश्तियां रखने दी गईं। क्षतिपूर्ति कमीशन द्वारा तय की जाने वाली राशि का देनदार भी आस्ट्रिया को ठहराया गया। आस्ट्रिया के निवासी जर्मन थे, उनकी यह इच्छा थी कि उनका जर्मनी के साथ एकीकरण (Anschluss) हो जाय, किन्तु मित्रराष्ट्रों को यह आशंका थी कि इससे जर्मनी शक्तिशाली हो जायगा, जैकोस्लोवाकिया जर्मनी से घिर कर असुरक्षित हो जायगा, अतः इस सन्धि में आस्ट्रिया पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया कि वह जर्मनी के साथ नहीं मिल सकता, आस्ट्रिया वालों ने अपने नये राज्य का नाम जर्मन-आस्ट्रिया (DEUTSCHOSTERREICH) रखा था, यह नाम भी इस सन्धि द्वारा परिवर्तित करके आस्ट्रियन गणराज्य कर दिया गया। आस्ट्रिया को एड्रियाटिक सागर तक खुला

मार्ग दिया गया और इसके साथ जैकोस्लोवाकिया को भी उसके प्रदेश में से रेलें ले जाने का अधिकार दिया गया।

आस्ट्रिया की असेम्बली ने यद्यपि बोहीमिया और टिरोल के जर्मनों को दूसरे देशों को देने का, जर्मनी के साथ एकीकरण का और देश का नाम बदलने का उग्र विरोध किया, किन्तु अन्त में उसे फ्रांस के सां जर्मे नामक स्थान पर मित्रराष्ट्रों से उपर्युक्त शर्तों वाले सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने को बाधित होना पड़ा।

बल्गारिया के साथ नयी (Neuilly) की संधि (२७ नव० १९१९)—बल्गारिया के प्रतिनिधियों ने सन्धि की शर्तें तय होने से पहले ही मित्रराष्ट्रों को यह आवेदन-पत्र दिया था कि बल्गारिया जर्मनी की ओर से पिछले युद्ध में भूतपूर्व राजा फर्डिनेण्ड की गलती से सम्मिलित हुआ था, वह अक्टूबर १९१८ में गद्दी छोड़ चुका है, अतः बल्गारिया को उसके अपराध का दण्ड नहीं मिलना चाहिये। पर मित्रराष्ट्रों ने उसका यह दावा स्वीकार नहीं किया, उसे पराजित राष्ट्र मानते हुए पेरिस के एक उपनगर नयी में सन्धिपत्र पर उसके हस्ताक्षर कराये।

इस सन्धि के अनुसार उसे पश्चिमी बल्गारिया के चार छोटे प्रदेश बल्गारियन जनता की बहुसंख्या होते हुए भी यूगोस्लाविया को देने पड़े, क्योंकि मित्रराष्ट्र सामरिक दृष्टि से उनका यूगोस्लाविया के पास रहना आवश्यक समझते थे ताकि वह युद्ध के समय कुछ पहाड़ी दर्रों का नियन्त्रण करके निश-सलोनिका रेलमार्ग को सुरक्षित रख सके। इसी प्रकार उसे पश्चिमी थ्रेस का प्रदेश यूनान को देना पड़ा, यह उसकी सबसे बड़ी क्षति थी, १९१३ में उसने इसे तुर्की से प्राप्त किया था और इससे उसके लिए ईजियन सागर तक पहुँचना सम्भव हो गया था। अब वह समुद्रतट पर पहुँचने के मार्ग से वंचित हो गया। ग्रीस और बल्गारिया की सीमा में भी कुछ परिवर्तन किये गये। उसकी सेना की संख्या २० हजार तक तथा सशस्त्र अधिकारियों की संख्या १३००० तक मर्यादित की गई, जलसेना समाप्त करके उसके पास केवल "बगैर तारपीडो के चार तारपीडो किश्तियां और छः मोटर बोट" ही रहने दिये गये। अन्य पराजित राष्ट्रों की भाँति उससे भी क्षतिपूर्ति के लिए ४५ करोड़ डालर की धनराशि १ जनवरी, १९२१ से अगले ३७ वर्षों में वसूल करने का निश्चय किया गया। यद्यपि बल्गारिया को अपने अन्य साथियों की अपेक्षा सबसे कम प्रदेश देना पड़ा, किन्तु इससे वह बाल्कान राष्ट्रों में क्षेत्रफल, जनसंख्या, सैनिक शक्ति तथा साधन सम्पत्ति की दृष्टि से सबसे निर्बल देश हो गया।

हंगरी के साथ त्रिआनों (Trianon) की सन्धि (४ जून, १९२०)—हंगरी में मार्च से अगस्त १९१९ तक बेलाकून के नेतृत्व में बोल्शेविक शासन स्थापित होने के कारण हंगरी के प्रतिनिधि पेरिस नहीं बुलाये गये। मित्रराष्ट्रों की प्रेरणा पर जब एडमिरल होर्थी ने बोल्शेविकों के बाद हंगरी का शासन संभाला, तो जनवरी १९२० में हंगरी को मित्रराष्ट्रों ने सन्धि की शर्तें प्रस्तुत कीं। ४ जून, १९२० को वर्साय में स्थित त्रिआनों के भव्य राजप्रासाद में इस सन्धि पर हस्ताक्षर हुए।

इस सन्धि ने शान्ति-परिषद् में संभवतः सबसे अधिक तीव्र विवाद उत्पन्न किया। यह फ्यूमे (Fiume) के प्रश्न पर था। लन्दन की गुप्त सन्धि में मित्रराष्ट्रों ने इटली को

एड्रियाटिक सागर पर ट्रीस्टे तथा पोला के बन्दरगाह देने का निश्चय किया था। किन्तु युद्ध के बाद इटली ने एड्रियाटिक सागर पर पूर्ण नियन्त्रण करने की दृष्टि से हंगरी राज्य के फ्यूमे बन्दरगाह की भी माँग की, इटली को यह आशंका थी कि यदि यह बन्दरगाह यूगोस्लाविया को मिल गया तो वह इस क्षेत्र में उसका प्रतिद्वन्द्वी हो जाएगा और डालमेशिया के तट का तथा एड्रियाटिक सागर का पूरा समुद्री व्यापार उसके हाथ में नहीं आ सकेगा। उसका यह कहना था कि १९१० की जनगणना के अनुसार फ्यूमे में इटालियनों की संख्या २४,००० तथा यूगोस्लावों की १६००० थी। इसके विपरीत यूगोस्लाविया का यह दावा था कि फ्यूमे के उपनगर सूशाक (Susak) की जनसंख्या को सम्मिलित करने पर यहाँ यूगोस्लावों का बहुमत है, लड़ाई से पहले यहाँ चुनाव द्वारा निर्वाचित प्रत्येक अधिकारी यूगोस्लाव होता था, यूगोस्लाविया के सब बड़े रेलमार्ग फ्यूमे की अक्षांश रेखा पर थे और उनका सीधा तथा स्वाभाविक समुद्री मार्ग यही बन्दरगाह था, अतः यह यूगोस्लाविया को दिया जाना चाहिए। विल्सन को यह सर्वथा न्यायोचित प्रतीत होता था, उसने इटली के दावे का विरोध करते हुए एक प्रेस वक्तव्य दिया और इटली की जनता से अपने पक्ष के समर्थन की अपील की। इस पर इटालियन प्रतिनिधि आरलैण्डो तथा सोन्नियो रुष्ट होकर स्वदेश लौट गये। शान्ति-परिषद् इस समस्या का हल करने में असमर्थ रही और उसने इस विषय में यही निर्णय किया कि इटली और यूगोस्लाविया परस्पर सन्धि-वार्ता द्वारा इस प्रश्न को सुलझाएँ। १९२० में दोनों ने इसे स्वतन्त्र नगर मान लिया। १९२४ के एक समझौते द्वारा फ्यूमे इटली का तथा इसका प्रधान उपनगर सूशाक यूगोस्लाविया का अंग बना।

फ्यूमे के अतिरिक्त हंगरी के अन्य प्रदेशों का बंटवारा इस सन्धि में इस प्रकार किया गया—ट्रांसिल्वानिया और बानात (Banat) का आधा अंश रूमानिया को मिला, क्रोशिया, स्लावोनिया और बानात का शेष भाग यूगोस्लाविया को प्राप्त हुआ, तथा स्लोवाकिया जैकोस्लोवाकिया को। बुर्जनलाण्ड (Burgenland) का १५३२ वर्गमील आस्ट्रिया को दिया गया, यही एकमात्र ऐसा प्रदेश था, जो किसी पराजित राष्ट्र को दिया गया था। इन परिवर्तनों से हंगरी का क्षेत्रफल १,२५,००० वर्गमील से घटकर ३५ हजार वर्गमील और आबादी दो करोड़ दस लाख से अस्सी लाख ही रह गई। हंगरी के तीस लाख मगयार विदेशी शासन में चले गये। हंगरी की सेना की संख्या पैंतीस हजार निश्चित कर दी गई और उसे भी क्षतिपूर्ति की राशि देने के लिए बाधित किया गया।

तुर्की के साथ सेव्र (Sevres) **की सन्धि** (१० अगस्त, १९२०)—पेरिस सम्मेलन में तुर्की के खलीफा के साथ की गई यह अन्तिम सन्धि कभी संपुष्ट और क्रियान्वित नहीं हुई। इस सन्धि के अनुसार तुर्की ने मिस्र, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोलीटानिया, मोरक्को, ट्यूनिसिया, अरब, फिलस्तीन, मेसोपोटामिया और सीरिया पर अपने सब अधिकारों का परित्याग किया, यूनान को पूर्वी थ्रेस का कुछ भाग, ईजियन सागर के कुछ तुर्क टापू तथा स्मर्ना और दक्षिण-पूर्वी लघु एशिया का अस्थायी शासन प्राप्त हुआ। इटली को रोडस् तथा डोडेकनीज टापू मिले, दर्रे दानियाल के जलडमरुमध्य का प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय तथा किलेबन्दी रहित बना दिया गया, तुर्की ने आर्मीनिया को स्वतन्त्र राज्य स्वीकार

किया और कुर्दिस्तान को भी स्वतन्त्रता देने का वचन दिया। इस प्रकार इस सन्धि से खलीफा के विशाल साम्राज्य में केवल अनातोलिया का पहाड़ी भाग और कुस्तुन्तुनिया के आसपास ही कुछ प्रदेश रह गया।

किन्तु इसी समय मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की की राष्ट्रवादी शक्तियां संगठित हो गयीं, कमालपाशा ने सेव्र की उपर्युक्त सन्धि को मित्रराष्ट्रों की सहायता से जबर्दस्ती लागू करने वाली यूनानी फौजों को अपनी मातृभूमि से खदेड़ना शुरू किया। इसी बीच में इटली, फ्रांस और इंगलैण्ड ने यूनान को सहयोग देना छोड़ दिया और सितम्बर १९२२ तक तुर्कों ने यूनानियों को बुरी तरह परास्त कर उन्हें लघु एशिया से निकाल दिया। इस पर मित्रराष्ट्रों ने यूनान और तुर्की की सन्धि के लिए लोजान में एक सम्मेलन बुलाया। यहाँ हुई सन्धि द्वारा तुर्की को पूर्वी थ्रेस, ईजियन सागर के कुछ टापू, स्मर्ना, पूरा अनातोलिया प्राप्त हुए, दर्रे दानियाल और बासफोरस के जल-डमरूमध्यों के प्रदेश को पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय और निःशस्त्र बना रहने दिया। तुर्की ने अपनी सीमाओं से बाहर अपने पुराने प्रदेशों मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया, मिस्र, फिलस्तीन, सूडान, साइप्रस पर सब अधिकार छोड़ दिये। उसने अपने प्रदेश में रहने वाले अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा के लिए वचन दिया, रोडस् तथा डोडेकनीज के टापू इटली को दिये। इस सन्धि में तुर्की की सेना पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाये गये, उससे हर्जाने की रकम नहीं माँगी गई। यदि यही भावना और उदारता दूसरी सन्धियों में भी रखी जाती तो सम्भवतः विश्व की अनेक समस्यायें शान्तिपूर्वक सुलझ जातीं।

अल्पसंख्यक सन्धियां (Minorities Treaties)

यद्यपि उपर्युक्त सन्धियों में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का पालन करते हुए विभिन्न जातियों की महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने का यत्न किया गया, फिर भी योरोप में अनेक स्थानों पर विभिन्न जातियां बहुत मिली-जुली थीं और मित्रराष्ट्रों को कुछ अन्य कारणों से भी कई बार इस सिद्धान्त का उल्लंघन करना पड़ा था, अतः योरोप के नये राष्ट्रों की सीमाओं में अनेक अल्पसंख्यक जातियों का समावेश हो गया था। जैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड और इटली में जर्मन अल्पसंख्या में थे। हंगरी के ३० लाख मगयार और आस्ट्रिया के ४० लाख जर्मन विदेशी शासन में चले गये थे। इन अल्पसंख्यकों के साथ विभिन्न राष्ट्रों द्वारा दुर्व्यवहार और दमन की आशंका थी। विलसन का यह कहना था कि अल्प-संख्यकों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार विश्व की शान्ति को संकट में डाल सकता है। अतः इसे दूर करने के लिए शान्ति-परिषद् ने अल्पसंख्यक सन्धियों की व्यवस्था की।

इन सन्धियों के अनुसार विभिन्न राज्यों ने अपनी सीमाओं में रहने वाली सब जातियों के जीवन की सुरक्षा और उनके धार्मिक, जातीय, भाषा सम्बन्धी अधिकारों की स्वतन्त्रता को बनाये रखने का वचन दिया। सब नागरिक अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म का पालन कर सकते थे, अल्पसंख्यकों को अपनी भाषा के व्यवहार की स्वतन्त्रता थी, काफी संख्या होने पर उन्हें सार्वजनिक प्राथमिक पाठशालाओं में अपनी मातृभाषा में शिक्षा पाने का अधिकार था, यहूदियों के लिए सैब्बथ (शनिवार) धार्मिक

पर्व होने के कारण छुट्टी का दिन माना गया। आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की की उपर्युक्त सन्धियों में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की व्यवस्थायें सम्मिलित की गई थीं। मित्र-राष्ट्रों ने प्रबल विरोध होते हुए भी जैकोस्लोवाकिया (१० सित० १९१९), यूगोस्लाविया (१० सित० १९१९), रूमानिया (९ दिसम्बर १९१९), यूनान (१० अगस्त १९२०) आर्मीनिया (१० अगस्त १९२०) के साथ इस प्रकार की सन्धियां कीं और अन्त में लिथुआनिया, लैटविया, इस्टोनिया, फिनलैण्ड और अल्बानिया ने इस प्रकार के समझौते राष्ट्रसंघ के साथ किये। अल्पसंख्यकों की सन्धियों की देखभाल का कार्य राष्ट्रसंघ को सौंपा गया और राष्ट्रसंघ की परिषद् के बहुमत से ही इनमें कोई संशोधन हो सकता था।

इस प्रकार पेरिस के सम्मेलन ने 'युद्धों को समाप्त करने के लिए लड़े जाने वाले युद्ध' के बाद उपर्युक्त सन्धियों द्वारा शान्ति स्थापित करने का प्रयास किया, किन्तु २० वर्ष के अल्पकाल में ही दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया, प्रायः इसका उत्तरदायित्व शान्ति समझौते पर और विशेष रूप से वर्साय की सन्धि पर डाला जाता है, अतः यहाँ इसके मूल्यांकन का प्रयत्न किया जायगा।

वर्साय की सन्धि की आलोचना

(क) विल्सन के सिद्धान्तों का पालन—जर्मनी का इस सन्धि पर सबसे बड़ा आक्षेप यह था कि यह उसके साथ प्रबल विश्वासघात था। उसने विल्सन के सिद्धान्तों और १४ शर्तों पर आत्मसमर्पण किया था, किन्तु वर्साय की सन्धि में इनका पालन नहीं किया गया। क्या वस्तुतः इस सन्धि में इनका उल्लंघन हुआ था?

पहले यह बताया जा चुका है कि विल्सन के मुख्य सिद्धान्त राष्ट्रीयता, आत्म-निर्णय और राष्ट्रसंघ थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विल्सन ने उन्हें अपनी ओर से पूरा करवाने का प्रयत्न किया। राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर पोलैण्ड, जैकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया के तथा फिनलैण्ड, एस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया के सात नये राष्ट्रों का जन्म हुआ। अनेक स्थानों में जनता को जनमत संग्रह (Plebiscite) द्वारा आत्मनिर्णय का अधिकार दिया गया। यूपेन, मालमैडी, साइलीशिया, श्लेसविग में जनमत संग्रह लिये गये, सार की घाटी में इसकी व्यवस्था की गई। पेरिस की सन्धि के बाद केवल ३ प्रतिशत जातियां ही योरोप में विदेशी शासन में रह गयीं। यह राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की बहुत बड़ी विजय थी। पहले यह बताया जा चुका है कि विल्सन ने राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का उल्लंघन करने वाले प्रस्तावों—फ्रांस के राइन प्रदेश में पृथक् राज्य बनवाने के तथा इटली के फ्यूमे पर अधिकार के दावे को स्वीकृत नहीं होने दिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ स्थानों में राष्ट्रीयता और आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों का उल्लंघन हुआ, जैसे पोलैण्ड और डैन्ज़िग में तथा टिरोल में, किन्तु इसके कारण ऊपर स्पष्ट किये जा चुके हैं। मध्य तथा दक्षिण-पूर्वी योरोप में विभिन्न जातियां इस प्रकार मिली-जुली बसी हुई थीं कि आत्मनिर्णय के आधार पर कोई ऐसी व्यवस्था नहीं की जा सकती थी जिसमें सब जातियों के स्वतन्त्र राज्य हों और वे विदेशी शासन

में न जायें। ऐसे स्थानों में यही विकल्प था कि या तो स्लाव जातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार देते हुए जर्मन अल्पसंख्यकों को उनके नीचे रखा जाय, अथवा जर्मन लोगों को आत्मनिर्णय का अधिकार देते हुए स्लावों को उनके आधीन किया जाय। हर हालत में कुछ अल्पसंख्यकों का विदेशी शासन में रहना अनिवार्य था। इस सम्बन्ध में प्रो० बर्डसाल ने यह ठीक ही लिखा है कि "अनेक अन्यायों के बावजूद पेरिस की सन्धियों ने योरोप के जिस मानचित्र का निर्माण किया, उसमें विभिन्न राष्ट्रों की सीमायें विभिन्न जातियों का प्रदर्शन करने वाले योरोप के मानचित्र की सीमाओं से अधिकतम साम्य रखती थीं"।

(ख) **विल्सन की १४ शर्तों का पालन**—प्रायः यह कहा जाता है कि विल्सन की जिन १४ शर्तों पर जर्मनी ने हथियार डाले, वर्साय की सन्धि में उनका पालन नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में एक ओर जर्मनी का तथा कुछ पश्चिमी विचारकों का यह मत है कि विल्सन की चौदह शर्तों में से शान्ति-समझौते में लगभग सभी का उल्लंघन हुआ, दूसरी ओर लायड जार्ज का यह कहना है कि इस सन्धि की कोई ऐसी बात नहीं है, जो युद्ध समाप्ति से पूर्व मित्रराष्ट्रों द्वारा की गई घोषणाओं के प्रतिकूल हो। गाथोर्न हार्डी ने यह सिद्ध किया है कि वर्साय की सन्धि में चौदह शर्तों का अधिकतम पालन किया गया है।[3] डा० सेटन वाटसन के मतानुसार १४ शर्तों में से केवल इटली के सीमान्त वाली नवीं शर्त को छोड़कर शेष सभी शर्तों का पालन हुआ है। वास्तविक सत्य इन दोनों पक्षों के बीच में है।

पहले पक्ष का प्रबल समर्थन करते हुए ब्रिटिश विदेशी कार्यालय के सदस्य[4] तथा शान्ति-सन्धि में भाग लेने वाले श्री हैरल्ड निकल्सन का यह मत है कि "विल्सन की कोई भी शर्त पूरी नहीं हुई। पहली शर्त का उल्लंघन करते हुए शान्ति-परिषद् की सारी कार्यवाही अत्यन्त गुप्त रूप में हुई। समुद्रों की स्वतन्त्रता की दूसरी शर्त का भी पालन नहीं हुआ। स्वतन्त्र व्यापार सम्बन्धी तीसरी शर्त के बारे में इतना ही कहना पर्याप्त है कि युद्ध के बाद विभिन्न देशों ने तटकर की जितनी ऊँची दीवारें खड़ी कीं, इतने अधिक आर्थिक प्रतिबन्ध पहले कभी नहीं थे। चौथी शर्त के अनुसार शस्त्रास्त्रों को नहीं घटाया गया। पाँचवीं शर्त का उल्लंघन करते हुए जर्मनी के उपनिवेशों को ऐसे ढंग से बांटा गया, जो निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता। इस बंटवारे में जनता के हितों और इच्छाओं की उपेक्षा की गई जैसे सार और शाण्टुंग में। छठी शर्त के अनुसार रूस का पश्चिमी राष्ट्रों के समाज में न तो समादर किया गया और न ही उसे अपनी संस्थाओं के विकास का अवसर दिया गया। नवीं शर्त के अनुसार इटली की सीमायें राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित होनी चाहिये थीं, पर ऐसा नहीं हुआ। बारहवीं शर्त के अनुसार तुर्की को तुर्क प्रदेशों पर आधिपत्य नहीं दिया गया। तेरहवीं शर्त के अनुसार पोलैण्ड को निर्विवाद रूप से पोल प्रदेश नहीं दिया गया, इसमें जर्मन प्रदेश भी सम्मिलित था।

---

३. गाथोर्न हार्डी—दी फोर्टीन पाइण्ट्स एण्ड दी ट्रीटी आफ वर्साय, पृ० ११

४. हैरल्ड निकल्सन—पीस मेकिंग १९१९, (हारकोर्ट ब्रेस), पृ० ४३

१४वीं शर्त के अनुसार स्थापित राष्ट्रसंघ छोटे-बड़े राष्ट्रों के साथ समान व्यवहार करने में असमर्थ रहा।" निकल्सन के इस कथन से स्पष्ट है कि १४ शर्तों में केवल बेल्जियम की स्वाधीनता की सातवीं, आल्सेस लोरेन फ्रांस को लौटाने की आठवीं, आस्ट्रिया हंगरी के स्वतन्त्र राज्य की दसवीं और रूमानिया, सर्बिया और माण्टीनीग्रो सम्बन्धी ग्यारहवीं अर्थात् कुल चार शर्तों का ही पालन हुआ था।

इस पक्ष में कुछ सत्य होते हुए भी हमें इस विषय में कई बातों का ध्यान रखना चाहिए और इसके बाद ही इस विषय पर अपनी सम्मति बनानी चाहिए। **पहली** बात तो यह है कि विल्सन की शर्तें उसके राजनैतिक भाषणों का अंग थीं और इनमें वह सुनिश्चितता नहीं थी, जो कानूनी संधियों और समझौतों के लिए आवश्यक होती है। उसकी शर्तों के शब्द बड़े अस्पष्ट थे और उनकी अनेक व्याख्यायें हो सकती थीं। उदाहरणार्थ चौथी शर्त में यह कहा गया था कि राष्ट्रीय शस्त्रास्त्र 'घरेलू सुरक्षा के अनुरूप निम्नतम बिन्दु' (Lowest point consistent with domestic safety) तक घटा दिए जाएंगे। यह 'निम्नतम बिन्दु' बड़ा लचकीला और अस्पष्ट शब्द था और विभिन्न राष्ट्र अपने स्वार्थों और हितों की दृष्टि से इस बिन्दु की विभिन्न व्याख्यायें कर सकते थे। पाँचवीं शर्त में 'औपनिवेशिक दावों' (Colonial claims) के निष्पक्ष निपटारे का वर्णन था, किन्तु यह स्पष्ट नहीं था कि किन देशों के उपनिवेशों का निपटारा किया जायेगा। इसी प्रकार नवीं शर्त में इटली की सीमाओं के बारे में 'राष्ट्रीयता की स्पष्ट पहचानी जाने वाली रेखाओं' (clearly recognizable lines of nationality) का उल्लेख था। ये वस्तुतः इतनी अस्पष्ट थीं कि पेरिस में इन पर तीव्र विवाद होता रहा। **दूसरी** बात यह है कि विल्सन की शर्तें और सिद्धान्त प्रायः विश्व में नई व्यवस्था स्थापित करने के सम्बन्ध में थे और उनका सम्बन्ध समूची मानवजाति से था, जैसे विभिन्न देशों द्वारा व्यापारिक प्रतिबन्ध दूर करने की या शस्त्रास्त्र घटाने की व्यवस्था। ये केवल एक देश के साथ होने वाली सन्धि का अंग नहीं बन सकते थे। **तीसरी** बात यह है कि इन चौदह शर्तों के जर्मनी द्वारा स्वीकार किये जाने से पहले ही इनमें कई महत्त्वपूर्ण संशोधन, व्याख्यायें और परिवर्तन हो चुके थे। लायड जार्ज और क्लेमेन्सो ने पहली शर्त की व्याख्या यह की थी कि इसका अर्थ गुप्त संधियों का निषेध है, न कि गुप्त संधि चर्चा पर प्रतिबन्ध लगाना है, समुद्रों की स्वतन्त्रता की दूसरी तथा क्षतिपूर्ति सम्बन्धी सातवीं-आठवीं शर्त में भी उन्होंने कुछ संशोधन किये थे। अतः इनके पालन का प्रश्न ही नहीं उठता। **चौथी** बात यह है कि विल्सन के सिद्धान्त कुछ अंशों में परस्पर विरोधी थे। एक ओर इनमें आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर बल दिया गया था, दूसरी ओर यह कहा गया था कि शान्ति-समझौता वास्तविक न्याय (Essential Justice) पर आधारित होना चाहिए। उदाहरणार्थ धारा ८० द्वारा आस्ट्रिया और जर्मनी के सम्मिलन पर प्रतिबन्ध लगाया गया था, आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार उन्हें यह अधिकार देना चाहिये था। किन्तु इससे वास्तविक न्याय को क्षति पहुँचती क्योंकि इससे जैकोस्लोवाकिया के साथ अन्याय होता, उसकी सुरक्षा खतरे में पड़ जाती; बाद में ऐसा ही हुआ। अतः सन्धि में यह व्यवस्था आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रतिकूल होते हुए भी की गयी। **पाँचवीं** बात

यह है कि हिटलर के जिस जर्मनी ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संधियों का भंग किया, स्वयमेव रूस के साथ १९३९ में किये अनाक्रमण समझौते को तोड़ा, उसके मुख से विल्सन की चौदह शर्तों के पालन न होने का आरोप शोभा नहीं देता।

विल्सन की १४ शर्तों के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि इनमें खुली संधियां करने की पहली शर्त इस दृष्टि से पूरी हुई कि यह व्यवस्था की गई कि भविष्य में कोई संधि गुप्त नहीं रखी जाएगी, सब संधियों को प्रकाशित किया जायगा। वर्साय सन्धि की धारा १८ में राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों द्वारा किये गए अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को संघ के रजिस्टर में फौरन दर्ज कराने की तथा संघ के कार्यालय द्वारा इन्हें प्रकाशित करने की बात कही गई थी। समुद्रों की स्वतन्त्रता की दूसरी शर्त पूरी नहीं हुई, मित्रराष्ट्रों ने विराम-सन्धि से पूर्व ही इसे अस्वीकार कर दिया था। व्यापारिक प्रतिबन्ध और चुंगियां हटाने की तीसरी शर्त का यद्यपि विभिन्न देशों नें पालन नहीं किया किन्तु वर्साय सन्धि की धारा २३ (ई) में राष्ट्रसंघ को इसके सब सदस्यों के लिए यातायात और आवागमन के मार्गों की स्वतन्त्रता और सुरक्षा की व्यवस्था करने का कार्य सौंपा गया था, धारा ३३१–६२ द्वारा विभिन्न जलमार्गों और नदियों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण इसी दृष्टि से किया गया। ये व्यवस्थायें सब देशों के सहयोग से क्रियान्वित हो सकती थीं। शस्त्रास्त्र घटाने की चौथी शर्त का यद्यपि पालन नहीं हुआ, किन्तु वर्साय की सन्धि को इस विषय में दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इसकी आठवीं धारा में राष्ट्रसंघ की कौन्सिल पर निःशस्त्रीकरण को क्रियान्वित करने की योजना बनाने का दायित्व डाला गया था। संधि में जर्मनी तथा अन्य पराजित राष्ट्रों की सेनाएँ मर्यादित करके इस दिशा में पहला पग भी उठाया गया, निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों की विफलता के कारण इस समस्या का हल नहीं हो सका।

पाँचवीं शर्त उपनिवेशों के निष्पक्ष तथा न्यायपूर्ण बँटवारे की थी। इसके अनुसार जर्मनी और तुर्की के उपनिवेश तथा साम्राज्य छीनकर राष्ट्रसंघ को दिये गये और राष्ट्रसंघ ने विभिन्न देशों को इनका शासनाधिकार (Mandate) दिया। हार्डी ने यह सिद्ध किया है कि यह व्यवस्था विल्सन की शर्तों के सर्वथा अनुकूल थी।[५] रूस से जर्मन फौजें हटाने और उसे संघ में सम्मिलित करने के लिए निमन्त्रण देने की छठी शर्त पूरी हुई। जर्मनी ने रूस से ब्रैस्टलिटोवस्क की सन्धि की कठोर शर्तों का पालन नहीं करवाया और रूस बाद में संघ में सम्मिलित हुआ। बेल्जियम की स्वतन्त्रता की सातवीं और आल्सेस-लोरेन फ्रांस को लौटाने की आठवीं शर्तें पूर्णरूप से क्रियान्वित हुई। इटली के राष्ट्रीय सीमान्त बनाने की नवीं शर्त पूरी नहीं हुई, क्योंकि इटली को दक्षिणी टिरोल के ढाई लाख आस्ट्रियन, जर्मन तथा इस्ट्रिया प्रायद्वीप के ५२ प्रतिशत यूगोस्लाव दिये गये। आस्ट्रिया, हंगरी की पराधीन जातियों को स्वतन्त्रता देने की दसवीं शर्त तो पूरी हुई, किन्तु इसके साथ कुछ जर्मनों तथा मगयारों को विदेशी शासन में दे दिया गया। ११वीं शर्त के अनुसार बाल्कान राज्यों की व्यवस्था की गई। तुर्की के सम्बन्ध में १२वीं

---

५. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २१–२६

शर्त का पालन नहीं हुआ क्योंकि इसके तुर्कों से भिन्न जातियों द्वारा बसे हुए प्रदेशों को स्वतन्त्र नहीं किया, किन्तु इन पर मित्रराष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ का आदेश पाकर शासन करना आरम्भ किया। समुद्री मार्ग वाले स्वतन्त्र पोलैण्ड के निर्माण की १३वीं तथा राष्ट्रसंघ के निर्माण की १४वीं शर्तें पूरी हुईं। लैंगसम के मतानुसार विल्सन की १४ शर्तों में पाँच (सं० ७,८,११,१३,१४) का पालन हुआ, चार (५,६,६,१०) का पालन इस प्रकार से हुआ कि मित्रराष्ट्रों को इसका लाभ पहुँचा और पाँच (१,२,३,४,१२) की उपेक्षा हुई।[६]

विल्सन की कुछ शर्तें पूरी न होने पर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उसके आदेशों और सिद्धान्तों का इस संधि पर बड़ा प्रबल प्रभाव पड़ा। डा० सेटन वाटसन के शब्दों में यह पहला अन्तर्राष्ट्रीय समझौता था, जिसे इसके निर्माताओं ने निश्चित नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर बनाया था। गाथोर्न हार्डी ने यह लिखा है कि इससे पहले कभी किसी शान्ति-सन्धि का स्वरूप इतना अधिक आदर्शवादी नहीं था।[७]

(ग) **अन्याय और कठोरता**—वर्साय की सन्धि के विषय में यह कहा जाता है कि यह जर्मनी के प्रति बहुत कठोर और अन्यायपूर्ण थी। जिस प्रकार प्राचीन काल में रोम ने कार्थेज को जीत कर उसका समूलोन्मूलन किया था, उसी प्रकार इस सन्धि में जर्मनी को विनष्ट करने का प्रयत्न किया गया था। इस विषय में यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि इसमें राष्ट्रपति विल्सन के आदर्शवाद का प्रभाव न होता तो यह सन्धि अधिक कठोर होती। हाल तथा डेविस ने इस विषय में यह सत्य ही लिखा है—"यह सन्धि राइनलैण्ड को फ्रांस का अंग बना सकती थी, जर्मनी को १८६६ की भाँति मेन नदी पर विभक्त कर सकती थी, सां जर्मे तथा त्रिआनों की सन्धि जैकोस्लोवाकिया द्वारा माँगा गया, हंगरी के मैदान में होकर गुजरने वाला तंग रास्ता या गलियारा उसे दे सकती थी और इस प्रकार आस्ट्रिया तथा हंगरी को पृथक् एवं यूगोस्लाविया और जैकोस्लोवाकिया को संयुक्त कर सकती थी। इसमें ये वेहूदा बातें नहीं की गयीं। अतः यह कहना अत्युक्तिपूर्ण है कि यह कार्थेज जैसी शांति-सन्धि थी। कार्थेज का विध्वंस कर दिया गया था, उसकी मिट्टी में नमक मिला दिया गया था। पराजित जर्मनों के साथ उससे कहीं अच्छा बर्ताव किया गया था, जो जर्मन लोगों ने ब्रैस्टलिटोवस्क की सन्धि में रूसियों के साथ किया था। वर्साय की सन्धि में निर्माताओं ने न केवल जर्मनी का विध्वंस नहीं किया किन्तु अपनी शर्तों की कठोरता कम करने के लिए दो उपायों की व्यवस्था की, पहला तो क्षतिपूर्ति कमीशन की नियुक्ति थी, जो उसके हर्जाने की राशि कम कर सकता था और दूसरा राष्ट्रसंघ था, जो इसके अन्य अन्याय हटा सकता था।"[८]

फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्साय की संधि की शर्तें बड़ी कड़ी और

---

६. लैंगसम—वर्ल्ड सिन्स १६१६, पृ० ३४। श्री एच० जी० वैल्स ने लिखा है कि विल्सन शान्ति-परिषद् की समाप्ति पर जब बाहर आया तो उसकी चौदह शर्तें बहुत विकृत हो चुकीं थीं, किन्तु उसकी गोद में राष्ट्रसंघ रूपी शिशु था, इसके सम्बन्ध में यह कहना कठिन था कि यह जीवित रहेगा या मर जायगा।

७. हार्डी—ए शार्ट हिस्टरी आफ इण्टरनेशनल एफेयर्स, पृ० २०

८. हाल डेविस—दी कोर्स आफ योरोपियन हिस्टरी सिंस वाटर्लू, पृ० ६६५

अन्यायपूर्ण थीं। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि संधि पेरिस में हुई थी, जहाँ युद्ध में जर्मन अत्याचारों के कारण जर्मनी के प्रति घृणा, रोष और प्रतिहिंसा की भावना चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। संधि की शर्तें तय करने वाले मित्रराष्ट्र इस युद्ध में जन-धन की भीषण क्षति उठा चुके थे और वे जर्मनी को ऐसा पाठ पढ़ाना चाहते थे कि वह पुनः इस प्रकार युद्ध छेड़ने का दुःसाहस न कर सके। लायड जार्ज ने ब्रिटिश पार्लियामेंट में इस सन्धि का समर्थन करते हुए कहा था—"इस संधि की शर्तें कुछ अंशों में बड़ी भयंकर हैं, पर जर्मनी के कार्य भी कम भयंकर नहीं थे और यदि जर्मनी जीत जाता तो इसके परिणाम भी कम भयंकर न होते।" आल्सेस लोरेन, श्लेसविग, पोलैण्ड का जर्मनी से लिया जाना न्यायोचित था। यदि मूल निवासियों के साथ किये गये दुर्व्यवहार के बाद भी जर्मनी को उसके उपनिवेश लौटाये जाते तो यह एक नीच प्रकार का विश्वासघात होता। जर्मन लोगों ने युद्ध छेड़ा था, अतः सब देशों को यह चेतावनी देना आवश्यक हो गया था कि भविष्य में यदि कोई अपने पड़ोसी पर हमला करेगा तो उसकी जर्मनी जैसी दुर्दशा होगी।

संधि के दोष

वर्साय की सन्धि के मुख्य दोष निम्नलिखित थे—

(१) **असंभव, अपमानजनक और कठोर शर्तें**—वर्साय की इस सन्धि की शर्तें जान-बूझकर ऐसी बनाई गई थीं कि जर्मनी को बुरी तरह कुचल दिया जाय। उस पर हर्जाने की राशि इतनी अधिक थोपी गई कि वह उसे अदा कर ही नहीं सकता था। उसकी जल, स्थल और वायु सेनाओं की लगभग समाप्ति कर दी गई, उससे उपनिवेश छीन लिए गए। १५ वर्ष तक सार के जर्मन प्रदेश को उससे छीनना तथा १५ वर्ष तक राइनलैण्ड में मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का रखना, युद्ध छिड़ने का उत्तरदायित्व उस पर डालना जर्मनी का प्रबल राष्ट्रीय अपमान था। इसी प्रकार वेन्स के शब्दों में इसके पूर्वी सीमान्तों का निर्धारण, पोलैण्ड का पुनरुज्जीवन, पूर्वी प्रशिया को ब्रैण्डनबर्ग से पृथक् करने वाला पोलिश गलियारा और साइलीशिया का छीना जाना जर्मनी के लिए सह्य नहीं था।

(२) **एकपक्षीय शर्तें**—वर्साय की सन्धि का एक बड़ा दोष यह था कि इसकी विभिन्न शर्तें पारस्परिकता और समानता के आधार पर नहीं की गयी थीं। इसमें पराजित पक्ष पर बहुत सी शर्तें जबर्दस्ती लागू की गई थीं, किन्तु विजेताओं पर उन्हें नहीं लगाया गया था। निःशस्त्रीकरण, उपनिवेशों, युद्धापराधियों पर मुकदमे चलाने, राष्ट्रसंघ की सदस्यता, संग्रहालयों की लूट आदि लौटाने के बारे में सब शर्तें एक-पक्षीय थीं। इस सन्धि द्वारा निःशस्त्रीकरण के नाम पर जर्मनी की सेनायें तो घटा दी गई किन्तु मित्रराष्ट्रों पर ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया। उपनिवेश जर्मनी से तो छीन लिए गए, पर मित्रराष्ट्रों के पास रहने दिये गये। युद्ध में क्रूरता आदि के अपराध दोनों पक्षों की ओर से हुए थे, पर इनके लिए अभियोग केवल जर्मन व्यक्तियों पर ही चलाये गए। इससे जर्मनी में यह धारणा उत्पन्न हुई कि उनके साथ जो अन्याय हुआ है, इसका कारण युद्ध नहीं, पर युद्ध में उनकी हार है अतः उन्हें इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि वे युद्ध

की ऐसी तैयारी करें कि अगले युद्ध में उन्हें कोई शक्ति न हरा सके। यदि निःशस्त्रीकरण आदि की शर्तें दोनों पक्षों पर लागू होतीं तो जर्मनी को कोई असन्तोष न होता।

(३) **थोपी गई शान्ति** (Dictated Peace)—वर्साय की सन्धि जर्मनी पर थोपी गई थी, क्योंकि इसकी शर्तों को सोचते समय जर्मन प्रतिनिधियों को नहीं बुलाया गया, बाद में उनको केवल सन्धि तैयार होने पर इस पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा गया, विराम-सन्धि के समय बार-बार पुनः युद्ध छेड़ने की धमकी दी जाती रही। लायड जार्ज की निम्न उक्ति से इसका बलपूर्वक थोपा जाना स्पष्ट हो जायगा —"ये शर्तें युद्ध में बलिदान होने वाले वीर सैनिकों के रुधिर से लिखी गई हैं।...जर्मन कहते हैं कि वे इन पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे, उनके समाचारपत्र और राजनीतिज्ञ भी यही कहते हैं, किन्तु हम कहते हैं तुम्हें हस्ताक्षर करने होंगे। यदि तुम वर्साय में हस्ताक्षर नहीं करते तो तुम्हें बर्लिन में ऐसा करना पड़ेगा।" यह व्यवहार जर्मनी के लिए बड़ा अपमानजनक था, इसने उसमें यह भावना उत्पन्न की कि इस सन्धि पर उससे जबर्दस्ती हस्ताक्षर कराये गए हैं, अतः वह इसे मानने के लिए बाधित नहीं है।

(४) वर्साय की सन्धि का प्रधान आधार घृणा और विद्वेष की भावना था, न कि विवेक और बुद्धिमत्ता। लार्ड ब्राइस ने ब्रिटिश पार्लियामैण्ट में यह कहा था कि शान्ति केवल सन्तोष से हो सकती है, इन सन्धियों का परिणाम राष्ट्रों को असन्तुष्ट बनाना है, इससे क्रान्तियां और युद्ध होंगे।

(५) इस सन्धि में ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन था जिनका पूरी तरह पालन असम्भव था। उदाहरणार्थ आत्मनिर्णय का विचार सिद्धान्त की दृष्टि से बहुत सराहनीय था, पर उसके व्यावहारिक प्रयोग में बड़ी कठिनाइयां थीं। इसके प्रयोग की मर्यादायें इस सन्धि में स्पष्ट निर्धारित नहीं की गयी थीं, अतः इसने नई समस्यायें उत्पन्न कर दीं।

(६) इस सन्धि ने जर्मनी में लोकतन्त्र की स्थापना की क्योंकि मित्रराष्ट्र किसी निरंकुश शक्ति के साथ समझौता करने को तैयार नहीं थे। किन्तु लोकतन्त्र वहीं चिर-स्थायी हो सकता है, जहाँ उसकी विभिन्न संस्थाओं का शनैः शनैः स्वयमेव विकास हुआ हो, उसे जबर्दस्ती किसी देश पर नहीं थोपा जा सकता। जर्मनी में इस सन्धि ने यद्यपि कैसर की निरंकुश शक्ति नष्ट कर दी, पर हिटलर की तानाशाही के रूप में वह शक्ति शीघ्र ही पुनः उठ खड़ी हुई।

(७) इससे जर्मनी और रूस दो बड़े देश असंतुष्ट बने रहे और मध्य योरोप में बनाये गये नए राष्ट्रों—जैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, लैटविया, इस्टोनिया से घिर गये। इनमें से कोई भी लघु राष्ट्र इनका मुकाबला नहीं कर सकता था, अतः इन दोनों के लिए अपने पड़ोसी राष्ट्रों—आस्ट्रिया, जैकोस्लोवाकिया, लैटविया, इस्टोनिया, लिथुआनिया आदि को हड़पना, हंगरी, बल्गारिया, रूमानिया आदि पर हावी होना सुगम हो गया। पोलैण्ड की सीमाओं की रक्षा का वचन दिया होने पर भी १९३९ में इंगलैण्ड और फ्रांस हिटलर के हमले से उसकी रक्षा नहीं कर सके।

वर्साय की संधि की विफलता और द्वितीय महायुद्ध

वर्साय की सन्धि का मुख्य उद्देश्य योरोप में शान्ति स्थापित करना था, किन्तु इसके २० वर्ष के भीतर ही द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हो गया। इस दृष्टि से इस सन्धि को बहुत सफल नहीं कहा जा सकता। इस सन्धि के अनेक भाग मित्रराष्ट्रों की सहमति, उपेक्षा और विरोध से संशोधित एवं भंग होते चले गये। उदाहरणार्थ इसके पहले भाग का संशोधन जर्मनी को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाकर १९२६ ई० में किया गया, जर्मनी की सेनाओं को मर्यादित करने वाले इसके पाँचवें भाग को जर्मनी ने हिटलर के नेतृत्व में १९३५ में तोड़ दिया, इसके युद्ध-बन्दियों सम्बन्धी सातवें और क्षतिपूर्ति विषयक आठवें भागों को कभी पूरी तरह लागू ही नहीं किया गया। १९३७ तक इस सन्धि के प्रादेशिक व्यवस्थाओं वाले दूसरे, तीसरे और चौथे भाग ही अखण्डित बच गये और इन्हें भी हिटलर ने पश्चिमी शक्तियों की उपेक्षा और सहमति से भंग कर दिया। १९३६ में उसने राइनलैण्ड में जर्मन सेनायें भेजकर इसे सेना रहित बनाने वाली व्यवस्थाओं को तोड़ा, मार्च १९३८ में आस्ट्रिया के साथ एकीकरण के निषेध की व्यवस्था को भंग किया, सितम्बर १९३८ में जैकोस्लोवाकिया के बंटवारे, मार्च १९२९ में बोहीमिया और मोराविया पर अधिकार द्वारा इस सन्धि के विभिन्न अंश तोड़े और अन्त में पोलैण्ड के गलियारे और डैन्ज़िग के प्रश्न पर जब हिटलर ने वर्साय की सन्धि की व्यवस्थाओं को तोड़ना चाहा तो द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हो गया। क्या इसके लिए वर्साय की सन्धि को दोषी ठहराया जा सकता है?

जर्मनी और उसके साथी द्वितीय विश्व-युद्ध का प्रधान कारण वर्साय की अन्यायमूलक और अपमानजनक सन्धि को ही ठहराते हैं। किन्तु वास्तविक सत्य इससे कुछ भिन्न है। इसका मुख्य हेतु मित्रराष्ट्रों की परस्पर विरोधी तथा सन्धि की शर्तों का कठोरतापूर्वक पालन न करवाने की नीति थी। यदि इस सन्धि का कड़ाई से पालन कराया जाता तो जर्मनी को यह अनुभव हो जाता कि वह युद्ध में हारा ही नहीं, अपितु भविष्य में युद्ध छेड़ना उसके लिए बड़ा हानिकारक होगा। इस अवस्था में जर्मनी को शीघ्र युद्ध छेड़ने का साहस न होता। किन्तु हिटलर द्वारा वर्साय की सन्धि की शर्तों को तोड़ने के समय मित्रराष्ट्रों ने जिस उपेक्षा, उदासीनता, प्रच्छन्न समर्थन और नपुंसकता का प्रदर्शन किया, उससे जर्मनी का साहस बढ़ गया और उसने दूसरा महायुद्ध छेड़ने की हिम्मत की। लैंगसम के मतानुसार "१९१८ में अपनी भीषण हार के केवल २१ वर्ष बाद ही जर्मनी को इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध छेड़ने में समर्थ बनाने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि शान्ति-समझौते को बनाये रखने के लिए ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने विभिन्न नीतिमार्गों का अवलम्बन किया। अंग्रेजों ने १९२० के बाद व्यापारिक हितों की दृष्टि से (मृदु) नीति का तथा फ्रेंच लोगों ने जर्मनी को निर्बल बनाये रखने के लिए दूसरी (कठोर) नीति का आश्रय लिया। १९२०—२१ के बाद प्रत्येक जर्मन-फ्रेंच विवाद अन्ततोगत्वा ब्रिटिश-फ्रेंच विवाद बन जाता था और इससे जर्मनी को लाभ पहुँचता था।" इसीलिए जर्मनी द्वारा सन्धि की विभिन्न शर्तों के

उल्लंघन की दोनों उपेक्षा करते रहे। इससे जर्मनी की हिम्मत बहुत बढ़ गई और उसने दूसरा महायुद्ध शुरू करने में कोई संकोच नहीं किया।

वर्साय की सन्धि का मूल्यांकन

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह आदर्श सन्धि नहीं थी, इसमें विल्सन के सिद्धान्तों का पूरा पालन नहीं हुआ था, यह प्रतिहिंसा, विद्वेष और विजेताओं के प्रति पक्षपात की भावना से ओतप्रोत थी। इन दोषों के लिए इसे जन्म देने वाली परिस्थितियां उत्तरदायी हैं। यह पेरिस में बनी, जहाँ जर्मनी के विरुद्ध रोष और प्रतिहिंसा की भावना चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। इसे बनाने वाले राष्ट्र इस युद्ध में अपार जन-धन की हानि के कारण प्रतिहिंसा के भावों से भरे हुए थे। ऐसे देशों के राजनीतिज्ञों से वीतराग महात्माओं की भाँति क्षुद्र स्वार्थों और संकीर्ण मनोभावनाओं से ऊँचा उठकर सन्धि की शर्तें तैयार करने की आशा दुराशा मात्र थी। वस्तुत: वर्साय की सन्धि व्यावहारिक विचारधारा वाले फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के प्रतिनिधियों के साथ आदर्शवादी विल्सन के संघर्ष का परिणाम थी। यद्यपि इसमें जीत पहले पक्ष की हुई, किन्तु दूसरे पक्ष का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। यदि पहला पक्ष जर्मनी के उपनिवेशों को हथियाने में समर्थ हुआ तो दूसरे पक्ष को यह सन्तोष था कि ये उपनिवेश उन्हें साम्राज्य के अंग के रूप में नहीं, किन्तु राष्ट्रसंघ से पवित्र धरोहर तथा अमानत के रूप में प्राप्त हुए हैं। यदि जर्मनी से उसके कुछ प्रदेश पहले पक्ष द्वारा छीने गये तो दूसरे पक्ष ने इनका बंटवारा राष्ट्रीयता और आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों के आधार पर कराया। जहाँ इन सिद्धान्तों की उपेक्षा होने लगी, वहाँ दूसरे पक्ष ने इसका घोर विरोध किया। इसी कारण राइनलैण्ड में स्वतन्त्र राज्य बनाने का, सार की घाटी में फ्रेंच प्रभुत्व स्थापित करने का और फ्यूमे इटली को देने के प्रस्ताव स्वीकार नहीं हो सके। जहाँ कहीं सामरिक, आर्थिक, भौगोलिक या अन्य कारणों से किसी प्रदेश की जनता को विदेशी शासन का अङ्ग बनाया गया, वहाँ अल्पसंख्यक की सुरक्षा के लिए अनेक सन्धियां और समझौते किये गये। शाण्टुंग आदि कुछ मामलों में इस सन्धि की व्यवस्थायें सन्तोषजनक नहीं थीं, पर उस समय वह आशा रखी जाती थी कि राष्ट्रसंघ इन दोषों को दूर कर देगा। यदि इस सन्धि के निर्माता तत्कालीन रागद्वेष से ऊँचा उठकर इस सन्धि की शर्तें जर्मनी के लिए अधिक कठोर तथा अपमानजनक न बनाते तो यह बहुत अच्छा होता; किन्तु उनके लिए ऐसा करना सम्भव न था। फिर भी उन परिस्थितियों में विल्सन ने बहुत सुधार किया। प्रो० बर्डसाल ने यह ठीक ही लिखा है कि यदि विल्सन इस सन्धि के समय उपस्थित न होता तो यह सन्धि जर्मनी के लिए बहुत बुरी होती।[१] अत: वर्साय की सन्धि के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह जितनी बुरी और कठोर बनाई जा सकती थी, उससे बहुत कम उग्र थी और राष्ट्रसंघ के रूप में इसने युद्धजर्जर विश्व को आशा की एक नई उज्ज्वल किरण प्रदान की थी।

---

१. पाल बर्डसाल—वर्साय ट्वेंटी यीअर्स आफ्टर (१९४१), पृ० २९५

वर्साय की सन्धि का योरोप पर प्रभाव

योरोप पर इसके अनेक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़े। इसने चार पुराने और प्रसिद्ध निरंकुश राजतन्त्रों का अन्त कर दिया। जर्मनी के होहेनत्सालर्न, और आस्ट्रिया-हंगरी के हाप्सबुर्ग राजवंश तथा रूस के जार और तुर्की के खलीफा समाप्त हो गये। योरोप गणराज्य और राष्ट्रीयता की लहर से आप्लावित हो गया, १९१४ में फ्रांस, स्विटज़रलैण्ड, पुर्तगाल, सानमारीनो और एण्डोर्रा के पाँच ही गणराज्य थे, युद्ध के बाद इनकी बाढ़ आ गई, १९३२ में इनकी संख्या १८ थी। तीसरा परिणाम राष्ट्रीयता की विजय थी, इसके आधार पर पोलैण्ड, जैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, एस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, फिनलैण्ड के नये राष्ट्रों का जन्म हुआ। आत्मनिर्णय के सिद्धांतों ने योरोप में राष्ट्रीयता के झगड़ों को बढ़ाया। योरोप में राष्ट्रीयता का सिद्धान्त सर्वमान्य होने पर उसका प्रभाव मित्रराष्ट्रों के एशिया तथा अफ्रीका के साम्राज्यों पर—मिस्र, भारत, कोरिया आदि में पड़ा। राष्ट्रसंघ के कारण विभिन्न कार्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में वृद्धि हुई, युद्ध की विभीषिकाओं से परित्राण पाने के लिए व्यक्तियों का झुकाव धर्म और रहस्यवाद की ओर अधिक बढ़ने लगा। विभिन्न राष्ट्रों की आपेक्षिक महत्ता में बहुत अधिक अन्तर आगया। युद्ध से पहले अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का निपटारा छः महाशक्तियां किया करती थीं, अब इनमें से आस्ट्रिया, जर्मनी और रूस का महत्त्व समाप्त हो गया, इनका स्थान पोलैण्ड, जैकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया जैसे नए राष्ट्रों ने ले लिया।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. Describe in brief the Fourteen points of President Wilson and explain to what extent these were incorporated in the covenant of the 'League of Nations'. (Agra Uni. 1958)
2. Explain the significance of the principle of self-determination. How far it was applied in the European settlement of 1919—20) and with what results. (Agra Uni. 1955)
3. Describe briefly the European territorial settlements of 1919—20 and state how far, in your opinion they were responsible for the Second World war? (Agra Uni. 1944, 1962)
4. 'Germany was crushed to the earth and was not permitted even to join the League of Nations'. Discuss the statement in the light of the Treaty of Versailles. (Rajasthan Uni. 1958)
5. State and examine the main provisions of the Treaty of Versailles. (Hindu Uni. 1957)
6. Bring out the salient features of the Paris Peace settlement after the first world war and examine the view that the Peace Treaty of Versailles was merely an armistice for twenty years. (Hindu Uni. 1955)
7. Comment. 'A great opportunity of lasting peace was missed in 1919.' (Agra Uni. 1960)

दूसरा अध्याय

राष्ट्रसंघ

राष्ट्रसंघ के विचार का उद्गम

योरोप के विचारक, दार्शनिक और राजनीतिज्ञ मध्यकाल से युद्धों को रोकने और स्थायी शान्ति स्थापित करने की अनेक योजनायें और कल्पनायें बनाते चले आ रहे हैं। पियरे डुबोइस (Pierre Dubois) और थामस एक्विनास (Thomas Acquinas) युद्धों की अराजकता दूर करने के लिए सब राज्यों को एक सार्वभौम चर्च के आधीन रखना चाहते थे। इटली का प्रसिद्ध कवि दांते (Dante) सब शासकों को एक सार्वभौम साम्राज्य का वशवर्ती बनाना चाहता था। १६वीं शताब्दी में इरेज़मस (Erasmus) तथा सल्ली (Sully) ने, १७वीं शताब्दी में एमेरिक क्रूस् (Emeric Cruce), ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo Grotius) और विलियम पैन (William Penn) ने, १८वीं शताब्दी में सेण्ट पियरे (Saint Pierre), रूसो तथा काण्ट ने शान्ति बनाये रखने की अनेक योजनायें उपस्थित कीं। १९वीं शताब्दी में यातायात के नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से, नैपोलियन के युद्धों के भीषण कष्टों से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अनेक संस्थाओं के तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास से तथा १८१५ के बाद महाशक्तियों द्वारा योरोप की प्रादेशिक व्यवस्था को अखण्ड बनाये रखने के उद्देश्य से ब्रिटेन, प्रशिया, आस्ट्रिया, रूस के चतुर्मुख संघ (Quadruple Alliance), पवित्र संघ (Holy Alliance) की स्थापना से शान्ति-आन्दोलन को बहुत बल मिला।

१९१४ का युद्ध आरम्भ होने पर तो लड़ाइयां बन्द करने वाले संगठन की तीव्र आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। सितम्बर, १९१५ में ब्रिटिश विदेश-मन्त्री सर एडवर्ड ग्रे (Sir Edward Grey) ने अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन के वैयक्तिक सहायक कर्नल हाउस को लिखा था कि एक ऐसा संघ बनाया जाना चाहिये, जो सन्धि भंग करने वाले और युद्ध के नियमों को तोड़ने वाले राष्ट्र का नियन्त्रण कर सके। इस समय ग्रेट ब्रिटेन में लार्ड ब्राइस (Bryce) ने, फेबियन सोसाइटी ने, ब्रिटिश विदेश-मन्त्री बालफोर द्वारा फिलिमोर की अध्यक्षता में नियुक्त की गयी कमेटी ने तथा जनरल स्मट्स ने राष्ट्रसंघ की विविध योजनायें बनायीं। सं० रा० अमेरिका में १९१५ में 'शान्ति स्थापित करने वाले संघ' (League to Enforce the peace) का संगठन हुआ। भूतपूर्व राष्ट्रपति टैफ्ट (Taft) ने इसकी एक योजना बनायी। राष्ट्रपति विल्सन ने दिसम्बर १९१६ में समूचे विश्व में शान्ति और न्याय की सुरक्षा के लिए एक संघ का विचार सुझाया, वे इसके इतने प्रबल पोषक थे कि उनकी १४ शर्तों में इसे सम्मिलित किया गया। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर वे इसे स्थापित करने के लिए इतने अधिक उत्सुक थे कि उन्होंने इसे बनाने का सहयोग प्राप्त करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन, जापान और फ्रांस की

राष्ट्रीयता और आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का विरोध करने वाली कई माँगें स्वीकार कीं। अतएव विलसन को राष्ट्रसंघ का 'धर्मपिता' कहा जाता है।

पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में राष्ट्रसंघ के संविधान को तैयार करने का कार्य विलसन के सभापतित्व में १९ प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन को सौंपा गया। इसके सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका और फ्रांस की योजनायें विभिन्न प्रकार की थीं। ब्रिटिश तथा अमेरिकन योजनाओं का समन्वय सेसिल हर्स्ट (Cecil Hurst) तथा हण्टर मिलर (Hunter Miller) ने किया। किन्तु फ्रेंच योजना के साथ इसका सामंजस्य टेढ़ी खीर था। फ्रेंच प्रतिनिधि क्लेमेन्सो फ्रांस की सुरक्षा की दृष्टि से इसे बड़ा शक्तिशाली संगठन बनाने के लिए राष्ट्रसंघ के पास एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना की व्यवस्था करना चाहते थे, ताकि इससे वह शान्ति भंग करने वाले तथा सन्धि व्यवस्था तोड़ने वाले राष्ट्रों का दमन कर सके। विलसन ने अन्तर्राष्ट्रीय सेना का इस आधार पर घोर विरोध किया कि सं० रा० अमेरिका अपनी सेना किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को देने वाली सन्धि को स्वीकार नहीं करेगा। उसका यह कहना था कि हमें राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने वाले राष्ट्रों की ईमानदारी में पूरा भरोसा रखना चाहिये। १४ फरवरी, १९१९ को राष्ट्रसंघ—कमीशन ने इसका प्रारूप (Draft) तैयार किया, इसके सिद्धान्त मुख्य रूप से अमेरिका की देन थे और कानूनी ढांचा ग्रेट ब्रिटेन की कृति था। २८ अप्रैल, १९१९ को इसके प्रारूप को शान्ति-सम्मेलन के पूर्ण अधिवेशन ने स्वीकार कर लिया। १० जनवरी, १९२० से इसे क्रियान्वित किया गया। वर्साय, सां जर्मे, सेव्र आदि अनेक सन्धियों में इसे सम्मिलित किया गया। इसके संविधान को जानबूझ कर समझौते या प्रतिज्ञापत्र (Covenant) का नाम दिया गया, ताकि विभिन्न राष्ट्र इसे अपने से ऊँचा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन समझने की भ्रान्ति में न पड़ें।

राष्ट्रसंघ का स्वरूप

राष्ट्रसंघ का समझौता (Covenant) संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर से बहुत छोटा, केवल ४००० शब्दों का था। इसमें एक भूमिका तथा १ से १० पैराग्राफों वाली २६ धारायें थीं। भूमिका में इसके उद्देश्यों की घोषणा करते हुए यह कहा गया था कि इसके मुख्य लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को स्थापित करना है। इसकी पहली सात धाराओं में इसकी सदस्यता के नियमों और संघ के विभिन्न अंगों का वर्णन है। ८वीं तथा ९वीं धारा में निःशस्त्रीकरण का वर्णन है। १०वीं से १७वीं धारा तक विभिन्न झगड़ों के शान्तिपूर्वक निर्णय, आक्रमणों को रोकने तथा सामूहिक सुरक्षा (Collective security) बनाये रखने के उपायों का प्रतिपादन है। १८ से २१ धाराओं में संधियों की रजिस्ट्री, प्रकाशन, संशोधन और वैधता का उल्लेख है। धारा २१ में मनरो सिद्धान्त की स्वीकृति तथा धारा २२ में शासनादेश (Mandate) पद्धति का प्रतिपादन है। धारा २३ में संघ के सदस्यों द्वारा श्रमिक कल्याण, बाल कल्याण, नारी व्यापार निषेध, रोगों के नियन्त्रण आदि के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यों पर बल दिया गया है। धारा २४ में विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय

संस्थाओं के राष्ट्रसंघ के साथ सम्बन्धों का वर्णन है। धारा २५ में रैडक्रास के प्रोत्साहन का वर्णन है और धारा २६ में राष्ट्रसंघ के समझौते में संशोधन करने की प्रक्रिया का उल्लेख है।

(क) **सदस्यता**—पहली धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ के आरम्भिक सदस्य वर्साय की तथा शान्ति समझौते की अन्य संधियों पर हस्ताक्षर करने वाले तथा असेम्बली के ⅔ बहुमत से चुने जाने वाले स्वशासक (Self Governing) राज्य और उपनिवेश थे। कोई भी सदस्य दो साल का नोटिस देकर इसकी सदस्यता से पृथक् हो सकता था या कौन्सिल के सर्वसम्मत वोट द्वारा निकाला जा सकता था। आरम्भ में ४३ राज्य इसके सदस्य थे, १९३५ में यह संख्या बढ़ कर ६२ हो गयी, अप्रैल, १९४६ में राष्ट्रसंघ की अन्तिम बैठक के समय इसके सदस्यों की संख्या घट कर ४३ रह गयी थी और इनमें से केवल ३४ राज्यों के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित हुए थे।

राष्ट्रसंघ का यह दुर्भाग्य था कि इसमें सब महाशक्तियां नहीं सम्मिलित हुईं। प्रारम्भ में तीन बड़े राष्ट्र सं० रा० अमेरिका, जर्मनी और रूस इसके सदस्य नहीं बने। सं० रा० अमेरिका तो इसका कभी सदस्य बना ही नहीं, जर्मनी १९२६ में इसका सदस्य बना और उसने २१ अक्टूबर, १९३३ को इसे छोड़ने का नोटिस दे दिया। सोवियत रूस यद्यपि १९३३ में इसका सदस्य बना किन्तु उसे कौन्सिल ने १९४० में फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण संघ से निकाल दिया। जापान ने २६ जून, १९३३ को तथा इटली ने ११ दिसम्बर, १९३७ को इसकी सदस्यता छोड़ने का नोटिस दिया। इसके बाद इसके सदस्यों की संख्या निरन्तर घटती गई। राष्ट्रसंघ की निर्बलता का एक बड़ा कारण उसमें अनेक महाशक्तियों का सम्मिलित न होना था।

(ख) **राष्ट्रसंघ के अंग**—इसके तीन प्रधान अंग असेम्बली (साधारण सभा), कौन्सिल (परिषद्) और सचिवालय थे तथा दो स्वायत्त (Autonomous) अंग अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (I.L.O.) थे। इसके अतिरिक्त अन्य सहायक अंग—आर्थिक और वित्तीय संगठन, संवाद (Communications) तथा यातायात (Transit) संगठन, स्थायी शासनादेश आयोग (Mandates Commission) और बौद्धिक सहयोग का अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठान (International Institute of Intellectual Co-operation) था। यह वर्तमान यूनेस्को (Unesco) का पूर्ववर्त्ती था।

असेम्बली में प्रत्येक सदस्य-राज्य के अधिक से अधिक तीन प्रतिनिधि होते थे, किन्तु किसी विवादास्पद प्रश्न पर प्रत्येक देश को एक ही वोट देने का अधिकार होता था। सामान्यतः इसके सदस्यों की संख्या सौ होती थी और ये अधेड़ आयु के अपने राज्यों द्वारा नियत किये सरकारी अधिकारी और कूटनीतिज्ञ होते थे। वर्ष में इसकी एक बैठक प्रायः तीन सप्ताह के लिए जेनीवा में होती थी। इसकी पहली बैठक १५ नव०, १९२० को आरम्भ हुई और अन्तिम बैठक ६ से १८ अप्रैल, १९४६ तक हुई। १९ अप्रैल, १९४६ से राष्ट्रसंघ को समाप्त करने, उसके सब अधिकार, कार्य और सम्पत्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ को देने का निश्चय हुआ।

असेम्बली (साधारण सभा) धारा ३ के अनुसार संघ के क्षेत्र में आने वाले तथा विश्व की शान्ति को प्रभावित करने वाले, किसी भी विषय पर विचार कर सकती थी। इसके अतिरिक्त इसके विशेष कार्य ये थे—कौन्सिल के अस्थायी सदस्यों का, सभापति और आठ उपसभापतियों का चुनाव, ६० लाख डालर के वार्षिक बजट पास करना, दो तिहाई बहुमत से नये सदस्य बनाना, कौन्सिल द्वारा की गयी महामन्त्री की नामजदगी को पुष्ट करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करना। यह वस्तुतः विश्व की समस्याओं पर विभिन्न राष्ट्रों के विचारों की अभिव्यक्ति का रंगमंच तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समझौते कराने का महत्त्वपूर्ण साधन था। असेम्बली में विविध प्रश्नों पर विचार के लिए छः स्थायी और दो अतिरिक्त समितियाँ थीं। धारा ५ के अनुसार असेम्बली के सब निर्णय सर्वसम्मति से होते थे। यद्यपि संघ का विधान निर्माण करने वाले जनरल स्मट्स और सेसिल का यह विचार था कि वास्तविक कार्य लीग की कौन्सिल में होने के कारण साधारण सभा का विशेष महत्त्व नहीं होगा, किन्तु शनैः शनैः इसकी प्रतिष्ठा और महत्त्व कौन्सिल से अधिक बढ़ गया, क्योंकि इसमें छोटे राष्ट्रों की संख्या कौन्सिल की अपेक्षा अधिक थी। इसमें व्यक्त किये जाने वाले विचारों को सारे संसार की आवाज समझा जाता था।

कौन्सिल (परिषद्)—आरम्भ में ग्रेट ब्रिटेन महाशक्तियों को ही इसका सदस्य बनाना चाहता था किन्तु लघु राष्ट्रों ने इस नये 'पवित्र संघ' का विरोध किया और संघ के विधान में इसमें पाँच महाशक्तियों को स्थायी प्रतिनिधित्व दिया गया, ये शक्तियां संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान थे, इनके अतिरिक्त असेम्बली द्वारा चुने जाने वाले चार अन्य अस्थायी सदस्य रखे गये। इस प्रकार इसमें महाशक्तियों का बहुमत था। सं० रा० अमेरिका के इसमें सम्मिलित न होने पर दो वर्ष तक इसके सदस्यों की संख्या आठ ही रही, पर कौन्सिल और असेम्बली को इसे बढ़ाने का अधिकार था, अतः १९२२ में इसके अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ा कर छः कर दी गयी, इससे इसमें लघु शक्तियों को बहुमत प्राप्त हो गया। १९२६ में इनकी संख्या बढ़ कर नौ, १९३३ में दस तथा १९३४ में ११ हो गयी। इसके अतिरिक्त इसमें विशेष विषयों पर विचार के समय उनसे सम्बन्ध रखने वाले सदस्य भी बुलाये जाते थे। १९३९ की अन्तिम कौन्सिल में महाशक्तियों में केवल ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस स्थायी सदस्य थे, अन्य सदस्य बेल्जियम, बोलिविया, चीन, डोमिनिकन गणराज्य, मिस्र, फिनलैण्ड, यूनान, ईरान, पेरू, दक्षिण अफ्रीका और यूगोस्लाविया के लघु राष्ट्र थे।

१९२९ ई० के बाद कौन्सिल के प्रति वर्ष तीन सामान्य अधिवेशन होते थे, विशेष अधिवेशनों की संख्या निश्चित नहीं थी। इसका सभापतिपद फ्रेंच वर्णानुक्रम से विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों को एक-एक अधिवेशन के लिए बारी-बारी से दिया जाता था। चुनाव आदि प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों के अतिरिक्त सभी विषयों में इसका निर्णय सर्वसम्मति से होता था।

इसके मुख्य कार्य शस्त्रास्त्र घटाने की योजनायें बनाना, शासनादेश (Mandate) प्राप्त राष्ट्रों के शासन की रिपोर्टों पर विचार करना, बाह्य आक्रमणों से सदस्य

राष्ट्रों की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करना, इसे सौंपे गये विश्व की शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बिगाड़ने वाले प्रश्नों पर विचार करना था। यह किसी सदस्य को संघ के समझौते का उल्लंघन करने के लिए संघ से बहिष्कृत कर सकती थी। अनेक सन्धियों के अनुसार इसे सारघाटी के प्रशासन और डैन्जिग के स्वतन्त्र नगर का प्रबन्ध और विभिन्न देशों में अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण की देखभाल का कार्य मिला हुआ था। अतः इसके प्रधान कार्य निम्नलिखित थे—(१) असेम्बली के प्रस्तावों को क्रियान्वित करना (२) कुछ प्रशासनात्मक कार्य करना (३) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाना (४) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने के लिए सैनिक कार्यवाही का निश्चय करना। कौन्सिल की पहली बैठक १६ जन० १९२० को हुई तथा १०७वीं अन्तिम बैठक १४ दिस० १९३९ को।

सचिवालय (Secretariat)—लीग का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग संघ के सब कार्यों को चलाने के लिए जेनीवा में स्थापित किया गया इसका सचिवालय था, यह एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सिविल सर्विस थी। इसका अध्यक्ष एक महामन्त्री (Secretary General) होता था और यह अपने सहायक कार्यकर्त्ता कौन्सिल की सहमति से चुनता था। सचिवालय के कार्य असेम्बली तथा कौन्सिल के लिए विचारणीय विषयों की सूची तैयार करना, बैठकों की कार्यवाही का विवरण रखना, विविध प्रकार के प्रशासनात्मक कार्य करना था। वह सचिवालय निःशस्त्रीकरण, स्वास्थ्य, मैण्डेट आदि विशेष विषयों का कार्य करने वाले ११ खण्डों (Sections) में बंटा हुआ था। महामन्त्री विभिन्न देशों की संघ के रजिस्टर में दर्ज की जाने वाली संधियों के प्रकाशन का भी प्रबन्ध करता था, संघ ने ५००० के लगभग अपने यहाँ रजिस्टर में अंकित की गई सन्धियों और दस्तावेजों को मूल भाषाओं में तथा अंग्रेजी और फ्रेंच अनुवादों के साथ प्रकाशित किया।

संघ के प्रथम महामंत्री ब्रिटिश सिविल सर्विस के श्री जेम्ज एरिक ड्रमण्ड (James Eric Drammond) अपनी अद्भुत योग्यता, अनथक परिश्रम, चातुर्य, कार्यक्षमता और निष्पक्षता के कारण १३ वर्ष बड़ी सफलतापूर्वक कार्य करते रहे, उनके त्यागपत्र देने के बाद फ्रांस के जोसेफ एवनोल १९३३-४० तक तथा आयरलैण्ड के श्री सियेन लैस्टर १९४०-४६ तक इसके महामंत्री रहे। सचिवालय में कार्य करने वाले व्यक्तियों की अधिकतम संख्या ७५० तक रही, ये पचास विभिन्न देशों से सम्बंध रखते थे और इन्हें कार्य ग्रहण करते समय संघ के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी। सामान्यतः ये संकुचित राष्ट्रीय सीमाओं से ऊँचा उठ कर संघ के आदर्शों के प्रति आस्था रखते हुए अपना कार्य करते रहे।

संघ के उपर्युक्त तीन अंगों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्यों के लिए सहायक अंगों (Auxiliary Organs) तथा स्वायत्त (Autonomous) संस्थायें थीं। संघ का विधान बनाने वालों की यह इच्छा थी कि यह विविध अराजनैतिक प्रश्नों पर किये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्नों में समन्वय स्थापित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो, यद्यपि अमेरिका के असहयोग के कारण यह आकांक्षा पूरी नहीं हो सकी, किन्तु

फिर भी इसमें व्यापार, वित्त, स्वास्थ्य, अफीम आदि घातक औषधियों के नियंत्रणादि के लिए अनेक संस्थायें बनाकर बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संघ में संयुक्त राष्ट्रसंघ (U. N. O.) की कोई आर्थिक और सामाजिक कौंसिल जैसी कोई पृथक् संस्था सामाजिक कार्यों के लिए नहीं थी। अतः राष्ट्रसंघ में यह कार्य प्रायः सचिवालय उपर्युक्त संस्थाओं द्वारा करवाता रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice)—संघ के विधान की १४ वीं धारा में कौंसिल को यह कार्य सौंपा गया था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय विवादों की सुनवाई तथा इन विषयों पर संघ, कौंसिल तथा असेम्बली को परामर्श देने के लिए एक न्यायालय का निर्माण करेगी। इस आदेश के अनुसार कौंसिल द्वारा नियुक्त विधिशास्त्रियों (Jurists) की एक विशेष समिति द्वारा तैयार किये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संविधान को कुछ संशोधनों के साथ पहली असेम्बली ने दिसम्बर १९२० ई० में स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार न्यायालय के सदस्यों की संख्या ११ रखी गई, ये नौ वर्ष के लिए असेम्बली द्वारा चुने जाते थे, और ये स्वयमेव तीन वर्ष के लिए अपने सभापति और उपसभापति का चुनाव करते थे, १९३१ में जजों की संख्या १५ कर दी गयी। इस न्यायालय का अधिकारक्षेत्र दो प्रकार का—ऐच्छिक और आवश्यक था। जब दो या अधिक राज्य अपना विवाद निर्णय के लिए इसके सम्मुख उपस्थित करते तो यह ऐच्छिक अधिकारक्षेत्र था। किन्तु कुछ राज्यों ने न्यायालय के संविधान के साथ संलग्न एक पत्र (Protocol) पर हस्ताक्षर किये थे। इसके अनुसार इन राज्यों ने यह स्वीकार किया कि वे संधियों की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेवारी के उल्लंघन और इसके लिए की जाने वाली क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में इस न्यायालय का निर्णय स्वीकार करेंगे। ऐसे राज्यों के लिए न्यायालय का अधिकारक्षेत्र आवश्यक (Compulsory) था। १९२७ ई० में ऐसे राज्यों की संख्या बीस थी। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद होने वाली अनेक सन्धियों में विभिन्न राष्ट्रों ने अपने विवादों को इस न्यायालय के समक्ष उपस्थित करने की शर्त स्वीकार की थी। ऐसे राष्ट्रों के लिए भी इस न्यायालय का अधिकारक्षेत्र आवश्यक था। इसकी बैठकों का स्थान हेग निश्चित किया गया। इसका ५ लाख डालर का वार्षिक व्यय संघ द्वारा दिया जाता था।

इस न्यायालय ने १८९९ ई० में स्थापित हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्थान नहीं ग्रहण किया, यह उससे कई अंशों में भिन्न था। हेग के पुराने न्यायालय में विभिन्न देशों के १३२ विधिज्ञों (Jurists) की नामसूची रहा करती थी। हेग समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले देशों में विवाद उत्पन्न होने पर इनमें से कुछ व्यक्तियों को चुनकर उस प्रश्न पर विचार के लिए न्यायालय बना दिया जाता था। इस प्रकार यह **अस्थायी** था। किन्तु जेनीवा का न्यायालय १५ जजों का सदा कार्य करने वाला स्थायी न्यायालय था। हेग विश्वन्यायालय केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की व्याख्या तथा संधियों के भंग का निश्चिय करता था। विवादास्पद प्रश्नों पर कोई निर्णय नहीं देता था। किन्तु १९४० में हालैण्ड पर आक्रमण के बाद भंग होने वाले संघ के स्थायी न्यायालय ने ३१ विवादों में अपने निर्णय तथा २७ मामलों में अपने परामर्श दिए थे। १९४६ में इसे संयुक्त राष्ट्र-

संघ के न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice of the United Nations) में परिणत कर दिया गया। संघ के स्थायी न्यायालय ने एस० एस० विम्बलडन, पोलैण्ड में बसे जर्मनों, एस० एस० लोटस् आदि विवादों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निर्णय दिए थे।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (I.L.O.)–वर्साय संधि के भाग १३ के अनुसार मजदूरों के हित की दृष्टि से इसकी स्थापना की गयी थी। राष्ट्रसंघ का एक उद्देश्य यह भी था कि वह मजदूरी करने वाले पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के लिए उचित एवं मानवीय परिस्थितियों को बनाए रखने का प्रयत्न करेगा। अतः संघ ने अ० श्र० सं० को चलाने के लिए आवश्यक द्रव्य प्रदान किया और संघ के सदस्य श्रम संघ के सदस्य समझे गये, जर्मनी संघ का सदस्य न होने पर भी इसका सदस्य बना, ब्राजील राष्ट्रसंघ की सदस्यता से अलग हो जाने के बाद भी श्रम संघ का सदस्य बना रहा। अगस्त १९३४ में सं० रा० अमेरिका ने राष्ट्रसंघ के उत्तरदायित्वों को न स्वीकार करते हुए भी श्रम संघ की सदस्यता स्वीकार की।

जेनीवा में अवस्थित इस श्रमसंघ का स्वरूप राष्ट्रसंघ के सदृश था। इसके तीन अंग सामान्य सम्मेलन (General Conference), शासक संस्था (Governing Body) और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office) थे और ये राष्ट्र-संघ की असेम्बली, कौन्सिल और सचिवालय के समान थे। पहले में प्रत्येक सदस्य-राज्य के चार प्रतिनिधि होते थे—एक मजदूरों द्वारा चुना हुआ, दूसरा मालिकों द्वारा चुना हुआ, दो सरकार द्वारा चुने हुए। इसके पास कानून-निर्माण के कोई अधिकार नहीं थे, यह केवल श्रमिकों की दशा सुधारने के उपायों पर तथा इस क्षेत्र में प्रचलित बुराइयों की ओर विश्व का ध्यान केन्द्रित कर सकता था। यह सम्मेलन प्रायः विभिन्न विषयों पर अपनी सिफारिशों को अथवा कुछ समझौतों (Draft Conventions) को पास किया करता था। सिफारिशों में प्रायः मजदूरों से सम्बन्ध रखने वाले कानूनों के कुछ ऐसे व्यापक और विस्तृत सिद्धांत होते थे, जो विभिन्न राज्यों के लिए श्रमिक कानून बनाते समय मार्गदर्शक और उपयोगी भी हो सकते थे। समझौते प्रायः ऐसे विस्तृत कानूनी प्रस्ताव होते थे, जिनके सम्बन्ध में प्रत्येक सदस्य-राज्य से यह आशा रखी जाती थी कि वह इन्हें संपुष्ट (Ratify) करेगा और इसके अनुसार कानून बनायेगा। १९३९ तक प्रतिवर्ष होने वाले सामान्य सम्मेलनों ने १३३ सिफारिशें और समझौते पास किये थे। इसका सम्बन्ध प्रायः इन विषयों से था—काम करने के घण्टे, स्त्रियों और बच्चों की मजदूरी, रात्रि के कार्य, कारखानों की स्वास्थ्य सम्बन्धी परिस्थितियां और आवश्यकतायें, वेकारी, सार्वजनिक श्रम-रोजगार के कार्यालय (Public Labour Exchanges), मजदूरों के संघ बनाने के अधिकार, समुद्री जहाजों पर काम करने की परिस्थितियाँ, कारखानों में काम की परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाली बीमारियां (Occupational Diseases)। राष्ट्रसंघ के सदस्य राज्यों की सरकारों ने अनेक समझौतों (Conventions) को संपुष्ट किया। १९३९ में युद्ध छिड़ने से पूर्व पचास विभिन्न देशों ने ऐसे समझौतों की सातसौ पुष्टियां (Ratifications) की थीं।

शासक सभा के ३२ सदस्य होते थे, इनमें आठ मजदूरों के, आठ मिल-मालिकों के तथा १६ विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि होते थे। अधिकतम औद्योगिक महत्त्व रखने वाले राज्यों की इसमें प्रधानता बनाये रखने के लिए १९२२ में यह व्यवस्था की गई थी कि इसके आठ प्रतिनिधि बेल्जियम, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, भारत और जापान द्वारा चुने जाने चाहियें। जब सं० रा० अमेरिका और सोवियत यूनियन संघ के सदस्य बनें तो उन्हें कनाडा और बेल्जियम के स्थान पर स्थायी प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। इस सभा का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय के संचालक (Director) का चुनाव और उसका नियन्त्रण था।

जेनीवा के अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय का प्रधान कार्य औद्योगिक जीवन और मजदूरों से सम्बन्ध रखने वाली सभी विषयों की जानकारी और सामग्री एकत्र करना, सामान्य सम्मेलन की वार्षिक बैठकों के लिए विचारणीय विषयों की सूची तैयार करना, विश्व के विभिन्न भागों में श्रमिक कल्याण का काय करने वाली संस्थाओं में सम्पर्क स्थापित करना था। इसने अनेक रिपोर्टों, अध्ययनों और दस्तावेजों का तथा इण्टरनेशनल लेबर रिव्यू तथा बुलेटिन नामक पत्रिकाओं का प्रकाशन किया।

द्वितीय विश्व-युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण इसका प्रधान कार्यालय जेनीवा से हटकर १९४० से १९४८ तक कनाडा में माँट्रील नगर रहा, इसके बाद पुनः जेनीवा हो गया और यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का भाग बन गया। इसने विश्व में श्रमिकों की दशा सुधारने और उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।

राष्ट्रसंघ के कार्य

इसके विभिन्न कार्यों में चार प्रकार के कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—प्रशासनात्मक, मैण्डेट सम्बन्धी, अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा विषयक तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापना सम्बन्धी।

(क) प्रशासनात्मक कार्य—इनमें मुख्य रूप से सार की घाटी का तथा डैन्जिग के स्वतन्त्र नगर का प्रशासन विशेष महत्त्व रखता है। इन दोनों के शासन की व्यवस्था वर्साय की संधि द्वारा संघ को सौंप दी गई थी। इस संधि के अनुसार सार का शासन एक ऐसे कमीशन द्वारा किया जाना था, जिसका एक सदस्य फ्रेंच, एक सारनिवासी तथा अन्य तीन सदस्य फ्रांस और जर्मनी से भिन्न देशों के नागरिक थे। फरवरी १९२० में कौन्सिल ने इस कमीशन के सदस्यों की नामावली निश्चित की और उसे सार का प्रशासन सौंपा। इस आयोग का प्रधान फ्रांस का कट्टर देशभक्त विक्टर रौल्त (Victor Rault) सारवासी अल्फ्रेड फान बॉक (Alfred Von Boch) और शेष तीन सदस्य एक बेल्जियन, पेरिस में रहने वाला एक डेन तथा एक कनाडियन था। इस आयोग का बहुमत फ्रेंचपक्षपाती था और बॉक ने इससे असंतुष्ट होकर शीघ्र ही त्यागपत्र दे दिया। संधि द्वारा फ्रांस को यहाँ फ्रेंचमुद्रा के व्यवहार की, खानों में काम करने वाले फ्रेंच मजदूरों के बच्चों को फ्रेंच में शिक्षा देने और सार घाटी के फ्रेंचचुंगी संघ में सम्मिलित करने के अधिकार दिये, इसके साथ ही सारवासियों के हितों की सुरक्षा के लिए उन्हें

शासन सम्बन्धी शिकायतें संघ की कौन्सिल में भेजने का अधिकार दिया गया था। कानून और व्यवस्था स्थापन का कार्य स्थानीय सशस्त्र पुलिस (Gendarmerie) को सौंपा गया और विराम-सन्धि के समय प्रचलित किसी भी कानून को आयोग सारवासियों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की सहमति के बिना नहीं बदला जा सकता था।

आयोग के प्रशासन से सारवासियों को शीघ्र ही तीव्र असंतोष और शिकायतें उत्पन्न हो गईं क्योंकि सारवासियों के प्रतिनिधियों का चुनाव मार्च, १९२२ तक टाला जाता रहा, चुनाव हो जाने पर भी महत्त्वपूर्ण मामलों में उनसे परामर्श नहीं लिया गया। फ्रेंच स्कूलों में पढ़ने के लिए जर्मन बच्चों को नाना प्रलोभनों द्वारा आकृष्ट और बाधित किया गया, स्थानीय सशस्त्र पुलिस के स्थान पर फ्रेंच सेना को इस प्रदेश में रखा गया। १९२३ ई० में रूर के जर्मन खनिकों की सहानुभूति में जब सार के खनिकों ने हड़ताल की तो आयोग ने कुछ कड़ी व्यवस्थाओं द्वारा तीव्र दमन आरम्भ किया, संघ के विरुद्ध कुछ कहना दण्डनीय अपराध बना दिया गया, प्रेस पर पाबन्दियां लगा दी गयीं। सार में असंतोष बढ़ने पर कौन्सिल ने आयोग के कार्यों और शासन की १९२३ ई० में जाँच की और उनमें इसके प्रधान रौल्त ने यह स्वीकार किया कि वह सार में फ्रेंच हितों की सुरक्षा अपना कर्त्तव्य समझता है, सार की फ्रेंच सेना को आदेश और वेतन पेरिस से मिलते हैं। परिणामस्वरूप कौन्सिल ने फ्रेंच सेना के स्थान पर स्थानीय सशस्त्र पुलिस रखने को कहा, १९२६ में रौल्त ने त्यागपत्र दे दिया और उसके बाद शासक आयोग के अध्यक्ष एक अंग्रेज सर अर्नेस्ट विल्टन (१९२७) तथा ज्याफ्री जी० नाक्स (१९३२) हुए, इनके सारवासियों के साथ सहानुभूतिपूर्ण शासन द्वारा आयोग में पहला असन्तोष और विरोध बहुत कुछ कम हो गया।

वर्साय की सन्धि के अनुसार सार के शासन का स्थायी निर्णय १९३५ ई० में जनमत संग्रह (Plebiscite) द्वारा होना था। इसमें मत देने का अधिकार बीस वर्ष से अधिक आयु के उन सब लोगों को था, जो इसके जर्मनी से पृथक् होने के समय यहाँ रहते थे। १९२२ ई० में ही ऐसे व्यक्तियों की सूची बना ली गई थी, १९३४ ई० में कौन्सिल ने इस जनमत संग्रह की व्यवस्था के नियमों को निश्चित करने के लिए एक निष्पक्ष समिति बनाई और इसके सुझावों के अनुसार १३ जून, १९३५ को मतसंग्रह का दिन निश्चित किया गया, इसकी तैयारी के लिए स्वीडन, स्विटजरलैण्ड, हालैण्ड के प्रतिनिधियों का तथा सं० रा० अमेरिका के एक विशेषज्ञ का आयोग बनाया गया। फ्रांस और जर्मनी दोनों देशों ने यह वचन दिया कि वे चुनाव पर प्रभाव डालने वाला कोई सरकारी दबाव नहीं डालेंगे और न ही चुनाव के बाद मतदाताओं से वोट डालने के लिए किसी प्रकार का बदला लेंगे। चुनाव का दिन निकट आने पर सार में उत्तेजना, अशान्ति और उपद्रव बढ़ने लगे, अतः संघ ने यहाँ तीन हजार ब्रिटिश, इटालियन, स्वीडिश और डच सैनिकों की अन्तर्राष्ट्रीय सेना चुनाव के समय शान्ति स्थापित रखने के लिए भेजी। मतदान से पूर्व ही यह भी निश्चित हो गया कि यदि चुनाव में जर्मनी की विजय हो तो वह ९० करोड़ फ्रांक कोयले की खानों के क्रय-मूल्य के रूप में फ्रांस को प्रदान करेगा।

वोटका दिन निकट आने पर सार से निकल कर दूसरे देशों में बसे हुए मतदाता जर्मनी, फ्रांस, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका तक से अपना वोट डालने के लिए स्वदेश लौटने लगे। इस चुनाव के समय हिटलर और नात्सी दल को यह पूरी आशा थी कि सारवासी अधिकांश संख्या में जर्मनी के साथ मिलने के पक्ष में अपने वोट डालेंगे, दूसरी ओर यह भी आशा की जा रही थी कि कैथोलिक, उदार तथा वाम पक्षी दल लीग का शासन बना रहने के पक्ष में मत देंगे और उनकी विजय होगी। फ्रांस के साथ सार को मिलाने के पक्ष में बहुमत की आशा बहुत कम थी। चुनाव बड़े तनातनीपूर्ण वातावरण में शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ। लगभग ९८ फीसदी मतदाताओं ने वोट दिया। ५,२५,००० वोटों में ९० फीसदी सार का शासन जर्मनी को देने के पक्ष में थे, केवल ४६,५०० वोट संघ का शासन बनाये रखना चाहते थे और केवल २,१०० व्यक्ति सार के फ्रांस के साथ सम्मिलन के पक्षपाती थे। जनमत-संग्रह के निर्णयानुसार पहली मार्च, १९३५ को सार का शासन संघ ने जर्मनी को सौंप दिया। यह शासन लीग की कड़ी अग्नि परीक्षा थी, इसमें उसे काफी अंशों में सफलता मिली।

डैन्जिग का शासन—पेरिस के शान्ति-सम्मेलन ने डैन्जिग के जर्मन बन्दरगाह को स्वतन्त्र नगर बनाकर उसकी आर्थिक व्यवस्था पोलैण्ड को तथा शासन प्रबंध संघ के हाई कमिश्नर को सौंपा था। इसका उद्देश्य पोलैण्ड को निर्बाध समुद्री मार्ग प्रदान करना था। संघ ने डैन्जिगवासियों को अपना शासन विधान बनाने की स्वतंत्रता और पोलैण्ड के साथ समझौता करने को कहा था। डैन्जिगवासियों ने अपने शासन के लिए एक लोकसभा (Volkstag) तथा सीनेट बनाई, पर शासन की शक्ति संघ के हाई कमिश्नर के हाथ में थी, डैन्जिग और पोलैण्ड में विवाद उत्पन्न होने पर वही निर्णय करता था। सन्धि के अनुसार इस स्वतंत्र नगर के वैदेशिक मामलों की तथा आर्थिक विषयों की व्यवस्था पोलैंड के हाथ में थी, इसकी सहमति के बिना नौसैनिक अड्डा नहीं बनाया जा सकता था। इससे पोलैण्ड को आर्थिक और कूटनीतिक जीवन पर पूरा अधिकार था और डैन्जिगवासियों को पूरी राजनैतिक स्वतन्त्रता थी।

आरम्भ से ही पोलैण्ड के साथ डैन्जिग के सम्बन्ध बड़े तनातनीपूर्ण रहे। पहले पाँच वर्ष में ही दोनों के विवादों में संघ के कमिश्नर को अपने पचास निर्णय देने पड़े, १९२७ में कौंसिल की कोई ऐसी बैठक नहीं हुई, जिसमें डैन्जिग का मामला उपस्थित न हुआ हो। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भी इसके कुछ विवाद गए। वस्तुतः आर्थिक और राजनैतिक प्रश्नों की सीमाओं के निर्धारण की जटिल समस्या ने और पारस्परिक विद्वेष ने इस प्रश्न को उग्र बनाया। इसी समय पोलों ने डैन्जिग के पास गदिनिया (Gdynia) नामक एक दूसरे बन्दरगाह का विकास आरम्भ किया और इसकी प्रतिस्पर्धा से डैन्जिग का व्यापार घटने लगा। १९३३ तक गदिनिया से होने वाले व्यापार की मात्रा डैन्जिग के व्यापार की अपेक्षा अधिक बढ़ गई। इसी समय जर्मनी में नाजियों की सफलता से डैन्जिग के जर्मन प्रसन्न और पोल चिन्तित हुए। फिर भी इस समय डैन्जिग की सीनेट के अध्यक्ष डा० हर्मान रौशनिंग (Hermann Rouschning) ने पोलैण्ड के साथ शांति की नीति बरती और दो समझौते किये। इनके अनुसार पोलैण्ड

का ४५ फीसदी व्यापार डैन्जिग द्वारा तथा ५५ फीसदी गदिनिया द्वारा करने और पोल बच्चों के लिए विशेष स्कूल बनाने के निश्चय हुए। १९३४ में डा० रौशनिंग अध्यक्षपद से निवृत्त हुए। उनके स्थान पर उग्रवादी जर्मन व्यक्ति के अध्यक्ष बन जाने से तनातनी पुनः बढ़ने लगी।

गदिनिया की व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के अतिरिक्त पोलैण्ड गलियारे (Polish Corridor) का प्रश्न भी पोल-जर्मन सम्बन्धों को कटु बना रहा था। डैन्जिग के दक्षिण पश्चिम में २६० मील लम्बी ८० मील चौड़ी, विस्चुला नदी के दोनों किनारों की तंग पट्टी जर्मन होते हुए भी समुद्री मार्ग प्रदान करने के लिए पेरिस के शान्ति-सम्मेलन ने पोलैण्ड को दी थी। मित्रराष्ट्रों ने इसके पक्ष में यह तर्क दिया था कि इस पट्टी पूर्व में रहने वाले २० लाख जर्मनों के हितों की अपेक्षा पोलैण्ड के समूचे राष्ट्र के आर्थिक हित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु जर्मन लोगों को एक गलियारे द्वारा अपनी मातृभूमि दो टुकड़ों में विभक्त हो जाने से न केवल बड़ी असुविधा थी किन्तु वे इसे घोर राष्ट्रीय अपमान समझते थे। इस कारण पोलैण्ड और जर्मनी में वैमनस्य इतना अधिक बढ़ गया था कि १९३३ में एच० जी० वैल्ज़[1] ने यह भविष्यवाणी की थी कि अगला महायुद्ध १९४० में पोलिश गलियारे के सम्बन्ध में होगा। १९३९ में ऐसा ही हुआ। अतः लीग का डैन्जिग का प्रशासन सफल नहीं हुआ।

(ख) **मैण्डेट सम्बन्धी कार्य**—राष्ट्रसंघ के विधान की धारा २२ के अनुसार उस पर यह उत्तरदायित्व डाला गया था कि वह जर्मन साम्राज्य के उपनिवेशों के और तुर्की के खलीफा के साम्राज्य के अरब प्रायद्वीप के निवासियों के कल्याण और उन्नति की व्यवस्था करे। इसके अनुसार राष्ट्रसंघ ने उपर्युक्त प्रदेशों के शासन का अधिकार (Mandate) स्थानीय जनता के हितों को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न देशों को दिया। इन्हें अपने शासन प्रबंध की रिपोर्ट प्रतिवर्ष कौन्सिल को देनी पड़ती थी और इन पर विशेष विचार करने तथा कौन्सिल को इस विषय पर परामर्श देने के लिए स्थायी शासनादेश आयोग (Permanent Mandates Commission) को १९२० ई० में स्थापित किया गया।

राजनीतिक विकास, भौगोलिक स्थिति और आर्थिक दशाओं की दृष्टि से मैण्डेट तीन श्रेणियों में बांटे गये। **प्रथम श्रेणी** (Class A) में तुर्क साम्राज्य के वे प्रदेश थे, "जिनका विकास इस अवस्था तक हो चुका था कि वे अस्थायी रूप से स्वतन्त्र राष्ट्र माने जा सकते हैं, पर वे जब तक अकेले अपने पाँवों पर खड़े होने का सामर्थ्य नहीं रखते, तब तक उन्हें मैण्डेट प्राप्त करने वाले राज्यों का प्रबंध सम्बन्धी परामर्श और सहायता मिलती रहनी चाहिए।" **दूसरी श्रेणी** (Class B) में मध्य अफ्रीका के वे जर्मन उपनिवेश थे, जिन्हें निश्चित सरकारी निरीक्षण की आवश्यकता थी और इनके स्वायत्तशासक होने में अभी बहुत विकास अपेक्षित था। **तीसरी श्रेण** (Class C) में जर्मन दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका तथा महायुद्ध से पूर्व प्रशान्त महासागर के जर्मन टापू

१ एच० जी० वैल्ज—शेप ऑफ थिंग्ज टू कम (१९३३)

थे। आबादी की कमी, सभ्यता के केन्द्रों से दूरी तथा मैण्डेट पाने वाले राज्यों के साथ भौगोलिक सामीप्य के कारण इनके शासन प्रबन्ध के लिए यही व्यवस्था सर्वोत्तम समझी गई कि ये मैण्डेट पाने वाले राज्यों का अंग बन जायें किन्तु स्थानीय जनता के हितों की सुरक्षा के लिए कुछ संरक्षण (safeguards) अवश्य रखे जायें।

संघ के संविधान में केवल उपर्युक्त सिद्धांतों का और मैण्डेटों की श्रेणियों का वर्णन था, किन्तु यह उल्लेख नहीं था कि ये मैण्डेट किन राज्यों में बांटे जायें। इसका निर्णय आपसी समझौते से होना था। १६१६ की शांति-परिषद् में विल्सन, लायड जार्ज, क्लेमेन्सो तथा आरलैण्डो ने द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के मैण्डेटों का विभाजन इस प्रकार किया—तृतीय श्रेणी में जर्मन दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका दक्षिण अफ्रीका के यूनियन को, जर्मन टापू समोआ न्यूजीलैण्ड को और फास्फेटों की दृष्टि से समृद्ध ८·४ वर्ग-मील का नौरू का टापू ग्रेट ब्रिटेन को मिला। प्रशान्त महासागर के भूमध्य रेखा के दक्षिण के अन्य टापू आस्ट्रेलिया को प्राप्त हुए और उत्तर के टापू जापान को। द्वितीय श्रेणी के मैण्डेटों में कैमेरून्ज का $\frac{1}{6}$ भाग, टोगोलैण्ड का $\frac{1}{3}$ भाग और अधिकांश पूर्वी जर्मन अफ्रीका (टांगानिक्या) ग्रेट ब्रिटेन को मिले, कैमेरून्ज का $\frac{5}{6}$ भाग, टोगोलैण्ड का $\frac{2}{3}$ भाग फ्रांस को तथा जर्मन पूर्वी अफ्रीका का उत्तर-पश्चिमी किनारा—रुआंडा उरुंडी बेल्जियम को। प्रथम श्रेणी के मैण्डेटों के सम्बन्ध में सैनरेमो के सम्मेलन ने यह तय किया कि इराक, फिलस्तीन और ट्रांसजोर्डन ग्रेट ब्रिटेन को मिलें और सीरिया तथा लेबनान फ्रांस को।

१६२० में स्थापित स्थायी मैण्डेट कमीशन का कार्य विभिन्न मैण्डेटों के शासन की वार्षिक रिपोर्टों का सूक्ष्म अध्ययन करना और इस पर अपनी सिफारिशें कौन्सिल को देना था। इसके ग्यारह सदस्य कौन्सिल को यह बताया करते थे कि विभिन्न मैण्डेटों का शासन संघ के सिद्धान्तों तथा स्थानीय जनता के कल्याण की दृष्टि से हो रहा है या नहीं। इस आयोग का कार्य केवल परामर्श देना था और इसे मैण्डेट वाले प्रदेशों में जाने का तथा यहाँ के निवासियों की शिकायतें सुनने का अधिकार नहीं था। इन कारणों से यद्यपि इसकी उपयोगिता बहुत कम हो गयी थी, फिर भी इसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक सर्वथा नये सिद्धान्त का श्रीगणेश किया था, साम्राज्यवादी शोषण के स्थान पर विभिन्न वशवर्त्ती प्रदेशों को पवित्र धरोहर या अमानत समझने की भावना पर बल दिया। लार्ड बालफोर ने कहा था—"मैण्डेट विजेता राष्ट्र द्वारा विजित प्रदेश में अपनी प्रभुसत्ता पर स्वेच्छापूर्वक लगाई हुई मर्यादा है।" १६४६ में द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद मैण्डेट की प्रणाली का अन्त करके संयुक्त राष्ट्रसंघ में ट्रस्टीशिप की पद्धति शुरू की गयी।

(ग) अल्पसंख्यकों का संरक्षण—योरोप के विभिन्न राज्यों में बसने वाले तीन करोड़ के लगभग अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा का कार्य पेरिस सम्मेलन की तथा उसके बाद की गयी संधियों ने राष्ट्रसंघ को सौंपा। अधिकांश संधियों में यह व्यवस्था थी कि अल्पसंख्यक इन समझौतों की किसी बात का उल्लंघन होने पर संघ की कौन्सिल के किसी सदस्य द्वारा कौन्सिल का ध्यान इस ओर आकृष्ट करें। इस विषय में कौन्सिल का कार्य बड़ा जटिल और कठिन था क्योंकि इसे एक ओर अल्पसंख्यकों के

साथ होने वाले दुर्व्यवहार को रोकना था, दूसरी ओर ऐसा करते हुए इस बात का भी ध्यान रखना था कि बहुसंख्यकों के राष्ट्रीय गौरव और उनकी प्रभुसत्ता के अधिकारों को कोई क्षति नहीं पहुँचे। इस दुस्तर कार्य में प्राय: संघ के कार्यों की कटु आलोचना होती रही क्योंकि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों कट्टर विरोधी पक्ष थे, इन्हें एक साथ सन्तुष्ट रखना सुगम कार्य नहीं था।

१९२८ में जर्मन प्रतिनिधि स्ट्रेसमान ने यह कहा कि संघ की कौंसिल को अल्पसंख्यकों के संरक्षण में सफलता नहीं मिली, अत: १९२९ में अल्पसंख्यकों के विवादों का अधिक क्षमता के साथ निपटारा करने के लिए एक **अल्पसंख्यक समिति** (Minorities Committee) बना दी गई, इसमें कौंसिल का सभापति और उसके द्वारा चुने हुए दो प्रतिनिधि होते थे। कौंसिल के समक्ष अल्पसंख्यकों के कौन से विवाद उपस्थित किए जायें, इस पर विचार करने का कार्य इस समिति को दिया गया, सचिवालय में अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में सब सूचना-सामग्री एकत्र करने वाला एक अल्पसंख्यक विभाग पृथक् रूप में स्थापित किया गया।

१९३३ ई० में असेम्बली ने यह विचार प्रकट किया कि जिन राज्यों ने अल्पसंख्यकों के विषय में संधियां नहीं कीं, उन्हें भी इस प्रकार संधि करने वाले राज्यों के समान अल्पसंख्यकों के साथ व्यवहार में उच्चकोटि के न्याय की भावना प्रदर्शित करनी चाहिए। किन्तु संघ की यह अभिलाषा सफल नहीं हुई। १९३४ की असेम्बली में पोलैंड ने यह घोषणा की कि यदि अल्पसंख्यकों के संरक्षण की कोई नई सामान्य व्यवस्था न शुरू की गई तो वह इस विषय में संघ के साथ सहयोग नहीं करेगा। उग्र राष्ट्रवादी देश इन अल्पसंख्यक संधियों को अवांछनीय आंतरिक विवादों को स्थायी बनाए रखने का मूल कारण समझते थे।

(घ) **अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा**—संघ का विधान बनाने वालों की दृष्टि में इसका सबसे बड़ा कार्य भविष्य में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को रोकना था। इन्हें रोकने के लिए इसमें **चार प्रकार की व्यवस्थायें** की गयीं। **पहली** व्यवस्था में संघ के सदस्यों द्वारा कुछ ऐसी कानूनी बाध्यताओं और उत्तरदायित्वों का स्वीकार करना था जिनसे उनका युद्ध छेड़ने का अधिकार मर्यादित हो जाता था। **दूसरी** व्यवस्था संघ के विधान में इस प्रकार की बाध्यतायें और प्रक्रियायें थीं, जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण ढंग से निपटारा किया जा सके। **तीसरी** व्यवस्था किसी राज्य द्वारा अपनी बाध्यताओं (obligations) का उल्लंघन करके युद्ध जारी रखने की दशा में उसके खिलाफ आर्थिक प्रतिबन्धों की और सैनिक कार्यवाही का प्रयोग था। चौथी व्यवस्था शस्त्रास्त्रों को घटाने तथा नि:शस्त्रीकरण की थी।

मानव-इतिहास में पहली बार राज्यों ने राष्ट्रसंघ का सदस्य बनकर अपने युद्ध छेड़ने के सर्वोच्च अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार किया। विधान की दसवीं धारा के अनुसार संघ के सदस्यों ने यह कानूनी बाध्यता स्वीकार की कि वे सब देशों की वर्तमान राजनीतिक स्वाधीनता की और प्रादेशिक अखण्डता की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करेंगे।

संघ के विधान की धारा ११ से १६ तक युद्धों को शांतिपूर्ण रीति से रोकने की प्रक्रियाओं का विस्तार से वर्णन है। इन्होंने युद्ध से पहले की स्थिति में तीन प्रकार से सुधार किया—(क) इनके अनुसार सदस्यों को बाधित किया गया कि वे अपने विवादों को शान्तिपूर्ण समझौते के लिए प्रस्तुत करें और कुछ समय के लिए युद्ध बन्द कर दें। (ख) राजनीतिक और कानूनी विवादों की शांति के लिए नई संस्थायें बनाई गयीं। (ग) इनके आगे विवाद लाने की कुछ प्रक्रियायें और पद्धतियां निश्चित की गयीं।

११वीं धारा के अनुसार किसी युद्ध या युद्ध की धमकी को सारे संघ के लिए चिन्ता का विषय बताया गया है, लीग के किसी भी सदस्य की प्रार्थना पर महामन्त्री इस प्रकार की स्थिति पर विचार करने के लिए तुरन्त कौंसिल की बैठक बुला सकता है, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट में डालने वाली किसी भी परिस्थिति की ओर असेम्बली का ध्यान कोई भी सदस्य आकृष्ट कर सकता था। यह धारा विल्सन के सुझाव पर रखी गई थी और संघ के सामने ४० विवाद इस धारा के अनुसार लाए गए। यह सम्भवतः विधान का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग था। इस धारा का मूल उद्देश्य यह था कि कौंसिल या असेम्बली के सामने जब अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट में डालने वाले विषयों पर विस्तृत विवाद होगा तो विश्व के शान्तिवादी लोकमत की शक्ति द्वारा ऐसे संकटों का निराकरण हो सकेगा।

१२वीं धारा में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्त करने के लिए तीन प्रकार के उपाय बताये गये हैं। इसके अनुसार संघ के सदस्यों ने यह स्वीकार किया कि यदि उनमें कोई विवाद उत्पन्न हो और वह उनके सम्बन्धों को भंग करने वाला हो तो वे इसे किसी पंच (Arbitrator) को सौंपेंगे, या इसका अदालती समझौता (Judicial settlement) करायेंगे अथवा कौंसिल द्वारा इसकी जांच करवायेंगे और किसी भी अवस्था में पंच के अथवा अदालत के निर्णय अथवा कौंसिल की रिपोर्ट के तीन महीने के भीतर युद्ध नहीं शुरू करेंगे। पंच तथा न्यायालय अपना निर्णय उचित समय के भीतर तथा कौंसिल अपनी रिपोर्ट विवाद प्रस्तुत किए जाने के छः महीने के भीतर दे देगी। इस धारा में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के बाद तीन महीने तक युद्ध न छेड़ने की व्यवस्था इस दृष्टि से की गई थी कि इस अवधि में विवाद की उग्रता कम हो जायगी, उत्तेजित मनो-भावनाएँ ठंडी पड़ जायेंगी और लोकमत का प्रभाव पड़ने से युद्ध की सम्भावना कम हो जायगी। संघ के संक्षिप्त इतिहास में कोई ऐसा अवसर नहीं आया, जब किसी राज्य ने इस धारा की व्यवस्थाओं का पालन किया हो।

धारा १३ में किसी संधि की व्याख्या में, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषयों तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाध्यता (International obligation) के उल्लंघन के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय पंच द्वारा अथवा स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा कराने का वर्णन है और संघ के सदस्यों ने यह स्वीकार किया कि वे इन निर्णयों का पालन करने वाले किसी राज्य के विरुद्ध युद्ध के मार्ग का अवलम्बन नहीं करेंगे।

पन्द्रहवीं धारा संघ के विधान में सबसे लम्बी है। इसमें पंच को तथा अदालत को न सौंपे गये किन्तु कौंसिल के सम्मुख लाये गये अन्तर्राष्ट्रीय विवाद के हल की निम्न-

लिखित व्यवस्थायें की गयी हैं। सर्वप्रथम विवाद की सूचना इसे करने वाले राज्य महामन्त्री को देंगे, वह इसकी जांच और विचार का प्रबन्ध करेगा, विवाद करने वाले देश अपना सारा मामला, सब आवश्यक तथ्य और कागजात महामंत्री को भेज देंगे ताकि वह इनका प्रकाशन कर सके। इसके बाद कौन्सिल दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करेगी, यदि वह सफल हुई तो जिन तथ्यों और व्याख्याओं का प्रकाशन करना उचित समझेगी, उन्हें प्रकाशित कर देगी। यदि वह विवाद शान्त करने में विफल हुई तो भी वह इस पर प्रकाश डालने वाले तथ्यों और सिफारिशों की रिपोर्ट प्रकाशित करेगी। यदि विवाद करने वाले दलों के अतिरिक्त कौन्सिल के अन्य सदस्यों की रिपोर्ट सर्वसम्मत होगी तो संघ के सदस्यों का यह कर्त्तव्य होगा कि वे कौन्सिल की सिफारिशों का पालन करने वाले राज्य के साथ युद्ध नहीं करेंगे। यदि रिपोर्ट सर्वसम्मत नहीं होगी तो संघ के सदस्य न्याय की रक्षा के लिए कोई भी उपाय ग्रहण कर सकते हैं। रिपोर्ट कोई कानूनी निर्णय नहीं था, पर इसे पालन करने की व्यवस्था ने राज्यों के लिए युद्ध को अवैध बना दिया था। संयुक्त राष्ट्र संघ के विधान में तो सशस्त्र आक्रमण होने की दशा में आत्मरक्षा के लिए किए गये युद्ध के अतिरिक्त सभी प्रकार का युद्ध अवैध है, किन्तु राष्ट्रसंघ में कौन्सिल की रिपोर्ट के बाद इसका उल्लंघन करने वाला युद्ध अवैध है। यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय विवाद में कोई दल यह दावा करे कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार यह उसका घरेलू मामला है और कौन्सिल इससे सहमत हो तो यह इस विवाद में कोई सिफारिश नहीं करेगी।

धारा १६ में दण्ड व्यवस्था द्वारा युद्धों को रोकने का वर्णन है। यदि संघ का कोई सदस्य धारा १२, १३ या १५ की उपेक्षा करके युद्ध छेड़ता है तो यह समझा जायगा कि उसने अन्य सब सदस्यों के विरुद्ध युद्ध शुरू कर दिया है और अन्य देश उससे अपने समूचे व्यापारिक और वित्तीय सम्बन्ध भंग कर देंगे। यही संघ की प्रसिद्ध आर्थिक **प्रतिबन्धों** (Economic sanctions) की व्यवस्था थी। यह समझा जाता था कि कोई भी देश इन प्रतिबन्धों के भय से युद्ध नहीं छेड़ेगा। यदि छेड़ने का दुःसाहस भी करेगा तो वह देर तक इसे नहीं चला सकेगा, बाधित होकर उसे लड़ाई बन्द कर देनी पड़ेगी। विल्सन ने आर्थिक प्रतिबन्धों की शक्तिमत्ता के सम्बन्ध में कहा था—"यह पूरा बॉयकाट होगा, योद्धा देश दूसरों से बिल्कुल पृथक् और विच्छिन्न हो जायगा, कोई भी माल उस देश से बाहर न आ सकेगा और न उसमें जा सकेगा, तार के सन्देश भी नहीं भेजे जायेंगे।···इस प्रकार के बहिष्कार के बाद युद्ध बन्द हो जाएगा, क्योंकि कोई भी देश छः महीने तक ऐसे बहिष्कार का प्रतिरोध नहीं कर सकता।"

इन प्रतिबन्धों को संघ ने केवल एक बार १९३५ में इटली के विरुद्ध लागू किया, लेकिन उस समय इन्हें **शनैः शनैः लगाना** अनेक राज्यों की इच्छा पर छोड़ दिया गया। यदि उस समय फ़ौरन केवल दो प्रभावशाली पग उठाये जाते, इटली को जाने वाले तेल पर तथा स्वेज नहर में से गुजरने वाले इटली के जहाजों पर प्रतिबन्ध लगाया जाता तो इसका बहुत प्रभाव पड़ता। आर्थिक प्रतिबन्धों को सफल बनाने के लिए संघ में विश्व के सब बड़े राज्यों का होना आवश्यक था, लेकिन इस समय सं० रा० अमेरिका, जर्मनी

और जापान इसके सदस्य नहीं थे। इस कारण इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध सफल नहीं हो सके।

आर्थिक प्रतिबन्धों के अतिरिक्त कौंसिल अनेक राज्यों से इस बात की सिफारिश कर सकती थी कि राष्ट्रसंघ के विधान की रक्षार्थ आवश्यक सशस्त्र सेना तैयार करने के लिए अनेक राज्य अपनी कितनी स्थल, जल और वायु सेना प्रदान करेंगे। इस व्यवस्था का पालन राज्यों की इच्छा पर निर्भर होने के कारण सफलता की आशा बहुत कम थी। संघ ने किसी भी अवसर पर इसके नियम तोड़ने वाले सदस्यों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही नहीं की।

संघ द्वारा सफलतापूर्वक सुलझाये गये अन्तर्राष्ट्रीय विवाद—संघ के २० वर्ष के जीवनकाल में लगभग चालीस राजनीतिक विवाद और झगड़े उसके सामने लाये गये। इनमें से कुछ झगड़ों को शान्तिपूर्ण रीति से निपटाने में कौंसिल को पूरी सफलता मिली। ये झगड़े प्राय: छोटे राष्ट्रों के थे। किन्तु बड़े राष्ट्रों से सम्बन्ध रखने वाले विवादों में संघ को कोई सफलता नहीं मिली। संघ के सामने आने वाले बीस महत्त्वपूर्ण विवादों का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि इनमें से ११ विवादों में किसी प्रदेश पर आक्रमण और लड़ाई हुई थी और नौ विवादों में कोई हमला नहीं हुआ था। पहले वर्ग में केवल तीन विवादों को ही लीग ने शान्तिपूर्वक हल करने में सफलता पायी और दूसरे वर्ग में नौ में से चार विवादों में। इस प्रकार उसे २० में से सात विवादों में ही सफलता मिली।[२] ये विवाद निम्नलिखित थे :—

(१) **अल्बानिया की सीमा का विवाद** (१९२१–२४)—इसका यूनान और यूगोस्लाविया के साथ सम्बन्ध था और कौंसिल को इसे हल करने में राजदूतों के सम्मेलन से बड़ी सहायता मिली थी।

(२) **बल्गारिया तथा यूनान विवाद** (१९२५–२६)—युद्ध के बाद इन दोनों देशों की सीमा पर हमले और उपद्रव होते रहते थे। १९ अक्टू० १९२५ को इस सीमा पर सलोनिका के उत्तर-पूर्व में दो यूनानी सन्तरी मार डाले गये, इस पर यूनान की सरकार ने बल्गारिया से क्षमा-याचना और क्षतिपूर्ति की माँग की तथा दो दिन बाद इसके बारे में जांच कमीशन स्थापित करने के लिए बल्गारिया के प्रस्ताव को रद्द करते हुए यूनान ने अपनी सेनाओं को बल्गारिया पर चढ़ाई की आज्ञा दे दी। इस पर बल्गारिया ने धारा १० और ११ के अनुसार संघ की कौंसिल में यूनान की शिकायत की। कौंसिल ने सर्वप्रथम लड़ाई बन्द करने की तथा दोनों देशों की सेनाओं को अपनी सीमाओं में लौट जाने की आज्ञा दी, फ्रांस, ब्रिटेन तथा इटली को कहा कि वे सेनाओं की वापसी की देखभाल के लिए अपने सैनिक अधिकारी भेजें। २९ अक्टूबर तक सेनाओं के लौट जाने के बाद सर होरेस रम्बोल्ड की अध्यक्षता में पाँच व्यक्तियों का एक जाँच कमीशन बनाया गया, इसका कार्य यूनान के क्षतिपूर्ति के दावे पर तथा हत्याकाण्ड के लिए जिम्मेदार अफसरों के दण्ड और हर्जाने पर विचार करना था। कमीशन ने यूनान को

---

२. चार्ल्स श्लीचर—इण्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल रिलेशन्स, पृ० ५९२–३

अपराधी पाया, उसे बल्गारिया पर आक्रमण में होने वाली हानि के लिए उत्तरदायी ठहराते हुए यूनान को मुआवज़ा देने को कहा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस मामले में कौंसिल को पूरी सफलता मिली।

(३) **लैटिशिया** (Leticia) **विवाद** (१९३२-३३)—लैटिशिया का नगर दक्षिण अमेरिका में कोलम्बिया और पेरू राज्यों की सीमा पर अवस्थित था। इस पर दोनों देश दावा करते थे। पेरू ने १९२२ की सन्धि में इसे कोलम्बिया को दे दिया। किन्तु १९३३ में पेरू की सेनाओं ने इस पर अधिकार किया, कोलम्बिया ने संघ में इसकी शिकायत की और उसके हस्तक्षेप से १९३३ में यह पुनः कोलम्बिया को लौटाया गया।

(४) **ओलाण्ड** (Aaland) **विवाद** (१९२१)—यह फिनलैण्ड और स्वीडन के बीच में था। ओलाण्ड (Aaland) का द्वीपसमूह दोनों देशों के मध्य में बाथनिया की खाड़ी के दक्षिण में अवस्थित है। इन टापुओं में यद्यपि स्वीडिश जनता बसी हुई है किन्तु मध्ययुग से इस पर फिनलैण्ड का अधिकार है। १८०९ में फिनलैण्ड पर अधिकार हो जाने पर रूस को ये टापू मिले। १९१७ की रूसी क्रान्ति के बाद इन टापुओं में रहने वालों ने स्वीडन से मिलना चाहा, पर फिनलैण्ड इसके लिए तैयार नहीं था। फरवरी १९१८ में यहाँ स्वीडिश सेनायें आयीं, पर इन्हें जर्मन सेनाओं ने भगा दिया। नवम्बर १९१८ में जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद इन टापुओं के स्वामित्व के सम्बन्ध में स्वीडन और फिनलैण्ड में झगड़ा उत्पन्न हुआ। ये दोनों संघ के सदस्य नहीं थे, फिर भी ग्रेट ब्रिटेन ने इस झगड़े को संघ के सम्मुख पेश किया, कौंसिल ने इसका निर्णय करने के लिए एक बेल्जियन, एक स्विस और एक अमेरिकन का कमीशन नियत किया। इसकी रिपोर्ट पर कौंसिल ने यह निश्चय किया कि इन टापुओं पर फिनलैण्ड का प्रभुत्व (Sovereignty) का दावा बिल्कुल ठीक है, किन्तु टापुओं में रहने वाली स्वीडिश जनता के अधिकारों की सुरक्षा होनी चाहिये, अतः इन द्वीपवासियों को स्वायत्त शासन तथा स्कूलों में स्वीडिश भाषा में शिक्षा पाने का अधिकार दिया जाना चाहिये। इन टापुओं को तटस्थ एवं निःशस्त्र बना देना चाहिये। इन व्यवस्थाओं के लिए दोनों देशों में ६ अप्रैल १९२२ को एक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि हो गई। संघ की यह एक बहुत बड़ी आरम्भिक सफलता थी।

(५) **ट्यूनिश मोरक्को राष्ट्रीयता आज्ञाएँ** (Tunis Morocco Nationality decrees १९२२)—यह विवाद ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य में था और संघ के प्रयत्न से इसका शान्तिपूर्ण हल हो गया।

(६) **हंगेरियन विवाद** (Hungarian Optant Dispute १९२३-३०)—यह हंगरी और रूमानिया के मध्य में था। पेरिस के शान्ति-समझौते से हंगरी का ट्रांसिलवानिया और बानात का प्रदेश हंगरी से रूमानिया को प्राप्त हुआ था। इन प्रदेशों में बसे हुए हंगेरियन अपनी इच्छा से हंगरी में बसना चाहते थे, ऐसे व्यक्तियों (Optants) की रूमानिया में गये प्रदेशों में बहुत सम्पत्ति थी, इसके सम्बन्ध में दोनों देशों के झगड़ों को संघ ने शान्तिपूर्वक ढंग से सुलझाया, दोनों देशों में इस सम्बन्ध में समझौता हो गया।

(७) **यावोजनो** (Joworzno) **विवाद** (१९२३-२४)—यह पोलैण्ड और

जैकोस्लोवाकिया के बीच सीमा सम्बन्धी झगड़ा था। धारा ११ के अनुसार कौंसिल ने इस पर विचार करके सीमा कमीशन नियुक्त किया। इसकी सिफारिशों के अनुसार निर्धारित की गई सीमा को दोनों देशों ने स्वीकार कर लिया।

संघ द्वारा न सुलझाये जाने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विवाद

इनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) **विलना (Vilna) विवाद (१९२०–२२)**—यह पोलैण्ड और लिथुआनिया के मध्य में था। विलना (Vilna) का शहर १९२३ ई० से लिथुआनिया की राजधानी था, इस जिले में लिथुआनियन बसे हुए थे। १७९५ ई० में रूस ने यह नगर अपने अधिकार में किया, युद्ध के समय जर्मन सेनाओं ने इसे जीता। युद्ध के बाद लिथुआनिया के स्वतन्त्र राज्य बनने पर पेरिस के शान्ति-सम्मेलन ने विलना इसे प्रदान किया, किन्तु १९२० ई० में पोलैण्ड की सेनाओं ने इसे जीत लिया। कौंसिल ने दो वर्ष तक इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया, किन्तु पोलैण्ड ने एक संदिग्ध जनमत संग्रह द्वारा इसे अपने राज्य का अंग बना लिया और ३ फरवरी १९२३ को कौंसिल ने दोनों देशों में एक अस्थायी सीमा तय करते हुए विलना लिथुआनिया के तीव्र प्रतिवाद के बावजूद, पोलैण्ड को दे दिया। इसमें यद्यपि कौंसिल लिथुआनिया के साथ न्याय नहीं कर सकी और दोनों पक्षों का समझौता नहीं करा सकी, फिर भी उसने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बहुत कम किया।

(२) **कार्फू (Corfu) विवाद (१९२३)**—यह संघ के सम्मुख किसी महाशक्ति के साथ सम्बन्ध रखने वाला पहला मामला था और इससे महाशक्तियों के सम्बन्ध में संघ की निर्बलता भलीभाँति स्पष्ट हो गयी। यह विवाद इटली और यूनान के मध्य में था, यह यूनानी प्रदेश में यूनान और अलबानिया की सीमा का निर्णय करने वाले कमीशन के एक इटालियन प्रतिनिधि की हत्या से उत्पन्न हुआ था। इटली ने इस घटना पर फौरन यूनान को हर्जाना देने और क्षमा याचना का अल्टीमेटम दिया। यूनान ने इसे अस्वीकार करते हुए यह झगड़ा संघ में पेश किया। इटली ने इसकी कोई परवाह न करते हुए यूनानी प्रदेश पर बमवर्षा की और यूनान के कार्फू नामक टापू पर अधिकार कर लिया। मुसोलिनी ने संघ की कौंसिल की कोई परवाह नहीं की क्योंकि उसका कहना था कि यह विषय राजदूतों के सम्मेलन का है। पहले दोनों देशों में यह तय हो गया कि यूनान अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ५ करोड़ ३० लाख लीरा (इटालियन सिक्का) हर्जाने के रूप में जमा कराये और न्यायालय इटली की माँग की वैधता पर विचार करे। बाद में इटली ने वैधता के निर्णय की बात न स्वीकार करते हुए कार्फू से अपनी सेनायें हटा लीं, पर यूनान को हर्जाना देने के लिए बाधित किया, संघ की कोई परवाह न की। यह स्पष्ट था कि यूनान को निर्बल होने का दण्ड मिला, यद्यपि इटली ने कार्फू पर बमवर्षा करके यूनान को हानि पहुँचाई थी, फिर भी मुआवजे के रूप में उसे पुरस्कार मिला। यह संघ के सिद्धान्तों और नियमों की पहली प्रबल अवहेलना थी।

(३) **ग्रान चाको (Gran Chaco) विवाद (१९२८–३३)**—२,८०० व०

मी० का कम आबादी वाला यह दलदली प्रदेश ८६ वर्ष तक दक्षिणी अमेरिका के पैराग्वे तथा बोलिविया राज्यों में विवाद का विषय बना हुआ था। इसके १५ हजार वर्गमील के क्षेत्र में तेल के कुओं का पता लगने पर पैराग्वे ने इस प्रदेश पर हमला कर दिया, अन्तर अमेरिकन संघ (Inter American System) के इस मामले में समझौते कराने के प्रयत्न विफल होने पर कौंसिल ने अपना जाँच कमीशन चाको में भेजा, यह केवल दोनों में विराम-सन्धि कराने में सफल हुआ, १९३४ में कौंसिल ने दोनों देशों को शस्त्र भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। बोलिविया ने इस विषय पर असेम्बली द्वारा विचार करने पर बल दिया और इसकी रिपोर्ट बोलिविया ने स्वीकार की, पैराग्वे ने इस रिपोर्ट को नहीं माना। इस पर संघ द्वारा बोलिविया को शस्त्रास्त्र भेजने की पाबन्दी हटा ली गयी किन्तु पैराग्वे के विरुद्ध यह प्रतिबन्ध जारी रहा, परिणामत: वह संघ से त्यागपत्र देकर पृथक् हो गया। फिर भी संघ से बाहर, अमेरिकन राज्यों के हस्तक्षेप से दोनों पक्षों में २१ जुलाई, १९३८ को सन्धि हो गयी, मध्य एवं पूर्वी चाको का बड़ा भाग (९५,३१३ व० मी०) पैराग्वे को तथा छोटा पश्चिमी भाग (४६,५६१ व० मी०) बोलिविया को मिला।

(४) **मंचूरिया का युद्ध** (१९३१–३२)—१९०५ की **रूस-जापान सन्धि** के अनुसार जापान को यह अधिकार प्राप्त था कि वह दक्षिण मंचूरियन रेलवे की रक्षा के लिए मुकदन में १५००० सैनिक रखे। १८ सित० १९३१ को जापान ने चीनियों पर आक्रमण कर दिया, १० हजार चीनियों को भगाकर मुकदन पर अधिकार कर लिया और ऐसा करने का यह कारण बताया कि यह रेलवे की सम्पत्ति को उपद्रवी चीनियों द्वारा पहुँचाये जाने वाले विनाश से बचाने के लिए किया गया है। चीन ने ११वीं धारा के अनुसार राष्ट्रसंघ से २१ सितम्बर को जापानी आक्रमण से रक्षा करने की प्रार्थना की। २२ सितम्बर को जापानियों ने यह कहा कि उनका उद्देश्य चीनी प्रदेश को अपने साम्राज्य में मिलाना नहीं, किन्तु चीनी उपद्रवियों से जापानियों की रक्षा करना है। ३० सित० को संघ की कौंसिल ने सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास किया कि जापानी सरकार यथा-सम्भव शीघ्र ही अपनी सेनायें वापिस बुला ले। किन्तु जापान ने इसकी सर्वथा उपेक्षा करते हुए मंचूरिया जीतना जारी रखा। ९ अक्टूबर को चीन ने कौंसिल से दूसरी बार रक्षा की प्रार्थना की। १३ अक्टूबर को कौंसिल की बैठक में इस समस्या पर विचार करते हुए अमेरिका के प्रतिनिधि को भी बुलाया गया क्योंकि पेरिस के शांति पैक्ट पर उसने भी हस्ताक्षर किये थे। जापान ने सं० रा० अमेरिका के संघ का सदस्य न होने के कारण उसके इस बैठक में भाग लेने का घोर विरोध किया, किन्तु कौंसिल के बहुमत ने इसका समर्थन किया। इससे जापान और संघ के मतभेद की खाई पहले से अधिक चौड़ी हो गई। जापान का आग्रह था कि सेनायें हटाने से पहले चीन से समझौते की सीधी चर्चा की जाय। कौंसिल की यह माँग थी कि सेनायें हटाने के बाद चीन से चर्चा की जाय। २४ अक्टूबर को कौंसिल ने १६ नवम्बर से पूर्व जापान को अपनी सेनायें हटा लेने का प्रस्ताव पास करना चाहा, किन्तु जापान ने अपने निषेधाधिकार से इसे रद्द कर दिया। यह संघ की पहली बड़ी पराजय थी। १६ नवम्बर को बड़े वादविवाद के अनन्तर जापान

का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया कि संघ का एक जाँच कमीशन सुदूर पूर्व में भेजा जाय। पाँच व्यक्तियों के इस आयोग के सभापति ग्रेट ब्रिटेन के लार्ड लिटन थे, इसके अन्य चार सदस्य अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी और इटली के प्रतिनिधि थे। इसी बीच में ८ जनवरी, १९३२ को शंघाई में जापानी भिक्षुकों के एक दल पर चीनियों ने आक्रमण किया, इस पर जापानियों ने शंघाई में अपनी सेनायें भेज दीं और उस पर अपना अधिकार कर लिया, मंचूरिया में उन्होंने अपना समर्थन करने वाला मंचुकुओ नामक राज्य स्थापित करने की घोषणा १८ फरवरी, १९३२ को की।

इस बीच में सं० रा० अमेरिका के विदेश-मंत्री स्टिमसन ने चीन तथा जापान दोनों को यह सूचना दी कि सं० रा० अमेरिका **पेरिस के पैक्ट** के विरुद्ध स्थापित की गयी किसी स्थिति या समझौते को स्वीकार नहीं करेगा। ३ मार्च, १९३२ को असेम्बली ने **स्टिमसन के सिद्धान्त** का समर्थन करते हुए पूर्व में युद्ध बन्द करने पर बल दिया, इसके लिए १९ व्यक्तियों की समिति नियुक्त की और जापानी सेनाओं द्वारा शंघाई खाली करने पर आग्रह किया। ग्रेट ब्रिटेन के प्रभाव से जापान ने शंघाई से अपनी सेनायें हटा लीं।

नवम्बर १९३२ में लिटन कमीशन ने अपनी विस्तृत रिपोर्ट कौंसिल को दी। इसमें यह तो स्वीकार किया गया कि चीनियों का रवैया जापानियों के प्रति उत्तेजनात्मक रहा है, किन्तु जापान की यह युक्ति नहीं मानी गई कि उसका उद्देश्य जापानी व्यक्तियों एवं सम्पत्ति की रक्षा करना है। मंचुकुओ के राज्य को निरा ढोंग बताते हुए कमीशन ने इस प्रदेश पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार की और यह सिफारिश की कि यहाँ एक स्वायत्तशासक चीनी राज्य बनाया जाय और इसके परामर्शदाता अन्य देशों के व्यक्ति हों। इस रिपोर्ट पर विचार करने के बाद असेम्बली ने जापान के कार्य की निन्दा का तथा लिटन कमीशन की सिफारिशों को मानने का प्रस्ताव पास किया। असेम्बली के ४४ सदस्यों में से ४२ ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया, स्याम तटस्थ रहा और जापान ने विपक्ष में मत दिया। इसके बाद जापान ने २७ मार्च, १९३३ को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। इस घटना ने राष्ट्रसंघ की दुर्बलता बड़े स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त कर दी, वह जापानी आक्रमण से चीन की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ रहा। शूमैन ने इसकी बहुत बड़ी जिम्मेवारी ग्रेट ब्रिटेन के विदेश-मंत्री सर जान साइमन पर डाली है, उसे यह विश्वास हो गया था कि जापान का प्रधान उद्देश्य 'साम्यवाद' से लड़ना है और वह सोवियत रूस पर हमले की तैयारी कर रहा है।[3] साम्यवादी रूस पूँजीपति ग्रेट ब्रिटेन का सबसे बड़ा शत्रु था, अतः साइमन ने जापान के मामले में हस्तक्षेप उचित नहीं समझा और उसके प्रभाव से संघ ने इस विषय में बड़ी उपेक्षा और टालमटोल की नीति बरती।

(५) इटली-एबीसीनिया युद्ध (१९३४–३७)—एबीसीनिया उत्तर-पूर्वी अफ्रीका का ३½ लाख वर्गमील का एक पिछड़ा हुआ स्वतन्त्र राज्य था। इटली के अधिनायक मुसोलिनी ने १९३५ में जब प्राचीन रोमन साम्राज्य के स्वप्न लेते हुए नया इटालियन साम्राज्य स्थापित करना चाहा तो अफ्रीका में उसके साम्राज्य-निर्माण के लिए

३. शूमैन—इण्टरनेशनल पालिटिक्स, तृतीय संस्करण, पृ० ५२०

यही प्रदेश अवशिष्ट था, इसके प्राप्त होने पर इटालियन सुमालीलैण्ड और इरिट्रिया के साथ मिलकर यह विशाल प्रदेश इटली के कच्चे माल की तथा खनिजों की प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण साधन, और उसके तैयार माल की मण्डी बन सकता था। इटली ने १८९६ में इसे जीतने के प्रयास में अडोवा में भीषण पराजय पायी थी, उसका बदला लेना भी आवश्यक था।

५ दिसम्बर, १९३४ को इटालियन सुमालीलैण्ड और एबीसीनिया की अनिश्चित सीमा पर वलवल नामक स्थान पर हुए एक सैनिक झगड़े में ३० इटालियन मारे गये। इटली ने साम्राज्य-निर्माण के इस स्वर्ण अवसर से पूरा लाभ उठाते हुए एबीसीनिया से क्षमा याचना की और हर्जाने की माँग की, एबीसीनिया ने यह झगड़ा १९२८ की दोनों देशों में हुई सन्धि के अनुसार मध्यस्थ को सौंपने पर बल दिया और १४ दिसम्बर को राष्ट्रसंघ में अपने प्रदेश पर इटली के आक्रमण की शिकायत की। संघ ने इस पर कुछ समय तक इसलिए कोई कार्यवाही नहीं की कि उसका एक प्रभावशाली सदस्य फ्रांस इस समय जर्मनी के विरुद्ध इटली को अपना मित्र बनाने के लिए उत्सुक था, अतः वह उसको रुष्ट नहीं करना चाहता था। ३ जनवरी, १९३५ की कौंसिल की बैठक में एबीसीनिया ने यह प्रश्न पुनः उठाया और इटली इस झगड़े को पंच को सौंपने के लिए तैयार हो गया, किन्तु पंच मई से पहले नहीं नियत हो सके। दोनों राज्यों के दो-दो पंचों ने मिलकर जब इस झगड़े में वलवल की सीमा निश्चित करनी चाही तो इटालियन प्रतिनिधियों ने इसका तथा इसके पाँचवें निष्पक्ष पंच की नियुक्ति का विरोध किया। ३ सितम्बर, १९३५ को इन पंचों के कमीशन ने यह फैसला दिया कि वलवल की घटना के लिए इटली और एबीसीनिया दोनों उत्तरदायी नहीं हैं। ४ सितम्बर, १९३५ को कौंसिल ने उक्त रिपोर्ट के साथ इस प्रश्न पर अपना विचार समाप्त कर दिया।

किन्तु इस समय मुसोलिनी एबीसीनिया को हड़पने के लिए तुला हुआ था "भले ही यह कार्य जेनीवा की सहायता से हो, उसकी सहायता के बिना हो या उसका विरोध करके हो" (With Geneva, without Geneva or against Geneva)। अतः इटालियन प्रतिनिधि ने कौंसिल की बैठक में एबीसीनिया पर विश्वासघात, सन्धि-भंग करने और बर्बरता के आरोप लगाते हुए कहा कि इटली को पूरा अधिकार है कि "वह वहाँ अपने गौरव की रक्षा करे।" इस कार्य के लिए जब इटली ने एबीसीनिया में अपनी सेनायें भेजीं तो एबीसीनिया ने पुनः कौंसिल में धारा १५ के आधार पर इटली के आक्रमण की शिकायत की। इस पर कौंसिल ने इस विवाद को हल करने के लिए पांच देशों—ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, पोलैण्ड, स्पेन, टर्की की एक समिति नियत की। इसने इटली को सन्तुष्ट करने के लिए एबीसीनिया में इटली के आर्थिक विकास के विशेष अधिकार को मानते हुए, एबीसीनिया के कुछ प्रदेश भी इटली को देने का प्रस्ताव किया। किन्तु मुसोलिनी इससे सन्तुष्ट नहीं था, उसने कहा—'मैं रेगिस्तानों को इकट्ठा करने वाला नहीं हूँ।" ९ सितम्बर को उसने घोषणा की—"यदि सारा एबीसीनिया भी उसे चाँदी की थाली में भेंट किया जाय तो वह उसे अस्वीकार कर देगा, वह इसे शक्ति से जीतेगा।" उसने इस विषय में कौंसिल द्वारा नियत १३ व्यक्तियों के कमीशन के प्रस्ताव रद्द कर दिये।

२९ सितम्बर को जब एबीसीनिया के राजा हेलसिलासी ने आत्मरक्षा के लिए लामबन्दी की आज्ञा दी तो २ अक्टूबर को मुसोलिनी ने भी 'आत्मरक्षा' के लिए इटालियन सेनाओं को मोर्चों पर भेज दिया और इन्होंने एबीसीनिया पर चढ़ाई कर दी।

७ अक्टूबर को कौंसिल की छ: व्यक्तियों की एक समिति ने इटली पर युद्ध छेड़ने का उत्तरदायित्व डाला। इस पर ११ अक्टूबर को बुलायी गई असेम्बली की असाधारण बैठक ने कौंसिल के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए सब सदस्यों को इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने को कहा और इसके लिए १८ व्यक्तियों की एक **समन्वय समिति** (Co ordination Committee) स्थापित की। १९ अक्टूबर को इटली, अल्बानिया, आस्ट्रिया, हंगरी के अतिरिक्त अन्य सब देशों ने एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया कि इटली को शस्त्र, रबड़, बाक्साइट, कच्चा लोहा, मैंगनीज भेजना बन्द कर दिया जाय, किन्तु कनाडियन प्रतिनिधि का इटली को तेल भेजने पर प्रतिबन्ध का प्रस्ताव मुसोलिनी के रोष के भय से नहीं पास किया गया क्योंकि उसने यह स्पष्ट घोषणा की थी कि तेल के प्रतिबन्ध को वह शत्रुतापूर्ण कार्य समझेगा। १८ नवम्बर, १९३५ को संघ के इतिहास में पहली बार इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

किन्तु ये प्रतिबन्ध अधिक सफल नहीं हुए, क्योंकि सितम्बर १९३५ को फ्रांस के विदेश-मन्त्री लावाल और ब्रिटेन के विदेश-मंत्री सेमुअल होर ने यह गुप्त समझौता किया कि यदि संघ इटली पर प्रतिबन्ध लगाये तो वे सिद्धान्त रूप से इसका समर्थन करते हुए भी इटली के लिए स्वेज नहर बन्द करने का तथा सैनिक कार्यवाही का विरोध करेंगे। नवम्बर-दिसम्बर १९३५ में जब संघ तेल पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रश्न पर विचार कर रहा था, तब इन दोनों राजनीतिज्ञों ने पेरिस में एकत्र होकर एक शोचनीय **गुप्त समझौता** यह किया कि एबीसीनिया का प्रश्न ऐसा नहीं है कि इस पर इटली से युद्ध मोल लिया जाय अत: इटली को तेल भेजने के प्रतिबन्ध को लागू करने की कार्यवाही में विलम्ब करना चाहिये, एबीसीनिया को प्रेरणा करनी चाहिये कि वह इटली को टिगरे तथा अडोवा का प्रदेश दे दे, दक्षिणी एबीसीनिया को इटली के आर्थिक विस्तार और बस्ती के लिए सुरक्षित रखा जाय और इसके बदले में इटली एबीसीनिया को अस्सब का बन्दरगाह दे दे। दुर्भाग्यवश यह गुप्त योजना समाचारपत्रों में प्रकाशित हो गई। ग्रेट ब्रिटेन में इस पर इतना रोष और असन्तोष हुआ कि विदेश-मंत्री होर को त्यागपत्र देना पड़ा। जनवरी १९३६ से इटली की सेनायें एबीसीनिया को बड़ी तेजी से जीतने लगीं, १ मई को इसकी राजधानी आदिसअबबा पर इटली का अधिकार हो गया और ९ मई को इटली के राजा को एबीसीनिया का सम्राट् घोषित किया गया।

३० जून को एबीसीनिया से भाग कर आये सम्राट् हेलसिलासी ने स्वयमेव असेम्बली की बैठक में उपस्थित होकर इटली के बर्बरतापूर्ण दुष्कृत्यों का रोमांचकारी वर्णन करते हुए सहायता की याचना की, किन्तु इसका राष्ट्रसंघ पर कोई प्रभाव न पड़ा। १५ जुलाई को इटली के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध हटा लिये गये। १९३८ तक फ्रांस और ब्रिटेन ने इटली की एबीसीनिया विजय को स्वीकार कर लिया और राष्ट्रसंघ के मौलिक सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी।

यह पहला उदाहरण था, जहां युद्ध रोकने के लिए राष्ट्रसंघ के संविधान की १६वीं धारा के अनुसार प्रतिबन्ध लगाये गये थे। फिर भी राष्ट्रसंघ एबीसीनिया की रक्षा करने में समर्थ नहीं हुआ क्योंकि इसने आर्थिक प्रतिबन्धों को पूरी कड़ाई से नहीं लगाया, फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन, रूस और जर्मनी के विरुद्ध इटली को अपने पक्ष में मिलाने के लिए बहुत उत्सुक थे, वे उसे तेल पर प्रतिबन्ध लगाकर या स्वेज का मार्ग बन्द कर रुष्ट नहीं करना चाहते थे। महाशक्तियों की इस निन्दनीय प्रवृत्ति ने राष्ट्रसंघ को इस मामले में सफल नहीं होने दिया। एबीसीनिया की घटना ने राष्ट्रसंघ की लगभग अन्त्येष्टि कर दी क्योंकि अब कोई भी छोटा राष्ट्र आत्मरक्षा के लिए इस पर भरोसा नहीं रख सकता था। राष्ट्रसंघ को यद्यपि न्याय पर आश्रित शान्ति स्थापित रखने के लिए बनाया गया था, किन्तु इसमें उसने एबीसीनिया के न्यायपूर्ण पक्ष का गला घोंट कर शान्ति बनाये रखी। यह एबीसीनिया का नहीं, किन्तु राष्ट्रसंघ का हनन था। हेलसिलासी ने इस विषय में सत्य ही कहा था—"शांति बनाये रखने के कई विभिन्न ढंग हैं। एक ढंग तो न्यायपूर्वक शान्ति की रक्षा करना है और दूसरा किसी भी मूल्य पर शान्ति बनाये रखना है। राष्ट्रसंघ अपनी आत्महत्या कर लेगा यदि वह किसी भी मूल्य पर—आक्रांता के चरणों में अपने सदस्य-राज्य की बलि देकर शांति स्थापित करेगा।" एबीसीनिया के मामले में ऐसा ही हुआ।

(६) **स्पेन का गृहयुद्ध**—एबीसीनिया के बाद राष्ट्रसंघ से स्पेन के गृहयुद्ध (१९३६–३९), चीन-जापान युद्ध और रूसी-फिनिश युद्धों (१९३९) में आक्रमणों को रोकने के लिए सहायता माँगी गई। स्पेन में वहां के गणराज्य के विरुद्ध जुलाई १९३७ में राजपक्षपाती जनरल फ्रांको ने गृहयुद्ध छेड़ दिया। इसमें इटली और जर्मनी ने फ्रांको की पूरी सहायता की। गणराज्यवादी स्पेन ने संघ से सहायता माँगी लेकिन इंगलैंड और फ्रांस ने संघ से पृथक् एक **अहस्तक्षेप समिति** (Nonintervention Committee) बनाकर दोनों पक्षों को शस्त्र और ऋण देने पर पाबन्दी लगादी। किन्तु इसकी सर्वथा उपेक्षा करते हुए इटली और जर्मनी फ्रांको को हथियार तथा अन्य सामग्री देते रहे। स्पेनिश सरकार के लिए अहस्तक्षेप की यह नीति बड़ी अन्यायपूर्ण थी, जब उसने ११ मई, १९३८ को इसे समाप्त करने और विदेशों से शस्त्र खरीदने का न्यायपूर्ण अधिकार पाने की कौंसिल में प्रार्थना की तो केवल रूस ने इसका समर्थन किया। ब्रिटेन, फ्रांस और अन्य देशों के विरोध के कारण अहस्तक्षेप की नीति समाप्त करने का प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। फ्रांको की विजय होने पर १९३९ में ग्रेट ब्रिटेन ने उसकी सरकार को स्वीकार कर लिया।

(७) **चीन-जापान युद्ध (१९३७–४५)**—जुलाई १९३७ में जापान ने युद्ध की घोषणा किये बिना चीन पर आक्रमण करके उसके विभिन्न प्रदेश जीतने शुरू किये। इस पर चीन के प्रतिनिधि वेलिंगटन कू ने धारा १६ और १७ के अनुसार जापान के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की माँग की। किन्तु २८ सितम्बर, १९३८ को कौंसिल ने यह निर्णय दिया कि जापान के विरुद्ध ये प्रतिबन्ध नहीं लगाये जा सकते। चीनी प्रतिनिधि ने इस समय यह सत्य ही कहा था कि राष्ट्रसंघ इस समय "मिस्र की ममी की भाँति

सम्पूर्ण भोग-ऐश्वर्य के साधनों से सम्पन्न होता हुआ भी निर्जीव हो चुका है।"

(८) रूसी-फिनिश युद्ध (१९३९–४०)—३० नवम्बर, १९३९ को रूसी फौजों ने फिनलैण्ड पर आक्रमण किया। फिनलैण्ड ने राष्ट्रसंघ में धारा ११ और १५ के अनुसार शिकायत की। इस बार राष्ट्रसंघ ने बड़ी तत्परता और तीव्रता से काम किया। अर्जन्टायना ने रूस को संघ से निकालने की मांग की, इससे पहले जापान, इटली और जर्मनी ने राष्ट्रसंघ के नियमों और व्यवस्थाओं का भीषण उल्लंघन किया था, उनके विरुद्ध कभी ऐसा प्रस्ताव नहीं लाया गया था। किन्तु इस समय राष्ट्रसंघ के अधिकांश सदस्य कम्यूनिज्म के घोर विरोधी थे, उसे फासिज्म से अधिक भयंकर समझते थे, यद्यपि १९३९ तक शूमैन के शब्दों में रूस ही एक मात्र ऐसी महाशक्ति थी, जिसने राष्ट्रसंघ के नियमों का पालन करते हुए उसे सामूहिक सुरक्षा के लिए प्रभावशाली साधन बनाने का प्रयत्न किया था।

१४ दिसम्बर, १९३९ को कौन्सिल ने अर्जन्टायना का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार करते हुए धारा १६ के चौथे पैराग्राफ के अनुसार रूस को संघ की सदस्यता से पृथक् कर दिया। उस समय चीनी प्रतिनिधि कू ने कहा—"चीन के मामले में ऐसा नहीं किया गया था।" वस्तुतः राष्ट्रसंघ ने अन्य किसी भी आक्रान्ता के साथ यह व्यवहार नहीं किया।

यह राष्ट्रसंघ के दीपनिर्वाण की बुझने से पहले की अन्तिम चमक थी। इसका फिनलैण्ड को कोई लाभ नहीं हुआ, उसे रूस से परास्त होकर १२ मार्च, १९४० को सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के निवारण में राष्ट्रसंघ की विफलता के कारण

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ अपने एक प्रधान उद्देश्य—युद्धों को रोकने और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्वक हल करने में सफल नहीं हुआ। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) सं०रा० अमेरिका का असहयोग—सं०रा० अमेरिका के राष्ट्रपति राष्ट्रसंघ के मुख्य जन्मदाता थे, किन्तु उनके देश ने संघ में सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया। हार्डी के शब्दों में संघ रूपी अमेरिकन शिशु को उसके पैदा होते ही उत्पादकों ने योरोप में अनाथ की भाँति छोड़ दिया।[४] यह संघ के शान्ति-स्थापना के प्रयत्नों में प्रबल बाधा थी। पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि पेरिस के सम्मेलनों में विल्सन ने किस प्रकार फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन की संकीर्ण, राष्ट्रवादी स्वार्थ-साधक नीतियों का तीव्र विरोध किया था। सं० रा० अमेरिका द्वारा संघ को छोड़ते ही इसमें संकुचित राष्ट्रवाद का प्राधान्य हो गया। ऐसे संघ को सफल बनाने के लिए जो सार्वभौम सहयोग अपेक्षित था, वह समाप्त हो गया। अब यदि राष्ट्रसंघ किसी आक्रान्ता राष्ट्र को दण्डित करने के लिए आर्थिक प्रतिबन्ध लगाता तो वह अपनी युद्ध की आवश्यक वस्तुओं को सं० रा०

४. हार्डी—ए शार्ट हिस्टरी ऑफ इण्टरनेशनल एफेयर्स, पृ० ५०५

अमेरिका से खरीद सकता था। अमेरिका के संघ में सम्मिलित न होने का दूसरे देशों पर गहरा प्रभाव पड़ा। संघ से असन्तुष्ट राष्ट्रों को उसे छोड़ने का बड़ा अच्छा उदाहरण मिल गया। सं० रा० अमेरिका के इसमें सम्मिलित न होने से जहां एक ओर संघ की अपने सदस्यों को आक्रमणों से सुरक्षित करने की क्षमता कम हो गयी, वहां दूसरी ओर राष्ट्र-संघ जैसे विश्वव्यापी संगठन के कार्यक्षेत्र से नई दुनिया का विशाल प्रदेश निकल गया। यदि सं० रा० अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य होता तो जापान का मंचूरिया पर तथा इटली का एबीसीनिया पर आक्रमण अधिक सफलता के साथ रोका जा सकता था। हार्डी ने लिखा है कि सं० रा० अमेरिका के संघ-परित्याग के साथ फ्रांस को सुरक्षा के लिए दी गयी एंग्लो अमेरिकन गारण्टी भी समाप्त हो गयी। इसके आधार पर ही फ्रांस ने राइन के पश्चिमी तट पर जर्मन प्रभुत्व से सर्वथा स्वतन्त्र राज्य बनाने की माँग छोड़ी थी। पर अब इसके न रहने पर फ्रांस अपनी सुरक्षा के लिए बहुत चिन्तित हो गया तथा उसने संघ से स्वतन्त्र रूप में जर्मनी के लिए बड़ी उत्तेजनात्मक नीति का अनुसरण किया, इसका संघ पर गहरा प्रभाव पड़ा।

(२) **संघ का सार्वभौम न होना**—संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि उसमें संसार की सब महाशक्तियां सम्मिलित हों, किन्तु राष्ट्रसंघ में कभी ऐसा नहीं हुआ। सं० रा० अमेरिका आरम्भ से ही अपनी इच्छा से उसमें सम्मिलित नहीं हुआ, रूस और जर्मनी को इसमें शामिल होने योग्य नहीं समझा गया। बाद में १९२६ में जर्मनी और १९३४ में रूस इसके सदस्य बने। किन्तु जापान और जर्मनी ने १९३३ में इसकी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया और १९३९ में रूस को इससे निकाल दिया गया। इस प्रकार संघ के अल्प जीवन में कभी ऐसा अवसर नहीं हुआ कि जबकि इसमें सब महाशक्तियां सम्मिलित हों। यह प्रायः कुछ विशेष राष्ट्रों का गुट बना रहा, अतएव इसे 'विजेताओं का संघ' (League of Victors), 'सन्तुष्ट राष्ट्रों का संगठन', 'रूस के विरुद्ध पश्चिम का षड्यन्त्र' कहा जाता था। जर्मनी, जापान और इटली के इससे पृथक् हो जाने पर यह केवल यथापूर्व स्थिति (Status Quo) बनाये रखने वाली परिवर्तन-विरोधी महाशक्तियों का गुट बन गया।

(३) **संघ के सिद्धान्तों में महाशक्तियों की क्रियात्मक अनास्था**—संघ के संविधान पर हस्ताक्षर करते हुए महाशक्तियों ने शांति बनाये रखने के लिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और बाध्यतायें स्वीकार की थीं, उन्होंने सब राज्यों की प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने तथा आक्रांता राज्यों को रोकने के लिए धारा १०, ११, १५, १६ में अनेक वचन दिये थे। किन्तु जब इनके पालन का समय आया तो महाशक्तियों के व्यवहार से यह स्पष्ट हो गया कि उन्हें इसमें कोई आस्था नहीं थी, वे अपनी घोषणाओं में भले ही शांति की दुहाई देती हों, पर व्यावहारिक रूप से उसके लिए कोई क्रियात्मक पग उठाने को तैयार नहीं थी। उदाहरणार्थ एबीसीनिया में इटली का आक्रमण रोकने के लिए उन्होंने ऊपर से तो आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये किन्तु शूमैन के शब्दों में यह कोरा ढोंग था, फ्रांस और ब्रिटेन के जिम्मेवार नेताओं ने आपस में यह गुप्त समझौता कर लिया था कि इटली को जर्मनी के साथ मिलने से रोकने का सर्वोत्तम उपाय मुसोलिनी

के अफ्रीका में साम्राज्य निर्माण के प्रयत्नों में कोई प्रभावशाली बाधा न डालना है। ग्रेट ब्रिटेन में बाल्डविन ने १९३५ का चुनाव तो शान्ति के नाम पर जीता, किन्तु शीघ्र ही इस वचन को तोड़ने, राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र को भंग करने और एबीसीनिया के साथ विश्वासघात करने में कोई कमी नहीं की। फ्रांस का प्रधानमन्त्री पियरे लावाल तो किसी भी मूल्य पर इटली की मित्रता पाने के लिए उत्सुक था, भले ही उसमें लीग के सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि देनी पड़े। ऊपर से तो लावाल ने यह घोषणा की—"फ्रांस राष्ट्रसंघ के संविधान के प्रति पूरी निष्ठा रखता है।" ग्रेट ब्रिटेन के विदेश-मन्त्री सेमुअल होर ने जेनीवा में ११ सि० १९३५ को यह सिंहगर्जना की—"ब्रिटिश सरकार राष्ट्रसंघ के संविधान को पूर्ण रूप में सामूहिक प्रयत्नों से बनाये रखने के लिए कटिबद्ध है।" किन्तु इससे एक दिन पहले ही दोनों विदेश-मन्त्रियों ने गुप्त रूप से यह समझौता किया कि वे मुसोलिनी को रुष्ट करने वाला कोई भी कार्य—स्वेज नहर को बन्द करना, सैनिक कार्यवाही, समुद्री नाकाबन्दी (Naval Blockade) आदि नहीं करेंगे। जब राष्ट्रसंघ की कर्णधार मुख्य शक्तियां उसके साथ इस प्रकार विश्वासघात पर तुली हुई थीं तो वह कैसे सफल हो सकता था। अतः शूमैन ने यह सत्य ही लिखा है—"संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सदस्य-राज्यों में इसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, बुद्धिमत्ता और साहस होता किन्तु इनमें इसका सर्वथा अभाव था। अतएव जेनीवा की झील के तट पर एरियाना पार्क में निर्मित उसका भव्य प्रासाद शीघ्र ही उसका सुन्दर समाधि-स्थल बन गया।"[५]

(४) संघ के प्रति विभिन्न राज्यों की पृथक् और विरोधी नीतियां—संघ का प्रधान लक्ष्य—युद्धों का निवारण सब सदस्य-राज्यों की एक संगठित और सुदृढ़ नीति से सफल हो सकता था। किन्तु सबकी 'अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग' था। फ्रांस इसे एक सार्वभौम सुरक्षा संगठन के स्थान पर जर्मनी से सुरक्षा पाने का माध्यम समझता था। उसकी दृष्टि में यह युद्ध रोकने के लिए विश्वव्यापी संस्था नहीं, किन्तु जर्मनी को दबाये रखने के लिए एक योरोपियन संघ मात्र था। फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए एबीसीनिया को किस प्रकार बलि का बकरा बनाया, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। सदैव फ्रांस का यह प्रयत्न रहा कि संघ को योरोप में वर्साय की सन्धि द्वारा स्थापित व्यवस्था को बनाये रखने का शक्तिशाली माध्यम बनाया जाय और जर्मनी के साथ कठोर व्यवहार किया जाय।

इसके सर्वथा विपरीत ग्रेट ब्रिटेन अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण जर्मनी के प्रति मृदु एवं उदार नीति का पक्षपाती था, राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निर्णय, आर्थिक पुनरुत्थान और सामाजिक सहयोग के लिए योरोप तक सीमित न रखकर विश्वव्यापी संगठन बनाना चाहता था। उसका साम्राज्य भूमण्डल के सब भागों में फैला हुआ था, इसकी सुरक्षा उसका प्रधान उद्देश्य था। अतः वह संघ को सुदृढ़ बनाने के लिए ऐसी सभी व्यवस्थाओं का विरोधी था, जिनसे उसके विश्वव्यापी साम्राज्य के किसी भाग

५. शूमैन—इण्टरनेशनल पालिटिक्स, पृ० २३०

पर आँच आती हो। वह संघ को अपनी विदेश नीति और कूटनीति सफल बनाने का रंगमंच समझता था।

जर्मनी को संघ के कार्य और सिद्धान्तों में कभी आस्था या सहानुभूति नहीं रही, वह उसे आरम्भ से 'विजेताओं का संघ' समझता था क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय अछूत समझते हुए उसे इसमें प्रवेश का अधिकार नहीं दिया गया था। जब १९२६ में वह संघ का सदस्य बना तो उसका प्रधान उद्देश्य वर्साय सन्धि की जर्मनी के प्रति अन्याय-मूलक व्यवस्थाओं का भंग करना था। १९३३ में हिटलर के उत्कर्ष के बाद जर्मनी ने इसमें रहना वांछनीय नहीं समझा क्योंकि यह उसके प्रधान उद्देश्य—समूचे विश्व पर जर्मन प्रभुता स्थापित करने में सहायक नहीं हो सकता था। रूस भी आरम्भ से संघ का विरोधी था, बोल्शेविक क्रान्ति के बाद पश्चिमी राष्ट्रों ने रूस की साम्यवादी सरकार को काफी समय तक स्वीकार नहीं किया, क्रांति को विफल बनाने के लिए अपनी सेनायें रूस में भेजीं, मैण्डेटों के नाम पर जर्मन उपनिवेशों को हड़प लिया, इन सब कारणों से रूस को मित्रराष्ट्रों पर विश्वास नहीं रहा, १९१९ में कोमिन्टर्न ने यह घोषणा की थी कि "यह जनता की क्रांति दबाने के लिए बूर्जुआवर्ग का पवित्र संघ है," १९२८ में रूस ने कहा था "संघ पिछली दशाब्दी की सबसे निर्लज्ज और चोरों की बनायी हुई वर्साय सन्धि की उपज है।" हिटलर के १९३३ में उत्कर्ष में आने पर नात्सियों के खतरे से बचने के लिए ही रूस १९३४ में इसमें सम्मिलित हुआ। किन्तु पश्चिमी राष्ट्रों को रूस पर कोई भरोसा नहीं था, उन्होंने १९३९ में फिनलैण्ड पर आक्रमण करने पर रूस को संघ से बहिष्कृत कर दिया। सं० रा० अमेरिका आरम्भ से ही राष्ट्रसंघ का विरोधी था, उसे अमेरिकी गोलार्द्ध में उसके प्रभाव का तनिक भी विस्तार सह्य नहीं था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघ के सम्बन्ध में सब बड़ी शक्तियों के विभिन्न दृष्टिकोण थे, वे अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए इसे साधन बनाना चाहते थे, जहां कहीं उनके हितों का संघ के सिद्धान्तों से विरोध होता था, वे संघ के सिद्धान्तों को तिलांजलि दे देते थे। इस अवस्था में संघ के सफल होने की आशा दुराशामात्र थी।

(५) संघ में सम्मिलित होने वाली महाशक्तियों का एक विशेष गुट बन जाना—संघ के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि "वह बदनाम माँ की सम्मानित बेटी" थी। संघ का विधान वर्साय आदि शान्ति-सन्धियों का एक अनिवार्य अंग था। ये सन्धियां बाद में विजेता राष्ट्रों द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए बनाई गई व्यवस्थाओं के रूप में बहुत बदनाम होने लगीं, राष्ट्रसंघ का इनके साथ गहरा सम्बन्ध था, अतः उसके उद्देश्य उदात्त होते हुए भी उसे वर्तमान व्यवस्था को बनाये रखने वाले पश्चिमी राष्ट्रों का गुट और षड्यंत्र समझा जाने लगा। विल्सन ने यद्यपि यह व्यवस्था की थी कि राष्ट्रसंघ सन्धियों का संशोधन कर सकता है किन्तु फ्रांस के नेतृत्व में पोलैण्ड, जैकोस्लोवाकिया आदि संशोधन विरोधी राज्यों का ही संघ में बहुमत था। इसने राष्ट्रसंघ को अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के निवारण के विश्वव्यापी संघटन के स्थान पर वर्तमान व्यवस्था बनाये रखने वाला योरोपियन संगठन बना दिया, इस कारण परिवर्तन चाहने वाले जर्मनी, इटली, जापान इससे पृथक् हो गये, इससे संघ में क्षीणता आ गई।

(६) **आर्थिक मन्दी**—१९३० की भीषण आर्थिक मन्दी ने सब देशों को अपनी दशा सुधारने के लिए विविध प्रकार के आर्थिक प्रतिबन्ध, संरक्षण, सीमाकर और तट-कर लगाने को बाधित किया, दूसरे देशों से पृथक् होकर अपनी उन्नति का और उग्र राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया, इससे विभिन्न राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के स्थान पर राष्ट्रीय उन्नति को अधिक महत्त्व देने लगे। ये परिस्थितियां राष्ट्रसंघ के मौलिक सिद्धांतों—सामूहिक सुरक्षा तथा आक्रमण के सामूहिक प्रतिरोध—को क्षति पहुँचाने वाली थीं। रूस आर्थिक मन्दी को पूंजीवाद का अनिवार्य परिणाम बताता था। पश्चिम के पूंजीवादी देश इससे ग्रस्त होकर रूस को अपना प्रधान शत्रु समझने लगे, रूस से विरोध प्रदर्शित करने वाले जापान, जर्मनी और इटली को संतुष्ट रखने के लिए तुष्टीकरण और अहस्त-क्षेप की नीति अपनाने लगे, यह नीति वस्तुतः इन देशों के आक्रमणों की उपेक्षा करने वाली, जड़ता, कायरता और नपुंसकता उत्पन्न करने वाली थी।

(७) **अधिनायकवाद (Dictatorship) का विकास**—१९३० के बाद जर्मनी और इटली में तथा योरोप के अन्य देशों में प्रबल होने वाले अधिनायकवाद के उत्कर्ष ने भी संघ को पंगु बनाया। संघ का मूल सिद्धान्त यह था कि इसके सब सदस्य-राज्य-शांति प्रेमी तथा लोकतंत्रवादी होंगे, वे वाद-विवाद, प्रेरणा और सुलह-समझौते की पद्धति में विश्वास रखेंगे। संघ की समूची व्यवस्था इस पर आधारित थी। किन्तु अधिनायकवाद में हिटलर, मुसोलिनी जैसे शासक, 'लहू और लोहे की', तलवार की तथा पाशविक बल की शक्ति में भरोसा रखते हैं, अपनी माँगें पूरी कराने के लिए संघ की शरण नहीं लेते, सेना को साधन बनाते हैं। इस वातावरण में राष्ट्रसंघ जैसे संगठनों का विकास सम्भव नहीं है।

(८) **संघ के संविधान के दोष**—ये भी संघ को निर्बल और विफल बनाने में सहायक सिद्ध हुए। संघ के विधान का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसके पास अपने निर्णयों का पालन करवाने के लिए कोई शक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय सेना या पुलिस नहीं थी। इस अवस्था में यह सदस्यों से अपने निश्चयों को क्रियान्वित करने के लिए प्रार्थना ही कर सकता था, उन्हें बाधित करने का सामर्थ्य नहीं रखता था। यह सदस्यों की इच्छा पर था कि वे संघ की प्रार्थना मानें या ठुकरायें। दूसरा दोष सब महत्त्वपूर्ण निर्णयों में कौंसिल के सदस्यों की सर्वसम्मति (unanimity) का नियम था। यह सर्वसम्मति बड़ी कठिनता से हो पाती थी और यदि ऐसा हो जाय तो भी कोई राष्ट्र इसकी उपेक्षा कर सकता था। तीसरा दोष इसकी जटिल कार्यपद्धति थी। इसमें किसी भी विषय की बहस को बहुत लम्बा खींचा जा सकता था, स्थगित किया जा सकता था। अतः यह कहा जाता था कि लीग ने 'किसी ऐसे विषय पर विचार नहीं किया, जिसे स्थगित न किया हो।' इस प्रकार यह जड़ता और निष्क्रियता का केन्द्र बन गया। इसमें प्रत्येक प्रश्न को टालने का प्रयत्न किया जाता था। जब जापान ने मंचूरिया पर हमला किया तो लीग ने इसकी जांच के लिए लिटन कमीशन बनाने और इसे चीन भेजने में इतना विलम्ब किया कि उसके वहां पहुँचने से पहले ही जापान समूचा मंचूरिया जीत चुका था।

(९) **उग्र राष्ट्रीयता का विचार**—संघ की विफलता का एक बड़ा कारण उग्र

राष्ट्रीयता का विचार था, इससे प्रत्येक राज्य और राष्ट्र अपने को सर्वोच्च प्रभुतासम्पन्न समझता है और अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वतन्त्र है। राष्ट्रसंघ इस प्रकार राष्ट्रीयता और प्रभुसत्ता का विचार रखने वाले राज्यों का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था, इसमें कोई भी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति या व्यवस्था के लिए अपनी प्रभुसत्ता (Sovereignty) पर किसी प्रकार का अंकुश या प्रतिबन्ध स्वीकार करने को तैयार न था। संघ के मौलिक सिद्धान्त सर्वथा नवीन थे, राष्ट्रसंघ में बैठने वाले राजनीतिज्ञ अपने परम्परागत राष्ट्रीयता के संकीर्ण विचारों को छोड़कर इन्हें सहसा ग्रहण नहीं कर सकते थे। विज्ञान ने भले ही देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर लिया हो, किन्तु अभी तक मनुष्य का मन राष्ट्रीयता की संकीर्ण मर्यादाओं से ऊपर नहीं उठ सका था। उसके संकुचित दृष्टिकोण ने संघ को सफल नहीं होने दिया।

राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन

उपर्युक्त कारणों से यद्यपि राष्ट्रसंघ को युद्ध-निवारण के कार्य में बहुत सफलता नहीं मिली, फिर भी इसे असफल नहीं कहा जा सकता। श्लीचर ने इस विषय में यह सत्य ही लिखा है कि राष्ट्रसंघ की सफलता या विफलता उस कसौटी पर निर्भर है, जिस पर इसे कसा जाता है। यदि यह उन आदर्शवादियों की हो, जो इस संस्था द्वारा युद्धों का पूर्ण निरोध करना चाहते थे तो राष्ट्रसंघ अवश्य असफल हुआ है। यदि यह कसौटी संघ के वास्तविक कार्यों, उसकी मर्यादाओं तथा मानव-जाति पर उसके प्रभाव पर आधारित हो तो यह मानना पड़ेगा कि राजनीतिक क्षेत्र में विफल होने पर भी वह आर्थिक, सामाजिक और मानवीय क्षेत्रों में बहुत सफल हुआ।

आर्थिक क्षेत्र में संघ ने आस्ट्रिया तथा हंगरी के दिवालिया देशों की सहायता का बड़ा प्रशंसनीय एवं सफल कार्य किया। युद्धपीड़ित शरणार्थियों के आवासन में १५ लाख यूनानी तथा ३० हजार बल्गारियनों के पुनर्वास का श्रेय इसी को है। इसके विभिन्न विभागों तथा अंगों ने मजदूरों की दशा सुधारने, बीमारियों और महामारियों के रोकने, स्वास्थ्य की दशा उन्नत करने, अफीम आदि नशीली वस्तुओं का प्रसार रोकने, स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का अनैतिक व्यापार बन्द करने, अन्तर्राष्ट्रीय कानून को संहिताबद्ध करने में बड़ा श्रेयस्कर कार्य किया।

लैंगसम ने लिखा है कि संघ की सबसे बड़ी देन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विचार को उन्नत करना था। अन्तर्राष्ट्रीय सौहार्द को बढ़ाने के लिए यह अब तक बनी संस्थाओं में सबसे बड़ी थी। जेनीवा में प्रतिवर्ष इसकी बैठकों में सम्मिलित होने वाले प्रतिनिधि समूचे विश्व की परिस्थितियों और समस्याओं की दृष्टि से विभिन्न प्रश्नों पर विचार करने लगे, इस प्रकार वे शनैः शनैः संकीर्ण राष्ट्रीय सीमाओं से आगे देखने लगे। संघ ने विवादों का निर्णय करने के लिए राष्ट्रों को शस्त्रों के स्थान पर वाद-विवाद, कूटनीति और समझौते का मार्ग अवलम्बन करने पर बल दिया।

संघ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का पहला परीक्षण था। वह यद्यपि कुछ युद्धों के रोकने तथा निःशस्त्रीकरण में सफल नहीं हुआ, किन्तु उनकी विफलता मानव-जाति के लिए

बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई। उसने बड़ा बहुमूल्य अनुभव प्रदान किया, संयुक्त राष्ट्रसंघ बनाते हुए इसका पूरा लाभ उठाया गया। श्री वाल्टर ने यह लिखा है—"संयुक्त राष्ट्र-संघ के उद्देश्यों, सिद्धांतों, संस्थाओं और ढंगों पर, इसकी प्रत्येक बात पर राष्ट्रसंघ की स्पष्ट छाप है।"[६] संघ भले ही कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को हल करने में विफल हुआ हो, पर उसकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि दूसरे विश्व-युद्ध की समाप्ति पर विभिन्न राष्ट्रों ने उसके आदर्शों को पूरा करने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ का निर्माण किया। अतः १८ अप्रैल, १९४६ को राष्ट्रसंघ का अंत्येष्टि संस्कार नहीं हुआ, लेकिन उसने संयुक्त राष्ट्र-संघ के रूप में पुनर्जन्म प्राप्त किया। लार्ड सेसिल का यह वचन सत्य है—'राष्ट्रसंघ दिवंगत हो चुका है, संयुक्त राष्ट्रसंघ दीर्घजीवी हो (The League is dead, Long live the United Nations)।

प्रश्न

1. Account for the failure of the League of Nations to maintain peace. (Hindu Uni. 1956)
2. Examine critically the reasons which led to the failure of the League of Nations. How far would you attribute this to the pursuit of diverse policies by Great Britain and France in interwar years ? (Agra Uni. 1957)
3. Though the League of Nations had failed to prevent war and to preserve peace, yet its greatest achievement was the diffusion of the idea of international co-operation and humanitarian activities. Discuss. (Rajasthan Uni. 1956)
4. Describe the machinery for the pacific settlement of disputes under the covenant of the League of Nations. How was this machinery improved during the period the League system was in operation ? What charges have been made in the Charter of the United Nations in this direction ? (Agra Uni. 1957)
5. "The establishment of the League of Nations at the Paris Peace Conference represented the most ambitious effort so far made to extend the method of international organisation into the sphere of political relations among the states"—(*Schuman*). Discuss this statement with special reference to the work of the League in the sphere of international peace. (Agra Uni. 1955)
6. It was just as essential for the Peace Conference to solve the problem of minorities as it was to set up new nation states. (*Buell*) Why ? Discuss the methods adopted and the results achieved by the League of Nations for the protection of minorities in Europe. (Agra Uni. 1955)
7. Examine critically the reasons that led to the failure of the League of Nations. (Agra Uni. 1960)

---

६. वाल्टर एफ. पी. ए.—ए हिस्टरी ऑफ़ लीग ऑफ नेशन्स, खण्ड २, पृ० ८१२

तीसरा अध्याय

क्षतिपूर्ति, युद्धऋण और आर्थिक मन्दी

प्रथम विश्व-युद्ध न केवल संसार के राजनीतिक क्षेत्र, किन्तु आर्थिक क्षेत्र में भी एक भीषण भूकम्प था। इसमें इतनी अधिक सम्पत्ति का विनाश, कारखानों, नगरों और बस्तियों का विध्वंस तथा नरसंहार हुआ था कि इससे सब देशों की कृषि, उद्योग और व्यापार को बड़ा जबर्दस्त धक्का लगा. सारा आर्थिक जीवन बिल्कुल विशृंखलित, अस्तव्यस्त, अस्थिर और चौपट हो गया। अतः युद्ध के बाद सबसे बड़ी समस्या आर्थिक जीवन में सुस्थिरता और सुदृढ़ता लाने की थी। किन्तु अगले १४ वर्षों में इसमें सबसे बड़ी बाधा क्षतिपूर्ति (Reparations), युद्धऋण (War debts) और आर्थिक मन्दी (Economic depression) के भूकम्प थे। इन तीनों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो ताण्डव किया, उससे अनेक देशों में संसदीय सरकारों के उत्थान-पतन हुए, राजतन्त्र समाप्त हुए, लोकतन्त्र क्षीण हुए और तानाशाहों (Dictators) का उत्कर्ष हुआ। विश्व की राजनीति पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा।

क्षतिपूर्ति की समस्या का स्वरूप

प्रायः यह कहा जाता है कि "क्षतिपूर्ति का इतिहास युद्धोत्तर योरोप का इतिहास है।" अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी इस कथन में बहुत बड़ी सचाई है, क्योंकि १९३३ तक योरोपियन इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का इससे गहरा सम्बन्ध है। पहले अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि जर्मनी ने आत्मसमर्पण करने से पहले नागरिक सम्पत्ति को पहुँचाई क्षति की पूर्ति करना और इसका हर्जाना देना स्वीकार कर लिया था। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में यह निश्चय हुआ था कि पराजित राष्ट्र तीन प्रकार की क्षति की पूर्ति करेंगे—(१) नागरिक सम्पत्ति के विध्वंस और विनाश की, (२) व्यापारिक तथा अन्य जहाजों के नाश की. (३) युद्ध में मारे गये या घायल सैनिकों को तथा उनकी विधवाओं तथा आश्रितों को दिये जाने वाले भत्ते तथा पेंशनें। वर्साय की सन्धि में धारा २३१ तथा २३२ में जर्मनी को सब प्रकार की नागरिक सम्पत्ति के विध्वंस का उत्तरदायी ठहराते हुए उससे क्षतिपूर्ति की राशि वसूल करने की व्यवस्था की गई थी, पर इसकी कोई राशि निश्चित नहीं की गई थी, यह कार्य **क्षतिपूर्ति आयोग** (Reparations Commission) को सौंपते हुए मई १९२१ तक अन्तरिम व्यवस्था के रूप में पांच अरब डालर देने की व्यवस्था की थी। २७ अप्रैल, १९२१ को आयोग ने जर्मनी द्वारा दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की कुल राशि व्याज सहित ३२ अरब डालर निश्चित की। यह राशि शान्ति-सम्मेलन में अर्थ विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तावित राशि से तिगुनी थी। इसे अदा करने के बारे में लन्दन में यह तय हुआ कि जर्मनी नकद रूप में

५० करोड़ डालर की निश्चित वार्षिक किश्तें (Annuities) दे तथा इसके लिए अपने निर्यात व्यापार का २६% तथा कोयला आदि अन्य वस्तुओं की बड़ी मात्रायें प्रदान करे। जर्मन सरकार इतनी बड़ी राशि अदा करने को तैयार न थी, किन्तु मित्रराष्ट्रों द्वारा जर्मन उद्योगों के प्रधान केन्द्र रूर पर सैनिक अधिकार करने की धमकी से विवश होकर जर्मनी ने इसे देना स्वीकार कर लिया (११ मई, १९२१)। जर्मनी से प्राप्त होने वाली हर्जाने की यह रकम स्पा (Spa) सम्मेलन (५ से १६ जुलाई, १९२०) में मित्र-राष्ट्रों ने आपस में निम्नलिखित अनुपात में बाँटना तय किया—फ्रांस ५२%, ग्रेट ब्रिटेन २२%, इटली १०%, बेल्जियम ८%, यूनान, रूमानिया, यूगोस्लाविया ६·५%, जापान और पुर्तगाल १·५%।

जर्मनी की कठिनाइयां—क्षतिपूर्ति की उपर्युक्त विशाल राशि को यथासमय और पूरी मात्रा में अदा करना कई कारणों से जर्मनी के लिए असम्भव था। पहला कारण जर्मनी की आर्थिक कठिनाइयां थीं। वह इस राशि को दूसरे देशों को तीन प्रकार से चुका सकता था—सोने, माल और सेवाओं (Services) के रूप में। (१) युद्ध का भारी व्यय वहन करने के बाद इतनी विशाल राशि को चुकाने के लिए आवश्यक स्वर्णराशि का जर्मनी के पास सर्वथा अभाव था। इसे प्राप्त करने के लिए वह दो उपाय बरत सकता था, पहला उपाय विदेशों से ऋण प्राप्त करना था तथा दूसरा आयात की अपेक्षा निर्यात व्यापार का बढ़ाना था। उस समय जर्मनी को ऋण देने की सामर्थ्य संयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त अन्य किसी देश में नहीं थी, अमेरिका भी ऐसे हारे हुए, साख-रहित देश को कर्ज़ देने के लिए तैयार नहीं था। दूसरा उपाय यह था कि वह निर्यात व्यापार को बढ़ा कर प्राप्त की गई विदेशी मुद्रा से हर्जाने की राशि अदा करे। यह भी जर्मनी के लिए सम्भव नहीं था, क्योंकि इसके लिए यह आवश्यक था कि वह अपने कारखानों में खूब माल तैयार करे और उन्हें विदेशों में बेचने के लिए भेजे तथा विदेशों से बहुत कम माल मँगाये। वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी के अनेक औद्योगिक प्रदेश तथा उसके कच्चे माल का स्रोत तथा तैयार माल को खरीदने वाले उपनिवेश उससे छीन लिये गये थे (देखिये ऊपर पृ० २१)। इसलिए युद्ध के बाद वास्तविक स्थिति यह थी कि उसे अपने उद्योगधन्धों को चलाने के लिए विदेशों से अधिक माल मँगाना पड़ता था। अतः उसके लिए निर्यात व्यापार बढ़ाकर विदेशी मुद्रा या स्वर्ण प्राप्त करना सम्भव नहीं था। इसके विपरीत प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन से उसकी स्वर्ण राशि घट रही थी। (२) अदायगी का दूसरा प्रकार माल के रूप में अर्थात् कोयला, लोहा, लकड़ी, विविध प्रकार के खनिज, जहाज, कल-कारखानों की मशीनें आदि देकर क्षतिपूर्ति की राशि को चुकाना था। जर्मनी ने इस प्रकार की कुछ अदायगी की, पर यह मित्रराष्ट्रों के उद्योगधन्धों तथा आर्थिक जीवन के लिए बहुत घातक और घाटे का सौदा था। उदाहरणार्थ ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मन पनडुब्बियों द्वारा नष्ट किये गए जहाजों के नुकसान के बदले जर्मनी के जहाज लिए, किन्तु इससे ब्रिटिश जहाज निर्माण के उद्योग को बड़ा धक्का पहुँचा। इसी प्रकार अन्य देशों में भी जर्मनी से क्षतिपूर्ति के बदले में आया सामान सस्ता बिकने लगा, इससे उन देशों के उद्योगों को बड़ी हानि पहुँची। अतः इन देशों ने माल के रूप में हर्जाना वसूल करने का विरोध

किया। (३) तीसरा प्रकार सेवाओं के रूप में हर्जाना अदा करना था। यह जर्मनी मुख्य रूप से अपने जहाजों द्वारा दूसरे देशों की माल की ढुलाई द्वारा कर सकता था। मित्र-राष्ट्रों द्वारा बड़ी संख्या में उसके व्यापारिक जहाज छीन लिए जाने से यह उपाय भी उसके लिए सम्भव न था।

जर्मनी द्वारा हर्जाने की अदायगी में एक दूसरा बाधक कारण जर्मनी से पूंजी का बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों में जाना था। जर्मन पूंजीपतियों को यह आशंका थी कि यदि उनकी पूंजी जर्मनी में रही तो हर्जाना वसूल करने के लिए इस पर अधिक से अधिक टैक्स लगा दिया जायगा, इसे सुरक्षित रखने की दृष्टि से उन्होंने इसे दूसरे देशों में लगाना शुरू किया। पूंजी की कमी का वित्तीय व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा, राष्ट्रीय बजट में घाटा होने लगा। इसे पूरा करने के लिए जब पत्रमुद्रायें और नोट छापे जाने लगे तो स्वभावतः जर्मन सिक्के मार्क का दाम गिरने लगा। तीसरा बाधक कारण जर्मनी में अदायगी की इच्छा का अभाव था। जर्मन उद्योगपति अदायगी के विरोधी थे और इस विषय में सरकार को सहयोग नहीं दे रहे थे।

उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी जर्मनी ने पहली छमाही की पूरी किश्त २५ करोड़ डालर लन्दन के कुछ बैंकों की सहायता से अदा की। किन्तु इस बीच में जर्मन सिक्के मार्क का मूल्य गिरने से बड़ी विषम आर्थिक स्थिति उत्पन्न हो गई, १९२० के मध्य तक यह स्थिति हो गई थी कि पहले एक पौंड की विनिमय दर २० मार्क थी अब २५० मार्क हो गई। नवम्बर, १९२१ में यह १००० मार्क हो गई, १९२२ की गर्मियों में २५०० मार्क। इस शोचनीय स्थिति में जर्मनी ने जुलाई १९२२ में मित्रराष्ट्रों से यह प्रार्थना की कि वे उसे अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए जनवरी १९२५ तक नकद किश्तों की अदायगी स्थगित करने (Moratorium) की सुविधा प्रदान करें।

ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का मतभेद

इस प्रश्न पर विचार करने के लिए जनवरी, १९२२ में कान (Cannes) में तथा अप्रैल, १९२२ में जेनीवा में सम्मेलन बुलाए गए। इनमें अदायगी को स्थगित करने तथा जर्मनी से क्षतिपूर्ति की वसूली के सम्बन्ध में दोनों देशों के उग्र मतभेद प्रकट हुए। यह इन देशों की तात्कालिक परिस्थितियों पर आधारित थे। युद्ध की समाप्ति के कुछ समय बाद तक ग्रेट ब्रिटेन में योरोपियन देशों के माल की माँग अधिक होने से उद्योग-धन्धों में खूब तेजी आई, किन्तु १९२० तक यह समाप्त हो गई, निर्यात व्यापार पचास फीसदी कम हो गया, माँग कम होने से कारखाने बन्द होने लगे, बेकारी बढ़ने लगी। युद्ध से पहले जर्मनी ग्रेट ब्रिटेन के माल का सबसे बड़ा ग्राहक था, अतः ब्रिटेन का आर्थिक संकट दूर करने के लिए यह आवश्यक था कि जर्मनी का आर्थिक संकट दूर करके उसे समृद्ध बनाया जाय। जर्मनी योरोप का सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण औद्योगिक देश था, उसकी दशा सुधारने से ही ब्रिटिश व्यापार तथा उद्योगों की उन्नति सम्भव थी, अतः ग्रेट ब्रिटेन का यह मत था कि हर्जाने की रकम वसूल करने से पहले उसकी आर्थिक दशा को सुदृढ़ बनाना आवश्यक है। उसे जर्मन बेड़ा नष्ट कर दिया जाने से किसी प्रकार के आक्रमण

की आशंका भी नहीं थी, अतः वह जर्मनी के प्रति उदार एवं मृदुनीति का पक्षपाती था।

इसके सर्वथा विपरीत फ्रांस हर्जाने की रकम पूरी कठोरता से वसूल करना चाहता था, क्योंकि युद्ध में १३ अरब वर्गमील का उत्तर-पश्चिमी फ्रेंच प्रदेश बुरी तरह विध्वस्त हो चुका था, फ्रांस की प्रधान आर्थिक समस्या इसके पुनःनिर्माण की थी। १९२२ तक वह इस कार्य में तथा पेंशन में साढ़े सात अरब डालर व्यय कर चुका था, वह इस राशि को जर्मनी से वसूल करने की आशा रखता था। इसके अतिरिक्त वह जर्मनी पर बहुत अधिक आर्थिक बोझ डालकर उसे इतना पंगु और निर्बल बनाना चाहता था कि भविष्य में वह कभी फ्रांस पर आक्रमण का दुःसाहस न कर सके। इसलिए वह हर्जाने की रकम के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की रियायत का घोर विरोधी था। तत्कालीन फ्रेंच प्रधानमन्त्री प्वायन्कारे (Poincare) इसी पक्ष का था। उसका यह कहना था कि जर्मनी हर्जाने की रकम न देने के लिए बहाने बना रहा है, उसको नकद अदायगी स्थगित करने की अनुमति केवल इसी शर्त पर दी जानी चाहिए कि फ्रांस उसके कारखानों, खानों तथा राइन प्रदेश में रंग बनाने के कारखानों पर अधिकार कर ले और उत्पादित माल से हर्जाना वसूल करे, यही उसकी **उत्पादक गारण्टी** (Productive guarantees) कहलाती हैं। यदि जर्मनी ऐसा वचन न दे और अदायगी भी न करे तो क्षतिपूर्ति आयोग (Reparations Commission) को वर्साय की सन्धि के अनुसार मित्रराष्ट्रों की सेनाओं को जर्मनी के औद्योगिक केन्द्रों पर अधिकार करने की अनुमति देनी चाहिए।

फ्रांस के सौभाग्य से इस समय सं० रा० अमेरिका सीनेट द्वारा वर्साय की सन्धि स्वीकृत न होने के कारण क्षतिपूर्ति आयोग से पृथक् हो चुका था, अन्य सदस्यों में इटली और बेल्जियम फ्रांस के साथ थे। अतः फ्रांस ने टेलीफोन के खम्भों के लिए जर्मनी से इमारती लकड़ी की अदायगी न होने पर २६ दिसम्बर को क्षतिपूर्ति आयोग की बैठक में जर्मनी को राशि अदा न करने वाला (Defaulter) घोषित करने का प्रस्ताव किया। ब्रिटिश प्रतिनिधि सर जान ब्रैडबरी ने इसका तीव्र विरोध करते हुए कहा—"ट्राय को लकड़ी के घोड़े से हराने के बाद यह लकड़ी का सबसे बड़ा दुरुपयोग है।" किन्तु सभापति के निर्णायक मत से, क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी को नियत राशि न चुकाने वाला माना और परिणामस्वरूप फ्रेंच, बेल्जियम और इटालियन सेनाओं ने जनवरी, १९२३ में डार्टमुंड (Dortmund) के पूर्व तक रूर के प्रदेश पर अधिकार कर लिया।

रूर पर अधिकार—यद्यपि सेनाओं द्वारा अधिकृत प्रदेश केवल ६० मील लम्बा और २८ मील चौड़ा था, किन्तु यह जर्मनी का सबसे बड़ा औद्योगिक केन्द्र था, इसमें सारे देश का ८० फीसदी कोयला, लोहा और फौलाद उत्पन्न होता था, ७० प्रतिशत रेलवे माल की ढुलाई इस क्षेत्र में होती थी। फ्रांस इस छोटे से किन्तु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रदेश पर अधिकार करके जर्मनी को हर्जाने की रकम अदा करने के लिए बाधित करना चाहता था, और यहां के कारखानों की आय से इस राशि की पूर्ति के लिए उत्सुक था।

तत्कालीन जर्मन प्रधानमंत्री कूनो (Cuno) ने इस योजना को विफल बनाने के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive Resistance) और असहयोग की नीति अपनायी। उसने इस प्रदेश के जर्मन लोगों को फ्रेंच सेनाओं को कोई सहयोग न देने,

खानों, कारखानों, रेलों तथा उद्योगधन्धों में अपना काम छोड़ने, कोई कर या टैक्स अदा न करने का आदेश दिया, इस प्रकार बेकार होने वाले व्यक्तियों को आर्थिक सहायता देने की घोषणा की। उसका यह प्रयत्न था कि इस प्रदेश के उद्योगधन्धे बिल्कुल ठप्प हो जायं, इनसे फ्रांस को एक पाई भी न मिले, सेना रखने के भारी व्यय से और दिवालिया होने के डर से फ्रांस को अपनी सेनायें यहां से हटाने को विवश होना पड़ा।

जर्मन जनता ने एकमत होकर सरकार को सहयोग दिया। एक जर्मन का यह कथन था—"दो व्यक्तियों ने जर्मनी को एक बनाया है—१८७१ में बिस्मार्क ने और १९२३ में प्वायंकारे (Poincare) ने।" जर्मनी में सत्याग्रह का परीक्षण यहां तक सफल हुआ कि कड़ी सैनिक आज्ञाओं के बावजूद रेलें चलना बन्द हो गयीं, खानों और कारखानों में उल्लू बोलने लगे, सैनिक आज्ञाओं को भंग करके जेल जाना गौरव-पूर्ण समझा जाने लगा। जर्मन सरकार ने हर्जाने की रकम देना बन्द कर दिया। फ्रांस ने यद्यपि अपनी सेनाओं द्वारा खानों और कारखानों को चालू करना चाहा, पर उसके लिए जर्मन मशीनों को पूरी दक्षता के साथ चलाना सम्भव नहीं था, फ्रांस को १९२३ में पहले वर्षों की अपेक्षा केवल चौथाई कोयला ही मिला।

यह स्पष्ट था कि फ्रांस के लिए यह सौदा महँगा पड़ रहा था, किन्तु जर्मनी को यह इससे भी महँगा पड़ा। रूर में काम छोड़ने वाले मजदूरों, खनिकों, रेलवे कर्मचारियों को वेतन देने की जिम्मेदारी जर्मन सरकार ने अपने पर ले ली थी। इसे उसने बहुत बड़ी संख्या में मार्क के नोट छाप कर पूरा किया। उसकी ९० फीसदी आय नोटों के मुद्रण से होती थी। इसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम मार्क के मूल्य का गिरना और भीषण महँगाई थी। नवम्बर, १९२३ में एक डालर का मूल्य ४० खरब मार्क हो गये, जबकि पहले केवल ४·२ मार्क थे। वस्तुओं के मूल्य इतने बढ़ गये कि सप्ताह भर की मजदूरी से एक समय का भोजन तो क्या एक डबल रोटी भी नहीं खरीदी जा सकती थी। इस मूल्यवृद्धि से लोगों की बैंकों में जमा पूंजी की, बाण्डों और शेयरों की कोई कीमत नहीं रही, निश्चित वेतन पाने वालों का जीवन निर्वाह असम्भव हो गया। रूर से आने वाले माल पर पाबन्दी होने से उस पर आश्रित जर्मनी के अन्य भागों के कारखाने बन्द होने से बेकारी बढ़ने लगी। जर्मनी में इतना अधिक असन्तोष बढ़ा कि कूनो मंत्रिमंडल का पतन हो गया (१२ अगस्त, १९२३)। गुस्टाव स्ट्रैसमान ने नया मंत्रिमंडल बनाया, २६ सितम्बर को निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति के परित्याग की घोषणा की, हर्जाने की रकम देना सिद्धान्त रूप में तो स्वीकार किया किन्तु इस विषय में उसकी क्षमता की जांच के लिए एक आयोग स्थापित करने की प्रार्थना की।

इस प्रकार ऊपरी दृष्टि से फ्रांस और प्वायंकारे की विजय हुई, वस्तुतः यह उसकी हार थी। इसने ग्रेट ब्रिटेन के साथ उसके सम्बन्धों में बड़ा तनाव पैदा कर दिया था, फ्रांस के कठोर व्यवहार से विश्व का निष्पक्ष लोकमत उसका विरोधी तथा जर्मनी के साथ सहानुभूति रखने वाला हो गया, जर्मनी की अदायगी बन्द होने तथा फ्रांस के प्रति अविश्वास से उसके सिक्के फ्रांक का मूल्य गिर गया।

डावेस योजना (Dawes Plan)

क्षतिपूर्ति आयोग ने जर्मनी के हर्जाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए अमेरिकन वित्त विशारद जनरल चार्ल्स डावेस की अध्यक्षता में इंगलैंड, फ्रांस, बेल्जियम और इटली के विशेषज्ञों की एक समिति बनायी। इसने ९ अप्रैल, १९२४ को अपनी रिपोर्ट में निम्न सिफारिशें कीं—(१) रूर के प्रदेश से फ्रेंच सेनाएं हटा ली जायं, (२) जर्मनी अपनी आय के कुछ स्रोत शराब, तम्बाकू, चीनी, सीमा कर की आमदनी, रेलवे बोर्ड कर, यातायात कर, क्षतिपूर्ति की राशि की अदायगी के लिए सुरक्षित रखे, (३) प्रतिवर्ष दी जाने वाली राशि पहले साल २५ करोड़ डालर हो किन्तु चार वर्ष में बढ़ते हुए ६२½ करोड़ हो जाय, (४) भविष्य में अदायगी की राशि जर्मन समृद्धि के सूचक अंकों के अनुसार हो। ये अंक १९२७ से १९२९ तक की आर्थिक समृद्धि के आधार पर निश्चित हों, (५) जर्मनी की वित्तीय व्यवस्था सुदृढ़ करने के लिए २० करोड़ डालर का विदेशी ऋण दिया जाय, (६) सात जर्मन तथा सात विदेशी अर्थशास्त्रियों के एक अन्तर्राष्ट्रीय मण्डल के आधीन एक केन्द्रीय बैंक (Reichsbank) स्थापित किया जाय, पत्रमुद्रा प्रसारित करने का एकमात्र अधिकार इस बैंक को हो। इस योजना को जर्मनी ने फौरन स्वीकार कर लिया, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और बेल्जियम भी इससे सहमत थे, उग्रतावादी प्वायंकारे के पतन के बाद उदार फ्रेंच प्रधानमंत्री एरियो (Herriot) ने भी इसे मान लिया। रूर को फ्रेंच फौजों ने खाली करना शुरू कर दिया, १ सितम्बर, १९२४ से डावेस योजना लागू हो गयी।

डावेस योजना की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर राजनैतिक नहीं, किन्तु आर्थिक दृष्टिकोण से विचार किया। जर्मनी के लिए विदेशी ऋण की व्यवस्था, वार्षिक किश्तों का जर्मनी की आर्थिक दशा और अदा करने की सामर्थ्य से सम्बद्ध करना, तथा आय के कुछ स्रोतों को हर्जाने की राशि के लिए सुरक्षित रखने की व्यवस्था जर्मनी के आर्थिक जीवन की अस्थिरता दूर करने में बहुत सहायक सिद्ध हुई, अब अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन की पूंजी बड़ी मात्रा में जर्मनी में आने लगी, उद्योग-धन्धों के विकास में तथा व्यापार-वाणिज्य में तेजी आने लगी।

किन्तु डावेस योजना में उपर्युक्त गुण होते हुए कुछ दोष भी थे। इसमें वार्षिक किश्तों की मात्रा तय करते हुए भी यह निश्चित नहीं किया गया था कि जर्मनी ये किश्तें कब तक देता रहेगा, इस अवस्था में जर्मनी में बचत के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं था: इसमें जर्मनी द्वारा दी जाने वाली कुल राशि का निश्चय नहीं किया गया था, क्षतिपूर्ति कमीशन द्वारा निश्चित की गई राशि अदा करने की क्षमता जर्मनी में नहीं थी। डावेस योजना ने जर्मनी के आर्थिक जीवन पर विदेशी प्रभुत्व बढ़ा दिया था, राइन प्रदेश में मित्रराष्ट्रों की सेनायें अभी तक विद्यमान थीं। इन सब कारणों से क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर पुनर्विचार की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। इसके लिए अमेरिकन वित्त विशेषज्ञ ओवन डी. यंग की अध्यक्षता में बनाई गई एक कमेटी ने ११ फरवरी, १९२९ से पेरिस में इस समस्या को सुलझाना शुरू किया, इसने ७ जून, १९२९ को इस विषय पर अपनी

रिपोर्ट दे दी। यह इसके अध्यक्ष के नाम पर यंग योजना कहलाती है।

यंग योजना (Young Plan)

इसकी मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित थीं—(१) जर्मनी के हर्जाने की कुल राशि ९ अरब डालर कर दी गई, पहले यह ३३ अरब डालर थी, (२) वार्षिक किश्तों की मात्रा घटा दी गई और संख्या निश्चित कर दी गई। १९८८ ई० तक जर्मनी ने कुल ५८$\frac{1}{2}$ किश्तों में यह राशि अदा करनी थी। पहली ३७ किश्तें ५१ करोड़ डालर की तथा पिछली २२ किश्तें ३९ करोड़ डालर की निश्चित की गयीं। यदि भविष्य में कभी जर्मनी में आर्थिक संकट उत्पन्न हो तो भी अपने राष्ट्रीय बजट और रेलों के कर से १६$\frac{1}{2}$ करोड़ डालर देना उसके लिए अनिवार्य बना दिया गया, (३) क्षतिपूर्ति आयोग को समाप्त कर दिया गया, (४) क्षतिपूर्ति की राशि की वसूली के लिए १ करोड़ डालर की पूंजी से बाजेल (Basle) में अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब साफ करने वाले बैंक (Bank for International Settlements) बनाया गया, इसका कार्य जर्मनी से हर्जाने की राशि मार्कों में लेकर उसे दूसरे देशों को प्रदान करना था। इसका एक बड़ा लाभ यह था कि पहले विदेशी मुद्रा में भुगतान करने के लिए जर्मनी को निर्यात व्यापार बढ़ाकर इसका उपार्जन करना पड़ता था, अब इस बैंक के स्थापित होने पर इसकी आवश्यकता नहीं रही।

यंग योजना ने क्षतिपूर्ति आयोग के तथा अन्य विदेशी प्रभावों को समाप्त कर जर्मनी को आर्थिक क्षेत्र में पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की। क्षतिपूर्ति की राशि को घटाकर तथा वार्षिक किश्तों को घटाकर जर्मनी के आर्थिक बोझ को भी कम किया। इस योजना को महाशक्तियों ने विचार-विमर्श के बाद हेग के सम्मेलन में जनवरी १९३० में स्वीकार कर लिया और राइन प्रदेश से जून १९३० तक मित्रसेनायें हटाने का निर्णय किया, फ्रांस को सन्तुष्ट रखने के लिए यह व्यवस्था की गई कि यदि भविष्य में जर्मनी जान-बूझ कर हर्जाने की रकम अदा नहीं करेगा तो यह विषय हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में लाया जा सकेगा, और यदि न्यायालय जर्मनी को ऐसा घोषित करेगा तो मित्रराष्ट्रों को इस विषय में कार्यवाही करने की पूरी स्वतन्त्रता होगी।

क्षतिपूर्ति के प्रश्न की समाप्ति—यह समझा जाता था कि यंग योजना हर्जाने की रकम के सम्बन्ध में अन्तिम समझौता है, इससे यह समस्या पूरी तरह हल हो गई है। यह योजना अगले वर्षों में होने वाले विश्व के व्यापार के विस्तार पर आधारित थी। किन्तु १९२९ से प्रारम्भ होने वाली विश्वव्यापी मन्दी ने इसे खण्डित कर दिया। अब तक जर्मनी हर्जाने की रकम विदेशों से कर्ज लेकर चुका रहा था, ब्रिटिश तथा अमेरिकन पूंजीपति जर्मन उद्योगों के पुनर्निर्माण में खूब पूंजी लगा रहे थे। मन्दी शुरू हो जाने से विदेशी पूंजी का यह स्रोत सूखने लगा। जर्मनी को अब ये किश्तें अपने साधनों से पूरा करने को बाधित होना पड़ा, मन्दी और बेकारी बढ़ने के कारण जर्मनी के लिए हर्जाने की अदायगी असम्भव हो गई। अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर के सुझाव पर १ जुलाई, १९३१ से १ वर्ष के लिए सब हर्जानों की अदायगी स्थगित कर दी गई। किन्तु एक वर्ष के बाद भी जर्मनी की आर्थिक परिस्थितियों में कोई सुधार नहीं हुआ। अब इस समस्या

का अन्तिम समाधान करने के लिए १९३२ में लोज़ान में एक सम्मेलन बुलाया गया, वहां नौ जुलाई को यह समझौता किया गया कि हर्जाने देने की यंग योजना को रद्द कर दिया जाय, और इसके बदले जर्मनी केवल योरोप के पुनर्निर्माण की एक निधि में ७५ करोड़ डालर की राशि प्रदान करे। जर्मनी में इसी समय हिटलर का उत्कर्ष हो रहा था, उसने यह राशि देने से बिल्कुल इन्कार कर दिया।

उपर्युक्त विवरण से कई परिणाम स्पष्ट हैं—(१) जर्मनी से माँगी जाने वाली हर्जाने की राशि निरन्तर कम होती चली गई। १९२१ में मित्रराष्ट्र ५६$\frac{१}{२}$ अरब डालर वसूल करना चाहते थे, क्षतिपूर्ति आयोग ने इसे ३३ अरब निश्चित किया, यंग योजना ने इसे घटाकर ९ अरब डालर ही रहने दिया, और लोज़ान सम्मेलन में यह केवल ७५ करोड़ डालर ही रह गई और इसके भी वसूल होने की कोई संभावना नहीं थी। (२) जर्मनी ने मित्रराष्ट्रों को इस सारे समय में ५,३९,६२,५०,००० डालर अदा किये और यह भी सं० रा० अमेरिका तथा अन्य देशों से उधार लेकर दिये। (३) हर्जाने की राशि का निरन्तर कम किया जाना यह स्पष्ट करता है कि इस विषय में फ्रांस का दृष्टिकोण बड़ा अवास्तविक था और ग्रेट ब्रिटेन का बड़ा वास्तविक और यथार्थ।

इस समस्या ने योरोप की राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर भी अनेक प्रभाव डाले। **पहला** प्रभाव ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस में मतभेद और मनोमालिन्य की वृद्धि था, इससे दोनों देश जर्मनी के प्रति विभिन्न प्रकार की परस्पर विरोधी, उदार एवं कठोर नीतियों का अनुसरण करने लगे, वर्साय की संधि को पूरी तरह लागू नहीं किया जा सका और जर्मनी को पुनरुत्थान का अवसर मिला। **दूसरा** प्रभाव यह था कि इस समस्या के कारण जर्मनी और फ्रांस में समझौता असम्भव हो गया, योरोप में असुरक्षा की स्थिति बनी रही, फ्रांस ने इसे दूर करने के लिए अनेक देशों के साथ संधियां कीं। **तीसरा** प्रभाव यह था कि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने हर्जाने के प्रश्न को अमेरिका से युद्ध के समय लिये गये ऋणों के साथ सम्बद्ध करके सं० रा० अमेरिका को रुष्ट कर दिया, उसकी पार्थक्य (Isolation) की नीति को पुष्ट किया। **चौथा** प्रभाव यह था कि फ्रांस की आशाओं के सर्वथा विपरीत ये हर्जाने अन्ततोगत्वा जर्मनी को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने में सहायक हुए। फ्रांस जर्मनी से इतनी भारी राशि वसूल करके उसे बिल्कुल पंगु बनाना चाहता था, किन्तु डावेस योजना के बाद जर्मनी को अपने उद्योग-धन्धों के विकास के लिए अमेरिकी पूंजी प्रभूत मात्रा में मिली, इनसे उसने अपनी औद्योगिक क्षमता और युद्ध-सामग्री उत्पादन करने का सामर्थ्य इतना अधिक बढ़ा लिया कि १९३९–४० में योरोप का कोई राष्ट्र उसके मुकाबले में नहीं टिक सका। **पांचवां** प्रभाव यह था कि क्षतिपूर्ति और अन्त:मित्रराष्ट्रीय ऋणों का जर्मनी ने बड़ा कूटनीतिक लाभ उठाया, इससे उसके तीनों प्रधान शत्रुओं में मतभेद उत्पन्न हो गये, उसने इंगलैण्ड तथा अमेरिका के सहयोग से अपनी अभूतपूर्व औद्योगिक उन्नति की।

अन्त:मित्रराष्ट्रीय युद्धऋण (Inter-Allied War Debts)—हर्जाने के साथ ही इस समय इन ऋणों का प्रश्न भी राजनीतिज्ञों के लिए एक जटिल समस्या बना हुआ था। युद्ध के समय सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन ने अन्य मित्रराष्ट्रों को लड़ाई का

व्यय चलाने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में ऋण प्रदान किया। युद्ध समाप्त होने पर सं० रा० अमेरिका के अतिरिक्त सभी देश कर्जदार हो गये। उसने ग्रेट ब्रिटेन से ९२ करोड़ पौण्ड, फ्रांस से ८० करोड़ पौण्ड, अन्य देशों से ६० करोड़ पौण्ड, इस प्रकार कुल २ अरब ३२ करोड़ ५० लाख पौण्ड का ऋण लेना था। वह इस समय सबसे बड़ा महाजन था। दूसरा बड़ा महाजन तथा अमेरिका का कर्जदार ग्रेट ब्रिटेन था, उसने फ्रांस से ६० करोड़ पौण्ड, रूस से ७८ करोड़ ३० लाख पौण्ड तथा अन्य देशों से ८० करोड़ पौण्ड की, तथा इसी प्रकार अन्य देशों से २ अरब १८ करोड़ ३० लाख की राशि लेनी थी। फ्रांस ने भी १० करोड़ पौण्ड अन्य देशों से लेना था। युद्ध के समय में विभिन्न मित्रराष्ट्रों द्वारा एक-दूसरे को दिये गये ऋण ही अन्तःमित्रराष्ट्रीय ऋण कहलाते हैं।

इनको चुकाने के सम्बन्ध में फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमेरिका के दृष्टि-कोण में मौलिक अन्तर था। फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन इन ऋणों को रद्द करने के पक्ष में थे। उनकी दृष्टि में इनका न चुकाना "नैतिक दृष्टि से उचित और आर्थिक दृष्टि से उप-योगी" था। ये ऋण व्यापारिक नहीं, किन्तु राजनीतिक थे। जर्मनी को हराने के लिए लिये गये थे। सं० रा० अमेरिका युद्ध में बहुत बाद में आया था, उसे अन्य मित्रराष्ट्रों जैसी जन-धन की भीषण क्षति नहीं उठानी पड़ी, ये ऋण वस्तुतः युद्ध जीतने में उसका अंशदान समझे जाने चाहियें। फ्रांस ने यह तर्क उपस्थित किया कि युद्ध में सबसे अधिक क्षति उसको उठानी पड़ी है, अतः उससे युद्धऋण नहीं वसूल किया जाना चाहिये, वह उन्हें उसी दशा में अदा कर सकता है, जब कि उसे जर्मनी से हर्जाने की राशि मिले। इसी प्रकार इंगलैण्ड ने भी १९२२ के सुप्रसिद्ध बाल्फोर नोट (Balfour Note) में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि वह जर्मनी द्वारा दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की राशि से तथा अपने अन्य कर्जदारों द्वारा वसूल होने वाले ऋणों से ही सं० रा० अमेरिका का कर्ज अदा कर सकता है। इस प्रकार दोनों देश इन ऋणों का सम्बन्ध हर्जाने की रकम से जोड़ते थे और सामान्यतः इन ऋणों को रद्द करने के पक्ष में थे, इन्हें उसी हद तक चुकाना चाहते थे जहां तक वे जर्मनी से हर्जाने की रकम वसूल कर सकते हैं।

इसके सर्वथा विपरीत सं० रा० अमेरिका का यह कहना था कि युद्धऋणों का हर्जाने की रकम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि वे जर्मनी से अधिक से अधिक राशि वसूल करना चाहते हैं तो सं० रा० अमेरिका को अपने कर्ज क्यों नहीं लौटाते। फ्रांस तथा ग्रेट ब्रिटेन का यह कहना सत्य नहीं है कि यह धनराशि युद्ध जीतने के लिए ली गयी थी क्योंकि अधिकांश ऋण युद्ध-समाप्ति के बाद, अनाज खरीदने के लिए, पुराने कर्जे चुकाने के लिए तथा फ्रेंच फ्रांक और ब्रिटिश पौण्ड के मूल्य में स्थिरता बनाये रखने की दृष्टि से लिये गये थे। सं० रा० अमेरिका ने योरोप में अमेरिकी सेना के लिए जो सामान और सेवायें ली थीं, उनका दाम मित्रराष्ट्रों को नकद चुकाना था, इसी प्रकार मित्रराष्ट्रों ने अपनी सेना के लिए जो सामग्री सं० रा० अमेरिका से खरीदी, उसका नकद दाम उन्हें चुकाना चाहिये। इन ऋणों को रद्द करने का परिणाम अमेरिकी करदाताओं पर योरोप के युद्ध का अनुचित भार डालना होगा। अतः ऋण अवश्य लौटाये जाने चाहियें।

१९२२ में सं० रा० अमेरिका ने योरोपियन राष्ट्रों की आर्थिक कठिनाइयों का अनुभव करते हुए यह निश्चय किया कि प्रत्येक ऋणी राष्ट्र से उसकी 'अदा कर सकने की क्षमता' (Capacity to pay) के सिद्धान्त के आधार पर ही उससे कर्ज वसूल किया जाय और इसके लिए एक **विश्व-युद्ध विदेशी ऋण आयोग** (World War Foreign Debt Commission) नियत किया। १९२२ से १९२९ तक इस आयोग द्वारा उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न देशों के साथ मूलधन और व्याज में भारी कमी करते हुए ६२ किश्तों में इन ऋणों को वसूल करने के अनेक समझौते किये गये। ग्रेट ब्रिटेन के ऋण को १९.७%, फ्रांस के ऋण को ५२.८%, इटली के ऋण को ७५.४% घटा दिया गया।

मित्रराष्ट्रों ने बड़ी अनिच्छापूर्वक जर्मनी से अदा होने वाले हर्जाने के आधार पर सं० रा० अमेरिका को युद्धऋण चुकाना शुरू किया, किन्तु विश्वव्यापी भीषण मन्दी ने १९३१ में इनकी अदायगी असम्भव कर दी, अमेरिकन राष्ट्रपति हर्बर्ट हूवर ने १ जुलाई, १९३१ से एक वर्ष के लिए इनकी अदायगी स्थगित (Moratorium) कर दी। किन्तु इस अवधि के समाप्त होने पर भी आर्थिक मन्दी जारी रहने के कारण इस समस्या पर विचार के लिए लोज़ान में १६ जून, १९३२ को ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, इटली, जापान, जर्मनी के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुलाया गया। इसने यंग योजना द्वारा निश्चित जर्मनी की क्षतिपूर्ति की राशि में भारी कमी करते हुए इस आशा में उसे केवल ३ प्रतिशत ही रहने दिया कि सं० रा० अमेरिका भी युद्ध ऋणों के सम्बन्ध में ऐसी उदारता का परिचय देगा।

किन्तु सं० रा० अमेरिका इन ऋणों में पहले ही भारी कमी कर चुका था और क्षतिपूर्ति के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं मानता था। अतः उसने अब अधिक रियायत देने का विरोध किया। १५ दिसम्बर, १९३२ को अमेरिकी ऋण की किश्त अदा करने के समय केवल छः राज्यों—जैकोस्लोवाकिया, फिनलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन, इटली, लैटविया और लिथुआनिया ने ही अपनी किश्तें अदा कीं, फ्रांस, बेल्जियम, पोलैण्ड तथा अन्य देशों ने अपनी किश्तें नहीं दीं। १९३३ में ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य पांच राष्ट्रों ने सांकेतिक (Token) अदायगी के तौर पर थोड़ी सी राशि अदा की, फ्रांस ने अदा करने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। अगले वर्षों में अन्य राज्यों ने भी फ्रांस का अनुकरण किया। फिनलैण्ड ही सारा ऋण अदा करने वाला अकेला राज्य था। १९३७ तक सं० रा० अमेरिका को २२ अरब १८ करोड़ ८० हजार के कुल ऋण में से केवल २ अरब ७४ करोड़ ८८ लाख १५ हजार ४३२ डालर ही वसूल हुआ।

आर्थिक मंदी (Economic depression)—कारण

हर्जाने और युद्धऋणों की समस्या पर १९२९ की आर्थिक मन्दी के प्रभाव का पहले उल्लेख हो चुका है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा, इसे समझने के लिए इसके कारणों और स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है।

इसके कारणों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों तथा विद्वानों में बड़ा मतभेद है। यहां

उनके विस्तृत ऊहापोह में न जाते हुए इनका संक्षिप्त उल्लेख ही पर्याप्त है। इसका **पहला कारण** प्रथम विश्व-युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियां थीं। १९वीं शताब्दी की बड़ी तीन लड़ाइयों—नैपोलियन युद्धों (१७९५–१८१५), अमेरिकन गृहयुद्ध (१८६४), फ्रैंको प्रशियन युद्ध (१८७०) के कुछ समय बाद इसी प्रकार की मन्दियां आयी थीं। युद्ध के समय सैनिक आवश्यकताओं की माँग बढ़ जाने के कारण उद्योग-धंधों का असाधारण विस्तार होता है। बहुत से मनुष्यों के सैनिक कार्यों में लगे होने से मजदूरों की कमी हो जाती है, मजदूरी की दर, मुनाफे और रोजगार बढ़ जाते हैं, युद्ध की समाप्ति के बाद कुछ समय तो यह तेजी बनी रहती है, किन्तु उसके बाद मन्दी आ जाती है।[1] उद्योगों के लिए युद्ध कोरामीन के इंजेक्शन का कार्य करता है, इसका प्रभाव समाप्त होने पर मन्दी का आना अनिवार्य होता है। प्रथम विश्वयुद्ध में भी ऐसा ही हुआ, इसकी तेजी और चमक युद्ध-समाप्ति के बाद १० वर्ष तक रही और इसके बाद १९२९ से मंदी आने लगी। उदाहरणार्थ युद्ध में जहाजों की अधिक आवश्यकता होने से पोत निर्माण उद्योग में बड़ी तेजी आयी, पनडुब्बियों द्वारा नष्ट किये गये जहाजों की पूर्ति के लिए युद्ध के बाद भी यह उद्योग कुछ समय तक चलता रहा, किन्तु बाद में इनकी माँग कम हो जाने से इसमें मंदी आने लगी। **दूसरा कारण** यन्त्रों का अधिक प्रयोग और वैज्ञानिकीकरण (Rationalization) था। लड़ाई के समय रणक्षेत्रों में अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता के कारण मजदूरों की बड़ी कमी हो गयी, इसे दूर करने के लिए यन्त्रों की कार्यक्षमता बढ़ाने तथा उन्हें स्वयंचालित (Automatic) बनाने के प्रयत्न हुए और इनसे खेती और उद्योग में बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। पहले खेती के काम के लिए बड़ी संख्या में मजदूर आवश्यक थे, अब कृषि के विभिन्न कार्यों के लिये ट्रैक्टर आदि अनेक यन्त्र बन गये। १८५० में पश्चिमी जगत में खेती के एक मजदूर के पास लगभग १·५ हार्स पावर थी, १९१८ में २·०५ तथा १९३० में ६·७ हार्स पावर। इस प्रकार खेतिहर मजदूरों का स्थान कृषि के नये यन्त्रों ने ले लिया। उद्योग-धन्धों में स्वयंचालित यन्त्रों के प्रयोग का यह परिणाम हुआ कि १९१९ में एक मजदूर जो काम ५२ घण्टों में कर सकता था, वह १९३० में ३० घण्टों में करने लगा[2]: इन परिस्थितियों में बेकारी बढ़ना स्वाभाविक था। **तीसरा कारण** अधिक उत्पादन (overproduction) था, युद्ध के दिनों में वस्तुओं के दाम चढ़ने और मुनाफा और माँग अधिक होने के कारण कृषि और उद्योगों का उत्पादन बहुत बढ़ गया, नवीन यन्त्रों ने इसमें बड़ी सहायता की। युद्ध के बाद कुछ समय तक पुनर्निर्माण के लिए इन वस्तुओं की माँग बनी रही, किन्तु बाद में माँग न रहने पर भी जब उत्पादन बढ़ता चला गया तो बाजार अनाज और माल से भर गये, इनका कोई खरीदार न होने से मंदी का आना स्वाभाविक था। **चौथा कारण** क्रयशक्ति की कमी थी, यन्त्रों द्वारा अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में गेहूँ आदि के प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होने के कारण इसका दाम

---

१. जे० बी० कांडलिफ—वार एण्ड डिप्रैशन, पृ० ७

२. विलियम ग्रीन—थर्टी फोर आवर वीक, पृ० ३२

गिर गया, किसानों को अपनी पैदावार के पैसे कम मिले, अतः उनमें कारखानों का माल खरीदने की क्षमता घट गई, यही हाल नई मशीनों द्वारा बेकार हुए मजदूरों का था, उनकी क्रयशक्ति भी घट गई। इसने माल की माँग को घटाया और इससे कारखाने बन्द होने से बेकारी बढ़ी। **पांचवां कारण** दुनिया में सोने का विषम विभाजन और इसकी बड़ी मात्रा का अमेरिका में एकत्र हो जाना था। युद्ध से पहले अधिकांश देशों में स्वर्ण-मान (Gold Standard) प्रचलित था। युद्ध के समय विभिन्न देशों ने इसका परित्याग कर दिया। सोने की माँग न रहने से इसका दाम सस्ता तथा इसकी दृष्टि से वस्तुओं का दाम महँगा हो गया। १९२५ से विभिन्न देशों ने पुनः स्वर्णमान अपनाया किन्तु इस समय हर्जानों तथा युद्धऋणों के कारण आर्थिक परिस्थिति बड़ी जटिल थी, सब देशों का सोना सबसे बड़े महाजन अमेरिका की ओर प्रवाहित होने लगा। वस्तुओं का दाम गिरने पर स्वर्णमान वाले देशों को बड़ी कठिनाई हुई और इंगलैण्ड जैसे देश को भी स्वर्णमान का परित्याग करने के लिए विवश होना पड़ा। **छठा कारण** आर्थिक राष्ट्रीयता और आत्मनिर्भरता (Economic nationalism and selfsufficiency) के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रभावित होना था। इसने जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका जैसे औद्योगिक देशों की समृद्धि को क्षीण किया। पहले अन्य सभी देश इनका माल लेते थे, अब सब अपने यहां माल उत्पन्न करने और औद्योगिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने का प्रयत्न करने लगे, दूसरे देशों का माल अपने यहां आने से रोकने के लिए चुंगी की ऊँची दीवारें खड़ी करने लगे, नई मशीनों से काम लेने लगे। इससे इंगलैण्ड, अमेरिका जर्मनी के लिए अन्य देशों की मंडियां बन्द होने लगीं, परिणामतः इन देशों के कारखाने बन्द होने से बेकारी बढ़ी, मजदूरी की दर घटी। बेकारों को सहायता देने के लिए विभिन्न सरकारों को नये कर लगाने पड़े, इन करों के भार से पीड़ित उद्योग-धन्धों का दम घुटने लगा।

उपर्युक्त मौलिक कारणों के अतिरिक्त मन्दी का **तात्कालिक कारण** अक्टूबर १९२९ में न्यूयार्क के शेयर बाजार (Wall Street) का आर्थिक संकट था। इससे पहले तक अमेरिका के पूंजीपति जर्मनी आदि योरोपियन देशों के उद्योग-धन्धों में खूब पैसा लगा रहे थे, इससे जर्मनी अपनी औद्योगिक उन्नति तथा हर्जाने की अदायगी कर रहा था, अन्य योरोपियन देश इस हर्जाने से अमेरिका को अपना ऋण चुका रहे थे। इस प्रकार अमेरिका की पूंजी योरोप को समृद्ध बना कर पुनः अमेरिका वापिस जा रही थी। १९२९ से उपर्युक्त संकट से अमेरिकी पूंजीपतियों ने अपने हाथ रोक लिये, नई पूंजी देना बन्द कर दिया। इस तरह योरोपियन समृद्धि का मूल स्रोत सूख गया। इस पूंजी के आधार पर योरोप के बैंक अपनी देनदारियां पूरी करते थे। इसके अभाव में मई १९३१ में सबसे पहले आस्ट्रिया के ८० प्रतिशत उद्योगों को नियन्त्रित करने वाला यहां का सबसे बड़ा बैंक (Creditanstalt) दिवालिया हो गया। जून १९३१ में इस संक्रामक महामारी का जर्मनी में प्रसार हुआ और उसके अनेक बैंक फेल हो गये। इसका प्रभाव विश्व के प्रधान व्यापारिक केन्द्र लन्दन पर भी पड़ा, कुछ ही महीनों में २० करोड़ रुपया ब्रिटिश बैंकों से निकल गया, सितम्बर १९३१ में उसे स्वर्णमान (Gold Standard)

के परित्याग के लिए विवश होना पड़ा, इसके बाद सं० रा० अमेरिका सहित अन्य तेंतीस राज्यों ने उसका अनुसरण किया।

इस भीषण मन्दी के आर्थिक दुष्परिणाम बड़े भयंकर थे। सब देशों में बेकारों की संख्या में भयानक वृद्धि हुई, अधिक उत्पादन से तथा क्रयशक्ति घटने से वस्तुओं की माँग न रही, कारखाने बन्द होने लगे। औद्योगिक देशों में बेकारी की समस्या बड़ी उग्र थी, यहां न केवल हजारों व्यक्ति बेरोजगार हुए, अपितु उन पर आश्रित लाखों व्यक्ति अभाव और दरिद्रता के दारुण दुःख भोगने लगे। व्यापार में सब प्रकार की कमाई और मुनाफा लगभग समाप्त हो गये। इसका न केवल बड़े पूंजीपतियों और कारखानेदारों पर प्रभाव पड़ा, अपितु मध्यम वर्ग के उन व्यक्तियों को भारी कष्ट उठाना पड़ा जिन्होंने अपनी गाढ़ी कमाई का रुपया विभिन्न औद्योगिक कम्पनियों के हिस्सों में लगा रखा था। जनता के सभी वर्ग—पूंजीपति, मध्यम वर्ग, मज़दूर और किसान इस मन्दी की मार से तबाह और बरबाद हुए। जब विभिन्न सरकारों ने इस समस्या का हल करने के लिए बेकार व्यक्तियों को आर्थिक सहायता (Dole) बांटनी शुरू की तो यह समस्या उत्पन्न हुई कि इसके लिए विशाल धनराशि कहां से लाई जाय। मन्दी के कारण राष्ट्रीय आय के स्रोत पहले ही कम हो रहे थे, अतः सरकारों ने इसे प्राप्त करने के लिए टैक्सों में वृद्धि की और वेतनों तथा सरकारी बांडों पर सूद की दरें कम कीं। ये तीनों उपाय जनता के विभिन्न वर्गों में तीव्र असंतोष उत्पन्न करने वाले थे। पूंजीपति अपने मुनाफे कम होने से पहले ही परेशान थे, नये करों की वृद्धि उनके लिए सर्वथा अवांछनीय थी। वेतन कम होने से सरकारी कर्मचारियों में तथा सूद की दर घटने से सरकारी बांड खरीदने वालों में भारी असंतोष होना स्वाभाविक था। इस प्रकार उस समय कोई ऐसा वर्ग नहीं था, जो अपनी सरकार से असन्तुष्ट न हो, इसका राजनैतिक स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा।

मन्दी के राजनैतिक प्रभाव

इसका **पहला प्रभाव** लोकतंत्री शासनों की क्षीणता थी। इस मन्दी से जनता के सभी वर्गों में बेकारी, भुखमरी, असंतोष, अस्थिरता और असुरक्षा की वृद्धि हुई थी, अतः जिन लोकतंत्री देशों में जनता को वोट देने का अधिकार था, वहां जनता ने इस समस्या को सुलझाने में असमर्थ उस समय सत्तारूढ़ पार्टियों, मंत्रिमण्डलों और सरकारों के विरुद्ध वोट देकर उन्हें अपदस्थ किया। लोकतंत्र में विश्वास की भावना कम हो गई। उस समय तक लोकतन्त्र का तथा उदार पूंजीवाद का घनिष्ठ सम्बन्ध था, ये दोनों राष्ट्रीय उन्नति के लिए आवश्यक समझे जाते थे। किन्तु इस मंदी से उत्पन्न परिस्थितियों में इन दोनों के प्रति आस्था कम होने लगी, साधारण जनता साम्यवाद की ओर अधिक तेजी से आकृष्ट होने लगी। प्रजातंत्र और पूंजीवाद में अगाध विश्वास रखने वाला मध्यम वर्ग, मजदूर, छोटे दुकानदार इनसे निराश होकर फासिज्म, साम्यवाद और नात्सीवाद के मोहक आकर्षण से प्रभावित होने लगे।

दूसरा प्रभाव यह था कि जर्मनी तथा अन्य देशों में हिटलर जैसे तानाशाहों के अधिनायकतंत्र (Dictatorship) का उत्कर्ष हुआ। हिटलर के नात्सीदल ने १९२९ के

बाद होने वाली मंदी और आर्थिक असन्तोष का पूरा लाभ उठाया, इसे हल करने में समर्थ न होने के कारण जर्मनी की तत्कालीन गणराज्य सरकार को हिटलर ने बहुत बदनाम किया, इस शासन को जब देश की अर्थ-व्यवस्था ठीक करने के लिए विविध प्रकार के मितव्यय करने और टैक्स लगाने को बाधित होना पड़ा तो जर्मन पार्लियामेंट ने इसका बड़ा विरोध किया, अत: तत्कालीन प्रधानमंत्री ब्रूनिंग को पार्लियामेंट की सहायता के बिना विशेष अधिकारों तथा आज्ञाओं से शासन करने को विवश होना पड़ा, इस प्रकार उसने अधिनायकतंत्र के मार्ग को प्रशस्त बनाया। हिटलर ने मध्यम वर्ग को तथा पूंजीपति वर्ग को साम्यवाद का हौआ दिखाकर अपने वश में कर लिया, जनता को आर्थिक संकट की दलदल से उभारने के लिए बड़े सब्ज़ बाग दिखाये, इसे हल न कर सकने के लिए गणराज्य सरकार की तीव्र भर्त्सना की, इससे उसे जनता का प्रबल समर्थन मिल गया और वह शीघ्र ही जर्मनी का सर्वेसर्वा बन गया। यदि यह आर्थिक संकट न होता तो हिटलर कभी इतना शक्तिशाली न बन सकता।

तीसरा प्रभाव राज्य के नियन्त्रण में वृद्धि थी। इस संकट से पहले इंगलैंड, सं० रा० अमेरिका आदि में आर्थिक विषयों में अहस्तक्षेप या खुला छोड़ दो (Laissez faire) की नीति थी, राज्य व्यापार-वाणिज्य में कम से कम हस्तक्षेप करता था। किन्तु इस मंदी के संकट में राज्यों को इसके निवारण के लिए अनेक प्रकार के कानून और व्यवस्थायें बनानी पड़ीं। उद्योगपति, किसान, मजदूर, महाजन अपने व्यवसाय की उन्नति के लिए राज्य का आश्रय लेने लगे। विश्व में सबसे बड़े पूंजीपति देश अमेरिका ने रूज़वेल्ट की न्यू डील (New Deal) की नीति अपना कर आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की परम्परागत नीति को तिलांजलि दी, इङ्गलैंड को भी ऐसा करने के लिए विवश होना पड़ा। राज्य के नियन्त्रण में वृद्धि कई देशों में अधिनायकतन्त्र के विकास में सहायक सिद्ध हुई।

चौथा प्रभाव आर्थिक राष्ट्रीयता (Economic Nationalism) का विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्रवृत्ति का कम होना था। इस संकट का सामना करने के लिए लगभग सभी राज्यों ने अपने उद्योग-धन्धों के संरक्षण की दृष्टि से तटकर, चुंगी, ज़कात की ऊँची दीवारें खड़ी कीं, वे अपने संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ही सब समस्यायें हल करने को बाधित हुए। यह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सौहार्द के विकास के लिए बड़ा घातक था।

पाँचवां प्रभाव इससे राष्ट्रसंघ का दुर्बल होना था। आर्थिक संकट ने राष्ट्रसंघ का निर्माण करने वाले देशों को इतना पंगु बना दिया था कि वे सामूहिक सुरक्षा के लिए कोई बड़ा पग उठाने का साहस नहीं कर सकते थे। उदाहरणार्थ सं० रा० अमेरिका ने इस संकट के बाद योरोप के मामलों से पृथक् रहने की नीति का अधिक दृढ़ता से पालन शुरू किया, फ्रांस की आन्तरिक दशा आर्थिक संकट के कारण इतनी शोचनीय हो गई कि उसमें मन्त्रिमण्डलों के पतन बड़ी जल्दी होने लगे, इस अस्थिरता के कारण वहां की सरकार सामूहिक सुरक्षा के लिए कोई दृढ़ और कठोर उपाय नहीं बरत सकती थी।

छठा प्रभाव जापान में सैनिक दल की प्रभुता और राष्ट्रसंघ की मंचूरिया मामले

में पहली बड़ी विफलता थी। टायनबी ने यह बताया है कि भीषण आर्थिक मन्दी से विवश होकर ही जापानी जनता ने व्यापारिक विस्तार के स्थान पर सैनिक विजय की जापानी सेनानायकों की नीति का समर्थन किया, इस मन्दी से जापानी इतने परेशान हो गये थे कि उन्हें अपना कच्चा माल पाने और व्यापार की मण्डी बनाने के लिए मंचूरिया को तलवार से जीतने में कोई संकोच नहीं हुआ, इस विषय में उन्होंने राष्ट्रसंघ की कोई परवाह नहीं की।[१]

सातवां प्रभाव इटली का एबीसीनिया पर आक्रमण था। इस आर्थिक संकट से इटली की आन्तरिक दशा इतनी शोचनीय हो गई थी कि मुसोलिनी ने जनता का ध्यान इस ओर से हटाने के लिए अफ्रीका के एक निर्बल राष्ट्र पर हमला कर दिया।

आठवां प्रभाव साम्यवाद का आतंक था, इस आर्थिक संकट ने पूंजीवाद वाले देशों में इतना घोर असन्तोष उत्पन्न कर दिया कि जनता पूंजीवाद से ऊब कर साम्यवाद की ओर आकृष्ट हुई, इससे सम्पत्तिशाली वर्ग, कारखानेदार और पूंजीपति साम्यवाद से बड़े आशंकित हो गए। इसके दमन के लिये पश्चिमी देशों ने सामूहिक सुरक्षा के स्थान पर तुष्टीकरण की नीति अपनायी। पहले यह बताया जा चुका है कि ब्रिटिश विदेश-मन्त्री सर जॉन साइमन मंचूरिया पर जापानी आक्रमण को साम्यवादी रूस के विरुद्ध अभियान समझता था। अतः इस मामले में उसकी गुप्त सहानुभूति जापान के साथ थी। हिटलर और मुसोलिनी दोनों साम्यवाद के घोर निन्दक थे, अतएव इन्हें इंगलैंड और फ्रांस की सहानुभूति प्राप्त थी। आर्थिक मन्दी से उत्पन्न साम्यवादी आतंक से रक्षा के लिए ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने राष्ट्रसंघ की सर्वथा उपेक्षा करते हुए १९३३-३९ तक जर्मनी तथा इटली के प्रति तुष्टीकरण (Appeasement) की नीति बरती और यह द्वितीय विश्व-युद्ध का मार्ग प्रशस्त करने में बड़ी सहायक हुई।

प्रश्न

1. Give an account of the world wide 'Economic depression' of 1930-32. How did it affect the world politics ? (Rajasthan Uni. 1958)
2. "The most controversial and complicated problem which confronted the statesmen of Europe after the Peace settlement was the provision of reparation in the treaty of Versailles." What was the reparation problem and why it was so complicated ? How did the European statesmen try to solve it ? (Raj. Uni. 1957)
3. The economic claims against Germany (1919-20) were impossible of payment and the attempt to enforce them proved ruinous to Europe. (Agra Uni. 1952)
4. "Make Germany pay." Elucidate the effects of reparations on international politics. (Agra Uni. 1954)

---

१. टायनबी—सर्वे ऑफ इण्टरनेशनल एफेयर्स १९३१, पृ० ४०३

चौथा अध्याय

सुरक्षा की खोज और प्रयास

प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद सबसे बड़ी समस्या भविष्य में युद्धों का निवारण और इनकी भयंकर विभीषिका से सुरक्षा पाना था। इसका एक प्रधान उपाय राष्ट्रसंघ की स्थापना थी, दूसरे अध्याय में इसका वर्णन हो चुका है। इस समय सुरक्षा के तीन प्रकार के प्रयास किये गये, पहले प्रकार के उपाय राष्ट्रसंघ से बाहर फ्रांस आदि विभिन्न देशों द्वारा नाना प्रकार की सन्धियां और समझौते थे। दूसरे प्रकार के प्रयास राष्ट्रसंघ के माध्यम से किये गये। तीसरे प्रकार के प्रयास निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी थे। यहाँ इन तीनों का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

राष्ट्रसंघ से बाहर संधियों द्वारा सुरक्षा के प्रयास

फ्रांस द्वारा सुरक्षा की माँग—१९१८ के बाद बहुत वर्षों तक योरोप की प्रधान समस्या फ्रांस द्वारा सुरक्षा के उपायों की खोज थी। यद्यपि वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी को पूरी तरह कुचल कर पंगु बना दिया गया था, किन्तु फ्रांस को यह आशंका थी कि उसकी यह विजय स्थायी नहीं है, जर्मनी ने दबाव में आकर लाचारी में इस सन्धि पर हस्ताक्षर किये हैं किन्तु शीघ्र ही वह इसका बदला लेने का प्रयत्न करेगा। फ्रांस पिछली आधी शताब्दी में दो बार जर्मन सेनाओं द्वारा इतनी बुरी तरह पादाक्रांत हो चुका था कि उसे सदा एक तीसरे जर्मन आक्रमण की आशंका बनी रहती थी। इससे फ्रांस को सुरक्षा (Security) प्रदान करना उसकी विदेश नीति का मुख्य लक्ष्य था। अतः लैंगसम (Langsam) ने यह सत्य ही लिखा है—युद्ध की अन्तिम प्रतिध्वनियों की समाप्ति से बहुत पहले ही फ्रांस ने एक अन्य जर्मन आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा के उपायों की खोज आरम्भ कर दी थी[1]। कार (Carr) का यह मत है कि १९१९ के बाद योरोपियन मामलों में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य फ्रांस द्वारा सुरक्षा की माँग थी[2]। यद्यपि फ्रांस १९१८ में विजयी हुआ था, किन्तु उसकी विजय की प्रसन्नता क्षणिक थी, क्योंकि इसके साथ ही वह नये जर्मन आक्रमण की आशंका से भयभीत और संत्रस्त था। "१८११ से १९१४ तक दो बार फ्रेंच भूमि जर्मन सैनिकों द्वारा पादाक्रान्त हो चुकी थी और तृतीय फ्रेंच गणराज्य के नागरिकों को एक अन्य आक्रमण की आशंका व्यथित कर रही थी।" इसके निराकरण के लिए फ्रांस द्वारा सुरक्षा की माँग स्वाभाविक थी।

भौतिक सुरक्षा की माँग—पेरिस के शांति-सम्मेलन में फ्रांस ने भावी जर्मन आक्रमणों को रोकने के लिए भौतिक सुरक्षा (Physical guarantee) की माँग की।

१. लैंगसम—दी वर्ल्ड सिन्स १९१९, पृ० ७५

२. कार—इण्टरनेशनल रिलेशन्स बिटवीन दी टू वर्ल्ड वार्स, पृ० २५

इसका आशय यह था कि राइन नदी पर तथा उस पर विद्यमान पुलों पर सदैव फ्रांस का अधिकार स्वीकार कर लिया जाय क्योंकि पूर्व से आने वाले जर्मन आक्रान्ता इन्हीं पुलों के मार्ग से फ्रांस पर हमला करते हैं। फरवरी १९१९ को शान्ति-सम्मेलन में प्रस्तुत एक फ्रेंच स्मृतिपत्र में कहा गया था—"फ्रांस पर संकट का मूल कारण राइन नदी के बायें किनारे पर तथा उसके पुलों पर जर्मनी का अधिकार होना है। पश्चिमी तथा समुद्र पार के लोकतन्त्रों की सुरक्षा के लिए वर्तमान परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि राइन नदी के पुलों की रक्षा की जाय।" इसीलिए इस समय फ्रांस ने राइन का स्वतन्त्र राज्य बनाने पर बल दिया। पहले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि विल्सन और लायड जार्ज ने फ्रांस की यह माँग स्वीकार नहीं की तथा इसके बदले में उसे निम्नलिखित व्यवस्थायें माननी पड़ीं—(१) राइन नदी के बाईं ओर के प्रदेश पर १५ वर्ष तक मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का अधिकार रहे और इसका स्थायी रूप से विसैन्यीकरण (Demilitarisation) हो अर्थात् इसमें न तो सेनायें रखी जा सकें और न ही किलेबन्दियां की जा सकें। (२) वर्साय की सन्धि के साथ फ्रांस की ब्रिटिश साम्राज्य और सं० रा० अमेरिका के साथ सन्धियां हों, इनके अनुसार जर्मनी द्वारा बिना उत्तेजना के फ्रांस पर आक्रमण होने की दशा में दोनों देश तुरन्त उसकी सहायता करने के लिए वचनबद्ध हों।

संयुक्त राज्य अमेरिका की सीनेट द्वारा वर्साय की सन्धि संपुष्ट न होने के कारण जर्मन आक्रमण के विरुद्ध अमेरिका की सहायता के आश्वासन (गारण्टी) के उपर्युक्त वचन को क्रियान्वित नहीं किया जा सका। सं० रा० अमेरिका द्वारा यह सन्धि स्वीकृत न होने की दशा में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्वयमेव अस्वीकृत हो गई क्योंकि उसने यह वचन इसी शर्त पर दिया था कि सं० रा० अमेरिका भी ऐसा वचन देगा और फ्रांस की रक्षा की यह जिम्मेवारी लेगा। फ्रांस ने जिस आश्वासन के आधार पर अपनी राइन प्रदेश की माँग छोड़ी थी, वह पूरा नहीं हुआ। अतः फ्रांस का यह सोचना स्वाभाविक था कि उसके साथ विश्वासघात हुआ है। अब वह अपनी सुरक्षा के लिए बहुत अधिक चिन्तित हुआ और उसने वर्साय की सन्धि तथा वर्तमान व्यवस्था को बनाये रखने के इच्छुक विभिन्न देशों के साथ मैत्रीसन्धियों के जाल द्वारा अपने को सुरक्षित करना चाहा।

बेल्जियम के साथ सन्धि—मैत्रीसन्धियों द्वारा अपने देश को शक्तिशाली बनाने तथा प्रबल शत्रु को दुर्बल बनाने की नीति फ्रांस के लिए नवीन नहीं थी। १८वीं शताब्दी में उसने इसी नीति से आस्ट्रिया के चारों ओर विद्यमान लघु राज्यों के साथ सन्धि कर उसे नियन्त्रित किया था, अब इसी नीति द्वारा वह जर्मनी को चारों ओर से घेरना चाहता था। सर्वप्रथम पश्चिम में उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए बेल्जियम के साथ सितम्बर १९२० में एक सैनिक सन्धि की। इसके अनुसार दोनों देशों ने जर्मन आक्रमण होने की दशा में एक-दूसरे की सहायता करने का वचन दिया। राष्ट्रसंघ को इस सैनिक समझौते की सूचना दी गई, इसकी कुछ व्यवस्थायें गुप्त रखी गईं। बेल्जियम को इस सन्धि में लाने के लिए फ्रांस ने उसे यह प्रलोभन दिया कि लक्जमबर्ग बेल्जियम के चुंगी संघ (Custom Union) में सम्मिलित हो जाय, यद्यपि लक्जमबर्ग स्वयं फ्रांस के साथ चुंगी संघ में शामिल होना चाहता था।

पोलैण्ड के साथ सन्धि (फरवरी १९२१)—पश्चिम में अपनी सीमा सुरक्षित करने के बाद फ्रांस ने पूर्व की ओर ध्यान दिया। यहां पहले जर्मनी का पड़ोसी तथा शत्रु रूस उसका मित्र हुआ करता था, किन्तु बोल्शेविक क्रांति के बाद रूस की शक्ति क्षीण हो गयी थी और जर्मनी के पूर्वी सीमान्त पर पोलैण्ड का नया गणतन्त्रराज्य बन गया था। डैञ्जिग तथा पोलिश गलियारे (Polish Corridor) के प्रश्न पर इसका जर्मनी के साथ तीव्र मतभेद और विरोध था, अतः इसके साथ जर्मनी के कट्टर शत्रु फ्रांस की मैत्री सर्वथा स्वाभाविक थी। पोलैण्ड यद्यपि पूर्वी योरोप में सबसे बड़ा राज्य था, किन्तु उसकी अपने सब पड़ोसियों से लड़ाई थी, आस्ट्रियन साइलीशिया के प्रश्न पर उसका जैकोस्लोवाकिया के साथ, पूर्वी गैलिशिया में रुथीन लोगों के साथ, श्वेत रूस में रूसियों के साथ, विलना में लिथुआनियन लोगों के साथ तीव्र विवाद था। इस प्रकार पोलैण्ड का अपने प्रत्येक पड़ोसी के साथ संघर्ष था, वह सबसे अकेला नहीं लड़ सकता था, अतः उसने फ्रांस के साथ सन्धि करने में अपना कल्याण समझा। फ्रांस ने पोलैण्ड को रूस के विरुद्ध लड़ाई में १९२० में बड़ी सहायता की थी, अतः उसका फ्रांस की ओर झुकना स्वाभाविक था।

उपर्युक्त कारणों से फरवरी, १९२१ में **फ्रेंको पोलिश मित्रता सन्धि** (Franco-Polish Alliance) हो गयी। इसके अनुसार दोनों राज्यों ने यह निश्चय किया कि वे पारस्परिक हित के सभी मामलों में एक-दूसरे से परामर्श करेंगे, दोनों देशों के साथ हुई सन्धियों को बनाये रखने के लिए सम्मिलित प्रयास करेंगे, बिना उत्तेजना के हुए आक्रमणों में एक-दूसरे की सैनिक सहायता करेंगे। इस प्रकार यह सन्धि दोनों देशों के घनिष्ठ राजनैतिक सहयोग का साधन बनी, इसके साथ ही एक गुप्त सैनिक समझौता भी हुआ और फ्रांस ने पोल सेना के लिए युद्ध-सामग्री बड़ी उदार शर्तों पर प्रदान की। यद्यपि कुछ फ्रेंच विचारकों का यह मत था कि पोलैण्ड को मित्र बनाना बड़ा महँगा पड़ेगा और कुछ पोलों को पेरिस का वारसा पर हावी होना वांछनीय नहीं प्रतीत होता था, तथापि दोनों देशों की मैत्री जर्मनी की आक्रमण की आशंका के और उससे विरोध के सुदृढ़ आधार पर आश्रित थी। अतः सभी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में फ्रांस और पोलैण्ड एक-दूसरे के प्रबल समर्थक थे और जेनीवा में फ्रेंच एवं पोल प्रतिनिधि संयुक्त रूप से कार्य किया करते थे।

ग्रेट ब्रिटेन के साथ सन्धि की विफल चेष्टा—पूर्व और पश्चिम में दो सैनिक सन्धियों द्वारा अपने को सुरक्षित कर लेने के बाद फ्रांस ने १९२१ के अन्त में ग्रेट ब्रिटेन के साथ सन्धि करने का प्रयास किया। किन्तु यह सन्धिवार्ता कई कारणों से सफल न हो सकी; ग्रेट ब्रिटेन केवल फ्रांस पर सीधा जर्मन आक्रमण होने की दशा में ही उसे सहायता देने को तैयार था, किन्तु फ्रांस यह चाहता था कि वह उसके मित्रों—पोलैण्ड आदि पर हमला होने की दशा में भी फ्रांस की सहायता करे क्योंकि वह सैनिक संधियों द्वारा इस दिशा में अपने मित्रों की सहायता के लिए बाधित था। ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस की रक्षा का वचन देने को तैयार था, पर उसके मित्रों की रक्षा का वचन देने को उद्यत न था। इसी बीच में दोनों देशों में अन्य अनेक तीव्र विवाद उत्पन्न हुए, वाशिंगटन सम्मेलन

(Washington Conference) में पनडुब्बियां समाप्त करने का ब्रिटिश-अमेरिकी प्रस्ताव फ्रांस के विरोध के कारण स्वीकृत नहीं हो सका, क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर दोनों देशों में उग्र मतभेद था, (देखिये पिछला अध्याय), अतः १९२२ में दोनों देशों की संधि-वार्ता समाप्त हो गई। दोनों देशों की संधिवार्ता भंग होने का एक प्रधान कारण प्वायंकारे (Poincare) की उग्र नीति थी, वह न केवल इस समझौते का क्षेत्र फ्रांस तक सीमित न रख कर, उसके सब मित्रराज्यों तक विस्तृत करना चाहता था, अपितु इस समझौते की अवधि १० वर्ष के स्थान पर तीस वर्ष बढ़ाना चाहता था। ब्रिटेन का यह कहना था कि इस प्रकार के समझौते से दूसरे देशों में ब्रिटिश-विरोधी भावना बढ़ेगी, अतः उसका फ्रांस के साथ समझौता नहीं हो सका।

अन्य राष्ट्रों के साथ फ्रांस के समझौते—१९२३ में रूर के प्रश्न पर फ्रांस को ग्रेट ब्रिटेन का सहयोग नहीं मिला, इससे उसे योरोप में अपने नये मित्र बढ़ाने की तीव्र आवश्यकता अनुभव हुई। अतः १९२४ में उसने जैकोस्लोवाकिया के साथ **फ्रैंको-जैकोस्लोवाक समझौता** (Franco-Czechoslovak Pact) किया, इसके अनुसार दोनों देशों ने अपने विवादों को शान्तिपूर्ण उपायों से हल करने का तथा शान्ति-संधियों की रक्षा के लिए सम्मिलित प्रयत्न करने के निश्चय किये, यदि जर्मनी और आस्ट्रिया मिलना चाहें या इन दोनों देशों में राजतन्त्र पुनः स्थापित करने की चेष्टा हो तो इस दशा में दोनों ने एक-दूसरे के साथ परामर्श करने का निश्चय किया। दो वर्ष बाद फ्रांस ने ऐसा ही सुरक्षा समझौता रूमानिया के साथ तथा १९३७ में यूगोस्लाविया के साथ किया।

जैकोस्लोवाकिया, रूमानिया और यूगोस्लाविया को **लघु गुट** (Little Entente) कहा जाता है। ये तीनों राज्य आस्ट्रिया-हंगरी के विघटन से बने थे। इन तीनों का हित और स्वार्थ इसी में था कि आस्ट्रिया में पुनः हैप्सबुर्ग (Hapsburg) वंश की प्रतिष्ठा न हो और इन्हें इन दोनों राज्यों से जो प्रदेश प्राप्त हुए हैं वे कभी वापिस न लौटाये जायें। १९२०—२१ में इन तीनों ने आपस में एक मैत्रीसंधि की। यही **लघु गुट समझौता** (Little Entente) कहलाता है। इसके अनुसार तीनों राज्यों ने हैप्सबुर्ग वंश की पुनः प्रतिष्ठा तथा हंगरी को अपने प्रदेश लौटाने का विरोध करने का निश्चय किया। इसका उद्देश्य मध्य योरोप में वर्साय संधि की तथा त्रिआनो संधि की प्रादेशिक व्यवस्था को सुस्थिर बनाना था। यद्यपि ये तीनों छोटे राष्ट्र थे, किन्तु मिलकर ५ करोड़ की महाशक्ति बनते थे, इनका उद्देश्य फ्रांस की भांति वर्साय-व्यवस्था को स्थायी बनाना था। फ्रांस ने इनके साथ समझौते करके अपनी सुरक्षा-व्यवस्था को बड़ा सुदृढ़ बनाया। अब यदि जर्मनी युद्ध छेड़ता तो उसे दो मोर्चों पर एक साथ लड़ना पड़ता। फ्रांस ने कूटनीतिक संधियों के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से इन तीनों की तथा पोलैण्ड की बड़ी सहायता की, लाखों रुपयों की युद्ध-सामग्री फ्रांस से खरीदने के लिए इन्हें बहुत बड़े ऋण प्रदान किये।

इस प्रकार फ्रांस ने सुरक्षा के नाम योरोप में एक शक्तिशाली गुट बनाकर अपनी सर्वोच्च सत्ता स्थापित की। १९३३ में हिटलर के उत्कर्ष तक इस गुट का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्राधान्य बना रहा। इसका मुख्य उद्देश्य वर्साय की व्यवस्था को स्थिर बनाना

तथा इसे संशोधित करने (Revisionism) के सब प्रयासों का विरोध करना था। कार के शब्दों में इससे फ्रांस की स्थिति १८१५ के बाद के आस्ट्रिया के मैटर्निक जैसी हो गई थी और फ्रांस की पोलैण्ड और लघु त्रिगुट के साथ हुई संधियों ने एक आधुनिक पवित्र संघ (Holy Alliance) का निर्माण किया।

इस गुटबन्दी से फ्रांस को सुरक्षा तो मिली, पर समस्यायें अधिक बढ़ गयीं। उसने ऐसे देशों की रक्षा की जिम्मेवारी ले ली, जो उसकी सीमा से बहुत दूर थे और जिनकी समस्यायें और स्वार्थ उससे बहुत कुछ भिन्न थे। केवल पोलैण्ड के साथ उसकी मैत्री जर्मन शत्रुता के और उसके विरोध और नियन्त्रण के समान स्वार्थ पर आधारित थी। लघु त्रिगुट शक्तियों ने यद्यपि फ्रांस को वर्साय संधि-व्यवस्था सुदृढ़ बनाये रखने में सहयोग का वचन दिया, किन्तु फ्रांस से यूगोस्लाविया यह चाहता था कि वह इटली के विरुद्ध उसकी सहायता करे, रूमानिया और जैकोस्लोवाकिया हंगरी के विरुद्ध उसके सहयोग के इच्छुक थे, बल्गारिया के विरुद्ध भी फ्रांस से सहायता की आकांक्षा रखते थे। फ्रांस के सभी मित्रराज्यों में विभिन्न अल्पसंख्यक थे, इनकी शिकायतों में फ्रांस को अपने मित्रों का साथ देना पड़ता था। इन मैत्रीसंधियों द्वारा तथा शक्तिशाली सेना और रण-सामग्री के विशाल संग्रह के कारण १९२०–२४ तक फ्रांस योरोप में अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा के शिखर पर पहुँच गया।[३]

फ्रांस की गुटबन्दी का चरम लक्ष्य उसकी सुरक्षा और वर्साय की संधि-व्यवस्था को बनाये रखना था। यह गुट १९३३ तक शक्तिशाली बना रहा, किन्तु शीघ्र ही इस से प्रभावित होकर अन्य राष्ट्रों ने विशेषतः रूस और इटली ने अपनी सुरक्षा के लिए नये गुटों को बनाना शुरू किया।

रापोल्लो (Rapallo) संधि (१६ अप्रैल, १९२२)—बोल्शेविक क्रांति के बाद के रूस द्वारा जर्मनी के साथ पृथक् संधि कर लेने पर मित्रराष्ट्र इसके कट्टर विरोधी बन गये। जर्मनी परास्त होने के बाद भी इनका उग्र शत्रु था। अतः मित्रराष्ट्रों ने युद्ध की समाप्ति के बाद इन दोनों से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखा, इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में नहीं बुलाया। इसलिये राजनैतिक दृष्टि से 'अछूत समझे जाने वाले' इन दोनों देशों का समझौता स्वाभाविक था, दोनों को फ्रांस तथा मित्रराष्ट्रों द्वारा बनाई गुटबन्दियों से बड़ा भय था, दोनों अपने व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाना चाहते थे। जर्मनी इस समय असहाय था, वह रूस के साथ मित्रता करके मित्रराष्ट्रों की अन्यायपूर्ण माँगों का प्रतिरोध करना चाहता था। रूसी सरकार को किसी भी अन्य देश ने अब तक मान्यता नहीं प्रदान की थी, जर्मनी के साथ संधि द्वारा न केवल एक महाशक्ति द्वारा मान्यता मिलने की, अपितु आर्थिक विकास के लिए ऋण पाने तथा फ्रैंको-पोलिश गुट के विरुद्ध सहायता पाने की सम्भावना थी। अतः इटली में जिनोआ के निकट समुद्र तटवर्ती रापोल्लो नामक स्थान में इन दोनों देशों के विदेश विभाग के अध्यक्षों वाल्थर राथेनो (Walther Rathenaio) तथा जार्ज चिचेरिन (George Chicherin) ने एक संधि की, इसके

३. कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४३

अनुसार जर्मनी ने सोवियत सरकार को मान्यता प्रदान की, युद्ध से पहले लिये हुए सभी ऋण और दावे दोनों देशों ने रद्द किये।

इस संधि के बाद रूस को यह आशंका थी कि योरोपियन शक्तियां उसके विरुद्ध किसी गुट का निर्माण न करें। अतः उसनें अपनी सुरक्षा के लिए अपने पड़ोसी देशों के साथ **अनाक्रमण समझौते** (Non-Aggression Pacts) किये। पहला समझौता १९२५ में तुर्की के साथ मैत्री और तटस्थता की संधि थी, इस समय तुर्की पश्चिमी राष्ट्रों से रूस की भांति रुष्ट था क्योंकि उन्होंने उसका कुछ विवादग्रस्त प्रदेश इराक को दे दिया था। इस संधि द्वारा दोनों देशों ने एक-दूसरे पर हमला न करने का तथा तीसरी शक्ति द्वारा आक्रमण होने की दशा में तटस्थ रहने का वचन दिया। अप्रैल १९२६ में इसी प्रकार का समझौता रूस ने जर्मनी के साथ, इसके बाद अफगानिस्तान और लिथुआनिया के साथ और १९२७ में ईरान के साथ किया।

इटली की गुटबन्दी

इटली यद्यपि पिछले युद्ध में फ्रांस का मित्र था, किन्तु युद्ध के बाद वह उसकी गुटबन्दी को बड़ी चिन्ता और भय की दृष्टि से देखने लगा था। दोनों देशों में मतभेद के अनेक कारण थे। फ्रांस वर्साय की व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना चाहता था, किन्तु इटली विजेता होते हुए भी इसका संशोधन (Revision) चाहने वाले जर्मनी, आस्टिया, हंगरी, बल्गारिया का समर्थक था क्योंकि उसकी यह शिकायत थी कि पेरिस सम्मेलन में उसके साथ न्याय नहीं हुआ, उसे युद्ध की लूट में बहुत कम हिस्सा मिला। फ्रांस के साथ पश्चिमी भूमध्यसागर में उसकी गहरी प्रतिस्पर्धा थी। दोनों इस पर अपना पूर्ण प्रभुत्व चाहते थे। फ्रांस समुद्री बेड़े में इटली की समानता की मांग स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इसी प्रकार इटली को फ्रांस से यह भी शिकायत थी कि उत्तर अफ्रीका में उसके पास ऐसे अनेक प्रदेश हैं, जो वस्तुतः इटली के पास होने चाहियें और फ्रांस ने १९१९ में इटली को अधिक उपनिवेश देने का विरोध किया था।

इन सब कारणों से इटली फ्रांस से रुष्ट था। उसने अपनी पृथक् गुटबन्दी बनानी शुरू की। मुसोलिनी के सत्तारूढ़ होने पर इटली की विदेश नीति के दो प्रधान लक्ष्य बन गए—(१) एड्रियाटिक सागर (Adriatic Sea) का नियन्त्रण (२) मध्य योरोप में इटली को सर्वोच्च शक्ति बनाना। पहले लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि अल्बानिया और इटली के मध्य में ४७ मील चौड़े ओट्राण्टो (Otranto) के जल-डमरुमध्य पर अधिकार किया जाय। इस दृष्टि से १९२६ में उसने अल्बानिया से ऐसी संधि की कि वह लगभग उसका वशवर्ती राज्य बन गया। एड्रियाटिक के प्रवेशमार्ग पर नियन्त्रण पाने से अब इस पर उसका पूरा आधिपत्य हो गया।

मुसोलिनी की दूसरी महत्वाकांक्षा मध्य योरोप के राज्यों के संघ का नेता बनने की थी। १९२७ में इटली ने हंगरी के साथ संधि की और इसके बाद इटली हंगरी की इस माँग का समर्थन करने लगा कि त्रियानो (Triano) संधि की प्रादेशिक व्यवस्था उसके लिए अन्यायपूर्ण है इसका पुनः संशोधन होना चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १९२७ तक योरोप के राष्ट्र तीन बड़े गुटों में बंट चुके थे। इनमें संघर्ष और टक्कर की सम्भावना थी। राष्ट्रसंघ के माध्यम से इन संघर्षों को कम करने का प्रयत्न किया गया, इसका आगे वर्णन होगा, किन्तु इससे पहले यहां १९३९ तक की योरोपियन राष्ट्रों की गुटबन्दियों का उल्लेख आवश्यक है।

रोम का पैक्ट (१९३३)—भीषण आर्थिक मंदी के बाद हिटलर के उत्कर्ष के साथ फ्रांस पुनः अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित होने लगा, इस समय मुसोलिनी ने यह सुझाव दिया कि योरोप के पश्चिमी राष्ट्र एक निश्चित समय के लिए शान्ति रखने की गारण्टी दें। इसके परिणामस्वरूप रोम में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और इटली की चार महाशक्तियों ने १० वर्ष तक शान्ति बनाये रखने के समझौते पर हस्ताक्षर किये, इसके अनुसार ये देश अपने सभी महत्त्वपूर्ण राजनैतिक अन्तर्राष्ट्रीय और आर्थिक प्रश्नों पर परस्पर विचार-विमर्श के लिए निःशस्त्रीकरण को सफल बनाने के लिए तथा राष्ट्रसंघ के विधान की धारा १९ के अनुसार संधियों के संशोधन का सिद्धान्त स्वीकार करने के लिए उद्यत हो गये।

लन्दन के समझौते—सोवियत रूस ने रोम के समझौतें को शान्ति एवं सुरक्षा के लिए नहीं, किन्तु बोल्शेविज्म के विरुद्ध पश्चिमी राष्ट्रों की एक गुटबन्दी समझा और इससे रक्षा के लिए अपने सब पड़ोसी राज्यों के साथ एक सामान्य अनाक्रमण संधि करने का प्रस्ताव किया। लन्दन के सोवियत दूतावास में अफगानिस्तान, जैकोस्लोवाकिया, इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, ईरान, पोलैण्ड, रूमानिया, सोवियत यूनियन, तुर्की और यूगोस्लाविया ने तीन समझौतों पर हस्ताक्षर किये। इनमें एक-दूसरे के प्रदेश की अनुल्लंघनीयता पर बल दिया गया था और यह विश्वास प्रकट किया गया था कि सब राष्ट्रों के लोग पैक्ट के अनुसार आक्रमण बन्द कर देंगे, इसमें आक्रान्ता की परिभाषा करते हुए यह कहा गया था कि ऐसा उस राष्ट्र को समझा जायगा, जो दूसरे देश के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करेगा अथवा युद्ध-घोषणा के बिना दूसरे देश पर हमला करेगा, आर्थिक प्रतिरोध (Blockade) करेगा या अपने-अपने प्रदेश में दूसरे देश पर चढ़ाई करने वाले सशस्त्र दलों को संरक्षण प्रदान करेगा।

इटली की गुटबन्दी—पहले यह बताया जा चुका है कि १९२७ तक इटली फ्रांस के विरोध में वर्साय संधि का संशोधन चाहने वाले राष्ट्रों का एक गुट तैयार करने लगा था। १९२८ में उसने तुर्की और यूनान से तथा १९३० में आस्ट्रिया के साथ मित्रता और तटस्थता की संधियां कीं। इटली के प्रभाव से १९३३ में तुर्की और यूनान ने अनाक्रमण (Non-Aggression) समझौता किया। १९३० में इटली की राजकुमारी जोवन्ना (Giovanna) का विवाह बलगारिया के राजा बोरिस के साथ हुआ और इससे दोनों देशों का सम्बन्ध सुदृढ़ हुआ। १९३३ में इटली और सोवियत यूनियन ने एक अनाक्रमण समझौता किया।

१९३४ में मुसोलिनी के प्रयत्न से इटली, आस्ट्रिया और हंगरी ने शान्ति बनाये रखने के लिए और योरोप की आर्थिक उन्नति के लिए एक समझौता किया। इस समय इटली आस्ट्रिया के जर्मनी के साथ एकीकरण (Anschluss) का घोर विरोधी था, क्योंकि

इससे जर्मनी ब्रेनर दर्रे तक पहुँच जाता और इटली में रहने वाले दक्षिणी टिरोल के जर्मनों की समस्या उग्र हो जाती। अतः इस समय इटली आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता और अखण्डता का प्रबल पोषक था।

बाल्कान पैक्ट (Balkan Pact)—इटली की कूटनीतिक सफलता ने बाल्कान राज्यों को तथा लघु गुट (Little Entente) के राष्ट्रों को भयभीत कर दिया था। इटली के आक्रमण के प्रतिरोध के लिए १६३४ में यूनान, तुर्की, रूमानिया, यूगोस्लाविया ने बाल्कान समझौता किया, इसके अनुसार उन्होंने एक-दूसरे के सीमान्तों की रक्षा की गारण्टी दी और बाल्कान राज्यों के सम्बन्ध में सब कार्य एक-दूसरे के परामर्श से करने का निश्चय किया। यूगोस्लाविया और रूमानिया एक ओर इस पैक्ट के सदस्य थे और दूसरी ओर लघु गुट के भी सदस्य थे।

इस पैक्ट में बल्गारिया और अल्बानिया नहीं सम्मिलित हुए। बल्गारिया, यूनान और यूगोस्लाविया की सीमाओं में संशोधन चाहता था और वर्तमान प्रादेशिक व्यवस्था को बदलने के लिए उत्सुक था, जबकि बाल्कान पैक्ट वाले राष्ट्र इसे यथापूर्व बनाये रखना चाहते थे। अल्बानिया इटली का संरक्षित राज्य होने से पेरिस की सन्धि के संशोधन का पक्षपाती और बल्गारिया का समर्थक था।

जर्मनी का उत्कर्ष

फ्रेंच सुरक्षा-व्यवस्था का विघटन—१६३३ में जर्मनी में हिटलर के अभ्युत्थान के साथ विभिन्न राष्ट्रों की कूटनीति में बड़े क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। हिटलर का मुख्य लक्ष्य वर्साय सन्धि की व्यवस्था को तथा उसे बनाये रखने वाले तत्वों को क्षीण बनाना, जर्मनी को योरोप की सर्वोच्चशक्ति बनाना तथा फ्रांस द्वारा जर्मनी के विरुद्ध की गयी गुटबन्दी को तोड़ना था। हिटलर ने सर्वप्रथम वर्साय की सन्धि द्वारा जर्मनी पर लगाये गये शस्त्रास्त्र सम्बन्धी प्रतिबन्ध तोड़े, मार्च १६३५ में उसने अनिवार्य सैनिक सेवा (Conscription) का नियम बनाया, मार्च १६३६ में राइन प्रदेश में अपनी सेनायें भेजकर लोकार्नो की तथा वर्साय की सन्धियों को भंग किया। फ्रांस इस समय आन्तरिक झगड़ों और आर्थिक कठिनाइयों में उलझा हुआ था, वह अकेला जर्मनी को सन्धि भंग करने से नहीं रोक सकता था। इटली तथा ग्रेट ब्रिटेन उसका साथ देने को तैयार नहीं थे। ग्रट ब्रिटेन शक्ति-संतुलन की अपनी पुरानी नीति के अनुसार फ्रांस के योरोप में बढ़ रहे प्रभाव को नियन्त्रित करने के लिए जर्मनी का उत्थान वांछनीय समझता था, इटली इस समय तक जर्मनी का सहायक और समर्थक बन चुका था।

जर्मनी के उत्कर्ष से फ्रांस और उसके मित्रों का चिन्तित होना स्वाभाविक था। अतः १६३३ में लघु गुट के राज्यों ने एक **संगठन समझौता** (Pact of Organization) किया, इसका उद्देश्य उन राज्यों के गुट (Entente) को एक 'उच्च अन्तर्राष्ट्रीय एकता' प्रदान करना था, इसके अनुसार इन देशों के विदेश-मंत्रियों की एक स्थायी परिषद्, आर्थिक, वित्तीय और राजनैतिक मामलों में घनिष्ठ सहयोग प्राप्त करने के लिए बनाई गई। १६३३ में इन्होंने अपनी रक्षा के लिए पोलैंड तथा सोवियत यूनियन के साथ लंदन

के समझौते किये।

किन्तु जर्मनी ने शीघ्र ही इस फ्रेंच सुरक्षा-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करना शुरू किया। उसने फ्रांस के मित्रों को अपना साथी बनाना आरम्भ किया। इस सम्बन्ध में हिटलर की पहली चाल ने ही विश्व को स्तब्ध कर दिया। पोलैण्ड के साथ प्रबल शत्रुता होने पर भी हिटलर ने १९३४ में उसके साथ **दस वर्षीय अनाक्रमण सन्धि** की। यह फ्रेंच सुरक्षा में पहली बड़ी दरार थी। पोलैण्ड ने अपने शत्रु के साथ यह सन्धि इसलिए की कि उसके प्रधानमन्त्री पीलसूड्स्की (Pilsudski) को यह पूरा विश्वास हो चुका था कि जर्मनी द्वारा आक्रमण होने पर फ्रांस उसकी रक्षा नहीं कर सकेगा।

राइन प्रदेश में जर्मन फौजों के प्रवेश के बाद फ्रांस के अन्य मित्रों को भी फ्रांस की शक्ति में सन्देह होने लगा। जो देश अपने महत्त्वपूर्ण सीमान्त पर जर्मनी को नहीं रोक सका, वह दूसरे देशों की जर्मन आक्रमण से क्या रक्षा कर सकेगा? इसी समय जर्मनी ने लघु गुट के राष्ट्रों के साथ विनिमय पद्धति के आधार पर व्यापार बढ़ाना शुरू किया, उनका कच्चा माल और खाद्यान्न लेकर उन्हें मशीनें तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें देनी शुरू कीं। इन आर्थिक सम्बन्धों ने इन राज्यों में जर्मनी के राजनैतिक प्रभाव को इतना बढ़ाया कि रूमानिया में फ्रेंच पक्षपाती विदेश-मन्त्री निकोलस टिटेलस्कू (Nicolus Titelescu) को पदच्युत कर दिया गया, वहाँ जर्मन पक्षपाती नीति का अवलम्बन किया गया। यूगोस्लाविया भी जर्मनी की ओर झुकने लगा, यूनान में मेटाक्सस (Metaxes) के अधिनायकतन्त्र में यह प्रक्रिया आरम्भ हुई। केवल जैकोस्लोवाकिया ही फ्रांस के प्रति वफादार बना रहा। उसकी जर्मन अल्पसंख्या के तीव्र असंतोष ने तथा लोकतन्त्र के प्रति गहरी आस्था ने उसका जर्मनी के साथ मेल नहीं होने दिया।

पश्चिम में फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए बेल्जियम के साथ सन्धि की थी, किन्तु १९३६ में राइन प्रदेश में जर्मन सेनाओं के प्रवेश से बेल्जियम बिल्कुल अरक्षित हो गया, अब वह फ्रांस का भरोसा नहीं कर सकता, अतः उसके लिए फ्रांस के साथ सन्धि निरर्थक थी। अब उसने सब सन्धियों को समाप्त करते हुए यह घोषणा की कि वह अपने पड़ोसियों के झगड़ों में तटस्थ रहेगा, इस पर इंगलैंड और फ्रांस ने उसे लोकार्नो सन्धि की बाध्यताओं से मुक्त किया, और आक्रमण की दशा में उसे सहायता का वचन दिया। १९३७ में जर्मनी ने **बेल्जियम के साथ अनाक्रमण सन्धि** की। इस प्रकार पश्चिम और पूर्व में फ्रांस का अपनी सुरक्षा के लिए बनाया हुआ सन्धियों का जाल सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया।

फ्रैंको-रशियन पैक्ट (Franco-Russian Pact)—जर्मनी के उत्थान से चिन्तित फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए मित्रों की खोज में रूस की ओर दृष्टि डाली। इस समय हिटलर वर्साय की सन्धि तथा साम्यवाद के प्रति समान रूप से प्रबल बिषवमन कर रहा था। अतः दोनों का हिटलर और जर्मनी से भयभीत होकर मित्र बनना स्वाभाविक था। फ्रांस को रूस के तेल की आवश्यकता थी, साथ ही वह यह भी चाहता था कि उन दिनों रूस विदेशों से बड़ी मात्रा में जो मशीनें तथा अन्य माल मँगा रहा है, उसमें एक बड़े हिस्से का आर्डर फ्रांस को भी मिले। हिटलर जर्मनी के विकास और प्रसार का

क्षेत्र पूर्व में रूसी प्रदेश समझता था और रूस को अपना सबसे बड़ा शत्रु मानता था। अतः सोवियत-जर्मन सम्बन्ध बिगड़ने लगे। परिणामतः १९३२ ई० में फ्रांस ने सोवियत यूनियन के साथ एक तटस्थता की सन्धि की और १९३५ में दोनों देशों का एक **अनाक्रमण पैक्ट** हुआ, इसके अनुसार "अनुत्तेजित आक्रमण" की अवस्था में दोनों देशों ने एक-दूसरे को तुरन्त सहायता देने की प्रतिज्ञा की। फ्रांस ने ग्रेट ब्रिटेन को भी शनैः शनैः अपना मित्र बना लिया। राइन प्रदेश में जर्मन सेनाओं के प्रवेश तथा जर्मन वायु-सेना के विस्तार से ब्रिटेन आत्मरक्षा के लिए बड़ा चिन्तित हो गया, समुद्र में अजेय होने पर भी अब इंगलैंड को लन्दन पर हवाई हमलों का खतरा बढ़ गया। अतः १९३४ में ब्रिटिश प्रधानमंत्री स्टैनली वाल्डविन ने जर्मनी को चेतावनी देते हुए कहा—"इंगलैण्ड की सीमा डोवर की चाक की चट्टानें नहीं, किन्तु राइन नदी है।" जर्मनी के अतिरिक्त इस समय ग्रेट ब्रिटेन को जर्मनी के मित्र इटली से भी भूमध्यसागर में बड़ा खतरा पैदा हो गया था। इसका आगे उल्लेख होगा। इन दोनों शत्रुओं के कारण फ्रांस और इंगलैण्ड की मैत्री घनिष्ठ होने लगी और १९३८ में दोनों देशों का एक समझौता हो गया, यह वस्तुतः एक सैनिक समझौता था और प्रथम विश्व-युद्ध से पहले के हार्दिक समझौते (Entente Cordial) से अधिक सुदृढ़ था।

फ्रांस ने इटली को भी कुछ समय तक मित्र बनाने का प्रयास किया। १९३५ में जर्मनी के प्रति ग्रेट ब्रिटेन का रुख सहानुभूतिपूर्ण था। जब उसने वर्साय की सन्धि की उपेक्षा करके समुद्री बेड़ा बनाना शुरू किया तो लन्दन का बर्लिन से यह समझौता हुआ कि वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के बेड़े के ३५ फीसदी तक अपने नये जहाज बना सकता है। फ्रांस और इटली दोनों इससे चिन्तित थे, अतः रोम में १९३५ में **लावाल-मुसोलिनी पैक्ट** (Laval Mussolini Pact) द्वारा दोनों ने आपसी विवादों को तय करके सन्धि कर ली, इसके अनुसार अफ्रीका में कुछ फ्रेंच प्रदेश और रेलवे के अधिकार इटली को दिये गये, फ्रेंच ट्यूनिसिया में इटलीवासियों के विशेष अधिकार माने गये और आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता पर संकट आने की दशा में दोनों देशों ने परस्पर विचार-विमर्श का निश्चय किया।

किन्तु भूमध्य सागर में इटली और फ्रांस के स्वार्थों में इतना अधिक संघर्ष था कि यह मैत्री देर तक नहीं रह सकी।

धुरी राष्ट्र और एण्टी-कोमिण्टर्न पैक्ट (Axis Powers and Anti-Comintern Pact)—१९३५ के अन्त में इटली द्वारा एबीसीनिया पर आक्रमण से योरोप की गुटबन्दियों में बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इटली पहले वर्साय की व्यवस्था बनाये रखने के पक्षपाती फ्रांस के साथ था, अब वह इस व्यवस्था में संशोधन चाहने वाले जर्मनी के साथ हो गया। यद्यपि इन दोनों का स्वार्थ आस्ट्रिया में टकराता था, मुसोलिनी इसकी स्वतन्त्रता और अखण्डता बनाये रखना चाहता था और हिटलर इसका अन्त करके इसे जर्मनी में मिलाना चाहता था, फिर भी एबीसीनिया के युद्ध की घटनाओं ने इटली को जर्मनी के साथ मैत्री के लिए तथा आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का आग्रह छोड़ने के लिए बाधित किया। राष्ट्रसंघ ने इस युद्ध में इटली पर आर्थिक प्रतिबन्ध (Economic Sanctions) लगा दिये थे, इटली को इनका सफल प्रतिरोध करने के लिए जर्मन सहा-

यता की आवश्यकता थी, अतः मुसोलिनी ने हिटलर के आस्ट्रिया को हड़पने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मुसोलिनी का यह कहना था कि वह जर्मनी के साथ मिलकर बोल्शेविज्म के विरुद्ध संघर्ष करना चाहता है, वस्तुतः दोनों देशों की मैत्री विश्व में "शान्ति स्थापना के लिए एक धुरी (Axis) है।" योरोप के अन्य शान्तिप्रेमी राज्य इस धुरी के चारों ओर एकत्र होकर इस पुनीत कार्य में सहयोग देंगे। इसके बाद से जर्मनी और इटली तथा इनके अन्य समर्थक राज्यों को धुरी शक्तियां (Axis Powers) कहा जाने लगा और जर्मनी के नेतृत्व में वे वर्साय की व्यवस्था का उन्मूलन करने पर बल देने लगे।

२५ नवम्बर, १९३६ को जापान भी धुरी राष्ट्रों के गुट में सम्मिलित हो गया। जापान १९३१ में मंचूरिया के मामले में राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से इङ्गलैण्ड, अमेरिका और फ्रांस से रुष्ट था, १९३४ में समुद्री जहाजों की संख्या मर्यादित करने के प्रश्न पर जापान ने इङ्गलैण्ड, सं० रा० अमेरिका और अपने बेड़ों के ५ : ५ : ३ के अनुपात का घोर विरोध किया और समानता की माँग की। पश्चिमी राष्ट्रों को यह स्वीकार न था, जापान ने इसे अपना राष्ट्रीय अपमान समझा और इस अनुपात को तय करने वाले पुराने समझौते को अस्वीकार कर दिया। अतः जापान भी मित्रराष्ट्रों से रुष्ट होकर धुरी राष्ट्रों के गुट में आ मिला। रूस का पड़ोसी होने के कारण उसे साम्यवाद से स्वाभाविक भय था, अतः पहले जापान और जर्मनी ने कोमिण्टर्न अर्थात् रूस से बाहर अन्य देशों में साम्यवाद का प्रसार करने वाली **तीसरी अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संस्था** (Third Communist International) के विरुद्ध एक समझौता किया (२५ नव० १९३६), इसमें यह कहा गया था कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले देश थर्ड इंटरनेशनल के कार्यों से एक-दूसरे को परिचित कराते रहेंगे, इससे रक्षा के उपायों पर परस्पर परामर्श करेंगे और इन्हें क्रियान्वित करने के लिए एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सहयोग करेंगे। बाद में इटली भी इस पैक्ट में सम्मिलित हो गया (६ नव० १९३७)। इस प्रकार बर्लिन-रोम-टोकियो धुरी का निर्माण हुआ। हंगरी और मंचुकुओ इस पैक्ट में २४ फरवरी, १९३९ को तथा स्पेन २६ मार्च, १९३९ को सम्मिलित हुआ।

इस गुट ने योरोप और संसार को दो परस्पर विरोधी दलों में बांट दिया। एक दल में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत यूनियन, चीन और सं० रा० अमेरिका थे, इनमें अधिकांश सन्तुष्ट राज्य थे, उनके पास अपने विशाल साम्राज्य और प्रदेश थे। दूसरे दल में जर्मनी, इटली और जापान थे। ये तीनों असंतुष्ट और साम्राज्य तथा उपनिवेश चाहने वाले राज्य थे। जर्मनी वर्साय की व्यवस्था का अन्त, अपने विस्तार के लिए अधिक प्रदेश और उपनिवेश चाहता था। इटली का भूमध्य सागर में फ्रांस और इंगलैण्ड दोनों से घोर विरोध था। फ्रांस उत्तरी अफ्रीका के फ्रेंच साम्राज्य के बन्दरगाहों बिजर्टा, आल्जियर्स के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखने के लिए और यहाँ से सेनायें प्राप्त करने के लिए पश्चिमी भूमध्य सागर पर अपना पूरा प्रभुत्व चाहता था, किन्तु मुसोलिनी इसे 'रोमन झील' बनाना चाहता था, ट्यूनिस आदि उपनिवेश हस्तगत करना चाहता था, स्पेन में फ्रैंको की सफलता के बाद उसे स्पेन से बेलियारिक टापू (Balearic Islands) प्राप्त हो सकते थे, इनमें अपना समुद्री अड्डा बना कर वह अफ्रीका के साथ फ्रांस के

जलमार्ग को बन्द कर सकता था, अतः फ्रांस से उसकी शत्रुता स्वाभाविक थी। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन के लिए भूमध्य सागर का 'रोमन झील' बनना बड़ा घातक था क्योंकि पूर्व में उसके विशाल साम्राज्य के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ने वाला मार्ग भूमध्य सागर में से होकर गुजरता था। इस मार्ग की रक्षा के लिए उसने जिब्राल्टर, माल्टा, हैफा (Haifa) में अपने नौसैनिक अड्डे बनाये हुए थे। मुसोलिनी ने इस महत्त्वपूर्ण ब्रिटिश मार्ग को कई प्रकार से विच्छिन्न करना चाहा। १९३६ में स्पेन के गृहयुद्ध में उसने फ्रैंको को सहयोग दिया ताकि उसकी सहायता से वह जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य को नियन्त्रित कर सके, माल्टा के ब्रिटिश अड्डे को बेकार बनाने के लिए उसने सिसली में तथा ट्यूनिस के निकट पान्टेलेरिया (Pantallaria) टापू में किलेबन्दी शुरू कर दी, इससे ट्यूनिस और सिसली की तंग ग्रीवा में ब्रिटिश जहाजों को रोका जा सकता था। स्वेज नहर की रक्षा के लिए तथा इराक से आने वाले तेल की पाइप लाइन का बन्दरगाह होने से फिलस्तीन में हैफा का अड्डा अंग्रेजों के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण था। यहाँ इटली ने अरबों को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भड़काना शुरू किया। इस तरह यह स्पष्ट था कि इटली की फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के साथ मैत्री सम्भव नहीं थी, जर्मनी के साथ मिलकर उसने धुरी राष्ट्रों का मित्रराष्ट्र विरोधी गुट बनाया। मुसोलिनी कहा करता था—"इन दोनों के संघर्ष का हल किसी समझौते से नहीं हो सकता, या तो हम रहेंगे या वे रहेंगे।"

नात्सी-सोवियत अनाक्रमण समझौता (Nazi-Soviet Non-aggression Pact **२३ अगस्त, १९३९**)—उपर्युक्त दोनों गुट बन जाने पर सोवियत रूस जर्मन विरोधी गुट में समझा जाता था। पहले यह बताया जा चुका है कि हिटलर और मुसोलिनी साम्यवाद के विरुद्ध सदैव विषवमन करते थे और उन्होंने इसके विरोध में एण्टीकोमिण्टर्न पैक्ट बनाया था। उस समय यह कल्पना नहीं की जा सकती थी कि जर्मनी और रूस जैसे कट्टर शत्रु कभी मित्र बनेंगे। किन्तु वास्तविक राजनीति (Real politics) की आवश्यकताओं ने दोनों देशों को अपनी सुरक्षा के लिए ऐसा करने को बाधित किया और २३ अगस्त, १९३९ को दोनों देशों के अनाक्रमण समझौते के अकल्पनीय समाचार से सारा विश्व स्तब्ध रह गया।

वस्तुतः इस समय मास्को में दो प्रकार की संधिवार्तायें चल रही थीं, पहली वार्ता ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के बीच में तथा दूसरी जर्मनी और रूस के मध्य में थी। उस समय पोलैण्ड पर जर्मन आक्रमण की संभावना बहुत अधिक थी। दोनों पक्ष इस विषय में रूस का सहयोग चाहते थे। मित्रराष्ट्रों ने रूस के साथ संधि करने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी, किन्तु इसमें सबसे बड़ी बाधा पोलैण्ड था, वह अपने देश में रूसी सेनाओं का प्रवेश नहीं चाहता था और रूसियों की संधि की सबसे बड़ी शर्त यही थी कि आक्रमण की दशा में पोलैण्ड रूसी सेनाओं को वहां आने दे, क्योंकि इसी अवस्था में वे जर्मनी को अपने देश पर हमला करने से रोक सकते थे। पोलैण्ड रूसी सेना का अपने देश में प्रवेश बड़ा घातक समझता था, उसकी जिद के कारण जब संधिवार्ता में गतिरोध उत्पन्न हो गया तो रूस ने जर्मनी के साथ समझौता कर लिया। इसके अनुसार दोनों ने एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध न छेड़ने का तथा किसी एक पर अन्य तीसरे राज्य द्वारा आक्रमण

होने की दशा में उसे सहायता न देने का वचन दिया, एक-दूसरे के विरुद्ध की जाने वाली गुटबन्दियों से पृथक् रहने का निश्चय किया। इस संधि के साथ एक गुप्त समझौता भी था, वह १९४८ में प्रकाशित हुआ। इसके अनुसार पूर्वी योरोप को जर्मनी और रूस में बांटने की व्यवस्था की गई थी।

इस समझौते का **दूसरा कारण** बाल्टिक राज्यों की स्थिति थी। हार्डी ने इसे पोलैण्ड के विरोध की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है।[४] बोल्शेविक क्रान्ति होने पर बाल्टिक सागर पर इस्टोनिया, लैटविया और लिथुआनिया, फिनलैण्ड स्वतन्त्र राज्य बन गये थे, उस समय रूस का यह विश्वास था कि सब देशों में साम्यवादी क्रान्ति होने पर साम्यवादी शासन स्थापित हो जायेंगे, वह उस समय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का सबल पोषक था। इन नये राज्यों से उसे कोई तात्कालिक संकट या चिन्ता नहीं थी, अतः उसने इनके स्वतन्त्र होने पर कोई आपत्ति नहीं की। किन्तु १९३९ तक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में महान् अन्तर आ गया था। १९१९ में जर्मनी बिल्कुल पददलित और पंगु देश था, सोवियत संघ को उससे कोई खतरा नहीं था। १९३९ में जर्मनी हिटलर के नेतृत्व में योरोप का सबसे शक्तिशाली देश बन चुका था और हिटलर बार-बार बोल्शेविक रूस के विध्वंस की बात कहा करता था। इस नवीन स्थिति में बाल्टिक राज्यों को असाधारण सामरिक महत्त्व प्राप्त हो गया। यह इस बात से स्पष्ट हो जायगा कि रूस का सुप्रसिद्ध नगर लेनिनग्राद फिनलैण्ड की सीमा से केवल पन्द्रह मील पर था। जर्मनी के साथ संघर्ष की स्थिति में यदि बाल्टिक राज्य बर्लिन के साथ हो जाय तो रूस के लिए प्रबल संकट उत्पन्न हो सकता था। अतः आत्मरक्षा की दृष्टि से रूस इन पर अधिकार करना आवश्यक समझता था ताकि बाल्टिक सागर में उसकी प्रभुता स्थापित हो सके। उसे लेनिनग्राद की रक्षा की चिन्ता सबसे अधिक थी, क्योंकि फिनलैण्ड की खाड़ी के दोनों ओर के प्रदेश तथा इस खाड़ी के अधिकांश टापू सोवियत संघ से मैत्री न रखने वाले राज्यों के हाथ में थे। १९१४-१८ में जर्मनी के साथ रूस को लड़ते हुए यह कठिनाई नहीं थी क्योंकि ये सब राज्य उस समय उसके साम्राज्य में थे। किन्तु अब इनके स्वतन्त्र होने के कारण रूस को इनके जर्मनी के साथ मिलने का प्रबल संकट एवं भय था। इसके निवारण के लिए वह इनको अपने साथ मिलाये रखना चाहता था।

अतः ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के साथ संधि करने तथा जर्मनीविरोधी संघ का निर्माण करने में रूस की एक सबसे बड़ी शर्त यह थी कि या तो बाल्टिक राज्यों तथा फिनलैण्ड को शान्ति के मोर्चे (Peace Front) में सम्मिलित किया जाय या युद्ध छिड़ने पर इन राज्यों में रूस को सेनायें ले जाने की सुविधायें दी जायँ। ये देश इन दोनों में से कोई भी विकल्प मानने को तैयार नहीं थे और ब्रिटिश सरकार इससे अधिक कुछ नहीं कर सकती थी कि वह इन स्वतन्त्र राज्यों को रूस की शर्त स्वीकार करने के लिए प्रेरणा करे। किन्तु इससे रूस के सीमान्त की सुरक्षा संभव नहीं थी। जब ग्रेट ब्रिटेन उसे यह सुरक्षा न दे सका तो उसने जर्मनी के साथ अनाक्रमण समझौता करने का निश्चय किया।

---

४. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४९४—४९५

जर्मनी रूस का स्वाभाविक शत्रु था क्योंकि उसका विस्तार पूर्व में ही हो सकता था। हिटलर अपने भाषणों में सोवियत यूनियन के विरुद्ध प्रबल विषवमन किया करता था। किन्तु २८ अप्रैल, १९३९ के भाषण में वह इस विषय में मौन रहा, इसी समय ३ मई को रूस में लिटविनोव के स्थान पर मोलोतोव को विदेश-मन्त्री बनाया गया। यह सोवियत नीति के नई दिशा में परिवर्तन का सूचक था। क्योंकि लिटविनोव पश्चिमी लोकतन्त्रों का पक्षपाती समझा जाता था। इस समय मास्को में ब्रिटिश राजदूत सर विलियम सीड्स (Sir William Seeds) रूस से समझौते का पूरा प्रयत्न कर रहा था। ३१ मई को मोलोतोव ने अपनी एक वक्तृता में ब्रिटिश-रूसी समझौते में बाल्टिक राज्यों की उपर्युक्त बाधा का संकेत करते हुए कहा कि सोवियत सरकार के साथ हिटलर के घोर विरोध को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस बाधा से संधिवार्ता भंग नहीं होगी। ३० जुलाई को प्रसिद्ध रूसी पत्र इज़वस्तिया ने लिखा कि सोवियत सरकार 'फासिस्ट आक्रमण के अधिक विकास को रोकने के लिए शान्ति का एक सामान्य मोर्चा बनाना चाहती है'। अगले ही दिन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन ने पार्लियामेण्ट में यह घोषणा की कि मास्को में संधि के लिए ब्रिटिश तथा फ्रेंच दूत मण्डल भेजे जायेंगे।

किन्तु १५ अगस्त को जर्मन विदेश-मन्त्री बैरनवान वीज़सैकर (Weizsacker) ने बर्लिन-स्थित ब्रिटिश राजदूत सर नेविल हैन्डर्सन को यह कहा कि जर्मनी को रूस से कोई बड़ी सहायता नहीं मिलेगी किन्तु वह पोलैण्ड के बंटवारे में अपना हिस्सा पा सकेगा। इसके चार दिन बाद १९ अगस्त को रूस और जर्मनी के व्यापारिक समझौते का समाचार छपा। इससे ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के साथ रूस की संधि की आशा धूमिल हो गई। २३ अगस्त को **रूस और जर्मनी के अनाक्रमण समझौते** (Russo-German non-aggression pact) पर मास्को में हस्ताक्षर हो गये।

उस समय यह समझौता मित्रराष्ट्रों के लिए वज्रपात था। इसके एक सप्ताह बाद ही पोलैण्ड के प्रश्न पर जर्मनी ने दूसरा विश्व-युद्ध छेड़ दिया। यद्यपि इसे करने वाले दोनों देश अब तक कट्टर विरोधी थे, पर इससे उन्हें कुछ ऐसे ठोस लाभ प्राप्त हुए कि दो शत्रुओं ने गले मिलने में कोई हानि नहीं समझी। हिटलर दो मोर्चों पर नहीं लड़ना चाहता था, इस समझौते ने उसे पूर्वी सीमा से बिल्कुल निश्चिन्त बना दिया। रूस को उस समय फ्रांस और ब्रिटेन का भरोसा नहीं था, सैनिक शुद्धियों (Military purges) के कारण वह उस समय युद्ध के लिए तैयार नहीं था, तृतीय पंचवर्षीय योजना के उद्योगीकरण से अपने को शक्तिशाली बनाने के लिए कुछ समय चाहता था। अतः उसने प्रबल शत्रु के आक्रमण से बचने के लिए संधि का मार्ग ही श्रेयस्कर समझा।

यद्यपि फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध सुरक्षा के लिए १९३५ में रूस से अनाक्रमण समझौता किया, किन्तु इस समझौते ने उसे अन्यथासिद्ध कर दिया। फ्रांस को पुनः १९४० में १८७० की भांति जर्मन सेनाओं से पादाक्रान्त और पराजित होना पड़ा। उसकी समूची सुरक्षा-व्यवस्था और संधियां उसका परित्राण नहीं कर सकीं।

फ्रांस तथा अन्य देशों द्वारा सुरक्षा के लिए की गई विभिन्न संधियों को लैंगसम

द्वारा वर्णित निम्न तालिका से अच्छी तरह समझा जा सकता है[५] :—

फ्रेंच संधियां और समझौते	बेल्जियम (१९२०)	
	पोलैण्ड (१९२१)	लघु गुट (१९२०–२१)
	जैकोस्लोवाकिया (१९२४)	,,
	रूमानिया (१९२६)	,,
	यूगोस्लाविया (१९२७)	,,
	सोवियत रूस (१९३२, ३३)	
	इटली (१९३५)	
सोवियत संघ के अनाक्रमण समझौते	टर्की (१९२५, १९३५)	
	जर्मनी (१९२६)	
	अफगानिस्तान (१९२६)	
	लिथुआनिया (१९२६)	
	ईरान (१९२७)	
	फिनलैण्ड, इस्टोनिया, पोलैण्ड (१९३१)	
	फ्रांस (१९३२, ३५)	
	लैटविया, जैकोस्लोवाकिया (१९३३)	
	यूगोस्लाविया, इटली (१९३३)	
	जर्मनी (१९३९)	
इटली के अनाक्रमण और तटस्थता के समझौते	जैकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया (१९२४)	
	रूमानिया, स्पेन (१९२६)	
	अलबानिया (१९२६, अपने राज्य में मिलाना १९३९)	
	हंगरी (१९२७)	
	तुर्की (१९२८)	(१९३०-१९३३)
	यूनान (१९२८)	,,
	आस्ट्रिया (१९३०)	
	सोवियत रूस (१९३३)	
	फ्रांस (१९३५)	
	जर्मनी, जापान (१९३६)	
पोल सन्धियां और पैक्ट	फ्रांस, रूमानिया (१९२१)	
	लघु गुट (१९२२)	
	सोवियत रूस (१९३१, ३४)	
	जर्मनी (१९३४)	
बाल्कान पैक्ट	यूनान	(१९३४)
	रूमानिया	,,

५. लैंगसम—वर्ल्ड सिन्स १९१९, सप्तम संस्करण, पृ० ९२

तुर्की	(१९३४)
यूगोस्लाविया	"

राष्ट्रसंघ द्वारा सुरक्षा के प्रयत्न

फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए न केवल अन्य देशों के साथ सन्धियां कीं, अपितु राष्ट्रसंघ के माध्यम से भी सुरक्षा और शांति के अनेक प्रयत्न किये। इनमें निम्न प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—(१) पारस्परिक सहायता की सन्धि का मस्विदा (Draft Treaty of Mutual Assistance) (२) जेनीवा प्रोटोकोल (Geneva Protocol) (३) लोकार्नो सन्धियां (Locarno Treaties) (४) पेरिस का पैक्ट (५) निःशस्त्रीकरण सम्मेलन।

(१) पारस्परिक सहायता की सन्धि का मस्विदा—१९२२ ई० तक राष्ट्रीय संघ द्वारा प्राप्त होने वाली सुरक्षा के सम्बन्ध में फ्रांस का विश्वास शिथिल होने लगा था, क्योंकि उस समय तक होने वाली संघ की बैठकों से यह स्पष्ट हो गया था कि युद्ध की समाप्ति के बाद आदर्शवाद के उत्साह में विभिन्न देशों ने यद्यपि राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र (Covenant) पर हस्ताक्षर कर दिये थे, किन्तु वे इसकी जिम्मेदारियों से बचना चाहते थे। १९२० की राष्ट्रसंघ की पहली असेम्बली में कनाडा ने प्रादेशिक अखण्डता वाली १०वीं धारा को विधान से निकालने का प्रस्ताव रखा था, १९२१ की दूसरी असेम्बली में डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन ने धारा १६ में प्रतिज्ञापत्र भंग करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध लगाई जाने वाली पाबन्दियों के संबन्ध में यह संशोधन प्रस्ताव रखा कि राष्ट्रसंघ का प्रत्येक सदस्य स्वयमेव यह निश्चय करे कि क्या प्रतिज्ञापत्र का भंग हुआ है। १९२३ की चौथी असेम्बली में कनाडा का यह प्रस्ताव पेश हुआ कि १०वीं धारा के अनुसार प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा के लिए संघ की कौंसिल कोई उपाय सुझाते समय प्रत्येक राज्य की भौगोलिक और सामान्य स्थिति का भी ध्यान रखेगी, प्रत्येक देश की पार्लियामेंट स्वयमेव यह निश्चय करेगी कि वह अपने साथी राज्यों की सुरक्षा के लिए क्या सहायता दे सकती है। यद्यपि यह प्रस्ताव ईरान के विरोध के कारण पास नहीं हो सका, किन्तु इससे यह स्पष्ट हो गया कि किसी देश पर आक्रमण होने की दशा में राष्ट्रसंघ के माध्यम से अन्य देशों द्वारा उसे सहायता देने की आशा बहुत उज्ज्वल नहीं है। इसी प्रकार असेम्बली की दूसरी बैठक में आक्रान्ता देश के विरुद्ध प्रतिबन्धों की व्यवस्था करने वाली धारा १६ के सम्बन्ध में १९ प्रस्ताव स्वीकृत हुए, इन सब का आशय प्रतिबन्धों की व्यवस्था को शिथिल बनाना था। एक फ्रेंच आलोचक रे के शब्दों में "इन प्रस्तावों ने मूल धारा १६ के स्थान पर कोई अन्य व्यवस्था न करते हुए इसे बिल्कुल पंगु बना दिया।"

इससे फ्रांस का चिन्तित होना स्वाभाविक था। यह स्पष्ट था कि संघ का संविधान उसकी रक्षा नहीं कर सकता था। अतः फ्रांस ने संघ द्वारा विभिन्न देशों में ऐसे समझौते कराने चाहे, जिनसे सुरक्षा संभव हो, इसके लिए यह आवश्यक था कि शस्त्रीकरण की होड़ समाप्त हो। अतः इनमें इस पर बड़ा बल दिया जाता था। १९२२ में संघ द्वारा सुरक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ करने के लिए लार्ड राबर्ट सेसिल ने इस प्रकार के समझौते

के लिए निम्नलिखित चार प्रस्ताव किये—(१) शस्त्रास्त्रों में कमी सब देशों को करनी चाहिये। (२) यह कमी सुरक्षा की गारण्टियों पर ही हो सकती है। (३) ये गारंटियां सामान्य होनी चाहियें। (४) इस प्रकार की गारंटियां उन्हीं देशों को दी जायें जो शस्त्रास्त्र घटाने को तैयार हों। राष्ट्रसंघ की असेम्बली ने इन प्रस्तावों पर विचार करके **पारस्परिक सहायता की सन्धि का** एक मस्विदा (Draft) या प्रारूप (Draft Treaty of Mutual Assistance) तैयार किया और इसे विभिन्न देशों के पास सम्मति और स्वीकृति के लिए भेजा गया।

सन्धि का स्वरूप—इस संधि के मस्विदे में सब देशों की सुरक्षा के लिए आक्रमणात्मक युद्धों को अन्तर्राष्ट्रीय अपराध घोषित किया गया। किसी देश में युद्ध छिड़ने की दशा में चार दिन के भीतर संघ की कौंसिल को यह निर्णय करना था कि कौन आक्रान्ता है और आक्रांत देश को सहायता देने के लिए कौन से वित्तीय और सैनिक उपाय बरते जायँ। इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले सब देशों ने आक्रमण होने की दशा में एक-दूसरे को पारस्परिक सहायता का वचन दिया, किन्तु यह सहायता कुछ प्रतिबन्धों के साथ थी। युद्ध के क्षेत्र को सीमित रखने की दृष्टि से इसमें यह कहा गया था कि आक्रमण रोकने के लिए स्थल, जल और वायु सेनाओं की सहायता उस प्रदेश के राज्य ही करेंगे। उदाहरणार्थ, यदि अमेरिका में कहीं युद्ध छिड़ता है तो योरोप के राष्ट्र वहाँ अपनी सैनिक सहायता नहीं भेज सकते। इस सन्धि में यह भी व्यवस्था थी कि इसे स्वीकार करने वाले देशों को दो वर्ष के भीतर अपने शस्त्रास्त्र कम कर देने चाहियें, यदि ऐसा नहीं करेंगे तो उन्हें आक्रमण के विरुद्ध सामान्य सहायता नहीं दी जायगी। इस प्रकार इस सन्धि का निःशस्त्रीकरण से गहरा सम्बन्ध था।

यह सन्धि संघ की सुरक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ करने का पहला महत्त्वपूर्ण प्रयास था। हार्डी ने लिखा है—"इसमें सुरक्षा के एक सामान्य आश्वासन को स्थानीय सन्धियों के साथ संयुक्त करने का चातुर्यपूर्ण प्रयत्न था। किन्तु ऐसी सन्धियों के दोष दूर कर दिये गए थे, क्योंकि इसके अनुसार आक्रांता होने का निर्णय लीग की कौंसिल ने करना था। इसका यह परिणाम था कि आक्रमण करने की दृष्टि से कोई गुटबन्दी नहीं हो सकती थी।"[६]

इस सन्धि के मस्विदे को केवल १८ देशों ने स्वीकार किया। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस इसके पक्ष में नहीं थे। यद्यपि ब्रिटिश प्रतिनिधि लार्ड राबर्ट सेसिल इसके प्रमुख समर्थक थे। किन्तु १९२३ में रेम्जे मैकडानल्ड के प्रधानमंत्रित्व में स्थापित मजदूर दल की सरकार इसे मानने को तैयार नहीं थी। उसने इसका घोर विरोध किया क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य विश्वव्यापी था और सन्धि के इस मस्विदे में केवल युद्धक्षेत्र के पास वाले स्थानीय राज्यों को ही सैनिक सहायता द्वारा आक्रांता को रोकने का अधिकार दिया गया था। इससे विश्व के किसी गोलार्द्ध में युद्ध छिड़ने की दशा में, उसमें अवस्थित ब्रिटिश साम्राज्य के प्रदेश युद्ध के विरुद्ध सहायता देंगे, किन्तु अन्य

६. हार्डी—ए शार्ट हिस्टरी ऑफ इण्टरनेशनल एफेयर्स, पृ० ६८

प्रदेश तटस्थ रहेंगे। ग्रेट ब्रिटेन के लिए यह स्थिति सर्वथा अवांछनीय थी, इसका उपनिवेशों के सम्बन्धों पर गहरा असर पड़ता था। इस सन्धि के मस्विदे का **दूसरा बड़ा दोष** राष्ट्रसंघ की कौंसिल को आक्रान्ता निर्णय करने आदि के बड़े व्यापक अधिकार प्रदान करना था। ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य देश इसे उचित नहीं समझते थे। इनके विरोध के कारण शांति एवं सुरक्षा का यह पहला प्रयास विफल हुआ।

जेनीवा प्रोटोकोल (Geneva Protocol)—१६२४ तक ग्रेट ब्रिटेन में मेकडानल्ड के नेतृत्व में पहली मजदूरदली सरकार स्थापित होने तथा फ्रांस में उग्रतावादी प्वायंकारे के स्थान पर उदार एरियो (Herriot) के प्रधानमन्त्री बन जाने से राजनीतिक परिस्थिति में बड़ा अन्तर आ गया था। डावेस योजना द्वारा क्षतिपूर्ति की जटिल समस्या हल होने से अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में तनाव कम हो गया था। अतः राष्ट्रसंघ द्वारा सुरक्षा की समस्या को हल करने के प्रयास पुनः आरम्भ हुए। इस बार इनका मुख्य आधार मध्यस्थता या पंचनिर्णय (Arbitration) था। पहले आक्रान्ता निश्चित करने के निर्णय का भार संघ की कौंसिल पर छोड़ा गया था, अब यह मध्यस्थ पर छोड़ा गया। मैकडानल्ड ने सितम्बर १६२४ की असेम्बली की बैठक में सब विवादों के मध्यस्थ द्वारा निर्णय पर बहुत बल दिया। उनके तथा एरियो के संयुक्त प्रस्ताव पर एक नई सुरक्षा योजना की रूपरेखा तैयार करने का कार्य यूनानी प्रतिनिधि पोलिटिस (Politis) तथा चेकोस्लोवाक प्रतिनिधि बेनेस (Benes) को सौंपा गया। इनकी जेनीवा में तैयार की गयी योजना को राष्ट्रसंघ की असेम्बली ने २ अक्टूबर, १६२४ को स्वीकार किया। यही जेनीवा प्रोटोकोल के नाम से प्रसिद्ध है। इसका वास्तविक नाम 'अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समझौते का **प्रोटोकोल**' (Protocol for the Pacific settlement of International disputes) है। यह निश्चित रूप से राष्ट्रसंघ के विधान के दो बड़े दोष ठीक करने का सराहनीय प्रयत्न था। पहला दोष यह था कि संघ की कौंसिल के सभी निर्णयों को लागू करने के लिए सर्वसम्मति (unanimity) का होना आवश्यक था, यह कभी नहीं होती थी।

इसकी मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित थीं—(१) इस प्रोटोकोल पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने यह घोषणा की कि वे दो अवस्थाओं के अतिरिक्त कभी युद्ध नहीं करेंगे। पहली अवस्था अपने देश पर हुए आक्रमण से रक्षा और दूसरी अवस्था राष्ट्रसंघ की कौंसिल या असेम्बली के आदेशों का पालन थी। (२) विभिन्न देशों के सब कानूनी झगड़ों का निर्णय **आवश्यक रूप से** स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा किया जायगा। (३) राजनैतिक विवादों का निर्णय राष्ट्रसंघ की कौंसिल या विशेष मध्यस्थता समितियां (Arbitration committees) करेंगी। (४) आक्रमण की परिभाषा न्यायालय के अधिकारक्षेत्र को या कौन्सिल की सर्वसम्मत रिपोर्ट को न मानना है; जो ऐसा करेगा, वह आक्रान्ता समझा जायगा। (५) कौंसिल की रिपोर्ट सर्वसम्मत न होने की दशा में वह अपने मध्यस्थ या पंच बनायेगी और उनका निर्णय मानना आवश्यक होगा। (६) राष्ट्रसंघ विधान की धारा ११ के अनुसार घरेलू अधिकारक्षेत्र (Domestic Jurisdiction) के विषयों पर भी संघ विचार कर सकेगा। (७) राष्ट्रसंघ की कौंसिल

किसी भी आक्रान्ता राज्य के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों (Economic sanctions) की घोषणा कर सकेगी। (८) १५ जून, १९२५ को जेनीवा में शस्त्रास्त्र घटाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् बुलायी जाय, बशर्ते कि पहली मई, १९२५ तक कौंसिल के स्थायी सदस्यों का बहुमत तथा राष्ट्रसंघ के अन्य दस सदस्य इस प्रोटोकोल को स्वीकार कर लें।

इस प्रकार इस प्रोटोकोल ने आक्रमण के लक्षण, मध्यस्थता की अनिवार्य व्यवस्था, आक्रान्ता के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही और निःशस्त्रीकरण द्वारा सुरक्षा-समस्या को हल करना चाहा। इसने राष्ट्रसंघ के संविधान की अपूर्णताओं को घरेलू अधिकार-क्षेत्र पर भी विचार की तथा अनिवार्य मध्यस्थता की व्यवस्था द्वारा दूर करना चाहा। इन दोनों व्यवस्थाओं द्वारा राष्ट्रसंघ के संविधान की दो बड़ी कमियाँ दूर हो गयीं किन्तु इस प्रोटोकोल को केवल १७ राज्यों ने ही स्वीकार किया। यह मुख्यतः ग्रेट ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों के विरोध के कारण रद्द हो गया।

प्रायः यह समझा जाता है कि नवम्बर १९२४ में मजदूरदली ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के पतन के बाद शासनारूढ़ होने वाले बाल्डविन के अनुदार दल ने इसे अस्वीकार किया। किंतु गाथोर्न हार्डी (Gathorn Hardy) ने यह बताया है कि ब्रिटिश सरकार का विरोध मुख्य रूप से इसके उपनिवेशों के विरोध के आधार पर था।[७] आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड को यह आशंका थी कि यह प्रोटोकोल घरेलू मामलों में उनकी सर्वोच्च सत्ता को मर्यादित कर देगा, जापानियों तथा अन्य एशियावासियों को उनके देश में आने से रोकने वाले नियमों पर बहुत प्रभाव डालेगा। आर्थिक प्रतिबन्धों की व्यवस्था भी उन्हें नापसंद थी, वे योरोप के झगड़ों से पृथक् और तटस्थ रहना चाहते थे। कनाडा, सं० रा० अमेरिका की भाँति पार्थक्य (Isolation) की नीति का पक्षपाती था। उसके प्रतिनिधि डैनड्यूरेन्ड (Dandurand) ने यह कहा था—"युद्ध की अग्नि के विरुद्ध किये जा रहे इस पारस्परिक बीमे में विभिन्न देशों के खतरे बराबर नहीं हैं। हम ज्वलनशील सामग्री से दूर अग्नि से सर्वथा सुरक्षित घर में रहते हैं।" भारत ने इसका इसलिये विरोध किया कि एशिया में अशांति होने पर आर्थिक प्रतिबंध लगाये जाने से उसका भारी बोझ उसे वहन करना पड़ेगा। सब विवादों में अनिवार्य मध्यस्थता (Compulsory Arbitration) का विचार बड़ा मौलिक और क्रान्तिकारी था, ब्रिटिश जनता इसे स्वीकार करने के लिए तैयार न थी, अतः चेम्बरलेन ने १२ मार्च, १९२५ को लीग की कौंसिल में दिये अपने भाषण में यह कहा कि ग्रेट ब्रिटेन ने इसे अस्वीकार करने का निश्चय किया है। फ्रांस का इससे निराश होना स्वाभाविक था। सुरक्षा स्थापित करने का उसका दूसरा प्रयत्न ग्रेट ब्रिटेन के विरोध से विफल हुआ।

एल्फेड जिम्मर्न ने इसके सम्बन्ध में यह ठीक ही लिखा है कि "यह प्रोटोकोल भूमण्डल पर कानून द्वारा शान्ति स्थापित करने का बड़ा साहसपूर्ण प्रयास था"।[८] कार ने इसका विश्लेषणात्मक मूल्यांकन करते हुए यह मत प्रकट किया है—"इसने फ्रांस की

७. हार्डी—ए शॉर्ट हिस्ट्री आफ इण्टरनेशनल एफेयर्स, पृ० ७१-७२
८. जिम्मर्न—दी लीग ऑफ नेशन्स एण्ड दी रूल ऑफ लॉ, पृ० ३५७

सुरक्षा की माँग को पारस्परिक सहायता की सन्धि के मस्विदे की अपेक्षा इस दृष्टि से कम मात्रा में पूरा किया कि इसमें सैनिक कार्यवाही को आवश्यक नहीं बनाया गया था, इसने राष्ट्रसंघ के विधान की धारा १६ के आधीन कौंसिल के अधिकारों को सुदृढ़ नहीं किया।······किन्तु प्रोटोकोल से फ्रांस की एक महत्त्वपूर्ण इच्छा १९१९ के शान्ति समझौते और प्रादेशिक व्यवस्था को स्थायी बनाये रखने की अभिलाषा पूरी हो गई क्योंकि इस प्रोटोकोल का निर्माण करने वाली समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह स्पष्ट लिखा था कि वर्साय या पेरिस की अन्य सन्धियों की किसी व्यवस्था का संशोधन इस प्रोटोकोल के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विवाद का विषय नहीं बन सकता। इस प्रकार इस प्रोटोकोल ने संघ के संविधान की उन विशेषताओं को पुष्ट किया, जो बाद में उसकी दुर्बलतायें कही जाने लगीं। ये विशेषताएं एक तो सुरक्षा का तात्पर्य १९१९ की प्रादेशिक व्यवस्था को बनाये रखना तथा दूसरा इसमें आवश्यक संशोधन के लिए उपयुक्त प्रबन्ध का न होना था।[१]

लोकार्नो समझौता (Locarno Pact) **पृष्ठभूमि**—जेनीवा प्रोटोकोल की समाप्ति के बाद फ्रांस ने अपनी सुरक्षा के लिए पुनः प्रयास आरम्भ किया। वह अब ग्रेट ब्रिटेन द्वारा राइन प्रदेश की सुरक्षा का विशेष आश्वासन और गारण्टी चाहता था, वस्तुतः जर्मनी ने रूर पर अधिकार होने से पहले यह प्रस्ताव फ्रेंच सरकार के सम्मुख रखा था कि वे दोनों ग्रेट ब्रिटेन और बेल्जियम के साथ मिलकर आपस में इस बात की प्रतिज्ञा करें कि एक पीढ़ी तक वे एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ेंगे। यह प्रस्ताव उस समय जर्मनी के लिए अधिक लाभप्रद था, क्योंकि तब जर्मनी पर फ्रांस के आक्रमण की अधिक आशंका थी। उग्रतावादी प्वायंकारे ने घाटे का सौदा समझकर इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, किन्तु अगले दो वर्षों में जर्मन सरकार इस प्रस्ताव को दोहराती रही। जेनीवा प्रोटोकोल रद्द हो जाने के बाद जर्मनी ने इस प्रस्ताव को पुनः पेश किया, फ्रांस ने अब नवीन परिस्थितियों में इसका स्वागत किया और इस समय ग्रेट ब्रिटेन भी फ्रांस को जर्मनी के विरुद्ध तथा जर्मनी को फ्रांस के विरुद्ध आक्रमण से रक्षा देने की गारण्टी के लिए तैयार हो गया। इन परिस्थितियों में जर्मन विदेश-मन्त्री गुस्टाव स्ट्रैसमान, फ्रैंच विदेश-मन्त्री ब्रीआं (Aristide Briand) और ब्रिटिश विदेश-मन्त्रा आस्टिन चेम्बरलेन के पारस्परिक सहयोग से एक महत्त्वपूर्ण समझौता हुआ। इस समझौते की अधिकांश वार्त्तालाप और शर्तें स्विट्ज़रलैंड में मादजोरा (Maggiore) झील के किनारे लोकार्नो नामक कस्बे में १ अक्टूबर से १६ अक्टूबर, १९२५ तक तय हुई थीं, अतः इसे लोकार्नो समझौता (Locarno Agreement) कहा जाता है।

लोकार्नो सम्मेलन में सात राष्ट्रों ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड के प्रतिनिधि एकत्र हुए। युद्ध के बाद यह पहला अवसर था, जब जर्मनी को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अन्य योरोपियन राज्यों के साथ समानता का दर्जा दिया गया, अब तक उससे पराजित अछूत का सा व्यवहार किया जाता था।

---

९. कार—इंटरनेशनल रिलेशन्स बिटवीन दी वार्स, पृ० ९१

इस सम्मेलन में इतने अधिक स्नेह और सौहार्द का वातावरण था कि इसे पुरानी कटुता और शत्रुता का अन्त करने वाली 'लोकार्नो भावना' कहा जाने लगा। यद्यपि इस सम्मेलन के सम्मुख अनेक कठिनाइयां थीं, किन्तु इस नवीन भावना से वे सब कठिनाइयाँ हल हो गईं। **पहली** कठिनाई यह थी कि जर्मनी यद्यपि पश्चिम में फ्रांस और बेल्जियम के सीमान्त की और राइन प्रदेश की सुरक्षा की गारण्टी देने को तैयार था, किन्तु पूर्व में चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड के साथ लगने वाले सीमान्त की सुरक्षा का वचन देने को तैयार न था। उसने स्पष्ट रूप से यह कहा कि पूर्वी सीमान्त को वह अन्तिम नहीं समझता, यद्यपि वह इसे सैन्यशक्ति द्वारा नहीं बदलवाना चाहता। ग्रेट ब्रिटेन भी इसी मत का पोषक था, वह केवल पश्चिमी सीमान्त की सुरक्षा की गारण्टी देने को तैयार था। आस्टिन चेम्बरलेन ने ब्रिटेन की ओर से पूर्वी योरोप के लिए कोई गारण्टी देने में असमर्थता प्रकट की। इस कठिनाई का यह हल निकाला गया कि दोनों सीमान्तों के लिए पृथक् प्रकार की संधियां हों, पूर्वी सीमान्त के लिए जर्मनी और पोलैण्ड तथा जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया के बीच मध्यस्थता सन्धियां (Arbitration treaties) हों अर्थात् इनकी सीमाओं में विवाद उत्पन्न होने पर यह प्रश्न मध्यस्थ या पंच को सौंपा जाय। किन्तु पश्चिमी सीमा की सुरक्षा के लिए गारण्टी सन्धियाँ हों अर्थात् फ्रांस, जर्मनी और बेल्जियम की सीमाओं की सुरक्षा के लिए तथा राइन प्रदेश के विसैन्यीकरण के लिए ये तीनों देश तथा ग्रेट ब्रिटेन और इटली भी पूरा आश्वासन दें और इन सन्धियों के बाद जर्मनी राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाय। **दूसरी बड़ी कठिनाई** यह थी कि जर्मनी सोवियत रूस के साथ **रापोल्लो की सन्धि** कर चुका था (देखिये पृ० ८७)। जर्मनी को यह भय था कि राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने पर पश्चिमी शक्तियां यदि कभी धारा १६ के आधीन रूस के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करें तो उसे भी उपर्युक्त सन्धि के विरुद्ध ऐसी कार्यवाहियों के लिए बाधित होना पड़ेगा। जर्मनी की उस आशंका का उन्मूलन अन्य शक्तियों ने एक पत्र द्वारा किया, इसमें यह कहा गया था कि राष्ट्रसंघ का सदस्य होने पर भी जर्मनी संघ के विधान को क्रियान्वित करने में "अपनी सैनिक दशा और भौगोलिक अवस्था के अनुरूप" सहयोग प्रदान करेगा। इसका यह अर्थ था कि निःशस्त्र राष्ट्र होने के कारण जर्मनी से यह आशा नहीं रखी जायगी कि वह संघ द्वारा समर्थित किसी रूस-विरोधी सैनिक कार्यवाही में भाग ले।

समझौते का स्वरूप—लोकार्नो में सात राष्ट्रों द्वारा सात सन्धियों की रूपरेखा तैयार की गयी। (१) पहली और सबसे मुख्य सन्धि जर्मनी, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और बेल्जियम में पारस्परिक गारण्टी की संधि (Treaty of Mutual Guarantee) थी। इसमें इन सब शक्तियों ने इस बात की गारण्टी दी थी कि वे वर्साय की संधि द्वारा निश्चित की गयी जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस की सीमाओं को सुरक्षित बनाये रखने का तथा राइन प्रदेश के विसैन्यीकरण का वचन देते हैं। जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस ने यह समझौता किया कि वे एक-दूसरे पर तीन अवस्थाओं के अतिरिक्त न तो कभी आक्रमण करेंगे और न एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध छेड़ेंगे। युद्ध छेड़ने की तीन अवस्थायें 'न्याय आत्म-रक्षा' (Legitimate Defence), विसैन्यीकरण की व्यवस्था का

ज्वलन्त उल्लंघन (Flagrant Breach of demilitarisation) तथा राष्ट्रसंघ द्वारा आदिष्ट सैनिक कार्यवाही थी। इन राज्यों ने "अपने बीच उत्पन्न होने वाले सब प्रकार के विवादों को" शांतिपूर्ण उपायों से हल करने का तथा सन्धि का उल्लंघन करने वाले राज्य के विरुद्ध सम्मिलित कार्यवाही करने का निश्चय किया। यदि सन्धि के उल्लंघन में कोई सन्देह हो तो इसका निर्णय संघ की कौंसिल को सौंपा गया। यह सन्धि जर्मनी के राष्ट्र-संघ का सदस्य बनने पर लागू होनी थी।

(२) मध्यस्थता सम्बन्धी चार सन्धियां (Arbitration Conventions) एक ओर जर्मनी के साथ तथा दूसरी ओर क्रमशः बेल्जियम, फ्रांस, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के साथ पृथक् रूप में की गयी थीं। इनमें यह व्यवस्था की गयी थी कि जर्मनी तथा सन्धि करने वाले अन्य राष्ट्रों में उत्पन्न होने वाले तथा कूटनीति द्वारा न सुलझाये जा सकने वाले विवाद निर्णयार्थ किसी मध्यस्थ (Arbitrator) को दिये जायेंगे अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपे जायेंगे। यह व्यवस्था "इस सन्धि के बाद उत्पन्न होने वाले" नये विवादों के लिए थी, न कि पोलिश गलियारे (Polish Corridor) जैसे पुराने विवादों के लिए।

(३) अन्तिम दो गारण्टी सन्धियां एक ओर फ्रांस तथा दूसरी ओर क्रमशः पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के साथ थीं। इनमें यह व्यवस्था थी कि यदि लोकार्नो समझौते का पालन नहीं होता और बिना उत्तेजना के युद्ध छिड़ जाता है तो दोनों राष्ट्र एक-दूसरे की तुरन्त सहायता करेंगे।

लोकार्नो में तैयार किये गये उपर्युक्त सात सन्धियों के समझौते पर विधिपूर्वक पहली दि० १९२५ को सम्बद्ध देशों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये और यह १४ सि० १९२६ से लागू हुआ। जेनीवा प्रोटोकोल से इसका एक बड़ा भेद इस बात में था कि पहला समूचे विश्व के लिए था और यह केवल जर्मनी की पश्चिमी सीमा के लिए था। जेनीवा प्रोटोकोल की भाँति इसका प्रधान लक्ष्य राष्ट्रसंघ को शक्तिशाली बनाना तथा उसकी धारा १६ की व्यवस्थाओं को अन्तर्राष्ट्रीय शांति भंग करने वाले आक्रान्ता राज्यों के विरुद्ध अधिक प्रभावशाली रूप में लगाना था।

लोकार्नो समझौते के परिणाम—इसे उस समय संसार में स्थायी शांति के नव-युग का श्रीगणेश करने वाला समझा गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पेरिस के शांति सम्मेलन के बाद यह विश्व के कूटनीतिक इतिहास की सबसे बड़ी घटना थी। इसने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करके जर्मनी और फ्रांस के मनोमालिन्य और कटुता को दूर करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसका **पहला** सुपरिणाम यह था कि इसने फ्रांस और जर्मनी के मध्य स्थायी शत्रुता और वैमनस्य के मूल आधार को नष्ट किया, जर्मनी ने आल्सेस लोरेन के प्रदेश पर फ्रांस की प्रभुता स्वीकार करली और इसके लिए जर्मन आक्रमण की दुश्चिन्ता से फ्रांस को मुक्त किया, इसने दोनों देशों में सौहार्द बढ़ाकर अन्तर्राष्ट्रीय शांति की सम्भावना को प्रोत्साहन दिया, डावेस योजना के कार्य को पूरा किया, जर्मनी के साथ समानता का व्यवहार किया, उसे राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाकर सभ्य राष्ट्रों की श्रेणी में सम्मिलित किया। इसका **दूसरा** सुपरिणाम यह था कि यह

वर्साय की सन्धि की भांति जर्मनी पर बलपूर्वक थोपी नहीं गई थी, किन्तु उसकी इच्छा से और सहमति से की गयी थी। **तीसरा** सुपरिणाम राष्ट्रसंघ में जर्मनी के प्रवेश का यह हुआ कि अब तक इसमें गत महायुद्ध की विजेता शक्तियां ही थीं और ये वर्साय की व्यवस्था को स्थायी बनाये रखना चाहती थीं, किन्तु अब इसमें पराजित पक्ष को अपनी शिकायतें रखने, और अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं के विरुद्ध प्रतिवाद करने का अधिकार प्राप्त हुआ। **चौथा** सुपरिणाम यह था कि इसमें युद्ध के बाद पहली बार फ्रांस की सुरक्षा की आवश्यकताओं और वर्साय सन्धि के संशोधन की जर्मन माँगों के बीच सन्तुलन स्थापित किया गया। इसकी व्यवस्थायें फ्रांस और जर्मनी दोनों के लिए एक जैसी थीं, यदि जर्मनी सीमान्त व्यवस्था का उल्लंघन करता तो इंगलैंड और इटली, फ्रांस की वैसी ही सहायता करने को बाधित थे, जैसे फ्रांस द्वारा जर्मनी के सीमान्त का उल्लंघन करने पर जर्मनी की मदद करने को। फ्रांस यदि इसको एंग्लो-फ्रेंच सन्धि का पुनरुज्जीवन समझता था तो ग्रेट ब्रिटेन इसे अपनी परम्परागत **शक्ति-संतुलन** की नीति समझता था क्योंकि फ्रांस द्वारा शक्ति के मद में जर्मनी पर आक्रमण करने की दशा में वह फ्रांस को रोक सकता था। ग्रेट ब्रिटेन ने फ्रांस की सुरक्षा के पहले तीन प्रस्तावों—गारण्टी पैक्ट (१९१९), पारस्परिक सहायता की सन्धि के मस्विदे (१९२३) तथा जेनीवा प्रोटोकोल (१९२४) को ठुकराया था, क्योंकि वे जर्मनी को स्थायी रूप से पंगु बनाने के अन्यायपूर्ण प्रयत्न प्रतीत होते थे, किन्तु यह जर्मनी और फ्रांस दोनों के लिए न्यायपूर्ण और सम्मानास्पद समझौता था, बेल्जियम को महाशक्तियों से सुरक्षित रखने की पुरानी ब्रिटिश नीति के अनुसार था, अतः ग्रेट ब्रिटेन ने इसका समर्थन किया।

इसका **पाँचवां** सुपरिणाम यह था कि इसने वर्साय की प्रतिशोधपूर्ण नीति का अन्त किया। इससे पहले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सदा जर्मनी को कुचलने, उससे बदला लेने की कटुतापूर्ण चर्चायें होती थीं, अब इनका स्थान 'लोकार्नो की भावना' ने, सुलह, समझौते और शांतिचर्चाओं ने ले लिया, यह प्वायंकारे की उग्रतापूर्ण नीति की इतिश्री थी और अन्तर्राष्ट्रीय स्नेह और सौहार्द का नवयुग लाने वाली थी। ब्रिटिश विदेश-मन्त्री आस्टिन चेम्बरलेन ने कहा था—**"लोकार्नो समझौता युद्ध के और शान्ति के वर्षों की वास्तविक भेदक रेखा है।"** ११ नवम्बर, १९१८ को प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त होने पर भी उसकी प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना नहीं समाप्त हुई, वह लोकार्नो सन्धि के साथ १९२६ में ही समाप्त हुई। फ्रेंच विदेश-मन्त्री ब्रीआं ने इसका महत्त्व बताते हुए घोषणा की थी—"यह जर्मनी के लिए शान्ति है, यह फ्रांस के लिए शांति है। इससे इतिहास के पृष्ठों को काला करने वाले भयंकर एवं रक्तरंजित संघर्षों की एक सुदीर्घ श्रृंखला का अन्त होता है।···राइफलों, मशीनगनों और तोपों का जमाना लद गया, ये अब समझौते, मध्यस्थता और शांति के लिए मार्ग प्रशस्त कर रही हैं।"

वाल तथा किलफ ने लिखा है—"लोकार्नो समझौते ने जर्मन सीमान्त सुस्थिर किया, जर्मनी के राष्ट्रसंघ में प्रवेश का मार्ग खोला। इससे पहले वह कानून का भंग करने वाला भयंकर व्यक्ति (Outlaw) समझा जाता है। अन्य पराजित राष्ट्रों को संघ का सदस्य बना लेने पर भी इसे यह सुविधा नहीं दी गई थी। किन्तु इस समझौते

के बाद उसे अपने आकार, जनसंख्या तथा महाशक्ति के पुराने दर्जे के अनुसार संघ की कौंसिल का स्थायी सदस्य बनाया गया।[१०]

लोकार्नो समझौते की आलोचना—उस समय इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वालों में नवयुग का और नवीन भावना का इतना अधिक उत्साह था कि वे इसकी मर्यादाओं, सीमाओं तथा दोषों को नहीं देख सके। कार ने इनका प्रतिपादन करते हुए कहा है[११] कि इसका **पहला** दोष यह था कि इसमें जर्मनी के पश्चिमी सीमान्त को पूर्वी सीमा की अपेक्षा अधिक पवित्र और अनुल्लंघनीय माना गया था और जर्मनी ने इसे स्वयमेव ऐसा स्वीकार किया था। इसका यह अर्थ था कि वर्साय की सन्धि की वे व्यवस्थायें कानूनी और नैतिक दृष्टि से अधिक पवित्र और अनुल्लंघनीय हैं, जिन्हें जर्मनी ने स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया है। **दूसरा** दोष यह था कि इसने यह भावना उत्पन्न की कि ब्रिटिश सरकार राष्ट्रसंघ की सब व्यवस्थाओं को समान रूप से स्वीकार नहीं करती और उनका पालन करने को उद्यत नहीं है। ब्रिटिश सरकार ने अपने हित की दृष्टि से जर्मनी की पश्चिमी सीमा की सुरक्षा की गारण्टी दी, किन्तु पूर्वी सीमा की रक्षा का वचन नहीं दिया। इससे पूर्वी योरोप के देशों में यह चिन्ता होना स्वाभाविक था कि ग्रेट ब्रिटेन राष्ट्रसंघ के समर्थन का चाहे जितना ढोल पीटे, किन्तु वह पूर्वी योरोप की सीमाओं की रक्षा के लिए युद्ध नहीं करेगा, इससे संघ के सिद्धान्तों के प्रति उसकी अनास्था प्रकट होती थी और यह संघ को खोखला बनाने में बहुत सहायक सिद्ध हुई। **तीसरा** दोष यह था कि **यह समझौता अन्ततोगत्वा वर्साय की सन्धि एवं राष्ट्रसंघ के विधानपत्र दोनों के लिए घातक सिद्ध हुआ,** क्योंकि इसने दो प्रकार के दृष्टिकोणों को प्रोत्साहित किया, पहला तो यह कि वर्साय की सन्धि की व्यवस्थाओं का पालन उस समय तक आवश्यक नहीं है, जब तक कि इन्हें स्वेच्छापूर्वक न स्वीकार किया गया हो और दूसरा यह कि विभिन्न सरकारें सीमाओं की रक्षा के लिए तभी सैनिक कार्यवाही करें जबकि इसमें उनका प्रत्यक्ष स्वार्थ हो। ये दोनों दृष्टिकोण वर्साय की सन्धि को छिन्न-भिन्न करने और संघ को निर्बल बनाने में सहायक हुए। जर्मनी द्वारा वर्साय की सन्धि का एक अंश स्वीकार कर लिए जाने पर, इसके अतिरिक्त अन्य व्यवस्थाएँ उसके लिए अन्यायमूलक समझी जाने लगीं और जब हिटलर का उत्कर्ष होने पर जर्मनी ने इन्हें तोड़ना शुरू किया तो उपर्युक्त दृष्टिकोण के अनुसार इनका भंग बहुत बुरा नहीं समझा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि वर्साय की संधि की व्यवस्थाओं को भंग करने में जर्मनी का साहस बहुत बढ़ गया और हिटलर ने मार्च १९३६ में राइन प्रदेश में जर्मन सेनाएँ भेजकर लोकार्नो सन्धि की इस प्रदेश की विसैन्यीकरण की व्यवस्था का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन किया। लोकार्नो समझौते का **चौथा** बड़ा दोष यह था कि इसने जर्मनी के पश्चिमी सीमान्त को अनावश्यक महत्त्व दिया और पूर्वी योरोप की उपेक्षा की। मैण्डर ने यह लिखा है—लोकार्नो समझौते का मूल्य बहुत सीमित था, ऐसी कूटनीतिक

---

१०. वाल और किलफ—इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृ० ३३९

११. कार—इन्टरनेशनल रिलेशन्स बिटवीन दी टू वर्ल्ड वार्स, पृ० ९६–९७

स्थिति उत्पन्न हो सकती थी, जिसमें राइन प्रदेश की समस्या बिल्कुल गौण हो जाय। उदाहरणार्थ यदि जर्मनी आस्ट्रिया के साथ मिल जाता या पोलैण्ड पर हमला करता तो फ्रांस का जर्मनी पर आक्रमण क्या न्यायोचित होता ? अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति विश्व में कहीं भी बिगड़ सकती थी, किन्तु इसमें राइन प्रदेश को ही विशेष महत्त्व दिया गया था। अतः लोकार्नो समझौता राइन प्रदेश से भिन्न अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में नितान्त असमर्थ था।

लोकार्नो समझौते का **पाँचवां** दोष यह था कि इसने जर्मनी की अनेक ऐसी जटिल समस्याओं को अछूता छोड़ा था, जिन पर उसे प्रबल असन्तोष और रोष था, इनके कारण युद्ध के ज्वालामुखी पर्वत का किसी भी समय विस्फोट हो सकता था। जर्मनी आल्सेसलोरेन, यूपेन और मैलमेडी छोड़ने को तैयार हो गया था, किन्तु वह डैन्जिग, पोलिश गलियारे तथा ऊपरी साइलीशिया का परित्याग करने को तैयार नहीं था। वह इन्हें कभी नहीं भूल सकता था, द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भ डैन्जिग और पोलिश गलियारे के प्रश्न पर ही हुआ था। शूमैन ने पूर्वी सीमान्त को जर्मनी का सदा बहने वाला नासूर कहा है, लोकार्नो समझौते में इसके समाधान की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसके अतिरिक्त उस समय जर्मनी शस्त्रीकरण में समानता की, उपनिवेशों की, वर्साय सन्धि में उसे युद्ध छेड़ने का उत्तरदायी बनाने वाली धारा को हटाने की माँग कर रहा था। जर्मनी में प्रबल असन्तोष के इन कारणों का लाभ उठाते हुए हिटलर तथा नात्सी दल ने सत्ता हस्तगत की थी। लोकार्नो समझौते में असन्तोष के इन कारणों को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया गया। अतः लोकार्नो की भावना क्षणिक एवं अल्पकालीन ही थी, चार वर्ष बाद १९२९ में यह बिलकुल क्षीण एवं मृतप्राय हो गई।

इसका **छठा दोष** यह था कि पूर्वी योरोप के राज्य इससे असन्तुष्ट थे। पोलैण्ड यद्यपि फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन का मित्र था, किन्तु उसे यह बात शल्य की भांति चुभ रही थी कि राइन और विस्चुला के दोनों सीमान्तों से विभिन्न प्रकार का व्यवहार क्यों किया गया है, राइन की भांति उसके विस्चुला के सीमान्त की सुरक्षा और अखण्डता के लिए गारण्टी दी जानी चाहिए थी। सोवियत रूस भी इस सन्धि से शंकित और संत्रस्त था, पूर्वी सीमान्त की सुरक्षा के सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन का गारण्टी न करना उसके लिए बड़ी चिन्ता का विषय था, इसका यह अर्थ था कि यदि जर्मनी इस सीमान्त पर रूस का प्रदेश हथियाले तो ग्रेट ब्रिटेन को उस पर आपत्ति नहीं होगी। इससे पश्चिमी लोकतन्त्रों के प्रति उसके सन्देह और अविश्वास में वृद्धि होना स्वाभाविक था। अतः उसने जर्मनी से समझौते करने में कल्याण समझा। लोकार्नो सन्धि पर हस्ताक्षर होने से चार दिन पहले बर्लिन और मास्को ने एक व्यापारिक समझौते पर हस्ताक्षर किये। १९२६ में रूस-जर्मनी ने एक अनाक्रमण-सन्धि (Non-aggression Treaty) की, इसके अनुसार किसी तीसरी शक्ति द्वारा आक्रमण होने पर दोनों देशों ने तटस्थ रहने का वचन दिया था। यह स्पष्ट था कि लोकार्नो के समझौते ने पूर्वी योरोप के देशों में असन्तोष, असुरक्षा और आशंका की भावना उत्पन्न की थी।

केलॉग-ब्रीआं (Kellog-Briand) **अथवा पेरिस का समझौता** (Pact of

Paris) (२६ अगस्त, १६२८)—लोकार्नो समझौते का क्षेत्र सीमित था, किन्तु इससे उत्पन्न हुए आशावाद के वातावरण में फ्रांस के विदेश-मन्त्री ब्रीआं ने ६ अप्रैल, १६२७ को सं० रा० अमेरिका की जनता के नाम एक सन्देश में यह प्रस्ताव रखा कि फ्रांस सं० रा० अमेरिका के साथ एक ऐसी संधि करने को उत्सुक है, जिसमें युद्ध को अवैध घोषित किया जाय। २० जून को ब्रीआं ने एक ऐसी संधि का मस्विदा भी पेरिस-स्थित संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राजदूत को दिया। इस पर सं० रा० अमेरिका के विदेश-मन्त्री फ्रैंक केलाग (Frank Kellog) ने इसका स्वागत करते हुए ब्रीआं को यह सुझाव दिया कि दोनों देश इस बात का प्रयत्न करें कि अन्य देश भी "राष्ट्रीय नीति के साधन" के रूप में युद्ध का परित्याग करने की घोषणा करने वाले इस समझौते में सम्मिलित हों। इससे फ्रांस के लिए बड़ा धर्मसंकट उत्पन्न हो गया, सं० रा० अमेरिका के साथ उसकी लड़ाई की कोई सम्भावना नहीं थी, अतः उसके साथ ऐसे समझौते में कोई हानि नहीं थी, किन्तु अन्य देशों के साथ युद्ध को कभी न छेड़ने की बात मानना उसके लिए बड़ा कठिन था। फिर भी ब्रीआं इसके लिए तैयार हो गया, १३ अप्रैल, १६२८ को युद्ध परित्याग की घोषणा करने वाली एक सामान्य संधि का मस्विदा केलाग ने जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, इटली और जापान को भेजा, इस संधि के कुछ संदिग्ध पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए उसने अमेरिकी अन्तर्राष्ट्रीय कानून एसोसियेशन के सम्मुख एक भाषण में यह कहा कि यह संधि विभिन्न राष्ट्रों के आत्मरक्षा के अधिकार पर तथा वर्तमान बाध्यताओं (Existing obligations) पर कोई प्रभाव नहीं डालती, इनके लिए युद्ध छेड़ा जा सकता था। इन व्याख्याओं के साथ उपर्युक्त संधि का मस्विदा ११ राज्यों के पास भेजा गया।

विभिन्न देशों की जनता ने युद्ध को अवैध बनाने वाले इस मस्विदे का बड़े उत्साह से स्वागत किया, किन्तु सरकारों ने इसे कुछ शर्तों के साथ स्वीकार करने का विचार प्रकट किया। ग्रेट ब्रिटेन ने विश्व के कुछ ऐसे हिस्सों विशेषतः मिस्र के लिए इसे स्वीकार नहीं किया, "जिनका कल्याण औरअखण्डता उसकी शान्ति और सुरक्षा के लिए अत्यावश्यक था।" फ्रांस ने वर्तमान संधियों की बाध्यताओं और आत्मरक्षा के अपवादों के साथ इसे स्वीकार किया और यह भी कहा कि यदि इस संधि का कोई एक देश उल्लंघन करता है तो अन्य देश इसके पालन की बाध्यता से मुक्त समझे जायें। २७ अगस्त १६२८ को विभिन्न अपवादों और शर्तों को ध्यान में रखते हुए १५ देशों के प्रतिनिधियों ने पेरिस में इस समझौते पर हस्ताक्षर किये और अन्य देशों को भी इसे स्वीकार करने का आमन्त्रण दिया। १६३३ तक इस पर ६५ देशों ने हस्ताक्षर किये, यह संख्या राष्ट्रसंघ के विधानपत्र (Covenant) पर हस्ताक्षर करने वाले देशों से अधिक थी। इस पर हस्ताक्षर न करने वाले सं० रा० अमेरिका के मनरो सिद्धान्त से आशंकित अर्जेन्टायना, ब्राजील और बोलिविया थे, अरब के नज्द हजाज और यमन को इस पर हस्ताक्षर के लिए आमन्त्रित ही नहीं किया गया। इनके अतिरिक्त सभी देशों ने इसे स्वीकार किया। इसका सुप्रसिद्ध नाम केलाग-ब्रीआं या पेरिस का समझौता है, किन्तु वास्तविक नाम 'युद्ध परित्याग की सामान्य संधि' (General Treaty for the Renunciation of War) है।

तीन धाराओं की इस संक्षिप्त सन्धि की पहली धारा में यह समझौता करने वाले पक्ष "अपनी जनताओं के नाम पर गम्भीर रूप से यह घोषणा करते हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिए युद्ध के उपाय के अवलम्बन की निन्दा करते हैं और अन्य राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्धों में राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में इसका परित्याग करते हैं।" दूसरी धारा में समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों ने इस बात पर सहमति प्रकट की है कि "आपस में उत्पन्न होने वाले सब प्रकार के विवादों का समाधान या हल शान्तिपूर्ण उपायों के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं किया जायगा।" तीसरी धारा में इस पैक्ट के लागू होने की तिथि का निर्देश और इसमें सम्मिलित होने वाले अन्य देशों के सम्बन्ध में व्यवस्था थी।

युद्ध को अवैध बनाने वाला पेरिस पैक्ट आगे बताई जाने वाली अपूर्णताओं के होते हुए भी बड़ा महत्त्वपूर्ण था। गाथोर्न हार्डी के मतानुसार "ऐतिहासिक घटना के रूप में, नीति की दृष्टि से लगभग सब देशों द्वारा युद्ध का यह परित्याग अद्वितीय महत्त्व रखता है।" युद्ध के प्रति एक नवीन नैतिक दृष्टिकोण के अभिव्यंजक प्रयत्न के रूप में यह असंदिग्ध रूप से प्रभावशाली था। यह इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण था कि इसने राष्ट्रसंघ से बाहर सं० रा० अमेरिका और सोवियत रूस को भी शान्ति के सामूहिक संगठन में सहयोग देने का आधार प्रस्तुत किया।[१२] जिम्मर्न ने यह मत प्रकट किया है[१३] कि यह उस समय विश्व के प्रभुतासम्पन्न राज्यों द्वारा किया गया सबसे महत्त्वपूर्ण समझौता था। इसकी **पहली** विशेषता यह थी कि यह कभी रद्द नहीं हो सकता था। राष्ट्रसंघ का विधानपत्र एक समझौता (Covenant) था, इसमें सम्मिलित होने वाला कोई भी देश नोटिस देकर इससे पृथक् हो सकता था, इसकी बाध्यताओं से मुक्त हो जाता था, किन्तु युद्ध को परित्याग करने की घोषणा ऐसी नहीं थी, उसे एक बार कर लेने के बाद पुनः वापिस लेने या अस्वीकार करने का कोई प्रश्न नहीं था। **दूसरी** विशेषता यह थी कि इसने सामाजिक सिद्धान्तों के आधार पर परम्परागत प्रभुसत्ता (Sovereignty) के सिद्धान्त को कुछ अंशों में खण्डित किया था। इसमें सब देशों ने प्रभुसत्तासम्पन्न होते हुए अपने को एक विश्वसमाज का सदस्य माना और उसके हित की दृष्टि से युद्ध को समाज-विरोधी मानते हुए उसका परित्याग करने के लिए सहमत हो गये। कार (Carr) ने इसके विषय में यह ठीक ही लिखा है[१४] कि समूची दुनिया के लगभग सभी देशों की सहमति प्राप्त करने वाला यह पहला राजनीतिक समझौता था, इसे स्वीकार करने वाले ६५ देशों की संख्या राष्ट्रसंघ की तत्कालीन सदस्य-संख्या की अपेक्षा सात अधिक थी। संघ में सम्मिलित न होने वाले दो महत्त्वपूर्ण देशों में से सं० रा० अमेरिका तो इसके जन्मदाताओं में से था और सोवियत रूस को इस विषय में इतना उत्साह था कि उसके विदेश-मन्त्री लिटविनोव ने पेरिस पैक्ट के लागू होने से पहले ही अपने पड़ोसी राष्ट्रों के साथ

---

१२. हार्डी—ए शार्ट हिस्टरी ऑफ इंटरनेशनल एफेयर्स, पृ० १८३–४

१३. जिम्मर्न—दी लीग ऑफ नेशन्स, पृ० ३९९–४००

१४. कार—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ११९.

इसे लागू करने के लिए 'लिटविनोव प्रोटोकोल' नामक समझौता कर लिया था।

इस पैक्ट का उद्देश्य सराहनीय होते हुए भी इसमें दो बड़े मौलिक दोष थे। **पहला** तो यह कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने अनेक शर्तों के साथ इसे स्वीकार किया था और इन शर्तों ने इसे सर्वथा प्रभावहीन बना दिया था। **दूसरा** दोष यह था कि इसका पालन करवाने के लिए कोई उपयुक्त व्यवस्था या संस्था नहीं बनाई गई थी, इसका भंग करने वालों के लिए कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं थी। पहले दोष का वर्णन करते हुए लैंगसम ने लिखा है[१५] कि युद्ध को अवैध बनाने (Outlawry of war) का प्रभाव इसके हस्ताक्षरकर्ताओं की शर्तों के कारण कम हो गया। वस्तुतः युद्ध निम्न तीन दशाओं को छोड़कर अवैध बनाया गया था—(१) आत्मरक्षा, (२) पहली सन्धियों के दायित्वों का पालन, (३) राष्ट्रसंघ के विधानपत्र और लोकार्नो समझौतों के दायित्वों की पूर्ति। इस प्रकार इसमें केवल आक्रमणात्मक युद्धों (Aggressive wars) को ही अवैध ठहराया गया था। किन्तु प्रायः युद्ध छेड़ने वाले सभी देशों का यह दावा होता है कि वे आत्मरक्षा के लिए लड़ रहे हैं, अतः युद्ध परित्याग की घोषणा का भविष्य में कोई बड़ा प्रभाव पड़ने की आशा नहीं थी।

इसे स्वीकार करने वालों ने इसे ऐसी अनेक शर्तों के साथ माना था कि यह इनसे बिल्कुल निष्प्रभाव हो गया था। उदाहरणार्थ अमेरिकी विदेश-मन्त्री ने इसके निर्माण के समय यह लिखा था कि "प्रत्येक राज्य को यह निर्णय करने का एकमात्र अधिकार है कि क्या वर्तमान परिस्थितियों में आत्मरक्षा के लिए युद्ध आवश्यक है।" इससे यह स्पष्ट था कि सं० रा० अमेरिका न केवल अपने प्रदेश की रक्षा के लिए अपितु मनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) की सुरक्षा के लिए भी युद्ध कर सकता था। अमेरिकी सीनेट के सदस्य बोरा (Borah) ने इस समय कहा था—"हमारे नागरिकों के जीवन एवं सम्पत्ति के विरुद्ध किये वास्तविक अथवा संभावित आक्रमणों के निवारण के लिए हमें यह पूरा अधिकार है कि हम अपनी सेना आवश्यकता पड़ने पर मेक्सिको या चीन भेज सकें।" फ्रांस ने इस सन्धि को निम्न शर्तों के साथ स्वीकार किया था—(१) सन्धि उस समय तक लागू नहीं की जायेगी, जब तक सब देश इसे स्वीकार न कर लें। (२) प्रत्येक हस्ताक्षरकर्ता को वैध आत्मरक्षा करने का अधिकार होना चाहिए। (३) यदि एक हस्ताक्षरकर्ता युद्ध न करने की अपनी प्रतिज्ञा भंग करता है तो अन्य सभी देशों को स्वयमेव इस प्रतिज्ञा के बन्धन से मुक्त हुआ समझा जाना चाहिए। (४) इस सन्धि का फ्रांस द्वारा इससे राष्ट्रसंघ के, पहले ग्रहण किये गये लोकार्नो सन्धियों के तथा अन्य सन्धियों के दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। फ्रांस इन्हें पूरा करने के लिए युद्ध छेड़ सकता है। इसी प्रकार ब्रिटिश सरकार ने उस समय यह घोषणा की थी—"विश्व में ऐसे अनेक प्रदेश हैं जिनका कल्याण और अखण्डता हमारी शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक है। इनको आक्रमणों से सुरक्षित रखना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए आत्मरक्षा का कार्य है। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि ब्रिटिश सरकार नई सन्धि को इस शर्त के

---

१५. लैंगसम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८३

साथ स्वीकार कर रही है कि इससे उनकी यह स्वतन्त्रता किसी भी प्रकार खण्डित नहीं होती।" जापान के विदेश-मन्त्री ने १६२६ में जापानी पार्लियामेंट में एक वक्तव्य देते हुए यह कहा था—"मंचूरिया और मंगोलिया ऐसे प्रदेश हैं, जहां हम आत्मरक्षा के अधिकार का प्रयोग कर सकते हैं।··· यदि मंचूरिया में शान्ति भंग हो तो जापान के लिए आत्मरक्षा के रूप में वहां आवश्यक कार्यवाही करना न्यायोचित है। इन अवस्थाओं में जापान युद्ध-विरोधी समझौते का पालन करने को बाधित नहीं होगा।" जापान ने १६३१ में मंचूरिया की विजय के समय आत्मरक्षा की युक्ति देते हुए कहा था कि इसकी सुरक्षा उसके लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी ग्रेट ब्रिटेन के लिए स्वेज नहर की तथा सं० रा० अमेरिका के लिए पानामा की नहर की रक्षा आवश्यक है।

सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि महाशक्तियों द्वारा उपर्युक्त शर्तों और प्रतिबन्धों के साथ केलाग-ब्रीआं पैक्ट स्वीकार करने के कारण यह पैक्ट सर्वथा निष्प्रभाव हो गया। इस विषय में एडविन बोरचर्ड (Edvin Borchard) ने यह सत्य ही लिखा है—"कि इन शर्तों (Reservations) को देखते हुए किसी ऐसे युद्ध की कल्पना करना बहुत कठिन था, जो पिछली शताब्दी में लड़ा गया हो या भविष्य में लड़ा जाने वाला हो तथा उपर्युक्त शर्तों में न आता हो। इसने युद्धों को अवैध ठहराने के स्थान पर विशेष युद्धों को न्याय्य ठहराने की ऐसी गम्भीरतम अनुज्ञप्ति (Solemn Sanction) प्रदान की, जो अब तक कभी युद्धों को प्रदान नहीं की गई थी।" इसने इन शर्तों द्वारा युद्धों को अवैध और वर्जित बनाने के स्थान पर उन्हें वैध बताने के तर्कों को प्रामाणिक मानने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया।

इस समझौते की **पहली** बड़ी कमी यह थी कि इसमें इसे क्रियान्वित करने और इसे भंग करने वालों को दण्ड देने की कोई व्यवस्था या मशीनरी नहीं थी। हार्डी ने लिखा है[16] कि "इसका इससे अधिक ठोस कोई आधार नहीं था कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य पूरी ईमानदारी से इसका पालन करें, इसमें इसका उल्लंघन करने वालों को दण्डित करने की कोई व्यवस्थायें (Sanctions) नहीं थीं। इस युग में जब राज्य उन्हें असुविधाजनक प्रतीत होने वाले उत्तरदायित्वों के पालन की उपेक्षा कर रहे थे, यह पैक्ट राज्यों में ऐसा विश्वास नहीं उत्पन्न कर सकते थे, जिससे उन्हें निःशस्त्रीकरण की प्रेरणा मिले।" इस युद्ध-विरोधी पैक्ट का एक बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले जो राज्य इसका उल्लंघन करना चाहते थे, वे युद्ध-घोषणा किये बिना ही युद्ध छेड़ने लगे। इस प्रकार इस पैक्ट से राज्यों ने 'सभ्य युद्धों' (Civilized Warfare) से पहले की बर्बर दशा अपना ली। जापान चीन के साथ कई वर्ष तक बिना घोषणा के ही युद्ध करता रहा। वस्तुतः यह पैक्ट इस आशा के आधार पर बनाया गया था कि युद्ध-विरोधी लोकमत इतना प्रबल और प्रभावशाली हो जायगा कि किसी राष्ट्र द्वारा आक्रमणात्मक युद्ध छेड़ने पर यह उसका विरोध कर सकेगा। किन्तु यह आशा पूरी नहीं हुई, ऐसे लोकमत का निर्माण नहीं हुआ। अतः यह

---

१६. हार्डी — पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १८४

पैक्ट युद्ध बन्द करने की उदात्त अभिलाषा और शुभ आकांक्षा मात्र ही बन कर रह गया। इस आकांक्षा की पूर्ति नहीं हो सकी। इसका मुख्य महत्त्व मनोवैज्ञानिक था और यह थोड़े समय तक ही रहा।

इस पैक्ट की अग्नि परीक्षा १९२९ में सोवियत रूस-चीन के, १९३१ में जापान-मंचूरिया के तथा १९३५-३६ में इटली-एबीसीनिया के युद्ध में हुई। इन तीनों में यह पैक्ट युद्ध रोकने में बुरी तरह विफल हुआ तथा इसकी उपर्युक्त दुर्बलतायें भलीभांति प्रकट हुईं।। सोवियत रूस और चीन के विवाद में जब रूस ने अपनी सेनायें मंचूरिया भेजीं, युद्ध में धन-जन की हानि होने लगी तो सं० रा० अमेरिका के विदेश-मन्त्री स्टिमसन (Stemson) ने पेरिस पैक्ट के आधार पर दोनों देशों से यह प्रार्थना की कि वे आपसी विवाद का शान्तिपूर्ण रीति से समाधान कर लें। इस पर सोवियत रूस ने सं० रा० अमेरिका पर अनेक आरोप लगाते हुए यह कहा कि जब उसने सोवियत संघ की सरकार को मान्यता (Recognition) ही नहीं प्रदान की तो वह उसे लड़ाई बन्द करने के लिए कैसे कह सकता है। इस घटना से पैक्ट की निम्न निर्बलताएँ प्रकट हुईं— (१) युद्ध करने वाले देशों को लड़ाई बन्द करने की प्रेरणा करने वाली उपयुक्त संस्था तथा मशीनरी का अभाव, (२) यदि कोई सरकार स्वेच्छया दोनों पक्षों को युद्ध बन्द करने के लिए कहती है और इस पैक्ट का स्मरण कराती है तो उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों तथा वैमनस्य का उत्पन्न होना, (३) इस पैक्ट में लड़ाई छिड़ने पर इसके कारणों की जांच करने या इसे रोकने के उपाय सुझाने की कोई प्रक्रिया (Procedure) निश्चित नहीं थी। जापान द्वारा १९३१ में मंचूरिया पर आक्रमण करने पर भी इसकी यही निर्बलताएँ प्रकट हुईं, इस समय जापान ने अघोषित युद्ध छेड़ते हुए कहा कि यह उसके प्रभाव-क्षेत्र में है, वह "इसमें जापानी सैनिकों की रक्षा के लिए पुलिस कार्यवाही करने को बाधित हुआ है, जापान यहां आत्मरक्षा के लिए लड़ रहा है, अतः उस पर पेरिस का पैक्ट लागू नहीं होता।" यद्यपि सं० रा० अमेरिका ने जापान का यह दावा नहीं स्वीकार किया, किन्तु उसे रोकने के लिए कोई प्रभावशाली पग नहीं उठाया।

युद्ध रोकने की प्रभावशाली दण्ड-व्यवस्था से रहित पेरिस के समझौते को प्रायः 'पैने दांतों और नुकीले पंजों से हीन बाघ' कहा जाता है। इसमें कोरा आदर्शवाद और ऊंचे सिद्धान्त थे, उन्हें क्रियान्वित करने की आवश्यक व्यवस्थाएँ नहीं, अतः यह पैक्ट शान्ति एवं सुरक्षा की समस्या का समाधान नहीं कर सका।

इस समझौते की दूसरी बड़ी कमी यह थी कि इसमें इसे क्रियान्वित करने और इसे भंग करने वालों को दण्ड देने की कोई व्यवस्था नहीं थी। हार्डी के शब्दों में इसका आधार हस्ताक्षरकर्ताओं की ईमानदारी थी तथा इसका पालन न करने वालों के लिए कोई प्रतिबन्ध (sanctions) नहीं रखे गये थे। वस्तुतः यह पैक्ट इस आशा पर बनाया गया था कि युद्धविरोधी लोकमत इतना प्रबल और प्रभावशाली हो जायेगा कि किसी राष्ट्र द्वारा आक्रमणात्मक युद्ध छेड़ने पर यह उसका विरोध कर सकेगा। किन्तु यह आशा पूरी नहीं हुई, अत. यह पैक्ट युद्धों को नहीं रोक सका। यह केवल एक अभिलाषा और आकांक्षा थी, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकी। इसका मुख्य महत्त्व मनोवैज्ञानिक था

और यह बहुत थोड़े समय तक रहा। १९२९ में सोवियत रूस और चीन के, १९३१ में जापान-मंचूरिया के तथा १९३५–३६ में इटली-एबीसीनिया के युद्धों में इस समझौते का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन हुआ। पहले दो संघर्षों में इसकी निर्बलता प्रकट हो गयी। जापान ने १९३१ में मंचूरिया पर चढ़ाई करते हुए कहा कि यह प्रदेश उसके प्रभाव-क्षेत्र में है, इसमें "जापानी सैनिकों की रक्षा के लिए वह 'पुलिस कार्यवाही' करने को बाधित हुआ है, जापान यहां आत्मरक्षा के लिए लड़ रहा है, अतः उस पर पेरिस का समझौता नहीं लागू होता।" सं० रा० अमेरिका ने यद्यपि जापान का यह दावा स्वीकार नहीं किया, किन्तु उसे रोकने के लिए कोई प्रभावशाली पग नहीं उठाया।

निःशस्त्रीकरण—शान्ति और सुरक्षा के लिए निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता का अनुभव करते हुए पेरिस के शान्ति-समझौते की विभिन्न संधियों में इस दिशा में पहले पग के रूप में जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी की स्थलीय एवं जलीय सैनिक शक्ति को मर्यादित कर दिया गया था (देखिये पहला अध्याय)। राष्ट्रसंघ के संविधान की ८वीं धारा में शान्ति स्थापित करने के लिए शस्त्रास्त्रों की कमी को आवश्यक बताते हुए इसके लिए विस्तृत योजना बनाने का कार्य संघ की कौन्सिल को सौंपा गया था। इस कार्य के लिए जनवरी १९२० में एक **स्थायी परामर्शदाता आयोग** (Permanent Advisory Commission) बनाया गया। इसके सदस्य उस समय कौन्सिल में विद्यमान देशों में से प्रत्येक की स्थल, जल और वायुसेना का एक-एक विशेषज्ञ होता था। इन सेना-विशारदों से निःशस्त्रीकरण की आशा स्पेनिश कूटनीतिज्ञ साल्वादोर दि मादारियागा (Salvador De Madariaga) के शब्दों में वैसी ही थी, जैसी पादरियों के किसी आयोग से नास्तिकता की घोषणा की आशा रखना। अतः नवम्बर १९२० में संघ की असेम्बली ने इसमें राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में विशेषज्ञ समझे जाने वाले छः सेनाभिन्न (Civilian) व्यक्ति बढ़ाकर **अस्थायी मिश्रित आयोग** (Temporary Mixed Commission) के रूप में इसका पुनर्निर्माण किया और दूसरी असेम्बली ने इसे निःशस्त्रीकरण की संधि का मस्विदा तैयार करने का काम सौंपा।

वाशिंगटन का सम्मेलन (Washington Conference 1921–22) **और नौसैनिक शस्त्रों का नियंत्रण**—राष्ट्रसंघ ने जिस समय अपना निःशस्त्रीकरण का कार्य आरम्भ किया, उसी समय वाशिंगटन में राष्ट्रसंघ से सर्वथा पृथक् विभिन्न देशों की जलीय शक्ति को नियंत्रित करने के लिए एक सम्मेलन अमेरिकन राष्ट्रपति हार्डिंग द्वारा १२ नवम्बर, १९२१ को बुलाया गया। इसमें ग्रेट ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, इटली, चीन, बेल्जियम, पुर्तगाल, हालैण्ड के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य विभिन्न देशों में नौसेना के विस्तार के लिए होने वाली व्ययसाध्य और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में बाधक उग्र प्रतिद्वन्द्विता को रोकना था। इस सम्मेलन के आरम्भिक भाषण में ही अमेरिकन राज्य-मन्त्री चार्ल्स इवान्स ह्यूजेस (Charles Evans Hughes) ने यह घोषणा की कि यदि ग्रेट ब्रिटेन और जापान समझौता करने को तैयार हों तो अमेरिका नये जंगी जहाजों के निर्माण का कार्य छोड़ सकता है। इसका सम्मेलन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा और सम्भवतः यह सबसे सफल निःशस्त्रीकरण सम्मेलन था।

१२ नव० १९२१ से ६ फर० १९२२ तक इस सम्मेलन ने नौसैनिक होड़ को समाप्त करने के लिए सात संधियां कीं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण पहली संधि Five Power Treaty Limiting Naval Armament थी, इस पर ६ फरवरी, १९२२ को हस्ताक्षर हुए। इस संधि में प्रत्येक देश के लिए बड़े युद्धपोतों (Capital Ships) और वायुयानवाहक (Aircraft Carriers) पोतों के कुल टनों की मात्रा मर्यादित की गयी। बड़े युद्धपोत का अर्थ ८ इंच से बड़ी तोप वाले तथा १० हजार टन वाले जंगी जहाज़ से था। इस संधि द्वारा सं० रा० अमेरिका के पास अधिक से अधिक ५२,५०० टन के बड़े जंगी जहाज़, ग्रेट ब्रिटेन के पास ५२,५०० टन के जहाज (इनमें अधिकांश छोटे और अमेरिका की अपेक्षा पुराने थे) जापान के पास ३,१५,००० टन के जहाज, फ्रांस के पास १,७५००० टन के जहाज़ और इटली के पास १,७५,००० टन के जहाज़ रखे जाने निश्चित हुए, इससे इनकी नौसैनिक शक्ति का अनुपात ५ : ५ : ३ : १·६७ : १·६७ निश्चित हुआ। वायुयानवाहक जहाज़ों के लिए निम्नलिखित टनों की मात्रा तय हो गयी, सं० रा० अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन १,३५,००० टन, जापान ८१,००० टन, फ्रांस और इटली ६०,००० टन। अन्य प्रकार के जहाज़ों—क्रूजर, डिस्ट्रायर (Destroyer), पनडुब्बी आदि की मर्यादा के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो सका। ग्रेट ब्रिटेन पनडुब्बियों (Submarines) को बिल्कुल समाप्त करने के पक्ष में था, किन्तु फ्रांस ने इसका घोर विरोध किया। वायु एवं स्थल सेना को घटाने के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हुआ। किन्तु महाशक्तियों ने उपर्युक्त अनुपात को बनाये रखने के लिए अपने ४० प्रतिशत अधिक जहाज नष्ट करने और १० वर्ष तक नये नौसैनिक निर्माण को बन्द करने और छुट्टी मनाने (Naval Holiday) का निश्चय किया। यह निश्चित हुआ कि १० हज़ार टन से बड़ा युद्धपोत तथा २७,००० टन से बड़ा तथा ८ इंच से बड़ी तोपों वाला जहाज़ न बनाया जाय। इसी प्रकार प्रशान्त महासागर के नौसैनिक अड्डों के सम्बन्ध में यह तय हुआ कि जापान, ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका सन्धि में उल्लिखित अड्डों के अतिरिक्त नये अड्डे न बनायें। इसमें यह स्मरणीय है कि ग्रेट ब्रिटेन ने ११० देशान्तर रेखा से पूर्व में नये अड्डे न बनाने का आश्वासन दिया और उसका सुदूरपूर्व में बनाया जाने वाला सबसे बड़ा सिंगापुर का नौसैनिक अड्डा इस रेखा के बिल्कुल पास १०३·५० देशान्तर पूर्व में था। एक अन्य सन्धि द्वारा लड़ाई में विषैली गैसों का प्रयोग निषिद्ध ठहराया गया और पनडुब्बियों का प्रयोग मर्यादित कर दिया गया।

वाशिंगटन सम्मेलन का मूल्यांकन : सफलता के कारण—प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्धों के मध्य में हुए अनेक निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन था, इसने युद्धपोतों के निर्माण की तात्कालिक होड़ को नियन्त्रित किया। ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका और जापान को पूर्वी एशिया में नये नौसैनिक अड्डे बनाने या प्राप्त करने का निषेध किया, वर्तमान अड्डों में अधिक किलेबन्दी और शस्त्रीकरण से रोका। इसके परिणामस्वरूप सं० रा० अमेरिका फिलिप्पाइन द्वीपसमूह, गुआम तथा समोआ में नए नौसैनिक अड्डों का विकास नहीं कर सकता था, यद्यपि हवाई द्वीपसमूह के अड्डे को विकसित करने का अधिकार उसे प्राप्त हुआ। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन यद्यपि सिंगापुर के

अड्डे को बढ़ा सकता था, किन्तु हांगकांग तथा वेई-हेई-वाई (Wei-Hei-wai) के अड्डों का विकास नहीं कर सकता था। जापान अब बोनिन तथा क्यूराइल द्वीपसमूहों, अमामी-ओशिमा, ल्यू-क्यू-द्वीपसमूह, फारमोसा तथा पेस्काडोर्स (Pescadores) में अपने नौ-सैनिक अड्डे नहीं बना सकता था। इस सम्मेलन की यह बड़ी महत्त्वपूर्ण सफलता थी। यहां यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इस सम्मेलन की इस सफलता के क्या कारण थे। इसका वास्तविक उत्तर हमें इस सम्मेलन के समय की तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से मिलता है।

वर्साय की सन्धि के द्वारा जर्मनी की नौसैनिक शक्ति बिल्कुल समाप्त कर दी गयी थी। रूस और आस्ट्रिया की नौसैनायें पहले विश्वयुद्ध के बाद नगण्य थीं। इस समय केवल पांच देशों—ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका, जापान, फ्रांस और इटली के पास ही बड़ी नौसैनायें थीं। यद्यपि संख्या और टनों की दृष्टि से ब्रिटिश बेड़ा सबसे अधिक शक्तिशाली था, किन्तु इस समय सं० रा० अमेरिका ने जहाज़ों के पुनर्निर्माण का ऐसा विशाल कार्यक्रम शुरू किया था कि कुछ वर्षों में अमेरिकी बेड़े के ब्रिटिश बेड़े से अधिक प्रबल हो जाने की पूरी सम्भावना थी। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपनी पुरानी परम्परा के अनुसार अपने बेड़े को विश्व का सबसे बड़ा बेड़ा बनाये रखना चाहते थे। इसका एक ही उपाय था कि वे अमेरिका की अपेक्षा अधिक तेज़ी से नए युद्धपोतों, क्रूजरों आदि का निर्माण करें। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इंगलैण्ड की ऐसी आर्थिक स्थिति नहीं थी कि वह ऐसे विशाल कार्यक्रम को आरम्भ कर सके। प्रथम युद्ध के बाद जापान का एशिया और सुदूरपूर्व में प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा था किन्तु वह इससे सन्तुष्ट न था। इसे निरन्तर बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील था।

ग्रेट ब्रिटेन और जापान का उत्कर्ष, विशेष रूप से सुदूरपूर्व में इनकी प्रभाव-वृद्धि सं० रा० अमेरिका के लिए बड़ी चिन्ता का विषय था। १९०२ की एंग्लो-जापानी सन्धि (Anglo-Japanese Alliance) के कारण जापान अपने बेड़े का निरन्तर विस्तार कर रहा था। अमेरिका के राजनीतिज्ञ इन दोनों के संयुक्त बेड़े का मुकाबला करने के लिए दृढ़ संकल्प कर चुके थे। १९१६ से ही सं० रा० अमेरिका ने विशाल नौनिर्माण का कार्य आरम्भ कर दिया था। युद्ध के बाद इस संकल्प की घोषणा करते हुए सं० रा० अमेरिका के नौमंत्री जोसिफस डेनियल्स (Josephus Daniels) ने कहा—"यदि ग्रेट ब्रिटेन ने इस पर बल दिया कि बरतानिया समुद्र की लहरों पर शासन करे (Britannia rules the waves) तो अमेरिका ग्रेट ब्रिटेन में एक नया जहाज़ बनने पर दो नए जहाज़ और आवश्यकता पड़ने पर पाँच नए पोत बनायेगा।"

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इस प्रकार की नौसैनिक प्रतियोगिता करने का सामर्थ्य सं० रा० अमेरिका के अतिरिक्त किसी अन्य देश में नहीं था। ब्रिटेन युद्ध के ऋण में डूबा हुआ था, उसमें तथा जापान में अमेरिका के साथ यह प्रतियोगिता करने का सामर्थ्य नहीं था। जापान यह अच्छी तरह समझता था कि वह न तो सं० रा० अमेरिका के बराबर बेड़ा बना सकता है और न ही इसे उसमें कोई विशेष लाभ है। जापान को केवल प्रशान्त महासागर में ही अपना बेड़ा रखना था, जब कि सं० रा० अमेरिका को प्रशान्त एवं

अटलाण्टिक सागर में दो बेड़े रखने आवश्यक थे। अतः जापान को अमेरिका का यह प्रस्ताव मानने में कोई घाटा नहीं था कि उसका बेड़ा अमेरिकी बेड़े का ६०% हो! यह उसके लिए बड़ी लाभकर व्यवस्था थी, क्योंकि अन्यथा वह उसके साथ भीषण प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए बाधित होता और यह उसके आर्थिक सामर्थ्य से बाहर की बात थी। इटली और फ्रांस को भी अमेरिकी प्रस्ताव मानने में कोई आपत्ति नहीं थी। दोनों के बेड़े प्रधान रूप से भूमध्य सागर तक सीमित थे। इटली को इसी में सन्तोष था कि उसे फ्रांस के बराबर बेड़ा रखने दिया जाय। फ्रांस प्रथम विश्वयुद्ध से बहुत बरबाद हो चुका था, उसके लिए भी नौसैनिक प्रतियोगिता में पड़ना लाभदायक नहीं था। अतः वाशिंगटन सम्मेलन में सभी शक्तियों ने नौसैनिक शस्त्रास्त्रों के मर्यादित करने के प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार किये क्योंकि उस समय किसी शक्ति को ऐसी होड़ से कोई राजनीतिक लाभ नहीं था और न ही उसमें ऐसा करने का आर्थिक सामर्थ्य था। इसके अतिरिक्त इस होड़ को मर्यादित करने में कई बड़े लाभ थे। यदि आनुपातिक रूप में सबके नौसैनिक शस्त्रास्त्र सीमित हों तो विभिन्न शक्तियों के लड़ने की क्षमता को कोई क्षति नहीं पहुंचेगी, उनमें सुरक्षा की भावना उत्पन्न होगी तथा वे इस होड़ में किये जाने वाले भारी व्यय को वहन करने से बच जायेंगे।

वाशिंगटन सम्मेलन ने बड़े युद्धपोतों और वायुयानवाहकों की संख्या घटाने में सफलता प्राप्त की थी, किन्तु अन्य प्रकार के जहाज़ों पर कोई नियन्त्रण नहीं स्थापित किया था। इस कार्य के लिए एक सम्मेलन बुलाने के लिए अमेरिकन राष्ट्रपति कूलिज ने १० फरवरी, १९२७ को ग्रेट ब्रिटेन, जापान, इटली और फ्रांस को निमन्त्रण दिया, पहले दो देशों ने तो इसे स्वीकार कर लिया। पर इटली ने इसे इस आधार पर अस्वीकार किया कि अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वह अपनी नौसेना अब अधिक नहीं घटा सकता और फ्रांस की अस्वीकृति का कारण यह था कि इससे राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रश्नों में बाधा पहुंचेगी। अतः उपर्युक्त तीनों राष्ट्रों का सम्मेलन जेनीवा में २० जून, १९२७ को बुलाया गया।

जेनीवा सम्मेलन (Geneva Conference 1927)—इसमें सम्मिलित होने वाले तीनों राष्ट्रों के प्रतिनिधि सुप्रसिद्ध नौसेनापति और विशेषज्ञ थे, वे अपना धन्धा नहीं समाप्त करना चाहते थे और न ही उनसे नौसैन्य शक्ति को घटाने की आशा रखी जा सकती थी। इसमें सं० रा० अमेरिका का यह प्रस्ताव था कि उसके तथा ग्रेट ब्रिटेन के लिए सब प्रकार के क्रूज़र जहाज़ों के टनों की समान मात्रा निश्चित की जाय। ग्रेटब्रिटेन ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उसका यह कहना था कि उसके विश्वव्यापी साम्राज्य को देखते हुए प्रस्तावित टन संख्या बहुत कम है, ८ इंची तोपों वाले तथा ६ इंची तोपों वाले क्रूज़रों के टनों की मात्रा एक साथ मिलायी नहीं जानी चाहिए और चूंकि उसके नौसैनिक अड्डे सारी दुनिया में फैले हुए हैं अतः उसे छोटे क्रूज़र अधिक दिए जाने चाहियें और इस विषय में सं० रा० अमेरिका के साथ वह अपनी समानता (Parity) मानने को उद्यत न था। सं० रा० अमेरिका का बल बड़े क्रूज़रों की संख्या में वृद्धि और समानता पर था। दोनों देशों में कोई समझौता न होने से ४ अगस्त को यह सम्मे-

लन भंग हो गया। १३ फरवरी, १९२९ को अमेरिकी कांग्रेस ने राष्ट्रपति को १० हज़ार टन के नए १५ क्रूज़र तथा एक वायुयानवाहक जलपोत बनाने की आज्ञा दी।

रणपोतों के निर्माण की यह होड़ बड़ी भयानक थी। अमेरिका से अन्य देशों का भयभीत होना स्वाभाविक था। उसके प्रतिनिधि श्री गिब्सन ने २२ अप्रैल, १९२९ को यह घोषणा की कि सं० रा० अमेरिका प्रत्येक देश के लिए चार प्रकार के जहाज़ों—बड़े युद्धपोतों, वायुयान वाहकों, १० हज़ार टन से कम के जंगी जहाज़ों और पनडुब्बियों के टनों की संख्या को सीमित करने और घटाने के लिए तैयार है। ब्रिटेन भी ब्रीआं-केलाग पैक्ट के बाद अपने क्रूज़रों की संख्या ७० से ५० तक घटाने को तैयार हो गया। अक्टूबर १९२९ में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मैक्डानल्ड की सं० रा० अमेरिका की सद्भावना यात्रा से इसको बड़ा बल मिला और ८ अक्टूबर को ब्रिटिश सरकार ने एक नए नौसैनिक सम्मेलन के लिए सं० रा० अमेरिका, जापान, फ्रांस और इटली को निमन्त्रित किया।

लन्दन का नौसैनिक सम्मेलन (London Naval Conference 1930)—२१ जनवरी, १९३० से आरम्भ होने वाले इस सम्मेलन में ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने सब महाशक्तियों द्वारा सब प्रकार के रणपोतों के निर्माण को घटाने पर बल दिया। सं० रा० अमेरिका ने इसका समर्थन करते हुए ग्रेट ब्रिटेन के साथ समानता पर बल दिया। जापान बड़े क्रूज़रों में ब्रिटेन व अमेरिका के ७० प्रतिशत क्रूज़र रखना चाहता था। इटली अपनी नौसेना इस शर्त पर घटाना चाहता था कि उसकी घटी हुई नौसेना महाद्वीपीय शक्तियों के अर्थात् फ्रांस के तुल्य हो। फ्रांस का कहना था कि उसे अटलांटिक एवं भूमध्य सागर के तट के दो समुद्रतटों की रक्षा करनी है और इटली को केवल भूमध्य सागर के तट की, अतः उसकी नौसेना इटली से अधिक होनी चाहिए। इस सम्मेलन में पनडुब्बियों के प्रश्न पर भी गहरा मतभेद था। ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका इन की समाप्ति करने के पक्ष में थे, फ्रांस और जापान इससे सहमत नहीं थे।

तीन महीने की सुदीर्घ सन्धिवार्त्ता के उपरान्त २२ अप्रैल, १९३० को लन्दन की नौसैनिक सन्धि पर केवल ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका और जापान ने हस्ताक्षर किये। फ्रांस और इटली में समानता के प्रश्न पर समझौता नहीं हुआ, अतः उन्होंने इसके नौसैनिक शक्ति मर्यादित करने वाले मुख्य अंश पर हस्ताक्षर नहीं किये। इस सन्धि की महत्त्वपूर्ण व्यवस्थायें निम्नलिखित थीं—(१) पाँचों महाशक्तियों ने १९३६ तक नये बड़े युद्धपोत न बनाने का निश्चय किया। (२) ग्रेट ब्रिटेन ने अपने ५ बड़े जंगी जहाज़, सं० रा० अमेरिका ने तीन तथा जापान ने १ जहाज़ नष्ट करने का निश्चय किया। (३) वायुयानवाहक जहाज़ों में ६·१ इंच से बड़ी तोपें न लगाने का निर्णय हुआ। (४) पनडुब्बियों का आकार २००० टन तथा तोपों का ५·१ इंच तक सीमित किया गया, प्रत्येक देश को २८०० टन तथा ६·१ इंची तोपों वाली केवल तीन पनडुब्बियाँ रखने का अधिकार दिया गया। (५) क्रूज़रों की दो श्रेणियाँ बनाई गईं, ६.१ इंच से अधिक बड़ी तोपों वाले तथा इससे छोटी तोपों वाले। पहली श्रेणी के क्रूज़रों की मर्यादा इस प्रकार थी—सं० रा० अमेरिका १,८०,००० टन के १८ क्रूज़र, ब्रिटिश साम्राज्य १,४६,००० टन के १५ क्रूज़र, जापान १,०८,४०० टन के १२ क्रूज़र। दूसरी श्रेणी के क्रूज़रों के टनों की

मात्रा इस प्रकार थी—ब्रिटेन १,९२,००० टन, सं० रा० अमेरिका १,४३,५०० टन, जापान १,००,४५० टन। डिस्ट्रायर (Destroyer) या विध्वंसक जहाज़ ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका १,५०,००० टन के तथा जापान १,००,४५० टन के रख सकता था। (६) तीनों देश ५२,७०० टन की पनडुब्बियां रख सकते थे। (७) नौसेना को मर्यादित करने का समझौता केवल ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका और जापान में हुआ था, फ्रांस और इटली अपनी नौसेना में यथेच्छ वृद्धि करने में स्वतन्त्र थे। इस परिस्थिति का प्रतिकार करने के लिए एक संरक्षक धारा (Safeguarding Clause) द्वारा यह व्यवस्था की गई कि आवश्यकता आ पड़ने पर उपर्युक्त मर्यादाओं का अतिक्रमण करके भी नौशक्ति का विस्तार किया जा सकता है। (८) व्यापारिक जहाज़ों को विनष्ट करने वाली पनडुब्बियों के लिए यह नियम बनाया गया कि वे इन्हें डुबोने से पहले जहाज़ के यात्रियों और चालकों को सुरक्षित स्थान में पहुँचा दें। (९) इस सन्धि की अवधि ३१ दिसम्बर, १९३६ तक रखी गई और १९३५ में नया सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। आगे यह बताया जायगा कि राष्ट्रसंघ के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन की विफलता के बाद इसे कोई सफलता नहीं मिली।

राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयत्न—पहले राष्ट्रसंघ द्वारा इस कार्य के लिए एक अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) की स्थापना का वर्णन किया जा चुका है। सितम्बर १९२२ तक अनेक योजनाओं पर विचार करने के बाद यह इस परिणाम पर पहुँचा कि इस समस्या का हल विभिन्न देशों को सुरक्षा (Security) प्रदान करने से सम्भव है, जब तक उन्हें सुरक्षा नहीं प्राप्त होगी, वे अपने शस्त्रास्त्र घटाने को तैयार नहीं होंगे। १९२२ की असेम्बली ने इस आशय का प्रस्ताव पास किया और अगले कई वर्ष तक संघ ने इस उपाय से निःशस्त्रीकरण की समस्या हल करने का प्रयत्न किया।

सुरक्षा प्रदान करने का पहला प्रयत्न चौथी असेम्बली द्वारा १९२३ में **पारस्परिक सहायता की सन्धि का मस्विदा या प्रारूप** (Draft Treaty of Mutual Assistance) स्वीकार करना था, इसका उद्देश्य आक्रमण का शिकार होने वाले राष्ट्रों को सहायता प्रदान करना था, किन्तु यह मस्विदा ग्रेट ब्रिटेन आदि देशों ने स्वीकार नहीं किया (देखिए पृ० ९९)। इसके बाद मध्यस्थता (Arbitration) के उपाय से सुरक्षा की समस्या हल करने का प्रयत्न किया गया और शूमैन के शब्दों में **मध्यस्थता से सुरक्षा और सुरक्षा से निःशस्त्रीकरण** का नया मार्ग ढूंढा गया। इसका अनुसरण करते हुए जेनीवा प्रोटोकोल तैयार किया गया और १५ जून, १९२५ को सामान्य निःशस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन जेनीवा प्रोटोकोल स्वीकार करने को तैयार न था (देखिये पृ० १००)। इन सामान्य उपायों के विफल होने पर १९२५ की छठी असेम्बली ने कौन्सिल से यह निवेदन किया कि वह शस्त्रास्त्रों के घटाने तथा मर्यादित करने का सम्मेलन बुलाने की तैयारी के लिए आवश्यक अध्ययन कराये। इस पर कौन्सिल ने अस्थायी मिश्रित आयोग को समाप्त कर दिया और इसके स्थान पर **निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए सज्जीकरण आयोग** (Preparatory Commission for the Disarma-

ment Conference) बनाया और इसके सदस्य कौन्सिल में विद्यमान राज्यों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त, संघ के कुछ अन्य सदस्य राज्यों के प्रतिनिधि थे तथा संघ का सदस्य न होते हुए भी सं० रा० अमेरिका, रूस और जर्मनी के प्रतिनिधियों को इसमें आमन्त्रित किया गया।

इस आयोग का कार्य बड़ा जटिल था। इसमें तीन बड़ी कठिनाइयां थीं। (१) स्थल सेना के नियन्त्रण के सम्बन्ध में यह कठिनाई थी कि सैनिकों की सही संख्या किस प्रकार आँकी जाए। अनिवार्य सैनिक सेवा (Conscription) वाले फ्रांस आदि देश अनिवार्य सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद सेना से मुक्त हुए व्यक्तियों की गणना सैनिकों में नहीं करना चाहते थे, किन्तु ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका आदि जिन देशों में यह व्यवस्था नहीं थी, वे ऐसे सुशिक्षित व्यक्तियों को सेना में न होने पर भी सैनिक समझते थे। (२) नौशक्ति के नियन्त्रण में इस प्रश्न पर घोर मतभेद था कि इसका स्वरूप क्या हो। ग्रेट ब्रिटेन और स० रा० अमेरिका यह नियन्त्रण दो प्रकार का चाहते थे, पहला तो यह कि प्रत्येक देश के लिए रखे जाने वाले कुल जहाजों के टनों की संख्या निश्चित हो जाय और दूसरा यह कि प्रत्येक प्रकार के जहाज—युद्धपोत, क्रूज़र, विध्वंसक, वायुयान-वाहक, पनडुब्बी के लिए पृथक् रूप से टनों की संख्या निश्चित हो। फ्रांस और इटली केवल पहले प्रकार का नियन्त्रण चाहते थे। (३) तीसरी बड़ी कठिनाई अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण और देखभाल की थी। फ्रांस और उसके साथी देश यह चाहते थे कि विभिन्न देशों द्वारा शस्त्रास्त्रों के मर्यादित करने की व्यवस्था का पालन करवाने के लिए एक सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण पद्धति होनी चाहिए। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन आदि का यह मत था कि निःशस्त्रीकरण योजना के पालन के लिए हमें विभिन्न देशों की सदाशयता और ईमानदारी पर भरोसा रखना चाहिए।

सज्जीकरण आयोग पाँच वर्ष तक निरन्तर प्रयत्न करने पर भी निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी मतभेदों को अपनी सात बैठकों में न सुलझा सका। ३० नव० १९२७ को रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव ने एक वर्ष के भीतर सब देशों द्वारा जल, स्थल और वायुसेनाओं की सम्पूर्ण समाप्ति, अनिवार्य सैनिक सेवा, सैन्य अधिकारियों और युद्ध मन्त्रालयों के अन्त कर देने का क्रान्तिकारी प्रस्ताव रखा। इसके विरोध में पहली बार आयोग के सदस्यों की लगभग सर्वसम्मति हुई और यह प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। ६ नव० १९३० को इस आयोग का सातवां और अन्तिम अधिवेशन हुआ, ९ दिसम्बर, १९३० को इसने निःशस्त्रीकरण की एक योजना का एक मूल प्रस्ताव (Draft Convention) पास करके अपनी कार्यवाही समाप्त की। ६० धाराओं के इस प्रस्ताव की मुख्य व्यवस्थायें निम्नलिखित थीं—(१) स्थल युद्ध की रण सामग्री पर बजट द्वारा नियन्त्रण किया जाय। (२) सैनिकों की संख्या का नियन्त्रण करते हुए प्रशिक्षित सुरक्षित सैनिकों (Trained Reserves) का विचार न किया जाय। (३) अनिवार्य सैनिक सेवा के वर्षों की अवधि घटाई जाय। (४) नौसैनिक जहाज़ों पर १९२२ के वाशिंगटन सम्मेलन की तथा १९३० के लन्दन सम्मेलन की व्यवस्थाओं को लागू किया जाय। (५) हवाई अस्त्रों को अश्वशक्ति के आधार पर नियन्त्रित किया जाय। (६) रासायनिक तथा जीवाणु फैलाने वाले

(Bacteriological) युद्धों को रोका जाय। (७) एक स्थायी निःशस्त्रीकरण आयोग बनाया जाय। इसमें प्रशिक्षित एवं सुरक्षित सेनाओं के नियन्त्रण, स्थल और जलसेनाओं के शस्त्रों के अथवा हवाई सेना की सामग्री के व्यय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं सुझाया गया था।

जेनीवा का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन (Geneva Disarmament Conference)—उपर्युक्त प्रस्ताव को मुख्य आधार बनाकर इस समस्या पर विचार करने के लिए राष्ट्रसंघ का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन जेनीवा में ३ फरवरी, १९३२ को आर्थर हैण्डर्सन के सभापतित्व में आरम्भ हुआ। इसमें ५७ राज्यों से प्रतिनिधि आये थे। यह विधि की विडम्बना और क्रूर व्यंग्य था कि इस समय शंघाई में जापान की चीन के विरुद्ध लड़ाई चल रही थी। इस सम्मेलन के २३२ प्रतिनिधि अपने साथ ३३७ प्रस्ताव लेकर आये थे। इन पर विशेष विचार के लिए पाँच मुख्य समितियां—बजट-सम्बन्धी नियंत्रण, राजनीतिक समस्याओं के विचार तथा स्थल, जल तथा वायुसेना के नियन्त्रण के लिए बनाई गई। ५ फरवरी को फ्रेंच प्रतिनिधि आन्द्रे तरद्यू (Andre Tardiu) ने इसे सफल बनाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की एक निरोधात्मक तथा दण्डात्मक सेना बनाने का प्रस्ताव रखा। इसके अनुसार विभिन्न राज्यों को सब आक्रमणात्मक शस्त्र और साधन —बड़े युद्धपोत, तोपखाने, पनडुब्बियां, बमवर्षक वायुयान संघ को दे देने चाहिएं, सब विवादों का निर्णय आवश्यक रूप से मध्यस्थों द्वारा ही होना चाहिए। जर्मनी ने इसमें यह माँग की कि राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र तथा वर्साय की सन्धि में उसके साथ किया गया वचन पूरा होना चाहिए, उसका निःशस्त्रीकरण इस आधार पर किया गया था कि अन्य देशों के शस्त्रास्त्र भी कम कर दिए जायेंगे। अब या तो दूसरे देशों के हथियार कम कर दिए जाएं अथवा जर्मनी को अन्य देशों के बराबर शस्त्रास्त्र रखने दिए जाएं। किन्तु फ्रांस जर्मनी की इस समानता की माँग को स्वीकार करने का कट्टर विरोधी था, वह अपनी सुरक्षा की दृष्टि से जर्मनी के निःशस्त्रीकरण को स्थायी बनाना चाहता था। फ्रांस और जर्मनी के विरोधी दृष्टिकोण से सम्मेलन में गतिरोध उत्पन्न हो गया।

यह सम्मेलन दो वर्ष तक चलता रहा। इसे सफल बनाने के लिए अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रैम्जे मैक्डानल्ड तथा रूज़वेल्ट ने अनेक योजनायें उपस्थित कीं, किन्तु फ्रांस और जर्मनी के दृष्टिकोणों में मौलिक मतभेद से तथा हिटलर के उत्कर्ष के कारण इस सम्मेलन की सफलता आरम्भ से ही सन्दिग्ध थी। २२ जून, १९३२ को हूवर ने विभिन्न राष्ट्रों के शस्त्रास्त्रों में वर्तमान अनुपात बनाए रखते हुए इसे वास्तविक रूप से घटाने पर बल दिया और अमेरिकी प्रतिनिधिमण्डल का प्रस्ताव था कि सब देश अपने एक-तिहाई हथियार घटा दें। यह योजना दूसरे देशों को स्वीकार्य नहीं थी। २३ जुलाई, १९३२ को इस सम्मेलन ने आक्रमणात्मक (Offensive) अस्त्रों को तथा रासायनिक युद्धों को समाप्त करने तथा शस्त्रास्त्र घटाने के प्रस्ताव स्वीकार किए। १६ सितम्बर, १९३२ को जर्मनी ने अपनी समानता की माँग स्वीकृत न होने के कारण सम्मेलन से पृथक् होने का निश्चय प्रकट किया। इस पर जर्मनी तथा फ्रांस के मतभेद को दूर करने के लिए दिसम्बर में पाँच महाशक्तियों—फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, सं०रा०अमेरिका, जर्मनी और इटली का एक सम्मेलन हुआ। ११ दिसम्बर, १९३२ को इसने घोषणा की कि जर्मनी की

समानता की माँग ऐसी पद्धति के साथ स्वीकार करनी चाहिए, जो सब देशों को सुरक्षा प्रदान करने वाली हो। इस प्रकार हार्डी के शब्दों में जर्मनी और फ्रांस के नारों का समन्वय एक ऐसे वाक्य में किया गया जिसको अपनी व्याख्या के साथ दोनों स्वीकार करने को तैयार थे। इससे जर्मनी का सम्मेलन से बाहर जाना तो कुछ समय के लिए रुक गया, किन्तु वास्तविक समस्या का हल नहीं हुआ।

२ फरवरी, १९३३ को सम्मेलन की अगली बैठक आरम्भ होने से पूर्व ३० जनवरी को हिटलर जर्मन राष्ट्र का प्रधानमन्त्री (चान्सलर) बन चुका था। फ्रांस अब भी अपनी सुरक्षा की माँग पर अड़ा हुआ था, वह **निःशस्त्रीकरण से पहले सुरक्षा समझौते** करना चाहता था। जर्मनी और इटली ने **सुरक्षा से पहले निःशस्त्रीकरण की** माँग की। १६ मार्च, १९३३ को रेम्जे मैकडानल्ड ने जर्मनी को कुछ रियायतें देते हुए नये प्रस्ताव रखे, १९ मई, १९३३ को रूज़वैल्ट ने अपने एक सन्देश में आक्रमणात्मक अस्त्रों पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाने को कहा किन्तु ये प्रस्ताव सम्मेलन की मूल समस्या फ्रेंच-जर्मन विरोध को नहीं सुलझा सके। १४ अक्टूबर, १९३३ को ब्रिटिश विदेश-मन्त्री सर जान साइमन ने फ्रेंच सुरक्षा और जर्मन समानता की माँगों का समन्वय करते हुए यह समझौता पेश किया कि ४ वर्ष तक जर्मनी की वर्तमान हीन स्थिति बनी रहे और इसके बाद अन्य शक्तियां अपने शस्त्रास्त्र घटाने शुरू कर दें। हिटलर ने तीन घण्टे के भीतर ही बर्लिन से इसका नकारात्मक उत्तर भेज दिया। १४ अक्टूबर, १९३३ को जर्मनी ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से पृथक् होने की घोषणा की। इससे यह सम्मेलन क्रियात्मक रूप से समाप्त और मृतप्राय हो गया, यद्यपि इसकी अन्तिम बैठक २९ मई, १९३४ को हुई। ३१ जनवरी, १९३४ को लन्दन ने बर्लिन को इस सम्मेलन में लौटाने के लिए उसे सैनिक वायुयान तथा भारी तोपखाना रखने तथा सेना की बटालियनें बढ़ाने के प्रलोभन दिए, किन्तु फ्रांस अपनी सुरक्षा की दुहाई देते हुए इन योजनाओं का घोर विरोध करता रहा।

१६ मार्च, १९३५ को जर्मनी ने वर्साय की सन्धि के पाँचवें भाग को भंग करते हुए अपने देश में अनिवार्य सैनिक सेवा की व्यवस्था जारी कर दी। ७ मार्च, १९३६ को उसने वर्साय की सन्धि की धारा ४२-४३ को तथा लोकार्नो सन्धि को भंग करते हुए सेना रहित बनाए गए राइन प्रदेश में अपनी सेनायें भेज दीं। निःशस्त्रीकरण योजनाओं का इससे अधिक क्या उपहास हो सकता था। शूमैन ने इस सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है—"राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयत्न जर्मनी के एकपक्षीय निःशस्त्रीकरण से आरम्भ हुए थे, इनकी समाप्ति जर्मनी के एकपक्षीय पुनःशस्त्रीकरण (unilateral rearmament) से हुई। योरोप की सामूहिक बुद्धि सुरक्षा प्राप्त करने में विफल होकर आत्मघात की तैयारियां करने लगी।"

सम्मेलन की विफलता के कारण—सर अल्फ्रेड जिम्मर्न[१७] ने इन पर प्रकाश डालते हुए इसका पहला कारण इसमें सहयोग की भावना का अभाव और इसका राजनीतिक होना बताया है। इसमें विभिन्न राष्ट्र विश्व-शान्ति की समस्या सुलझाने के लिए नहीं,

---

१७. जिम्मर्न—दी लीग आफ नेशन्स, पृ० ४१५–७

किन्तु अपनी प्रभुता बनाये रखने और दूसरों की शक्ति न बढ़ने देने के लिए एकत्र हुए थे। कोई भी राज्य सच्चे दिल से हथियार कम करने को तैयार न था। प्रत्येक देश अपने शस्त्रों को आत्मरक्षा के लिए आवश्यक समझता था और दूसरे के हथियारों का उद्देश्य आक्रमण समझता था। सम्मेलन का सारा वातावरण एक-दूसरे के प्रति आशंका, भय और सन्देह से परिपूर्ण था, इसमें सम्मेलन की विफलता निश्चित थी। दूसरा कारण विभिन्न शक्तियों के उग्र मतभेद थे। फ्रांस अन्तर्राष्ट्रीय सेना और सुरक्षा का दृढ़ समर्थक था। वह आरम्भ से ही राष्ट्रसंघ की अध्यक्षता में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए एक सेना के निर्माण का प्रस्ताव रख रहा था, क्योंकि इस प्रकार वह जर्मन आक्रमण से निश्चिन्त हो सकता था। इसके बाद ही वह अपने हथियार घटाने को तैयार था। उसका यह मत था कि सुरक्षा के बाद शस्त्रीकरण की आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन का यह विचार था कि हथियारों की वृद्धि राष्ट्रों में असुरक्षा की भावना पैदा करती है, यदि हथियारों को घटा दिया जाय तो चिन्ता, असुरक्षा और आक्रमण की आशंका व भय स्वयमेव कम हो जायगा। हथियार जितने कम होंगे, युद्ध का भय भी उसी मात्रा में घट जायगा। अतः सुरक्षा से पहले निःशस्त्रीकरण आवश्यक है। ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य देश अन्तर्राष्ट्रीय सेना के सुझाव को अक्रियात्मक तथा अनेक प्रकार की कठिनाइयां और पेचीदगियां उत्पन्न करने वाला समझते थे। फ्रांस की सुरक्षा की माँग जर्मनी की समानता की माँग से सर्वथा प्रतिकूल थी। इन दोनों का समन्वय असम्भव था और इनके संघर्ष की चट्टान से टकराकर सम्मेलन की नौका डूबनी शुरू हुई थी। **तीसरा कारण** महाशक्तियों का निःशस्त्रीकरण के सिद्धान्त में अविश्वास और पक्षपातपूर्ण व्यवहार था, "प्रथम विश्व-युद्ध के विजेताओं ने जर्मनी का निःशस्त्रीकरण तो बलपूर्वक कर दिया, किन्तु बचनबद्ध होने पर भी अपना निःशस्त्रीकरण टालते रहे। यह न केवल उनके स्वार्थपूर्ण उद्देश्य का परिचायक है, किन्तु उनकी बेईमानी का भी दिग्दर्शक है। जब उन्हें निःशस्त्रीकरण में विश्वास ही नहीं था तो वे उसे कैसे सफल बना सकते थे।" **चौथा कारण** इसकी क्रियात्मक कठिनाइयां थीं, इनका पहले उल्लेख हो चुका है। **पाँचवां कारण** यह था कि इस समस्या को मौलिक रूप से नहीं, किन्तु ऊपरी तौर से तथा प्राविधिक रूप से सुलझाने का प्रयत्न किया गया। इसका विवेचन करते हुए हूजर तथा डिग्रेजिया ने लिखा है[१८]—"निःशस्त्रीकरण हथियारों को मर्यादित करने की प्राविधिक समस्या नहीं किन्तु एक ऐसे प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने की एक मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक समस्या है, जो शस्त्रों के बिना अन्य साधनों से सुरक्षा स्थापित करे तथा विवादों का हल करे। शस्त्रास्त्र की होड़ पैदा करने वाली आर्थिक, मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक परिस्थितियों को दूर करने के स्थान पर सम्मेलन में प्रतिनिधियों ने कुछ शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने चाहे।···इन प्रयत्नों में बीमारी के ऊपरी लक्षणों का इलाज किया गया, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता की व्याधि का अनुसन्धान या निदान नहीं किया गया।" **छठा कारण** यह था कि शस्त्रास्त्र निर्माण करने

---

१८. हुजर तथा डिग्रेजिया—एन आउटलाइन ऑफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृ० ५३४

आली कम्पनियों ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों को विफल बनाने का पूरा प्रयत्न किया क्योंकि इसकी सफलता से उनके अत्यधिक लाभदायक व्यवसाय को गहरी क्षति और धक्का पहुँचता। उस समय जब एक ओर फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका की सरकारों के प्रतिनिधि निःशस्त्रीकरण के प्रस्तावों पर विचार करते थे, तब इन देशों की शस्त्रास्त्र बनाने वाली कम्पनियां इन सम्मेलनों को विफल बनाने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजती थीं। यह बात शीयरर (Shearer) के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। सं० रा० अमेरिका के जहाज़ बनाने वाली तीन बड़ी कम्पनियों ने इसे १९२७ के जेनीवा के नौसैनिक सम्मेलन में अपना प्रेक्षक बना कर भेजा था। इसे भेजने का मुख्य उद्देश्य इस सम्मेलन को विफल बनाना था। सम्मेलन के विफल होने पर जहाज़ी कम्पनियों ने इसे केवल ५१,२३० डालर दिया, यद्यपि उन्होंने इसे इस कार्य के लिए २,५५,६५५ डालर देने का वचन दिया था। शीयरर द्वारा इन कम्पनियों पर शेष राशि वसूल करने के लिए चलाये गए मुकदमे के कारण साधारण जनता को यह ज्ञात हुआ कि निःशस्त्रीकरण सम्मेलन को विफल बनाने के लिए शस्त्रास्त्र निर्माताओं द्वारा किस प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं। **सातवां** कारण शस्त्रीकरण की यथार्थ व्याख्या और स्वरूप निर्धारण करने का है। शस्त्रीकरण को मर्यादित करने का यह अभिप्राय नहीं है कि रणपोतों, क्रूजरों, पनडुब्बियों, तोपों, टैंकों या लड़ाकू विमानों की संख्या को सीमित किया जाय। आजकल युद्धों का स्वरूप इतना विशाल और व्यापक हो गया है कि लड़ाई में प्रत्यक्ष रूप से काम में आने वाले हथियारों के अतिरिक्त सामान्य जीवन में उपयोग में आने वाली प्रायः सभी वस्तुएँ युद्ध में सहायक होती हैं। शान्तिकालीन प्रयोजनों के लिए विभिन्न सामग्री तैयार करने वाले कारखाने बड़ी सुगमता और शीघ्रता से हथियार तैयार कर सकते हैं। उदाहरणार्थ रासायनिक खादों (Chemical fertilizers) के कारखाने, विस्फोटक द्रव्यों, टाइपराइटरों की फैक्टरियों, राइफलों और मशीनगनों, स्त्रियों की बनियानें बनाने वाली मिलों, विषैली गैस से रक्षा करने वाले आवरणों (Gasmasks) का निर्माण कर सकते हैं। इन परिस्थितियों में शस्त्र बनाने वाले कारखानों का निर्धारण और नियन्त्रण करना बड़ी जटिल समस्या हो जाती है। **आठवां** कारण विभिन्न राष्ट्रों की युद्ध-सम्बन्धी मनोवृत्ति में मौलिक मतभेद था। कुछ राज्य युद्धों का निवारण और शान्ति की स्थापना मानव-समाज के लिए आवश्यक एवं उपयोगी समझते थे। किन्तु फासिस्ट इटली और नाज़ी जर्मनी के नेता युद्ध को मानव-जीवन के लिए न केवल आवश्यक अपितु गौरवपूर्ण तथा शौर्य, साहस, वीरता, त्याग, बलिदान आदि के उदात्त गुणों को विकसित करने वाला समझते थे। मुसोलिनी का कहना था कि युद्ध पुरुष के लिए उतना ही अनिवार्य और आवश्यक है, जितना नारी के लिए मातृत्व है। शान्तिवाद कोरी कायरता और नपुंसकता है। इस प्रकार की युद्धों को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करने वाली मनोवृत्ति से निःशस्त्रीकरण की आशा रखना दुराशामात्र थी।

नौसैनिक निःशस्त्रीकरण की विफलता—राष्ट्रसंघ के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन की विफलता के बाद समुद्री शक्तियों में नौसेनाएं बढ़ाने की होड़ आरम्भ हो गयी। १९३० क। लन्दन की नौसैनिक संधि १९३६ में समाप्त होनी थी। इससे पहले नई

सन्धिवार्ता के प्रयत्न लन्दन में शुरू हुए, किन्तु इस समय जापान द्वारा सं० रा० अमेरिका के तुल्य नौसेना रखने की माँग ने इस समस्या को जटिल बना दिया। सं० रा० अमेरिका ने जापान की समानता की माँग का घोर विरोध किया। उसका यह कहना था कि अमेरिका ने प्रशान्त एवं अटलांटिक महासागरों के तटों की रक्षा करनी है, जापान के पास केवल प्रशान्त महासागर है, अतः उनकी नौसेनाओं में समानता नहीं हो सकती दोनों में पाँच और तीन का पुराना अनुपात बना रहना चाहिए। इस प्रश्न पर कोई समझौता न होने पर जापान के अमेरिकी राजदूत हिरोसी सैतो ने कार्डेल हल को २९ दिसम्बर, १९३४ को वाशिंगटन सन्धि से पृथक् होने का नोटिस दे दिया।

उपर्युक्त मतभेदों को हल करने के लिए लन्दन में ९ दिसम्बर, १९३५ को सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, जापान, इटली और फ्रांस का सम्मेलन हुआ। किन्तु इसमें न तो जापान की सं० रा० अमेरिका के साथ समानता की माँग का प्रश्न हल हो सका और न फ्रेंच-इटालियन समानता की गुत्थी सुलझी। जापान यह सम्मेलन छोड़कर चला गया और २५ मार्च, १९३६ को इस सम्मेलन के परिणामस्वरूप हुई सन्धि पर केवल सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने हस्ताक्षर किए। इटली ने एबीसीनिया युद्ध में लगाए आर्थिक प्रतिबन्धों के कारण इस सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किए। इस सन्धि की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसने बड़े युद्धपोतों की मर्यादा ३५,००० टन तथा १४ इंची तोपों तक और जापान द्वारा इसका पालन न होने पर १६ इंची तोपों तक निश्चित की। वायुयानवाहक २३,००० टन तथा ६·१ इंची तोपों तक, हल्के समुद्री जहाज ८,००० टन तक तथा पनडुब्बियां २,००० टन तक सीमित कर दी गयीं। इस सन्धि में अनेक संरक्षक (Safeguarding) धाराएं थीं, इनके अनुसार विशेष अवस्थाओं में इस सन्धि द्वारा सीमित टनों से अधिक बड़े जहाजों का निर्माण हो सकता था। १९३८ तक तीनों महाशक्तियों ने जापान के द्वारा ४० हजार टन के युद्धपोत बनाये जाने की सूचना पाने पर ४५ हजार टन के रणपोत बनाने शुरू किये। यह द्वितीय विश्व-युद्ध की भूमिका थी।

प्रश्न

1. Examine the main trends in the Foreign policy of France between 1918 and 1930. (Hindu Uni. 1958)
2. Comment on the Washington Conference of 1921-22. (Hindu Uni. 1957)
3. Explain and discuss to what extent did the Locarno Treaties and the Kellogg Pact create a sense of peace and security in Europe. (Hindu Uni. 1956)
4. How was the problem of Disarmament tackled during the period 1919-33 ? (Hindu Uni. 1955)
5. Account for the failure of the Disarmament conference of 1930-32. (Hindu Uni. 1958)
6. Mention the main features and limitations of (a) the Locarno

Treaties and (b) the Pact of Paris. What approach did these make towards the problem of international peace and security? (Agra Uni. 1958)

7. 'Long before the echoes of the Great War had died down, France, victorious but worried, embarked upon a prolonged search for security.' Examine the foreign policy of France in the interwar period in the light of the above statement. (Raj. Uni. 1960)

8 The most important and persistent single factor in European affairs in the years following 1919 was the French demand for security—*Carr*. Discuss. (Agra Uni. 1955-1962)

9. Give an account of the attempts made between 1920 and 1939 to bring about international Disarmament and account for their failure. (Agra Uni. 1955, 1952)

10. What were the circumstances which led to the Kellogg-Briand Pact of 1928? Explain its main terms and show why it failed in its purpose to outlaw war. (Agra Uni. 1955)

11. The Pact of Locarno was generally hailed as an epoch-making event which marked a final reconciliation between the victors and the vanquished and constituted a big step forward towards world peace. Discuss. (Raj. Uni. 1957)

12. "In the long run the Locarno Treaty was destructive both of the Versailles Treaty and of League covenant." Explain this statement. (Raj Uni. 1954)

13. What were the principal clauses of the Geneva Protocol? Describe the causes which led to its failure. (Raj. Uni. 1953)

14 Imperfect though it was, the Pact of Paris was a considerable landmark. (Raj. Uni. 1953)

15. Describe briefly the main provisions of the Locarno Treaties. Were they the real dividing line between the years of war and the years of peace? (Agra Uni. 1960, Vikram Uni. 1960)

16. Write a short note on Geneva Protocol. (Agra & Raj. Uni. 1960)

17. Comment—'From the time of its signature, the Kellogg-Briand Pact remained little more than an expression of hope rather than the framework for the enforcement of peace.' (Agra Uni. 1960, Vikram Uni. 1960)

18. Examine critically the main provisions of the Locarno treaties and point out their effect on international relations. (Raj. Uni. 1960)

19. What were the circumstances which led to the Pact of Paris (Kellogg-Briand Pact) 1928? Explain its main provisions and show why it failed in its purpose to outlaw war. (Raj. Uni. 1960)

20. Examine the causes and the results of Washington Treaties of 1921-22. (Vikram Uni. 1960)

पाँचवां अध्याय

महाशक्तियों की विदेशनीति (१६१६-३६)

प्रथम एवं द्वितीय विश्व-युद्धों के मध्यवर्ती काल में जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, सोवियत रूस और जापान की वैदेशिक नीति और कूटनीतिक दांव-पेचों ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को बहुत प्रभावित किया। यहां इनकी विदेशनीति का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जायगा। इन सब में जर्मनी कई दृष्टियों से विशेष महत्त्व रखता है। शूमैन के शब्दों में जिस प्रकार १६१८ से पूर्व की पाँच दशाब्दियों में योरोप की तथा विश्व की राजनीति कैसर के द्वितीय जर्मन साम्राज्य (Second Reich) के चारों ओर घूमती थी उसी प्रकार १६३३ में हिटलर के उत्कर्ष के बाद वह तृतीय जर्मन साम्राज्य (Third Reich) के चारों ओर परिभ्रमण करती रही है[1]। हार्डी ने लिखा है कि "एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में जर्मन शक्ति के पुनरुज्जीवन का अकेला तथ्य न केवल इस समय के योरोपियन इतिहास पर अपितु कुछ अंशों में समूचे विश्व के इतिहास पर हावी रहा है।"[2] अतः यहां पहले जर्मनी की विदेशनीति की विवेचना की जायेगी। हिटलर का उत्थान गगन को कुछ समय के लिए अपने प्रखर प्रकाश से आलोकित करने वाले धूमकेतु के समान सहसा हुआ, किन्तु वह जर्मनी की तात्कालिक परिस्थितियों की उपज था। उसे समझने के लिए हिटलर के उत्कर्ष से पहले की जर्मन विदेशनीति का परिचय आवश्यक है।

वाईमार गणराज्य (Weimar Republic) की नीति

प्रथम विश्व-युद्ध में पराजित होने के बाद जर्मन प्रतिनिधियों ने वाईमार नामक नगर में अपने नवीन गणराज्य का संविधान बनाया। प्रसिद्ध जर्मन महाकवि गेटे, शिलर, हर्डर आदि का निवासस्थान होने से यह जर्मनी का एथेन्स कहलाता था और जर्मन राष्ट्रीय महासभा द्वारा इस नगर में नये गणराज्य का संविधान निर्मित होने के कारण नया राज्य **वाईमार गणराज्य** के नाम से प्रसिद्ध है। यह अपने पन्द्रह वर्ष के जीवन में बड़ा अप्रिय और दुर्भाग्यग्रस्त रहा और इसकी विफलताओं ने हिटलर के उत्कर्ष में बड़ा सहयोग दिया। इसे अपने जन्म के साथ ही वर्साय की अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े, क्षतिपूर्ति और निःशस्त्रीकरण के कड़वे घूंट पीने पड़े, रूर पर फ्रेंच अधिकार और मुद्रास्फीति का दारुण दुःख भोगना पड़ा। यद्यपि रूर के प्रदेश से फ्रेंच फौजें बाद में हट गयीं, किन्तु वे जर्मनी को दिवालिया बना गयीं।

वाईमार गणराज्य की वैदेशिक नीति का प्रधान लक्ष्य जर्मनी को पुनः सभ्य राष्ट्रों

---

१. शूमैन—इन्टरनेशनल पॉलिटिक्स, तृतीय संस्करण, पृ० ५५३
२. हार्डी—ए शॉर्ट हिस्टरी ऑफ इन्टरनेशनल एफेयर्स, पृ० ३५७

की पंक्ति में बिठाना और वर्साय की सन्धि के घावों की मरहमपट्टी करना था। इसके लिए उसे शक्तिशाली राष्ट्रों का सहयोग अपेक्षित था। उस समय जर्मनी में दो विचार-धारायें थीं—(१) पूर्वाभिमुखी विचारधारा के व्यक्ति उस समय जर्मनी की तरह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अछूत समझे जाने वाले कम्यूनिस्ट रूस के साथ सहयोग के पक्षपाती थे। (२) पश्चिमाभिमुखी विचारधारा वाले अपने भूतपूर्व पश्चिमी शत्रुओं—फ्रांस और ब्रिटेन के साथ सुलह, समझौते और सहयोग को श्रेयस्कर समझते थे। आरम्भ में पहले पक्ष की विजय हुई, रापोल्लो (Rapollo) सन्धि द्वारा रूस और जर्मनी की मैत्री घनिष्ठ हुई। किन्तु इसके बाद डाक्टर स्ट्रैसमान (Stressmann) के नेतृत्व में दूसरा पक्ष प्रबल हुआ। १६२३ से १६२६ तक स्ट्रैसमान की मृत्युपर्यन्त इस पक्ष की प्रधानता बनी रही।

स्ट्रैसमान की विदेशनीति के मुख्य तत्त्व फ्रांस के साथ मैत्री बढ़ाना और जर्मनी को राष्ट्रसंघ का सम्मानित सदस्य बनाना था। फ्रांस को मित्र बनाने के लिए उसने बार-बार उसे पश्चिमी सीमा की सुरक्षा की गारण्टी सन्धि करने के लिए कहा और उसकी सबसे बड़ी कूटनीतिक सफलता लोकार्नो समझौता था, (ऊपर देखिए पृ० १०२)। इसके साथ ही जर्मनी १६२६ में राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया, इससे जर्मनी को अनेक लाभ हुए। १६२७ में मित्रराष्ट्रों के आयोग जर्मनी से हटा लिए गए, इसी वर्ष एक जर्मन प्रतिनिधि स्थायी मैण्डेट आयोग (Permanent Mandates Commission) का सदस्य बना। १६२८ में स्ट्रैसमान के प्रयत्नों से जर्मनी ने युद्ध-विरोधी **केलॉग-ब्रीआं समझौते** पर हस्ताक्षर किए (पृ० १०७) और क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर पुनर्विचार हुआ। इसके परिणामस्वरूप यंग योजना १.२६ में स्वीकार हुई और १६३० में राइन प्रदेश को मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने खाली कर दिया। स्ट्रैसमान की मृत्यु के बाद उसकी विदेशनीति को डॉ० कर्टियस (Curtius) ने जारी रखा। पश्चिमी राष्ट्रों के साथ मैत्री की उपर्युक्त नीति से यद्यपि जर्मनी की कुछ शिकायतें दूर हुईं, किन्तु उसकी अधिकांश माँगें पूरी नहीं हो सकीं। ये मुख्य रूप से जर्मनी का पूर्वी सीमान्त ठीक करना, आस्ट्रिया के साथ एकीकरण, उपनिवेशों की प्राप्ति, युद्ध-अपराध (War Guilt) की कलंककालिमा का परिमार्जन, शस्त्रास्त्र निर्माण में और सेना रखने में अन्य देशों के साथ समानता और क्षतिपूर्ति की राशि का संशोधन थे। वाईमार गणराज्य इन्हें प्राप्त करने में असफल रहा, अतः जनता में उसके प्रति तीव्र असन्तोष था। हिटलर ने इन माँगों को पूरा करने का आश्वासन दिया, अतः उसे जनता का समर्थन मिला और वह शीघ्र ही जर्मन राष्ट्र का सर्वेसर्वा और नेता (Fuhrer) बन गया।

हिटलर और नात्सी पार्टी का उत्कर्ष—बारह वर्ष तक जर्मनी के भाग्य-विधाता बने रहने वाले एडोल्फ हिटलर का जन्म जर्मनी में नहीं, किन्तु आस्ट्रिया के ब्रौनो नामक स्थान के चुंगी विभाग के एक मामूली कर्मचारी के घर २० अप्रैल, १८८६ को हुआ। अपने पिता की सरकारी सेवा की इच्छा का विरोध करके वह वियना में वास्तुकला का अध्ययन करने के लिए गया और शाही कला अकादमी (Imperial Art Academy) में प्रवेश न पाने पर घरों में पेण्टर का कार्य करके अपनी आजीविका कमाने लगा। इसी समय उसके भावी विचार परिपक्व हुए, वह कम्यूनिस्टों और यहूदियों से घोर घृणा

करने लगा, जर्मन राष्ट्रीयता तथा जर्मन जाति की श्रेष्ठता और महत्ता में उसे अगाध विश्वास हो गया, लोकतन्त्र और संसदीय शासन प्रणाली में उसकी आस्था नहीं रही। १९१२ में वह म्यूनिक आया और दो वर्ष बाद प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ने पर आस्ट्रियन होते हुए भी वह जर्मन सेना में भर्ती हुआ। लड़ाई में उसने अपने वीरतापूर्ण कृत्यों के कारण आयरन क्रास का पुरस्कार पाया, इसमें उसे साधारण जनता के मनोविज्ञान को समझने का सुअवसर मिला। १९१८ की जर्मन पराजय ने उसे विक्षिप्त-सा कर दिया। वह सर्वश्रेष्ठ जर्मन जाति की हार लड़ाई में मानने को तैयार नहीं था, उसके मतानुसार इसका प्रधान कारण समाजवादियों और यहूदियों का देशद्रोह था। इस भीषण अपमान का प्रतिशोध लेने के उद्देश्य से उसने जर्मनी के राष्ट्रीय गौरव को पुनरुज्जीवित करने तथा वर्साय की सन्धि की कलंककालिमा को धोने का संकल्प किया।

युद्ध समाप्ति के बाद १९१८ में म्यूनिक आने पर वह अधिकारियों द्वारा राजनीतिक सभाओं की देखभाल के लिए गुप्तचर नियत किया गया। अपने इस कार्य में उसका परिचय म्यूनिक शराबखाने (Beer Hall) के पिछले कमरे में बैठक करने वाले तथा अपने को जर्मन श्रमदल (Labour Party) का नाम देने वाले छः व्यक्तियों की एक पार्टी से हुआ, हिटलर इसका सातवां सदस्य बना। उसने इसके विस्तार में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। वह शीघ्र ही इसका नेता बन गया और उसने इस दल का नया नामकरण राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रमदल (National Socialist German Labour Party) कर दिया, इसी के पहले दो शब्दों का जर्मन संक्षेप नात्सी (Nazi) है। इस दल में उसने शीघ्र ही अपने जैसे विचार वाले अनेक भूतपूर्व सैनिकों—हर्मान गोरिंग, कैप्टन रोम (Roehm), रुडोल्फ हैस, पाल जोसेफ गोबल्स (Goebbles), अल्फ्रेड रोज़नबर्ग आदि को एकत्र कर लिया। यही आगे चलकर उसके दल के प्रधान आधार-स्तम्भ बने। नवम्बर १९२३ में इस दल द्वारा तत्कालीन सरकार के विरुद्ध विद्रोह (Putsch) के एक विफल प्रयत्न में उसे पाँच वर्ष का कारावास दण्ड मिला। किन्तु वह आठ महीने बाद छोड़ दिया गया। इस अल्पकाल में लैण्डस्बर्ग के जेलखाने में रहते हुए उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **'मेरा संघर्ष'** (Mein Kampf) लिखा। यह नात्सियों का पवित्र धर्मग्रन्थ समझा जाता था और इसमें उसने अपनी भावी योजनाओं पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है। उसका अन्तिम लक्ष्य **तीसरी बार महान् जर्मन साम्राज्य** (Third Reich) का निर्माण था। पहली बार यह पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) के रूप में स्थापित हुआ था, दूसरी बार १८७१ से १९१८ तक बना रहा, तीसरी बार इसका निर्माण नात्सीदल का चरम उद्देश्य था। इस **'तृतीय राइक'** के बृहत्तर जर्मनी में जर्मन रक्त रखने वाले सब व्यक्तियों का समावेश आवश्यक था, इस समय अनेक जर्मन आस्ट्रिया, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, आल्सेस आदि दूसरे देशों में रहते थे, किन्तु इन सब जर्मन प्रदेशों का जर्मनी में सम्मिलन अवश्यम्भावी था। हिटलर के अन्य मुख्य प्रोग्राम निम्नलिखित थे—वर्साय की और सां जर्मे की सन्धियों को रद्द करना, जर्मनी पर युद्ध छेड़ने का अपराध लगाने वाली सन्धि व्यवस्थाओं का निराकरण, यहूदियों का जर्मनी से निष्कासन, क्षतिपूर्ति की राशि का संशोधन, उपनिवेशों की

पुनःप्राप्ति, सब नागरिकों को रोजगार दिलाना, अच्छे जीवन के साधनों को प्राप्त कराना, सूद की ऊंची दरों की समाप्ति, सब ट्रस्टों तथा बड़ी दुकानों का राष्ट्रीयकरण, कृषिसम्बन्धी सुधार, वृद्ध व्यक्तियों की राज्य द्वारा देखभाल, धार्मिक सहिष्णुता, शस्त्रास्त्रों में अन्य देशों के साथ समानता, जर्मन या नार्डिक नस्ल की श्रेष्ठता, ग्रेट ब्रिटेन और इटली के साथ मैत्री करके फ्रांस और सोवियत रूस का विनाश। हिटलर की समूची विचारधारा के दो मुख्य तत्त्व यहूदीविद्वेष (Anti Semitism) तथा बोल्शेविज्म का विरोध (Anti Bolshevism) थे। हिटलर का यह कार्य-क्रम इतना व्यापक और विस्तृत था कि इसमें जनता के प्रत्येक वर्ग के लिए बड़े आकर्षक प्रलोभन और आश्वासन थे।

जेल से निकलने के बाद हिटलर ने अगले सात वर्ष तक अपने सिद्धान्तों के प्रचार तथा पार्टी के संगठन के लिए भगीरथ प्रयास किया। यद्यपि इस समय हिटलर जेल जाने के कारण जर्मन नागरिकता खो चुका था और जर्मन सेना में भर्ती होने के कारण आस्ट्रियन नागरिकता से वंचित हो चुका था, फिर भी वह अपने कार्य में जुटा रहा। उसने अपने दल के लिए स्वस्तिक का ध्वजचिह्न निश्चित किया, पार्टी के सदस्यों के लिए भूरी कमीज का सैनिक गणवेश (Uniform) नियत किया, अभिवादन का नया प्रकार बनाया, नात्सी सभाओं की रक्षा के लिए तथा विरोधी दलों की सभाओं को भंग करने के लिए सैनिक वेशधारी तूफानी दस्तों (Sturmabteilungen S. A.) का संगठन किया, नात्सी नेताओं की रक्षा के लिए सफेद खोपड़ी के चिह्न से अलंकृत काली वर्दी पहनने वाले अंगरक्षकों (Schutzstaffeln S. S.) के दल का निर्माण किया। प्रचार के लिए समूचे जर्मनी को कई हिस्सों में बांटा गया और प्रत्येक भाग में सुशिक्षित प्रभावशाली व्याख्याता भेजे जाने लगे। हिटलर स्वयमेव बड़ा कुशल वक्ता था, वह अपनी भाषणकला से जर्मन जनता को मन्त्रमुग्ध करके उस पर प्रभाव डालने लगा।

इस प्रचार के बावजूद, हिटलर का उत्कर्ष वस्तुतः धूमकेतु की भांति इतना आकस्मिक था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुशल प्रेक्षक १९३२ तक भी यह कल्पना नहीं कर सके थे कि जर्मनी में नात्सीदल का उत्कर्ष सम्भव है। अक्टूबर १९३२ में जर्मन विद्वान डा० अर्नाल्ड वुल्फर्स (Arnold Wolfers) ने लंदन की अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की राजकीय संस्था (Royal Institute of International Affairs) में भाषण करते हुए यह भविष्यवाणी की थी कि जर्मनी में एक दल द्वारा तानाशाही की आशंका समाप्त हो चुकी है। सुप्रसिद्ध ब्रिटिश ऐतिहासिक टायनबी ने दिसम्बर १९३२ में यह मत प्रकट किया था कि "बहुत सी बातें अस्पष्ट हो सकती हैं, किन्तु एक बात निश्चित है, नात्सीदल पतनोन्मुखी है।"[3] किन्तु इसके एक मास बाद जनवरी १९३३ में हिटलर जर्मनी का प्रधानमंत्री (Chancellor) बन गया। उसके इस अप्रत्याशित उत्कर्ष के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—(१) मन्दी, (२) वैयक्तिक गुण, (३) जर्मन आकांक्षायें, (४) गणराज्य से असन्तोष, (५) अन्य कारण।

हिटलर के उत्कर्ष के कारण (१) १९३० की भीषण आर्थिक मंदी—हार्डी ने

---

३. हार्डी—ए शार्ट हिस्टरी ऑफ इंटरनेशनल एफेयर्स, पृ० ३५७

इसे सबसे अधिक महत्त्व दिया है[४]। इससे पहले नात्सीदल का जर्मनी में कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं था। नात्सी यंग योजना के विरोधी थे और उनका कहना था कि जर्मनी इसका आर्थिक भार वहन नहीं कर सकता, इसके विपरीत स्ट्रैसमान और उसके साथियों का यह मत था कि दूसरे देशों के साथ सुलह, समझौते तथा क्षतिपूर्ति की राशि की अदायगी जर्मनी को समृद्ध बनायेगी। १९३० के आर्थिक संकट ने यह सिद्ध कर दिया कि स्ट्रैसमान की नीति भ्रान्तिपूर्ण थी और नात्सियों का कथन सत्य था। इस आर्थिक संकट को दूर करने के लिए जब तत्कालीन जर्मन प्रधानमंत्री ब्रूनिंग (Bruning) ने खर्चों में भारी कटौती करनी चाही तो पार्लियामैण्ट ने इसका उग्र विरोध किया, अतः उसे विशेष आज्ञाओं द्वारा अधिकार लेकर शासन करने को बाधित होना पड़ा, इससे उसने हिटलर की तानाशाही का मार्ग सुगम बना दिया।

शूमैन ने आर्थिक संकट का वर्णन करते हुए लिखा है[५] कि इसने जर्मनी में ६० लाख व्यक्तियों को बेरोजगार बना दिया, दिवालियापन और निर्धनता को बढ़ाया। बेकार मजदूर कम्यूनिस्ट पार्टी में सम्मिलित हो रहे थे। इससे ऋण के बोझ से दबी कृषक जनता भयभीत हो गयी[६], वह कम्यूनिज्म के वैयक्तिक सम्पत्ति के उन्मूलन के सिद्धान्त से संत्रस्त थी। वह हिटलर के नात्सीदल में सम्मिलित होने लगी, क्योंकि यह उसे बोल्शेविज्म से और यहूदियों से रक्षा करने का आश्वासन दे रहा था। उद्योगपतियों ने नात्सियों को सहयोग और आर्थिक सहायता प्रदान की, क्योंकि वे इनके द्वारा ट्रेड यूनियनों को नष्ट करना चाहते थे और कम्यूनिस्टों द्वारा उनकी सम्पत्ति को पहुँचायी जाने वाली क्षति की संभावना को निर्मूल करना चाहते थे। अतः फ्रिट्ज थेसीन (Frits Thyssen) जैसे उद्योगपतियों ने साम्यवाद से भयभीत होकर हिटलर का समर्थन किया।[७]

आर्थिक संकट से जर्मनी का समूचा मध्यम वर्ग—क्लर्क, सरकारी नौकर, किसान, विभिन्न पेशों वाले व्यक्ति, कारीगर, छोटे दुकानदार बुरी तरह बरबाद हुए थे, यही अवस्था भूतपूर्व सैनिक अधिकारियों, सिपाहियों की विधवाओं और अवकाशप्राप्त सैनिकों की थी। इन सबमें अपने वर्ग का अभिमान था और वह इनके मजदूरों के साथ मिलने में बाधक था। इस वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों ने विविध कारणों से नात्सीदल का समर्थन किया। उन दिनों कानून, डाक्टरी, महाजनी और व्यापार में यहूदियों का

---

४. हार्डी—वही, पृ० २८५

५. शूमैन—इंटरनेशनल पालिटिक्स

६. जून १९३१ में कृषकों पर ३ अरब डालर का ऋण था, (लैंगसम—वर्ल्ड सिन्स १९१९, पृ० २२३) नात्सियों ने इन ऋणों को रद्द करने का आन्दोलन किया, अतः किसानों का झुकाव इस ओर होना स्वाभाविक था।

७. हिटलर का कार्य-क्रम तैयार करने वाले इंजीनियर गॉटफ्रीड फैडर (Gottfried Feder) ने बड़े पूँजीपतियों और कारखानों के स्वामियों को अपने साथ रखने के लिए यह घोषणा की थी कि यद्यपि नात्सीदल बड़े उद्योगपतियों के विशाल संगठनों और ट्रस्टों का राष्ट्रीयकरण चाहता है किन्तु यह व्यवस्था "हमारे भारी उद्योग के वास्तविक स्रष्टाओं—क्रप्स, किर्डोफ्स, थेसीन्स मैनेस्मान्स तथा सीमन्स पर लागू नहीं होगी।" (लैंगसम पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २२३)।

बोलवाला था, हिटलर द्वारा यहूदियों के विरोध के कारण जर्मन डाक्टर, वकील, व्यापारी नात्सीदल की ओर आकृष्ट हुए। छोटे दुकानदारों का काम बड़े-बड़े स्टोरों की प्रतिस्पर्धा से चौपट हो रहा था, इन्हें नात्सीदल की ओर से यह विश्वास दिलाया गया कि बड़े स्टोरों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा, अतः वे हिटलर के अनुयायी बन गए।

आर्थिक संकट के साथ नात्सीदल के घनिष्ठ सम्बन्ध का ज्ञान इसे राइकस्टाग के लिए प्राप्त होने वाले वोटों से सूचित होता है। १६२८ में नात्सियों को चुनावों में ८,१०,००० वोट मिले थे, १६३० में यह बढ़ कर ६४,०६,६०० हो गये, राइकस्टाग में नात्सीदल की संख्या १२ से बढ़ कर ३०७ हो गई, और १६३२ के चुनावों में राइकस्टाग की कुल ६०८ सीटों में से २३० पर नात्सीदल ने अधिकार कर लिया।

(२) **हिटलर का व्यक्तित्व**—नात्सीदल की सफलता का एक प्रमुख कारण इस के नेता का असाधारण और अद्भुत व्यक्तित्व था। उसमें जनता की मनोभावनाओं तथा मनोविज्ञान को समझने का, अपने उत्तेजक भाषणों द्वारा इन भावनाओं को उत्तेजित और प्रभावित करने का विलक्षण सामर्थ्य था। उसने इन्हीं भाषणों के जादू से जर्मन जनता को मोह लिया और उसे अपना अनुयायी बना लिया। प्रचार और प्रोपैगेण्डा की कला में वह पूरा पारंगत था। उसमें नेतृत्व के और राजनीतिज्ञता के अनेक गुण थे, हार्डी के मतानुसार उसमें विलक्षण प्रतिभा थी, भले ही वह दैवीय न होकर आसुरी थी। उसकी राजनीतिज्ञता की कुछ विशेषतायें निम्नलिखित थीं—उसमें किसी कार्य के विभिन्न खतरों को सही आंकने की सहज क्षमता थी और अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए उपयुक्त मनोवैज्ञानिक घड़ी निश्चित करने की विलक्षण सामर्थ्य थी।[८] अपने इस अद्भुत व्यक्तित्व से उसने नात्सीदल को शक्तिशाली बनाया।

(३) **वाईमार गणराज्य से असन्तोष**—हिटलर की सफलता का एक बड़ा कारण वाईमार गणराज्य की अक्षमता और इसके कार्यों से उत्पन्न जर्मन जनता में तीव्र असन्तोष है। इसके लोकतन्त्रवादी संविधान में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होने से राइकस्टाग में अनेक पार्टियां थीं, ये अपना अधिकांश समय पारस्परिक झगड़ों और तू-तू, मैं-मैं में बरबाद करती थीं। "इससे जर्मन लोगों में संसदीय प्रणाली से बड़ी निराशा और असन्तोष था। उन दिनों राजनीतिज्ञ कोई ठोस कार्य या महत्त्वपूर्ण निर्णय करने के बदले कोरी बकवाद और झूठे वचन दिया करते थे। इस स्थिति से असन्तुष्ट और रुष्ट जर्मन एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति की आवश्यकता अनुभव करने लगे, जो जर्मनी की समृद्धि और प्रतिष्ठा को पुनःस्थापित करे, हिटलर इसी प्रकार का व्यक्ति था, अतः उसका लोकप्रिय होना स्वाभाविक था"।

वाईमार गणराज्य से असन्तोष का एक अन्य कारण यह भी था कि इसका सम्बन्ध वर्साय की संधि से था। इसकी व्यवस्थायें जर्मनी के लिए राष्ट्रीय दृष्टि से घोर अपमानजनक थीं। स्ट्रैसमान ने पश्चिमी राष्ट्रों के साथ सुलह और समझौते की नीति

---

८. हार्डी—पर्वोक्त पुस्तक, ० ३५८–६०

अपना कर इसका कुछ प्रतिकार किया था, जर्मनी से मित्रराष्ट्रों की सेनायें १९३० में चली गई थीं, वह राष्ट्रसंघ का भी सदस्य बन गया था, उसकी क्षतिपूर्ति की राशि भी घटा दी गई थी। फिर भी जर्मनी की कई बड़ी माँगें अभी तक पूरी नहीं हुई थीं, उसे अन्य राष्ट्रों की भाँति अपनी इच्छानुसार स्थल, जल और वायुसेना रखने का अधिकार नहीं था, इस विषय में वर्साय की सन्धि के प्रतिबन्ध उस पर अब तक लागू थे, फ्रांस के विरोध के कारण उसकी अन्य देशों के समान शस्त्रास्त्र रखने की माँग नहीं स्वीकार हुई थी। डैन्जिग, पोलिश गलियारे, अपर साइलीशिया और आस्ट्रिया के जर्मन प्रदेश उससे पृथक् थे, १९३१ में आस्ट्रिया के साथ एकीकरण का प्रयत्न निष्फल हो चुका था, उससे छीने गये उपनिवेश अब तक उसे वापिस नहीं मिले थे। इन सब माँगों को पूरा कराने में वाईमार का गणराज्य सफल नहीं हुआ था, अतः उससे जर्मन जनता का असन्तुष्ट होना तथा वर्साय की सन्धि को रद्द कराने वाले तथा उपयुक्त माँगों को पूरा कराने वाले नात्सीदल का समर्थन करना स्वाभाविक था।

सामान्यतः हिटलर की सफलता और उत्थान का प्रधान कारण वर्साय की सन्धि समझा जाता है। किन्तु यह सत्य नहीं प्रतीत होता, यदि ऐसा होता तो हिटलर का उत्थान प्रथम विश्व-युद्ध के बाद तीन-चार वर्षों में होना चाहिये, जब राष्ट्रीय गौरव की दृष्टि से जर्मनी अधःपात की चरमसीमा पर पहुँच गया था, न कि १९३३ में उस समय जबकि इस राष्ट्रीय अपमान का कुछ प्रतिशोध हो चुका था। हार्डी ने लिखा है कि हिटलर को वर्साय की सन्धि के अन्यायों की उपज बताना सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है, क्योंकि यह सिद्धान्त उसके सहसा उत्कर्ष की सही व्याख्या नहीं कर सकता, वह प्रथम विश्व-युद्ध के बाद वर्षों से निरन्तर इस सन्धि के विरुद्ध प्रलाप और विषवमन कर रहा था, किन्तु उसे १९३२-३३ तक कोई बड़ी सफलता नहीं मिली।[१] अतः वर्साय की सन्धि को हिटलर के उत्थान का प्रमुख हेतु नहीं माना जा सकता। फिर भी इसे नात्सीवाद के उत्कर्ष का सहायक एवं गौण कारण अवश्य मानना चाहिये क्योंकि जर्मन जनता समय बीतने पर भी अपने राष्ट्रीय अपमान को नहीं भूली थी, वह अपने देश को निश्शस्त्र बनाये रखने के लिए कभी तैयार नहीं थी, जर्मन प्रदेशों और उपनिवेशों को पुनः प्राप्त करना तथा जर्मनी के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार उसके प्रमुख ध्येय थे। हिटलर ने इन्हें पूरा करने का आश्वासन दिया, अतः जनता उसके साथ हो गयी।

(४) **हिटलर के कार्यक्रम की जर्मन आकांक्षाओं के साथ अनुरूपता**— हिटलर की सफलता का एक बड़ा कारण यह था कि उसके कार्य-क्रम के विभिन्न अंग जर्मन जनता की परम्परागत आकांक्षाओं और इच्छाओं के अनुरूप थे, जनता जिन बातों को चिरकाल से सोचती, मानती और चाहती थी, उन्हें हिटलर ने खुल्लमखुल्ला कहना और पूरा करने का वचन दिया। वह इन आकांक्षाओं का मूर्त्तरूप था, अतः उसे जनता का हार्दिक समर्थन मिला। जनता वर्साय की सन्धि को अन्यायपूर्ण समझती थी, हिटलर ने उसे छिन्न-भिन्न करने का संकल्प प्रकट किया। महान् फ्रेडरिक, बिस्मार्क और कैसर जैसे

---

१. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३६०

वीर नायकों की पूजा करने वाली, सैनिक मनोवृत्ति में और कठोर अनुशासन में विश्वास रखने वाली जनता राजतन्त्र और अधिनायकतन्त्र की समर्थक रही थी, हिटलर ने लोकतन्त्र को 'मूर्खों, पागलों और कायरों की व्यवस्था' बताकर उसे अपना अनुयायी बनाते हुए तानाशाही के लिए मार्ग प्रशस्त कर लिया। नात्सीदल ने विभिन्न जर्मन विचारकों द्वारा जर्मन जनता में लोकप्रिय बनाये विचारों को ग्रहण किया, जैसे फ्रेडरिक द्वितीय का सैनिकवाद (Militarism), हेगेल का राज्य के सामने व्यक्ति को तुच्छ समझना, फ़िख्टे (Fichte) का वीर नेता की पूजा, नोवेलिस का शक्ति को ही अधिकार मानना, मार्वित्स का यहूदी विरोध, लिस्ट का जर्मनी के प्रसार के लिए अधिक स्थान की माँग, हौस्टन स्टीवर्ट चेम्बरलेन का जर्मन या आर्य नस्ल की श्रेष्ठता का विचार[१०]। उसका कार्य-क्रम उग्र राष्ट्रीयता के विचारों से ओत-प्रोत था, वह जर्मन जाति को विश्व की श्रेष्ठतम जाति समझता था और उसको सबसे बड़ी शक्ति बनाना चाहता था, अतः जनता ने उसे अपने देश के उद्धारक, लोकतन्त्र की दलदल से उभारने वाले महान् नेता के रूप में ग्रहण किया, बिस्मार्क तथा कैसर के तुल्य उसे समझते हुए उसका अन्धानुकरण और समर्थन किया।

(५) **अन्य कारण**—नात्सीवाद की सफलता का **पाँचवां कारण** जर्मन युवकों द्वारा इसका समर्थन था। १९१४ से १९३० के बीच में विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की संख्या में ६० प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इनमें हजारों बेकार थे, तत्कालीन व्यवस्था में अपनी दशा सुधारने की आशा छोड़ बैठे थे। वर्तमान व्यवस्था के विध्वंस में ही उन्हें अपना उद्धार दृष्टिगोचर होता था, अतः वे नात्सीवाद के समर्थक बने[११]। इसका उत्तेजक सैनिक कार्यक्रम उनकी प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुरूप था। **छठा कारण** साम्यवाद का संकट था, वस्तुतः यह इतना उग्र कारण नहीं था, जितना नात्सियों ने इसे अपने स्वार्थ के लिए बनाया। यदि जर्मनी में साम्यवाद के प्रसार की कोई संभावना होती तो जर्मन जनता अपनी सैनिक पराजय के समय कैसर के पलायन के बाद इसे स्वीकार कर लेती। साम्यवादियों ने इसके लिए प्रबल प्रयत्न भी किया, किन्तु वे सफल नहीं हुए। फिर भी जर्मनी में साम्यवादियों ने नवम्बर १९३२ के चुनावों में राइकस्टाग में १०० स्थान प्राप्त कर लिए थे और उनका प्रभाव बढ़ रहा था। नात्सियों ने जर्मन उद्योगपतियों और धन-कुबेरों से रुपया पाने के लिए साम्यवादी क्रान्ति की आशंका को बड़े अतिरंजित रूप में उपस्थित किया, ताकि साम्यवाद का निराकरण करने के लिए पूंजीपति उनके दल के लिए अपनी थैलियों के मुंह खोल दें। **सातवां कारण** हिटलर के यहूदी विरोध का जनता द्वारा समर्थन था। यहूदी जर्मनी का अत्यन्त अल्पसंख्यक किन्तु सम्पन्न वर्ग था, बड़े पूंजीपति और उद्योगपति यहूदी थे, साधारण जनता इन्हें शोषक समझकर इनसे घृणा करती थी, हिटलर ने इसका लाभ उठाया, और यह कहा कि १९१८ में जर्मनी की हार इनके विश्वासघात से हुई; इनका उन्मूलन होना चाहिए, साधारण जनता ने इस विषय में

१०. बेवरिज—दी प्राइस आफ पीस, पृ० ३५
११. लैंगसम—पर्वोक्त पुस्तक, पृ० २२३

हिटलर का समर्थन किया। आठवां कारण वाईमार गणराज्य द्वारा जर्मन लोगों की कुछ मनोभावनाओं और आन्तरिक इच्छाओं की उपेक्षा तथा अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्य थे[१२]। "जर्मन साम्राज्य के आदर्श वीर-पुरुषों के अनादर से, शाही झंडे के परित्याग से, पुराने सैनिक गणवेशों के छोड़ने से, सोवियत रूस की मित्रता से, वाईमार गणराज्य ने जनता के प्रमुख वर्गों, उच्च कुल वालों, विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों, संकीर्ण कृषकों, तथा पुराने सैनिकों की सहानुभूति खो दी। नात्सी नेता इस असन्तोष को खूब अच्छी तरह समझते थे, उन्होंने अपने प्रचार के साधनों द्वारा इसका पूरा लाभ उठाया। इनके भाषणों, पोस्टरों, झण्डों, गीतों, गणवेशों, उत्सवों, समारोहों, नस्ल की श्रेष्ठता के सिद्धांतों, यहूदी विरोध और हिटलर के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने मन्दी की मार से पीड़ित लाखों जर्मनों को नात्सीवाद का समर्थक बना लिया। आर्थिक संकट भले ही उनके लिए अभिशाप रहा हो, नात्सीदल के लिए वरदान सिद्ध हुआ।"

हिटलर द्वारा सत्ता प्राप्त करना—हिटलर १९३२ में पहली बार राष्ट्रपति पद के चुनाव के लिए हिंडनबर्ग के मुकाबिले में खड़ा हुआ, इस समय उसने जर्मन नागरिकता[१३] प्राप्त करने के लिए बर्लिन के ब्रुंजविक दूतावास में एक सहायक (Attache) की नौकरी स्वीकार कर ली थी। इसमें यद्यपि हिंडनबर्ग को सफलता मिली, किन्तु हिटलर को मिले १,३४,००,००० वोट उसकी प्रबल लोकप्रियता के सूचक थे। ३१ जुलाई, १९३२ के राइकस्टाग के चुनावों में नात्सियों को १,३७,४५,००० वोट अथवा कुल मतों का ३७ प्रतिशत प्राप्त हुआ। इसमें उनके दल के २३० प्रतिनिधि चुने गए, किन्तु ६ नवम्बर, १९३२ के चुनावों में आर्थिक संकट की परिस्थिति में सुधार होने के कारण इनके वोट घट कर १,१७,३७,००० अथवा ३३% ही रह गए और नात्सीदल के सदस्यों की संख्या १९६ रह गयी।

इस समय ५८४ सदस्यों की राइकस्टाग में नात्सीदल सबसे बड़ा होने पर भी बहुमत नहीं रखता था। इसे सत्तारूढ़ करने का श्रेय चुनावों को नहीं किन्तु तत्कालीन प्रधानमन्त्री कुर्त्त फान श्लीचर (Kurt Von Schleicher) के विरुद्ध स्वयं सत्ता प्राप्त करने के लिए किए गए फ्रांज़ फान पापेन (Franz Von Papen) के षड्यन्त्रों को है[१४], इसके परिणामस्वरूप ३० जनवरी, १९३३ को राष्ट्रपति हिंडनबर्ग ने बोल्शेविज्म से

---

१२. लैंगसम—पूर्वोक्त पुस्तक छठा संस्करण, पृ० ४४१

१३. १९२३ में म्यूनिक विद्रोह में दण्डित होने के कारण वह अब तक जर्मन नागरिकता के अधिकार से वंचित था।

१४. शूमैन—इंटरनेशनल पालिटिक्स, पृ० ५५८, एक अन्य वर्णन के अनुसार श्लीचर पापेन और हिटलर को बन्दी बनाकर उन पर राजद्रोह का अभियोग चलवाना चाहता था, इससे जर्मनी के व्यापारी और लोहे के उद्योगपति बड़े चिन्तित हुए, उन्होंने हिंडनबर्ग पर हिटलर को चांसलर बनाने के लिए जोर डाला, हिंडनबर्ग इस समय श्लीचर से रुष्ट था क्योंकि वह बेकारी की समस्या का हल करने के लिए बड़ी जमींदारियों को समाप्त करना चाहता था, हिंडनबर्ग की न्यूडक (Neudeck) एक बड़ी जमींदारी थी, उसे यह साम्यवादी प्रस्ताव नापसंद था, अतः उसने श्लीचर को पदच्युत कर दिया—जेम्स एडवर्ड जिजेरपी—योरोप इन पर्सपैक्टिव, पृ० ६९२-९३

जर्मनी की रक्षा के लिए श्लीचर को पदच्युत करके एडोल्फ हिटलर को प्रधानमन्त्री (Chancellor) तथा पापेन को उप-प्रधानमन्त्री बनाया। हिटलर कहा करता था "मैं वैध उपायों से शक्ति हस्तगत करूँगा।" वह उसने कर ली, किन्तु इसके बाद इस शक्ति को बनाए रखने के लिए उसने वैध, अवैध सभी उपायों को अपनाने में पाशविक शक्ति और षड्यन्त्रों के प्रयोग में तनिक भी संकोच नहीं किया।

राइकस्टाग में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए हिटलर ने ५ मार्च, १९३३ को नये चुनाव कराये। इनसे पहले सरकार ने अपने प्रतिस्पर्धी राजनैतिक दलों—विशेषतः कम्यूनिस्टों, सोशल डेमोक्रेटों और सैण्टर दल वालों के दमन करने के लिए अनेक कानून बनाये। चुनाव से कुछ दिन पहले राइकस्टाग का भवन एक अग्निकांड में लगभग भस्म हो गया। हिटलर के समर्थकों का यह कथन था कि आग लगाने का जघन्य कार्य कम्यूनिस्टों ने किया है।[15] कम्यूनिस्टों का कहना था कि हिटलर के प्रबल समर्थक और राइकस्टाग के सभापति गोरिंग के निवासस्थान से एक गलियारा भूमि के भीतर से होता हुआ राइकस्टाग के भवन के निचले हिस्से तक पहुँचता था, यह आग नात्सियों द्वारा इस गुप्त मार्ग से कम्यूनिज्म को बदनाम करने के लिए जान-बूझकर लगायी गयी है। इस अग्निकांड के बाद नात्सीविरोधी दलों पर अनेक कठोर प्रतिबन्ध लगाए गए। वाइमार संविधान की वैयक्तिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारायें स्थगित कर दी गयीं।

५ मार्च, १९३३ को बड़े उत्तेजनात्मक वातावरण में ३ करोड़ ९० लाख जर्मन नागरिकों ने मतदान किया। ६४७ सीटों में से नात्सियों को २८८, राष्ट्रवादियों को ५२, सोशल डेमोक्रेटों को १२०, कम्यूनिस्टों को ८१, सैण्टर पार्टियों को ९१ सीटें मिलीं। यह स्पष्ट था कि इतने अत्याचारों के होने के बावजूद नात्सियों को केवल ४४% वोट ही मिले और ८% राष्ट्रवादियों (Nationalists) के साथ मिलकर वे ५२% का ही बहुत थोड़ा बहुमत पा सके। इसके बाद नात्सियों ने कम्यूनिस्टों तथा अन्य दलों के प्रतिनिधियों को जबरदस्ती निकाल कर जर्मन लोकसभा में अपना सुदृढ़ बहुमत बना लिया।

२१ मार्च, १९३३ को बर्लिन से १७ मी० दक्षिण-पश्चिम में राजवंश के प्राचीन स्थान पोटसडाम (Potsdam) के पुराने गरिसन चर्च में बड़े धार्मिक समारोह, घण्टे-घण्टियों के निनाद और तोपों की गड़गड़ाहट के साथ **तृतीय जर्मन साम्राज्य या राइक** (Third Reich) की स्थापना की गई, प्रशियन राजाओं की समाधियों पर पुष्पहार चढ़ाये गए, हिटलर और हिंडनबर्ग के भाषण हुए। इसके दो दिन बाद २३ मार्च, १९३३ को हिटलर की प्रेरणा से राइकस्टाग ने ४ वर्ष के लिए मन्त्रिमण्डल को पूर्ण अधिकार देने का कानून (Enabling Act) पास करके गणराज्य की अन्त्येष्टि करते हुए हिटलर

---

१५. दिसम्बर १९३३ में जर्मन सुप्रीम कोर्ट ने एक डच कम्यूनिस्ट मैरिनस (Marinus Von Der Lubbe) को आग लगाने का अपराधी पाया, अभियोग के समय वह तंद्रावस्था (Stupor) में रहा और निरन्तर यह कहता रहा कि उसने यह कार्य अकेले ही अन्य साथियों की सहायता के बिना किया है, जनवरी १९३४ में उसे फांसी दे दी गई—लैंगसम पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४३८।

की तानाशाही का श्रीगणेश किया। तत्पश्चात् राइकस्टाग केवल हिटलर के भाषण सुनने और उसका समर्थन करने के लिए ही बुलाई जाती रही। २ अगस्त, १९३४ को राष्ट्रपति हिंडनबर्ग की मृत्यु हुई, इस पर प्रधानमन्त्री के और राष्ट्रपति के पद राइकसफ्यूहरर (Reich-sfuhrer) के नाम से मिला दिये गए और हिटलर जर्मनी का भाग्यविधाता, सर्वेसर्वा और सब कानूनों का निर्माता बन गया।

हिटलर की विदेशनीति के उद्देश्य और उपाय—जर्मनी में सर्वसत्तासम्पन्न होने पर हिटलर ने अपनी आत्मकथा में प्रतिपादित विदेशनीति का अनुसरण किया। इसके मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) **बृहत्तर जर्मनी में आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार जर्मन जाति के सब व्यक्तियों का एकीकरण**—वर्साय की सन्धि के अनुसार जर्मनी से अनेक प्रदेश छीन लिये गए थे, जर्मन भाषाभाषी आस्ट्रिया के जर्मनी के साथ एकीकरण पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। हिटलर का उद्देश्य आस्ट्रिया, डैन्जिग, स्विट्जरलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया व बाल्टिक राज्यों में रहने वाले जर्मन लोगों को "विदेशी दासता के बन्धन से मुक्त कर" जर्मन साम्राज्य में सम्मिलित करना था। (२) **वर्साय तथा सांजर्मं की सन्धियों को रद्द करना**—हिटलर इन सन्धियों को जर्मनी के लिए घोर अपमानजनक समझता था और इनकी व्यवस्थाओं को छिन्न-भिन्न करना चाहता था। वर्साय की सन्धि का प्रचारात्मक महत्त्व उसके लिए बहुत अधिक था। वह इससे जर्मन जनता में पश्चिमी राष्ट्रों के विरुद्ध घोर घृणा का भाव उत्पन्न करके उन्हें शस्त्रीकरण और युद्ध के लिए भड़काना चाहता था। उसने 'मेरा संघर्ष' में लिखा था कि "इस सन्धि द्वारा ६ करोड़ व्यक्तियों के दिमागों में लज्जा और घृणा के इतने भाव भर दिये जाएं कि सारा राष्ट्र ज्वालाओं का अग्निसागर बन जाय और उससे यह उद्घोषणा करने वाला फौलादी संकल्प और जयघोष निकले कि 'हम पुनः शस्त्र धारण करेंगे' (Wir Wollen Wieder Waffen)[१६] (३) **जर्मन जनता की बढ़ती हुई आबादी के लिए अधिक प्रदेश और स्थान (Lebensraum) की प्राप्ति**—हिटलर का लक्ष्य जर्मनी को विश्व की महाशक्ति बनाना था, इसके लिए उसका प्रादेशिक विस्तार आवश्यक था, हिटलर ने (Mein Kampf) में यह लिखा था कि इस प्रसार की दिशा रूस और उस पर आश्रित राज्य हैं, उसने पूर्व की ओर बढ़ने की पुरानी जर्मन नीति (Drang Nach Osten) को पुनरुज्जीवित किया, इसके अनुसार उसका उद्देश्य डैन्यूब की घाटी और बाल्कान प्रायद्वीप पर नियन्त्रण प्राप्त करना और ब्रैस्टलिटोवस्क की सन्धि के अनुसार श्वेत रूस, यूक्रेन और बाल्टिक राज्यों को हस्तगत करना था।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने जिन उपायों का अवलम्बन किया, वे मुख्य रूप से धमकी देना, धौंस (Bluff), शान्ति का दम्भ और आडम्बर, सन्धियों का भंग और युद्ध थे। अगले वर्णन से यह स्पष्ट हो जायगा कि उसने अपने अनेक उद्देश्य बन्दर भभकी और धौंस से और सदा यह कहते हुए पूरे किए कि वह शान्ति का पुजारी है, उसकी यह अन्तिम प्रादेशिक माँग है तथा इसके बाद वह स्थायी शान्ति बनाये रखेगा। शान्ति

---

१६. Mein Kampf, पृ० ७४२

की घोषणा करते हुए भी उसका इसमें कोई विश्वास नहीं था, उसने मीन काम्फ में स्पष्ट लिखा था—जर्मनी के "पीड़ित प्रदेश उग्र प्रतिवादों द्वारा राइक में वापिस नहीं लाए जा सकते, वे तो प्रहार करने में समर्थ (Schlagkraftiges) तलवार द्वारा ही मिल सकते हैं। जनता के शासन की आन्तरिक नीति ऐसी तलवार का निर्माण करना है और उसकी विदेशनीति इसके निर्माण का संरक्षण और युद्ध में साथ देने वाले (Waffengenossen) मित्रों की खोज है"।[१७] इससे यह स्पष्ट है कि वह युद्ध को अपनी लक्ष्यपूर्ति के लिए आवश्यक समझता था। वर्साय की सन्धि के प्रतिबन्धों द्वारा जर्मनी की सेना और शस्त्रास्त्रों को नियन्त्रित कर दिया गया था, अतः सर्वप्रथम उसने इन प्रतिबन्धों को शनैः-शनैः तोड़कर युद्ध के लिए शस्त्रीकरण आरम्भ किया। किन्तु ऐसा करते हुए उसने बड़ी समझदारी से धीरे-धीरे पग बढ़ाये, वह ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहता था, जिससे उसके शत्रु फ्रांस और ब्रिटेन भड़क उठें और सन्धि तोड़ने के लिए उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही करें। यह तभी हो सकता था, जब वह अपने मित्रों में फूट डाल सके, इस दृष्टि से वह इंगलैण्ड के साथ मित्रता और समझौते का पक्षपाती था[१८]; उसने सदैव ग्रेट ब्रिटेन को प्रसन्न रखते हुए और शान्ति की दुहाई देते हुए अपने सब कार्य किये। वामनावतार में विष्णु ने तीन पगों में त्रिलोकी नापी थी, हिटलर ने दस पगों में विश्वविजय का प्रयत्न किया। उसका पहला पग राष्ट्रसंघ का परित्याग था।

नात्सी विदेशनीति के प्रमुख कार्य—(१) निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का बहिष्कार और राष्ट्रसंघ का परित्याग—पहले यह बताया जा चुका है (पृ० १२१) कि राष्ट्रसंघ द्वारा आयोजित निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में जर्मनी ने यह माँग रखी थी कि वर्साय की सन्धि के अनुसार या तो अन्य देश भी उसकी भाँति अपनी सेनाएं और शस्त्रास्त्र घटा दें अन्यथा जर्मनी को अन्य देशों की भांति यथेच्छ सेना रखने और शस्त्रास्त्र निर्माण का अधिकार हो। फ्रांस जर्मनी की समानता (Parity) की माँग का विरोध कर रहा था, हिटलर की नीति का मुख्य आधार शस्त्रीकरण था, उसे निःशस्त्रीकरण और राष्ट्रसंघ से कोई लाभ न था। अतः उसने "शान्ति, समानता और सम्मान" के उच्च सिद्धान्तों की दुहाई देते हुए १४ अक्टूबर, १९३३ को निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से पृथक् होने की घोषणा की और राष्ट्रसंघ छोड़ने का नोटिस दिया। इस अवसर पर जर्मन जनता के नाम एक घोषणा में उसने कहा था—"जर्मनी की पहली सरकारें राष्ट्रसंघ में इस आशा से सम्मिलित हुई थीं कि यह विभिन्न जातियों के झगड़ों के न्यायपूर्ण निपटारे का निष्पक्ष मंच होगा, इसके लिए यह आवश्यक है कि जर्मन जनता को इसमें समानता के अधिकार प्राप्त हों।" समान अधिकारों के बिना इसका सदस्य होना ६½ करोड़ जर्मन लोगों के "सम्मान-प्रेमी राष्ट्र और इसकी सरकार के लिए असह्य अपमान

---

१७. हिटलर—मीन काम्फ, पृ० ६८९

१८. कार—इंटरनेशनल रिलेशन्स, पृ० १९८, "हिटलर ने केवल एक मामले में संयम प्रदर्शित किया, गत महायुद्ध में जर्मन नीति की ग्रेट ब्रिटेन को शत्रु बनाने वाली मौलिक भूल का उसे पूरा ज्ञान था, अतः उसने ब्रिटिश नौशक्ति के साथ प्रतिस्पर्धा करने के प्रयत्न की पुनरावृत्ति नहीं की।"

है" हिटलर के इस पहले कूटनीतिक दाँव ने पश्चिमी राजनीतिज्ञों में हलचल पैदा कर दी, किन्तु उन्हें शान्त करना उसे अच्छी तरह आता था। उसने १८ अक्टूबर को यह घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों में शक्ति का प्रयोग वह कभी नहीं करना चाहता, उसे निःशस्त्रीकरण में पूरा विश्वास है और वह दूसरे देशों के साथ अनाक्रमण समझौते करने को तैयार है। इसके बाद १२ नवम्बर को उसने जर्मन जनता से राष्ट्रसंघ छोड़ने के प्रश्न पर मतसंग्रह किया, ९५% मतदाताओं ने हिटलर की नीति का समर्थन किया। यह सार्वजनिक रूप से शस्त्रीकरण की ओर उसका पहला पग था, गुप्त रूप से उसका मन्त्रि-मण्डल ४ अप्रैल, १९३३ को युद्ध की योजनायें बनाने और तैयारी करने का निश्चय कर चुका था।

(२) **पोल-जर्मन अनाक्रमण समझौता (२६ जन० १९३४)**—हिटलर का अगला महत्त्वपूर्ण पग पोलैण्ड के साथ अनाक्रमण समझौता (Non-aggression Pact) था। १९१९ से पोलिश गलियारे के प्रश्न पर (देखिये पृ० ४७–४८) दोनों देशों के सम्बन्ध बड़े कटुतापूर्ण थे और लीग की कौन्सिल में सबसे अधिक झगड़े पोलैण्ड और डैन्जिग के आया करते थे, फिर भी हिटलर का यह विलक्षण नीति-चातुर्य था कि उसने सत्तारूढ़ होने के एक वर्ष के भीतर ही अपने प्रबल विरोधी को मित्र बनाकर उससे दस वर्ष के लिए अनाक्रमण की सन्धि की और पिछले पन्द्रह वर्षों से दोनों देशों के समाचारपत्रों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध किये जाने वाले विषवमन और विरोधी प्रचार को बन्द करने का निश्चय किया।

दो कट्टर शत्रुओं की यह मैत्री वस्तुतः विस्मयावह थी और दोनों देशों ने कुछ विशेष उद्देश्यों से प्रेरित होकर ऐसा किया। हिटलर अपने कार्यों द्वारा पश्चिमी योरोप के देशों को स्तब्ध और विरोधी बना चुका था, कम्यूनिस्टों के उग्र दमन के कारण वह सोवियत रूस को भी अपना मित्र नहीं बना सकता था। कार के मतानुसार इस समय जर्मनी को सर्वथा मित्रहीन होने का भय था।[१९] अतः उसने पोलैण्ड के साथ मैत्री करना उचित समझा। इसमें उसे कई लाभ थे। जर्मनी यद्यपि अपना विस्तार कई दिशाओं में चाहता था, किन्तु हिटलर की नीति यह थी कि यह विस्तार शनैः-शनैः हो, क्योंकि सब दिशाओं में एक साथ बढ़ने से सब देशों को शत्रु बनाने की संभावना थी। अतः उसने एक शत्रु से एक समय में निपटने की नीति अपनायी, यह बिल्कुल निरापद थी, अभी वह अपने सब शत्रुओं से इकट्ठा लड़ने का सामर्थ्य नहीं रखता था। शान्तिपूर्ण नीति का **दूसरा** लाभ इसका प्रचारात्मक महत्त्व था, वह संसार को यह प्रदर्शित कर सकता था कि उसकी नीति शान्तिवादी है, शान्ति बनाये रखने के लिए उसने अपने कट्टर शत्रु को गले लगाने में सकोच नहीं किया। **तीसरा** लाभ यह था कि इस समय सार घाटी में जन-मत संग्रह होने वाला था (देखिये पृ० ४६), शान्तिवाद की नीति अपनाने से सार के जर्मनी में मिलने की अधिक संभावना थी। **चौथा** लाभ यह था कि पोलैण्ड की समस्या से निश्चिन्त होकर वह अन्य दिशाओं में विशेषतः दक्षिण में आस्ट्रिया की ओर अधिक

---

१९. कार—इण्टरनेशनल रिलेशन्स, पृ० २००, हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३६६.

सुगमता से बढ़ सकता था। अन्ततोगत्वा उसने डैन्जिग को हड़पना ही था, और दस वर्ष की अनाक्रमण सन्धि होते हुए भी उसने पाँच वर्ष बाद १९३९ में इस पर आक्रमण कर दिया। किन्तु १९३४ में उसके लिए पोलैण्ड के साथ सन्धि अधिक लाभजनक और दूर-दर्शितापूर्ण थी।

इसी प्रकार पोलैण्ड ने भी कुछ दृष्टियों से पुराने शत्रु को मित्र बनाना वांछनीय समझा। वह १५ वर्ष से दो विरोधी शत्रुओं—जर्मनी और रूस के बीच में रह रहा था, फ्रांस उसका मित्र अवश्य था, किन्तु वह बहुत दूर था और लोकार्नो सन्धि के समय उसने यह प्रदर्शित किया था कि पोलैण्ड के हितों की अपेक्षा उसे अपनी सुरक्षा की अधिक चिन्ता है (देखिए पृ० १०२) जर्मनी के महाशक्ति के रूप में उत्थान से पोलैण्ड को फ्रांस की सहायता पर अधिक भरोसा नहीं रहा था। पोलैण्ड यह भी समझता था कि जर्मनी और रूस का संघर्ष अनिवार्य है, वह इन दोनों चक्की के पाटों में नहीं पिसना चाहता था, उसके लिए एक को मित्र बनाना आवश्यक था, जर्मनी उसे अधिक शक्ति-शाली और विश्वसनीय प्रतीत हुआ, अतः उसने उसके साथ सन्धि करली। यह सन्धि यद्यपि दस वर्ष के लिए थी, किन्तु पोलैण्ड को यह विश्वास था कि इसे अधिक स्थायी बनाया जा सकता है।

(३) आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिलाने की विफल चेष्टा (२५ जुलाई, १९३४)—पोलैण्ड के साथ सन्धि के बाद पूर्वी सीमा से निर्भय होकर हिटलर ने जर्मन भाषाभाषी अपनी मातृभूमि आस्ट्रिया के जर्मनी के साथ एकीकरण (Anschluss) का प्रयत्न किया, यह सां जर्मे की सन्धि द्वारा वर्जित था। हिटलर की प्रेरणा से १९३४ में आस्ट्रिया में एकीकरण पक्षपाती नात्सीदल का संगठन हुआ, किन्तु इस समय फ्रांस, इटली और आस्ट्रिया ने १७ फर० १९३४ को अपनी संयुक्त घोषणा में आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता बनाए रखने का संकल्प प्रकट किया। इस बीच में आस्ट्रिया में नात्सी आन्दो-लन प्रबल होता गया, आस्ट्रियन प्रधानमन्त्री डालफूस (Dollfus) ने इन्हें दबाने का प्रयास किया, किन्तु २५ जुलाई, १९३४ को सहसा नात्सीदल ने १ बजे दिन में विद्रोह (Putsch) करके शाम के सात बजे तक रेडियो स्टेशन पर और सरकारी भवनों पर अधिकार कर लिया, डालफूस एक नात्सी नेता ओटो प्लेनेटा की गोलियों का शिकार होकर दिवंगत हुआ, किन्तु शीघ्र ही सरकारी फौजों ने इस विद्रोह को दबा दिया। मुसो-लिनी ने आस्ट्रिया की रक्षा के लिए अपनी सेनायें सीमान्त पर भेज दीं, नात्सियों को जान बचाकर जर्मनी भागना पड़ा। हिटलर की इससे बड़ी बदनामी हुई, यद्यपि आस्ट्रिया के षड्यन्त्रकारियों और जर्मन नात्सियों में कोई स्पष्ट सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सका, फिर भी हिटलर ने षड्यन्त्रकारियों के विचवानिये के रूप में काम करने वाले आस्ट्रिया के जर्मन राजदूत डा० रीथ को वापिस बुला लिया और उसके स्थान पर फान पापेन को राजदूत बनाकर वियना भेजा।

इस घटना का योरोप की राजनीति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। हिटलर और जर्मनी के उत्कर्ष से भयभीत होकर सोवियत यूनियन राष्ट्रसंघ में प्रविष्ट हुआ (१८ सित० १९३४)। इटली जर्मनविरोधी गुट में सम्मिलित हुआ, मुसोलिनी और लावाल ने फ्रैंको-

इटालियन समझौता किया (७ जन० १९३५), फ्रांस ने पूर्वी योरोप के देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध बढ़ाने शुरू किये।

(४) सार की प्राप्ति, वर्साय सन्धि की सैनिक धाराओं का भंग और शस्त्रीकरण—वर्साय की सन्धि के अनुसार १५ वर्ष बाद १९३५ में सार की घाटी में जनमत संग्रह द्वारा यह निश्चय होना था कि वह भविष्य में जर्मनी का अंग बने, फ्रांस के आधीन रहे या राष्ट्रसंघ द्वारा शासित हो (देखिए पृ० ४६–४७)। इसका निर्णय जर्मनी के अनुकूल रहा और १ मार्च, १९३५ को सार का प्रदेश जर्मनी में सम्मिलित हो गया। हिटलर ने इसे पाने के बाद यह घोषणा की कि पश्चिम में अब कोई नया प्रदेश पाने की उसकी आकांक्षा नहीं है। उसने ग्रेट ब्रिटेन के साथ वायुसेना के नियन्त्रण के लिए वायु समझौते (Air Pact) की चर्चा आरम्भ की, किन्तु इस बीच में पुनः शस्त्रीकरण सम्बन्धी ब्रिटिश श्वेतपत्र में जर्मन शस्त्रीकरण के निर्देश से तथा १२ मार्च को फ्रेंच सरकार द्वारा अनिवार्य सैनिक सेवा की अवधि दुगनी कर दिये जाने से जर्मनी को अपने शस्त्रीकरण का स्वर्ण अवसर मिल गया। १६ मार्च, १९३५ को हिटलर ने यह घोषणा की कि मित्र-राष्ट्रों ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया, अतः वर्साय सन्धि की निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी धाराओं का पालन कानूनी और नैतिक दृष्टि से जर्मनी के लिए आवश्यक नहीं है। उसने इस सन्धि के समस्त सैनिक प्रतिबन्धों को ठुकराते हुए जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा (Conscription) का नियम लागू करने, ३६ डिवीजनों की ५,५४,००० स्थल सेना बनाने और इंगलैण्ड और फ्रांस के बराबर वायु-सेना बनाने का संकल्प प्रकट किया। किन्तु इसके साथ ही उसने शान्ति में अपना अगाध विश्वास करते हुए ब्रिटिश राजनीतिज्ञों सर जान साइमन और ईडन को सन्धि-चर्चा के लिए बर्लिन में निमन्त्रित भी किया। ग्रेट ब्रिटेन हिटलर के कूटनीतिक जाल में फंस गया, २५ मार्च को साइमन और ईडन बर्लिन आए, हिटलर ने इनसे बातचीत में वायु-सेना समझौते का स्वागत किया, वायुसेना में फ्रांस से समानता की माँग की, किन्तु इंगलैण्ड को प्रसन्न रखने के लिए यह प्रस्ताव रखा कि जर्मन नौसेना ब्रिटिश नौसेना के ३५ प्रतिशत से अधिक न होगी। इसके साथ ही उसने निःशस्त्रीकरण में विश्वास प्रकट करते हुए यह कहा कि यदि इसे अन्य देश क्रियान्वित करें तो वह इसके लिए भी उद्यत है। इंगलैण्ड उसके झांसे में आ गया।

फ्रांस हिटलर द्वारा वर्साय सन्धि की सैनिक धाराओं के भंग करने से बड़ा विक्षुब्ध और भयभीत हुआ, उसने जर्मनी के कार्य पर विचार के लिए अप्रैल में राष्ट्रसंघ का विशेष अधिवेशन बुलाने की माग की और इसकी तैयारी के लिए ब्रिटिश, फ्रेंच, इटालियन कूटनीतिज्ञ स्विट्जरलैण्ड में स्ट्रेजा (Stressa) में एकत्र हुए (११–१४ अप्रैल, १९३५)। यहाँ वर्साय की सन्धि व्यवस्थाओं के पाँचवें भाग का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन करके जर्मन सेना (Reichwehr) का निर्माण करने वाले जर्मन कानून (Law for the Reconstruction of the National Defence Forces) की निन्दा का प्रस्ताव तैयार किया गया। १७ अप्रैल को इसे जेनीवा में राष्ट्रसंघ की परिषद् ने पास कर दिया, किन्तु इसमें कोरी निन्दा के अतिरिक्त किसी क्रियात्मक पग के उठाने की बात नहीं थी, अतः जर्मनी

को इससे हानि की कोई आशंका नहीं थी।

वस्तुत: (स्ट्रेज़ा सम्मेलन) के राष्ट्रों में जर्मनी के विरुद्ध वास्तविक एकता नहीं थी। ग्रेट ब्रिटेन ऊपर से जर्मनी की निन्दा करता हुआ भी उसके साथ नौसेना के सम्बन्ध में समझौता करने को उत्सुक था। फ्रांस और रूस अवश्य भयभीत थे, इन्होंने जर्मनी के विरुद्ध २ मई को **फ्रैंको-सोवियत पैक्ट** कर लिया और इसी प्रकार चैकोस्लोवाकिया और सोवियत रूस के मध्य १६ मई को **चैक सोवियत समझौता** (Czech-Soviet Pact) हो गया। किन्तु इसी समय जर्मनी ने इंगलैण्ड से समझौता करके अपने शत्रुओं में फूट डाल दी।

(५) **एंग्लो-जर्मन नाविक समझौता** (१८ जून, १६३५)—स्ट्रेज़ा सम्मेलन से उत्पन्न जर्मनविरोधी भावनाओं को शांत करने तथा पश्चिमी राष्ट्रों की अपने विरुद्ध एकता को भंग करने के लिए हिटलर ने २१ मई को राइकस्टाग में एक बड़ा कूटनीतिपूर्ण भाषण दिया, इसमें उसने 'न्याय' और 'शांति' की दुहाई देते हुए युद्ध की विभीषिका की घोर निन्दा की, फ्रांस व अन्य देशों द्वारा किये जाने वाले बहुपक्षीय (multilateral) समझौतों को युद्धों का मूल बताया, पोलैण्ड के साथ अनाक्रमण समझौते के उदाहरण से अपने को शान्तिवादी सिद्ध करते हुए निःशस्त्रीकरण में अपना विश्वास प्रकट किया और यह आश्वासन दिया कि वह भविष्य में वर्साय की तथा लोकार्नो की संधियों की सब व्यवस्थाओं का पालन करेगा, इस प्रकार उसने १६ मार्च के सैनिक कानून द्वारा वर्साय की संधि के प्रत्याख्यान से उत्पन्न असंतोष और रोष को शांत किया। किन्तु इसके ही साथ उसने इंगलैण्ड के साथ नौसैनिक समझौते का प्रस्ताव रखा। इंगलैण्ड ने उसका विश्वास किया, जून १६३५ में हिटलर ने रिब्बनट्रॉप को इस कार्य के लिए अपना विशेष राजदूत बनाकर लन्दन भेजा। १८ जून को उसके ब्रिटिश विदेश-मन्त्री सैमुएल होर के साथ हुए समझौते के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने अपनी नौसेना के सब प्रकार के जहाज़ों के ३५ प्रतिशत तक नए जहाज बनाने की जर्मनी को अनुमति दे दी। इससे स्ट्रेज़ा सम्मेलन के जर्मनविरोधी गुट में फूट पड़ गई, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली से अलग हो गया। जर्मनी को पनडुब्बियां आदि वर्साय संधि द्वारा सर्वथा निषिद्ध जहाज़ बनाने का अधिकार मिल गया और एक प्रकार से ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मनी के वर्साय संधि तोड़ने के कार्य का अनुमोदन किया।[२०] रिब्बनट्रॉप ने यह ठीक ही लिखा है कि "इस समझौते का सबसे बड़ा महत्त्व यह था कि इससे ब्रिटेन वर्साय की संधि की शस्त्रास्त्र सम्बन्धी व्यवस्थायें तोड़ने के लिए तैयार हो गया।"

ग्रेट ब्रिटेन इस संधि-भंग के लिए क्यों तैयार हुआ? कार[२१] ने इसे अंग्रेजों की समझदारी और सामान्य बुद्धि का परिणाम बताया है। उसका यह कहना है कि फ्रांस ने जर्मनी के साथ शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में प्रत्येक समझौते का विरोध करके स्थल सेना में उसके विस्तार को असीम बना दिया था, इंगलैण्ड ने समझौते द्वारा जर्मनी की नौसेना के विस्तार की महत्त्वपूर्ण सीमा नियत कर दी। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रेट-

---

२०. हार्डी—ए शार्ट हिस्टरी ऑफ इंटरनेशनल एफेयर्स, पृ० ४०१

२१. कार—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २२०–२१

ब्रिटेन द्वारा फ्रांस और इटली के साथ निर्धारित जर्मनी द्वारा संधि-भंग करने से रोकने की नीति के तथा स्ट्रेज़ा और जेनीवा में जर्मन नीति की निन्दा के प्रस्तावों के सर्वथा प्रतिकूल था।

ग्रेट ब्रिटेन की इस परस्पर विरोधी नीति का मुख्य कारण उस समय ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की अनिश्चित नीति थी। हिटलर के सत्तारूढ़ होने के दो वर्ष बाद तक इंगलैण्ड में जर्मन नीति के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचारधाराएं थीं। **पहली विचारधारा** नात्सियों के अत्याचारों के प्रति प्रबल असन्तोष प्रकट करते हुए जर्मन खतरे से सुरक्षा पाने के लिए योरोप के सब राज्यों को सहायता देने तथा जर्मनविरोधी सन्धियों और गुटों को प्रोत्साहित करने की थी, इसने वर्साय की व्यवस्था बनाये रखने के लिए फ्रांस, इटली और सोवियत रूस के साथ विविध सन्धियां करने की नीति का समर्थन किया। किन्तु जब १ जनवरी, १९३५ तक इस प्रकार के अनेक समझौते हो गये तो इंगलैण्ड में **दूसरी विचारधारा** प्रबल होने लगी, इसके अनुसार इस प्रकार की गुटबन्दियों का परिणाम जर्मनी को चारों ओर से घेरना तथा वर्साय की उन अन्यायमूलक व्यवस्थाओं को स्थायी बनाये रखना था जिनके परिणामस्वरूप नात्सी क्रान्ति हुई थी। इस पक्ष का यह कहना था कि फ्रेंच नीति के समर्थन से तो जर्मन खतरे के बढ़ने की संभावना है। अतः ब्रिटिश नीति का ध्येय जर्मनी के विरोधी घेरे को तोड़ना, उसकी शिकायतों को मैत्रीपूर्ण वार्त्ता द्वारा दूर करना और उसे पुनः राष्ट्रसंघ में लाने का प्रयास करना होना चाहिए। यह तुष्टीकरण (Appeasement) की नीति थी। सर जॉन साइमन की बर्लिन यात्रा और नाविक समझौता इस पक्ष की विजय थी और जेनीवा और स्ट्रेज़ा में पहले पक्ष की विजय हुई थी, इस समय ब्रिटेन की परस्पर विरोधी नीति का भी यही रहस्य है[२२]।

(६) लोकार्नो सन्धि का भंग, राइन प्रदेश का सैन्यीकरण (७ मार्च, १९३६)—१९३५ में जब पश्चिमी देश एबीसीनिया पर इटली के आक्रमण की समस्या सुलझाने में व्यस्त थे और इस कारण उनमें बड़ा मतभेद था। (देखिये ऊपर पृ०-५७), उस समय हिटलर ने राइन के विसैन्यीकृत प्रदेश (Demilitarised Zone) में जर्मन सेनायें भेजने का साहसपूर्ण पग उठाया। एबीसीनिया के प्रश्न का कुछ भी निर्णय हो, जर्मनी को प्रत्येक अवस्था में लाभ था। यदि इसमें इटली की हार हो तो आस्ट्रिया के जर्मनी के साथ एकीकरण के प्रबल विरोधी का पराभव होने में जर्मनी को लाभ था, और यदि वह जीते, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और राष्ट्रसंघ के अन्य राज्य एबीसीनिया की रक्षा करने में असमर्थ रहे तो जर्मनी भविष्य में इनकी नपुंसकता का ज्ञान होने के कारण अधिक साहसपूर्ण पग उठा सकता था। इटली हारे या जीते, हर हालत में उसका अपने स्ट्रेज़ा (पृ० १४०) के साथियों से विरोध अवश्यंभावी था और यह हिटलर के लिए लाभप्रद था। फरवरी १९३६ के बाद से इटली की सेनायें एबीसीनिया को तेजी से जीतने लगीं, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का ध्यान उस समस्या की ओर केन्द्रित था, अतः हिटलर यह समझता था कि ये दोनों देश उसकी नई योजना का प्रबल विरोध नहीं करेंगे। राइन प्रदेश में

---

२२. कार—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २२०–२१

सेनायें भेजने और किलेबन्दी करने में हिटलर को यह भी लाभ था कि पहले फ्रांस इस प्रदेश के विसैन्यीकृत होने पर इस ओर से निश्चित था और वह अपने पूर्वी योरोप के मित्रों को सैनिक सहायता दे सकता था, किन्तु इस प्रदेश में जर्मन सेनायें आ जाने पर उसे इस सीमा की रक्षा के लिए सुदृढ़ दुर्ग पंक्ति बनाना तथा सेना रखना अनिवार्य हो गया।

हिटलर ने इन सब लाभों तथा एबीसीनिया युद्ध के शुभ मुहूर्त का विचार करते हुए अपनी शान्तिवादी नीति की दुहाई के साथ यह कार्य किया। फरवरी १६३६ में फ्रेंच पार्लियामेंट में **फ्रैंको-रूसी समझौते** की संपुष्टि (Ratification) का विचार हो रहा था, हिटलर ने इसे जर्मनी के विरुद्ध किया गया सैनिक समझौता बताया और एक फ्रेंच पत्रकार के साथ अपनी भेंट में यह घोषणा की कि फ्रांस और जर्मनी की शत्रुता बिलकुल बेहूदा है। जब हिटलर को उसकी अपनी आत्मकथा 'मीन काम्फ' के फ्रांस के विरुद्ध आग उगलने वाले सन्दर्भों का स्मरण कराया गया तो हिटलर ने कहा कि यह पुस्तक तो फ्रांस द्वारा रूर पर अधिकार करने के समय लिखी गई थी और अब वह इसके नये संस्करण में आवश्यक संशोधन कर देगा। उसने इस भेंट द्वारा फ्रांस को अपनी मैत्री का इतना अधिक विश्वास दिलाया कि फ्रेंच सरकार ने अपने बर्लिन-स्थित राजदूत को यह आदेश भेजा कि वह इस विषय में हिटलर से मिलकर अधिक जानकारी प्राप्त करे।

जब फ्रांस हिटलर से मैत्री के प्रस्तावों की आशा कर रहा था तो सहसा ६ मार्च शनिवार को ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और इटली को यह सूचना दी गई कि जर्मन सेनायें राइन प्रदेश में प्रवेश कर रही हैं। **यह वर्साय की सन्धि की धारा ४२-४३ का तथा लोकार्नो की सन्धि की दूसरी धारा का स्पष्ट उल्लंघन था।** किन्तु हिटलर ने इसकी घोषणा करते हुए इसका सारा उत्तरदायित्व फ्रांस पर डाला, पेरिस ने फ्रैंको-सोवियत समझौते द्वारा लोकार्नो सन्धि को तोड़ा है, अतः जर्मनी उसके पालन के लिए बाध्य नहीं है, इसके साथ ही उसने दोनों देशों की सीमा के दोनों ओर बराबर दूरी में एक नये विसैन्यीकृत प्रदेश (Demilitarised Zone) के बनाने, लोकार्नो सन्धि के नमूने पर नई सन्धि करने, पूर्वी पड़ोसियों के साथ अनाक्रमण समझौते करने तथा राष्ट्रसंघ में सम्मिलित होने के प्रस्ताव रखे।

वर्साय और लोकार्नो की सन्धियों के अनुसार जर्मनी द्वारा राइन प्रदेश में सेनायें भेजने पर फ्रांस और इंगलैण्ड को उसे रोकने के लिए अपनी फौजें भेजनी चाहिए थीं, यदि फ्रांस इस समय ऐसा करता तो जर्मनी को अपनी सेनायें वापिस बुलानी पड़तीं, हिटलर आस्ट्रिया के चांसलर शुशनिग से भेंट में इस बात को स्वीकार किया था[२३]। हिटलर के सेनापतियों को यह सम्भावना थी, अतः उन्होंने हिटलर की इस योजना का विरोध किया था, किन्तु हिटलर को यह विश्वास था कि वे इस विषय पर मौखिक विरोध ही करेंगे, क्रियात्मक पग नहीं उठायेंगे। ऐसा ही हुआ, क्योंकि इंगलैण्ड की जनता को हिटलर के सन्धिभंग की अपेक्षा उसके शान्ति प्रस्तावों में अधिक दिलचस्पी थी, वे यह

---

२३. चर्चिल—दी सैकेण्ड वर्ल्ड वार खण्ड १, पृ० २३६

समझते थे कि यह तो जर्मनी का अपने ही एक ऐसे प्रदेश में फौजें भेजना है, जहाँ अन्यायपूर्ण रीति से इनका प्रवेश अब तक वर्जित था[२४]। इस समय फ्रांस लड़ाई के लिए तैयार था, फ्रेंच प्रधानमन्त्री मो० सारो (Sarrout) तथा विदेश-मन्त्री मो० फ्लादँ (Flandin) इसके लिए इंगलैंड को तैयार करने ११ मार्च को लन्दन आये, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसका विरोध किया[२५]। उसकी प्रेरणा से लन्दन में १४ मार्च को बुलाई गई राष्ट्रसंघ की परिषद् ने जर्मनी के इस कार्य की निन्दा का प्रस्ताव पास करने के अतिरिक्त कुछ नहीं किया। इस बीच में हिटलर ने जर्मन जनता से इस प्रश्न पर जनमत लिया और ९८·८७ जनता ने उसके कार्य का समर्थन किया। इससे प्रोत्साहित होकर हिटलर ने पुनः ३१ मार्च को अपने शान्ति प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन को भेजे। इस पर यह निश्चय हुआ कि हिटलर के पास इनके स्पष्टीकरण के लिए एक प्रश्नावली भेजी जाए। इस बीच २ मई के चुनाव में फ्रेंच सरकार के पराजित हो जाने के कारण ग्रेट ब्रिटेन ने ७ मई को ये प्रश्न फ्यूहरर को भेजे, किन्तु उसने इनका उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं समझी और राइन प्रदेश में बड़ी तेजी से सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार मित्रराष्ट्रों ने हिटलर को सफलतापूर्वक सैनिक दृष्टि से रोकने का एक बहुमूल्य अवसर गँवा दिया, इससे उसकी शक्ति में बड़ी वृद्धि हुई, आरम्भ में उसका विरोध करने वाले जर्मन सेनापतियों को भी अब अपने नेता की अन्तर्दृष्टि और निर्णय करने की शक्ति तथा प्रतिभा में अधिक भरोसा हुआ; उनकी अन्धभक्ति ने हिटलर की तानाशाही को अधिक सुदृढ़ बनाया। राइन प्रदेश की किलेबन्दी ने फ्रांस के पोलैण्ड, रूस आदि पूर्वी योरोप के देशों के साथ सैनिक समझौतों को निरर्थक बना दिया[२६]। हिटलर को पश्चिमी सीमा पर किलेबन्दी होने से पूर्वी योरोप में लड़ने के लिए अधिक जर्मन सेना प्राप्त होने की सम्भावना हो गई, फ्रांस के लिए चैकोस्लोवाकिया की सैनिक रक्षा तथा आस्ट्रिया की सुरक्षा कठिन हो गई। इसके परिणामस्वरूप बेल्जियम की सुरक्षा खतरे में पड़ गयी, उसने फ्रांस के साथ सैनिक सन्धि परित्याग करके तटस्थता की नीति अपनायी (१४ अक्टूबर, १९३६)। डेन्मार्क, नार्वे, स्वीडन भी तटस्थ हो गये, पोलैण्ड, इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, यूगोस्लाविया, हंगरी, बलगारिया, जर्मनी के मित्र बने, इनको अब फ्रांस या ग्रेट ब्रिटेन पर कोई भरोसा न रहा, इससे संघ की सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को (Collective security) को मार्मिक आघात पहुँचा, ब्रिटेन और फ्रांस की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई। हिटलर का यह कार्य वर्साय की व्यवस्था की अन्त्येष्टि था।

---

२४. वही पृ० १७६-७। लार्ड लोथियन ने इस अवसर पर कहा था, "क्या हुआ, जर्मन लोग (अपने घर के) पिछली ओर के बगीचे में ही तो गये हैं।"

२५. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२२

२६. १८ मई, १९३६ को जर्मन विदेश-मन्त्री न्यूरथ (Neurath) ने मास्को के अमेरिकी राजदूत को कहा था—"हमारी किलेबन्दी पूरी होते ही मध्य यूरोप के देशों को यह ज्ञात हो जायगा कि फ्रांस जर्मन प्रदेश में प्रविष्ट नहीं हो सकता, उस समय उनकी विदेशनीति बदल जाएगी और 'जर्मनी का समर्थक' एक नया गुट विकसित हो जाएगा"। (चर्चिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ १८५)।

(७) रोम-बर्लिन-तोकियो धुरी (Rome-Berlin-Tokio Axis) **का निर्माण**—हिटलर को १९३४ में आस्ट्रिया प्राप्त करने में सबसे बड़ी बाधा इटली, फ्रांस और ब्रिटेन का सम्मिलित विरोध था। इनमें इटली आस्ट्रियन स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा समर्थक था, क्योंकि उसे यह सह्य नहीं था कि उसकी उत्तरी सीमा ब्रेनर दर्रे पर आस्ट्रिया जर्मन के साथ मिलकर उसके लिए नया संकट उत्पन्न करे। किन्तु एबीसीनिया का युद्ध हिटलर के लिए वरदान सिद्ध हुआ, बिल्ली के भाग से छींका टूटा। पहले यह बताया जा चुका है कि इसका लाभ उठाते हुए उसने राइन प्रदेश में सेनायें भेजीं। इसका दूसरा लाभ यह हुआ कि इटली और जर्मनी के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण हुए, फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन द्वारा आर्थिक प्रतिबन्ध (Economic sanctions) लगाये जाने से इटली का उनसे रुष्ट होना स्वाभाविक था, ऐसे आड़े समय में हिटलर ने मुसोलिनी की सहायता की। किन्तु ४ जुलाई, १९३६ को आर्थिक प्रतिबन्ध हटा लिये गये। अब हिटलर को यह चिन्ता थी कि इटली के सम्बन्ध फ्रांस और ब्रिटेन के साथ पुनः मैत्रीपूर्ण न हों। किन्तु भाग्य ने उसका साथ दिया; १७ जुलाई, १९३६ को स्पेन का गृहयुद्ध छिड़ गया, इसमें मुसोलिनी ने आरम्भ से ही पश्चिमी शक्तियों का विरोध करते हुए जनरल फ्रांको का साथ दिया, हिटलर ने इस अवसर पर मुसोलिनी का पूरा समर्थन करते हुए शस्त्रास्त्र से विद्रोहियों की पूरी मदद की। इस गृहयुद्ध ने दोनों के सम्बन्ध घनिष्ठ बना दिये और २४ अक्टूबर, १९३६ को इटली के विदेश-मन्त्री चिआनो (Ciano) तथा जर्मन विदेश-मन्त्री न्यूरथ ने एक गुप्त समझौता किया, इसके अनुसार जर्मनी ने एबीसीनिया पर इटली का प्रभुत्व स्वीकार किया और इटली ने उसे वहाँ आर्थिक सुविधायें देने का वचन दिया, इटली ने यह स्वीकार किया कि लोकार्नो के ढंग का कोई भी समझौता हो वह पश्चिमी योरोप तक सीमित रखा जाय, राष्ट्रसंघ के विधान से १६वीं धारा निकाल दी जाय, दोनों शक्तियां बोल्शेविज्म का विरोध करने में एक-दूसरे को सहयोग दें, स्पेन में जनरल फ्रांको का समर्थन करें, इटली ने ११ जुलाई, १९३६ को हुआ **आस्ट्रो-जर्मन समझौता** स्वीकार कर लिया, इसके अनुसार आस्ट्रिया को जर्मन राज्य मान लिया गया और इटली ने उसके जर्मनी के साथ एकीकरण के विरोध का परित्याग कर दिया। इस समझौते के बाद १ नवम्बर को मुसोलिनी ने बर्लिन-रोम धुरी के निर्माण की चर्चा की। (देखिये पृ० ९१–९२)।

हिटलर को इस समय सबसे बड़ा भय सोवियत रूस से था, वह बोल्शेविज्म के विरुद्ध सदा विषवमन करता रहता था। अब उसने इसके विरुद्ध जापान के साथ २५ नवम्बर, १९३६ को **एण्टी-कोमिण्टर्न पैक्ट** (Anti Comintern Pact) किया, इसमें दोनों देशों ने विदेशों में कम्यूनिज्म फैलाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय रूसी संस्था कोमिण्टर्न के कार्यों के सम्बन्ध में एक-दूसरे को आवश्यक सूचनायें देने का, कोमिण्टर्न के एजेन्टों के विरुद्ध निरोधक और दण्डात्मक कार्यवाही में सहयोग देने का और सोवियत रूस के साथ राजनैतिक संधियां न करने का वचन दिया। हिटलर ने इस समझौते से ग्रेट ब्रिटेन को भी सन्तुष्ट किया क्योंकि पूंजीवादी ब्रिटेन भी बोल्शेविक रूस को अपना बड़ा शत्रु समझता था। ६ नवम्बर, १९३७ को इटली ने भी इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये

और इस प्रकार **रोम-बर्लिन-तोकियो धुरी** का निर्माण हुआ। ये तीनों धुरी राष्ट्र (Axis Powers) कहलाने लगे। बाद में इस पैक्ट में हंगरी और मंचुकुओ (२४ फरवरी, १९३९) तथा स्पेन (२७ मार्च, १९३९) भी सम्मिलित हुए। धुरी राष्ट्र मुख्य रूप से ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और रूसविरोधी देशों की गुटबन्दी थी।

(८) आस्ट्रिया का जर्मनी में विलय (Anschluss) **मार्च १९३८**—पहले (पृ० १३९) यह बताया जा चुका है कि १९३४ में आस्ट्रिया को हड़पने का हिटलर का प्रयत्न इटली तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के विरोध के कारण विफल हुआ था। किन्तु उपर्युक्त रोम-बर्लिन संधि से इटली जर्मनी का मित्र बन गया था, स्पेन के गृहयुद्ध ने और नवम्बर १९३७ में लार्ड हैलीफैक्स की बर्लिन यात्रा ने हिटलर को यह विश्वास दिला दिया था कि पश्चिमी राष्ट्रों में उसे रोकने का दम नहीं है, अतः १९३८ के आरंभ में उसने अपनी मातृभूमि को जर्मनी में सम्मिलित करने का निश्चय कर लिया। १२ फरवरी को आस्ट्रिया के प्रधानमन्त्री कुर्ट शुशनिग (Kurt Schuschnigg) को जर्मन नेता हिटलर ने बवेरिया की आल्प्स पर्वतमाला में साल्जबुर्ग से १० मील दक्षिण में अपने प्रिय निवास स्थान बर्खटेसगाडेन (Berchtesgaden) में बुला कर धमकाते हुए कहा[२७]—"आधे घण्टे में मेरी सेनायें आस्ट्रिया जीत सकती हैं, इन्हें रोकने वाला कोई नहीं है। मुसोलिनी मेरा मित्र है, इंगलैंड आस्ट्रिया के लिए उंगली भी नहीं उठायेगा, फ्रांस में उसे रोकने की शक्ति नहीं है। किन्तु मैं व्यर्थ में आस्ट्रियनों का रक्त नहीं बहाना चाहता। अतः उसे निम्नलिखित माँगें स्वीकार कर लेनी चाहियें—आस्ट्रिया का गृहमन्त्री सुप्रसिद्ध नात्सी नेता जाइसिंग क्वार्ट (Seyss-Inquart) को बनाया जाय, वित्तमन्त्री का पद भी किसी नात्सी को दिया जाय, सब नात्सी कैदी छोड़ दिए जायें। इन माँगों को मानने का अर्थ दूसरे शब्दों में आस्ट्रिया का शासनसूत्र नात्सियों को दे देना था। शुशनिग ने यह कहा कि उसकी इन माँगों को मान लेने पर भी वह इस बात की गारण्टी नहीं कर सकता कि आस्ट्रिया इन्हें स्वीकार कर लेगा। इस पर हिटलर गुस्से में मेज पटकते हुए उठ खड़ा हुआ और शुशनिग को कमरे से बाहर निकाल दिया। शुशनिग हताश होकर वियना वापिस लौट आया। २० फरवरी को हिटलर ने राइकस्टाग में वक्तृता करते हुए रूस की घोर निन्दा की, जर्मनी से बाहर रहने वाले सब जर्मनों को 'संरक्षण' का वचन दिया और मध्य योरोप में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की माँग की। सौभाग्यवश इसी दिन तुष्टीकरण नीति से विरोध प्रकट करते हुए ब्रिटिश विदेश-मन्त्री ईडन ने त्यागपत्र दिया और हैलीफैक्स ने उसके स्थान पर विदेश मन्त्रालय सँभाला। अब हिटलर को विश्वास हो गया कि वह आस्ट्रिया को सुगमतापूर्वक हड़प सकेगा।

२१ फरवरी से नात्सियों ने आस्ट्रिया के विभिन्न प्रमुख केन्द्रों में जर्मनी के साथ मिलने के पक्ष में प्रदर्शन, जलूस, सभायें तथा स्वस्तिक झण्डों का फहराना आरम्भ

२७. इस वार्तालाप का पूरा वर्णन चर्चिल की पूर्वोक्त पुस्तक खं० १, पृ० २३५-३६

किया, Ein Volk, ein Reich (एक जर्मन जनता, एक राज्य) के नारे लगाना शुरू किया, सरकार ने नात्सी आन्दोलन को दबाने का प्रयत्न किया, पर इसमें सफलता की आशा न होने पर शुशनिग ने मार्च को यह घोषणा की कि १३ मार्च को आस्ट्रिया-वासियों से आस्ट्रिया के स्वाधीन रहने या न रहने के प्रश्न पर जनमत संग्रह किया जायगा। उस समय यह आशा थी कि आस्ट्रियन ६० से ८० प्रतिशत तक के बड़े प्रबल बहुमत से आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का समर्थन करेंगे।[२८] हिटलर इस समाचार से बड़ा विक्षुब्ध हुआ और १० मार्च को उसने आस्ट्रिया पर सैनिक आक्रमण की योजनायें तैयार कीं[२९], ११ मार्च को शुशनिग को यह अल्टीमेटम दिया गया कि वह जनमत संग्रह को स्थगित कर दे, वह इसे इस शर्त पर मानने को तैयार हो गया कि आस्ट्रिया में नात्सी भी अशान्ति और उपद्रव फैलाने का कार्य बन्द कर देंगे। इसके बाद छः बजे शाम को जनमत संग्रह स्थगित होने की घोषणा कर दी गई। ७½ बजे शाम को समाप्त होने वाला यह जर्मन अल्टीमेटम शुशनिग को मिला कि वह अपने पद से त्यागपत्र दे दें, जाइसिंगक्वार्ट को चांसलर (प्रधानमन्त्री) बनाया जाय, मन्त्रिमण्डल में नात्सियों का दो तिहाई स्थान दिये जाएं; नात्सीपार्टी को पूरी स्वतन्त्रता दी जाय। ७½ बजे शाम को रेडियो पर शुशनिग ने अन्तिम भाषण देते हुए कहा कि उसे यह धमकी दी गई है कि उसने तथा उसके मन्त्रिमण्डल ने इस समय तक त्यागपत्र नहीं दिया तो जर्मन आक्रमण आरम्भ हो जायगा, वह आस्ट्रियनों का भीषण रक्तपात नहीं कराना चाहता, अतः वह शक्ति के आगे समर्पण कर रहा है। ८¼ बजे नये प्रधानमन्त्री जाइसिंगक्वार्ट ने रेडियो पर यह कहा कि जर्मन सेनायें वियना की ओर बढ़ रही हैं; ये शान्ति स्थापना के लिए आ रही हैं। रात को १० बजे इसके अग्रगामी यान्त्रिक दस्ते आस्ट्रिया का सीमा में प्रविष्ट हो गए। शीघ्र ही समूचे आस्टिया पर जर्मन सेनाओं का अधिकार हो गया। १२ मार्च को हिटलर ने आस्ट्रिया में प्रवेश कर लिन्त्स (Lintz) में नवीन प्रधानमंत्री के स्वागत के प्रत्युत्तर में कहा—"मैं जब इस शहर से पहली बार निकला था तो मैंने अपनी आत्मा के भीतर यह अनुभव किया था कि विधाता ने मुझे यह कार्य सौंपा है कि मैं अपनी मातृभूमि को महान् जर्मन राइक में लाऊँ। मेरा इस कार्य में विश्वास था और मैंने इसे पूरा कर दिया है।" १४ मार्च को हिटलर ने विजेता के रूप में वियना में प्रवेश किया और १० अप्रैल को जर्मन जनता द्वारा लिए गये जनमत संग्रह में ९९.७३ प्रतिशत मतदाताओं ने इस कार्य का समर्थन किया।[३०]

---

२८. हार्डी—वही पुस्तक, पृ० ४५३

२९. हिटलर के लिए यह बड़ा अनुकूल और शुभ अवसर था, क्योंकि १० मार्च को फ्रांस में शोतां (Chautemps) मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया था और ब्लूम (Blum) अपने पापुलर फ्रन्ट के निर्माण में लगा हुआ था, ब्रिटेन में ईडन के त्यागपत्र से हलचल मची हुई थी और अंग्रेजों का यह विचार था कि आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार जर्मनी को आस्ट्रिया के जर्मनों को अपने साथ मिलाने से नहीं रोका जा सकता (डेविड थाम्पसन—योरोप सिन्स नैपोलियन, पृ० ७०१)।

३०. यह मतसंग्रह समूचे जर्मन में किया गया था, अतः आस्ट्रियन वोट इसमें दब गए

आस्ट्रिया पर अधिकार के परिणाम—सामरिक और आर्थिक दृष्टि से हिटलर के लिए बड़े लाभप्रद थे। इससे उसे मध्य डैन्यूब घाटी के सब रेलमार्गों, सड़कों और नदीमार्गों पर पूरा नियन्त्रण मिल गया, इटली, हंगरी और यूगोस्लाविया से उसका सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। चैकोस्लोवाकिया के बोहीमिया और मोराविया के जिले अब दोनों ओर से जर्मन चक्की के पाटों के बीच आ गए। चर्चिल ने इस विषय में हाउस ऑफ कामन्स में कहा था—"वियना पर अधिकार से नात्सी जर्मनी को दक्षिण पूर्वी योरोप के सड़क, नदी और रेल के सभी मार्गों का सैनिक और आर्थिक नियन्त्रण मिल गया है।" ७० लाख आस्ट्रियनों के नये राज्य ने न केवल उसके सैनिकों की संख्या बढ़ाई, किन्तु उसके आन्तरिक साधनों में भारी वृद्धि की, उसे लोहे और मैगनेसाइट की नई खानें प्रदान कीं, समूची जर्मन आवश्यकताओं की आधी इमारती लकड़ी तथा जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाने वाली बहुमूल्य सामग्री, आस्ट्रियन बैंक से २ करोड़ पौंड का सोना तथा विदेशी मुद्रा उसे प्राप्त हुई, समूचे दक्षिणी-पूर्वी योरोप के व्यापार पर उसका प्रभाव बढ़ गया। इसने जर्मनी को शक्तिशाली बनाने के साथ उसकी प्रतिष्ठा, महत्त्वाकांक्षाओं तथा साहस को बहुत बढ़ा दिया। योरोप में युद्ध की सम्भावना में वृद्धि हुई, स्कैण्डेनेवियन राज्यों के विदेश-मन्त्रियों ने ५-६ एप्रिल को ओसलो में यह निश्चय किया कि भावी युद्ध में वे तटस्थ रहेंगे।

(६) म्यूनिक समझौता, चैकोस्लोवाकिया का अंगभंग और अन्त्येष्टि—आस्ट्रिया के बाद हिटलर का अगला लक्ष्य चैकोस्लोवाकिया था। आस्ट्रिया पर आक्रमण के समय फान हाल्डेर (Von Halder) को उसने कहा था—यह चैकों के लिए बड़ा असुविधाजनक होगा।[31] ३० जनवरी, १९३९ की राइकस्टाग की वक्तृता में हिटलर ने यह बताया कि २८ मई, १९३८ को मैंने यह आदेश दिया था कि २ अक्टूबर तक चैकोस्लोवाकिया के विरुद्ध फौजी कार्यवाही की जाय। ऐसा करने के अनेक प्रबल कारण थे। **पहला कारण** इसका सामरिक महत्त्व था, बिस्मार्क कहा करता था—"जो बोहीमिया का नियन्त्रण करता है, वह योरोप का नियन्त्रण करता है।" मध्य योरोप की डैन्यूब की घाटी को उत्तरी योरोप के मैदान से पृथक् करने वाली कारपेथियन और स्यूडेटीज पर्वतमालाओं को पार करने वाले सुगम मार्ग प्राचीनकाल से बोहीमिया की एल्ब, मोराविया की मोरावा, ओडर तथा विस्चुला नदियों के साथ और मोरावियन गेट के दर्रे से होकर गुजरते हैं। अतः हिटलर के लिए मध्य योरोप का स्वामी बनने के लिए इस पर अधिकार आवश्यक था। यह जर्मनविरोधी फ्रांस की गुटबन्दी का बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग था, रूस का मित्र था, इसके हवाई अड्डों से पूर्वी जर्मनी के महत्त्वपूर्ण सैनिक केन्द्र बमवर्षक विमानों द्वारा नष्ट किये जा सकते थे। इस देश की सेना १९३८ तक काफी शक्तिशाली हो चुकी थी और इससे योरोप के स्कोडा के गोला बारूद तैयार करने वाले एक बड़े कारखाने से प्रचुर रणसामग्री मिल रही थी। बोहीमिया के पहाड़ों

थे, फिर भी ४,५२,१८० वोट इसके विरोध में पड़े थे। हार्डी—वही, पृ० ४५६

३१. चर्चिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २५१

में इस देश ने जर्मनी से रक्षा के लिए काफी सुदृढ़ किलेबन्दी की हुई थी, यह पूर्वी योरोप में सबसे धनी, औद्योगिक और शक्तिशाली राष्ट्र था।

चैकोस्लोवाकिया में हस्तक्षेप के लिए हिटलर के पास आस्ट्रिया की भाँति एक सुन्दर तर्क था। इस राज्य में १९३० की जनगणना के अनुसार ३२,३१,६०० जर्मन रहते थे, ये मुख्य रूप से स्यूडेटीज़ (Sudetes) पर्वतमाला के प्रदेश में बसे हुए थे, अतः स्यूडेटन (Sudetan) जर्मन कहलाते थे। हिटलर का लक्ष्य सब जर्मनों को एक शासन-सूत्र में लाना था, अतः उसने यह प्रचार आरम्भ किया कि स्यूडेटन जर्मन चैक लोगों द्वारा बुरी तरह दबाये जा रहे हैं, आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार उन्हें जर्मनी में मिलाया जाना चाहिए। २० फरवरी, १९३८ को राइकस्टाग की वक्तृता में उसने यह कहा था—"हमारे सीमान्त से लगे दो राज्यों (चैकोस्लोवाकिया तथा पोलैण्ड) में दस लाख से अधिक जर्मन रहते हैं, जर्मनी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने जर्मन बन्धुओं की रक्षा करे, उन्हें वैयक्तिक, राजनैतिक और विचारों की स्वतन्त्रता प्रदान करे।" २८ मार्च को स्यूडेटन जर्मन लोगों के दल के नेता कोनार्ड हैनलाइन (Konard Henlein) को बर्लिन बुलाया गया और उसे चैक सरकार के आगे जर्मन लोगों की असम्भव माँगें रखने को कहा गया, ताकि इन माँगों को चैकों द्वारा रद्द किए जाने पर जर्मनी को इस मामले में हस्तक्षेप का तथा "पीड़ित जर्मनों के संरक्षण" का स्वर्ण अवसर मिल सके।

हैनलाइन ने २४ अप्रैल को कार्ल्सबॉड (Curlsbod) में चैक सरकार के आगे अपनी निम्नलिखित आठ माँगें रखीं—जर्मनों की चैकों के साथ पूरी समानता, जर्मन क्षेत्रों का सीमा निर्धारण, इनमें पूरा स्वायत्त शासन, १९१८ से जर्मनों के साथ हुए अन्यायों का मुआवज़ा, जर्मन लोगों को 'जर्मनवाद' तथा जर्मन विचारधारा की स्वतन्त्रता, चैक विदेश नीति का संशोधन। ये माँगें चैक राज्य का विच्छिन्न करने वाली थीं, अतः चैक सरकार ने इन्हें मानना अस्वीकार कर दिया, इसके बाद हैनलाइन अपने उद्देश्य में प्रचार और सहायता पाने के लिए लन्दन और बर्लिन गया और उसके स्वदेश वापिस लौटते ही स्यूडेटन लोगों ने उपद्रव आरम्भ कर दिये।

हिटलर इस विषय में आगे बढ़ने से पहले मुसोलिनी का सहयोग पाना आवश्यक समझता था क्योंकि इस समय ब्रिटेन उसकी एबीसीनिया विजय को स्वीकार कर उसे अपना मित्र बनाने का प्रयास कर रहा था। हिटलर २ मई को रोम गया और वहाँ से उसके लौटने पर जर्मन सेनायें चैक सीमान्त पर एकत्र होने लगीं। इस पर चैक सरकार ने २० मई को ४ लाख सैनिकों के आंशिक लामबन्दी (mobilization) के आदेश जारी कर दिए, ब्रिटिश, फ्रेंच और रूसी सरकारों ने जर्मनी को चैकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई करने के विरुद्ध चेतावनी दी। इस पर २३ मई को हिटलर ने चैकों को शान्ति बनाए रखने का आश्वासन दिया और हैनलाइन चैक सरकार से अपनी माँगों के लिए संधि-चर्चा करने लगा।

हिटलर ने शान्तिवाद का यह ढोंग जान-बूझ कर पश्चिमी राष्ट्रों की आँख में धूल झोंकने तथा तत्कालीन चैक राष्ट्रपति बेनेश (Benes) को बदनाम करने के लिए किया, स्यूडेटन जर्मन 'आत्मनिर्णय' के नाम पर अपनी माँगों को सुरसा के बदन की भाँति

बढ़ाते चले जा रहे थे, इन माँगों को स्वीकार करना सीमान्त के सब किले जर्मनों को सौंप देना था, इसके बाद चैकोस्लोवाकिया की रक्षा असम्भव थी, अतः राष्ट्रपति बेनेश, प्रधानमन्त्री मीलान होजा (Milan Hodza), विदेश-मन्त्री कामिल क्रोफ्टा इन माँगों के आगे झुककर आत्मघात करने की अपेक्षा लड़ना श्रेयस्कर समझते थे। उन्हें यह भरोसा था कि रूस और फ्रांस के साथ उनकी सैनिक सन्धियां हैं, फ्रांस और ब्रिटेन की सन्धि है, अतः युद्ध छिड़ने की दशा में ये सब राष्ट्र उसकी सहायता करेंगे। वस्तुतः इस समय केवल रूस ही लड़ने को तैयार था, किन्तु ब्रिटेन और फ्रांस न केवल लड़ना नहीं चाहते थे, अपितु रूस की सहायता भी नहीं लेना चाहते थे। हिटलर यह अच्छी तरह जानता था कि राइन प्रदेश के निःशस्त्रीकरण और आस्ट्रिया के विलय की भाँति इस अवसर पर भी फ्रांस उसे रोकने की सैनिक कार्यवाही नहीं करेगा और ग्रेट ब्रिटेन में भी ऐसा करने का साहस नहीं है। अतः उसने १८ जून को चैकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई करने का अन्तिम आदेश दिया। इस अवसर पर उसके सेनापति उसकी इस योजना के घोर विरोधी थे[३२], उन्होंने हिटलर को इस कार्य से रोकने के लिए षड्यन्त्र भी किया, किन्तु वह सफल नहीं हुआ और अन्त में इससे हिटलर की राजनैतिक निर्णय करने की (Political Judgement) की शक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध हुई है।

इस समय जहां एक ओर चैकोस्लोवाकिया में स्यूडेटन लोगों के साथ समझौते की वार्ता चल रही थी, वहाँ दूसरी ओर हिटलर ने जर्मन-फ्रेंच सीमान्त पर किलेबंदी सुदृढ़ बनाने तथा हवाई सेना में भारी वृद्धि के प्रयास किए। २६ जुलाई को चैक सरकार ने जर्मन अल्पसंख्यकों को सन्तुष्ट करने के लिए राष्ट्रीयता कानून (Nationality Statute) का प्रारूप (Draft) प्रकाशित किया, किन्तु इससे स्यूडेटन सन्तुष्ट नहीं थे। ब्रिटिश सरकार ने इस समस्या को सुलझाने के लिए ३ अगस्त को लार्ड रन्सिमैन (Runciman) को मध्यस्थ बनाकर भेजा, एक महीने के भीतर चैक सरकार इसकी सब माँगें मानने को तैयार हो गई। किन्तु अब हैनलाइन इनसे संतुष्ट नहीं था। इस समय जर्मनी में ७½ लाख सैनिक व्यूह रचना में लगे हुए थे, इंगलैण्ड ने समुद्री बेड़े को युद्ध के लिए तैयार रहने की आज्ञा दी (२६ अगस्त) और फ्रांस ने अपने १० लाख सरक्षित सैनिक युद्ध के लिए बुला लिए (७ सितम्बर, १९३८)। सितम्बर का सारा महीना बड़ी चिन्ता और सनसनी का था, विश्वयुद्ध की सम्भावना अति आसन्न प्रतीत होती थी।

१२ सित० को हिटलर ने अपनी न्यूरैम्बर्ग की वक्तृता में पहली बार बड़े स्पष्ट शब्दों में यह माँग की कि स्यूडेटन जर्मनों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाय।

---

३२. स्तालिन इस समय बेनेश का इस बात के लिए विशेष रूप से कृतज्ञ था कि उसने उसे स्तालिन को पदच्युत करने वाले एक विशेष षड्यन्त्र की पूर्व-सूचना दी थी और इसके आधार पर स्तालिन ने जिनोवीव (Zinoviev) बुखारिन आदि प्रसिद्ध और पुराने किन्तु अपने विरोधी साम्यवादी नेताओं और पाँच हजार के लगभग कैप्टेन के पद से ऊँचे सेनाधिकारियों का १९३७ में सफाया (**Purge**) करा दिया था। अतः स्तालिन बेनेश की सहायता के लिए उत्सुक था, किन्तु इंगलैण्ड ने रूस विरोधी भावना प्रबल होने के कारण इसका कोई लाभ नहीं उठाया (चर्चिल—पर्वोक्त पुस्तक, पृ० २५८-५९)।

इसी समय ब्रिटिश प्रधानमन्त्री चेम्बरलेन ने हिटलर के साथ वैयक्तिक भेंट करके इस विषम समस्या को हल करने का निश्चय किया और वह हिटलर से पहली बार बर्खटेसगाडेन में १५ मार्च को मिला। इससे पहले ही हैनलाइन ने स्यूडेटन प्रदेश को जर्मन साम्राज्य में मिलाने की माँग रख दी थी। फ्यूहरर के साथ ३ घण्टे की पहली भेंट ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के लिए बड़ी आश्चर्यजनक थी। हिटलर ने साफ शब्दों में यह कहा कि अब जर्मन अल्पसंख्यकों के लिए स्वायत्त शासन देने का कोई प्रश्न नहीं है, जर्मनी को स्यूडेटन जर्मन लोगों का प्रदेश फौरन दे दिया जाना चाहिए। अब तक ब्रिटिश सरकार इसे जर्मन अल्पसंख्यकों और चैक सरकार का प्रश्न समझती थी और लार्ड रन्सिमैन इसी दृष्टि से इस गुत्थी को सुलझा रहे थे। किन्तु अब यह झगड़ा जर्मनी और चैकोस्लोवाकिया का हो गया। हिटलर इस पर झुकने को तैयार न था, किन्तु इसके साथ ही इस भेंट में हिटलर ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को यह विश्वास करा दिया कि वह विश्वास योग्य व्यक्ति है।[३३] हिटलर की इस नई माँग पर अपने मन्त्रिमंडल में तथा फ्रांस के साथ विचार करने के लिए चेम्बरलेन लन्दन वापिस आ गए।

लन्दन में चेम्बरलेन ने ब्रिटिश मंत्रिमंडल को यह बताया कि हिटलर युद्ध छेड़ने के लिए कटिबद्ध है, फ्रांस लड़ना नहीं चाहता, अतः 'आत्मनिर्णय' के सिद्धान्त का विचार करते हुए हिटलर की माँग मान लेना उचित है। १८ सित० को फ्रेंच प्रधानमन्त्री मो० दलादिये (Daladier) तथा विदेश-मन्त्री बोने (Bonnet) के साथ परामर्श के बाद दोनों सरकारों ने १९ सित० को चैक सरकार को ५० प्रतिशत से अधिक जर्मन आबादी वाले चैक प्रदेश जर्मनी को देने की सलाह दी, शान्ति रक्षा के नाम पर उनसे इस बलिदान को स्वीकार करने को कहा। इसे मानने का अर्थ जर्मनी को न केवल विशाल प्रदेश, अपितु ८ लाख चैक नागरिक, समूची सीमान्त रक्षक दुर्ग पंक्ति प्रदान करना था। इसे मानने के बदले ये दोनों देश चैकोस्लोवाकिया की नई सीमाओं की सुरक्षा की गारण्टी देने को तैयार थे। अपने मित्रों के विश्वासघात के कारण बेनेश तथा होजा (Hodza) के आगे इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा न था। इस स्वीकृति को लेकर चेम्बरलेन २२ सित० को दूसरी बार हिटलर से मिलने के लिए राइन नदी के बायें तट पर गोडेसबर्ग (बान से ४ मी० दक्षिण) गया।

गोडेसबर्ग के प्रस्ताव—यहां हिटलर ने चेम्बरलेन के सामने पहले से भी अधिक बढ़ी-चढ़ी माँगें रखीं। उसने न केवल स्यूडेटन जर्मन प्रदेश जर्मनी को दिए जाने पर, अपितु पोलैण्ड और हंगरी को भी आत्मनिर्णय के आधार पर कुछ प्रदेश देने का समर्थन किया और २३ सित० को निम्नलिखित माँगें कीं—(१) पहली अक्टूबर तक साथ के नक्शे में प्रदर्शित स्यूडेटन जर्मन प्रदेश बर्लिन को दे दिया जाय, यहां से चैक फौजें और पुलिस हटा ली जाय। (२) दिए जाने वाले प्रदेश की सब किलेबन्दियां, रेलें, कारखानें अक्षत रखे जायें, इस प्रदेश से कोई भी खाद्य सामग्री, पशु या कच्चा माल न हटाया जाय। (३) सब जर्मन बन्दियों की रिहाई। (४) अन्तिम सीमा निर्धारण एक अन्तर्राष्ट्रीय

---

३३. चर्चिल—वही पुस्तक, पृ० २८०-१

आयोग के नियन्त्रण में लिए जाने वाले जनमत संग्रह द्वारा हो। चेम्बरलेन को इन शर्तों ने स्तब्ध कर दिया, हिटलर का कहना था कि चैक प्रदेश में सैनिक कार्यवाही दो दिन के भीतर शुरू हो जानी चाहिए और 'इस प्रदेश से एक भी गौ बाहर नहीं ले जायी जा सकती।' चेम्बरलेन का मत था कि एकदम सैनिक अधिकार का प्रस्ताव तथा चैक सेनाओं को चैक प्रदेश से हटाने की योजना, और सैनिक अधिकार करने के बाद मतसंग्रह की व्यवस्था स्वीकरणीय नहीं हो सकती, जर्मन प्रस्तावों की भाषा और ढंग तटस्थ देशों के लोकमत को सह्य नहीं होगा। जब चेम्बरलेन ने हिटलर से यह प्रार्थना की कि वह उसके शान्ति प्रयत्नों का कुछ तो आदर करे तो फ्यूहरर का उत्तर था कि केवल तुम्हीं ऐसे व्यक्ति हो, जिसे मैंने कभी कोई रियायत प्रदान की है। चेम्बरलेन निराश होकर लन्दन वापिस लौट आया, चैकों ने इन प्रस्तावों को पूर्णरूप से अस्वीकार कर दिया और लड़ाई की पूरी तैयारी शुरू कर दी, अन्य देश भी विश्व-युद्ध का संकट अवश्यम्भावी समझ कर उसके लिए सन्नद्ध होने लगे। रूस, फ्रांस और इंगलैण्ड ने चैकोस्लोवाकिया की रक्षा करने की घोषणा की, फ्रांस ने अपनी सुरक्षित सेना के सैनिक युद्ध के लिए बुला लिए, ब्रिटिश समुद्री बेड़ा भी युद्ध के लिए तैयार होने लगा, २४ सितम्बर को चैक सरकार ने जनरल सिरोवी को प्रधानमन्त्री बनाकर सीमान्त पर अपनी सेनायें भेज दीं। सारा विश्व बड़ी चिन्ता से हिटलर के चैकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई के लिए निश्चित दिन २८ सितम्बर की प्रतीक्षा करने लगा।

इस बीच में चेम्बरलेन ने हिटलर के पास होरेस विलसन को अपने वैयक्तिक पत्र के साथ यह प्रार्थना करने के लिए भेजा कि शान्तिपूर्ण रीति से इस विवाद का हल किया जाय। चेम्बरलेन ने मुसोलिनी द्वारा भी हिटलर पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाकर यह समस्या सुलझाने के लिए बल डाला, मुसोलिनी संभवतः स्वयमेव इस समय लड़ाई नहीं चाहता था। मित्रराष्ट्रों की दृढ़ता का भी हिटलर पर प्रभाव पड़ा, अमेरिकन राष्ट्रपति रूज़वैल्ट ने इस झगड़े को वार्त्ता द्वारा हल करने अपील की (२७ सित०)। इन सबके परिणामस्वरूप २८ सित० को जब सारा विश्व दूसरा महायुद्ध छिड़ने की आशंका कर रहा था, हिटलर ने इस विषय में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और उसी दिन म्यूनिक (Munich) में समझौते के लिए यह सम्मेलन बुलाया गया।

म्यूनिक समझौते का स्वरूप—२९ सितम्बर को म्यूनिक में चार देशों—जर्मनी (हिटलर, रिब्बनट्राप), इटली (मुसोलिनी, चिआनो), ग्रेट ब्रिटेन (चेम्बरलेन) तथा फ्रांस (दलादिये) के प्रतिनिधि एकत्रित हुए, रूस को इसमें बुलाया नहीं गया और चैकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधि को इसमें बैठने ही नहीं दिया गया। रात को $1\frac{1}{2}$ बजे तक विचार के बाद इस सम्मेलन ने एक समझौता तैयार किया, इसकी शर्तें गोडेसबर्ग के आवेदन पत्र की शर्तों से बहुत कुछ मिलती थीं, यद्यपि उनमें नाममात्र को परिवर्तन किया गया था[३४]। इसके अनुसार—(१) हिटलर की सेनाओं द्वारा स्यूडेटन प्रदेश पर अधिकार की

३४. चर्चिल ने बर्खटेसगाडेन, गोडेसबर्ग तथा म्यूनिक में की गयी हिटलर की माँगों के विषय में कहा था—पहले पिस्तौल तानकर एक पौंड माँगा गया, जब यह दे दिया गया तो पिस्तौल

अवधि १ अक्टूबर से बढ़ाकर १० अक्टूबर कर दी गयी, प्रदेश खाली करते हुए खाद्य-पदार्थ या पशुओं को न हटाने का प्रतिबन्ध समाप्त कर दिया, परन्तु इसे खाली करते हुए किसी किलेबन्दी को नष्ट नहीं किया जा सकता था। (२) स्यूडेटन प्रदेश खाली करने की शर्तें जर्मन, इटालियन, ब्रिटिश, फ्रेंच और चैक प्रतिनिधियों के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग द्वारा तय होनी निश्चित हुई। (३) जनमत संग्रह किन प्रदेशों में किया जाय, इसका निर्णय ५ व्यक्तियों के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग को सौंपा गया। (४) चैक सरकार ४ सप्ताह में सब जर्मन बन्दियों को मुक्त कर देगी। (५) ब्रिटेन और फ्रांस ने चैकोस्लोवाकिया की नई सीमाओं की सुरक्षा की गारण्टी दी, जर्मनी और इटली ने पोल तथा हंगेरियन अल्पसंख्यकों के प्रश्न सुलझाने के बाद यह गारण्टी देने का वचन दिया। इसके साथ ही म्यूनिक से लौटते समय ३० सितम्बर को चेम्बरलेन ने हिटलर से एक एंग्लो-जर्मन घोषणापत्र पर हस्ताक्षर कराये, जिसमें यह कहा गया था कि दोनों देश अपने सब विवादों को शान्तिपूर्ण रीति से हल करेंगे।

म्यूनिक समझौता चैकोस्लोवाकिया के लिए मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था थी। कहा जाता है कि जर्मन विदेश-मन्त्री रिब्बनट्राप ने इस सम्मेलन के बाद चेम्बरलेन के बारे में कहा था—"बूढ़े आदमी ने अपनी मृत्यु के आज्ञापत्र पर हस्ताक्षर कर दिये हैं, अब हमें केवल उस पर केवल उसकी तिथि को लिखना है।" शूमैन के शब्दों में "म्यूनिक समझौता तुष्टीकरण की नीति का सर्वोच्च विकास तथा पश्चिमी लोकतन्त्रों का मरणाज्ञापत्र था। यह सामूहिक सुरक्षा पद्धति के विनाश का प्रतीक था। यह हिटलर की आतंक की रणनीति (Strategy of Terror) की अब तक की सबसे बड़ी विजय थी।"[३५]

लन्दन द्वारा समझौता करने के कारण—आलोचकों की दृष्टि में यह पश्चिमी लोकतन्त्रों का 'सबसे बड़ा निर्लज्जतापूर्ण विश्वासघात' था। इसके मुख्य प्रेरक कारणों में **पहला** चेम्बरलेन का यह विश्वास था कि हिटलर की यह अन्तिम प्रादेशिक माँग है। इसके बाद हिटलर सन्तुष्ट हो जायगा तथा नवीन प्रदेशों की माँग नहीं करेगा। **दूसरा कारण** पेरिस और लन्दन का यह विश्वास था कि हिटलर का प्रधान लक्ष्य सोवियत संघ का विनाश है। चैकोस्लोवाकिया में सन्तुष्ट हो जाने के बाद वह अपनी पूरी शक्ति साम्यवाद के विध्वंस में लगायेगा। यह व्यवस्था पूंजीवादी ग्रेट ब्रिटेन के लिए बड़ी लाभप्रद थी। **तीसरा कारण** इस समय तक ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का युद्ध के लिए तैयार न होना था, उनमें जर्मन वायुसेना (Luftwaffe) के प्रतिरोध की सामर्थ्य नहीं थी। अतः इस समय समझौता करना श्रेयस्कर था। **चौथा कारण** शान्तिवाद की प्रवृत्ति की प्रबलता थी, अभी तक लोग पहले विश्व-युद्ध की भीषण घटनाओं को नहीं भूले थे और वे उनकी पुनरावृत्ति करना नहीं चाहते थे। **पाँचवां कारण** यह था कि फ्रांस और इंगलैंड के प्रभावशाली वर्ग चैकोस्लोवाकिया के मामले पर युद्ध छेड़ना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं

दिखाकर दो पौंड माँगे गए, अन्त में अधिनायक ने १ पौंड १७½ शि० लेना स्वीकार किया। पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २९३)।

३५. शूमैन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५७१

समझते थे। २७ सित० को चेम्बरलेन ने पार्लियामैण्ट में भाषण देते हुए कहा था—"यह बड़ी भयास्पद, हास्यास्पद और अविश्वसनीय बात है कि हम एक दूरवर्ती देश में होने वाली लड़ाई के लिए खाइयाँ खोदें और विषैली गैसों से रक्षा करने वाले आवरणों (Gasmasks) से सुसज्जित हों ।......मुझे यह अवश्य कहना चाहिए कि मैं (हिटलर के) रवैये को अयुक्तियुक्त समझता हूँ।......किन्तु यदि हमें लड़ना ही हो तो इससे कहीं अधिक बड़े प्रश्नों पर लड़ना चाहिये।" इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि ग्रेट-ब्रिटेन चैकोस्लोवाकिया के प्रश्न को युद्ध का विषय नहीं बनाना चाहता था। अतः उसने हिटलर से म्यूनिक में अपमानपूर्ण समझौता कर लिया।

समझौते के परिणाम—म्यूनिक समझौते के परिणामस्वरूप चैकोस्लोवाकिया को अपना ११ हजार वर्गमील का प्रदेश, स्कोडा आदि के विशाल कारखाने, रेलमार्ग, औद्योगिक संस्थान जर्मनी को देने पड़े। जनमत संग्रह कहीं नहीं किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय आयोग निरा ढोंग था, उसमें दो प्रतिनिधि धुरी राष्ट्रों के थे, ब्रिटिश और फ्रेंच प्रतिनिधि इनका विरोध करने में समर्थ नहीं थे। वस्तुतः जर्मनी को गोडेसबर्ग की माँगों की अपेक्षा अधिक प्रदेश मिल गया। म्यूनिक समझौते का लाभ उठाते हुए पोलैण्ड ने टेशेन (Teschen) पर अधिकार कर लिया (१ अक्टूबर, १९३८) और हंगरी ने स्लोवाकिया के मगयार ज़िलों को हस्तगत किया (१६ मार्च, १९३९)। इस समझौते से जर्मनी की शक्ति में असाधारण वृद्धि हुई, पूर्वी योरोप में उसके एक बड़े शत्रु का सफाया हुआ, अब वह चैक सीमा पर रक्षा के लिए रखे गए सेना के २५ डिवीजनों को अन्यत्र फ्रांस के विरुद्ध पश्चिमी मोर्चे पर भेज सकता था,[३६] मध्य योरोप पर पूर्ण स्वामित्व हो जाने पर हिटलर के लिए पूर्व की ओर तथा कृष्ण सागर की ओर बढ़ने का मार्ग खुल गया। जर्मनी के लिए बाल्कान प्रायद्वीप में हावी होना आसान हो गया। इसका **दूसरा परिणाम** अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में इंगलैण्ड और फ्रांस की प्रतिष्ठा का धूल में मिलना और इनका निर्बल होना था। अब कोई भी राष्ट्र इन पर भरोसा नहीं कर सकता था, फ्रांस ने पूर्वी योरोप में जर्मनी के विरुद्ध संधियों का जो जाल बनाया था, वह बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गया। **तीसरा परिणाम** सोवियत रूस का पश्चिमी राष्ट्रों से असन्तुष्ट होना था। म्यूनिक सम्मेलन में रूस को आमन्त्रित नहीं किया गया था, इससे स्तालिन का यह परिणाम निकालना स्वाभाविक था कि यह समझौता पश्चिमी राष्ट्रों की उसके विरुद्ध गुटबन्दी है। **चौथा परिणाम** यह हुआ कि इसने पोलैण्ड पर जर्मन आक्रमण को अनिवार्य बना दिया। एमरी के शब्दों में पोलैण्ड ने टेशेन (Teschen) की कोयले की खानों के प्रलोभन में इसे हस्तगत करके वर्साय की सन्धि के एक स्तम्भ को तोड़ते हुए अपनी मृत्यु के आज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किए। **पाँचवां परिणाम** राष्ट्रसंघ और सामूहिक रक्षा (Collective security) में विश्वास की समाप्ति थी। डेविड थाम्पसन[३७] के शब्दों में मित्रराष्ट्रों ने इस मामले में चैकोस्लोवाकिया को सामूहिक सुरक्षा (Collective

---

३६. चर्चिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २७३, (३०१)–२

३७. डेविड थाम्पसन—योरोप सिंस नैपोलियन, पृ० ७०६

security) प्रदान करने के बजाय उसके प्रदेश पर सामूहिक डकैती (Collective blackmail) की, उसे जबर्दस्ती अपना प्रदेश जर्मनी को सौंपने के लिए बाधित किया। इसने यह सिद्ध किया कि राष्ट्रों के झगड़ों का निपटारा पाशविक बल और तलवार से ही हो सकता है। म्यूनिक समझौते की शर्तें केवल हिटलर द्वारा युद्ध छेड़ने के डर से ही तय हुई थीं।

छठा परिणाम तुष्टीकरण की नीति की विफलता थी। चेम्बरलेन का यह विचार था कि हिटलर की माँगें पूरी कर देने से वह सन्तुष्ट हो जायगा, हिटलर ने इस अवसर पर स्वयमेव यह घोषणा की थी कि यह योरोप में उसकी अन्तिम प्रादेशिक माँग है।[३८] किन्तु चेम्बरलेन ने हिटलर के साथ पहली और दूसरी भेंट में ही यह अनुभव कर लिया था कि हिटलर की माँगें किस तेजी के साथ बढ़ती हैं। स्यूडेटन प्रदेश को अन्तिम माँग बताने वाले हिटलर ने मार्च १६३६ में शेष चैकोस्लोवाकिया को अपना संरक्षित राज्य बना लिया और सित० १६३६ में पोलिश गलियारा पाने के लिए विश्व-युद्ध छेड़ दिया। चर्चिल ने इस विषय में ठीक ही कहा था—"एक छोटे राज्य को भेड़िये के आगे फेंक कर सुरक्षा पाने की आशा घातक भ्रांतिमात्र है।"[३९] इस समझौते के विरोध में मन्त्रीपद से त्यागपत्र देते हुए डफ कूपर ने इस नीति की आलोचना करते हुए कहा था—"हमारे प्रधानमन्त्री को हिटलर की सद्भावना और वचन पर विश्वास है। यद्यपि हिटलर ने जब वर्साय की सन्धि तोड़ी तो लोकार्नो की सन्धि की रक्षा का आश्वासन दिया था। जब लोकार्नो सन्धि तोड़ी तो यह कहा कि अब योरोप में उसकी कोई प्रादेशिक माँग नहीं है। जब वह आस्ट्रिया में बलपूर्वक प्रविष्ट हुआ तो उसने अपने गुर्गों (Henchmen) को यह आश्वासन देने का अधिकार दिया कि वह चैकोस्लोवाकिया के मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह छः महीने पहले की बात है। फिर भी हमारे प्रधानमन्त्री का यह विश्वास है कि वह हिटलर पर विश्वास और भरोसा रख सकते हैं।"[४०]

इस समझौते का सबसे बड़ा समर्थन यही किया गया कि उसने विश्व-युद्ध की संभावना को टाल दिया है। जब चेम्बरलेन म्यूनिक से लौट कर इंगलैंड में हैस्टन के हवाई अड्डे पर पहुँचा था तो उसने कागज का एक टुकड़ा दिखाते हुए कहा—"यह उसके हिटलर के साथ युद्ध रोकने का समझौता है और इसका अर्थ 'हमारे युग में'

---

३८. २६ सितम्बर, १६३८ को बर्लिन के स्पोर्टपालास्ट के भाषण में उसने कहा था—"मैंने चेम्बरलेन को आश्वासन दिया है और मैं यहाँ भी इसे बल देना चाहता हूँ कि जब यह (स्यूडेटन-जर्मन) समस्या सुलझ जायेगी तो जर्मनी योरोप में किसी अन्य प्रदेश पर दावा नहीं करेगा। मुझे चैकराज्य में इसके बाद कोई दिलचस्पी नहीं है। मैं इस बात की गारण्टी करता हूँ कि हमें अब अधिक चैक प्रदेश की आवश्यकता नहीं है।" ग्रेट ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध पत्र पंच ने हिटलर की अन्तिम प्रादेशिक माँग पर व्यंग्य करते हुए एक कार्टून में उसकी कब्र बनाकर उस पर लिखा था—"यह मेरी अन्तिम प्रादेशिक माँग है।"

३६. चर्चिल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २६३

४०. चर्चिल—वही, पृ० २६२

शान्ति की स्थापना है।" किन्तु यह शान्ति बड़ी अस्थायी और अल्पकालीन थी। उस समय सुप्रसिद्ध ब्रिटिश पत्र टाइम्ज़ ने लिखा था—"रणक्षेत्र में विजय पाकर स्वदेश लौटने वाला कोई विजेता इतने अधिक सम्मान के साथ घर नहीं लौटा, जैसे चेम्बरलेन कल म्यूनिक से आये हैं।" चेम्बरलेन का उस समय स्वयमेव यह मत था कि १८७८ के बाद दूसरी बार इंगलैंड ने 'शान्ति को सम्मान सहित' प्राप्त किया है। किन्तु भविष्य ने चर्चिल की इस उक्ति को अधिक यथार्थ सिद्ध किया—"ब्रिटेन और फ्रांस को इस समय युद्ध और अपमान में चुनाव करना पड़ा है, उन्होंने अपमान को चुना है और शीघ्र ही उन्हें युद्ध करना पड़ेगा।"

यद्यपि हिटलर ने स्यूडेटन प्रदेश के सम्बन्ध में यह कहा था कि यह उसकी अन्तिम प्रादेशिक माँग है, किन्तु शीघ्र ही मार्च १९३९ में यह स्पष्ट हो गया कि उसके किसी वचन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। वह चैकराज्य के अंग-भंग से सन्तुष्ट न था, किन्तु उसकी अन्त्येष्टि करना चाहता था क्योंकि इससे मोराविया और बोहीमिया के नये हवाई अड्डे, चैकराज्य की विदेशीमुद्रा, स्वर्णकोष, सैन्य सामग्री, कृषि तथा अन्य साधन सम्पत्ति उसे प्रचुर मात्रा में प्राप्त होने की आशा थी। २१ अक्टूबर, १९३८ को हिटलर ने अवशिष्ट चैकोस्लोवाकिया को हड़पने की तैयारी के लिए आदेश जारी किये। पहले जर्मन कूटनीति ने चैकोस्लोवाकिया के प्रदेश को शेष चैकराज्य से पृथक् और स्वतन्त्र होने के लिए भड़काया, चैक सरकार ने जब इस विद्रोह को दबाने के लिए १० मार्च, १९३९ को स्लोवाक प्रधानमन्त्री फादर टिसो को पदच्युत किया तो हिटलर ने स्लोवाक नेताओं को बर्लिन बुला कर उन्हें जर्मन संरक्षण प्रदान किया और जर्मनी की प्रेरणा से स्लोवाकिया ने १४ मार्च को अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। इस पर चैक राष्ट्रपति एमिल हाशा (Emil Hacha) और विदेश-मन्त्री शावलकोवस्की (Chavalkovaski) हिटलर से मिलने के लिए बर्लिन गए, १५ मार्च को हिटलर और गोरिंग ने हाशा को बहुत डराया, धमकाया, उसे यह कहा गया कि आज सायंकाल ६ बजे जर्मन सेनायें सब ओर से चैकराज्य में प्रविष्ट हो जायंगी, राजधानी प्राग को बमवर्षा से विध्वस्त कर दिया जायगा। हाशा इस प्रकार की धमकियां सुनकर मूर्च्छित हो गया, पर डाक्टरों ने इन्जेक्शन लगा कर उसे चेतन किया और प्रातः ४½ बजे उससे बलपूर्वक एक ऐसे दस्तावेज पर हस्ताक्षर करा लिये, जिसके अनुसार बोहीमिया और मोराविया पर 'जर्मन संरक्षण' स्थापित हो गया, इस प्रकार वैध रूप से, चैकराज्य जर्मन साम्राज्य में सम्मिलित हो गया, चैकोस्लोवाकिया का अस्तित्व समाप्त हो गया। इसी समय हंगरी ने रुथिनिया (Ruthenia) के प्रदेश पर जर्मनी की सहमति से अधिकार कर लिया।

प्राग पर हिटलर के अधिकार ने निर्विवाद रूप से यह प्रदर्शित किया कि हिटलर जर्मन साम्राज्य में केवल जर्मन जातियों को ही नहीं, पर दूसरी जातियों को भी बलपूर्वक सम्मिलित कर रहा है। वह जर्मनी के विस्तार के लिए और जीवित रहने के लिए अधिक प्रदेश (Lebensraum) चाहता है, कोई भी राज्य किसी भा समय उसके आक्रमण का शिकार बन सकता है, उसके वचन विश्वास योग्य नहीं हैं। इस घटना ने

पश्चिमी राष्ट्रों के नेताओं को तुष्टीकरण तथा हिटलर पर विश्वास रखने की नीति छोड़ने और युद्ध की प्रबल तैयारी करने के लिए बाधित किया। चेम्बरलेन ने बिर्रमिघम में १७ मार्च को अपने एक भाषण में हिटलर के पुराने वचनों को स्मरण कराते हुए उसकी बड़े कठोर शब्दों में भर्त्सना की और कहा कि यह 'आत्म-निर्णय' नहीं किन्तु विशुद्ध आक्रमण है। उसने हिटलर के भावी आक्रमणों को रोकने के लिए सुदृढ़ मोर्चा बनाना शुरू किया। ३१ मार्च, १६३६ को ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि जर्मन आक्रमण होने की दशा में वह पोलैंड की सहायता करेगी, फ्रांस ने भी इस प्रकार का वचन दिया। दोनों देशों ने यूनान, रूमानिया और तुर्की को भी रक्षा के वचन दिए और सोवियत रूस के साथ सन्धि का प्रयास आरम्भ किया।

(१०) **रूस-जर्मन समझौता तथा पोलैण्ड पर आक्रमण**—चैकोस्लोवाकिया के बाद हिटलर का अगला लक्ष्य पोलिश गलियारे तथा डैन्ज़िग के जर्मन प्रदेश पर अधिकार करना था। यद्यपि पोलैण्ड के साथ उसने २६ जनवरी, १६३४ को **दसवर्षीय अनाक्रमण सन्धि** की थी, (देखिये ऊपर पृ० १३८), किन्तु वह अब सन्धियों के बन्धन से ऊपर उठा हुआ था। २० फरवरी, १६३८ को राइकस्टाग की एक वक्तृता में फ्यूहरर ने कहा था कि जर्मनी पोलैंड की अखण्डता का सम्मान करता है, २४ सितम्बर को उसने चेम्बरलेन को यह विश्वास दिलाया था कि स्यूडेटन प्रदेश उसकी अन्तिम प्रादेशिक माँग है फिर भी २५ अक्टूबर, १६३८ को जर्मन विदेश-मन्त्री रिब्बनट्राप (Ribbentrap) ने बर्लिन स्थित पोलिश राजदूत लिप्स्की के साथ वार्त्तालाप में यह प्रस्ताव रखा कि डैन्ज़िग को जर्मनी के साथ मिला दिया जाय और जर्मनी को पोलिश गलियारे में से होकर गुजरने वाली तथा पूर्वी प्रशिया को शेष जर्मनी के साथ मिलाने वाली एक मोटर सड़क बनाने की अनुमति दी जाय, इसके बदले में जर्मनी पोल-जर्मन सीमा की गारण्टी देने को तथा अनाक्रमण के समझौते को २५ वर्ष तक बढ़ाने को तैयार था। लिप्स्की का मत था कि ये प्रस्ताव पोलैण्ड द्वारा स्वीकृत होने की कोई सम्भावना नहीं है। ५ जनवरी, १६३६ को हिटलर ने ये प्रस्ताव पोल विदेश-मन्त्री बैक के सम्मुख रखे, किन्तु उसे फ्यूहरर के वचन पर कोई भरोसा नहीं था। मार्च १६३६ में समूचे चैकोस्लोवाकिया पर जर्मन अधिकार हो जाने से पोलैण्ड की स्थिति बड़ी नाजुक हो गयी। २२ मार्च को हिटलर की सेनाओं ने जर्मन आबादी वाले अन्तर्राष्ट्रीय (Memel) बन्दरगाह पर जबर्दस्ती अधिकार कर लिया। ३१ मार्च, १६३६ को हिटलर के भावी आक्रमणों को रोकने की दृष्टि से चेम्बरलेन ने ब्रिटिश लोकसभा में पोलैंड की रक्षा की **एंग्लो-फ्रेंच गारण्टी** की घोषणा की, और पोलैंड ने एक समझौते द्वारा इस गारण्टी को स्वीकार किया (६ अप्रैल, १६३६)। किन्तु इस समय तक धुरी राष्ट्र मित्रराष्ट्रों की निर्बलता को अच्छी तरह समझ चुके थे। इसका लाभ उठाते हुए इटली ने अल्बानिया पर आक्रमण करके उसे हड़प लिया (७ अप्रैल, १६३६)। इस पर ब्रिटिश सरकार ने यूनान और रूमानिया दोनों को सीमाओं की सुरक्षा की गारण्टी दी और अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवैल्ट ने हिटलर और मुसोलिनी को ३० राष्ट्रों की एक सूची देते हुए अगले दस वर्ष तक इन पर आक्रमण न करने का आश्वासन माँगा (१४ अप्रैल, १६३६); किन्तु हिटलर

युद्ध के लिए तुला बैठा था। उसने इसका उत्तर अपने २८ अप्रैल के भाषण में दिया। इसमें १९३५ के **एंग्लो-जर्मन समझौते** को तथा ३० सितम्बर, १९३८ की सब समस्याओं को शान्तिपूर्वक सुलझाने की एंग्लो-जर्मन घोषणा को रद्द करते हुए यह कहा कि ६ अप्रैल के **एंग्लो-पोलिश समझौते ने** १९३४ के **जर्मन-पोलिश अनाक्रमण समझौते** को निरर्थक बना दिया है। २३ मई को हिटलर ने अपने सेनापतियों के साथ गुप्त मन्त्रणा करते हुए उन्हें समूचे पोलैंड को जीतने की योजना बनाने को कहा।

पोलैंड पर आक्रमण से पहले हिटलर ने तीन प्रकार की कूटनीति का अवलम्बन किया। **पहली नीति** थी पोलैण्ड के विरुद्ध प्रचार, उस पर जर्मन अल्पसंख्यकों के साथ भीषण दुर्व्यवहार और अत्याचार के आरोप तथा पोलैण्डवासी जर्मनों को 'स्वतन्त्रता प्राप्ति' के लिए भड़काना। इससे डैन्ज़िग में तनाव बढ़ने लगा, पोल-जर्मन सीमान्त की दुर्घटनाएं अधिक संख्या में होने लगीं और नात्सी पत्र जर्मन लोगों पर भीषण अत्याचारों के कपोलकल्पित, अतिरंजित वर्णन छापने लगे। हिटलर की **दूसरी नीति** मुसोलिनी के साथ घनिष्ठ सैनिक सम्बन्ध बढ़ाने की थी ताकि युद्ध छिड़ने पर इटली उसके साथ रहे। २२ मई को दोनों देशों में एक **फौलादी समझौता** (Steel Pact) हुआ, इसके अनुसार दोनों ने एक-दूसरे को युद्ध छिड़ने की दशा में सैनिक सहायता देने का वचन दिया। हिटलर की **तीसरी** कूटनीति रूस के साथ समझौता करके उसे पश्चिमी राष्ट्रों से अलग करने की थी। यह उसकी सबसे बड़ी कूटनीतिक सफलता थी। इस समय मास्को को मित्र बनाने के लिए मित्रराष्ट्रों और धुरी राष्ट्रों में बड़ी तीव्र होड़ हुई, और जर्मनी पहले १९ अगस्त को रूस के साथ एक व्यापारिक समझौता करने में तथा २३ अग० को एक अनाक्रमण समझौता करने में सफल हुआ। इन दोनों समझौतों ने जर्मन-पोलैंड युद्ध को हिटलर के लिए बड़ा सुगम और अनिवार्य बना दिया। पूर्वी मोर्चे पर रूस से आक्रमण की कोई आशंका न रहने के कारण वह अपनी समूची शक्ति पश्चिमी मोर्चे पर मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध लगा सकता था और इस लड़ाई के लिए आवश्यक सामग्री अपरिमित मात्रा में प्राप्त कर सकता था। रूस का सहयोग न पा सकने के कारण ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा पोलैंड की रक्षा बड़ा कठिन कार्य हो गया।

सोवियत रूस द्वारा संधि करने के कारण—रूस-जर्मन समझौता मित्रराष्ट्रों के लिए अनभ्र वज्रपात था, वे कभी यह कल्पना नहीं कर सकते थे कि स्तालिन अपने कट्टर विरोधी हिटलर से कोई समझौता कर सकेगा। रूस द्वारा समझौते को करने का **पहला कारण** साम्यवादी रूस के प्रति पूंजीवादी ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस की घोर घृणा तथा द्वेषपूर्ण नीति थी। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति होने के बाद मित्रराष्ट्रों ने इसे विफल बनाने के लिए सेनायें भेजी थीं, रूसी सरकार को बहुत समय तक मान्यता नहीं प्रदान की। जर्मनी में नात्सीदल के सत्तारूढ़ होने पर जब हिटलर ने बार-बार रूस के विरुद्ध विषवमन किया तो रूस राष्ट्रसंघ में सम्मिलित होकर सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने लगा, किन्तु चीन, एबीसीनिया, स्पेन, आस्ट्रिया और चैकोस्लोवाकिया के मामलों में राष्ट्रसंघ और पश्चिमी राष्ट्रों ने जो तटस्थता और नपुंसकता प्रदर्शित की थी, उससे स्तालिन को इन पर कोई बड़ा भरोसा नहीं रहा था। वह यह जानता था

कि ब्रिटेन और फ्रांस के शासकवर्ग को रूसी साम्यवाद से बड़ी चिढ़ है, वे हिटलर को पूर्वी योरोप में इसलिए खुली छूट देना चाहते हैं कि विश्वप्रभुता की तिलोत्तमा के लिए सुन्द-उपसुन्द की भांति रूस और जर्मनी परस्पर लड़कर एक-दूसरे को क्षीण कर दें और संसार पर उनकी प्रभुता बनी रहे, ब्रिटिश साम्राज्य न केवल साम्यवाद के आतंक से अपितु नात्सीवाद की विभीषिका से भी मुक्त हो जाय। इसका **दूसरा बड़ा कारण** चैकोस्लोवाकिया के मामले में की गई रूस की घोर उपेक्षा थी। म्यूनिक सम्मेलन में रूस के किसी प्रतिनिधि को आमन्त्रित नहीं किया गया था। हिटलर के साथ समझौता करने के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री चेम्बरलेन तीन बार उड़ कर गये थे, किन्तु स्तालिन के साथ समझौते के लिए ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का एक भी व्यक्ति नहीं गया। दूसरी ओर जर्मनी का विदेश-मंत्री रिब्बनट्राप स्वयमेव स्तालिन के साथ रूस-जर्मन समझौता सम्पन्न कराने गया। **तीसरा कारण** रूस को जर्मनी से प्राप्त होने वाले कुछ ठोस लाभ थे।[४१] बोल्शेविक क्रान्ति के आरम्भ में मास्को ने अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के सिद्धान्त में विश्वास होने के कारण 'आत्मनिर्णय' के आधार पर बाल्टिक प्रदेश में इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, तथा फिनलैंड को स्वतन्त्र होने दिया था, किन्तु नात्सी जर्मनी के उत्थान के बाद उसे यह अनुभव हुआ कि बाल्टिक सागर के बन्दरगाहों पर सुरक्षा की दृष्टि से उसका अधिकार होना चाहिये, विशेषतः लेनिनग्राद की स्थिति बड़ी असुरक्षित थी, क्योंकि इसके पास फिनलैंड की खाड़ी के दोनों ओर फिनलैंड और इस्टोनिया स्वाधीन थे और ये दोनों रूस के अनुकूल नहीं थे। फिनलैंड का सीमान्त लेनिनग्राद से केवल पन्द्रह मील पर था। १९१४-१८ के युद्ध से पूर्व ये प्रदेश रूस के अंग थे और जर्मनी के साथ भावी संघर्ष से पहले वह इन पर सामरिक दृष्टि से अधिकार प्राप्त करना आवश्यक समझता था। बाल्टिक राज्य स्वभावतः इसके विरोधी थे और युद्ध में भी वे रूसी सेनाओं को अपने देश में सुविधायें देने को तैयार नहीं थे। ब्रिटिश सरकार इन राज्यों को ऐसा करने के लिए उद्यत नहीं कर सकी, किन्तु हिटलर स्तालिन को इन प्रदेशों पर प्रभुत्व देने के लिए तैयार था क्योंकि इसमें उसे पूर्वी मोर्चे की सुरक्षा का तात्कालिक लाभ था और उसका यह विश्वास था कि पश्चिमी राष्ट्रों को हराने के बाद वह रूस से लड़कर ये प्रदेश पुनः प्राप्त कर लेगा।[४२] इस सन्धि के साथ हुए गुप्त समझौते द्वारा जर्मनी ने रूस को फिनलैंड, इस्टोनिया, लैटविया, पोलैंड का पूर्वी भाग और रूमानिया का बेसारविया का प्रदेश देना स्वीकार किया। स्तालिन को छोटे राज्यों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर इस प्रकार का कोई ठोस प्रादेशिक लाभ देने को चेम्बरलेन या दलादिये तैयार नहीं थे, अतः उनके साथ रूस का समझौता नहीं हो सका। इसके विपरीत पोलैंड आदि रूस को शंका की दृष्टि से देखते थे, रूस की उनके प्रदेशों में सेना गुजरने की माँग मानने को भी सहमत न थे, अतः ब्रिटेन के साथ रूस का समझौता होना सम्भव न था। पोलैंड रूस का पुराना शत्रु था, १९२० में उसने रूस पर आक्रमण किया था, अतः

---

४१. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४९४

४२. डेविड थाम्पसन—योरोप सिन्स नैपोलियन, पृ० ७१५

उसकी रक्षा के लिए रूस को ब्रिटेन से समझौता करने की विशेष आकांक्षा न थी।

जर्मनी द्वारा रूस के साथ संधि करने के कारण—हिटलर का अब तक का सारा जीवन साम्यवाद और सोवियत रूस के विरुद्ध विषवमन करने में तथा जर्मन कम्यूनिस्टों को कुचलने में बीता था। पहले (पृ० ९२, १४८) यह बताया जा चुका है कि उसने एण्टी कोमिण्टर्न पेक्ट का निर्माण भी किया था। अब सहसा अपने कट्टर शत्रु को मित्र बनाने के क्या हेतु थे? पहला हेतु कूटनीति की अवसरवादिता है। इसमें कोई स्थायी शत्रु या मित्र नहीं होते, किन्तु परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इस समय हिटलर का लक्ष्य एंग्लो-फ्रेंच-रूसी मैत्री न होने देना था क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसे दो मोर्चों पर लड़ने को बाधित होना पड़ता। इस मैत्री को रोकने का एक ही उपाय था कि मास्को को मित्र बनाया जाय, इसे मित्र बनाने से न केवल उसका पृष्ठभाग—पूर्वी सीमा सुरक्षित हो गई, अपितु उसे लड़ाई लड़ने के लिए आवश्यक सामग्री पाने का अक्षय भण्डार प्राप्त हो गया।

इस समझौते से हिटलर के लिए पोलैण्ड जीतना बड़ा सुगम हो गया। उसको सम्भवतः यह आशा थी कि इस सन्धि के समाचार से स्तब्ध होकर पश्चिमी राष्ट्र म्यूनिक जैसा कोई समझौता कर लेंगे, और पोलैण्ड की सहायता नहीं करेंगे। किन्तु २२ अगस्त, १९३९ को चेम्बरलेन ने किसी रूसी-जर्मन समझौते के सम्पन्न होने पर भी पोलैण्ड को दिये रक्षा के वचन को पूरा करने का दृढ़ संकल्प प्रकट किया। इस पर हिटलर ने अपनी पुरानी नीति के अनुसार अगले दिन यह कहा "जर्मनी ने कभी इंगलैण्ड के साथ संघर्ष की इच्छा नहीं रखी, उसने कभी ब्रिटिश स्वार्थों में हस्तक्षेप नहीं किया, इसके विपरीत वह उसकी मैत्री को पाने के लिए उत्सुक है। किन्तु इसके साथ ही जर्मन राइक के कुछ निश्चित स्वार्थ हैं, वह इन्हें नहीं छोड़ सकता, इनमें डैन्ज़िग और पोलिश गलियारा उल्लेखनीय है। इनके लिए जर्मन सेना को लामबन्दी की आज्ञा दी जायगी।" यह इंगलैण्ड को खुली चुनौती थी। फिर भी हिटलर ने लन्दन को युद्ध से पृथक् रखने के लिए २५ से ३१ अगस्त तक पूरा प्रयत्न किया, एक स्वीडिश व्यापारी बर्जर डालरस (Birger Dahlerus) तथा बर्लिन-स्थित ब्रिटिश राजदूत हैंडरसन द्वारा कुछ शान्ति प्रस्ताव रखे किन्तु ब्रिटिश सरकार का यह कहना था कि डैन्ज़िग के प्रश्न पर जर्मनी और पोलैंड में सीधी वार्त्ता होनी चाहिए। २९ अगस्त को सायंकाल ७½ बजे हिटलर ने हैंडरसन को यह कहा कि उसे ब्रिटिश प्रस्ताव इस शर्त पर स्वीकार हैं कि पोल प्रतिनिधि पूर्ण अधिकारों के साथ ३० अगस्त को प्रातः बर्लिन पहुँच जाय। हिटलर का यह बड़ा चातुर्यपूर्ण कूटनीतिक दांव था, यदि पोलैण्ड उसके प्रस्ताव को स्वीकार करता है तो शुशनिग और हाशा काण्ड की पुनरावृत्ति करते हुए पोल प्रतिनिधि पर बल डालकर उससे जर्मन प्रस्ताव स्वीकार करा लिए जायं और यदि वह प्रतिनिधि नहीं आता तो उसे इंगलैण्ड और फ्रांस को यह कहने का मौका था कि मैं तो समझौते के लिए तैयार था, पोलैण्ड तैयार नहीं हुआ, इसलिए मुझे लड़ाई छेड़नी पड़ रही है।

ब्रिटिश सरकार ने ३० अगस्त की रात को जर्मन प्रस्ताव का उत्तर दिया और इसके अनुसार ३१ अगस्त को बर्लिन-स्थित पोल राजदूत लिप्स्की जर्मन विदेश-मन्त्री

रिब्बनट्राप से मिला, किन्तु इस समय तक हिटलर लड़ाई के लिए अन्तिम आदेश दे चुका था। पहली सित० को जर्मन सेनायें पोलैण्ड में प्रविष्ट हो गईं। १० बजे हिटलर ने राइकस्टाग में भाषण देते हुए पोलों पर यह आरोप लगाया कि वे जर्मनी के विरुद्ध आक्रमण कर रहे हैं और जर्मनी आत्मरक्षा के लिए लड़ रहा है। इसी दिन हैंडरसन ने जर्मन सरकार को ब्रिटिश सरकार की यह चेतावनी दी कि यदि जर्मन सेनायें पोलैण्ड के प्रदेश से वापिस न बुलाई गयीं तो ब्रिटिश सरकार पोलैण्ड को दिए वचन का पालन करेगी। जर्मनी ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। फ्रांस द्वारा दो दिन तक सोच-विचार और अनिश्चितता के बाद ३ सितम्बर को पहले ग्रेट ब्रिटेन ने ६ बजे प्रातः जर्मन सरकार को अल्टीमेटम दिया कि ११ बजे तक पोलिश प्रश्न के सन्तोषजनक उत्तर न पाने की दशा में दोनों देशों में युद्ध की स्थिति हो जाएगी और १२½ बजे फ्रेंच राजदूत ने रिब्बनट्राप को शाम को पाँच बजे तक जर्मन सेनायें पोल प्रदेश से हटा लेने का अल्टीमेटम दिया। जर्मनी द्वारा दोनों अल्टीमेटम रद्द कर दिए जाने पर हिटलर की विदेशनीति से द्वितीय विश्व-युद्ध का दावानल प्रज्वलित हो गया।

इटली की विदेशनीति

शृगाल नीति—शूमैन[४३] के शब्दों में बिस्मार्क के समय से राजनीति में इटली गीदड़ की भूमिका अदा करता रहा है, सियार की भांति वह लघु एवं निर्बल राष्ट्रों को अपने हमले का शिकार बनाता रहा है, पहले ही घातक रूप से चोट खाये हुओं को नोचता रहा है, और महान् हिंस्र प्राणियों की दावतों में से बची हुई हड्डियों को लूटता, खसोटता रहा है। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निर्बल होने के कारण उसे इस शृगाल नीति का अनुसरण करना पड़ रहा है। प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धों में वह विभिन्न शक्तियों के साथ सन्धिबद्ध होने पर भी बड़ी देर तक चतुर सियार की भांति यह देखता रहा कि किस पक्ष के जीतने की आशा है। जब उसे किसी पक्ष की विजय का विश्वास हो गया, तभी वह उसकी ओर से लड़ाई में सम्मिलित हुआ।

१८७० से विदेशनीति में इटली की तीन महत्त्वाकांक्षायें रही हैं—इटालियन भाषाभाषी प्रदेशों को विदेशी शासन से मुक्त कराके इटली में सम्मिलित करना (Italia Irredenta), अफ्रीका में विशाल साम्राज्य की स्थापना और भूमध्यसागर पर प्रभुत्व। प्रथम विश्व-युद्ध में जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ त्रिराष्ट्र सन्धि (Triple Alliance) में आबद्ध होने पर भी वह युद्ध में मित्रराष्ट्रों की ओर से कूदा क्योंकि पहले दोनों देश यद्यपि उसे फ्रांस का अफ्रीका का साम्राज्य देने को तैयार थे, किन्तु आस्ट्रिया अपने इटालियन प्रदेश—ट्रीस्टे, टिरोल और ट्रैण्टिनो नहीं देना चाहता था। मित्रराष्ट्र उसे ये सब प्रदेश देने को तथा अफ्रीका में भी उसके साम्राज्य की सीमाओं को विस्तृत बनाने के लिए तैयार थे, अतः इटली इसमें अधिक लाभ देखते हुए मित्रराष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गया।

४३. शूमैन—इण्टरनेशनल पालिटिक्स, तृतीय संस्करण, पृ० ५३५

यह सत्य ही कहा जाता है कि इटली ने प्रथम विश्व-युद्ध में विजय प्राप्त की, किंतु वह उसकी शान्तिसन्धि में पराजित हुआ। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में विल्सन के आदर्शवाद और यूगोस्लाविया की राष्ट्रीयता ने एड्रियाटिक सागर में उसकी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में बाधा डाली (देखिये पृ० २६)। अफ्रीका में लिबिया के सीमान्त को ठीक करते हुए उसे कुछ प्रदेश मिला, किन्तु वह इससे सन्तुष्ट नहीं था। निकट पूर्व में उसे डोडेकनीज़ और रोडस् टापू मिले, किन्तु कमालपाशा ने अनातोलिया में उसके प्रादेशिक विस्तार की इच्छा पूरी नहीं होने दी। उत्तर में ही केवल आस्ट्रिया से उसे ट्रैण्टिनो, टिरोल, ट्रीस्टे, इस्ट्रिया तथा जारा और लागोस्टा टापू मिले। उसकी समूचे डालमेशियन तट पर हावी होने, अल्बानिया पर अधिकार करने, फ्यूमे तथा लघु एशिया का आदालिया (Adalia) पाने की और अफ्रीका के जर्मन साम्राज्य को हस्तगत करने की इच्छा पूरी नहीं हुई। अतः इटली कुछ प्रदेश प्राप्त होने पर भी पेरिस के शान्ति-सम्मेलन से निराश और असन्तुष्ट होकर लौटा।

फासिज्म की सफलता के कारण—इस निराशा और असन्तोष से इटली में तत्कालीन संसदीय सरकार बहुत बदनाम हुई और फासिज्म (Fascism) का उत्कर्ष हुआ। फासिज्म वस्तुतः इटली में किसानों और मजदूरों की साम्यवादी क्रान्ति को विफल बनाने के लिए जमींदारों और पूंजीपतियों द्वारा समर्थित और सहायता पाने वाला आन्दोलन था। फासिज्म की सफलता के मुख्य कारण इटली की तत्कालीन लोकतन्त्रीय सरकार की युद्धोत्तर इटली की समस्याओं को सुलझाने में नितान्त अक्षमता, अराजकता और कम्यूनिज्म का आतंक तथा जनता के सभी वर्गों का तत्कालीन समाजवादी सरकार से प्रबल असन्तोष था।[४४] दुकानदार सरकार से इसलिए नाराज थे कि समाजवादी सरकार मूल्य निश्चित कर रही थी और कर बढ़ा रही थी। जमींदारों को कृषक संघों से तथा भूमि के पुनर्वितरण से अनेक आशंकायें थीं। मिल मालिक हड़तालों से तथा मजदूरों की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत थे। पूंजीपति सरकार से इसलिए रुष्ट थे कि वह उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा करने में असमर्थ थी। मध्यम वर्ग भी तत्कालीन संसदीय सरकार के शासन में असुरक्षा का अनुभव कर रहा था। फौजी सेवा से मुक्त हुए सिपाही, विद्यार्थी तथा अन्य युवक मजदूर आन्दोलनों से तथा राजनीतिज्ञों की अयोग्यता से व्यथित एवं परेशान थे। वे किसी भी ऐसे आन्दोलन में प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित होने को तैयार थे, जो इटली में एक सुदृढ़ तथा देशभक्त सरकार स्थापित कर सके। मुसोलिनी और उसका फासिस्ट संगठन ही उस समय सब वर्गों को अन्धकार में आशा की किरण तथा ऐसा साधन प्रतीत होता था जो उस समय की अराजकता का अन्त कर सकता था, उदारवाद एवं समाजवाद की समाप्ति करके सुदृढ़ शासन की स्थापना कर सकता था।

४४. फासिस्ट पार्टी ने अपने दल का संगठन, नियम और विभिन्न व्यवस्थायें प्राचीन रोम के रीति-रिवाजों का अनुसरण करते हुए निश्चित की थीं। फासिस्ट शब्द लैटिन के Fasces (लाठियों का समूह) से मिला है, फरसा और यष्टि समूह प्राचीन रोम में शक्ति का प्रतीक थे। इसे ग्रहण करने से यह संगठन फासिस्ट कहलाया (लैंगसम—वर्ल्ड सिन्स १९१९, पृ० १५४)

मुसोलिनी ने इस स्थिति का लाभ उठाया। साम्यवाद का कट्टर विरोधी होने के कारण उसे पूंजीपतियों और जमींदारों ने मुक्त हस्त से आर्थिक सहायता दी। निम्न-मध्यम वर्ग के व्यक्ति उसके दल में सम्मिलित होने लगे और फासिस्टों की संख्या शीघ्र ही १ लाख हो गई।

२४ अक्टूबर, १९२२ को फासिस्ट नेता मुसोलिनी ने नेपल्ज में तत्कालीन सरकार को यह धमकी दी कि यदि उसे शासन सत्ता न दी गई तो रोम पर चढ़ाई करदी जायगी। तीस हजार फासिस्ट सैनिकों ने चार विभिन्न दलों में रोम की ओर प्रयाण किया (२७ अक्टू०)। राजा ने तत्कालीन मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दिलवाकर मुसोलिनी को नया मंत्रिमण्डल बनाने का कार्य सौंपा (३१ अक्टू०) और वह शीघ्रही इटली का पूरा तानाशाह और सर्वेसर्वा बन गया।

मुसोलिनी ने उग्र विदेशनीति का श्रीगणेश किया, उसका लक्ष्य इटली को अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में गौरवास्पद स्थान दिलाना, भूमध्यसागर में पूरी प्रभुता स्थापित करके उसे 'रोमन झील' के रूप में परिवर्तित करना, अफ्रीका में विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य बनाना तथा वर्साय की सन्धि का संशोधन करना था। उसने परम्परागत शृगाल नीति के अनुसार पहले छोटे राज्यों को दबाकर वैदेशिक मामलों में अपनी धाक जमानी शुरू की। कोरफू-काण्ड इसका सुन्दर उदाहरण है।

कोरफू-काण्ड (अगस्त-सितम्बर, १९२३)—२३ अगस्त को अल्बानिया की सीमा निर्धारित करने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग के सदस्य एक इटालियन जनरल तेलिनी (Tellini) की तथा चार अन्य इटालियनों की यूनानी प्रदेश के भीतर हत्या करदी गयी। इस पर मुसोलिनी ने यूनान को २४ घंटे का यह अल्टीमेटम दिया कि इटालियन अधिकारियों की सहायता से इस मामले की जांच हो, पाँच दिन के भीतर अपराधियों को मृत्यु-दण्ड दिया जाय, यूनानी झण्डे को इटालियन झण्डे के आगे झुका दिया जाय और ५ करोड़ लीरा (इटालियन सिक्का) का हर्जाना इटली को दिया जाय। यूनान को ये माँगें स्वीकार नहीं थीं, वह उन्हें अपनी राष्ट्रीय सर्वोच्च प्रभुसत्ता के प्रतिकूल समझता था। उसने इस मामले में निर्णय के लिए राष्ट्रसंघ से प्रार्थना की, किन्तु मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ को उपेक्षा करते हुए यूनान के कोरफू टापू पर बमवर्षा करके उसे अपने अधिकार में कर लिया (३१ अगस्त, १९२३)। इटली ने जब इस मामले में राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का विरोध किया तो यह विषय पेरिस की राजदूत-परिषद् को सौंप दिया, इसने यह निर्णय किया कि यूनान की हत्याओं की जांच करके अपराधियों को दण्ड देना चाहिए, क्षमायाचना एवं ५ करोड़ लीरा की क्षतिपूर्ति करनी चाहिए, इटली का अल्टीमेटम बहुत कड़ा था, उसे कोरफू द्वीप परसे अपना अधिकार हटा लेना चाहिए। मुसोलिनी ने २२ सित० को यह घोषणा की कि २७ ता० को इस टापू को खाली कर दिया जायगा। काउण्ट कार्लो-स्फोर्जा ने इसका मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार का मुसोलिनी को इस विषय में दिया गया अल्टीमेटम बताया है। यह स्पष्ट है यूनान के सामने जो इटली शेर बन रहा था, ग्रेट ब्रिटेन के सामने उसे भीगी बिल्ली बनना पड़ा। फिर भी राष्ट्रसंघ के प्रति उपेक्षा ने और क्षतिपूर्ति की विशाल राशि की प्राप्ति ने मुसोलिनी को इस घटना के बाद इटली में

बड़ा लोकप्रिय बनाया।

१९२३ में लोजान (Lausanne) की सन्धि द्वारा भूमध्यसागर में डोडेकेनीज़ के टापू पर रोम का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। वहां उसने शीघ्र ही सुदृढ़ किलेबन्दी वाला एक नौसैनिक अड्डा बनाकर पूर्वी भूमध्यसागर में अपनी प्रभुता का विस्तार किया।

फ्यूमे (Fiume) का प्रश्न—फ्यूमे का बन्दरगाह १९२० की रापोल्लो सन्धि द्वारा स्वतन्त्र नगर बना दिया गया था। यह व्यवस्था इटली और यूगोस्लाविया दोनों के लिए सन्तोषजनक नहीं थी। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन द्वारा फ्यूमे इटली को न प्राप्त हो सकने से बड़ा असन्तोष था। मुसोलिनी ने **यूगोस्लाविया के साथ रोम की सन्धि** (२७ जन० १९२४) द्वारा इस समस्या का हल करके बड़ी लोकप्रियता पाई। इस सन्धि के अनुसार फ्यूमे का नगर तो इटली को मिला और एक छोटी नदी द्वारा इससे पृथक् होने वाला बन्दरगाह बारोस (Baros) तथा सूशाक (Susak) की बस्ती यूगोस्लाविया को मिली।

टिराना की सन्धि (२७ नव० १९२६)—यह मुसोलिनी की अल्बानिया के लघु राष्ट्र के विरुद्ध बड़ी महत्त्वपूर्ण कूटनीतिक सफलता थी। एड्रियाटिक सागर पर पूरा अधिकार पाने के लिए ओट्रैण्टो (Otranto) के जलडमरूमध्य पर नियन्त्रण पाना आवश्यक था, इसके एक ओर इटली तथा दूसरी ओर अल्बानिया अवस्थित हैं। अल्बानिया की राजधानी में टिराना में हुई एक सन्धि द्वारा यह इटली का संरक्षित राज्य बन गया। इस सन्धि में अल्बानिया ने यह स्वीकार किया कि वह दूसरे देशों के साथ इटली को हानि पहुँचाने वाला कोई राजनीतिक या सैनिक समझौता नहीं करेगा। १९२७ में अल्बानिया की सेना का पुनःसंगठन इटालियन सैन्य अधिकारियों द्वारा किया गया और इटली ने अल्बानिया के साथ २० वर्ष का एक रक्षात्मक समझौता कर लिया। इस प्रकार शनैः-शनैः अल्बानिया पर पूरा प्रभुत्व स्थापित करके मुसोलिनी ने इटली की एक चिरवांछित अभिलाषा पूरी की, किन्तु वह इतने से ही सन्तुष्ट न था, १९३९ में पवित्र ईसाई दिवस गुड फ्रायडे के दिन इस पर आक्रमण करके उसने इसे अपने साम्राज्य का अंग बना लिया।

पश्चिमी भूमध्यसागर में प्रभुत्व पाने का प्रयास—जिब्राल्टर के जलडमरुमध्य के निकट मोरक्को के टैंजियर के बन्दरगाह में अन्तर्राष्ट्रीय शासन था। अक्टूबर १९२७ में इस शासन के संशोधन के प्रश्न पर जब यहां स्पेन और फ्रांस एकत्र हुए तो तीन इटालियन युद्धपोत भी यहां पहुँच गए, रोम से यह घोषणा हुई कि भूमध्यसागर की एक शक्ति के रूप में टैंजियर के विषय में इटली को गहरी दिलचस्पी है। मुसोलिनी का यह कार्य जर्मन कैसर विलियम द्वितीय द्वारा १९०५ में इसी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न करने वाली घटना की पुनरावृत्ति था। इस समय पेरिस में समझौतावादी ब्रीआं फ्रेंच नीति का सूत्रधार था, उसने इटली को भी इस सम्मेलन में बुलाना स्वीकार कर लिया। १९२८ में टैंजियर के सम्बन्ध में हुए नए समझौते में इटली को इस नगर के प्रशासन में अधिक अधिकार दिए गए। इस प्रकार इटली महाशक्तियों के 'पाँच

सवारों' की पंक्ति में आ गया, रोम में इसे मुसोलिनी की कूटनीति की बड़ी विजय समझी गई। लन्दन के नौसैनिक सम्मेलन (१९३०) में इटली ने भूमध्यसागर में फ्रांस के साथ नौशक्ति में समानता (Parity) की माँग की (देखिए पृ० १२३), इससे भी मुसोलिनी को इटालियन जनता में बड़ी वाहवाही मिली। १९२२ के बाद दस वर्ष तक इटली को एड्रियाटिक सागर पर नियन्त्रण करने, तथा भूमध्यसागर में अपना प्रभाव बढ़ाने में बड़ी सफलता मिली।

इसी समय इटली ने मध्य योरोप में प्रभुता पाने के लिए वर्साय की सन्धि का संशोधन चाहने वाले (Revisionist) राज्यों से घनिष्ठता बढ़ायी। सर्वप्रथम हंगरी के साथ (अप्रैल, १९२७) तथा यूनान के साथ (२३ सितम्बर, १९२८) और आस्ट्रिया के साथ (६ फरवरी, १९३०) को मित्रता की सन्धियां की गयीं। १९३३ में हिटलर के उत्थान के बाद मुसोलिनी ने इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और इटली की चार शक्तियों का समझौता (Four Power Pact) किया (१५ जुलाई, १९३३)। इसका उद्देश्य राष्ट्रसंघ के मुकाबले में चार महाशक्तियों का गुट बनाना था। मुसोलिनी आस्ट्रिया के जर्मनी के साथ विलय का विरोधी था, उसने १० मार्च, १९३४ को आस्ट्रिया और हंगरी के साथ व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ बनाने के समझौते (Rome Protocols) किये और जुलाई १९३४ में नात्सियों द्वारा आस्ट्रिया में राजनीतिक विद्रोह करने पर आस्ट्रिया की सहायता के लिए ब्रेनर दर्रे पर अपनी फौजें भेजकर जर्मनी के प्रयत्न को विफल बनाया।

एबीसीनिया पर आक्रमण—इसके कारण—इस समय तक मुसोलिनी ने देश के गौरव को बढ़ाने वाला कोई बड़ा कार्य नहीं किया था, वह युद्ध को मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक समझता था, जितना नारी के लिए मातृत्व है; किन्तु अभी तक उसकी सेनाओं को विजय प्राप्त करने के अवसर नहीं मिले थे। इसके अतिरिक्त, १९३०–३२ की मन्दी की मार से व्यथित देशवासियों का तथा जनवरी १९३४ तक निरन्तर बढ़ने वाले ढाई लाख बेकारों का ध्यान दूसरी ओर बंटाना आवश्यक था, अतः इटली ने जापान के मंचूरिया में स्थापित उदाहरण का अनुसरण करते हुए १९३४ में अफ्रीका के एकमात्र स्वतन्त्र किन्तु निर्बल देश—एबीसीनिया पर हमला करके इस बर्बर देश को सभ्यता का पाठ पढ़ाने का निश्चय किया ताकि वह न केवल १८९६ में अडोवा की हार का प्रतिशोध कर सके, किन्तु इससे अपने कल-कारखानों के विकास के लिए प्रचुर मात्रा में खनिज पदार्थ, इमारती लकड़ी, ऊन, कहवा, रूई आदि कच्चा माल प्राप्त कर सके, अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या को बसाने के लिए नया प्रदेश पा सके, अफ्रीका में अपने इरिट्रिया और सुमालीलैण्ड के उपनिवेशों को जोड़कर विशाल साम्राज्य बना सके।

इटली की इस इच्छा में सबसे बड़ा बाधक फ्रांस था, पड़ोसी होने के नाते कई कारणों से पेरिस और रोम में बड़ा वैमनस्य था। फ्रांस ने फासिज्म के अत्याचारों से डर कर भागे हुए हजारों इटालियनों को आश्रय दिया हुआ था, पेरिस के शान्ति सम्मेलन में इटली की माँगों का सबसे बड़ा विरोध क्लेमेन्सो ने किया था, फ्रांस को यह सह्य नहीं था कि भूमध्यसागर 'इटली की रोमन झील' का रूप धारण कर ले, फ्रेंच उपनिवेश ट्यूनिसिया में इटालियनों की संख्या रोम के कथनानुसार फ्रेंचों से अधिक थी,

इसलिए वह उसको मिलना चाहिये था, इसी प्रकार रोम फ्रांस के कोर्सिका, सेवाय और नीस (Nice) के प्रदेशों को इनमें इटालियन आबादी होने के कारण पेरिस से लेना चाहता था, फ्रांस इटली के पड़ोसी और शत्रु यूगोस्लाविया का मित्र था, वह वर्साय की व्यवस्था को सुस्थिर बनाने का प्रबल समर्थक था, किन्तु इटली इसका संशोधन चाहता था। बाल्कान प्रायद्वीप और डेन्यूब घाटी में यूगोस्लाविया, रूमानिया, चैकोस्लोवाकिया के साथ अनेक सन्धियों द्वारा फ्रांस का प्रभाव बहुत बढ़ रहा था, इटली को यह सह्य नहीं था। अतः इटली फ्रांस का कट्टर विरोधी था और उसके विरुद्ध ग्रेट ब्रिटेन का सहयोग चाहता था। किन्तु एबीसीनिया के मामले में ग्रेट ब्रिटेन तीन कारणों से इटली की प्रभाव-वृद्धि का समर्थक नहीं था—(१) इससे ब्रिटिश सरकार की एड्रियाटिक सागर की और उत्तरपूर्वी अफ्रीका की प्रभुता संकट में पड़ जायगी। (२) इसका ब्रिटिश अफ्रीका के अन्य प्रदेशों पर प्रभाव पड़ेगा। (३) इससे मुसोलिनी को अफ्रीका में अधिक प्रादेशिक विस्तार का प्रोत्साहन मिलेगा और इसके लिए वह भूमध्यसागर पर अपना नियन्त्रण बढ़ाकर उसे प्राचीन रोमनों की भांति 'हमारा समुद्र' (Mare Nostrum) बनाकर ब्रिटिश साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों को जाने वाले महामार्ग को असुरक्षित बना देगा।

इसी समय मुसोलिनी के सौभाग्य से नात्सी जर्मनी का उत्कर्ष होने लगा, इससे भयभीत होकर और इसके विरुद्ध सहायता पाने के लिए फ्रांस ने इटली से समझौता करने में कल्याण समझा। इसके परिणामस्वरूप ७ जनवरी, १९३५ को रोम में फ्रेंच विदेश-मन्त्री लावाल द्वारा मुसोलिनी के साथ किये एक समझौते के अनुसार पेरिस ने रोम को लिबिया से लगा हुआ ४५ हजार वर्गमील का तथा इरिट्रिया के साथ लगा फ्रेंच सुमालीलैण्ड का प्रदेश दिया, इससे उसे सहारा का एक भाग तथा अदन की खाड़ी पर एक मार्ग मिल गया, फ्रेंच सुमालीलैण्ड के शासन केन्द्र जिबूती से एबीसीनिया की राजधानी अदिसअबाबा को जाने वाली फ्रेंच रेलवे में भी कुछ भाग इटली को मिला, इसी प्रकार ट्यूनिसिया में इटालियनों को नागरिकता के विशेष अधिकार मिले, आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए दोनों देशों ने एक-दूसरे को सहयोग का वचन दिया। मुसोलिनी के कथनानुसार लावाल ने गुप्त रूप से उसे एबीसीनिया में मनमानी करने की स्वतन्त्रता दे दी और उसने इसका लाभ उठाते हुए अपने दो सेनापतियों डिबोनो तथा ग्रेजियानी को विशाल सेना के साथ इरिट्रिया भेज दिया (२३ फरवरी, १९३५)।

५ दिसम्बर, १९३४ को इटालियन सुमालीलैंड के साथ लगे वलवल (Walwal) के शासन के सम्बन्ध में एबीसीनिया और इटली सेनाओं के बीच टक्कर हो गई। (देखिये पृ० ५७)। एबीसीनिया मध्यस्थ द्वारा इस वाद-विवाद को हल करना चाहता था और उसने राष्ट्रसंघ में इसके लिए प्रार्थना की। इसी बीच में मार्च १९३६ में हिटलर द्वारा राइन प्रदेश में सेनायें भेज देने के कारण नई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उत्पन्न हुई (पृ० १४२), इंगलैण्ड और फ्रांस हिटलर के इस कार्य के विरुद्ध इटली का सहयोग चाहते थे, स्ट्रेजा सम्मेलन (११-१४ अप्रैल) में मुसोलिनी ने पश्चिमी राष्ट्रों का साथ दिया (पृ० १४१) और इन्होंने राष्ट्रसंघ में एबीसीनिया के मामले में मुसोलिनी का साथ देते हुए इस विवाद को टालना शुरू किया, और राष्ट्रसंघ की कौन्सिल ने इसे सित० १९३५

तक स्थगित कर दिया। इस समय तक इटली ने आक्रमण की पूरी तैयारियां कर लीं। ३ अक्टूबर, १९३५ को उसने एबीसीनिया पर चढ़ाई कर दी और राष्ट्रसंघ में एबीसीनिया द्वारा यह प्रश्न उठाये जाने पर संघ की परिषद् ने ७ अक्टू० १९३५ को इटली को आक्रान्ता घोषित किया और असेम्बली ने १८ नव० को अपने सदस्य-राज्यों को यह कहा कि वे इटली को कच्चा माल, वित्त और शस्त्रास्त्र न भेजें तथा न ही उससे कोई माल मँगायें। राष्ट्रसंघ ने अपने इतिहास में पहली बार किसी राज्य के विरुद्ध ऐसे आर्थिक प्रतिबन्ध (Economic sanctions) लगाये (देखिये ऊपर पृ० ५२)। किन्तु इटली को तेल भेजने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया। जब इंगलैण्ड ने इसे लगवाना चाहा तो फ्रांस तैयार नहीं हुआ क्योंकि वह इटली को नाराज करके उसे हिटलर का मित्र नहीं बनने देना चाहता था। फ्रेंच तथा ब्रिटिश विदेश-मन्त्रियों लावाल (Laval) तथा होर (Hoare) ने इटली को सन्तुष्ट करने के लिए एक गुप्त समझौता किया, (७ दिस० १९३५)। इसके अनुसार इटली को एबीसीनिया से ६० हजार वर्गमील का विशाल प्रदेश दिलवाने और इसके बदले में इटली द्वारा एबीसीनिया को अस्सब के बन्दरगाह और समुद्रतट से जोड़ने के लिए छोटा-सा प्रदेश दिलवाने की व्यवस्था थी, साथ ही दक्षिणी एबीसीनिया में इटली को उसके एकमात्र औद्योगिक विकास के लिए १,६०,००० वर्गमील का प्रदेश दिलवाने के लिए ब्रिटेन और फ्रांस तैयार थे, इस प्रकार इससे इटली को बिना लड़े ही दो-तिहाई एबीसीनिया प्राप्त हो जाता। दुर्भाग्यवश यह गुप्त समझौता समाचारपत्रों में प्रकाशित हो गया, इंगलैण्ड में जनता ने इसका इतना घोर विरोध किया कि होर को त्यागपत्र देना पड़ा। इटली ने उपर्युक्त प्रतिबन्धों के बावजूद एबीसीनिया की राजधानी अदिसअबाबा पर ५ मई, १९३६ को अधिकार कर लिया और ९ मई को समूचे एबीसीनिया को इटली के साम्राज्य का भाग बनाने की घोषणा की। इस पर ४ जुलाई को संघ की परिषद् ने इटली के विरुद्ध लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध वापिस ले लिये।

एबीसीनिया युद्ध के परिणाम—अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एबीसीनिया युद्ध के कई परिणाम उल्लेखनीय हैं। **पहला परिणाम** राष्ट्रसंघ की और सामूहिक सुरक्षा (Collective security) व्यवस्था की शोचनीय विफलता थी। इस युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि राष्ट्रसंघ प्रबल राष्ट्रों के आक्रमण से छोटे और निर्बल राष्ट्रों की रक्षा करने में समर्थ नहीं है, सामूहिक सुरक्षा निरा ढोंग है। **दूसरा परिणाम** यह था कि इससे इटली और जर्मनी की घनिष्ठता बढ़ी, आर्थिक प्रतिबन्ध लागू होने के बाद जर्मनी ने शस्त्रास्त्र से तथा अन्य सब प्रकार से इटली की बड़े संकट के समय सहायता की। इसके अतिरिक्त आर्थिक प्रतिबन्ध लागू करने वाले इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस से रोम का मनोमालिन्य और विद्वेष बढ़ने लगा। स्ट्रेज़ा सम्मेलन की एकता भंग हो गयी। **तीसरा परिणाम** यह था कि इसने राष्ट्रसंघ की नपुंसकता भलीभांति प्रदर्शित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता व आक्रमणात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया, हिटलर ने इसका लाभ उठाते हुए लोकार्नो सन्धि का भंग और राइन प्रदेश का शस्त्रीकरण किया, (पृ० १४२) स्पेन के गृहयुद्ध में इटली और जर्मनी ने खुल्लम-खुल्ला हस्तक्षेप किया, आस्ट्रिया को हिटलर का शिकार बनने में

सहायता की। इसने म्यूनिक, प्राग और डैन्ज़िग का मार्ग प्रशस्त किया। **चौथा परिणाम** रोम बर्लिन धुरी (Rome Berlin Axis) का निर्माण था, इस युद्ध में जर्मनी द्वारा दिये गये सहयोग के कारण दोनों देश आपसी मतभेदों को दूर करने लगे। दोनों में वैमनस्य का प्रधान कारण आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता का प्रश्न था, इटली ने जर्मनी की सद्-भावना पाने के लिए आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता के लिए आग्रह छोड़ दिया और पहले उस विषय में ११ जुलाई, १९३६ को जर्मनी और आस्ट्रिया का तथा बाद में २६ अक्टूबर को इटली और जर्मनी का समझौता हो गया, यह रोम-बर्लिन धुरी का श्रीगणेश था।

काउण्ट स्फोर्जा ने इसके परिणामों का संक्षिप्त वर्णन करते हुए लिखा है— "ईथियोपिया में मुसोलिनी की सफलता ने स्पेन में उसका हस्तक्षेप संभव बनाया। स्पेन का गृहयुद्ध और उसके सम्बन्ध में पेरिस और लन्दन की नीति ही मुख्य रूप से योरोप के बौद्धिक और नैतिक पतन के कारण थे, इससे फ्रांस का म्यूनिक में अपने मित्र चैको-स्लोवाकिया के साथ विश्वासघात उत्पन्न हुआ और इसने पोलैण्ड के विरुद्ध हिटलर के आक्रमण और योरोपियन युद्ध को जन्म दिया तथा १० जून, १९४० को मुसोलिनी फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध में कूदा।" हार्डी के मतानुसार एबीसीनिया पर इटली के नग्न और लज्जास्पद आक्रमण ने समूचे विश्व को मौलिक रूप से प्रभावित किया, इंगलैण्ड के लिए इसका अर्थ उसकी विदेशनीति की आधारभूत संस्था राष्ट्रसंघ का विनाश था, फ्रांस के लिए इसका अभिप्राय उसके कट्टर शत्रु जर्मनी को प्रोत्साहन और मित्रों की प्राप्ति थी तथा इटली के लिए अन्ततोगत्वा इसका अभिप्राय डैन्यूब में उसके प्रभाव की समाप्ति और ब्रेनर दर्रे तक जर्मन सेनाओं का पहुँचना था[४५]।

स्पेन का गृहयुद्ध—एबीसीनिया के युद्ध ने इटली और जर्मनी का वैमनस्य दूर किया था। किन्तु स्पेन के गृहयुद्ध ने दोनों को प्रगाढ़ मित्र बनाया। इस युद्ध में कूदने से इटली को अनेक लाभ थे, स्पेन में उसका प्रभाव बढ़ जाने से पश्चिमी भूमध्यसागर में उसकी स्थिति सुदृढ़ हो सकती थी, वह जिब्राल्टर और माल्टा होकर ब्रिटेन के भारत जाने वाले मार्ग को अपने बमवर्षकों और क्रूज़रों द्वारा असुरक्षित बना सकता था, उसका एबीसीनिया का प्रदेश मिस्र के ब्रिटिश उपनिवेश की समृद्धि के मूलस्रोत नील नदी के उद्गम के निकट था, स्पेन पर अधिकार पाने के बाद रोम फ्रांस का सम्बन्ध उसके उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेशों से बड़ी सुगमतापूर्वक विच्छिन्न कर सकता था। अतः मुसोलिनी ने स्पेन के गृहयुद्ध में १ लाख के लगभग 'स्वयं-सेवक' सैनिक भजे।

स्पेन का गृहयुद्ध १७ जुलाई, १९३६ को एबीसीनिया के युद्ध की समाप्ति के सवा महीने बाद छिड़ा। इसका आरम्भ स्पेनिश मोरक्को के सेनापतियों द्वारा स्पेन की गणतन्त्रीय वामपक्षी सरकार के विरुद्ध विद्रोह के रूप में आरम्भ हुआ। विद्रोहियों के नेता जनरल फ्रांको थे, इनका समर्थन स्पेन के सब प्रतिक्रियावादी तत्त्व, धार्मिक, पादरी, जमींदार और जागीरदार कर रहे थे, दूसरी ओर सब वामपक्षी प्रगतिवादी शक्तियां थीं। मुसोलिनी और हिटलर इटालियन और जर्मन वालण्टियर भेज कर पहले पक्ष की सहा-

४५. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४१८

यता करने लगे और रूस ने दूसरे पक्ष को मदद दी। दोनों पक्षों में तीन वर्ष तक उग्र संघर्ष चलता रहा, २६ जन० १९३९ को फ्रांको ने इटली की सहायता से बार्सीलोना पर अधिकार कर लिया और २७ फरवरी को इंगलैण्ड और फ्रांस ने फ्रांको की सरकार को स्वीकार कर लिया। २८ मार्च, १९३९ को मैड्रिड के आत्मसमर्पण के साथ यह गृहयुद्ध समाप्त हो गया।

यद्यपि यह स्पेन का आन्तरिक गृहयुद्ध था, किन्तु विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप ने इसे असाधारण अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्रदान किया। अनेक विचारकों ने इसे द्वितीय विश्व-युद्ध का पूर्वाभ्यास (Rehersal), विभिन्न विरोधी गुटों द्वारा शक्ति-परीक्षा का साधन, एक-दूसरे का बलाबल देखने के लिए उड़ाया जाने वाला परीक्षणात्मक गुब्बारा (Trial Balloon) कहा है। हार्डी के शब्दों में यह जर्मनी और इटली के सहयोगी प्रयत्नों का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र था। इस युद्ध ने धुरी राष्ट्रों में सुदृढ़ एकता स्थापित की। इटली इसी युद्ध में धुरी राष्ट्रों के एण्टी कोमिण्टर्न पैक्ट में सम्मिलित हुआ, इसमें ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस की नपुंसकता और निर्बलता भली भांति प्रदर्शित हुई। इससे जर्मनी और इटली का आक्रमण करने का तथा अपनी मांगें बढ़ाने का साहस बढ़ा, इसकी परिणति द्वितीय विश्व-युद्ध के रूप में हुई। अतः स्पेन की आन्तरिक घटना होते हुए भी इस युद्ध की पृष्ठ-भूमि तथा विभिन्न घटनाओं का विवरण जान लेना आवश्यक है क्योंकि इनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

गृहयुद्ध की पृष्ठभूमि—स्पेन लोकतन्त्र की आधुनिक भावनाओं के विकास के लिए कभी उर्वरभूमि नहीं थी, यहां मध्यकालीन परम्पराओं—चर्च, राजतन्त्र, निरंकुश राजसत्ता, सेना और सैनिक अधिकारियों के षड्यन्त्रों का साम्राज्य था। १४ अप्रैल, १९३१ को राजा आलफोन्सो त्रयोदश (Alfonso) के राजगद्दी छोड़ने तथा फ्रांस भाग जाने के बाद यहां जिस गणराज्य की स्थापना हुई, वह प्रारम्भ से बड़ा अस्थिर था। गणराज्य के नवीन संविधान में यहां समाजवादी अर्थ-व्यवस्था स्थापित करने, धन और भू-सम्पत्ति का उचित वितरण करने, सामाजिक उपयोग के लिए मुआवजा देकर सम्पत्ति छीनने का आदर्श स्थापित किया गया था। पदों और उपाधियों को समाप्त कर दिया, चर्च की राजकीय सहायता बन्द कर दी गई। स्कूलों की शिक्षा-व्यवस्था चर्च से राज्य ने ले ली। मानवैल आथान्या (Manvel Azana) के प्रधानमन्त्रित्व में बड़े क्रान्तिकारी भूमि-सुधार किए गए। १९३३ तक वहां जमींदारों तथा चर्च के अधिकारियों के पास सारे देश की आधे से अधिक भूमि थी। उस समय राष्ट्रीय सम्पत्ति का ३० प्रतिशत भाग चर्च के नियन्त्रण में था और इसे राज्य से प्रतिवर्ष एक करोड़ डालर की सहायता मिलती थी।[४६] जमींदारों तथा चर्च-अधिकारियों के अतिरिक्त तीसरा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग सैन्याधिकारियों का था, राष्ट्रीय बजट का ३० प्रतिशत इन पर व्यय होता था। इसका अधिकांश भाग सैन्याधिकारियों के वेतन पर खर्च होता था क्योंकि प्रति छः सैनिकों पर एक अफसर तथा प्रति १५० सैनिकों पर एक जनरल था। कृषकों की दशा दयनीय थी, वे जमींदारों

४६. जिलेस्पी—योरोप इन पर्सपैक्टिव, पृ० ७२१

की कृपा पर जीवित थे। भूमिहीन कृषकों की मजदूरी १½ पिसेटा (२८ सैण्ट) के लगभग थी।

इस शोचनीय स्थिति को दूर करने के लिए आथान्या (Azana) सरकार ने नये क्रान्तिकारी चर्च को राज्य द्वारा दी जाने वाली सहायता १९३३ में बन्द कर दी, चर्च की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली, जेसुइटों को देश से निकाल दिया गया। सेना के १२,००० अफसरों में से १० हजार को पेंशन देकर रिटायर कर दिया गया, उन पर सामान्य नागरिकों के कानून लागू किए गए। १९३२ के भूमि कानून के अनुसार राजा की तथा बड़े जमींदारों की जमींदारियां जब्त कर ली गयीं, इन्हें भूमिहीन कृषकों में बांटने का निश्चय किया गया। आथान्या की सरकार ने स्पेनिश जनता के लिए १८ महीने के अल्प-काल में उससे कहीं अधिक कार्य किया, जो राजाओं ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में किया था।

किन्तु इन सुधारों से पदच्युत सैनिक अधिकारी, पादरी, पुरोहित, राजतन्त्रवादी (Monarchists) और जमींदार गणराज्य से रुष्ट होकर इसे विनष्ट करने का प्रयत्न करने लगे। १० अगस्त, १९३२ को मैड्रिड और सेविल (Seville) में सेना के अवकाश प्राप्त अफसरों तथा जमींदारों ने विद्रोह का विफल प्रयास किया। मार्क्स-विरोधी संगठन बनाए जाने लगे। दुर्भाग्यवश इस समय गणराज्य के समर्थकों में सुदृढ़ एकता नहीं थी। ये कम्यूनिस्ट अराजकवादी, संघसमाजवादी (Syndicalist), समाजवादी, उदार आदि अनेक दलों में बंटे हुए थे। इनकी फूट और प्रतिक्रियावादी दलों के प्रयत्न से नवम्बर, १९३३ के चुनावों में वामपन्थी (Leftist) दलों का पराभव और दक्षिणपन्थी (Right) तथा केन्द्रीय (Centre) दलों की जीत हुई। फरवरी, १९३६ तक दो वर्ष की अवधि में इन दलों ने जमाने की लहर को बदलने का प्रयत्न किया, आथान्या सरकार के उपर्युक्त सुधारों को रद्द करने का प्रयास किया। इससे दोनों पक्षों में विरोध बढ़ने लगा। सत्तारूढ़ दल ने विरोधी दल के समूलोन्मूलन की कोशिश की। गिल रोबल्स (Gil Robles) के नेतृत्व में स्पेन के करोड़पति जुआन मार्च (Juan March) की आर्थिक सहायता से क्रान्ति-विरोधी सेनाएं तैयार की जाने लगीं। जनरल सान जुरजो (San Jurjo) ने जर्मनी जाकर सैनिक विद्रोह के लिए हिटलर की सहायता माँगी। इस समय मजदूर संघों ने गणराज्य पर आने वाले संकट तथा इसे सैनिक अधिनायकवाद (Dictatorship) के रूप में बदलने के प्रयत्नों के विरोध में आम हड़ताल की घोषणा की। किन्तु मैड्रिड और बार्सीलोना में इसे बुरी तरह दबा दिया गया। आस्टूरिया के खनिकों की हड़ताल कुचलने में विदेशी मूर सेनाओं से सहायता ली गई। इसमें ४,००० व्यक्ति मारे गए, ७०० मकानों का विध्वंस हुआ, यह भावी गृहयुद्ध की पहली झलक थी। १९३४ तक स्पेन की जेलों में ३५,००० राजनैतिक कैदी थे। दोनों पक्ष एक-दूसरे को हराने के मरणान्तक संघर्ष में संलग्न थे।

इसी समय फरवरी १९३६ में नए चुनाव हुए। इसमें गणराज्य के समर्थक सभी दलों—उदार, समाजवादी, अराजकवादी, सिण्डिकेलिस्ट, और कम्यूनिस्ट पार्टियों ने लोकप्रिय मोर्चे (Popular Front) के नाम से अपना संयुक्त दल बनाया। चुनाव में इस मोर्चे की जीत हुई, इसे अन्य पक्षों की अपेक्षा ५७ सीटें अधिक मिलीं। यद्यपि कम्यू-

निस्टों को चुनाव में ५० हजार से अधिक वोट नहीं मिले, किन्तु इनकी सफलता से सम्पत्तिशाली वर्ग भयभीत हो गए।[४७]

लोकप्रिय मोर्चे ने सत्तारूढ़ होते ही विरोधी दलों का प्रबल दमन आरम्भ कर दिया। राज्यपक्षपाती और फासिस्ट समाचारपत्रों के कार्यालयों पर हमले होने लगे, विरोधियों को जेल में डाला गया। देहातों में किसानों ने बड़ी जमींदारियों पर अधिकार कर लिया, मजदूर वेतन बढ़ाने के लिए हड़तालें करने लगे। देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई।

इस समय स्पेन के प्रतिक्रियावादी जमींदारों तथा सैन्याधिकारियों ने विदेशी शक्तियों—विशेषतः हिटलर और मुसोलिनी की सहायता से—गणराज्य की सरकार के विरुद्ध प्रमुख नगरों में विद्रोह करके उनकी सत्ता समाप्त करने की योजनायें बनाईं। जनरल सान जुरजो इस प्रयोजन के लिए बर्लिन में दो बार हिटलर से मिला और उसने युद्धसामग्री के लिए भी आर्डर दिया। पहले सारी शासन सभा सैन्याधिकारियों के हाथ में थी, अब नई सरकार ने उनसे यह सत्ता छीन ली थी। इसे पुनः प्राप्त करने के लिए सैनिक अधिकारी सरकार के विरुद्ध विद्रोह की योजनायें तैयार कर रहे थे। सरकार ने उन्हें विफल बनाने के लिए यह आज्ञा दी कि फासिस्ट अथवा राजपक्षपाती प्रवृत्ति रखने वाले सैनिक अधिकारियों को फौरन पेन्शन देकर रिटायर कर दिया जाए। कई उच्च सैनिक अधिकारियों पर ऐसी प्रवृत्ति रखने का संदेह था, इनका तबादला करके इन्हें स्पेन से दूरवर्ती द्वीपों और प्रदेशों में भेज दिया गया ताकि ये स्पेन में किसी प्रकार का विद्रोह न कर सकें। इनमें जनरल फ्रांको भी था। इसे केनारी द्वीप (Canaris Islands) भेज दिया गया। इससे मोरक्को आदि स्पेनिश उपनिवेशों में गणराज्य-विरोधी सैनिक अधिकारियों की संख्या बढ़ गई और गृहयुद्ध का श्रीगणेश मोरक्को से हुआ।

सैनिक अधिकारियों के पूर्वनिर्धारित षड्यन्त्र के अनुसार गृहयुद्ध नवम्बर १९३६ में आरम्भ होना था। किन्तु इसका श्रीगणेश १३ जुलाई को गणराज्य की सेनाओं द्वारा एक प्रमुख राजपक्षपाती काल्वो सोटेलो (Colvo Sotelo) की हत्या से हो गया। सोटेलो राजतन्त्र का प्रबल समर्थक, सेना का पोषक और तत्कालीन सरकार के विरुद्ध प्रबल विषवमन करने वाला रूढ़िवादी नेता था। इसकी हत्या से सैनिक अधिकारियों का भड़कना स्वाभाविक था। यह उन्हें चेतावनी थी कि उनका यही हाल होगा। १७ जुलाई को मोरक्को में मेलिल्ला (Melilla) दुर्ग की तथा अन्य स्थानों की सेना ने विद्रोह किया, यह गृहयुद्ध की पहली घटना थी। १७ जुलाई को ही विद्रोही सेनाओं के नेतृत्व के लिए फ्रांको केनारी टापू से उड़कर मोरक्को आया। इस विद्रोह की तैयारी में यद्यपि जनरल सान जुरजो ने बड़ा भाग लिया था, किन्तु वह एक विमान-दुर्घटना में मारा गया, अतः इस विद्रोह का नेतृत्व फ्रांको को करना पड़ा। सेना के ९० प्रतिशत अधिकारी, दो-तिहाई सैनिक, अधिकांश नौसेना तथा वायुसेना फ्रांको के साथ थी। उसे पादरी-पुरोहितों, बड़े जमींदारों तथा अनुदार राजनीतिज्ञों का पूरा सहयोग प्राप्त था।

---

४७. हार्डी—पर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४३४

इस समय मेड्रिड की गणराज्य-सरकार के सम्मुख जीवन-मरण का प्रश्न था। उसकी सेना का अधिकांश भाग विद्रोहियों से मिल गया, वे मेड्रिड की ओर बढ़े चले आ रहे थे। गणराज्य की सरकार ने सैनिकों के लिए देश से अपील की, पचास हजार स्वयंसेवक सैनिक एकत्र हो गए। ये प्रायः किसान, मज़दूर, समाजवादी तथा साम्यवादी थे। इन्हें कोई सैनिक शिक्षा नहीं मिली थी, किन्तु इनमें गणराज्य की सरकार को बचाने तथा प्रतिक्रियावादी सैनिकों का प्रयत्न विफल करने का अदम्य उत्साह था। वे अपने सिद्धांतों के लिए प्राणों का बलिदान करने के लिए उद्यत थे। यह विचारधाराओं का संघर्ष था। यह स्वतन्त्रता और निरंकुशता, समानता और विशेषाधिकार, राष्ट्रीयता और चर्च की प्रभुता, नवीन प्रगतिशील तत्त्वों—उदारवाद, समाजवाद, लोकतन्त्र, अराजकवाद, सिण्डिकेलिज्म तथा रूढ़िवादी और कट्टरपन्थी तत्वों का उग्र युद्ध था। गणराज्य की सरकार का समर्थन स्पेन के सभी क्रान्तिकारी, मौलिक सुधारवादी (Radical) दल कर रहे थे। फ्रांको की पीठ पर जमींदार, पादरी तथा सैनिक अधिकारी थे। फ्रांको का यह कहना था कि वह साम्यवाद और नास्तिकता (Atheism) के विरुद्ध धर्मयुद्ध लड़ रहा है। गणराज्य की सरकार सम्भवतः विद्रोहियों (Insurgents)[४८] तथा जनरल फ्रांको के समर्थकों का पूरी तरह दमन कर देती, यदि इनकी सहायता के लिए विदेशों से भारी मात्रा में स्वयंसेवक (Volunteers) तथा युद्धसामग्री न आती। वस्तुतः स्पेन के युद्धक्षेत्रों में इस समय छोटे पैमाने पर एक विश्व-युद्ध होने लगा। इसमें जर्मन, इटालियन, रूसी, अमेरिकन, ब्रिटिश और फ्रेंच स्वयंसेवकों ने भाग लिया। आयर्लैण्ड के कैथोलिक लोगों ने स्पेनिश चर्च की रक्षा के लिए फ्रांको का साथ दिया। जर्मनी और इटली ने स्पेन के गृह-युद्ध को अपने नवाविष्कृत शस्त्रों, वायुयानों, टैंकों तथा तोपों के प्रयोगों की परीक्षण भूमि बनाया। जर्मनी तथा इटली के हवाईबाजों ने स्पेन के विभिन्न नगरों पर आक्रमण करके निर्दोष तथा निरीह नागरिक जनता को नष्ट किया तथा गोलियों से भूना।

धुरी राष्ट्रों द्वारा फ्रांको को सहायता देने के कारण—हिटलर और मुसोलिनी ने इस युद्ध में फ्रांको की सहायता कई उद्देश्यों से प्रेरित होकर की। पहला उद्देश्य साम्यवाद का विध्वंस था।[४९] जनरल फ्रांको ने स्पष्ट रूप से साम्यवाद के विरुद्ध युद्ध करने की

---

४८. फ्रांको के समर्थक विद्रोही (Rebels), अभिद्रोही (Insurgents) फासिस्ट तथा राष्ट्रवादी (Nationalists) कहलाते थे। स्पेन की सरकार के समर्थक मार्क्सवादी (Marxists), राजभक्त (Loyalists), साम्यवादी (Reds) कहलाते थे। लैंगसम के मतानुसार इनके लिए विद्रोही (Rebels) तथा स्थापित सरकार (Established government) का प्रयोग करना ही ठीक है।

४९. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४३७। हार्डी ने इसका सूक्ष्म विवेचन करते हुए कहा है कि साम्यवादी स्पेन के राजनीतिक सिद्धान्त वस्तुतः मार्क्स या लेनिन के विचारों की अपेक्षा मुसोलिनी के आरम्भक विचारों से अधिक मिलते थे। योरोप के एक कोने में इसकी सफलता से अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विस्तार में सहायता मिलने की अधिक आशा नहीं थी। स्पेन में साम्यवादी सरकार हो जाने से इटली या जर्मनी को कोई बड़ा खतरा नहीं था, क्योंकि इन देशों में साम्यवादी आन्दोलन बिल्कुल दब चुके थे। किन्तु हिटलर रूसी खतरे को इतना वास्तविक

बात कही थी। यदि फ्रांको उनकी सहायता से इस संघर्ष में सफल होता तो इससे जर्मनी और इटली को कई बड़े सामरिक लाभ प्राप्त होने की संभावना थी। मुसोलिनी को इससे निम्न लाभ थे—(१) **भूमध्यसागर में प्रभुता की वृद्धि**—इटली भूमध्यसागर को रोमन झील बनाना चाहता था। इसमें उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस थे। ग्रेट ब्रिटेन का जिब्राल्टर पर अधिकार था, लन्दन और पेरिस अपने पूर्वी तथा अफ्रीका के साम्राज्य की सुरक्षा के लिए पश्चिमी भूमध्यसागर पर अपनी प्रभुता बनाये रखना चाहते थे। यदि स्पेन में इटली के मित्र फ्रांको की सत्ता स्थापित हो जाय तो इटली स्पेन के अधिकार में विद्यमान प्रदेश में बेलरिक (Balearic Islands) में तथा स्पेनिश मोरक्को में अपने हवाई तथा समुद्री अड्डे बना सकता था, स्यूटा (Ceuta) को जिब्राल्टर के प्रतिस्पर्धी अड्डे के रूप में विकसित कर सकता था। इस प्रकार वह ग्रेट ब्रिटेन के स्वेज नहर तथा भारत जाने वाले तथा फ्रांस के उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेशों को जाने वाले मार्ग को काटकर पश्चिमी भूमध्यसागर में उनकी प्रभुता को नगण्य बना सकता था और इसे 'हमारा समुद्र' (mare nostrum) बनाने की चिरवांछित अभिलाषा पूरी कर सकता था। उसे स्पेन के केनारी द्वीपसमूह (Canaries Islands) में अड्डे प्राप्त करने की आशा थी। फ्रांको ने उसे योरोप तथा अफ्रीका में अड्डे देने का वचन दिया था। इटली ने गृहयुद्ध के दिनों में ही मेजोरका (Majorca) टापू में अपना हवाई अड्डा बना लिया था। सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सैनिक स्थान प्राप्त होने की संभावना से मुसोलिनी का फ्रांको को सहायता देना स्वाभाविक था। (२) **खनिज सम्पत्ति का आकर्षण**—स्पेन में युद्धोपयोगी साधन लोहे, ताँबे, जस्ते, रांगे की खानें थीं। इनसे युद्ध संचालन में बहुमूल्य सहायता मिल सकती थी। स्पेन का व्यापारिक महत्त्व भी था। इन लाभों को प्राप्त करने के लिए इटली इतना उत्सुक था कि ग्रेट ब्रिटेन के साथ २ जनवरी, १९३७ को 'सज्जन समझौता' करने पर भी वह फ्रांको की सहायता करने लगा। इसी समय यह समाचार आया कि काडिज (Cadiz) में इटालियनों ने फ्रांको की मदद के लिए ४,००० सैनिक उतारे हैं।

जर्मनी के उद्देश्य—(क) फ्रांस को निर्बल बनाना—स्पेन में फ्रांको का शासन स्थापित हो जाने पर जर्मनी को बड़ा महत्त्वपूर्ण सामरिक लाभ यह था कि उसके प्रबल शत्रु फ्रांस की दक्षिणी सीमा पर उसके मित्र की प्रभुता होने से फ्रांस को उस सीमा की रक्षा के लिए अपनी फौजें वहां भेजनी आवश्यक हो जातीं। पहले उसकी सारी फौजें राइन नदी की सीमा पर जर्मनी से लड़ने के लिए सुरक्षित थीं, अब इन्हें दक्षिणी

समझता था कि उसके स्पेन में हस्तक्षेप के कारण साम्यवाद का आतंक हो सकता है। किन्तु मुसोलिनी के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। फासिस्ट इटली ने योरोपियन राज्यों में सबसे पहले सोवियत रूस को मान्यता दी थी। निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में वह रूस के साथ सहयोग करता रहा था। सितम्बर १९३३ में उसने रूस के साथ मित्रता की संधि की थी। अतः उसके लिए साम्यवाद के आतंक को स्पेन में हस्तक्षेप का मुख्य प्रेरक कारण समझना ठीक नहीं। इसके वास्तविक कारण आगे बताये जाने वाले इटली तथा जर्मनी को प्राप्त होने वाले ठोस सामरिक लाभ थे।

सीमा पर भेजने से फ्रांस को दो मोर्चों पर सेनायें रखनी पड़तीं। हिटलर के लिए यह बहुत बड़ा सामरिक लाभ था कि स्पेन में उसकी सहायता से फ्रांको की सत्ता सुदृढ़ होने पर फ्रांस को जर्मनी, इटली तथा स्पेन के साथ लगने वाली तीनों सीमाओं की रक्षा के लिए अपनी सेना तीन भागों में बांटना आवश्यक हो गया। इससे अब फ्रांस के लिए यह संभव नहीं रहा कि वह अपनी सारी सैनिक शक्ति राइन नदी के मोर्चे पर जर्मनों के विरुद्ध लगा सके। (२) इटली की भांति जर्मनी को भी स्पेन के उत्तर-पूर्व में ऐसे सैनिक अड्डे पाने की आशा थी, जहां से वह अटलाण्टिक महासागर में ब्रिटिश बेड़े को बड़ी क्षति पहुँचा सकता था। (३) हिटलर को फ्रांको की सहायता करने में तीसरा बड़ा लाभ यह था कि इसमें उसे भावी विद्युत युद्ध में जर्मनी द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली नवीन रणपद्धति, यान्त्रिक एवं हवाई सेना के उपयोग, बमवर्षकों, यू–बोटों आदि नवीन शस्त्रों के प्रयोग करने का स्वर्ण अवसर मिला। इनसे नवीन शस्त्रों तथा रणपद्धति की प्रभावशालिता का मूल्यांकन हो सका और इसी अनुभव के आधार पर हिटलर ने दूसरे विश्व-युद्ध के आरम्भ में वायुयानों और यान्त्रिक दस्तों की सहायता से विद्युत युद्ध (Blitzkrieg) की नई रणकला का सफल प्रयोग किया।

सोवियत संघ का रुख—सोवियत रूस ही इस समय एकमात्र ऐसा देश था, जिसने गणराज्य सरकार की टैंकों, वायुसेना, युद्धसामग्री, तथा सैनिकों द्वारा पूरी सहायता की। इसके कुछ प्रबल कारण थे। **पहला** कारण अपने प्रबल शत्रु और पड़ोसी जर्मनी की शक्ति में वृद्धि न होने देना था। हिटलर प्रायः अपने प्रत्येक भाषण में सोवियत रूस के विरुद्ध विषवमन किया करता था। रूसी राजनीतिज्ञ हिटलर के इरादों को भलीभांति जानते थे। स्पेन में फ्रांको की सत्ता सुदृढ़ होने का अर्थ रूस के एक नये शत्रु की वृद्धि थी, अतः रूस ने फ्रांको के विरुद्ध स्पेन से गणराज्य को बड़ी मात्रा में सहायता देनी शुरू की। १९ नवम्बर को ब्रिटिश विदेशमंत्री ईडन ने रूस की ओर संकेत करते हुए हाउस आफ कामन्स में यह घोषणा की—("स्पेन में सेनायें तथा सैनिक सामग्री भेजने के लिए) कुछ देश जर्मनी या इटली की अपेक्षा अधिक दोषी हैं।" रूस इस युद्ध में हस्तक्षेप करके फासिज्म की लहर को तथा रोम-बर्लिन धुरी (Rome Berlin Axis) के प्रभाव को रोकना चाहता था। मेड्रिड सरकार के वेलेन्शिया भाग जाने के बाद रूस ने सैन्य संचालन और सैनिक शिक्षण द्वारा भी उसकी मदद की। दूसरा कारण अपने मित्र फ्रांस की सुरक्षा की चिन्ता थी। उसके साथ रूस ने १९३५ में पारस्परिक सहायता का समझौता (Mutual Assistance Pact) किया था। स्पेन में फ्रांको की फासिस्ट सरकार स्थापित हो जाने पर उसके मित्र फ्रांस की दक्षिणी सीमा असुरक्षित हो जाती। इससे हिटलर को प्राप्त होने वाले सामरिक लाभों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इन्हें रोकने के लिए रूस ने गणराज्य सरकार की न केवल सहायता की, किन्तु इंगलैण्ड और फ्रांस को भी सहायता करने के लिए कहा, किन्तु उस समय वे दोनों तुष्टीकरण की नीति (Appeasement policy) के अन्धभक्त थे। अतः रूस का प्रयत्न अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ।

जर्मनी, इटली और रूस की स्पेनिश गृहयुद्ध में दोनों पक्षों को दी जाने वाली सहायता का वर्णन करते ए एक ब्रिटिश प्रेक्षक ने कहा था कि यदि फ्रांको को जर्मन तथा इटालियन सहायता न मिलती तो विद्रोह पहले कुछ सप्ताहों में ही समाप्त हो जाता और यदि अक्टूबर १९३६ में स्पेन की सरकार को सोवियत संघ से सहायता न मिलती तो वह जल्दी ही परास्त हो जाती।"[५०]

ब्रिटिश, फ्रेंच और अमेरिकन नीति—ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ने इस युद्ध में तटस्थता की नीति अपनायी। यह नीति विद्रोहियों को हानि पहुँचाने वाली थी क्योंकि उन्हें तो जर्मनी तथा इटली से शस्त्रास्त्र की सहायता मिल ही रही थी, किन्तु तटस्थता की नीति के कारण स्पेन की गणराज्य सरकार को पेरिस, लन्दन और वाशिंगटन ने युद्धसामग्री बेचनी बन्द कर दी। ग्रेट ब्रिटेन में यद्यपि जनता की सहानुभूति गणराज्य सरकार (Loyalists) के साथ थी, किन्तु चेम्बरलेन की अनुदार सरकार का झुकाव विद्रोहियों की ओर था। इसका **पहला** कारण जिब्राल्टर को सुरक्षित बनाये रखने की चिन्ता थी। लन्दन जनरल फ्रांको को सन्तुष्ट करके इसे अपने पास बनाये रखना चाहता था। **दूसरा** कारण कम्यूनिज्म की विभीषिका थी। चेम्बरलेन का कहना था कि फ्रांको स्पेन में कम्यूनिज्म को नष्ट करने के लिए लड़ रहा है। ब्रिटिश पूंजीपतियों ने स्पेन की रियो टिण्टो (Rio Tinto) तथा अन्य खानों में पूंजी लगा रखी थी, उनका विचार था गणराज्य की सरकार के जीतने पर खानों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से उनकी पूंजी जब्त हो जायगी, अतः वे फ्रांको के समर्थक थे। उस समय यह भी विचार था कि जर्मनी और इटली की सहायता से कम्यूनिज्म के आतंक को समाप्त करना चाहिए तथा स्पेन में किसी भी प्रकार उसके पैर नहीं जमने देने चाहिएं। फ्रांस को यद्यपि स्पेन में फ्रांको का शासन स्थापित हो जाने से कई बड़े खतरे थे, इससे उत्तरी अफ्रीका के फ्रेंच साम्राज्य से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न होने की तथा दक्षिणी-पश्चिमी सीमा पर नये शत्रुराज्य के बन जाने की सम्भावना थी। फिर भी उसे विश्वास था कि नात्सी जर्मनी का मुख्य लक्ष्य सोवियत संघ है। हिटलर इन दिनों बार-बार यह कह रहा था कि जर्मनी के विस्तार का उपयुक्त क्षेत्र पूर्व है। फ्रांस को इस आड़े समय में मित्रों की बड़ी आवश्यकता थी। उन्हें बनाये रखने के लिए उसे उनकी नीति का अनुसरण करना पड़ा। उसका एक बड़ा मित्र ग्रेट ब्रिटेन था। पहले यह बताया जा चुका है कि उसने हस्तक्षेप के नाम पर वस्तुतः फ्रांको को सहायता देने वाली नीति अपनायी। फ्रांस को भी इसका अनुसरण करना पड़ा। इसके अतिरिक्त फ्रांस अपने पड़ोसी इटली को मित्र बनाना चाहता था। अतः जब मुसोलिनी ने फ्रांको का समर्थन किया तो फ्रांस ने अहस्तक्षेप की नीति अपनायी। सं० रा० अमेरिका की सरकार ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। २ जून, १९३७ को जब प्रतिनिधि सभा के चार सदस्यों ने विदेशमन्त्री से कहा कि यदि तटस्थता कानून (Neutrality) के प्रयोग द्वारा स्पेन की गणराज्य सरकार को हथियार बेचना और भेजना निषिद्ध है तो फ्रांको को सहायता देने वाले जर्मनी और इटली

---

५०. हार्डी—पर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२६

पर भी यह कानून लागू किया जाना चाहिए। इसके उत्तर में विदेशमन्त्री ने कहा— "यह हमारा युद्ध नहीं है। हमें सावधान होना चाहिए और शान्त रहना चाहिए।" पश्चिमी लोकतन्त्रों की स्पेन की लोकतन्त्रीय सरकार के प्रति यह घातक नीति ही उसके विनाश का कारण थी। ऊपर बताये गए अपने विशेष स्वार्थों के कारण उन्होंने स्पेन के गणराज्य को प्रभावशाली सहायता देने के बजाय अहस्तक्षेप की नीति का अवलम्बन किया।

अहस्तक्षेप (Non-intervention) **की नीति**—युद्ध शुरू होते ही उपर्युक्त कारणों से फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन ने इस युद्ध का क्षेत्र सीमित करने की दृष्टि से **अहस्तक्षेप** की नीति ग्रहण की। इसका यह आशय था कि कोई भी अन्य देश स्पेन के किसी पक्ष को शस्त्रास्त्र, युद्धसामग्री और सैनिकों की सहायता न दे। इस विषय में फ्रांस के प्रस्ताव को ग्रेट ब्रिटेन, इटली, जर्मनी, सोवियत रूस आदि ३० देशों ने स्वीकार कर लिया। ९ सितम्बर, १९३६ को इस नीति को क्रियात्मक रूप देने के उपाय खोजने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति लन्दन में नियुक्त कर दी गई। इसका कार्य बहुत जटिल था। इस समय जर्मनी, इटली और रूस इस युद्ध में दोनों पक्षों को स्वयंसेवक, सैनिक तथा युद्धसामग्री भेज रहे थे। १८ नवम्बर, १९३६ को जर्मन तथा इटालियन सरकारों ने फ्रांको की सरकार को मान्यता (Recognition) प्रदान की। इसके बाद क्रिसमस १९३६ तक जर्मनी ने यहाँ न्यूनतम अनुमान के अनुसार ३६,००० सैनिक भेजे। एक जर्मन पत्रकार के अनुसार इस समय जर्मनी में स्पेन के लिए सैनिक भेजने का यह ढंग था कि स्वयंसेवकों के स्थान पर पूरी पल्टनों को वहाँ जाने को कहा जा रहा था।[५१] अक्टूबर की समाप्ति तक सोवियत संघ ने यह घोषणा की कि यदि अन्य राज्य अहस्तक्षेप की नीति का पालन नहीं करेंगे तो वह भी इसके पालन के लिए बाध्य नहीं होगा। लन्दन में **अहस्तक्षेप समिति** (Non-intervention Committee) की आरम्भिक बैठकों में रूस जर्मनी, इटली तथा पुर्तगाल पर सैनिक सहायता भेजकर हस्तक्षेप करने का दोषारोपण करता रहा तथा जर्मनी और इटली ने रूस पर ऐसे प्रत्यारोप किये। क्रिसमस के अवसर पर ब्रिटिश तथा फ्रेंच सरकार ने बर्लिन, लिस्बन, मास्को तथा रोम से यह अपील की कि वे इस युद्ध में स्वयंसेवक और रणसामग्री न भेजें। इस अपील का सब देशों ने स्वागत किया, किन्तु फरवरी १९३७ तक स्पेन में इटालियन सेना के चार डिवीजन और कम से कम ४० हजार सैनिक पहुँच चुके थे।[५२] इनका नेतृत्व इटली की नियमित सेना के सेनापति कर रहे थे। मुसोलिनी ने यह घोषणा की कि स्पेन में बोल्शेविक राज्य की स्थापना वर्तमान स्थिति (status quo) में ऐसा परिवर्तन है, जिसे इटली सहन नहीं कर सकता।

अहस्तक्षेप समिति इस सारे समय में सब देशों से स्पेन के गृहयुद्ध में स्वयंसेवक न भेजने की प्रार्थना करती रही। १५ फरवरी, १९३७ को इटली की सरकार ने यह

---

५१. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४३६

५२. वही, पृ० ४३८

आदेश निकाला कि २० फरवरी के बाद इटली का कोई व्यक्ति स्पेन में सैनिक सेवा के लिए नहीं जा सकता। किन्तु ७ मार्च तक काडिज (Cadiz) में इटालियन सेनायें पहुँचती रहीं।[53] इसके बाद फ्रांको को दी जाने वाली जर्मन और इटालियन सैनिक सहायता में कमी आ गई। इसका कारण यह था कि फ्रांको को युद्ध जीतने के लिए जितनी सैनिक सहायता सम्भव हो सकती थी, वह दी जा चुकी थी। फ्रांको को अब अधिक सहायता की आवश्यकता नहीं थी। अतः अब ये दोनों देश अहस्तक्षेप समिति की बैठकों में अधिक दिलचस्पी लेने लगे ताकि दूसरे देश फ्रांको के विरोधी पक्ष को सहायता न पहुँचा सकें। अहस्तक्षेप समिति में सैनिकों तथा युद्ध-सामग्री को स्पेन में पहुँचने से रोकने के लिए सीमान्त रेखा की देखभाल तथा विभिन्न देशों की नौसेना के जहाजों द्वारा स्पेनिश तट का गश्त लगाने (Patrol) का निश्चय हुआ। १९ अप्रैल, १९३७ से इसे क्रियात्मक रूप दिया गया। किन्तु २९ मई को स्पेनिश सरकार ने अपने एक बन्दरगाह इविज़ा (Iviza) में आये हुए जर्मन युद्धपोत ड्यूशलैण्ड (Deutsch land) पर वायुयानों द्वारा बमवर्षा की और इसके प्रत्युत्तर में एक जर्मन क्रूज़र तथा चार विध्वंसकों (Destroyers) ने आलमेरिया (Almeria) के नगर पर बमवर्षा की। १९ जून को जर्मनी ने यह कहा कि उसके क्रूज़र लाइपज़िग (Leipzig) पर पनडुब्बियों से हमला हुआ है। स्पेन की सरकार ने इस आरोप का खण्डन किया। जर्मनी, इटली इसके विरुद्ध संयुक्त प्रदर्शन करना चाहते थे, जब इसमें ब्रिटेन और फ्रांस सम्मिलित नहीं हुए तो उन्होंने नौसैनिक गश्त (Patrol) से अपने जहाज हटा लिए। पुर्तगाल ने अपने सीमान्त पर देखभाल की सुविधाओं को बन्द कर दिया और फ्रांस ने भी अपने सीमान्त पर ऐसा किया (१० जुलाई)। इससे अहस्तक्षेप समिति का कार्य लगभग समाप्त हो गया।

इस पर १४ जुलाई को ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने अहस्तक्षेप समिति में समस्या सुलझाने के लिए निम्न प्रस्ताव रखे :—(१) नौसेनाओं के जहाजों द्वारा किया जाने वाला गश्त और निरीक्षण बन्द कर दिया जाय, इसके स्थान पर स्पेन के बन्दरगाहों में निरीक्षक नियत किये जायें। स्थलीय सीमान्तों का निरीक्षण पुनः आरम्भ किया जाय। (२) दोनों पक्षों की सेनाओं में लड़ने वाले विदेशी सैनिकों को स्वदेश वापिस भेजने के कार्य का निरीक्षण करने के लिए आयोग नियत किये जायें। (३) विदेशी सैनिकों की वापिसी के कार्य में पर्याप्त प्रगति होने के बाद दोनों पक्षों को युद्धावस्था (Belligerency) की मान्यता तथा इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार प्राप्त होने वाले अधिकार दिये जायें।

ये प्रस्ताव एक साल तक विचार विमर्श होने के बाद स्वीकार हुए, किन्तु इस बीच में अनेक नई घटनायें हो गयीं। एबीसीनिया के मामले में राष्ट्रसंघ द्वारा की गई कार्यवाही मुसोलिनी की दृष्टि में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा की गयी थी। वह इस समय उसके साथ 'सज्जन समझौता' होने के बावजूद उसके विरुद्ध मध्यपूर्व के देशों में प्रबल प्रचार

---

५३. वही, पृ० ४३९

कर रहा था। इसी समय भूमध्यसागर में स्पेनिश तथा तटस्थ जहाजों पर स्पेन के आसपास के समुद्रतट में किसी अज्ञात शक्ति की पनडुब्बियों ने हमले आरम्भ किये। जनरल फ्रांको के पास पनडुब्बियां नहीं थीं। अतः रूसी तथा स्पेनिश सरकार ने खुले तौर पर यह कहा कि ये आक्रमण इटालियन सरकार द्वारा हो रहे हैं। चेम्बरलेन को भी इसी प्रकार का सन्देह था। १७ अगस्त को ब्रिटिश नौसेना को यह आदेश दे दिया गया कि चेतावनी के बिना ब्रिटिश जहाजों पर हमला करने वाली पनडुब्बियों पर प्रत्याक्रमण कर दिया जाय और समुद्री डाकुओं की भांति नष्ट कर दिया जाय। इस परिस्थिति में फ्रेंच सरकार ने यह प्रस्ताव किया कि भूमध्यसागर में दिलचस्पी रखने वाले राष्ट्रों का एक सम्मेलन इस समस्या पर विचार करने के लिए बुलाया जाय। १० सितम्बर को यह सम्मेलन नित्रोन (Nyon) में बुलाया गया, इसे जानबूझकर जेनीवा में नहीं आमन्त्रित किया गया क्योंकि मुसोलिनी जेनीवा के राष्ट्रसंघ की एबीसीनिया विषयक कार्यवाही से बड़ा रुष्ट और असन्तुष्ट था। इटली निओन सम्मेलन में भी सम्मिलित नहीं हुआ। फिर भी इस सम्मेलन ने ब्रिटिश और फ्रेंच बेड़ों द्वारा प्रधान सामुद्रिक व्यापारपथों और प्रादेशिक समुद्रों की रक्षा के लिए नौसैनिक गश्त की व्यवस्था की। ३० सितम्बर को इटली भी पूर्वी भूमध्यसागर की रक्षा के लिए इस रक्षा-व्यवस्था में सम्मिलित हो गया तथा 'अज्ञात शक्ति की पनडुब्बियों के आक्रमण बन्द हो गये'।

किन्तु अहस्तक्षेप समिति के प्रयत्नों के बावजूद अक्टूबर १९३७ में इटली ने सरकारी तौर पर यह स्वीकार किया कि उसके ४० हजार सैनिक स्पेन में लड़ रहे हैं। २९ अक्टूबर को मुसोलिनी ने स्पेन के गृहयुद्ध में मारे जाने वाले सैनिकों के सम्बन्धियों को वीरता के लिए मैडल वितरित किये, उस समय तक इटली के स्पेन में मृत एवं घायल सैनिकों की संख्या ७६३ तथा २,६७५ थी[५४]। ६ नवम्बर को इटली, जर्मनी और जापान के एण्टी-कोमिण्टर्न पैक्ट में सम्मिलित हुआ और १२ दिसम्बर को मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ के परित्याग की घोषणा की। लन्दन की अहस्तक्षेप समिति और राष्ट्रसंघ धुरी राष्ट्रों द्वारा फ्रांको को दी जाने वाली सहायता रोकने में सर्वथा असमर्थ रहे।

फ्रांको की विजय—इन परिस्थितियों में विद्रोहियों की सफलता निश्चित थी। जर्मनी तथा इटली की वायुसेनाओं ने बार्सीलोना, मैड्रिड तथा अन्य नगरों में प्रबल बमवर्षा की, इटालियन पनडुब्बियों ने स्पेनिश सरकार को विदेशों से प्राप्त होने वाली सहायता को बिलकुल बन्द कर दिया। इससे स्पेन में दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इस भुखमरी में सैनिक सामग्री होने पर भी स्पेनिश सरकार के सैनिकों ने एक-

---

५४. जून १९३९ में इटली के सेनाओं के सरकारी पत्र में इटली द्वारा फ्रांको को दी गयी सैनिक सहायता का विवरण दिया गया था। इसके अनुसार इटली ने स्पेन में १ लाख सैनिक भेजे थे, उसकी नौसेना के १४९ जहाजों ने ८७० कार्य पूरे किये। फरवरी १९४१ में मुसोलिनी ने फ्रांको को अपनी सैनिक सहायता का २७½ करोड़ डालर का बिल भेजा था। फ्रांको ने इसका भुगतान नहीं किया। (लैंगसम—दी वर्ल्ड सिन्स १९१९, सप्तम संस्करण, पृ० २००)

एक चप्पा जमीन की रक्षा के लिए उग्र संघर्ष किया। किन्तु फ्रांको की इटली और जर्मनी से पुष्कल सैनिक सहायता पाने वाली सेनाओं के आगे उनका देर तक टिका रहना सम्भव नहीं था। विद्रोहियों ने सरकार को जीतने के लिए तीन प्रकार की योजना बनायी थी—अफ्रीका में स्पेनिश मोरक्को को हस्तगत करना, स्पेन के प्रान्तों की राजधानियों पर कब्जा करना और राजधानी मैड्रिड को जीतना। पहली योजना में उन्हें पूरी सफलता मिली, दूसरी एवं तीसरी योजनाओं की पूर्ति में साधारण जनता के प्रबल प्रतिरोध ने भारी बाधा डाली। फिर भी नवम्बर १९३६ तक विद्रोही मैड्रिड के बाहरी प्रदेश तक पहुँच गये और स्पेनिश सरकार ने वेलेन्शिया (Valencia) को अपनी राजधानी बनाया। स्पेन के पूर्व, मध्य तथा उत्तर में बड़े भाग पर अब तक स्पेन की सरकार का शासन था। केटेलोनिया, वेलेन्शिया, मुर्शिया, आमेरिया, गिजोन, बिल्बओ स्पेनिश सरकार के अधिकार में थे। किन्तु १९३७ में बिल्बओ (२० जून) तथा गिजोन (२१ अक्टूबर) का पतन हो गया। २० अक्टूबर को, सरकार वेलेन्शिया से बार्सीलोना चली गयी। १९३८ में सैण्ट पैट्रिक के पवित्र दिवस पर धुरी राष्ट्रों के वायुयानों ने २४ घण्टों में १२ बार बार्सीलोना पर बमवर्षा की, १५ अप्रैल, १९३८ को विद्रोही सेनायें विनारोज़ (Vinaroz) पहुँच गयीं। १६ अप्रैल को चियानो-पर्थ (Ciano-Perth) समझौते द्वारा ब्रिटेन ने एबीसीनिया पर इटली का अधिकार स्वीकार कर लिया और इटली ने उसे यह वचन दिया कि 'गृहयुद्ध के बाद वह स्पेन से अपनी सेनायें हटा लेगा।'

विनारोज़ की विजय सामरिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। इसने बार्सीलोना में स्थित स्पेनिश सरकार का सम्बन्ध शेष स्पेन से बिल्कुल विच्छिन्न कर दिया। किन्तु सरकार इससे हिम्मत नहीं हारी, उसने एब्रो (Ebro) नदी के साथ-साथ विशाल प्रत्याक्रमण करके विद्रोही सेनाओं का मोर्चा कई स्थानों से तोड़ दिया। यह सरकार की अन्तिम बड़ी विजय थी। फ्रांको की फौजों ने जर्मनी और इटली की भारी सैनिक मदद से १९३८ में क्रिसमस से दो दिन पूर्व २३ दिसम्बर को कैटेलोनिया और बार्सीलोना पर भीषण आक्रमण किया। २६ जनवरी, १९३९ को विद्रोहियों ने बार्सीलोना जीत लिया। इसकी खुशी मनाते हुए मुसोलिनी ने रोम में यह घोषणा की—'हमारे शत्रु धूल चाट रहे हैं।' अभी तक राजधानी मैड्रिड पर स्पेनिश सरकार का अधिकार था। अब यहां भी जनरल कैसोडो (Segismunelo Casado) ने प्रधानमंत्री नेग्रिन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। राजधानी पर चारों ओर से फ्रांको की सेनायें हमला कर रही थीं और उसके भीतर विद्रोहियों की सहायता करने वाला पंचमांगी दल (Fifth Column) उसकी पीठ पर था। २८ मार्च, १९३९ को फ्रांको की सेनायें ३२ महीने के संघर्ष के बाद राजधानी में प्रविष्ट हो गयीं, किन्तु फ्रांको को सन्तुष्ट करने के लिए इससे पहले २७ फरवरी, १९३९ को ही चेम्बरलेन और दलादियें ने उसकी सरकार को कानूनी मान्यता (Dejure Recognition) दे दी थी।

युद्ध के परिणाम—यह युद्ध यद्यपि प्रधान रूप से स्पेन का आन्तरिक मामला था, किन्तु विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप से इसे असाधारण अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो गया। इसके कई परिणाम उल्लेखनीय हैं। पहला परिणाम तो यह था कि इसने रोम

तथा बर्लिन की एकता को सुदृढ़ बनाया, एण्टीकोमिण्टर्न पैक्ट को पुष्ट किया। योरोप में फासिस्ट शक्तियों की स्थिति को मजबूत किया। दूसरा परिणाम यह हुआ कि इसने हिटलर और मुसोलिनी को यह विश्वास करा दिया कि लंदन और पेरिस कम्यूनिज्म के हौवे से बुरी तरह आशंकित हैं, यह भय दिखाकर उनसे सभी कुछ कराया जा सकता है। इससे उन्हें इनकी निर्बलता और नपुंसकता का भी ज्ञान हो गया। वे यह जान गये कि उनके आक्रमणों को रोकने का साहस पश्चिमी लोकतंत्रों में नहीं है। इसने उन्हें चैकोस्लोवाकिया आदि में आक्रमणात्मक कार्यवाही करने के लिए प्रोत्साहित किया। इसका तीसरा परिणाम राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा (Collective security) योजना को अन्तिम रूप से विफल बनाना था। यद्यपि वह इससे पहले एबीसीनिया के मामले में विफल हो चुकी थी. किन्तु फिर भी स्पेन की सरकार ने इस मामले को संघ में कई बार उठाने का प्रयत्न किया। किन्तु संघ की असेम्बली ने केवल २ अक्टूबर, १९३७ को यह प्रस्ताव पास किया कि 'स्पेन की भूमि' पर विदेशी सैनिक दल निश्चित रूप से हैं। इन्हें 'फौरन तथा पूर्ण रूप से' स्पेन से हट जाना चाहिए। किन्तु रोम और बर्लिन अपने स्वयंसेवक हटाने को तैयार नहीं थे। संघ अपने प्रस्ताव को क्रियान्वित नहीं करा सका।

यह युद्ध शूमैन[५५] के शब्दों में वस्तुतः स्पेन पर धुरी राष्ट्रों का आक्रमण था, इटली के बमवर्षक वायुयानों, नात्सी सेना के टैंकों और एजेण्टों, हवाबाजों और प्रतिनिधियों ने इसमें खुले रूप से भाग लिया। इङ्गलैंड और फ्रांस ने 'अहस्तक्षेप' (Non-intervention) की नीति के आधार पर और सं० रा० अमेरिका ने 'तटस्थता' के नाम पर स्पेन को शस्त्र बेचना तथा भेजना बन्द किया और इस प्रकार धुरी राष्ट्रों द्वारा स्पेन के लोकतन्त्र की हत्या में सहयोग दिया। एबीसीनिया के युद्ध के बाद धुरी राष्ट्रों की मैत्री आरम्भ हुई थी, स्पेन के गृहयुद्ध ने इसे पुष्ट किया, ६ नव० १९३७ को इटली **एण्टीकोमिण्टर्न पैक्ट** में जर्मनी और जापान के साथ सम्मिलित हुआ और २७ मार्च, १९३९ को स्पेन ने भी इस पैक्ट पर हस्ताक्षर किये। इस युद्ध ने धुरी राष्ट्रों की तुलना में इंगलैंड और फ्रांस की दुर्बलता बड़े प्रबल व स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दी। इसमें यद्यपि इटली को भारी हानि उठानी पड़ी, किन्तु उसे इंगलैंड और फ्रांस पर धौंस जमाने और उनसे अधिक रियायतें पाने का स्वर्ण अवसर मिल गया। इटालियन पार्लियामेंट में फ्रांस से 'ट्यूनिसिया, जिबूती, कोर्सिका, नीस, सेवाय' वापिस लेने के नारे लगने लगे (३० नव० १९३८)।

सज्जन समझौता—इस समय इंगलैंड ने इटली को मित्र बनाने के अनेक प्रयत्न किए। पहला प्रयत्न २ जन० १९३७ का 'सज्जन समझौता' (Gentlemen's agreement) था, इसमें दोनों देशों ने स्पेन की तटस्थता और अखण्डता को स्वीकार किया और भूमध्यसागर में गुजरने की स्वाधीनता का सिद्धान्त माना गया। किन्तु इसके कुछ समय बाद अपनी लिबिया-यात्रा में मुसोलिनी ने मुसलमानों के साथ मित्रता की तथा उनके संरक्षक होने की घोषणा की (१६ मार्च, १९३७)। यह अरब देशों में ब्रिटिश और

५५. शूमैन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५४८

फ्रेंच प्रभुता को खुली चुनौती थी, इसके बाद इटली ने उत्तरी अफ्रीका, मिस्र तथा फिलस्तीन और सीरिया से इंगलैंड और फ्रांस के विरुद्ध प्रबल प्रचार आरम्भ कर दिया। इस बीच में उसने जर्मनी और जापान के **एण्टी-कोमिण्टर्न पैक्ट** पर हस्ताक्षर किये (६ नव० १९३७) और वह राष्ट्रसंघ से पृथक् हो गया (११ दिस० १९३७)। ७ जनवरी, १९३८ को उसने अपनी नौसेना बढ़ाने के विशाल आयोजन की घोषणा की, इससे इंगलैंड का भयभीत होना स्वाभाविक था। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को हड़पने में मुसोलिनी ने हिटलर का विरोध नहीं किया क्योंकि वह इस समय स्पेन के मामलों में उलझा हुआ था, और चैकोस्लोवाकिया के संकट के समय (देखिए पृ० १४८) उसने हिटलर को म्यूनिक समझौते के लिए तैयार किया। इस समय चेम्बरलेन इटली को सन्तुष्ट करने तथा हिटलर से पृथक् रखने के लिए बड़ा व्यग्र और आतुर था। परिणामस्वरूप १६ नव० १९३८ को एक एंग्लो-इटालियन पैक्ट संपुष्ट और क्रियान्वित किया गया, वस्तुतः यह समझौता १६ अप्रैल को हो चुका था, मुसोलिनी इससे हिटलर पर कुछ नियन्त्रण रखना चाहता था और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री इससे भूमध्यसागर में और निकट पूर्व में इटली के साथ संघर्ष और विरोध को कम करना चाहते थे। इस समझौते द्वारा इंगलैंड ने एबीसीनिया पर न केवल इटली की सर्वोच्च सत्ता (Sovereignty) स्वीकार की, अपितु अन्य राज्यों से भी इसे स्वीकार कराने में सहयोग का आश्वासन दिया। इसके बदले में इटली ने स्पेनिश प्रदेश से 'युद्ध की समाप्ति पर' (जिसे इस समय बहुत सन्निकट समझा जाता था) अपने स्वयंसेवक हटाने और निकट पूर्व में ब्रिटेन-विरोधी प्रचार न करने का आश्वासन दिया, दोनों देशों ने रक्तसागर में यथापूर्व स्थिति (Status Quo) बनाये रखने का निश्चय किया; यह समझौता स्पेन के गृहयुद्ध की समाप्ति पर क्रियान्वित होना था, किन्तु बाद में इसकी समाप्ति (२८ मार्च, १९३९) से पहले ही इसे १६ नव० १९३८ से लागू कर दिया गया।

फ्रांस ने भी इसी समय एबीसीनिया पर इटली की विजय स्वीकार कर ली, किन्तु इटली की पार्लियामेंट में फ्रांस से कोर्सिका और ट्यूनिसिया लेने की जोरदार मांग की गयी, फ्रांस के साथ इटली का वैमनस्य बढ़ने लगा और अब इटली ने २२ मई, १९३९ को जर्मनी के साथ एक राजनीतिक और सैनिक समझौता किया, यही **फौलाद समझौता** (Steel Pact) कहलाता है क्योंकि इसमें दोनों ने एक-दूसरे को पूरी सैनिक सहायता देने का निश्चय किया। फिर भी इटली की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की थी कि जर्मनी की अपेक्षा फ्रांस और इंगलैंड उस पर अधिक सुगमता से आक्रमण कर सकते थे, वह जर्मनी की अपेक्षा निर्बल भी था। अतः मुसोलिनी ने युद्ध का समर्थक होते हुए भी पोलैण्ड के मामले में शान्तिपूर्ण समझौते का प्रयास किया।[५९]

किन्तु इसके बावजूद जब हिटलर ने पहली सितम्बर १९३९ को युद्ध छेड़ दिया तो फौलाद समझौते के तथा सब प्रेक्षकों की आशाओं के विपरीत इटली इस युद्ध में जर्मनी की ओर से सम्मिलित नहीं हुआ। अपनी परम्परागत शृगाल नीति से तथा

---

५९. शर्मन—पर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५४८

निर्बलता के कारण अभी उसने युद्ध में न पड़कर उसके परिणामों को देखने तथा तटस्थ रहते हुए जर्मनी को अधिकतम सहायता पहुँचाने का निश्चय किया। वह युद्ध में कूदने के लिए अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करने लगा, क्योंकि उसके लिए मित्रराष्ट्रों पर उस समय हमला करना बहुत शीघ्र था, जबकि उनमें भी इटली पर प्रत्याक्रमण का सामर्थ्य हो और उस समय आक्रमण करना बहुत विलम्ब से था, जबकि जर्मनी इन्हें पूरी तरह जीत चुका हो। इटली के लिए आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर और शुभ घड़ी वही थी, जबकि मित्रराष्ट्रों की पराजय लगभग निश्चित हो चुकी हो, किन्तु उन्होंने आत्म-समर्पण न किया हो।[५७] ऐसे समय में पहले ही मरे को मार कर विजेता होने की वाह-वाही सुगमता से प्राप्त की जा सकती है और लूट के माल में हिस्सा बांटने का दावा किया जा सकता है। अतः मुसोलिनी ने हिटलर द्वारा फ्रांस को लगभग परास्त कर देने के बाद ११ जून, १९४० को १२ बजे युद्ध में सम्मिलित होने का शुभ मुहूर्त्त समझा। इस अवसर पर प्यात्सा वेनेत्स्या (Piazza Venezia) में एक हर्षोन्मत्त जनसमुदाय में भाषण देते हुए इल दूचे (Il Duce) ने यह कहा—"भाग्य द्वारा निश्चित की गई घड़ी आ पहुँची है, हम अपने को समुद्र में बांधने वाली प्रादेशिक और सैनिक शृंखलाओं को तोड़ना चाहते हैं, हम अवश्यमेव विजयी होंगे ताकि इटली में, योरोप में तथा विश्व में एक न्यायपूर्ण शान्ति स्थापित हो सके।" यह कौन जानता था कि अन्ततोगत्वा यह शुभ घड़ी इटली के लिए अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध होगी, इसमें न केवल उसकी शोचनीय हार होगी अपितु उसके स्वदेशवासी मुसोलिनी से रुष्ट एवं क्रुद्ध होकर २८ अप्रैल, १९४५ को अपने नेता (Il Duce) को उसकी प्रेयसी पेताच्ची (Patacci) के साथ गोली का शिकार बना देंगे।

ग्रेट ब्रिटेन की विदेशनीति (१९१९–३९)

विदेशनीति के मुख्य सिद्धान्त और लक्ष्य—मध्यकाल से ब्रिटिश विदेशनीति के दो मुख्य उद्देश्य रहे हैं—(१) अपनी शक्तिशाली नौसेना द्वारा समुद्रों पर स्वामित्व बनाये रखना (२) योरोपीय महाद्वीप में शक्ति संतुलन (Balance of Power) बनाये रखने के लिए किसी एक देश की सैनिक शक्ति को सर्वोच्च न होने देना और ऐसा होने पर उसके विरुद्ध अन्य राष्ट्रों की सहायता से गुटबन्दी करना। ये दोनों उद्देश्य उसकी भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम हैं। ग्रेट ब्रिटेन चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ है और उसका साम्राज्य विश्वव्यापी है, अपनी तथा साम्राज्य की रक्षा के लिए उसके पास सुदृढ़ नौ-शक्ति का होना परम आवश्यक है, यह तभी हो सकता है, "जब बर्तानिया समुद्र की लहरों पर शासन करे।" जब कभी किसी शक्ति ने उसकी नौसेना को चुनौती दी है, वह उसका कट्टर विरोधी बन गया है। प्रथम विश्व-युद्ध से पहले विलियम क़ैसर द्वितीय के जर्मनी के साथ उसकी शत्रुता का प्रधान कारण शक्तिशाली जर्मन नौसेना का निर्माण था। इसी प्रकार ब्रिटेन कभी यह नहीं चाहता कि योरोप में कोई एक राज्य

५७. वही; पृष्ठ ५४९

सबसे अधिक शक्तिशाली होकर उसके लिए तथा उसके साम्राज्य के लिए संकट बन सके। वह सदैव इस प्रकार शक्तिशाली होने वाले राज्य की शक्ति अन्य योरोपियन शक्तियों के साथ गुटबन्दी करके क्षीण करता रहता है, इस प्रकार योरोप में विभिन्न शक्तियों में संतुलन बना रहता है, कभी कोई शक्ति ऐसी नहीं होती जो किसी पलड़े को अपने भारी बोझ से दबा ले, दूसरे पलड़े में ग्रेट ब्रिटेन अन्य शक्तियों के बाट रखता हुआ, दोनों पलड़ों को बराबर रखने का यत्न करता है। लुई १६वें तथा नैपोलियन बोनापार्ट के समय जब फ्रांस और हिटलर के समय का जर्मनी योरोप की प्रधान शक्ति बना तो इंगलैंड ने उसकी शक्ति संतुलित करने के लिए विरोधी गुटबन्दियां बनाईं और इनकी सहायता से इन महाशक्तियों को हराया। नैपोलियन के समय जो फ्रांस ग्रेट ब्रिटेन का कट्टर शत्रु था, वह कैसर और हिटलर के समय जर्मनी का उत्कर्ष होने पर उसका परम मित्र बन गया। इसलिए यह ठीक ही कहा जाता है कि **इंगलैंड के कोई स्थायी शत्रु या मित्र नहीं हैं, केवल स्थायी स्वार्थ और उद्देश्य हैं।** इनसे अनुकूलता रखने वाले उसके मित्र और प्रतिकूलता रखने वाले उसके शत्रु हैं। इन दो मुख्य उद्देश्यों के अतिरिक्त ब्रिटिश विदेशनीति में गौण लक्ष्य लोकतन्त्रवाद का समर्थन, निरंकुश तथा अवैध शासनों का विरोध, समुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of the seas), विश्व के व्यापार की उन्नति और समृद्धि, इंगलिश चैनल के सामने के योरोपियन प्रदेश में किसी शक्ति को हावी न होने देना और इस प्रदेश में अवस्थित बेल्जियम, हालैंड को तटस्थ बनाये रखना भी है। इनके अतिरिक्त ब्रिटिश विदेशनीति का एक मुख्य सिद्धान्त उसके पूर्वी साम्राज्य को जाने वाले समुद्री मार्ग के महत्त्वपूर्ण सागरों, इसके नाकों—भूमध्यसागर, जिब्राल्टर, माल्टा, स्वेज नहर तथा मध्यपूर्व के देशों फिलस्तीन और मिस्र पर अपनी प्रभुता बनाए रखना भी रहा है।

प्रथम विश्व-युद्ध तक ग्रेट ब्रिटेन विश्व की महाशक्तियों में प्रथम स्थान रखता था, यद्यपि विभिन्न क्षेत्रों में उसके साथ प्रतिस्पर्धा करने वाले राष्ट्रों की संख्या बढ़ रही थी। १८६७ के बाद जापान की तथा १८७१ के बाद जर्मनी की और सं० रा० अमेरिका की औद्योगिक उन्नति ने इसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी पैदा कर दिए थे। फिर भी अपने विश्वव्यापी साम्राज्य की विशाल जनशक्ति, औद्योगिक उत्पादन और साधन सामग्री के कारण १६१४ तक उसकी सर्वोच्च प्रभुता बनी रही। किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण उसमें क्षीणता आने लगी, इसके प्रमुख कारण जापान और अमेरिका के साथ आर्थिक क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता का बढ़ना, ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति और आन्दोलन प्रबल होना, वामपक्षी (Leftist) तथा साम्यवादी आन्दोलनों की प्रभाव-वृद्धि, हवाई शक्ति के विकास से नौशक्ति को धक्का पहुँचना, इंगलैंड के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार उद्योगों तथा व्यवसायों का तथा विश्व व्यापार का चौपट होना, उपनिवेशों के साथ सम्बन्धों में परिवर्तन का आना था। अतः प्रथम विश्व-युद्ध के बाद ब्रिटिश विदेशनीति के निर्माण में कई नवीन तत्त्वों का समावेश हो गया। यह नीति अब पहले की अपेक्षा उपनिवेशों पर अधिक निर्भर रहने लगी, आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली अमेरिका के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की आवश्यकता

तीव्रता से अनुभव की जाने लगी, अपने व्यापार की वृद्धि के लिए विश्व तथा योरोप के व्यापार को बढ़ाना, आर्थिक पुनर्निर्माण और सुदृढ़ता ब्रिटेन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया, व्यापार की वृद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थायी व्यवस्था आवश्यक थी। इन सब तत्त्वों ने १९१९ के बाद ग्रेट ब्रिटेन की फ्रांस, जर्मनी, सं० रा० अमेरिका तथा राष्ट्रसंघ के प्रति उसकी नीति को निर्धारित किया, यह नीति मुख्यत: तुष्टीकरण (Appeasement) की नीति कही जा सकती है, इसका उद्देश्य जापान, जर्मनी, इटली आदि असन्तुष्ट राष्ट्रों को उनकी माँगें पूरी करते हुए सन्तुष्ट रखना और इस प्रकार संसार में शान्ति बनाये रखना था। नेविल चेम्बरलेन द्वारा, म्यूनिक समझौते के समय १९३८ में यह नीति अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची, किन्तु सामान्यत: ब्रिटेन १९१९-१९३९ तक इस नीति का अनुसरण करता रहा। इसके मुख्य समर्थक इंगलैंड में सर जान साइमन, होर, हैलिफैक्स और चेम्बरलेन तथा फ्रांस में लावाल, दलादिये (Daladie), बोन्ने (Bonnet) और ब्लूम (Blum) थे। इसके मुख्य आधार निम्नलिखित थे :—

तुष्टीकरण की नीति (Appeasement Policy) **के प्रमुख आधार**—(१) **साम्यवाद का तथा साम्यवादी रूस का आतंक**—बोल्शेविक क्रान्ति ने इंगलैंड के पूंजीपति शासक वर्ग को बहुत भयभीत कर दिया था, इससे वे साम्यवाद को और सोवियत रूस को अपना प्रधान शत्रु समझने लगे थे। इस समय ब्रिटेन में साम्यवाद के प्रति इतनी अधिक घृणा और विद्वेष था कि इसका लाभ उठाते हुए कोई भी शक्ति उन्हें बेवकूफ बना सकती थी और रूस-विरोधी होने की घोषणा करके उनका सहयोग और समर्थन पा सकती थी। हिरोहितो, हिटलर और मुसोलिनी ने इसका पूरा लाभ उठाया, मंचूरिया में जापान के आक्रमण को ब्रिटिश विदेश-मन्त्री सर जान साइमन ने इसलिए उपेक्षा की दृष्टि से देखा कि जापान यहां मंचूरिया से नहीं, किन्तु कम्यूनिज्म से लड़ रहा था और रूस पर हमले की तैयारी कर रहा था। जर्मनी द्वारा वर्साय की सन्धि की शस्त्रास्त्रों को नियन्त्रण करने की, राइन प्रदेश की विसैन्यीकरण (Demilitarization) आदि व्यवस्थाओं के भंग का विरोध इंगलैंड ने इसलिए नहीं किया कि हिटलर सदा कम्यूनिस्टों को गालियां देता रहता था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का यह विचार था कि सोवियत रूस के विनाश के लिए जर्मनी का पूरा समर्थन किया जाना चाहिए। लायड जार्ज ने २८ नवम्बर, १९३४ को ब्रिटिश लोकसभा में कहा था—"बहुत थोड़े समय में—एक या दो वर्ष के भीतर इस देश के अनुदार तत्त्व जर्मनी को योरोप में साम्यवाद के विरुद्ध रक्षा की दीवार समझेंगे, वह योरोप के केन्द्र में है और यदि साम्यवादियों के विरुद्ध उसकी रक्षापंक्ति भंग होती है तो सारे योरोप में साम्यवाद फैलने की आशंका है। दो या तीन वर्ष पहले मुझे एक जर्मन राजनीतिज्ञ ने कहा था—"मुझे नात्सीवाद का नहीं, किन्तु साम्यवाद का भय है, यदि जर्मनी पर साम्यवादियों का अधिकार हुआ तो सारा योरोप इसका अनुसरण करेगा। हमें जर्मनी की निन्दा करने में जल्दी नहीं करनी चाहिए, हमें उसका अपने मित्रों की भांति स्वागत

करना चाहिए।"५८ इससे यह स्पष्ट है कि ग्रेट ब्रिटेन द्वारा हिटलर के सब सन्धिभंगों और आक्रमणों को उपेक्षा से देखने का मूल कारण जर्मनी द्वारा साम्यवाद के विरुद्ध किया जाने वाला विषैला प्रचार था। रूस के विरुद्ध इसी घृणा और उपेक्षा के कारण १९३९ में इंगलैंड और रूस का समझौता नहीं हो सका।

(२) **शक्तिसन्तुलन का विचार**—ग्रेट ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति का एक मुख्य प्रेरक हेतु शक्तिसंतुलन (Balance of Power) का परम्परागत पुराना विचार था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का यह विचार था कि एशिया और योरोप में उत्कर्ष प्राप्त करने वाली तीनों शक्तियां—जापान, सोवियत रूस और जर्मनी—एक-दूसरे के साथ संघर्ष करके क्षीण हो जायेंगी और प्रत्येक दशा में इंगलैंड इससे लाभान्वित होगा। यदि जर्मनी और उसके साथी सोवियत रूस को हरा देते हैं तो साम्यवाद का संकट समाप्त हो जायगा, किन्तु इसे हराते हुए जर्मनी स्वयमेव बहुत क्षीण हो जायगा। यदि इस संघर्ष में जर्मनी हारता है तो हिटलर का संकट दूर हो जायगा। यदि सोवियत रूस के तनिक भी सफल होने की आशा हो तो इंगलैंड जर्मनी को पूरा सहयोग देने को तैयार था। इसीलिए उसने जर्मनी के शस्त्रीकरण का, वर्साय तथा लोकार्नों की सन्धियों के भंग का, आस्ट्रिया और चैकोस्लोवाकिया हड़पने का, जापान द्वारा मंचूरिया के जीतने का, तथा इटली द्वारा एबीसीनिया को हथियाने का उग्र तथा क्रियात्मक विरोध नहीं किया।

किन्तु यह नीति ब्रिटेन को बड़ी महंगी पड़ी क्योंकि धुरीराष्ट्रों को दी गयी प्रत्येक सुविधा के साथ वे शक्तिशाली होते गए और इंगलैंड ने उनके विरोध में कोई वैसी प्रबल गुटबन्दी नहीं की, जैसी स्पेन के फिलिप द्वितीय, फ्रांस के लुई १४वें, नैपोलियन प्रथम तथा जर्मनी के विलियम कैसर द्वितीय के विरुद्ध की थी। यह गुटबन्दी रूस को मित्र बनाकर हो सकती थी, पर कम्यूनिज्म का हौआ इनकी मित्रता में बाधक था। अतः तुष्टीकरण की नीति में सच्चा शक्ति संतुलन न होने के कारण यह अन्ततोगत्वा दुर्बलता, कायरता और नपुंसकता की नीति बन गयी।

(३) **ब्रिटेन और फ्रांस के मतभेद**—तुष्टीकरण नीति का एक मुख्य कारण राष्ट्रसंघ, सामूहिक सुरक्षा, निःशस्त्रीकरण, क्षतिपूर्ति आदि सभी विषयों में लन्दन और पेरिस के दृष्टिकोणों में पाया जाने वाला उग्र विरोध था। इससे दोनों कभी संयुक्त होकर दृढ़तापूर्वक कार्य नहीं कर सके। फ्रांस जर्मनी के साथ कठोर व्यवहार करना चाहता था, किन्तु इंगलैंड में वर्साय की सन्धि की उग्र व्यवस्थाओं के कारण जर्मनी के प्रति सहानुभूति थी। वह अपनी व्यापार की वृद्धि के लिए उसका औद्योगिक पुनर्निर्माण आवश्यक समझता था, उसका उद्देश्य जर्मनी को सशक्त बनाना था, क्योंकि तभी वह सोवियत रूस के विरुद्ध खड़ा हो सकता था। अतः ब्रिटेन सदा वर्साय सन्धि की व्यवस्थाओं को उदार बनाने का, क्षतिपूर्ति की मात्रा कम करने का, जर्मनी को शस्त्रीकरण का अधिकार देने, जर्मन सीमान्तों को संधियों द्वारा संशोधित करने, राष्ट्रसंघ के विधान को उदार बनाने, पूर्वी योरोप की सीमाओं की सुरक्षा की गारण्टी न देने का पक्षपाती

---

५८. शूमैन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६०६

था। फ्रांस इनमें से प्रत्येक विषय में ब्रिटेन का विरोधी था और प्रायः १९३३ तक उसकी नीति ही चली, इसका परिणाम हिटलर का उत्कर्ष था। इसके बाद ब्रिटेन की नीति चली। आरम्भ में ब्रिटेन ने तुष्टीकरण की नीति जर्मनी के प्रति सहानुभूति के कारण अपनायी, १९३५ में इसका आधार सामयिक आवश्यकता थी, जब फ्रांस ने अंग्रेजों द्वारा हिटलर के साथ की गयी नौसैनिक संधि का विरोध किया तो ब्रिटेन ने यह उत्तर दिया कि जर्मनी को इस प्रकार उचित मात्रा तक शस्त्रीकरण का अधिकार देने से वह स्वयमेव अपने शस्त्रास्त्रों पर प्रतिबन्ध लगा लेगा। यह उस पर बलपूर्वक लगाये किन्तु पालन न हो सकने वाले प्रतिबन्धों से कहीं अधिक अच्छा है (देखिये पृ० १४१)। १९३६ में ब्रिटेन ने फ्रांस का विरोध होते हुए भी राइन प्रदेश के सैन्यीकरण का समर्थन "आत्म-निर्णय" के सिद्धान्त पर किया (पृ० १४३-४) और १९३७ के बाद आस्ट्रिया, चैकोस्लोवाकिया आदि में तुष्टीकरण का प्रधान कारण शान्ति बनाये रखने की चिन्ता थी।

(४) **शासक वर्ग की अक्षमता**—तुष्टीकरण का एक प्रधान कारण तत्कालीन ब्रिटिश शासकों का वास्तविक राजनीति की परिस्थितियों को तथा धुरीराष्ट्रों के शासकों और चरित्रों को ठीक तरह समझ सकने की अक्षमता थी। चेम्बरलेन बहुत समय तक हिटलर के शान्तिवाद पर झूठी आस्था करता रहा, ब्रिटिश नेताओं का यह भ्रान्त विश्वास था कि "छोटे राष्ट्रों को भेड़ियों के आगे डालने से उनको सन्तुष्ट किया जा सकता है", उन्हें यह नहीं ज्ञात था कि एक बार लहू का स्वाद लग जाने से तृष्णा कभी पूर्ण नहीं होती, जितना तुष्टीकरण किया जायगा, उतना ही असन्तोष बढ़ेगा। शूमैन ने लिखा है कि "यदि वाटर्लू का युद्ध ईटन (Eton) के मैदानों पर जीता गया था तो यह भी कम सत्य नहीं है कि उसके सवा सौ वर्ष बाद मैड्रिड, वियना, प्राग, वारसा, ओसलो, एमियेन्ज़ (Amiens) और डंकर्क की पराजय भी ईटन के मैदान में हुई थी।"[५९] सरल शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि ईटन, हैरो (Harrow) आदि के पब्लिक स्कूलों से शिक्षित होने वाले ब्रिटिश शासकवर्ग का मानसिक विकास और दृष्टिकोण इस समय इतना संकीर्ण तथा अनुदार हो चुका था कि वह विश्व की राजनीति की वास्तविक परिस्थितियों को समझने की सामर्थ्य नहीं रखता था। हिटलर हर बार सन्धि को भंग करके यह कहता था कि यह उसका अन्तिम सन्धिभंग है, कई बार धोखा खाने पर भी साम्यवाद की आशंका से विवेकान्ध होकर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ उस पर विश्वास करते रहे।

अब यहाँ विभिन्न देशों के साथ इंगलैण्ड की तुष्टीकरण की नीति को स्पष्ट किया जायगा।

जापान के साथ तुष्टीकरण की नीति—पहले यह बताया जा चुका है कि १८ सित० १९३१ को जापानी फौजों ने मुकदन पर अधिकार कर लिया था, चीन ने इस आक्रमण के विरुद्ध राष्ट्रसंघ में अपील की, किन्तु यहाँ ब्रिटिश प्रतिनिधि सर जान साइमन की उपेक्षा के कारण संघ ने इस विषय में कोई प्रभावशाली पग नहीं उठाया।

---

५९. शूमैन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६०४

हार्डी ने यह लिखा है कि राष्ट्रसंघ की यह कड़ी अग्निपरीक्षा थी, इसमें सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की प्रभावशालिता की पहली बार जांच होनी थी, किन्तु इसमें संघ द्वारा प्रतिबन्ध (Sanctions) लगाने में कई बड़ी कठिनाइयां थीं, प्रशान्त महासागर में अभिरुचि रखने वाली तीन महाशक्तियों में से रूस और सं० रा० अमेरिका संघ के सदस्य नहीं थे। यदि संघ इस विषय में कोई कार्यवाही करता तो सारे नौसैनिक कार्यों का भार अकेले ग्रेट ब्रिटेन पर पड़ता और वह अकेला इस कार्य को करने को तैयार नहीं था।[६०] किन्तु इसके अतिरिक्त बड़ा कारण सर जान साइमन का यह विश्वास था कि यदि जापान को मंचूरिया में रोका गया तो साम्यवादी रूस का प्रभाव आन्तरिक मंगोलिया, मंचूरिया और चीन में बढ़ जायगा।[६१] उसे साम्यवाद की यह प्रभाववृद्धि सह्य नहीं थी, अतः उसे रोकने के लिए जापान के चीन पर आक्रमण के सम्बन्ध में तुष्टीकरण की नीति अपनायी गयी। साम्यवाद के प्रतिरोध के अतिरिक्त इंगलैण्ड को इसमें दो अन्य लाभ भी थे, **पहला** तो यह कि इन दिनों चीन में राष्ट्रीयता के विकास के कारण विदेशियों के विशेषाधिकारों के विरुद्ध आन्दोलन प्रबल हो रहा था, चीन पर जापान के आक्रमण से उसके दब जाने की संभावना थी। **दूसरा** लाभ यह था कि यदि चीन में जापान को रोका जाता तो वह अपने विस्तार के लिए दक्षिण-पूर्वी एशिया के ब्रिटिश प्रदेशों की ओर दृष्टि दौड़ाता। अब चीन में उलझ जाने से ये प्रदेश जापानी आक्रमण से सुरक्षित हो गए।

इन कारणों से तुष्टीकरण का अवलम्बन करते हुए ग्रेट ब्रिटेन ने राष्ट्रसंघ में जापान के विरुद्ध कार्यवाही करने में काफी टालमटोल की, मंचूरिया पर जापान की विजय स्वीकार कर ली गयी, सर फ्रेडरिक लीथरास की अध्यक्षता में एक सरकारी मिशन जापान को सन्तुष्ट करने के लिए भेजा गया। किन्तु इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ, तुष्टीकरण के इस पहले प्रयोग में इंगलैंड को भारी विफलता मिली। ब्रिटेन की इस नीति को जापान ने उसकी दुर्बलता का चिह्न समझा। इससे उसका साहस बढ़ गया, उसने राष्ट्रसंघ के आदेशों की खुलेआम अवहेलना की, चीन के अन्य प्रदेशों को जीतने की नीति अपनायी और सुदूरपूर्व में ब्रिटिश व्यापारियों और प्रजाजनों को अपमानित करना शुरू किया, १९३७ में उसने ब्रिटिश राजदूत सर ह्यूग माण्टगोमरी के शरीर को भी चोट पहुँचायी। यह 'ब्रिटिश सिंह की मूँछों को मरोड़ना था', फिर भी उसने इस पर अपना पंजा झाड़ना तो क्या दहाड़ भी नहीं मारी। इस समय जापान तेजी से चीन को जीत रहा था, किन्तु इंगलैण्ड का व्यापारी वर्ग निर्बल और निर्दोष चीन की हत्या के लिए जापान भेजे जाने वाले हथियारों पर प्रतिबन्ध लगाने का विरोधी था, क्योंकि इससे ब्रिटिश उद्योग को हानि पहुँचने की संभावना था। जापान का तुष्टीकरण ग्रेट ब्रिटेन के लिए हर दृष्टि से घाटे का सौदा था। इससे यह स्पष्ट हो गया कि पश्चिमी राष्ट्र केवल बातों के धनी हैं, तलवार के नहीं; वे केवल निन्दा

---

६०. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३१९

६१. शमैन—पर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५२०

का प्रस्ताव पास कर सकते हैं, उसे क्रियान्वित करने का सामर्थ्य और साहस नहीं रखते। उनके वाचिक विरोध के बावजूद जापान ने सुदूरपूर्व में अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। इससे योरोप में मुसोलिनी और हिटलर को भी नये आक्रमण करने और साम्राज्य बनाने की प्रेरणा मिली। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि रोम और बर्लिन ने तो टोकियो से साम्राज्यनिर्माण का पाठ पढ़ा, किन्तु लन्दन और पेरिस ने इससे तुष्टीकरण की नीति की विफलता के बारे में कोई नयी बात नहीं सीखी।

इटली का तुष्टीकरण—सर जान साइमन और चेम्बरलेन ने जिस प्रकार जापान को सन्तुष्ट करने की विफल चेष्टा की, उसी प्रकार ब्रिटिश विदेश-मन्त्री सर सेमुअल होर, लार्ड हैलीफैक्स तथा फ्रेंच विदेश-मन्त्री लावाल (Laval) ने इटली को प्रसन्न करने का निष्फल प्रयास किया। पहले यह बताया जा चुका है कि इटली १९१९ के पेरिस समझौते से अप्रसन्न था (पृ० १६२) और वह मुसोलिनी के नेतृत्व में अफ्रीका में विशाल साम्राज्य का निर्माण करके भूमध्यसागर को रोमन झील बनाना चाहता था। मुसोलिनी जूलियस सीज़र बनने के सपने ले रहा था और भूमध्यसागर में उसका फ्रांस और ब्रिटेन के स्वार्थों के साथ उग्र संघर्ष था। इस समय हिटलर का उत्कर्ष होने लगा था। फ्रांस और ब्रिटेन दोनों उसे हिटलर से पृथक् रखना चाहते थे। सर्वप्रथम फ्रेंच विदेश-मन्त्री लावाल ने रोम जाकर मुसोलिनी की अभ्यर्थना की, उसके साथ ७ जनवरी, १९३५ को किये समझौते में गुप्त रूप से उसे एबीसीनिया में मनमाना कार्य करने की स्वतन्त्रता दी। यद्यपि सार्वजनिक रूप में उसने इसका खण्डन किया, किन्तु वैयक्तिक वार्त्तालाप में उसने जूल रोमैं (Jules Romains) को कहा था, "मैंने मुसोलिनी को इथियोपिया दे दिया है"[६२]। लावाल की इस नीति से ब्रिटिश विदेश-मन्त्री सेमुअल होर भी सहमत हो गया (७ जून, १९३५)।

ब्रिटेन इस समय मुसोलिनी को संतुष्ट करने के लिए इतना आतुर था कि ईडन ने २४ जून को रोम जाकर वहाँ विभिन्न प्रदेशों के विनिमय के कुछ प्रस्ताव रखे, इनमें एबीसीनिया द्वारा कुछ प्रदेश इटली को देने की तथा फ्रांस और ब्रिटेन द्वारा अन्य प्रदेश एबीसीनिया को देने की व्यवस्था थी। किन्तु रोम ने इसे रद्द कर दिया, क्योंकि मुसोलिनी इसे शस्त्रों द्वारा जीतने का निश्चय कर चुका था। उसने एबीसीनिया पर चढ़ाई कर दी।

अब ब्रिटिश लोकमत को सन्तुष्ट रखने के लिए होर के लिए राष्ट्रसंघ में इटली का विरोध करना तथा उस पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक हो गया, किन्तु यह निरा ढोंग था, क्योंकि १० सितम्बर, १९३५ को होर ने लावाल के साथ गुप्त रूप से यह समझौता किया कि इटली के विरुद्ध संघ द्वारा न तो सैनिक कार्यवाही की जाय, न ही उसका समुद्री जहाजों द्वारा आर्थिक प्रतिरोध (Naval Blockade) किया जाय, न ही उसके जहाजों के लिए स्वेज नहर बन्द की जाय।[६३] वैयक्तिक रूप से दोनों ने

---

६२. शूमैन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२६

६३. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४११

मुसोलिनी को यह विश्वास दिलाया कि उसे किसी बात से डरने की आवश्यकता नहीं है। उसने निर्भय होकर १ अक्टूबर, १९३५ को एबीसीनिया पर चढ़ाई की आज्ञा दी, ७ अक्टूबर को संघ की परिषद् ने इटली को आक्रान्ता घोषित किया और ८ नवम्बर [illegible] ने इटली को हथियार भेजने, इटली से माल मँगाने, इटली को वित्तीय सहायता देने पर प्रतिबन्ध लगा दिए। ब्रिटेन ने ये सब कार्य दिखावटी तौर पर सामूहिक सुरक्षा में विश्वास रखने वाले ब्रिटिश मतदाताओं को प्रसन्न रखने के लिए किये। इनके कारण १४ नवम्बर के आम चुनावों में बाल्डविन का मन्त्रिमण्डल विजयी हुआ। किन्तु इसके तीन सप्ताह बाद ही मतदाताओं को दी गयी प्रतिज्ञाओं के विरोध में होर ने लावाल के साथ इस समस्या को सुलझाने के लिए कुख्यात समझौता—**होर लावाल पैक्ट** किया गया (७ दिसम्बर, १९३५)। इसके अनुसार एबीसीनिया का दो-तिहाई भाग इटली को देने तथा इसके बदले में एबीसीनिया को रक्त समुद्र तक पहुँचने के लिए एरिट्रिया के इटालियन प्रदेश में एक तंग गलियारा देने के प्रस्ताव थे।[६४] दुर्भाग्यवश यह समझौता फ्रेंच पत्रों में प्रकाशित होने से प्रकट हो गया, ब्रिटिश जनता को यह विचार सर्वथा असह्य प्रतीत हुआ कि एबीसीनिया पर हमला करने वाले इटली को इस प्रकार उस राज्य के बड़े भाग की बलि देकर सन्तुष्ट किया जाय। ब्रिटिश लोकमत के प्रबल विरोध के कारण होर को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

यह समझौता इटली के तुष्टीकरण का चरमोत्कर्ष था। किन्तु इसके परिणाम ब्रिटेन के लिए हितकर नहीं हुए, इससे न तो मुसोलिनी सन्तुष्ट हुआ और न यह समझौता उसे हिटलर की मैत्री से विरत कर सका। इसके विपरीत—प्रतिबन्ध लगाने से—रोम का रोष बढ़ गया, ब्रिटेन ने इन्हें प्रभावहीन बनाने का पूरा प्रयत्न किया था, किन्तु इटली इन्हें लगाने वाले को कभी नहीं भूल सकता था। इससे अच्छा तो यही था कि ये प्रतिबन्ध न लगाये जाते, तब मुसोलिनी का हिटलरविरोधी बना रहना संभव था। किन्तु प्रभावहीन रूप में इन्हें लगाने से ब्रिटेन की स्थिति 'माया मिली न राम' वाली हुई, न तो वह इटली के आक्रमण से एबीसीनिया की रक्षा कर सका, न उसने मुसोलिनी की मैत्री प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की, और इसके साथ ही राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की भी हत्या कर दी। शूमैन ने लिखा है—"लावाल-

---

६४. हार्डी (पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४१५) ने इस समझौते को करने का यह कारण बताया है कि इस समय राष्ट्रसंघ के सम्मुख इटली को भेजे जाने वाले तेल पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव आने वाला था, इटली यह घोषणा कर चुका था कि ऐसा प्रस्ताव शत्रुता का कार्य समझा जायगा। होर इससे पहले ही दोनों देशों में इस समझौते द्वारा शान्ति स्थापित करवाना चाहता था। होर ने अपनी तुष्टीकरण की नीति का समर्थन निम्न कारणों से किया था—(१) इस समय इंगलैंड के अतिरिक्त कोई देश सैनिक कार्यवाही करने को तैयार नहीं था। (२) यदि सैनिक कार्यवाही की जाती तो यह केवल इटली और इंग्लैण्ड का संघर्ष होता, इससे राष्ट्रसंघ को बहुत हानि पहुँचती, उसकी रक्षा के लिए शान्तिपूर्ण नीति आवश्यक थी। (३) ग्रेट ब्रिटेन की इस समय सैनिक तैयारी पर्याप्त नहीं थी, फ्रांस को साथ रखना और जर्मनी को रोकना आवश्यक था। देखिये हार्डी— पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४१२-५

होर की अपवित्र सौदेबाजी की पहली बलि एबीसीनिया था, दूसरी और बड़ी बलि राष्ट्रसंघ था और अन्तिम बलि फ्रांस और ब्रिटेन, क्योंकि मुसोलिनी ने हिटलर के विरोध के प्रलोभन द्वारा इनसे एबीसीनिया ले लिया और इसे लेने के बाद इनके शत्रु हिटलर से मैत्री कर ली।[६५] इस प्रकार इटली के साथ तुष्टीकरण की ब्रिटिश नीति सर्वथा विफल रही।

जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति—१९१९ से ग्रेट ब्रिटेन जर्मनी के प्रति दार नीति का पक्षपाती था, पहले यह बताया जा चुका है कि क्षतिपूर्ति के प्रश्न और रूर पर अधिकार के समय उसने फ्रांस का विरोध करते हुए जर्मनी को सन्तुष्ट रखने की नीति अपनाई थी (पृ० ७०-७२)। हिटलर के उत्थान के बाद भी उसकी यही नीति बनी रही। इसके परिणामस्वरूप उसने जर्मनी द्वारा अनिवार्य सैनिक सेवा सम्बन्धी वर्साय की व्यवस्था के भंग को (१६ मार्च, १९३५) उपेक्षा की दृष्टि से देखा (पृ० १४०), उसके साथ **एंग्लो जर्मन नौसैनिक समझौता** (पृ० १४१–२) किया (१८ जन १९३५), राइन प्रदेश में विसैन्यीकरण की वर्साय तथा लोकार्नो सन्धियों के उल्लंघन (पृ० १४२–३) के विरुद्ध कोई क्रियात्मक प्रतिवाद नहीं किया। हिटलर द्वारा १२ मार्च, १९३८ को आस्ट्रिया को भी हड़पने का भी आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर समर्थन किया (पृ० १४६)। स्पेन के गृहयुद्ध में भी ब्रिटिश नीति फासिस्ट शक्तियों द्वारा फ्रांको को दी जाने वाली प्रबल सहायता को नहीं रोक सकी।

तुष्टीकरण के प्रेरक हेतु—किन्तु जर्मनी के साथ तुष्टीकरण की पराकाष्ठा चैकोस्लोवाकिया के सम्बन्ध में किया गया म्यूनिक समझौता था (देखिए पृ० १५२–३) यह चर्चिल के शब्दों में "ब्रिटेन की पूर्ण पराजय" थी। फिर भी चेम्बरलेन ने इसे जर्मनी को सन्तुष्ट रखने के लिए किया। चेम्बरलेन द्वारा हिटलर के आगे इस समय झुकने के अनेक कारण बताये जाते हैं। **पहला** और तुष्टीकरण की नीति का सामान्य मूल कारण ग्रेट ब्रिटेन में जनता का यह विश्वास था कि १९१९ की वर्साय सन्धि जर्मनी के प्रति अन्यायमूलक थी, उसने जर्मनी पर युद्ध छेड़ने का उत्तरदायित्व डाल कर, जबर्दस्ती उसका निःशस्त्रीकरण करके, क्षतिपूर्ति की राशि थोप कर तथा उससे जर्मन प्रदेश छीनकर उसके साथ घोर अन्याय किया है; शान्ति तभी स्थायी रह सकती है, जब जर्मनी के साथ हुए इन अन्यायों को दूर कर दिया जाय। चैकोस्लोवाकिया के मामले में यह समझा जाता था कि यह अल्पसंख्यकों की समस्या है, जर्मनी ने इस बात का बहुत सफलतापूर्वक प्रचार किया था कि स्यूडेटन जर्मनों की चैकराज्य में बड़ी दुर्दशा है, आत्मनिर्णय (Selfdetermination) के सिद्धान्त के अनुसार इन्हें जर्मनी में मिलने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। वस्तुतः अल्पसंख्यकों का दुर्व्यवहार केवल एक बहाना था, यह यहूदियों की अल्पसंख्या को जर्मनी में नेस्तनाबूद करने वाले नात्सियों के मुख से शोभा नहीं देता था, किन्तु पश्चिमी राजनीतिज्ञ हिटलर के प्रचार-जाल में फंस गए और यह नहीं समझ सके कि यह केवल अल्पसंख्यकों का प्रश्न नहीं, किन्तु हिटलर की चैकोस्लोवाकिया को

६५. शूमैन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२६

हड़पने की तथा पूर्वी और मध्य योरोप में हावी होने की आरम्भिक तैयारी है।[६६] म्यूनिक समझौते का **दूसरा कारण** डेविड थाम्पसन ने पश्चिमी राष्ट्रों की तथा ग्रेट ब्रिटेन की **सैनिक निर्बलता बताया है।**[६७] यह समझा जाता है कि ब्रिटेन के पास हिटलर के आक्रमण को रोकने का सामर्थ्य नहीं था ? उसका पुनःशस्त्रीकरण का प्रोग्राम अभी अधूरा था, जर्मनी की वायुशक्ति ब्रिटेन और फ्रांस की हवाई सेना से उत्कृष्ट थी, उपनिवेश चैकोस्लोवाकिया जैसे दूर देश की सुरक्षा के लिए लड़ने को और अपनी सेनायें भेजने को तैयार नहीं थे। संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति १६३७ तक बिल्कुल तटस्थता की थी। रूस पर इङ्गलैंड को अधिक भरोसा नहीं था, उसकी सेना पिछली शुद्धियों से (Purges) से निर्बल हो चुकी थी (देखिये पृ० १४४), यद्यपि चैकोस्लोवाकिया की रक्षा के लिए रूस तैयार था किन्तु इङ्गलैंड और फ्रांस का यह मत था कि रूसी सेनायें इस समय चैकों की रक्षा नहीं कर सकतीं, क्योंकि इन दोनों राज्यों के बीच में पोलैण्ड और रूमानया पड़ते थे; ये दोनों अपने प्रदेश में से रूसी फौजों के गुजरने की अनुमति देने के विरोधी थे। **तीसरा कारण** चेम्बरलेन द्वारा पशुबल का विरोध तथा सम्मेलनों और समझौतों द्वारा सब अन्तरर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने में अगाध विश्वास था।[६८] **हार्डी ने इसे म्यूनिक समझौते का वास्तविक कारण** माना है। उसका यह मत है कि राष्ट्रसंघ की विफलता के बाद अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को रोकने का यही एकमात्र उपाय था, चेम्बरलेन इसके लिए अधिकतम मूल्य चुकाने को तैयार था, किन्तु कोरे पशुबल के समक्ष नतमस्तक होने को उद्यत न था, इसीलिए उसने इस समय बार-बार सम्मेलनों द्वारा सब समस्यायें हल करने पर बल दिया। म्यूनिक में उसे यह सन्तोष था कि चैक प्रश्न का निर्णय चार राष्ट्रों के सम्मेलन द्वारा हुआ है। **चौथा कारण** चेम्बरलेन का तथा उसके साथियों का यह विश्वास था कि यदि हिटलर और मुसोलिनी की कुछ शिकायतें दूर कर दी जायँ, उनके साथ हुए अन्यायों का प्रतिशोध कर दिया जाय तो वे सन्तुष्ट हो जायेंगे और सब जटिल प्रश्नों का निर्णय शान्तिपूर्वक हो सकेगा। चेम्बरलेन की समूची नीति इस विश्वास पर आधारित थी और उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न उसने पूरी ईमानदारी से किया। इसके क्रियान्वय में चेम्बरलेन ने कोई भूल नहीं की, उसकी सबसे बड़ी भूल इस विश्वास का भ्रान्तिपूर्ण होना था कि हिटलर और मुसोलिनी की महत्त्वाकांक्षा और तृष्णा को शान्त किया जा सकता है। पहले यह बताया जा चुका है कि हिटलर की महत्त्वाकांक्षायें उसकी माँगें पूरी होने पर किस प्रकार सरसा के वदन

---

६६. डेविड थाम्सन—योरोप सिन्स नैपोलियन, पृ० ७०६

६७. वही, पृ० ७११ हार्डी ने इसका बड़ा खण्डन किया है (पृ० ४७६–७७) और इसका यह कारण दिया है कि गोडेसबर्ग के बाद ब्रिटेन ने लड़ाई की तैयारी शुरू कर दी थी, यदि ग्रेट-ब्रिटेन वस्तुतः लड़ाई के लिए तैयार न होता तो चेम्बरलेन कभी ऐसा न करता। १६३६ की अपेक्षा १६३८ में जर्मनी के साथ लड़ने के लिए ब्रिटेन का सामर्थ्य अधिक था, इस समय उसके पास ३०–४० डिवीजन चैक सेना थी तथा रूस के समर्थन का पूरा भरोसा था।

६८. हार्डी—वही पुस्तक, पृ० ४७७

की भाँति निरन्तर बढ़ती चली गयीं और मार्च १९३९ में हिटलर द्वारा शेष चैकोस्लोवाकिया हड़प लेने पर चेम्बरलेन की यह भ्रान्ति दूर हुई, और उसने अपनी बिरमिंघम वक्तृता में तुष्टीकरण की नीति का परित्याग किया। (देखिये पृ० १५७)

बोहीमिया और मोराविया को हड़पने के बाद जब हिटलर ने डैन्जिग के प्रदेश को हस्तगत करने के लिए १ सितम्बर को पौलेण्ड पर हमला किया तो तुष्टीकरण नीति के सबसे बड़े समर्थक चेम्बरलेन ने स्वयमेव इसकी निष्फलता स्वीकार करते हुए ३ सितम्बर, १९३९ को जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा करते हुए कहा—"आज का दिन हम सब के लिए दुःख का दिवस है, और इस समय मुझ से अधिक कोई दुःखी नहीं है। आज वे सब वस्तुएं खण्डित हो चुकी हैं, जिनके लिए मैंने अपने सार्वजनिक जीवन में प्रयत्न किया है, जिनकी आशा रक्खी है और जिनमें विश्वास रखा है।" तुष्टीकरण की विफलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है। इसने राष्ट्रसंघ की समाप्ति की, सामूहिक सुरक्षा (Collective security) व्यवस्था की अन्त्येष्टि की, योरोप के शान्ति सन्तुलन को विनष्ट किया, फासिस्ट और नात्सी नेताओं की तृष्णा तथा साहस बढ़ाया और इससे द्वितीय विश्वयुद्ध का दावानल प्रज्वलित हुआ। फ्रांस की नीति भी इंगलैण्ड के समान तुष्टीकरण की थी, उसका पृथक् वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेशनीति

विदेशनीति के दो मुख्य आधार—(१) पार्थक्य (Isolation)—सं० रा० अमेरिका की आरम्भिक विदेशनीति के दो मुख्य आधार पार्थक्य और मुनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) थे। १७९७ में प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन ने अपने विदाई के भाषण में पार्थक्य नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था—"विदेशों के सम्बन्ध में हमारे व्यवहार का महान् नियम यह है कि हम उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखें, किन्तु राजनीतिक सम्बन्ध यथासम्भव कम से कम रखें।...हमारी सच्ची नीति यह है कि हम विदेशी जगत के किसी भी अंग के साथ स्थायी सन्धियाँ न करें।" इस प्रकार सं० रा० अमेरिका योरोप के झगड़ों से बिल्कुल पृथक् और तटस्थ रह कर अपनी उन्नति करना चाहता था, अतः उसकी नीति पार्थक्यवादी कही जा सकती है।[६९] किन्तु १८२३ में

६९. अमेरिका की नीति को पूर्णरूप से पार्थक्यवादी (Isolationist) कहना भ्रांतिपूर्ण है। उसने अपनी स्वतन्त्रता को तभी प्राप्त किया, जबकि ६ फरवरी १७७८ को उसने फ्रांस के साथ सैनिक सन्धि करके उससे बहुमूल्य सहायता उपलब्ध की और स्पेन और पुर्तगाल ने भी उसे मदद पहुंचाई। अमेरिका के पार्थक्य का आशय केवल इतना ही था कि योरोपियन राष्ट्रों की पारस्परिक सन्धियों के युद्ध में उलझाने वाले जाल से पृथक् रहा जाय। नवीन एवं निर्बल सं० रा० अमेरिका के लिए यह नीति वैसी ही उपयोगी थी जैसी आजकल भारत की महाशक्तियों की विभिन्न गुटबन्दियों से पृथक् रहने की विदेशनीति है। किन्तु सं० रा० अमेरिका का यह पार्थक्य केवल योरोप के मामलों तक ही था। उसने पश्चिमी गोलार्द्ध के अन्य अमेरिकी राज्यों के बारे में कभी पार्थक्य की नीति का अनुसरण नहीं किया, ना ही एशिया के सम्बन्ध में इसका पालन किया। इससे सर्वथा विपरीत १८५४ में सं० रा० अमेरिका की नौसेना ने जापान को अपनी

जब प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस के 'पवित्र संघ' (Holy Alliance) ने स्पेन में निरंकुश शासन के विरुद्ध हुई क्रान्ति को दबाने के बाद स्पेन के दक्षिण अफ्रीका के उपनिवेशों में मैड्रिड के विरुद्ध हुए स्वतन्त्रता आन्दोलनों को दबाना चाहा तो २ दिसम्बर, १८२३ को तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति मुनरो ने अपनी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक घोषणा में कहा— (१) "योरोपियन शक्तियों के युद्धों में हमने कभी कोई भाग नहीं लिया और न कभी भाग लेने का विचार है, हम इनसे सर्वथा पृथक् रहे हैं।" (२) संयुक्त राज्य अमेरिका अपनी शान्ति और सुख की दृष्टि से अमेरिका के किसी भाग में योरोपियन शक्तियों की राजनीतिक सत्ता विस्तृत नहीं होने देगा और उन्हें दक्षिण अमेरिका के गणराज्यों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करने देगा। (३) अमेरिकन महाद्वीप का प्रदेश भविष्य में योरोपियन शक्तियों द्वारा उपनिवेशन (Colonisation) का क्षेत्र नहीं बनाया जा सकता। यही सुप्रसिद्ध **मुनरो सिद्धान्त** (Monroe Doctrine) है। आपेनहाइम (Oppenhime) के कथनानुसार इसने अमेरिकन विदेशनीति का यह मौलिक सिद्धान्त निश्चित किया है कि अमेरिकन महाद्वीप में अमेरिका से भिन्न कोई शक्ति अपना प्रादेशिक विस्तार नहीं करेगी और सं० रा० अमेरिका योरोपियन राजनीति के किसी मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा। यह सिद्धान्त १९वीं शताब्दी में अमेरिकन विदेशनीति का मूलाधार माना जाता रहा है, जब कभी योरोपियन महाशक्तियों ने अमेरिका के किसी प्रादेशिक मामले में हस्तक्षेप करना चाहा तो अमेरिकन राजनीतिज्ञों ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि नई दुनिया के अमेरिकन महाद्वीप में उनकी सर्वोच्च सत्ता है, यहां उसकी इच्छा ही कानून है।

वस्तुतः अमेरिका की पार्थक्यवादी नीति और मुनरो सिद्धान्त १०० वर्ष तक इस लिए सुचारु रूप से चलते रहे कि इस समय विश्व में शक्ति सन्तुलन तीन कारणों से बना हुआ था—(१) अटलांटिक महासागर में तथा अन्य समुद्रों में ब्रिटिश नौशक्ति की प्रधानता और ब्रिटेन के साथ अमेरिका की मित्रता। (२) योरोपियन महाद्वीप में शक्ति सन्तुलन का बना रहना, नैपोलियन के बाद योरोप में कैसर के अभ्युत्थान से पहले तक कोई ऐसी शक्ति नहीं थी, जो समूचे योरोप में हावी होती या ब्रिटिश साम्राज्य को हानि पहुँचाती। (३) योरोप या एशिया में किसी शक्ति या शक्तियों के गुट का अभाव जो सं० रा० अमेरिका या दक्षिण अमेरिका को हानि पहुँचा सके। अतः शूमैन के शब्दों में जब तक ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति सर्वोच्च बनी रही, तब तक सं० रा० अमेरिका पार्थक्य की नीति का अनुसरण करता रहा और इसके अनुकूल तटस्थता (Neutrality), समुद्रों

परम्परागत पार्थक्यवादी नीति का परित्याग करने के लिए बाधित किया। १९०० में चीन के बाक्सर विद्रोह में सं० रा० अमेरिका की सेनाओं ने हस्तक्षेप किया, सुदूरपूर्व के मामलों में सामान्य रूप से गहरी दिलचस्पी ली (लिंकन तथा पेडलफ़ोर्ड—इण्टरनेशनल पालिटिक्स, पृ० ५०२)। अतः शूमैन ने यह ठीक ही लिखा है कि वास्तविक राजनीति (Realpolik) की परिभाषा में पार्थक्य (Isolationism) तथा इस पर आधारित अहस्तक्षेप और झगड़ों में न उलझने (Non-entanglement) द्वारा सुरक्षा पाने की नीति का वस्तुतः कभी अस्तित्व नहीं रहा (इण्टरनेशनल पालिटिक्स, पृ० ६२४)।

की स्वतन्त्रता (Freedom of the Seas) तटस्थ देशों के व्यापारिक अधिकारों, सुदूर-पूर्व में सब शक्तियों को व्यापार के समान अवसर देने की उन्मुक्त द्वार नीति (Open Door Policy) का समर्थन करता रहा।

प्रथम विश्वयुद्ध में सम्मिलित होने कारण—१९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ने पर सं० रा० अमेरिका ने १७९३ ई० से अपनी परम्परागत योरोपियन युद्धों से पृथक् रहने की नीति के अनुसार तटस्थता (Neutrality) की घोषणा की क्योंकि यह न केवल उसे सुरक्षा देने वाली थी, अपितु उसे भारी लाभ पहुँचाने वाली भी थी, उसके उद्योगों के लिए बड़ी हितकर थी। उसके उद्योगपति और व्यापारी दोनों पक्षों को युद्ध का आवश्यक सामान देकर खूब मुनाफा कमाने लगे। किन्तु मित्रराष्ट्रों द्वारा जर्मनी के आर्थिक तटरोध (Blockade) द्वारा इसमें भारी बाधा उत्पन्न हुई, इसके विरोध में जर्मनी ने पनडुब्बियों द्वारा मित्रराष्ट्रों के जहाजों को डुबाना शुरू किया। इस पर अमेरिका ने समुद्रों की स्वतन्त्रता (Freedom of Seas) और तटस्थ देशों के अधिकारों (Neutral Rights) पर बड़ा बल दिया, विल्सन की १४ शर्तों में दूसरी शर्त समुद्रों की स्वाधीनता के सम्बन्ध में थी। इस समय अमेरिकन पूंजीपति मित्रराष्ट्रों की सरकारों को भारी कर्ज दे रहे थे, बहुत बड़े मुनाफे के साथ उन्हें शस्त्रास्त्र तथा अन्य वस्तुयें बेच रहे थे। मित्रराष्ट्रों की हार का अर्थ इनका दिवालिया होना था, इससे अमेरिकी व्यापारियों की पूंजी डूबने का डर था। अतः अमेरिका का हित मित्रराष्ट्रों की विजय में था। जर्मनी की विजय से सं० रा० अमेरिका को न केवल भीषण आर्थिक क्षति थी, किन्तु इससे योरोप के शक्तिसन्तुलन बिगड़ने की तथा न केवल योरोपियन महाद्वीप में अपितु समूचे विश्व में जर्मनी के हावी होने की और अमेरिकन सुरक्षा के संकटापन्न होने की आशंका थी। अतः सं० रा० अमेरिका का स्वार्थ और हित इसी में था कि मित्रराष्ट्र विजयी हों। किन्तु उनके पक्ष को जनता की दृष्टि में न्याय्य सिद्ध करने के लिए यह कहा जाने लगा कि जर्मनी में निरंकुश शासन (Autocracy) है, मित्रराष्ट्र लोकतन्त्र (Democracy) की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं, उनकी सहायता करना अमेरिका के लोकतन्त्र का पवित्र कर्तव्य है। मित्रराष्ट्र कानून पालन करने वाले हैं, जर्मन कानून भंग करने वाले बर्बर, निष्ठुर और निर्दय हैं।[७०] जब जर्मनी ने ब्रिटिश नौशक्ति के समूलोन्मूलन के लिए ब्रिटिश द्वीपसमूह, फ्रांस और इटली के निकट आने वाले प्रत्येक जहाज को 'बिना किसी चेतावनी के' सब उपायों से डुबोने के संकल्प की घोषणा की (३१ जून, १९१७) तो १ फरवरी, १९१७ को अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन ने जर्मनी से दौत्य सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया और ६ अप्रैल, १९१७ को सं० रा० अमेरिका ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा की।

अमेरिका का युद्ध में कूदना मित्रराष्ट्रों के लिए भगवान् का वरदान सिद्ध हुआ, अमेरिकी सेना, रण सामग्री और युद्धपोतों ने न केवल रूस द्वारा जर्मनी के साथ पृथक् सन्धि करने से हुई क्षति को पूरा किया, किन्तु युद्ध का पासा पलट दिया। "तटस्थता क नीति अमेरिकन स्वार्थों की रक्षा में असमर्थ सिद्ध हुई थी, अतः पार्थक्य (Isolation)

---

७०. शूमैन—वही पुस्तक, पृ० ६२

के स्थान पर योरोपीय महासमर में भाग लेने की नीति अपनाई गई।[७१] इसके परिणाम-स्वरूप मित्रराष्ट्र अमेरिका की बहुमूल्य सहायता से १९१८ में जर्मनी को परास्त करने में समर्थ हुए।

पार्थक्यवाद का पुनरावर्त्तन—इसके कारण—संयुक्त रा० अमेरिका का प्रथम विश्वयुद्ध में सम्मिलित होना उसकी परम्परागत पार्थक्यवादी (Isolationist) नीति का परित्याग था, किन्तु युद्ध में विजय पाने के बाद अमेरिका में पुनः पार्थक्यवाद प्रबल हुआ और अगले १२ वर्षों तक इसकी प्रधानता बनी रही। इस नीति परिवर्तन के अनेक कारण थे और इनके सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में बड़ा मतभेद है। सबसे बड़ा कारण पेरिस के शान्ति-सम्मेलन और समझौते से तथा विल्सन की नीति से असन्तोष था। कुछ लोग इस सन्धि को जर्मनी के लिए बड़ा कठोर समझते थे, कुछ व्यक्तियों के मत में युद्ध का अधिकांश लाभ ग्रेट ब्रिटेन प्राप्त कर रहा था। सं० रा० अमेरिका में आयरलैण्ड, इटली और यूनान के साथ सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति पेरिस समझौते में इनकी माँगें पूरी न होने से असन्तुष्ट थे। राष्ट्रपति विल्सन के प्रशासन से भी सरकार को व्यापक अधिकार देने वाले ऐण्टी-ट्रस्ट कानून, फैडरल रिजर्व कानून, अण्डरवुड टैरिफ आदि कानून पास करने से युद्ध के समय में तीव्र असन्तोष उत्पन्न हो चुका था। इसके परिणाम-स्वरूप १९१८ के चुनाव में राष्ट्रपति विल्सन के विरोधी रिपब्लिकन दल को कांग्रेस के दोनों सदनों में बहुमत प्राप्त हो गया। रिपब्लिकन दल उस समय महँगाई के कारण बढ़ रहे जीवनयापन के व्यय का सारा उत्तरदायित्व डेमोक्रेटिक पार्टी के प्रशासन पर डाल रहा था, युद्ध की समाप्ति पर सरकार ने खरबों रुपयों के सरकारी ठेके रद्द कर दिए थे, इससे ठेकेदार और व्यापारी, भारी मुनाफा कमाने वाले उद्योगपति सरकारविरोधी हो गए, महँगाई बढ़ने तथा डालर की क्रयशक्ति कम होने से निश्चित आमदनी वाला वेतन-भोगी वर्ग और मजदूर वर्ग भी सरकार से रुष्ट हो गया। युद्धकाल में स्थापित पूंजी-पतियों और मजदूरों के सौहार्द की विरामसन्धि समाप्त होने से हड़तालों की संख्या बढ़ गई, १९१९ में लगभग तीन हजार हड़तालें हुईं।

विल्सन-प्रशासन के विरुद्ध इस देशव्यापी असन्तोष के साथ ही राष्ट्रसंघ के संवि-धान की १०वीं धारा पर हुए उग्र विवाद ने विल्सन के पतन में तथा सं० रा० अमेरिका को पृथक्तावादी बनाने में बड़ा सहयोग दिया। इस धारा में यह कहा गया था कि संघ के सदस्यराज्य सब सदस्यों की वर्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता और प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान करते हैं, वे बाह्य आक्रमणों से उसकी रक्षा करेंगे और यदि कोई ऐसा आक्र-मण होगा या उसकी सम्भावना होगी तो राष्ट्रसंघ की परिषद् इसकी रक्षा के लिए किये जाने वाले उपायों का परामर्श देगी। विल्सन के विरोधियों का यह कहना था कि यह अमेरिका की सर्वोच्च सत्ता पर तथा कांग्रेस के युद्ध घोषित करने के अधिकार पर कुठाराघात है। उदाहरणार्थ हार्वेज़ वीकली नामक पत्र ने लिखा था—"यदि धारा १० का कोई अर्थ है तो वह यही है कि हमने यह वचन दे दिया है कि स्विट्जरलैण्ड में बैठी हुई

---

७१. शमैन—वही, पृ० ६२६

विदेशियों की ऊँची सरकार (Super Government) जब कभी और जहां कहीं हमारी सशस्त्र सेनायें भेजने का हमें आदेश दे, हमें वहां ये फौजें भेजनी पड़ेंगी।" विल्सन ने यह बात समझाने की बहुत चेष्टा की कि संघ की परिषद् में सर्वसम्मत मतदान (Unanimous Vote) की व्यवस्था होने के कारण सं० रा० अमेरिका की सहमति के बिना कोई निर्णय नहीं हो सकता, संघ की सभी बाध्यतायें नैतिक हैं, कानूनी नहीं। किन्तु ये दलीलें बहरे कानों पर पड़ीं। सीनेट की वैदेशिक सम्बन्ध समिति के प्रधान हेनरी कैबट लाज के नेतृत्व में रिपब्लिकन दल पेरिस के समझौते को अस्वीकार करने पर तुला हुआ था। १६ मार्च, १६२० को सीनेट ने वर्साय की सन्धि को रद्द कर दिया और २ नवम्बर, १६२० को रिपब्लिकन दल का उम्मीदवार हार्डिंग राष्ट्रपति चुना गया। अगले १२ वर्ष तक इस दल की प्रभुता के समय में पार्थक्यवाद का बोलबाला रहा।

राष्ट्रपति हार्डिंग ने कांग्रेस को भेजे गए अपने प्रथम सन्देश में पार्थक्यवाद की नीति का अनुसरण करते हुए यह घोषणा की कि राष्ट्रसंघ से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके बाद उसने विल्सन द्वारा दिये गए वचनों और बाध्यताओं से भी अपने देश को स्वतन्त्र किया। जर्मनी द्वारा आक्रमण की दशा में फ्रांस को ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमेरिका द्वारा सहायता की गारन्टी का प्रस्ताव (देखिए पृ० ८४) रद्द कर दिया गया। अमेरिका इस समय राष्ट्रसंघ का इतना विरोधी था कि उसने संघ के स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रोग्राम में भी सहयोग देना अस्वीकार कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय विश्व न्यायालय में भी सं० रा० अमेरिका ने भाग लेना स्वीकार नहीं किया, क्योंकि सीनेट इसे संघ का 'पिछला दरवाजा' समझती थी। हार्डिंग से रूजवैल्ट तक प्रत्येक राष्ट्रपति द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी सं० रा० अमेरिका इसमें सम्मिलित नहीं हुआ। इस समय विदेशों से आकर बसने वाले व्यक्तियों की संख्या नियन्त्रित करने के लिए विशेष कानून (Immigration Act) बनाया गया (१६ मई, १६२१) तथा विदेशों से आने वाले माल को रोकने के लिए आपातकालीन तटकर कानून (Emergency Tarriff Act) पास किया गया (२७ मई, १६२१)। इस प्रकार तटकर की ऊँची दीवारें खड़ी करके उसे दूसरे देशों से पृथक् रखने की नीति अपनाई गई।

किन्तु यह नीति कुछ समय तक ही चली। राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में शूमैन ने यह ठीक ही लिखा है कि 'पहले इसकी उपेक्षा की गई, बाद में इसे अनिवार्य तथ्य के रूप में स्वीकार किया गया और अन्त में इसका उपयोग किया गया'। १६२२ में संघ के प्रति कुछ मृदु नीति अपनाते हुए राज्यमन्त्री ह्यूजेस (Hughes) ने जेनीवा में कुछ गैरसरकारी निरीक्षक भेजे, बाद में शस्त्रास्त्रों के, स्त्रियों के तथा अफीम के व्यापार का नियन्त्रण करने वाले संघ के सम्मेलनों में तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओं में वाशिंगटन ने सहयोग दिया और १६३४ में सं० रा० अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का सदस्य भी बना। **केलाग-ब्रीआं पैक्ट** द्वारा अमेरिका ने युद्धों को रोकने का सराहनीय प्रयत्न किया (पृ० १०७-८)। उसने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लिया (देखिये पृ० १२०)। क्षतिपूर्ति सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने में अमेरिकी अर्थशास्त्रियों डावेस तथा यंग ने बहुत भाग लिया और अमेरिका की पूंजी की सहायता से ही जर्मनी

ने अपनी क्षतिपूर्ति की अधिकांश राशि अदा की (दे० पृ० ७३-७५)। १९३१ में सं० रा० ने मंचूरिया की समस्या सुलझाने में राष्ट्रसंघ की परिषद् को सहयोग दिया, १९३२ में राष्ट्रपति हूवर के प्रस्ताव पर क्षतिपूर्ति एवं ऋणों की राशि की अदायगी एक वर्ष के लिए स्थगित की गई। सं० रा० अमेरिका के पार्थक्य का आशय केवल योरोपियन झगड़ों से अलग रहना था, सुदूर पूर्व तथा लैटिन अमेरिका के सम्बन्ध में इस नीति का पालन नहीं किया गया।

सुदूरपूर्व की समस्या—वाशिंगटन सम्मेलन—इसकी पृष्ठभूमि तथा बुलाये जाने के कारण—राष्ट्रपति हार्डिंग ने योरोप के मामलों में पार्थक्यवादी (Isolationist) होते हुए भी सुदूरपूर्व की समस्याओं को हल करने के लिए वाशिंगटन में एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन के बुलाये जाने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(१) **जापान की शक्तिवृद्धि से चिन्ता**—प्रथम विश्व-युद्ध में जर्मनी के परास्त हो जाने से तथा रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हो जाने से सुदूरपूर्व में जापान को नियन्त्रित करने वाली दो शक्तियां समाप्त हो गयीं। इससे इस प्रदेश में जापान का प्रभाव बढ़ गया। यह वाशिंगटन के लिए बड़ी चिन्ता का विषय था। वह १९०५ के रूस-जापान युद्ध में सफल होने के बाद से ही टोकियो को इस क्षेत्र में अपना प्रतिद्वन्द्वी समझने लगा था और दोनों देशों में अनेक विषयों पर विवाद उत्पन्न होने लगे थे। जापान मंचूरिया और चीन में अपना प्रसार करना चाहता था, वह इस प्रदेश में अपने विशेष स्वार्थों (Special Interests) पर बल देता था। सं० रा० अमेरिका ये प्रदेश सब देशों के व्यापार और प्रसार के लिए खुले रखने की नीति (Open Door) का समर्थक था। १८ जनवरी, १९१५ को जब अमेरिका तथा योरोपियन शक्तियां प्रथम विश्व-युद्ध में संलग्न थीं, पेकिंग-स्थित जापानी राजदूत ने चीन के राष्ट्रपति युआन से **इक्कीस माँगें** इस उद्देश्य से की थीं कि जापान की स्थिति को सुरक्षित बनाया जाय। ये माँगें पाँच वर्गों में विभक्त थीं। **पहले वर्ग** की माँगें शाण्टुंग के सम्बन्ध में थीं। **दूसरे वर्ग** की माँगें मंचूरिया तथा पूर्वी भीतरी मंगोलिया के विषय में थीं। **तीसरे वर्ग** की माँगें कोयले तथा लोहे के बारे में कुछ रियायतें देने की थीं। **चौथे वर्ग** में यह कहा गया था कि कुछ प्रदेश, खाड़ियां, बन्दरगाहें और तट किसी दूसरे देश को न दी जाएं। **पाँचवें वर्ग** में छः बातों में जापानी परामर्शदाताओं की नियुक्ति की, जापान की युद्धसामग्री खरीदने की, धार्मिक प्रचार की, पुलिस के नियन्त्रण की तथा आर्थिक मामलों में तरजीह देने की माँगें की गई थीं। इन माँगों का मुख्य उद्देश्य यह था कि एशिया एशियावासियों के लिए सुरक्षित रखा जाय, चीन के द्वार योरोपियन शक्तियों के लिए बन्द कर दिए जाएं। इसीलिए इन माँगों का **'एशिया का मुनरो सिद्धान्त'** (Asiatic Monroe Doctrine) कहा जाता है। यदि ये माँगें पूर्ण रूप से स्वीकार कर ली जातीं तो चीनी गणराज्य निश्चित रूप से जापान का संरक्षित राज्य बन जाता। किन्तु बाद में दोनों देशों में काफी वार्तालाप के बाद २५ मई, १९१५ को सन्धि हो गई।

सं० रा० अमेरिका के सम्बन्ध जापान के साथ तभी तक मैत्रीपूर्ण रह सकते थे, जब तक वह उसकी 'मुक्त द्वार' (Open Door) की नीति का अनुसरण करे। 'इक्कीस

माँगों, में इसका स्पष्ट खण्डन था। अतः अमेरिकी विदेश-मन्त्री ब्रिअन (Bryan) ने इस अवसर पर जापान को चेतावनी देते हुए कहा था कि "सं० रा० अमेरिका की सरकार किसी ऐसे समझौते को स्वीकार नहीं कर सकती, जिससे सं० रा० अमेरिका के सन्धियों द्वारा प्राप्त अधिकारों का, चीन की राजनीतिक अथवा प्रादेशिक अखण्डता का या मुक्त-द्वार नीति का हनन होता हो"। इस पर जापान कुछ समय तक टालमटोल करता रहा, किन्तु अमेरिका के युद्ध में पड़ जाने पर जब वह लड़ाई में जापान का साथी बन गया तो जापानी राजनीतिज्ञ इशी (Ishii) ने वाशिंगटन आकर विदेश-मन्त्री लैनसिंग से २ नवम्बर, १९१७ को इस विषय में एक समझौता किया। इसके अनुसार "सं० रा० अमेरिका तथा जापान की सरकारों ने यह स्वीकार किया कि प्रादेशिक समीपता (Territorial propinquity) देशों में विशेष सम्बन्ध उत्पन्न कर देती है। परिणामस्वरूप सं० रा० अमेरिका की सरकार यह स्वीकार करती है कि चीन में जापान के विशेष स्वार्थ हैं, ये विशेष रूप से उन प्रदेशों में हैं, जो जापानी प्रदेश के साथ लगे हुए हैं"। दूसरे शब्दों में वाशिंगटन ने जापान का दृष्टिकोण तथा शाण्टुंग पर उसका दावा स्वीकार कर लिया।

किन्तु १९१८ से १९२० तक दोनों देशों के सम्बन्ध बिगड़ते चले गए। इस समय दोनों के मुख्य मतभेद इक्कीस माँगों तथा १९१७ के उपर्युक्त लैनसिंग-इशी समझौते के बारे में थे। जापान शाण्टुंग पर तथा प्रशान्त महासागर में विद्यमान जर्मन टापुओं पर अधिकार करना चाहता था। सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस को जापान से यह भी शिकायत थी कि उसने जर्मनी को हराने में बहुत कम दिलचस्पी ली है, किन्तु इस अवसर पर चीन में अपनी प्रभुता बढ़ाने का अधिकतम प्रयत्न किया है।

(२) याप द्वीप का झगड़ा—पेरिस की सन्धि के समय कई मामलों में जापान और सं० रा० अमेरिका का मतभेद उग्र रूप में प्रकट हुआ। इसी प्रकार का एक मामला प्रशान्त महासागर में विद्यमान याप नामक छोटे टापू के स्वामित्व का था। पश्चिमी कैरोलाइन द्वीप के इस टापू को जापान ने जर्मनी से लिया था। इसकी महत्ता का कारण यह था कि यह गुआम से मनीला जाने वाली तथा इण्डोनीशिया से शंघाई जाने वाली समुद्री तारों का केन्द्र था। पेरिस की शान्ति-परिषद् में विलसन ने इस टापू के अन्तर्राष्ट्रीय-करण (Internationalisation) पर बहुत बल दिया था ताकि यह जापान के पूर्ण अधिकार में न जा सके। किन्तु शान्ति-परिषद् ने जर्मनी के प्रशान्तमहासागरवर्ती अन्य टापुओं के साथ इसका शासनादेश (Mandate) भी जापान को दे दिया। फिलिप्पाइन द्वीपसमूह से सं० रा० अमेरिका को समुद्री तार द्वारा जोड़ने का महत्त्वपूर्ण केन्द्र जापान के हाथ में चला जाना वाशिंगटन के लिए स्वाभाविक रूप से बड़ी चिन्ता का विषय था। इससे दोनों देशों में तनाव पैदा हुआ।

(३) ऐंग्लो-जापानी संधि (Anglo-Japanese Alliance)—यह भी दोनों देशों के सम्बन्ध बिगाड़ रही थी। १९०२ में हुई इस संधि से वाशिंगटन को यह आशंका थी कि यदि कभी जापान और सं० रा० अमेरिका में युद्ध छिड़ा तो इसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन जापान की ओर से लड़ेगा, उसकी सहायता नहीं करेगा। वाशिंगटन की इस आशंका को दूर करने के लिए १९११ में इस सन्धि का नवीकरण (Renewal) करते

हुए एक नई धारा जोड़ी गई। किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध में पेरिस की शान्ति-परिषद् में अमेरिका को यह अनुभव हुआ कि यह सन्धि एशिया में जापान के हितों की रक्षा करने के लिए प्रबल ढाल है। १९२० में जब पुन: इस सन्धि के नवीनीकरण का समय आया तथा लन्दन ने वाशिंगटन को इस बात का आश्वासन दिया कि सं० रा० अमेरिका तथा जापान की लड़ाई होने पर इसे लागू नहीं किया जायगा तो अमेरिकनों को इस पर विश्वास नहीं हुआ। यह सन्धि रूस और जर्मनी के खतरे को रोकने के लिए की गई थी। अब इन दोनों देशों की शक्ति समाप्त हो चुकी थी। अत: अमेरिकन लोगों का यह विचार था कि अब यह सन्धि उनके विरुद्ध की जा रही है। इससे अमेरिकन लोगों का चिन्तित होना स्वाभाविक था। इस समय ग्रेट ब्रिटेन के सामने भी यह समस्या थी कि वह नई सन्धि हो जाने के बाद अमेरिका की मुक्त द्वार (Open Door) नीति का समर्थन करे या जापान के विशेष स्वार्थों (Special interests) के सिद्धान्त का पोषण करे।

(४) **नौसैनिक होड़**—प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जब सं० रा० अमेरिका ने उपर्युक्त कारणों से आशंकित होकर अपनी नौसेना बढ़ाने का निश्चय किया तो जापान ने इस होड़ में वाशिंगटन से भी आगे बढ़ने का संकल्प किया। ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे। जापान यह समझता था कि वे दोनों मिलकर उससे युद्ध करेंगे, अत: उसे अपना नौसैनिक वेड़ा बड़ा सुदृढ़ और विशाल बनाना चाहिए। ग्रेट-ब्रिटेन भी सबसे बड़ी सामुद्रिक शक्ति होने के कारण इस नौसैनिक दौड़ में पीछे नहीं रहना चाहता था। किन्तु तीनों देश यह अनुभव करते थे कि यह प्रतिद्वन्द्विता कर सकना उनके सामर्थ्य में नहीं है। इङ्गलैण्ड के आर्थिक स्रोत पिछले युद्ध से बिल्कुल सूख चुके थे। जापान आर्थिक दृष्टि से सं० रा० अमेरिका जैसे समृद्ध देश का मुकाबला नहीं कर सकता था। सं० रा० अमेरिका की रिपब्लिकन और डेमोक्रेट—दोनों पार्टियाँ शस्त्रों में भारी कमी करना चाहते थे। विल्सन का शान्तिवाद का आदर्श अभी तक अमेरिका में विस्मृत नहीं हुआ था।

अत: इस नौसैनिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने तथा सुदूरपूर्व की समस्याओं को हल करने के लिए वाशिंगटन में ११ अगस्त को एक सम्मेलन बुलाया गया। राष्ट्रपति हार्डिंग ने इसके लिए ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान, चीन, बेल्जियम, हालैण्ड और पुर्तगाल को निमन्त्रित किया। रूस को छोड़कर सुदूरपूर्व में दिलचस्पी रखने वाले अमेरिका समेत नौ राष्ट्र इसमें सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन ने १२ नवम्बर, १९२१ से ६ फरवरी, १९२२ तक छ: सन्धियां कीं, १२ प्रस्ताव पास किये, चीन और जापान में शाण्टुङ्ग के सम्बन्ध में तथा सं० रा० अमेरिका और जापान के मध्य याप तथा अन्य टापुओं के विषय में समझौते हुए। अगले दस वर्ष तक ये सुदूरपूर्व की राजनीतिक स्थिति का तथा सं० रा० अमेरिका और जापान के सम्बन्धों का नियन्त्रण करते रहे।

वाशिंगटन सम्मेलन की सन्धियां—(१) इनमें से ६ फरवरी, १९२२ को **पंचशक्ति नौसैनिक सन्धि** (The Five Power Naval Treaty) का पहले (पृ० ११०–११) उल्लेख किया जा चुका है। इसमें पाँच महाशक्तियों—सं० रा० अमेरिका,

ग्रेट ब्रिटेन, जापान, फ्रांस, और इटली के बड़े युद्धपोतों (Capital Ships) का अनुपात ५ : ५ : ३ : १ : ·७५ : १·७५ निश्चित किया गया है। १० वर्ष तक नये युद्धपोतों का निर्माण बन्द कर दिया गया। बड़े युद्धपोतों (Capital Ships) को ३५ हजार टन तक तथा १६ इंची तोपों तक तथा विमानवाहकों (Aircraft Carriers) को २७ हजार टन तथा ८ इञ्ची तोपों तक मर्यादित कर दिया गया। यह सन्धि ३१ दिसम्बर, १९३६ तक के लिए थी। इसके बाद दो वर्ष का नोटिस देकर, हस्ताक्षर करने वाली किसी भी शक्ति द्वारा समाप्त की जा सकती थी। इसके साथ ही एक सन्धि में पनडुब्बियों तथा विषैली गैसों का प्रयोग नियन्त्रित करने के लिए समझौता किया गया। दो सन्धियां सम्मेलन में बुलाये गये नौ राष्ट्रों में हुईं।

(२) **पहली नवशक्ति मुक्त द्वार सन्धि** (Nine Power Open Door Treaty) में सब राज्यों ने इस बात का वचन दिया कि (क) वे चीन की सर्वोच्च सत्ता, प्रादेशिक तथा प्रशासनात्मक अखण्डता का सम्मान करेंगे। (ख) चीन में सब देशों को व्यापार का समान अवसर होगा। (ग) चीन के निश्चित भू-भागों में 'विशेष स्वार्थों' की पूर्ति के लिए प्रभाव क्षेत्र सुरक्षित बनाने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की जायगी। अमेरिकनों ने इस सन्धि को बहुत महत्त्व दिया। वे इसे 'मुक्त द्वार' नीति की विजय तथा 'चीन का मैगनाकार्टा' मानते थे, किन्तु इस सन्धि में कई कमियां थीं। इसका क्रियान्वित करना मुख्यरूप से महाशक्तियों की सद्भावना पर छोड़ दिया गया था, इसके पालन कराने के लिए कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। बस (Buss) ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि 'यह सामूहिक सुरक्षा का समझौता नहीं था, किन्तु महाशक्तियों द्वारा स्वयमेव कुछ अधिकार छोड़ने की घोषणा मात्र थी।' ग्रिसवोल्ड के शब्दों में यह सन्धि सुदूरपूर्व के विरोधी स्वार्थों में वहीं तक शांति स्थापित रख सकती थी, जहां तक स्याही और कलम द्वारा शान्ति बनाये रखना सम्भव था।

(३) **दूसरी नवशक्ति सन्धि** (Nine Power Treaty) में चीन को अपने देश में आने वाली वस्तुओं पर कर लगाने के पहले से अधिक अधिकार दिये गए।

(४) **चतुश्शक्ति शान्ति सन्धि** (Four Power Pacific Treaty)—१३ दिसम्बर, १९२१ को सबसे पहले सम्पन्न होने वाली ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका, फ्रांस और जापान की इस दसवर्षीय सन्धि से एंग्लो-जापानी सन्धि समाप्त कर दी गयी। इसकी शर्तें निम्नलिखित थीं—(क) ये देश प्रशान्त महासागर में एक-दूसरे के टापुओं तथा वशवर्ती प्रदेशों का सम्मान करेंगे। (ख) प्रशान्त महासागर में अपने अधिकारों के सम्बन्ध में कूटनीति द्वारा तय न हो सकने वाले प्रश्नों का निर्णय सम्मेलन द्वारा हल किया जाय। (ग) सन्धि करने वाले देशों को यह अधिकार होगा कि यदि किसी महाशक्ति की आक्रमणात्मक कार्यवाही द्वारा उनके अधिकारों को क्षति पहुँचने की सम्भावना हो तो वे एक दूसरे के साथ इस विषय में पूरा पत्र-व्यवहार कर सकती हैं। इस सन्धि द्वारा एंग्लो जापानी सन्धि रद्द करके सं० रा० अमेरिका के सुदूरपूर्व में चिन्ता और आशंका के एक बड़े कारण को दूर कर दिया गया।

(५) **एक षड्शक्ति सन्धि** (Six Power Treaty)—जर्मनी के समुद्री तटों को ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका, जापान, फ्रांस, इटली तथा चीन में बांटने के लिए हुई।

(६) **चतुश्शक्ति सन्धि** (Four Power Treaty)—इसमें ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जापान तथा सं० रा० अमेरिका ने प्रशान्त महासागर में अवस्थित टापुओं में विभिन्न शक्तियों के अधिकारों के सम्मान और सुरक्षा का निश्चय किया।

चीन जापान के समझौते (Sino Japanese Agreement) द्वारा जापान ने शाण्टुङ्ग में समूचे जर्मन साम्पत्तिक अधिकार चीन को देने का निश्चय किया किन्तु जापान को १५ Tsian-Tsingtas की रेलवे पर १५ वर्ष तक नियन्त्रण रखने का अधिकार दिया गया।

(७) **अमेरिकी जापानी संधि-याप** (Yap) **समझौता**—याप प्रशान्तमहासागर में कैरोलाइन द्वीपसमूह के पश्चिम में ८० वर्गमील का चार टापुओं का समूह है, प्रशान्तमहासागर में से होकर जाने वाले समुद्री तारों का केन्द्र होने से यह बड़ा महत्त्वपूर्ण था, इन्डोनीशिया के साथ सम्बन्ध का केवल यही मार्ग था और चीन के साथ सम्बन्ध के दो तारमार्गों में एक यहां से गुजरता था। जापान शंघाई जाने वाले इस तारमार्ग को एक दूसरे टापू नावा (Nawa) पर ले जाना चाहता था। सं० रा० इससे चिन्तित था और वह पेरिस के समझौते द्वारा जापान को दिये गए इस टापू को अन्तर्राष्ट्रीय बनाना चाहता था। इस सम्मेलन में हुए समझौते से इस द्वीपसमूह में अमेरिकनों को जापानियों के तुल्य समानाधिकार और स्वतन्त्र प्रवेश का अधिकार मिल गया।

वाशिंगटन सम्मेलन के परिणाम—प्रथम विश्व-युद्ध के बाद अमेरिका तथा जापान के सम्बन्धों और सुदूरपूर्व की समस्याओं की दृष्टि से यह सम्मेलन सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। प्रायः यह कहा जाता है कि १९१९ की पेरिस की शान्ति-परिषद् जिस समस्या को सुलझाने में विफल रही थी, वहां इस सम्मेलन ने सफलता प्राप्त की। पेरिस के राजनीतिज्ञों ने योरोप में शान्ति स्थापित की, किन्तु सुदूरपूर्व में जापान और अमेरिका के तनाव तथा नौसैनिक होड़ को समाप्त नहीं किया था। वाशिंगटन सम्मेलन के दो प्रधान लक्ष्य थे—(१) इंगलैण्ड, अमेरिका और जापान की नौसैनिक प्रतिस्पर्धा को समाप्त किया जाय। (२) जापान की बढ़ती हुई शक्ति पर अंकुश लगाकर चीन की अखण्डता को सुरक्षित रखा जाय, वहां सब देशों को व्यापार का समान अवसर प्राप्त हो। वाशिंगटन सम्मेलन इन दोनों उद्देश्यों में सफल हुआ। **पंचशक्ति नौसैनिक सन्धि** (Five Power Naval Treaty) ने पहले लक्ष्य को तथा चतुश्शक्ति प्रशान्तमहासागरीय शान्ति सन्धि (Four Power Pacific Treaty) ने दूसरे उद्देश्य को पूर्ण किया। मैकनेयर (Macnair) ने लिखा है कि इन दोनों सन्धियों ने शस्त्रास्त्रों पर होने वाले विशाल व्यय में भारी बचत की, एंग्लो-जापानी सन्धि को रद्द करके संयुक्त राज्य अमेरिका के जापान या ग्रेट ब्रिटेन के साथ युद्ध की सम्भावना को समाप्त किया। इसने एंग्लो-अमेरिकन तथा अमेरिकन-जापानी सम्बन्धों में तनाव के सबसे बड़े कारण को दूर किया। कार (Carr) ने इसके प्रभाव का विवेचन करते हुए लिखा है कि इससे "प्रशान्त महासागर में चीन की अखण्डता को तथा एंग्लो-अमेरिकी नौसैनिक प्रभुता को

चुनौती देने वाला जापानी संकट दूर हो गया। जापान को बाधित किया गया कि वह चीन की मुख्य भूमि पर युद्ध में प्राप्त किये लाभ को छोड़ दे। महाशक्तियों ने संयुक्त रूप से चीन की अखण्डता को सुरक्षित बनाये रखने का समझौता किया। चीन को अपना घर सुधारने का एक और अवसर दिया गया।" इससे दस वर्ष तक सुदूरपूर्व में स्थिरता और शान्ति बनी रही।

किन्तु वाशिंगटन की सन्धियों में कुछ बड़े दोष भी थे। **पहला बड़ा दोष** यह था कि इसमें शस्त्रास्त्रों का नियन्त्रण बहुत सीमित रूप में किया गया था। केवल बड़े युद्ध-पोतों के निर्माण पर ही पाबन्दी लगायी गयी थी, किन्तु नौसेना के अन्य प्रकार के पोतों पर तथा स्थलीय सेनाओं के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था। अतः यह सम्मेलन शस्त्रीकरण की प्रवृत्ति का विरोध बहुत थोड़े अंश में ही कर सका। इसका **दूसरा दोष** यह था कि इसने चीन में सब महाशक्तियों को समान अवसर देने की बात कही थी, किन्तु उसे क्रियान्वित करने की कोई व्यवस्था नहीं की थी। इन राज्यों ने चीन के साथ पिछले सौ वर्षों में की गई इन्हें विशेष सुविधायें देने वाली सन्धियों को रद्द नहीं किया था। सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन ने चीन की अखण्डता सुरक्षित रखने पर इसीलिए बल दिया कि जापान चीन पर हावी न हो सके, किन्तु उन्होंने चीन में अपने विशेषाधिकारों को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा। इनके आर्थिक अवसर की समानता का एकमात्र अभिप्राय अपने स्वार्थों को बनाये रखने तथा जापान को चीन में प्रभुत्व बढ़ाने से रोकना था। यह व्यवस्था चीन और जापान के लिए समान रूप से असन्तोषजनक थी। **तीसरा बड़ा दोष** जापान को रुष्ट करना था। उस समय नौसैनिक प्रतिस्पर्धा से बचने के लिए युद्ध से ऊबे हुए जापान ने गले ही इन सन्धियों को स्वीकार कर लिया, किन्तु उसके युद्धप्रेमी सेनापति इन्हें बड़ा अन्यायमूलक और अपमानजनक समझते थे। इनमें नौसेनाओं का अनुपात निश्चित करते हुए जापान को पंचशक्ति नौसैनिक सन्धि द्वारा हीन स्थिति प्रदान की गई थी। चतुश्शक्ति प्रशान्तमहासागरीय समझौते को अपने पुराने मित्र इंगलैण्ड के विश्वासघात के कारण जापान सं० रा० अमेरिका द्वारा अपने पर जबरदस्ती थोपा हुआ समझता था। चीन में उसकी प्रभुता का प्रसार रोकने के लिए नवशक्ति सन्धि को वह अपने लिए बिलकुल अन्यायपूर्ण मानता था। जापान के इस प्रबल रोष का भीषण विस्फोट बाद में मंचूरिया और पर्ल हार्बर में हुआ।

लैटिन (दक्षिणी) अमेरिका के प्रति नीति—योरोप के झगड़ों से पृथक् रहने की नीति अपनाते हुए भी सं० रा० अमेरिका ने मध्य तथा दक्षिण अमेरिका के राज्यों के प्रति कभी ऐसी नीति नहीं रखी। हार्डी के शब्दों में यह आर्थिक **साम्राज्यवाद** की नीति थी और इसका आधार मुनरो सिद्धान्त था।[७२] इसका मूल उद्देश्य तो दक्षिण अमेरिका

७२. हार्डी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६८, मुनरो सिद्धान्त की साम्राज्यवादी व्याख्या १९०० से की जाने लगी। इसे 'रूजवेल्ट अनुमान' (Roosevelt corollary) भी कहा जाता है क्योंकि इसका सर्वोत्तम प्रतिपादन अमेरिकन राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने ६ दिस० १९०४ को कांग्रेस के नाम भेजे गए सन्देश में किया था—इसके अनुसार पश्चिमी गोलार्द्ध में यदि किसी राज्य

के नवीन और निर्बल गणराज्यों को योरोप की महाशक्तियों के हस्तक्षेप और आर्थिक शोषण से सुरक्षित रखना था। किन्तु यह उद्देश्य पूरा होने के बाद विधि की विडम्बना से संयुक्त राज्य अमेरिका शक्तिशाली राष्ट्र बन गया और आर्थिक शोषण के लिए इन पर अपना एकाधिकार समझने लगा, इनके मामलों में हस्तक्षेप करने लगा। मध्य अमेरिका के स्थलडमरूमध्य के राज्यों पर वह न केवल अपनी प्रभुता का दावा करता था, किन्तु उसका पूरा प्रयोग भी करता था। अतएव महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की स्थापना का दक्षिण अमेरिका के राज्यों ने बड़े उत्साह से स्वागत किया। वे यह आशा रखते थे कि संघ उनकी सं० रा० अमेरिका के साम्राज्यवाद, प्रभुता और डालर कूटनीति (Dollar Diplomacy) के जाल से रक्षा करेगा। जब हार्डिंग ४ मार्च, १९२१ को राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुआ उस समय निकारगुआ में सं० रा० अमेरिका द्वारा समर्थित एक अल्पसंख्यक सरकार को बनाये रखने के लिए अमेरिकन फौजें तैनात थीं, हैटी तथा सैण्टो डोमिंगो (Santo Domingo) के राज्यों में अमेरिकन नौसेनापति चक्कर काट रहे थे, मैक्सिको के साथ सम्बन्ध इतने अधिक बिगड़े हुए थे कि निकट भविष्य में उनके विच्छिन्न होने की सम्भावना थी। किन्तु एक दशाब्दी में ही शनैः शनैः सं० रा० अमेरिका ने साम्राज्यवाद की नीति का परित्याग किया और रूजवेल्ट के समय में इनके प्रति **अच्छे पड़ोसी की नीति** (Good Neighbour Policy) का पालन होने लगा। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

निकारगुआ के प्रति नीति—निकारगुआ मध्य अमेरिका का एक छोटा सा गणराज्य है। १९१० ई० तक सं० रा० अमेरिका को इसमें कोई दिलचस्पी नहीं थी, किन्तु इसके बाद दो कारणों से इस प्रदेश के दुर्भाग्य से सं० रा० का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। **पहला कारण** तो कैरिबियन सागरवर्ती अन्य राज्यों के समान गर्म देशों में होने वाले कच्चे माल की अमेरिका में बढ़ती हुई माँग थी और **दूसरा** इससे अधिक महत्त्वपूर्ण कारण इसकी दो प्राकृतिक विशेषतायें थीं। एक तो इसमें पूर्व से पश्चिम तक निकारगुआ नाम की एक १०० मील लम्बी विशाल झील का स्वाभाविक जलमार्ग तथा दूसरा उत्तर से दक्षिण को जाने वाली कम ऊंची पर्वतमाला है। इनके कारण यहां प्रस्तावित पानामा नहर जैसी दूसरी नहर का बनाना सम्भव था। संयुक्त राज्य इस पर अपना पूरा प्रभुत्व बनाए रखना चाहता था। १९०९ में यहां की अमेरिकी तेल कम्पनी के एक

में अव्यवस्था हों तो मुनरो सिद्धान्त का पालन करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस के रूप में सं० रा० अमेरिका उस देश के शासन में हस्तक्षेप करने के लिए बाधित है। फरवरी १९०५ में उसने इसका अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि सं० रा० अमेरिका उचित कारण होने पर अमेरिकी महाद्वीप के राज्यों में हस्तक्षेप कर सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार १९००–१९२९ तक सं० रा० अमेरिका ने कैरीबियन सागर के निकटवर्ती मध्य अमेरिका के राज्यों के सम्बन्ध में साम्राज्यवादी नीति अपनाई और १९२९ में सीनेट ने 'रूजवेल्ट अनुमान' को अस्वीकार किया और लैटिन राज्यों में हस्तक्षेप की नीति का परित्याग किया। (चार्ल्स श्लीचर—इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल पालिटिक्स, पृ० ५३४–५)

क्लर्क डियाज ने इस उद्देश्य से एक क्रान्ति का संगठन किया। सं० रा० अमेरिका की नौसेना की सहायता से यह क्रान्ति सफल हुई और डियाज पहले नई सरकार का उपराष्ट्रपति तथा बाद में राष्ट्रपति बना। १९१२ में डियाज के विरुद्ध हुई स्थानीय क्रान्ति को अमेरिका की नौसेना ने दबा दिया। यह सेना १९२५ तक निकारगुआ में 'अमेरिकन नागरिकों की तथा सम्पत्ति की' रक्षा के लिए जमी रही। १९१४ में निकारगुआ ने सं० रा० अमेरिका के साथ एक सन्धि की, इसके अनुसार उसने इस देश में से होकर नहर बनाने का एकमात्र अधिकार तथा प्रशान्तमहासागर पर एक नौसैनिक अड्डा ९९ वर्ष के पट्टे पर सं० रा० अमेरिका को प्रदान किया। इसके अतिरिक्त सं० रा० को यहां चुंगी वसूल करने, बैंकिंग, रेलवे आदि की सुविधायें दी गयीं। १९२५ में यहां से अमेरिकन सेनाओं के चले जाने पर आन्तरिक उपद्रव होने लगे तथा डियाज के नेतृत्व में अनुदार दल में तथा उदार (Liberal) दल में संघर्ष हुआ। **पहला दल** अमेरिका का पक्षपाती था, उसे सं० रा० का समर्थन प्राप्त था। **दूसरा दल** अमेरिकाविरोधी था, उसे मेक्सिको सहायता दे रहा था। १९२७ में यहां भी राजनीतिक उपद्रव हुए, इस पर राष्ट्रपति कूलिज ने ऊपर से तो यहां 'विद्यमान अमेरिकी नागरिकों और सम्पत्ति की रक्षा' के लिए, वस्तुतः अनुदार दल के विरुद्ध सहायता देने को अपने ५,००० नौसैनिक तथा कुछ हवाई जहाज भेजे। कूलिज के इस कार्य की लैटिन अमेरिका में तथा सं० रा० अमेरिका में तीव्र आलोचना हुई, अतः अन्त में इस समस्या के शान्तिपूर्ण निपटारे के लिए कर्नल हेनरी स्टिमसन (Henry Stimson) को यहां भेजा गया। इसने दोनों पक्षों में समझौते कराके १९२८ में अमेरिकी निरीक्षण में चुनाव कराये तथा लिबरल पार्टी को सरकार में सम्मिलित होने के लिए कहा। पिछले १८ वर्ष से अमेरिकी फौजों के बल पर, जनता द्वारा समर्थित न होने पर भी केवल अमेरिका पक्षपाती होने से देश में शासन करने वाले अनुदार दल के लिए यह नीति सर्वथा नवीन थी। फिर भी उदार दल के एक सेनापति सैण्डिनो (Sandino) ने सं० रा० की सेनाओं के तथा अनुदार दल के विरुद्ध छापामार संघर्ष जारी रखा। १९३३ में सं० रा० अमेरिका ने अपने नौसैनिक इस घोषणा के साथ वापिस बुला लिए कि वह इस उपद्रवग्रस्त गणराज्य में अपने नागरिकों की सामान्य रक्षा का उत्तरदायित्व नहीं ले सकता। अमेरिकी फौजें लौट जाने से निकारगुआ में सैण्डिनो ने अपना संघर्ष बन्द कर दिया। अमेरिकी फौजों का लौटना सं० रा० अमेरिका की लैटिन राज्यों के प्रति परिवर्तित उदार नीति का परिणाम था।

मैक्सिको विवाद—मैक्सिको के साथ विवाद में भी अमेरिकी नीति ने शनैः शनैः साम्राज्यवाद का परित्याग किया। मैक्सिको में पोरफिरीरो डीआस (Porfiriro Diaz) के शासन काल (१८८४–१९११) में इसके आर्थिक विकास में अमेरिका और योरोप की बहुत पूंजा लगी थी। १९११ में यहां पूंजीवाद-विरोधी साम्यवादी क्रान्ति हुई और १९१७ के नये संविधान में मैक्सिको में समूची भूमि, खनिज पदार्थ, तेल तथा भूमि के भीतर की सब सम्पत्ति राष्ट्रीय घोषित कर दी गई। इससे सरकार का विदेशी पूंजीपतियों से संघर्ष छिड़ गया। उसने विदेशी कम्पनियों की रेलों पर

अधिकार कर लिया, तेल की कम्पनियों का कार्य बन्द कर दिया। इससे अमेरिकी पूंजीपतियों में बड़ी हलचल मची और उन्होंने सरकार पर इस विषय में सैनिक हस्तक्षेप करने के लिए बल डाला। पहले कुछ समझौते की वार्ता चली, १९२३ में कुछ समझौते हुए किन्तु १९२६ में मैक्सिको के राष्ट्रपति ने यह घोषणा की कि १९१७ का संविधान लागू होने से पहले मैक्सिको में भू-सम्पत्ति का अधिकार रखने वाले इनका विनिमय 'पचास वर्ष की नई रियायतों' से कर लें। इस पर कई अमेरिकी तेल कम्पनियों ने मैक्सिको में अमेरिकी अधिकारों की रक्षा के लिए एक संघ बनाया और मैक्सिको के विरुद्ध प्रबल प्रचार आन्दोलन शुरू किया। सं० रा० के विदेश-मन्त्री केलाग (Kellogg) ने मैक्सिको पर निकारगुआ के विद्रोहियों की सहायता का तथा सं० रा० अमेरिका तथा मध्य अमेरिका में बोल्शेविकवाद के प्रसार का आरोप लगाया। दोनों देशों में युद्ध की चर्चा होने लगी। किन्तु इस समय राष्ट्रपति कूलिज ने असाधारण बुद्धि और चातुर्य वाले ड्वाइट मारो (Dwight Morrow) को मैक्सिको में राजदूत बनाया, इसने मैक्सिको के राष्ट्रपति कालास (Callas) के साथ भूमि तथा तेल के प्रश्न पर समझौता करने में सफलता पाई।

पानामा—यह भी अमेरिकी साम्राज्यवाद का एक सुन्दर उदाहरण है। १९०३ में इसके साथ हुई सन्धि के अनुसार नहर के क्षेत्र में पूर्ण सर्वोच्च अधिकार (Sovereign Rights) सं० रा० को प्राप्त हो गये थे। १९२६ में इस विषय में एक दूसरी सन्धि करते हुए सं० रा० अमेरिका ने इसमें यह नई धारा बढ़वानी चाही कि सं० रा० अमेरिका यदि किसी लड़ाई में भाग लेगा तो पानामा को भी इस युद्ध में सम्मिलित होना पड़ेगा। यह पानामा के साथ बड़ी ज्यादती, उसके पृथक् अस्तित्व का हनन और सर्वोच्च प्रभुसत्ता (Sovereignty) का उपहास था और इस बात का सूचक था कि सं० रा० मध्य अमेरिका में अपना नियन्त्रण और प्रभाव किस हद तक बढ़ाना चाहता है। पानामा ने अमेरिका के दबाव में आकर जुलाई १९२६ में इस पर हस्ताक्षर भी कर दिये किन्तु इसके असामयिक प्रकाशन से पानामा में बड़ा क्षोभ और असन्तोष हुआ, २६ जनवरी १९२७ को पानामा की असेम्बली ने इसे अस्वीकार कर दिया। पानामा ने नहर क्षेत्र की सर्वोच्च सत्ता का निर्णय करने के लिए राष्ट्रसंघ से भी निष्फल अपील की। राष्ट्रपति रूजवैल्ट के शासनारूढ़ होने पर 'अच्छे पड़ोसी' की नई नीति के श्रीगणेश के परिणामस्वरूप १७ अक्टूबर, १९३३ को दोनों देशों के राष्ट्रपतियों ने यह घोषणा की कि नहर क्षेत्र में पानामा को प्रभुतासम्पन्न राज्य के पूरे व्यापारिक अधिकार प्राप्त हैं और इस क्षेत्र में पानामा को हानि पहुँचाने वाला कोई आर्थिक कार्य सं० रा० नहीं करेगा, २ मार्च, १९३६ को दोनों देशों ने एक नई सन्धि में पानामा के सर्वोच्च अधिकारों को स्वीकार कर लिया।

पश्चिमी द्वीपसमूह के टापुओं (West Indies) में भी अमेरिकन साम्राज्यवाद इसी प्रकार समाप्त हुआ। हैटी (Haiti) द्वीप में १९१४–१५ में विद्रोह और क्रान्तियां होने पर अमेरिकन फौजें अमेरिकी सम्पत्ति और नागरिकों की रक्षा के लिए भेजी गई थीं। इनके प्रभाव से स्थापित सरकार ने सं० रा० अमेरिका से एक सन्धि करके इसे सं० रा० अमेरिका का संरक्षित राज्य बना दिया। १९२९ में यहां पुनः भीषण दंगे हुए,

अमेरिका विरोधी तत्त्व प्रबल हुए, रूजवैल्ट के सत्तारूढ़ होने पर इसके प्रति अमेरिका की नीति में परिवर्तन हुआ। ६ अगस्त, १९३४ को इस टापू से अमेरिकन फौजें हटा ली गईं।

सं० रा० अमेरिका की लैटिन अमेरिका के प्रति नई नीति का एक बड़ा कारण सामयिक परिस्थितियों के कारण **मुनरो सिद्धान्त** की नई व्याख्या थी। दिसम्बर १९२८ में अमेरिकी सरकार की प्रार्थना पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के ज्ञाता एक प्रसिद्ध वकील रूबेन क्लार्क (Reuben Clark) ने इस सिद्धान्त की सही व्याख्या के एक आवेदनपत्र में लिखा कि इस सिद्धान्त का मूल अभिप्राय "योरोप और अमेरिका के मध्य ढाल" का काम करना था, इसे अमेरिकी महाद्वीप के अन्य गणराज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने का बहाना नहीं बनाया जा सकता।

रूजवैल्ट की विदेशनीति (१९३२–४१)—इस समय अमेरिकी विदेशनीति शनैः शनैः पार्थक्यवाद से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बढ़ी। सितम्बर १९३९ में योरोप में द्वितीय विश्व-युद्ध छिड़ जाने पर मित्रराष्ट्रों के साथ सहानुभूति रखने पर भी अमेरिकी जनता की बहुसंख्या युद्ध में नहीं पड़ना चाहती थी, किन्तु ७ दिसम्बर, १९४१ को पर्ल हार्बर पर आक्रमण ने उसे युद्ध के लिए विवश कर दिया। राष्ट्रपति रूजवैल्ट अपनी प्रथम अवधि (१९३२–३७) में प्रायः अमेरिका की विषम आर्थिक समस्याओं को विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण से नये कानूनों द्वारा हल करने में लगे रहे। इस समय कई कारणों से अमेरिका में युद्ध से पृथक् रहने की नीति का प्राधान्य था, एरिक रेमार्क के 'आल क्वायट ऑन दी वैस्टर्न फ्रण्ट' आदि युद्धविरोधी उपन्यासों से, अमेरिकी शस्त्रास्त्र निर्माताओं के कामों की सीनेट द्वारा की गई जांच से हुए भण्डाफोड़ से, वाल्टर मिलिस के The Road to War तथा एंजेलब्रैख्ट Merchants of Death के प्रकाशन से, मित्रराष्ट्रों द्वारा युद्धऋणों की अदायगी न करने से अमेरिका में युद्धों से अलग रहने की पार्थक्यवाद (Isolationism) की भावना बड़ी सुदृढ़ हुई। १९३७ में ली गई गैलप पोल (Gallup Poll) से यह प्रकट हुआ कि ६४ प्रतिशत अमेरिकन प्रथम विश्व-युद्ध में अमेरिका के प्रवेश को भारी भूल समझते थे। सीनेट की विदेश समिति के २३ सदस्यों में से अधिकांश पार्थक्यवादी थे। अतः रूजवैल्ट को इस नीति का अनुसरण करना पड़ा। इस समय से अमेरिका को भावी योरोपियन युद्धों में सम्मिलित होने से रोकने के लिए तटस्थता कानून (Neutrality Law) बनाए जाने लगे।

तटस्थता कानून—इस प्रकार का पहला कानून ३१ अगस्त, १९३५ को कांग्रेस ने पास किया और इसके बाद १९३६–३७ तथा १९३९ में ऐसे कानून बने। इन कानूनों में राष्ट्रपति पर यह बाध्यता डाली गई थी कि जब वह दो विदेशी राज्यों में युद्ध छिड़ने की स्थिति समझे तो इसकी घोषणा कर दे और इसके बाद वह निम्न बातों को अवैध घोषित कर सकता था—(१) योद्धा राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र सामग्री का बेचना, (२) ऐसी सामग्री का सं० रा० अमेरिका के जहाज़ों में योद्धा राष्ट्रों को भेजना, (३) अमेरिकी नागरिकों का योद्धा राष्ट्रों के जहाज़ों में यात्रा करना, (४) योद्धा राष्ट्रों की सरकारी सिक्यूरिटियां खरीदना, (५) योद्धा राष्ट्रों के युद्धपोतों, पनडुब्बियों, सशस्त्र व्यापारिक जहाज़ों द्वारा अमेरिकी बन्दरगाहों का उपयोग। योद्धा राष्ट्र शस्त्रास्त्र की निषिद्ध

सामग्री के अतिरिक्त अन्य माल नकद दाम देकर अपने जहाज़ों में ही ले जा सकते थे। यही सुप्रसिद्ध (Cash and Carry) व्यवस्था थी, इसका उद्देश्य सब उपायों से अमेरिका को युद्ध से पृथक् रखना था।

राष्ट्रपति और विदेश-मन्त्री कार्डेल हल इन कानूनों से सन्तुष्ट न थे, क्योंकि इनमें आक्रामक और आक्रान्त दोनों देशों पर समान रूप से शस्त्रास्त्र भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, यह आक्रान्त देश के साथ घोर अन्याय था। उदाहरणार्थ इटली द्वारा एबीसीनिया पर आक्रमण किए जाने पर अमेरिका ने इस कानून के अनुसार दोनों देशों को समान रूप से शस्त्र बेचना और भेजना बन्द कर दिया। कांग्रेस ने यह व्यवस्था जानबूझ कर की थी, क्योंकि उसे रूजवैल्ट पर पार्थक्यवाद के कठोरतापूर्वक पालन का पूरा भरोसा नहीं था। फिर भी २९ फरवरी, १९३७ को पास किए गए दूसरे तटस्थता कानून में राष्ट्रपति को युद्ध की स्थिति घोषित करने में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक स्वतन्त्रता दी गई। जुलाई १९३७ में स्पेन का गृहयुद्ध छिड़ गया, यद्यपि उपर्युक्त कानून में गृहयुद्ध के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नहीं थी, किन्तु रूजवैल्ट ने स्वयमेव दोनों पक्षों को शस्त्रास्त्र भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

१९३७ में स्पेन के गृहयुद्ध में हिटलर और मुसोलिनी द्वारा खुले रूप में हस्तक्षेप से तथा ७ जुलाई, १९३७ को जापान द्वारा चीन पर आक्रमण करने से बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को दूर करने के लिए रूजवैल्ट ने ५ अक्टूबर, १९३७ में शिकागो में अपनी सुप्रसिद्ध **'क्वारण्टीन वक्तृता'** दी, इसमें उसने कहा—"लुटेरा राज्यों ने आतंक का राज्य स्थापित कर लिया है, इनके आक्रमणों को पार्थक्यवाद से या तटस्थता से नहीं रोका जा सकता, अन्ततोगत्वा वे सं० रा० को भी चुनौती देंगे। जब कोई संक्रामक महामारी फैलती है तो समाज यह चाहता है कि इसके बीमारों को पृथक् स्थान में रखने की क्वारण्टीन व्यवस्था द्वारा महामारी को रोका जाए, आक्रामक राष्ट्रों को भी इसी प्रकार रोकना चाहिए।" किन्तु रूजवैल्ट की इस वक्तृता का पार्थक्यवादी शिकागो ट्रिब्यून आदि पत्रों ने घोर विरोध किया, इस समय तक ९४–९५% अमेरिकी जनता सं० राज्य से बाहर किसी युद्ध में सम्मिलित होने की घोर विरोधी थी।

सितम्बर १९३९ में योरोप में युद्ध छिड़ने पर सं० रा० अमेरिका का लोकमत जर्मनविरोधी होता हुआ भी युद्ध से पृथक् रहना चाहता था। अतः रूजवैल्ट ने अमेरिका के तटस्थ रहने की घोषणा की। फिर भी इस समय उसने अमेरिका की सुरक्षा व्यवस्था सुदृढ़ बनाई, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस को सहायता देने का मार्ग प्रशस्त किया, मित्रराष्ट्रों को सहायता पहुँचाने की दृष्टि से नवम्बर १९३९ में तटस्थता कानून का संशोधन किया गया। नए कानून में यद्यपि अमेरिकन जहाज़ों का युद्धक्षेत्र में जाना निषिद्ध था, किन्तु इसमें योद्धा राष्ट्रों को शस्त्रास्त्र बेचने का प्रतिबन्ध हटा लिया, वे **'नकद दाम दो और लेजाओ'** (Cash and Carry) के अनुसार शस्त्रास्त्र का दाम चुका कर इन्हें अपने जहाज़ों में ले जा सकते थे। ब्रिटेन की नौसेना का समुद्रों पर प्रभुत्व था, अतः वह इसका लाभ उठा सकता था। किन्तु जर्मनी अपनी ऐसी नौशक्ति न होने के कारण यह रणसामग्री नहीं ले सकता था। १९४० में जर्मनी द्वारा डेन्मार्क,

नार्वे, बेल्जियम, हालैण्ड जीत लिए जाने के बाद सं० रा० अमेरिका ने अपनी सुरक्षा के लिए विभिन्न प्रकार की रणसामग्री तैयार करने और ५० हजार वायुयान प्रति-वर्ष बनाने की योजना बनाई। २४ जून, १९४० को फ्रांस के पतन के बाद राष्ट्रपति ने ब्रिटेन को प्रत्येक प्रकार की रणसामग्री भेजी और न्यूफाउण्डलैण्ड से ब्रिटिश गायना तक के ८ अड्डे ९९ वर्ष के पट्टे पर लेकर उसके बदले ग्रेट ब्रिटेन को इस समय सबसे अधिक आवश्यक ५० डिस्ट्रायर प्रदान किए। चर्चिल के शब्दों में यह सर्वथा 'तटस्थता विरोधी' कार्य था।

रूज़वैल्ट द्वारा तटस्थता की नीति का परित्याग इस विश्वास पर आधारित था कि योरोप में हिटलर की विजय का परिणाम सं० रा० का शेष जगत् से सम्बन्ध विच्छिन्न होना, उसका सर्वतोमुखी विनाश और लोकतन्त्र का तथा स्वतन्त्रता का अन्त होगा। किन्तु अमेरिका में ब्रिटेन को सहायता देने का पक्ष प्रबल होते हुए भी अमेरिका के युद्ध में कूदने के १ मास पूर्व नवम्बर १९४१ तक केवल २० प्रतिशत अमेरिकन ही युद्ध में सम्मिलित होने के पक्षपाती थे। फिर भी रूज़वैल्ट नें लोकतन्त्रों को युद्ध के लिए सेना भेजने के अतिरिक्त सब प्रकार की रणसामग्री की सहायता—समुद्री जहाज़, वायु-यान, टैंक और मशीनें उधार-पट्टे (Lend-Lease) का बिल ११ मार्च, १९४१ को पास होने पर बड़ी शीघ्रता से भेजना शुरू किया। अब अमेरिका 'लोकतन्त्र का शस्त्रागार' (Arsenal of Democracy) बन गया। १९४२ तक ब्रिटेन तथा रूस को अमेरिका ने ८,२५,३०,००,००० डालर की रणसामग्री भेजी थी।

सं० रा० अमेरिका इतनी भारी सहायता देने के बाद भी युद्ध में न सम्मिलित होता, यदि जापान उसे विवश न करता। हिटलर की फ्रांस तथा हालैंड पर विजयों ने जापान को दक्षिण पूर्वी एशिया में इनके उपनिवेशों को प्राप्त करने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। हिटलर द्वारा रूस पर आक्रमण के बाद जापान को सुदूरपूर्व में 'रूसी भालू' का भी डर नहीं रहा, 'ब्रिटिश सिंह' अपने टापू की रक्षा में संलग्न था। अतः यहां जापान के प्रभाव को रोकने वाली एकमात्र बड़ी शक्ति सं० रा० अमेरिका थी, इसका टोकियो के साथ चीन में आर्थिक स्वार्थों का उग्र संघर्ष था। जापान चीन को अपने साम्राज्य का अंग बनाना चाहता था, अमेरिका इसमें मुक्त द्वार व्यापार नीति का पक्ष-पाती और उसके प्रसार का विरोधी था। जुलाई १९४१ में जब जापान ने फ्रेंच हिन्द चीन में अपना आर्थिक विस्तार करना आरम्भ किया तो अमेरिका ने सं० रा० अमेरिका में विद्यमान सारी जापानी पूंजी जब्त करके उस पर कड़े आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये। अब जापान के आगे दो ही मार्ग थे—अपनी विस्तार की योजनाओं का परित्याग अथवा सं० रा० अमेरिका से लड़ाई। कोनोये (Konoye) के जापानी मंत्रि-मण्डल ने अमेरिका से संधि करनी चाही, किन्तु यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। अक्टूबर के मध्य में युद्धवादी जनरल हिदेकी तोजो (Tojo) जापान का प्रधानमन्त्री बना और नवम्बर में विदेश-मन्त्री कार्डेल हल को यह निश्चय हो गया कि युद्ध अनिवार्य है। फिर भी दोनों देशों में संधिवार्त्ता चलती रही, ६ दिस० को रूज़वैल्ट ने शान्ति बनाए रखने के लिए जापान के सम्राट् हिरोहितो से वैयक्तिक प्रार्थना की। जापानी राजदूत नोमुरा

तथा कुरुसु ने विदेश-मन्त्री कार्डेल हल के साथ सन्धि-प्रस्तावों पर चर्चा की।

किन्तु अगले ही दिन ७ दिस० को प्रातःकाल ७–५५ पर हवाई द्वीप के पर्ल हार्बर के अमेरिकी नौसैनिक अड्डे पर जापान ने अनभ्र वज्रपात की भांति सहसा आक्रमण कर उसे भीषण क्षति पहुँचायी। अब तक सं० रा० अमेरिका में युद्ध में सम्मिलित होने या न होने के प्रश्न पर गहरा मतभेद था, किन्तु इस अप्रत्याशित आक्रमण ने इसे समाप्त कर दिया और सीनेट ने सर्वसम्मति से ८ दिस० को जापान के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी, ११ दिस० को जर्मनी और इटली के सं० रा० के विरुद्ध युद्ध घोषित करने पर वाशिंगटन ने इनके विरुद्ध ऐसी घोषणा की और अब पुरानी दुनिया तक सीमित युद्ध नई दुनिया में आ गया, इसने इसे विश्व-युद्ध का रूप प्रदान किया।

सोवियत रूस की विदेशनीति

७ नवम्बर, १६१७ की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद रूस की विदेशनीति सात विभिन्न अवस्थाओं में से होकर गुजरी है। **पहली** अवस्था (१६१७–२१) पश्चिमी राष्ट्रों के साथ उग्र विरोध तथा सारे संसार में साम्यवादी क्रान्ति फैलाने की थी। **दूसरी** अवस्था (१६२१–१६३४) रक्षात्मक पार्थक्य (Defensive Isolation) की थी, इसमें रूस ने आत्मरक्षा के लिए विभिन्न शक्तियों से संधियां कीं, दूसरे देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाये, दूसरे देशों में साम्यवादी प्रचार करना कम कर दिया। किन्तु सामान्यतः वह पश्चिमी देशों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से पृथक् रहा और राष्ट्र-संघ में भी सम्मिलित नहीं हुआ। **तीसरी** अवस्था (१६३४–३८) राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने तथा पश्चिम के साथ सहयोग की थी। **चौथी** अवस्था (१६३८–३६) उसके पश्चिमी राष्ट्रों से पृथक् रहने तथा संकटपूर्ण पार्थक्य (Dangerous Isolation) की थी। **पांचवीं** दशा (अगस्त १६३६, जून १६४१) उसकी जर्मनी के साथ मित्रता की थी। **छठी** अवस्था (जून १६४१, अगस्त १६४५) पश्चिमी राष्ट्रों के साथ घनिष्ठ मैत्री की थी। **सातवीं** दशा (१६४५ से) द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद उसके पश्चिमी राष्ट्रों के साथ तनाव और शीतयुद्ध (Cold War) की स्थिति है। यहां पहली छः अवस्थाओं का क्रमशः वर्णन किया जायगा, अन्तिम दशा का प्रतिपादन **नवें** अध्याय में होगा।

प्रथमावस्था (१६१७–१६२१) पश्चिमी शक्तियों से विरोध तथा इसके कारण—बोल्शेविक क्रान्ति के बाद रूस के आरम्भिक चार वर्ष विदेशनीति की दृष्टि से पश्चिमी शक्तियों के साथ उग्र संघर्ष के थे। इसके प्रमुख कारण ये थे—(१) रूसी क्रान्ति को दूसरे देशों में फैलाकर पूंजीवादी, बूर्जुआ सरकारों की समाप्ति का ध्येय, (२) रूस द्वारा जर्मनी से पृथक् संधि करना, (३) रूस द्वारा मित्रराष्ट्रों से प्राप्त किये गये सार्वजनिक ऋणों (Public debts) की अदायगी न करने की घोषणा, (४) मित्रराष्ट्रों द्वारा रूसी क्रान्ति को दबाने के लिए सेनाओं का भेजना। (१) रूसी साम्यवादी अपनी क्रान्ति को विश्वक्रान्ति का अग्रदूत समझते थे। वे इसका वास्तविक ध्येय सब देशों में पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का विध्वंस, वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का उच्छेद, सब देशों में सर्वहारावर्ग की अधिनायकता (Dictator-

ship of the Proletariat) की स्थापना तथा सोवियत गणराज्यों के विश्वसंघ का निर्माण समझते थे। उनका मूल मन्त्र कम्यूनिस्ट मैनिफैस्टो का यह नारा था—"विश्व के मजदूरो एक हो जाओ, तुम्हें अपनी बन्धन शृङ्खलाओं के अतिरिक्त कुछ नहीं खोना है।" मार्च १९१९ में मास्को में आयोजित एक अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिस्ट सम्मेलन में विश्वक्रान्ति की योजना को क्रिया रूप में परिणत करने के लिए थर्ड (कम्यूनिस्ट) इण्टरनेशनल[७३] (Third International) या कोमिण्टर्न (Comintern) नामक संस्था का रूसी सरकार की सहायता से संगठन हुआ और इसके पहले प्रधान जिनोवीव (Gregory Zinoviev) चुने गए। मास्को में प्रधान कार्यालय रखने वाली इस संस्था का मुख्य कार्य दूसरे देशों में साम्यवादी दलों का संगठन करना, उन्हें धन की सहायता देना, साम्यवादी साहित्य, वक्ता और प्रचारक भेजना, मजदूरों और किसानों में वर्तमान सरकारों के विरुद्ध क्रान्ति और विद्रोह की भावनायें भड़काना था। यह संस्था अपने को विश्व क्रान्ति का प्रधान सैन्य अधिकारी मंडल (General Staff) समझती थी। इससे विदेशी सरकारों का भयभीत होना स्वाभाविक था, जर्मनी, हंगरी और बाल्टिक राज्यों ने इस संस्था द्वारा इन देशों के क्रान्तिकारी दलों को दी जाने वाली सहायता का घोर विरोध किया। सं० रा० अमेरिका में इसने लाल आतंक (Red Scare) को जन्म दिया। सैकड़ों संदिग्ध व्यक्तियों को वहां से निर्वासित किया गया। अनेक देशों में साम्यवादी लाल झण्डे का फहराना अपराध बना दिया गया। १९२१ तक सोवियत सरकार की वैदेशिक नीति विश्वक्रान्ति को सफल बनाना और रूस को आधार बनाकर पूंजीवादी देशों में साम्यवादी क्रान्तियों और विद्रोहों को प्रोत्साहित करना था। यह दूसरे देशों को सह्य न था, अतः इस समय में दोनों में तीव्र विरोध और उग्र संघर्ष बना रहा।

(२) **दूसरा कारण**—लेनिन द्वारा जर्मनी के साथ मित्रराष्ट्रों से अलग होकर **ब्रैस्टलिटोवस्क की संधि** करना था (३ मार्च, १९१८)। इस सन्धि द्वारा रूस ने जर्मनी को रूसी, पोलैण्ड, लिथुआनिया, कूरलैण्ड, लिवोनिया, इस्टोनिया के प्रदेश और कुछ टापू प्रदान किए, टर्की को कार्स, बातुम (Batum), आर्दाहान (Aredahan) के प्रदेश मिले, फिनलैण्ड, यूक्रेन, जार्जिया को रूस ने स्वतन्त्र स्वीकार किया। १२ करोड़ मार्क का हरजाना बर्लिन को देना स्वीकार किया। इस संधि से रूस को ५ लाख वर्गमील प्रदेश, ६,६०,००,००० जनसंख्या, ८९ प्रतिशत कोयले की खानों, ८५ प्रतिशत चुकन्दर, ५४ प्रतिशत औद्योगिक कारखानों तथा ३२ प्रतिशत कृषि की भूमि से वंचित होना पड़ा। इससे जर्मनी को यूक्रेन का उर्वर प्रदेश, आजरबैजान के तेलकूप प्राप्त हुए। ईरान, अफगानिस्तान, भारत में ब्रिटिशविरोधी प्रचार के द्वार खुल गये, पूर्वी मोर्चे पर लड़ाई

७३. इसे थर्ड या तृतीय इंटरनेशनल कहने का यह कारण है कि इससे पहले दो ऐसे संगठन बन चुके थे। १८६४ में कार्ल मार्क्स द्वारा पहला अन्तर्राष्ट्रीय (First International) मजदूर संगठन स्थापित किया गया था, १८७६ तक इसके अधिवेशन होते रहे। इसके बाद दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (Second International) १८८९ में बना, किन्तु प्रथम विश्व-युद्ध छिड़ने पर यह बन्द हो गया।

बन्द होने से पश्चिमी मोर्चे पर उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई। मित्रराष्ट्रों ने इसे रूस द्वारा जानबूझ कर उन्हें हराने के लिए किया गया विश्वासघात समझा। इस प्रकार रूस के साथ उनके उग्र विरोध और प्रबल शत्रुता का बीजारोपण हुआ।

(३) **तीसरा कारण**—रूस की साम्यवादी सरकार द्वारा विदेशी पूंजी द्वारा स्थापित औद्योगिक संस्थानों का राष्ट्रीयकरण, विदेशी ऋणों को रद्द करना (२४ दिस० १९१७), सब ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण (२७ दिस० १९१७), विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिपत्य स्थापित करना (२२ अप्रैल, १९१८), तथा व्यापारिक जहाजों का राष्ट्रीयकरण था। इससे पश्चिम के सम्बन्ध रूस से बड़े कटु एवं शत्रुतापूर्ण हो गए।

(४) **चौथा कारण**—पश्चिमी राष्ट्रों का रूस के गृहयुद्ध में बोल्शेविक-विरोधी दलों को रणसामग्री की सहायता और सैनिक हस्तक्षेप तथा रूस के आर्थिक प्रतिरोध (Blockade) की नीति थी। १६ नवम्बर, १९१७ को फ्रांस, ब्रिटेन और सं० रा० ने बोल्शेविक शासन को सब प्रकार का सामान देना बन्द कर दिया, ३० दिसम्बर, १९१७ को जापानी फौजें ब्लाडीवोस्टक में उतरीं, १९१८ में चैकोस्लोवाक, ब्रिटिश, फ्रेंच, अमेरिकन, जापानी सेनाओं ने बोल्शेविक क्रान्ति के विरोधी रूसियों से सहयोग करते हुए इसके विभिन्न प्रदेश जीतने शुरू किए। उत्तर में ब्रिटिश फौजें मुरमांस्क में उतरीं (२३ जून, १९१८), ब्रिटिश-फ्रेंच फौजों ने आर्केंजल जीत कर (२ अगस्त) मास्को की ओर बढ़ना शुरू किया। दक्षिण रूस और काकेशस में जनरल देरिकिन (Derikin) ने रूसियों को हराया (जनवरी १९१९), इससे पहले उसने यूक्रेन भी जीता (अगस्त-दिसम्बर १९१९), श्वेत रूस में जनरल युदेनिच (Yudenitch) पेत्रोग्राद तक बढ़ आया (१९ अक्टू० १९१९), साइबेरिया में चैक युद्धबन्दियों ने ट्रान्ससाइबेरियन रेलमार्ग पर अधिकार कर लिया (जून १९१८), एडमिरल एलेक्जेण्डर कोलचक को ओमस्क में रूस का सर्वोच्च शासक घोषित किया गया (१८ नवम्बर, १९१८) और उसकी श्वेत सेनाओं ने पूर्वी रूस में बढ़ना शुरू किया।

इसी समय त्रातस्की ने रूसी किसानों और मजदूरों की लाल सेना का संगठन किया और आन्तरिक झगड़ों से विभक्त विदेशी सेनाओं को परास्त किया, १९२१ तक रूस में सर्वत्र बोल्शेविक शासन सुदृढ़ हो गया। किन्तु इस समय में सोवियत रूस को अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए विदेशी शत्रुओं को तथा क्रान्ति चाहने वाले अपने देशवासियों का भीषण दमन करना पड़ा और उस समय से सोवियत शासन का एक प्रधान आधार यह बना हुआ है। मित्रराष्ट्रों द्वारा क्रान्ति को कुचलने के सैनिक प्रयत्नों ने तथा आर्थिक प्रतिरोध ने रूस को पश्चिम का कट्टर विरोधी और अविश्वासी बना दिया। पश्चिमी राष्ट्र यह समझते थे कि इस समय रूस समूचे 'बूर्जुआ जगत्' की सरकारों को उलटने का प्रयत्न कर रहा है, सब देशों में विद्रोह कराने के लिए कम्यूनिस्ट पार्टियों का संगठन कर रहा है, उसके दूतावास जासूसी और विद्रोह के केन्द्र हैं, अतः सोवियत सरकार का समूलोन्मूलन होना चाहिए। इस दृष्टि से उनके सैनिक हस्तक्षेप और आर्थिक प्रतिरोध के कार्य सर्वथा न्यायोचित थे। इसके विपरीत रूस का यह

कहना था कि उसका उद्देश्य तो रूस में क्रान्ति की रक्षा करना था, न कि इसका दूसरे देशों में प्रचार करना, लेनिन विश्वक्रान्ति के विचार को 'महामूर्खता' कहा करता था। सोवियत रूस और पश्चिमी राष्ट्रों की पहली रस्साकशी में दोनों पक्ष बराबर रहे; न तो पश्चिमी राष्ट्र रूस की साम्यवादी सरकार का समूलोन्मूलन कर सके और न रूस पश्चिम की पूंजीवादी बूर्जुआ सरकारों का अन्त कर पाया। किन्तु पश्चिमी राष्ट्रों ने चिरकाल तक रूस की बोल्शेविक सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की।

द्वितीयावस्था (१९२१–३४)—१९२१ का वर्ष सोवियत रूस की वैदेशिक एवं गृहनीति में बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाला था। इस समय तक यद्यपि गृह-युद्ध और विदेशी आक्रमणों के रोकने में रूस को पूरी सफलता मिली थी, किन्तु पूंजीवाद का समूलोन्मूलन नहीं हो सका था और पिछले छः वर्षों में रूस की आर्थिक दशा इतनी बिगड़ चुकी थी कि उसका सुधार करने के लिए पूंजीवाद के साथ कुछ समझौता आवश्यक था। लेनिन ने इसे अनुभव करते हुए दोनों का मिश्रण करके **नयी आर्थिक नीति** (New Economic Policy—NEP) चलायी। इसके अनुसार विदेशी व्यापार, बैंकिंग, बड़े उद्योगों, सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तुओं के सम्बन्ध में साम्यवाद के राष्ट्रीयकरण का सिद्धान्त मानते हुए भी, आन्तरिक व्यापार, कृषि तथा लघु उद्योगों के लिए पूंजीवाद को स्वीकार किया गया। गृहनीति में इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के अतिरिक्त आर्थिक कारणों से रूस को पश्चिमी देशों के साथ उग्र संघर्ष और असहयोग की नीति छोड़नी पड़ी। उसे आर्थिक पुनरुद्धार के लिए बाहर से मशीनें, पक्का माल, कारीगर और इंजीनियर मँगवाने आवश्यक थे, इन्हें वह अनाज, तेल, इमारती लकड़ी और अन्य कच्चा माल दूसरे देशों में भेजकर प्राप्त कर सकता था। दूसरे देश भी अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए रूस के साथ व्यापार बढ़ाने को उत्सुक थे। अतः साम्यवादी रूस तथा बूर्जुआ देशों में व्यापारिक समझौते होने लगे, १९२२ के जेनीवा सम्मेलन में रूस का विदेश-मन्त्री चिचेरिन (Chicherin) पहली बार पूंजीपति देशों के प्रतिनिधियों से व्यापारिक संधियां करने के लिए मिला। इसमें सबसे बड़ी बाधा पश्चिमी राज्यों द्वारा रूस को दिए गए ऋणों की अदायगी की माँग थी, किन्तु रूस का यह कहना था कि यद्यपि उसने मित्रराष्ट्रों का १३ अरब डालर देना था, किन्तु आर्थिक प्रतिरोध और सैनिक हस्तक्षेप द्वारा रूस को पहुँचायी गयी क्षति के बदले उनसे ६० अरब डालर लेना भी है। दोनों पक्षों के अपनी बात पर अड़े रहने से अन्य देशों से बो कोई समझौता नहीं हो सका, किन्तु जर्मनी ने रापोल्लो की संधि (१६ अप्रैल, १९२२) द्वारा रूस के ऋणों को रद्द करने की बात स्वीकार करके उससे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए (देखिए पृ० ८७)। दूसरे देश भी रूस की मण्डियों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने भी रूस को मान्यता देते हुए आर्थिक संधियां करनी शुरू कीं। ग्रेट ब्रिटेन ने १ फर० १९२४ को रूसी सरकार को मान्यता दी, इटली ने ७ फरवरी को, फ्रांस ने २८ अक्टूबर को तथा जापान ने २१ जनवरी, १९२५ को। महाशक्तियों में केवल सं० रा० अमेरिका ने ही १९३३ तक इसके साथ दौत्य सम्बन्ध नहीं स्थापित किये।

रूस के पश्चिमी देशों के साथ सम्बन्ध सुधरने का एक बड़ा कारण रूस द्वारा

विश्वशान्ति के विचार का शनैः-शनैः परित्याग था। लेनिन की मृत्यु (२१ जनवरी, १९२४) के बाद स्तालिन साम्यवादी क्रान्ति को रूस में ही सुदृढ़ करने का पक्षपाती था, पर उग्रवादी त्रातस्की (Trotsky) विश्वक्रान्ति का समर्थक था। किन्तु अगले दो वर्षों में त्रातस्की का दल पराभूत हो गया (जुलाई-अक्टूबर १९२६)। सोवियत नेता अपने देश में साम्यवाद सुदृढ़ बनाने के लिए शान्ति के प्रबल समर्थक बने और अपनी सुरक्षा के लिए रूस ने अपने सब पड़ोसी राज्यों—टर्की (१९२५, १९३५), जर्मनी (१९२६), अफगानिस्तान (१९२६), लिथुआनिया (१९२६), ईरान (१९२७), फिनलैण्ड, इस्टोनिया, पोलैण्ड (१९३१), लैटविया, चैकोस्लोवाकिया (१९३३), यूगोस्लोवाकिया, इटली (१९३३) के साथ अनाक्रमण समझौते किए। हिटलर के उत्कर्ष से भयभीत होकर रूस ने बर्लिन के कट्टर शत्रु फ्रांस के साथ (१९३२) में तटस्थता की संधि की (देखिए ऊपर चौथा अध्याय)।

प्रथम विश्व-युद्ध, क्रान्ति, गृहयुद्ध, पश्चिमी राष्ट्रों के सैनिक हस्तक्षेप तथा आर्थिक प्रतिरोध से विध्वस्त सोवियत रूस ने इस समय शान्तिवाद का प्रबल समर्थन तथा विदेशों के साथ आर्थिक समझौते करने तथा व्यापार बढ़ाने का प्रयास किया। तत्कालीन विदेश-मंत्रियों—चिचेरिन तथा लिटविनोव ने अपनी सारी शक्ति दूसरे देशों के साथ अनाक्रमण समझौते करने तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाने में लगाई। किन्तु पश्चिमी राष्ट्रों का रूस के प्रति संदेह बना रहा और कई बार कोमिण्टर्न द्वारा विश्वव्यापी साम्यवादी क्रान्ति फैलाने के लिए दूसरे देशों में किए जाने वाले प्रयत्नों से यह अविश्वास पुष्ट होता रहा। .९२५ में जिनोवीव पत्र के प्रकाशन के बाद तथा १९२६ की ब्रिटिश मज़दूरों की हड़ताल में बोल्शेविक श्रमिक संघों द्वारा आर्थिक सहायता दिए जाने के बाद अनुदार दली ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने मज़दूर दली सरकार द्वारा दी गई रूस की मान्यता को वापिस ले लिया। रूस राष्ट्रसंघ को सोवियत रूस के विरुद्ध पश्चिम का षड्यन्त्र समझकर उससे पृथक् रहा, किन्तु उसके प्रतिनिधि निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों में सम्मिलित होते रहे, (पृ० १२०) तथा युद्धविरोधी केलाग-ब्रीआं पैक्ट (पृ० १०७) के महत्त्वपूर्ण समर्थक थे।

१९३३ तक केवल सं० रा० अमेरिका ही रूस को मान्यता न देने वाली महाशक्ति था, क्योंकि उसने अमेरिका का ८० करोड़ डालर का ऋण नहीं चुकाया था और वह दूसरे देशों में कोमिण्टर्न द्वारा लोकतन्त्री सरकारों का उन्मूलन करना चाहता था। किन्तु १९३२ में रूस में अमेरिकी माल की बिक्री का मूल्य घटते हुए १,३० लाख डालर रह गया, यह इंगलैंड और जर्मनी के व्यापार का क्रमशः $\frac{1}{3}$ तथा $\frac{1}{10}$ था, अतः अमेरिकन व्यापारी अपनी सरकार से रूस के साथ सम्बन्ध बढ़ाने पर बल देते रहे। इस समय सुदूरपूर्व में इन दोनों के शत्रु—जापान के मंचूरिया पर आक्रमण ने इन्हें मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के लिए बाधित किया। रूजवैल्ट के निमन्त्रण पर रूसी विदेश-मंत्री लिटविनोव वाशिंगटन आया, सं० रा० अमेरिका ने रूस की कम्यूनिस्ट सरकार को क्रान्ति के १६ वर्ष बाद स्वीकार किया (१७ नव० १९३३) और एक सन्धि द्वारा दोनों सरकारों ने एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा का तथा विरोधी प्रचार करने

वाले दलों के दमन का वचन दिया। रूस ने अपने देश में आने वाले अमेरिकी यात्रियों को धार्मिक स्वतन्त्रता देने की बात मान ली। इस सन्धि द्वारा रूस की साम्यवादी सरकार को विश्व की सभी महाशक्तियों ने स्वीकार कर लिया।

तृतीयावस्था–पश्चिम के साथ सहयोग (१९३४–१९३८)—१९३३ में जर्मनी में हिटलर के उत्थान के साथ रूस की विदेशनीति में एक नई क्रान्ति हुई। हिटलर कम्यूनिज्म का घोर विरोधी तथा रूस का कट्टर शत्रु था। उसने जर्मनी में उस समय रूस से बाहर सबसे बड़े साम्यवादी दल को नेस्तनाबूद कर दिया था। नात्सी नेताओं की योजना पूर्व की ओर बढ़ने और रूस के प्रदेश जीतने की थी। (देखिए पृ० १३६)। रोज़नबर्ग (Rosenbarg) के शब्दों में नात्सी नीति का ध्येय पश्चिम से पूर्व की ओर, राइन से विस्चुला की तरफ बढ़ना और रूस को एशिया में खदेड़ना था। मास्को का इससे भयभीत होना स्वाभाविक था, अतः उसने हिटलर के विरुद्ध सुरक्षा पाने के लिए पश्चिमी राष्ट्रों से सहयोग करने, तथा फासिज्म के विरुद्ध सब पश्चिमी देशों के लोकतन्त्रों की समाजवादी पार्टियों द्वारा संयुक्त मोर्चा बनाने की नीति अपनाई। जापान द्वारा मंचूरिया की विजय ने भी उसे ऐसा करने को बाधित किया। अतः १८ सितम्बर, १९३४ को वह उस राष्ट्रसंघ का सदस्य बना, जिसे उसने १९१९ में 'सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के दमन के लिए बूर्जुआ राज्यों का पवित्र संघ'[७४] कहा था। २ मई, १९३५ को उसने पिछले मतभेदों और झगड़ों को भुलाते हुए फ्रांस के साथ पारस्परिक सहायता का १८९४ जैसा सैनिक समझौता किया, (दे० पृ० ९१–९२), और पोलैंड तथा बाल्टिक राज्यों के साथ भी मास्को ने अनाक्रमण समझौते किए, टर्की और ग्रेट ब्रिटेन से घनिष्ठता बढ़ाई। १६ मई, १९३५ को चैकोस्लोवाकिया से भी उसकी सन्धि हुई। इस प्रकार रूस ने, फ्रांस और चैकोस्लोवाकिया के सहयोग से नात्सी आक्रमण के विरुद्ध संघ का संघटन सुदृढ़ किया।

विश्वक्रान्ति की नीति के प्रतिकूल इस समय रूस ने पश्चिम के लोकतन्त्रीय देशों में कम्यूनिस्टों को फासिस्ट शासन का विरोध करने वाले सभी बूर्जुआ दलों—उदारवादी, समाजवादी आदि के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा (United Front) बनाने को कहा। यह रूसी विदेशनीति का बिलकुल नया परिवर्तन था, अब तक ये दल 'पूंजीवाद के पिट्ठू' कहे जाते थे, १९३४ के बाद ये 'साम्राज्यवाद के विरुद्ध किए जाने वाले अभियान में बहुमूल्य सहयोगी' समझे जाने लगे। स्पेन और फ्रांस में १९३५-३६ में इस प्रकार के संयुक्त तथा लोकप्रिय मोर्चे (Popular Front) की सरकारों का निर्माण हुआ, किन्तु यह संयुक्त मोर्चा ग्रेट ब्रिटेन, चैकोस्लोवाकिया और सं० रा० अमेरिका में लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सका। इसी समय फासिस्ट शक्तियों ने संयुक्त मोर्चे का मुकाबला **एण्टी-कोमिण्टर्न पैक्ट** के निर्माण द्वारा किया (देखिए पृ० २१२)।

पश्चिमी राष्ट्रों के साथ रूस के सहयोग का उद्देश्य अपनी आत्मरक्षा के लिए संघ की सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) की व्यवस्था को सुदृढ़ बनाना

७४. लैंगसम—दी वर्ल्ड सिन्स १९१९, सप्तम संस्करण, पृ० ३५१।

तथा फासिस्ट शक्तियों के आक्रमणों का सफल प्रतिरोध करना था। किन्तु ऐसे तीन अवसरों पर पश्चिमी राष्ट्रों की नीति से स्पष्ट हो गया कि वे आड़े वक्त में रूस का साथ देने को तैयार नहीं हैं, उन्हें रूस पर विश्वास नहीं है, इनके आक्रमणों को रोकने की अपेक्षा उन्हें रूसी साम्यवाद को रोकने में अधिक दिलचस्पी है। पहला अवसर **इटली–एबीसीनिया युद्ध** (पृ० १६५) था। इसमें रूस ने संघ के माध्यम से मुसोलिनी के बर्बर आक्रमण से आदिस अबाबा की रक्षा का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु शूमैन के शब्दों में लन्दन और पेरिस ने एबीसीनिया और राष्ट्रसंघ की बलि देकर मुसोलिनी की रक्षा की। दूसरा अवसर **स्पेनिश गृहयुद्ध** (पृ० १६८) का था, इस अवसर पर जब रूस ने हिटलर और मुसोलिनी की सशस्त्र सहायता से समर्थित फ्रांको के आक्रमणों से स्पेन के गणराज्य की रक्षा करनी चाही तो फ्रांस और इंगलैण्ड ने इसमें सहयोग नहीं दिया। तीसरा अवसर **म्यूनिक का समझौता** था (पृ० १४८)। फ्रांस १६ मई, १९३५ के समझौते के अनुसार चैकोस्लोवाकिया की रक्षा करने के लिए बाधित था, रूस इस समय उसकी रक्षा करना चाहता था, किन्तु हिटलर के विरोध के कारण फ्रांस और ब्रिटेन ने मास्को को म्यूनिक सम्मेलन में निमन्त्रित तक भी नहीं किया। हिटलर पश्चिमी राष्ट्रों के रूस के प्रति विरोध और अविश्वास को अच्छी तरह जानता था और वह अपने प्रत्येक नये आक्रमण के समय कम्यूनिज्म के विरुद्ध विषवमन करता था। फ्रांस और ब्रिटेन उसके वाग्जाल में फंस जाते थे और इस भ्रान्ति में हिटलर का समर्थन करते थे कि वह अन्त में पूंजीवाद के शत्रु के साथ संघर्ष करेगा। रूस ने १८ मार्च को म्यूनिक के बाद भी पश्चिमी राष्ट्रों के आगे हिटलर का आक्रमण रोकने के लिए छः राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव रखा, किन्तु ब्रिटेन ने इसे असामयिक बताते हुए रद्द कर दिया। इन सब घटनाओं से रूस को विश्वास हो गया कि पश्चिमी राष्ट्र जापान व जर्मनी के आक्रमणों को रोकना नहीं चाहते, किन्तु उन्हें शक्तिशाली बनाकर अन्ततोगत्वा उनसे रूस पर आक्रमण करवाना चाहते हैं। १० मार्च, १९३९ को कम्यूनिष्ट पार्टी की १८वीं बैठक में स्तालिन (Stalin) ने इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा था—"इंगलैंड और फ्रांस ने सामूहिक सुरक्षा की तथा आक्रांताओं के सामूहिक प्रतिरोध की नीति छोड़ दी है, अहस्तक्षेप और तटस्थता की नीति अपनाई है। ....इसका अर्थ जर्मनी को योरोप के मामलों में पड़ने से और सोवियत यूनियन के साथ युद्ध करने से न रोकने का है।.........जर्मनी का उदाहरण लीजिए, उन्होंने (इंगलैंड तथा फ्रांस) आस्ट्रिया को उसकी स्वतन्त्रता का वचन देने के बावजूद जर्मनी को इसे हड़पने दिया, उसे स्यूडेटन प्रदेश लेने दिया, सब वचनों का भंग करते हुए चैकोस्लोवाकिया को उसके भाग्य पर छोड़ दिया और उसके बाद अखबारों में यह झूठा प्रचार किया कि 'रूसी सेना निर्बल है, रूसी वायुसेना का साहस भंग हो चुका है, सोवियत यूनियन में दंगे हो रहे हैं,' इन्होंने जर्मनी को यह प्रेरणा दी कि बोल्शेविकों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दो, सब ठीक हो जायगा।" स्तालिन के इस भाषण से स्पष्ट है कि रूस को अब पश्चिम पर कोई विश्वास नहीं रहा था।

चतुर्थावस्था (१९३८–३९)—म्यूनिक समझौते को सोवियत विदेशनीति के

दो युगों का विभाजक कहा जाता है; इससे पहले मास्को की नीति पश्चिम के साथ सहयोग की थी, म्यूनिक ने फ्रांस और ब्रिटेन में उसका विश्वास और भरोसा बिल्कुल समाप्त कर दिया, अब यह पश्चिम से पराङ्मुख होकर जर्मनी से मित्रता बढ़ाने का प्रयत्न करने लगा। ३ मई, १९३९ को पश्चिम पक्षपाती यहूदी लिटविनोव को विदेश मंत्रीपद से हटाना, पश्चिम के साथ सहयोग की नीति समाप्त करने की सूचना थी। नये विदेश-मंत्री मोलोतोव ने जर्मनी के साथ मैत्री बढ़ाई, इसका अन्तिम परिणाम २३ अगस्त, १९३९ का **जर्मन सोवियत अनाक्रमण समझौता** था (देखिए पृ० ९४–९५, पृ० १५७)। पश्चिम का यह कहना है कि यह समझौता पश्चिमी लोकतन्त्रों के साथ उनके मित्र का विश्वासघात, शान्ति के मोर्चे का विघातक, और सोवियत कूटनीति के दुरंगेपन का परिचायक है। उसने यह समझौता इसलिए किया कि इसके परिणामस्वरूप पश्चिम और जर्मनी प्राणान्तक संघर्ष में जूझकर क्षीण हो जायें तथा संसार में साम्यवाद की प्रभुता स्थापित हो सके, रूस को पोलैंड के और बाल्टिक राज्यों के प्रदेश प्राप्त हो सकें।

इसके विपरीत रूस का यह कहना है कि सामूहिक सुरक्षा के सब प्रयास निष्फल होने पर उसे आत्मरक्षा के लिए वह समझौता करना पड़ा। उसने हिटलर का आक्रमण रोकने के लिए १७ मार्च, १९३८ को, ११ मई, २५ अगस्त, २ तथा ११ सितम्बर, १९३८ को कई प्रस्ताव रखे थे, किन्तु तुष्टीकरण (Appeasement) की नीति के अन्ध-भक्त तथा रूसी हौए से आतंकित चेम्बरलेन और दलादिये ने इन पर कोई ध्यान नहीं दिया। १८ मार्च, १९३९ के रूसी प्रस्तावों की भी यही दशा हुई। ३१ मार्च को ब्रिटिश सरकार ने पोलैंड को रक्षा की गारण्टी दी, किन्तु सोवियत रूस से कोई परामर्श नहीं किया। १७ अप्रैल को मास्को ने रूस, ब्रिटेन और फ्रांस का कहीं भी आक्रमण रोकने का एक गुट बनाने का प्रस्ताव रखा, इसका भी पश्चिम ने सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। इस बीच में रूस ने जर्मनी से भी सन्धिवार्ता चलाई। ११ अगस्त को ब्रिटिश मिशन सन्धि के लिए मास्को पहुँचा, किन्तु उसे सन्धि के पूरे अधिकार नहीं थे, वह पोलैंड तथा बाल्टिक प्रदेश में से रूसी सेनाओं के गुजरने की मास्को की शर्त मानने को तैयार नहीं था, इस पर मास्को ने अपने हितों की सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए बर्लिन से **रूस-जर्मन समझौता** कर लिया। इसे दुरंगी नीति नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रूस ने पश्चिमी राष्ट्रों को अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी थी, जब उन्होंने रूस की शर्तें नहीं स्वीकार कीं, तभी जर्मनी से समझौता किया गया।

इस समय वस्तुतः रूस आत्मरक्षा की दृष्टि से कोई समझौता आवश्यक समझता था, पहले उसने पश्चिम के साथ सन्धि करनी चाही ताकि जर्मन आक्रमण होने की दशा में वह एकाकी न रहे। जब यह सन्धि न हो सकी तो उसके लिए दूसरा मार्ग यही रह गया था कि वह जर्मनी के साथ अनाक्रमण समझौता करे। इससे उसे कई लाभ थे, वह जर्मनी और पश्चिम के युद्ध में तटस्थ रहा और जब उस पर जून १९४१ में जर्मनी ने आक्रमण किया तो उसे पश्चिम का सहयोग प्राप्त हो गया, इस समझौते ने उसके विरुद्ध किये गए **एण्टी-कोमिण्टर्न पैक्ट** को निष्फल बनाया, जापान को

युद्ध में रूस के विरुद्ध बहुत समय तक तटस्थ रखा और जर्मनी द्वारा आक्रमण होने की दशा में उसके विरुद्ध लड़ने के लिए पोलैण्ड के तथा बाल्टिक राज्यों के प्रदेश प्रदान किये।

पंचमावस्था (अगस्त १९३९—जून १९४१) जर्मनी के साथ सहयोग और तटस्थता— युद्ध छिड़ने पर क्रेमलिन की नीति पूर्ण तटस्थता रखते हुए जर्मनी के विरुद्ध अपनी सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने की थी। इस दृष्टि से उसने पूर्वी पोलैण्ड पर, बाल्टिक राज्यों पर तथा फिनलैंड और रूमानिया के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। रूस के इन कार्यों के सम्बन्ध में पश्चिम में यह कहा जाता है कि उसने पोलैंड के साथ विश्वासघात करते हुए उसकी पीठ में छुरा घोंपा, फिनलैंड जैसे निरीह देश पर आक्रमण किया, बाल्टिक राज्यों में जारशाही का अनुसरण करते हुए साम्राज्यवादी विस्तार किया, जबकि स्वयं उसने इस युद्ध में तटस्थ रहते हुए सब देशों की कम्यूनिस्ट पार्टियों को यह आदेश भेजा कि वे इस 'साम्राज्यवादी युद्ध' से पृथक् रहें। निम्न-लिखित विवरण से स्पष्ट हो जायगा कि रूसी विदेशनीति की यह आलोचना अतिरंजित और अत्युक्तिपूर्ण है।

पोलैण्ड पर १ सितम्बर, १९३९ को जर्मन विद्युतयुद्ध (Blitzkrieg) का आक्रमण आरम्भ हुआ, हिटलर की सेनाओं ने बहुत थोड़े समय में इसकी सत्ता समाप्त कर दी, इस समय १७ सितम्बर को रूसी सेनाओं ने पूर्व दिशा से इस पर आक्रमण किया और २९ सितम्बर को इसका बंटवारा कर लिया, रूस ने इसका ७७,६२० वर्गमील का पूर्वी भाग प्राप्त किया, जिसमें मुख्य रूप से श्वेत रूसी और यूक्रेनियन रहते थे। इससे बोल्शेविक रूस की सीमा पश्चिम में २५० मील आगे बढ़ गई। रूस का यह कार्य पोलैण्ड की पीठ में छुरा घोंपना इसलिए नहीं कहा जा सकता कि पोलैण्ड को जर्मनी पहले ही समाप्त कर चुका था। यदि रूस उसका पूर्वी प्रदेश न लेता तो भी जर्मनी ने इसे ले लेना था। पोलैण्ड ने रूसी क्रान्ति का लाभ उठाते हुए १९२१ में यह प्रदेश जबर्दस्ती **रीगा की सन्धि** द्वारा रूस से छीना था, अब यदि रूस ने उसे बलपूर्वक वापिस ले लिया तो इसमें केवल उसे दोष देना व्यर्थ है। रूसियों के इस प्रदेश पर रूस का अधिकार होना ही चाहिए था। आत्मरक्षा की दृष्टि से भी रूस ने इसे हस्तगत किया क्योंकि अब भावी जर्मन-रूस संघर्ष में जर्मनी को पहले २५० मील के इस प्रदेश को जीतना आवश्यक हो गया। इसके बाद क्रैमलिन का अगला कदम बाल्टिक राज्यों के अड्डों का जर्मनी द्वारा प्रयोग न होने देना था, इसके लिए उसने इस्टोनिया (२८ सितम्बर), लैटविया (५ अक्टूबर), लिथुआनिया (१० अक्टूबर) से किसी योरोपियन शक्ति द्वारा आक्रमण की दशा में पारस्परिक सहायता के समझौते किये और इनसे मास्को को पालतिस्की (Poltiski), अजेल (Oesel), दागो (Dago), लीबौ (Libau), विन्दौ (Windau) के नौसैनिक तथा हवाई अड्डे स्थापित करने का अधिकार मिला। ये राज्य मास्को के 'संरक्षण' में आ गए तथा लिथुआनिया को विल्ना का चिरवांछित प्रदेश मिला। इसके बाद रूस ने फिनलैण्ड के कुछ ऐसे सामूहिक प्रदेशों को हस्तगत करना चाहा, जो उसके शत्रु जर्मनी के हाथ में पड़कर उसकी सुरक्षा को बड़े संकट में डाल सकते थे। लेनिनग्राद के महत्त्वपूर्ण नगर के निकट उत्तर में करेलिया (Karelia)

का स्थलडमरूमध्य और इसके पास की खाड़ी के टापू, आर्विटक तट पर पेतसामो बन्दरगाह के समीप के प्रदेश इसी प्रकार के थे। अक्टूबर में मोलोतोव ने मास्को में फिन दूतमंडल से ३० वर्ष के पट्टे पर हांको का बन्दरगाह तथा उपर्युक्त प्रदेश माँगे तथा इनके बदले में **लडोगा** झील तथा आर्क्टिक के मध्य में मध्यकरेलिया का प्रदेश फिनलैण्ड को देने का प्रस्ताव रखा। किन्तु हेलसिंकी इन्हें देने को तैयार नहीं था क्योंकि इससे उसकी करेलिया स्थलडमरूमध्य की मैनरहाइम दुर्गपंक्ति बेकार हो जाती थी। ये प्रस्ताव उसकी 'सुरक्षा', तटस्थता और स्वतन्त्रता के प्रतिकूल थे, किन्तु मास्को लेनिनग्राद की रक्षा के लिए हांको तथा फिनलैण्ड खाड़ी के टापू लेने पर तुला हुआ था। परिणामतः ३० नवम्बर को दोनों देशों में युद्ध शुरू हो गया, सवा तीन महीने के वीरतापूर्ण प्रतिरोध के बाद फिनलैण्ड ने १२ मार्च, १९४० को रूस के साथ सन्धि करके उसे करेलियन स्थलडमरूमध्य, लडोगा झील का तटीय प्रदेश, फिनलैण्ड की खाड़ी के टापू, पेतसामो के निकट कुछ प्रदेश और ३० साल के लिए ३,३०,००० डालर पर हांको का बन्दरगाह प्रदान किया।

१९४० में जर्मनी द्वारा नार्वे, डेन्मार्क, हालैण्ड, बेल्जियम, फ्रांस की विजयों से मास्को भयभीत हो गया और उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए सेनाओं द्वारा लिथुआनिया, लैटविया, इस्टोनिया पर अधिकार कर लिया (१५–१७ जून १९४०)। अगस्त में इनमें स्थानीय चुनाव कराके ये सोवियत यूनियन का अंग बना लिए गए। २८ जून को लाल सेना ने रूमानिया में बेसारबिया तथा बुकोविना के प्रदेश पर अधिकार कर लिया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस समय रूस की विदेशनीति तटस्थ रहते हुए भावी नात्सी आक्रमण से अपने को अधिकाधिक सुरक्षित और सुदृढ़ बनाने की थी, उसने हिटलर को कोई बड़ा लाभ न पहुँचाते हुए भी अपनी शक्ति बढ़ा ली। वह बल्गारिया, यूनान, टर्की में जर्मन प्रभाव को नहीं बढ़ने देना चाहता था। हिटलर के लिए रूस की शक्ति में वृद्धि भयावह थी, अतः उसने ब्रिटेन को जीतने से पहले रूस को जीतने का निश्चय किया। **इसमें उसने कई लाभ सोचे** : मास्को पर विजय से उसे यूक्रेन के विशाल अन्न-भण्डार, काकेशस के तेलकूप प्राप्त होंगे, मित्रराष्ट्रों के साथ चिरकाल तक लड़ने के लिए सब प्रकार की सामग्री के अक्षय स्रोत मिलेंगे, कम्यूनिस्ट रूस के विरुद्ध छेड़ा गया युद्ध ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका के साम्यवाद-विरोधी तत्त्वों को प्रसन्न करेगा, उनमें फूट पैदा करेगा, उनके नात्सीवाद नष्ट करने के निश्चय को निर्बल बनायेगा। नात्सी नेताओं का यह भी विश्वास था कि रूस का रुख अनिश्चित होने के कारण वे ब्रिटेन के विरुद्ध पूरी शक्ति नहीं लगा सकते, अतः पहले विद्युत्युद्ध (Blitzkrieg) द्वारा रूस को नष्ट करके ब्रिटेन को जीतना चाहिए। २२ जून, १९४१ को नात्सी सेनाओं ने सहसा सोवियत यूनियन पर आक्रमण कर दिया।

षष्ठावस्था (जून १९४१, जून १९४५) पश्चिमी राष्ट्रों के साथ सहयोग— हिटलर के इस अप्रत्याशित आक्रमण ने रूस को पश्चिमी राष्ट्रों का मित्र बना दिया। चर्चिल और रूजवैल्ट ने क्रेमलिन को पूरी सहायता का आश्वासन दिया। रूस के इस

युद्ध में पड़ने से साम्यवादियों की दृष्टि में अब तक का 'साम्राज्यवादी युद्ध' (Imperialist War), 'लोक युद्ध' (People's War) में परिवर्तित हो गया। मास्को ने अपने पुराने कट्टर बूर्जुआ शत्रु ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका के साथ घनिष्ठ मैत्री स्थापित कर हिटलर को हराना शुरू किया, इस समय क्रेमलिन लन्दन और वाशिंगटन का पूरा समर्थक और सहयोगी था, उसने इन दोनों द्वारा प्रस्तावित अटलाण्टिक चार्टर पर तथा अन्य युद्ध घोषणाओं पर हस्ताक्षर किये। पश्चिम को प्रसन्न करने के लिए मई १९४३ में रूस की प्रिसीडियम ने पश्चिम के साथ झगड़े की एक बड़ी जड़—कोमिण्टर्न—को भंग करने की घोषणा की। उसने ग्रेट ब्रिटेन (१२ जुलाई, १९४१) तथा फ्रांस (१९४४) और संयुक्त राज्य अमेरिका (११ जून, १९४२) के साथ सन्धियाँ कीं। क्रेमलिन ने युद्ध के समय होने वाले मित्रराष्ट्रों के विविध सम्मेलनों—मास्को (अक्टू० १९४३), तेहरान (नव०–दि० १९४३) तथा याल्ता (फर० १९४५) में भाग लिया। किन्तु इस घनिष्ठ सहयोग के बावजूद दोनों पक्षों में युद्ध के समय में ही कई कारणों से अनेक मतभेद उत्पन्न हो गये। पश्चिमी राष्ट्र यह समझते थे कि वे यद्यपि रूस को भारी सैनिक सहायता पहुँचा रहे हैं, किन्तु रूस उनके साथ मिलकर जर्मनी पर संयुक्त आक्रमण की योजनायें नहीं बनाता, उन्हें अपने सैनिक रहस्य नहीं बताता, अपने सैनिक अड्डों का उपयोग नहीं करने देता। प्राग, बर्लिन जैसे महत्त्वपूर्ण स्थान अपने अधिकार में बनाये रखना चाहता है। उनके कथनानुसार १९४३-४४ में मास्को बर्लिन के साथ ब्रैस्टलिटोवस्क की सन्धि (दे० ऊ० पृ० २१०) की भाँति पृथक् सन्धि करना चाहता था, अतः मित्रराष्ट्रों ने उसे अपने साथ बनाये रखने के लिए तेहरान और याल्ता सम्मेलनों में कुछ विशेष सुविधायें भी प्रदान कीं।

इसके विपरीत रूस का यह कहना था कि मित्रराष्ट्रों द्वारा दी गई रण-सामग्री की सहायता, रूस द्वारा उत्पन्न की गई युद्ध-सामग्री का अत्यल्प अंश—केवल ४ प्रतिशत था। मित्रराष्ट्रों की आन्तरिक इच्छा यही थी कि रूस जर्मनी के साथ संघर्ष में बिल्कुल क्षीण हो जाये, अतः उन्होंने सहायता बहुत विलम्ब से और अत्यल्प मात्रा में केवल दिखावे के लिए दी, हिटलर के विरुद्ध पश्चिम में दूसरा मोर्चा खोलने में जान-बूझकर बहुत देर लगाई। ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओं में सोवियत-विरोधी साहित्य का प्रचार करती रही, लंदन की पोल सरकार ने १९४२ में रूस से १ लाख पोल सेना हटा ली, उसकी स्तालिनग्राद की विजय (२ फर० १९४३) ने मित्रराष्ट्रों को मास्को का ईर्ष्यालु बना दिया, अगस्त १९४३ से उन्होंने अणुबम की वार्ता रूस से गुप्त रखी, नव० १९४३ में ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के सदस्य जान स्मट्स ने सोवियत यूनियन को योरोप का 'नया महादैत्य (New Colossus) बताया, तेहरान सम्मेलन में प्रस्तावित बाल्कान पर हमले की एंग्लो-अमेरिकन योजना का उद्देश्य, रूस की दृष्टि में योरोप में दूसरा मोर्चा खोलने के टालने का बहाना था। सं० रा० अमेरिका द्वारा फ्रांको के स्पेन के साथ समझौता (१४ जुलाई, १९४४), बलगारियन सरकार के साथ ब्रिटिश अमेरिकन सरकारों द्वारा पृथक् संधिवार्ता तथा यूनान में ब्रिटिश मोर्चे ने दोनों पक्षों की कटुता को बढ़ाया। १९४५ में याल्टा, सानफ्रांसिस्को तथा पोटसडाम सम्मेलनों ने मतभेदों को अधिक उग्र बनाया,

जापान में अणुबम के विस्फोट ने रूस को पश्चिम के प्रति अधिक संशयालु बनाया। युद्ध की समाप्ति तक तो ये मतभेद दबे रहे, किन्तु उसके बाद उग्र रूप में प्रकट हुए और इन्होंने शीत युद्ध (Cold War) को जन्म दिया, इसका वर्णन नवें अध्याय में होगा।

सोवियत विदेशनीति का मूल्यांकन—संस्कृत की एक कहावत है कि राजनीति वेश्या की तरह अनेक रूप बदलने वाली होती है (वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा)। सोवियत विदेशनीति के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि वह नाना रूपों वाली रही है, कभी वह पश्चिम की समर्थक और कभी उसकी उग्रविरोधी, कभी हिटलर की शत्रु और कभी उसका मित्र बनी है। कई बार उसमें ये परिवर्तन इतने आकस्मिक हुए हैं कि उसने प्रेक्षकों को स्तब्ध कर दिया है। इसके अतिरिक्त सोवियत रूस के सम्बन्ध में उसके समर्थक और विरोधी इतने उग्र और दृढ़ विचारों वाले हैं कि उन्होंने तटस्थ और निष्पक्ष विदेशी प्रेक्षकों के लिए कोई गुन्जायश नहीं रखी, ऐसे व्यक्ति दोनों दलों द्वारा कायर, कल्पनावादी और पलायनवादी समझे जाते हैं। दोनों पक्ष अपने को युद्धविरोधी, शान्ति का उपासक, प्रजातन्त्र का पुजारी कहते हैं किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का अन्तर है। दोनों प्रत्येक घटना को अपनी दृष्टि से देखते हैं और दूसरे पक्ष का विचार भ्रान्त और मिथ्या समझते हैं। अतः सोवियत विदेशनीति का सही मूल्यांकन बड़ा कठिन है।

रूसविरोधी पक्ष के कुछ लोगों का यह मत है कि सोवियत नीति अवसरवादी तथा जारशाही की साम्राज्यवादी नीति का विकासमात्र है। जिस प्रकार पुराने जारों ने पश्चिम, दक्षिण और पूर्व में रूस के साम्राज्य का विस्तार किया था, वैसे ही सोवियत रूस ने बाल्टिक राज्यों को हड़प लिया, फिनलैण्ड के विरुद्ध साम्राज्यवादी युद्ध छेड़ा। यह कहा जाता है कि जैसे जारकालीन रूस पश्चिम का विरोधी और साम्राज्य का विस्तारक था, वर्तमान सोवियत रूस भी वैसा ही है। जिस प्रकार जारों ने पोलैण्ड में, बाल्कान में, मंचूरिया में तथा मंगोलिया में दिलचस्पी दिखाई थी, वही अभिरुचि वर्तमान सोवियत संघ ने इनमें प्रदर्शित की है। विशेषतः १६३६ के बाद स्तालिन की तानाशाही ने जारशाही का अनुकरण करते हुए उत्तरी सागर पर पेतसामो से दक्षिण में कृष्ण सागर तक फिनलैण्ड के कुछ प्रदेश और टापू इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, पूर्वी पोलैण्ड, बुकोविना तथा बेसारेबिया के प्रदेश प्राप्त किए हैं। अतः उसकी नीति जारशाही से भिन्न नहीं है।

किन्तु यह कथन सर्वांशतः सत्य नहीं है। जारशाही और साम्यवादी शासन में बड़ा भारी अन्तर है, वह पूंजीवादी और साम्राज्यवादी शासन था और यह पूंजीवाद का उन्मूलन करने वाला तथा साम्राज्यवाद का विध्वंस करने वाला है। लेनिन ने अपनी साम्राज्यवाद विरोधी नीति के कारण बाल्टिक राज्यों के तथा पूर्वी पोलैण्ड के स्वतन्त्र होने में बाधा नहीं डाली। किन्तु बाद में इन प्रदेशों पर रूस का अधिकार उसकी भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम है। मुसोलिनी ने यह ठीक ही कहा था कि किसी देश की विदेशनीति उसकी भौगोलिक दशाओं के अनुरूप होती है। मध्यकाल से रूस पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में बढ़ते हुए हिमनिर्मुक्त बंदरगाहों की प्राप्ति के लिए यत्न करता

रहा है क्योंकि उत्तर में उत्तरी सागर सदा जमा रहता है। इसी दृष्टि से वह बाल्टिक सागरतीरवर्त्ती राज्यों और कृष्णसागर तथा भूमध्यसागर को जोड़ने वाले दर्रे दानियाल और बास्फोरस जलडमरूमध्यों पर अधिकार करने के लिए उत्सुक रहा है। १६वीं शती में उसका टर्की और ग्रेट ब्रिटेन से इस प्रश्न पर संघर्ष था। वर्तमान समय में भी उसकी भौगोलिक आवश्यकतायें इसी प्रकार की हैं। जर्मनी के उत्थान ने उसकी सुरक्षा को संकट में डाल दिया था। फिनलैण्ड के टापुओं और बन्दरगाहों से हिटलर लेनिनग्राद को नेस्तनाबूद कर सकता था, बाल्टिक राज्यों तथा पोलैण्ड के अड्डों से मास्को पर चढ़ाई सुगम थी, अतएव रूस के लिए इन पर अधिकार करना आवश्यक हो गया। जारशाही का मुख्य ध्येय रूसी माल बाहर भेजने के लिए बाल्टिक सागर पर खिड़कियाँ प्राप्त करना था, उसके लिए इनका हस्तगत करना अवश्य साम्राज्यवाद था, किन्तु सोवियत रूस के लिए यह जीवन-मरण का और आत्मरक्षा का प्रश्न था। अतः सोवियत रूस के विस्तार की तुलना जारशाही के साम्राज्यवादी विस्तार से नहीं की जा सकती।

रूस के पक्षपातियों का यह कथन है कि उसकी नीति शान्तिवादी, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व (Peaceful Co-existence) में विश्वास रखने वाली तथा साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रसार करने वाली है। यह पक्ष भी पूर्णरूप से सत्य नहीं प्रतीत होता। साम्यवाद तथा मार्क्सवाद का एक मूल सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीयता, विश्वक्रान्ति और दुनिया के सब राज्यों में पूंजीवादी शासनों का उन्मूलन है (पृ० २०६)। पहले यह (पृ० २१२) बताया जा चुका है कि लेनिन की मृत्यु के बाद स्तालिन ने विश्वक्रान्ति के विचार का परित्याग कर दिया था। वस्तुतः रूसी विदेशनीति का उद्देश्य अपने हितों की सुरक्षा है। स्तालिन ने इस सम्बन्ध में १६३४ में ठीक ही कहा था—"हमारी नीति का लक्ष्य भूतकाल में एवं वर्तमान समय में सोवियत यूनियन के हितों की पूर्ति है, इसके लिए किसी देश से मित्रता आवश्यक है तो हम निःसंकोच भाव से इसे कर लेते हैं।" वस्तुतः स्तालिन की यह उक्ति सोवियत विदेशनीति के रहस्यों और मर्मों को उद्घाटित करने वाला मूलमंत्र है। यदि उसने अगस्त १६३६ में अपने प्रबल शत्रु जर्मनी से, १३ अप्रैल १६४१ में जापान से, १२ जुलाई १६४१ को ग्रेट ब्रिटेन से परस्पर विरोधी संधियाँ कीं तो इनका प्रधान उद्देश्य रूसी हितों की सुरक्षा थी, न कि विश्व में साम्यवाद का प्रसार और शान्ति की स्थापना। सोवियत विदेश नीति में सहसा परिवर्तन आने का भी यही रहस्य है। जब तक जर्मनी निर्बल बना रहा, उसे पूंजीवाद के कट्टर समर्थक पश्चिमी देशों से मैत्री घनिष्ठ करने की कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु हिटलर के उत्थान से जब जर्मनी का संकट बढ़ा तो उसने पश्चिमी देशों से मित्रता बढ़ाई। फिर जब उसे विश्वास हो गया कि पश्चिमी देश हिटलर के आक्रमणों के विरुद्ध उसकी सहायता नहीं करेंगे तो उसने हिटलर के साथ मैत्री में कल्याण समझा। परन्तु जब हिटलर ने उस पर आक्रमण कर दिया तो उसे पुनः पश्चिम के साथ मैत्री करनी पड़ी। इससे यह स्पष्ट है कि क्रेमलिन रूसी हितों की सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए ही अपनी विदेशनीति का संचालन करता रहा है।

प्रश्न

1. 'European History and to some extent that of entire world, has been dominated since 1933 by one fact—the revival of German power under the dictatorship of Adolf Hitler.' (Cathorne Hardy) How far is this a correct description of international relations between 1933-39 ? (Agra Uni. 1957)
2. Trace the circumstances which led to the rise of Adolf Hitler. Account for his striking success between years 1934 and 1939. (Agra Uni. 1956)
3. Examine the salient features of Hitler's Foreign policy and trace the successive steps by which he destroyed the Treaty of Versailles. (B. H. U. 1958)
4. Give a critical analysis of the development of the Rome-Berlin Axis from 1933-1939. (B. H. U. 1955)
5. Describe the events in Czechoslovakia leading to the Munich Settlement of 1938. What consequences followed from it? (B. H. U. 1957)
6. Examine the diplomatic trends which led to the formation of the Rome-Berlin Axis. (Agra Uni. 1955)
7. Analyse the effects of the Italo-Abyssinian War on international politics. (Agra Uni. 1958)
8. How far did Chamberlain's Policy of Appeasement contribute to second World War? (Agra Uni. 1955)
9. 'Chamberlain's Appeasement Policy was largely responsible for the Second World War.' Discuss. (Rajasthan Uni. 1957)
10. 'Isolationism is a misleading word to use in characterising American foreign policy since 1920'. Discuss. (Agra Uni. 1956)
11. What is Pan Americanism ? Discuss the foreign policy of the U. S. A. towards the Latin American republics during the last 20 years. (Agra Uni. 1954)
12. 'The foreign policy of Communist Russia is but that of Tsarist Russia writ large'. Discuss. (Agra Uni. 1956)
13. Give a critical analysis of Soviet Diplomacy during the Second World War. (B. H. U. 1958)
14. What were the main trends in the Soviet Foreign Policy between 1933 and 1945. (B. H. U. 1955)
15. Comment—'The Spanish Civil War of 1936 was a trial balloon of international power politics.' (Agra Uni. 1960)
16. Examine the causes and the result of Washington Treaties of 1921-22. (Agra and Raj. Uni. 1960)
17. Give a critical account of the foreign policy of Italy between the two World Wars. (Agra Uni. 1960)
18. Explain carefully Stalin's decision of 1939 to conclude a non-aggression pact with Germany rather than a defensive alliance

with Britain and France. (Agra Uni. 1960)

19. Write a short note on Munich Pact. (Agra and Raj. Uni. 1960)

20. Describe the reasons which led to the rise of the Fascists in Italy and explain the circumstances which led to the Italo-Abyssinian War. (Raj. Uni. 1960)

21. 'The history of Europe from 1919 to 1939 is the history of the attempts to undo the cardinal errors of the Treaty of Versailles". How far do you agree with this view and why ? (Raj. Uni. 1960)

22. Give a critical account of the foreign policy of great Britain between the two World Wars. (Agra Uni. 1963)

23. Examine the diplomatic trends which led to the formation of the Rome-Berlin-Tokyo Axis in 1937. (Agra Uni. 1963)

छठा अध्याय

द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और शान्ति सन्धियाँ

पिछले अध्याय में द्वितीय विश्वयुद्ध का दावानल प्रज्वलित होने के कूटनीतिक कारणों को स्पष्ट किया जा चुका है। संक्षेप में मुख्य रूप से ये कारण निम्नलिखित थे—वर्साय की सन्धि की शर्तों की कठोरता[1], इनके पालन में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा विभिन्न और परस्पर विरोधी नीतियों का अनुसरण, युद्धों को रोकने की तथा सामूहिक रक्षा (Collective security) की व्यवस्था बनाये रखने में राष्ट्रसंघ की विफलता, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता, निःशस्त्रीकरण के प्रयत्नों का असफल होना, आर्थिक मन्दी, शान्तिवाद और तुष्टीकरण (Appeasement) की नीति, वर्साय की व्यवस्था का संशोधन चाहने वाली तथा उपनिवेश और साम्राज्य की माँग करने वाले जर्मनी, इटली, जापान आदि (havenots) राष्ट्रों का तथा समूचे भूमण्डल के चतुर्थांश पर तथा ३०% विश्वसम्पदा पर अधिकार रखने वाले ग्रेट ब्रिटेन, विशाल साम्राज्य रखने वाले फ्रांस आदि (haves) देशों का उग्र संघर्ष, जर्मनी, इटली, जापान में सैनिकवाद (Militarism) तथा अत्युग्र राष्ट्रीयता का विकास, पोलैंड, चैकोस्लोवाकिया आदि में असन्तुष्ट अल्पसंख्यक दल और इनके साथ दुर्व्यवहार की शिकायतों का जर्मनी द्वारा अतिरंजित चित्रण और लाभ उठाना। इनसे उत्पन्न होने वाले द्वितीय विश्वयुद्ध का विशद वर्णन इतिहास का विषय है, यहाँ केवल इस युद्ध के समय में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव डालने वाले सम्मेलनों का तथा शान्ति सन्धियों का वर्णन किया जायगा।

अटलाण्टिक चार्टर (१४ अगस्त, १९४१)—अगस्त १९४१ में ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री चर्चिल तथा सं० रा० अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवैल्ट अटलांटिक (अन्धमहासागर) महासागर में एक युद्धपोत पर मिले और उन्होंने मित्रराष्ट्रों के युद्ध-उद्देश्यों (War-aims) का एक घोषणा पत्र तैयार किया। यही अटलाण्टिक चार्टर कहलाता है। इसका उद्देश्य इस समय तक हिटलर द्वारा पराभूत किये तथा आक्रमण का शिकार हुए पोलैण्ड, नार्वे, डेन्मार्क, हालैण्ड, बेल्जियम, फ्रांस, रूस तथा बाल्कान प्रदेशों की

---

१. लैंगसम (वर्ल्ड सिन्स १९४९, पृ० ५०३) ने लिखा है कि पेरिस में शान्ति सन्धि के निर्माता इस सन्धि को इतना कठोर बना सकते थे कि जर्मनी का कभी पुनरुत्थान सम्भव ही न हो, अथवा अतिमानवीय अनासक्ति (Superhuman Detachment) की वृत्ति से एक ऐसी मृदु संधि बना सकते थे कि जर्मनी को उसके विरुद्ध आन्दोलन करने की आवश्यकता ही न होती। किन्तु मित्रराष्ट्रों ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया और ऐसी संधि तैयार की जो इतनी कठोर थी कि जर्मनी को उसके प्रतिशोध की भावना से ओतप्रोत करे तथा इतनी मृदु थी कि वह बर्लिन को २० वर्ष में ही पुनः महान् सैनिक राष्ट्र बना दे।

जनता में नात्सियों के साथ लड़ने का उत्साह पैदा करना, और हिटलर द्वारा बार-बार स्वर्णिम रूप में उपस्थित की जाने वाली नई योरोपियन व्यवस्था की तुलना में अपने उद्देश्यों को स्पष्ट करना था। यह विल्सन की १४ शर्तों (देखिए ऊपर पृ० १३) जैसी घोषणा थी, इसमें दोनों देशों के उन सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन था, जिनके आधार पर वे भविष्य में अपनी राष्ट्रीय नीतियों का संचालन और विश्व की नई उत्कृष्ट व्यवस्था का निर्माण करेंगे। इस अष्टसूत्री योजना में निम्नलिखित आठ सिद्धान्तों का प्रतिपादन था :—(१) ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका अपना प्रादेशिक अथवा अन्य किसी प्रकार का विस्तार (Territorial aggrandizement) नहीं चाहते। (२) वे कोई ऐसे प्रादेशिक परिवर्तन नहीं चाहते, जो उस प्रदेश की जनता की स्वतन्त्रता-पूर्वक अभिव्यक्त की गई इच्छाओं के अनुकूल न हों। (३) वे सब लोगों द्वारा अपनी शासन प्रणाली को चुनने के अधिकार का सम्मान करते हैं, वे यह चाहते हैं कि जिन लोगों से उनके सर्वोच्च प्रभुता के तथा स्वशासन के अधिकार बलपूर्वक छीन लिए गए हैं, वे उन्हें वापिस कर दिए जायें। (४) वे इस बात का प्रयत्न करेंगे कि सब छोटे-बड़े राष्ट्रों को चाहे वे विजेता हों या विजित हों—उनकी आर्थिक समृद्धि के लिए आवश्यक व्यापार और कच्चे माल की सुविधायें समान रूप से प्राप्त हों। (५) उनकी यह इच्छा है कि वे आर्थिक क्षेत्रों में सब देशों का अधिकतम सहयोग इस दृष्टि से प्राप्त करें कि श्रमिकों की दशा सुधरे, आर्थिक उन्नति तथा सामाजिक सुरक्षा प्राप्त हो। (६) नात्सी अत्याचारी शासन की समाप्ति के बाद उन्हें यह आशा है कि सब देश शान्तिपूर्वक अपने राज्यों की सीमाओं में सुरक्षित रहते हुए भय और दरिद्रता से मुक्ति पाकर आनन्दपूर्वक अपना जीवन बिता सकेंगे। (७) इस प्रकार की शान्ति सब मनुष्यों को महासागरों और समुद्रों पर निर्बाध विचरण की स्वतन्त्रता प्रदान करेगी। (८) उनका यह विश्वास है कि संसार के सब राष्ट्र वास्तववादी एवं आध्यात्मिक कारणों से प्रेरित होकर शक्ति के प्रयोग का परित्याग करेंगे। भविष्य में शान्ति स्थापित करने के लिए निःशस्त्रीकरण का होना आवश्यक है।

यह घोषणा अमेरिकन राष्ट्रपति द्वारा ६ जून, १९४१ को कांग्रेस के भेजे गए उस सन्देश के अनुरूप थी, जिसमें से अमेरिका का उद्देश्य **चार स्वतन्त्रताओं** (Four Freedoms) की प्राप्ति बताया गया था। ये इस प्रकार की थीं—(१) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, (२) भगवान की अपने ढंग से उपासना करने की स्वाधीनता, (३) अभाव और दरिद्रता से स्वतन्त्रता, गरीबी और बेकारी को दूर करना, (४) भय से स्वतन्त्रता अर्थात् निःशस्त्रीकरण द्वारा दूसरे देशों के सम्भावित आक्रमणों की आशंका से मुक्ति। जब तक सब देश अन्धाधुन्ध हथियार बढ़ाते रहेंगे तब तक सभी एक दूसरे के हमले और आक्रमण की आशंका से व्यथित रहेंगे और जीवन निश्चिन्त तथा सुखी नहीं हो सकेगा। अटलाण्टिक चार्टर में इन्हीं का विस्तार से प्रतिपादन था, अतः सं० रा० अमेरिका ने जर्मनी के साथ लड़ाई न करते हुए भी ब्रिटेन के साथ शान्ति स्थापना के उपर्युक्त उद्देश्यों से सहमति प्रकट की। यह विधि की विडम्बना है कि युद्ध की समाप्ति के बाद मित्रराष्ट्र इन उदात्त उद्देश्यों को पूरा नहीं कर सके।

संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा (The United Nations Declaration)—हिटलर के विरुद्ध युद्ध-प्रयत्नों में अधिक सहयोग प्राप्त करने और सुदृढ़ संगठन बनाने के लिए यह घोषणा पहली जनवरी, १९४२ को की गई। इस बीच में ७ दिसम्बर, १९४१ को पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण के बाद सं० रा० अमेरिका युद्ध में मित्रराष्ट्रों की ओर से सम्मिलित हो चुका था। ११ दिसम्बर, १९४१ को जर्मनी, इटली और जापान ने २७ दिसम्बर, १९४० के त्रिपक्षीय समझौते (Tripartite Pact) को पुष्ट करते हुए सं० रा० अमेरिका और ब्रिटेन से पृथक् सन्धि न करने और युद्ध के बाद 'नई न्यायपूर्ण व्यवस्था' स्थापित करने का संकल्प प्रकट किया। इसका प्रत्युत्तर उपर्युक्त घोषणा में दिया गया था। जर्मनी, इटली, जापान के विरुद्ध लड़ने वाली शक्तियों के गुट का नामकरण श्री रूजवैल्ट ने संयुक्त राष्ट्र (United Nations) किया। इनकी संख्या इस समय तक २१ हो चुकी थी।[२] इनके घोषणा पत्र में अटलाण्टिक चार्टर के सिद्धान्तों का समर्थन तथा धुरीराष्ट्रों के साथ पृथक् सन्धि न करने का निश्चय किया गया था। इसमें यह भी संकल्प प्रकट किया गया था कि इस पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र जर्मनी, जापान और इटली के विरुद्ध अपने सम्पूर्ण सैनिक और आर्थिक साधनों की सहायता से संघर्ष करेंगे।

कॉसाब्लॉका सम्मेलन (१४–२४ जनवरी, १९४३)—फ्रेंच, मोरक्को (उत्तरी अफ्रीका) के इस बन्दरगाह में एकत्र हुए चर्चिल, रूजवैल्ट तथा जनरल डिगाल ने धुरीराष्ट्रों के विरुद्ध १९४३ की युद्ध-योजना के सम्बन्ध में यह निश्चय किया कि उत्तरी फ्रांस पर आक्रमण करने से पूर्व इटली पर आक्रमण करके उसे परास्त किया जाय।

मास्को सम्मेलन (१९–३० अक्टूबर, १९४३)—यह मित्रराष्ट्रों में महत्त्वपूर्ण समन्वय और सहयोग स्थापित करने वाला पहला सम्मेलन था। इसमें सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और रूस के विदेशमन्त्री कार्डल हल, एन्थनी ईडन और मोलोतोव सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन ने आस्ट्रिया, इटली, जर्मनी के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की तथा सामान्य सुरक्षा के सम्बन्ध में कुछ निश्चय किए। सं० रा० अमेरिका, इंगलैण्ड और रूस की तीनों सरकारों में सामंजस्य स्थापित करने और योरोपियन समस्याओं पर विचार करने के लिए लन्दन में **योरोपीय परामर्शदाता आयोग** (European Advisory Commission) स्थापित किया गया। १५ मार्च, १९३८ को आस्ट्रिया का जर्मनी में सम्मिलित होना अवैध घोषित करते हुए उसे स्वतन्त्र और स्वाधीन बनाने का संकल्प प्रकट किया। इटली के सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ कि फासिज्म का समूलोन्मूलन करके वहाँ लोकतन्त्रीय सरकार स्थापित की जायगी, भाषण की, धार्मिक उपासना की, राजनैतिक विचारों की, प्रेस की तथा सभाएँ करने की

२. ये २१ राष्ट्र थे—सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस, चीन, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, कनाडा, क्यूबा, चैकोस्लोवाकिया, डमिनिकन रिपब्लिक, अल साल्वादोर, ग्रीस, ग्वाटीमाला, हैटी, होंडूरास, भारत, लक्जमबर्ग, हालैण्ड, न्यूजीलैण्ड, निकारगुआ, नार्वे, पानामा, पोलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका, यगोस्लाविया।

स्वाधीनता दी जायगी। जर्मन अत्याचारों के सम्बन्ध में यह कहा गया कि जर्मनी के साथ विराम सन्धि करते हुए इस बात का ध्यान रखा जायगा कि भीषण क्रूरतायें करने वाले व्यक्तियों को दण्ड दिया जाय। इसी सम्मेलन में सुरक्षा एवं शान्ति बनाए रखने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने का निश्चय हुआ, यही संगठन बाद में **संयुक्त राष्ट्र संगठन** के रूप में विकसित हुआ। इसके सम्बन्ध में यह निर्णय हुआ कि यह सब शान्तिप्रेमी राज्यों की सर्वोच्च प्रभुता को समान रूप से स्वीकार करने वाले सिद्धान्तों पर आधारित हो, सब छोटे-बड़े राज्य इसके सदस्य बन सकें और यह शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करने के अतिरिक्त युद्ध के बाद शस्त्रों के नियन्त्रण के सम्बन्ध में भी सामान्य समझौता कराए।

काहिरा सम्मेलन (२२–२५ नवम्बर, १९४३)—इसमें राष्ट्रपति रूजवैल्ट, ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल तथा चीन के जनरलिसमो च्यांगकाई शेक सम्मिलित हुए और सुदूरपूर्व के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रों की नीति का निर्धारण किया गया, जापान के विरुद्ध जल, स्थल और वायु सेनाओं द्वारा पूरी कार्यवाही करते हुए चीन को यह आश्वासन दिया गया कि १९१४ से जापान ने उसके जो प्रदेश मंचूरिया, फारमोसा तथा पेस्काडोरेज (Pescadores) के ४८ टापू बलपूर्वक छीने हैं, वे सब उसे वापिस कर दिए जाएँगे। 'तीन महान् मित्रों' को अपने लिए किसी नए प्रदेश की आकांक्षा नहीं है किन्तु जापान ने जिन प्रदेशों को बलपूर्वक हस्तगत किया है, उन सबसे उसे बलपूर्वक निष्कासित किया जायगा। 'तीन महाशक्तियों' को कोरिया की जनता की दासता का ध्यान है और उनका संकल्प है कि कोरिया को स्वतन्त्र बनाया जाय। सोवियत यूनियन इस समय जापान के साथ युद्ध नहीं कर रहा था, अतः वह इस सम्मेलन में नहीं सम्मिलित हुआ और इस सम्मेलन की सरकारी विज्ञप्ति पर सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और चीन के ही हस्ताक्षर थे।

तेहरान सम्मेलन (२८ नवम्बर–१ दिस० १९४३)—इस सम्मेलन में पहली बार तीन बड़े संयुक्त राष्ट्रों के अध्यक्ष—चर्चिल, रूजवैल्ट और स्तालिन ईरान की राजधानी तेहरान में एकत्र हुए। यहाँ तीनों मित्र देशों के सेनाध्यक्षों ने जर्मन सेनाओं के विनाश की योजनायें तैयार कीं। दूसरे देशों की ईरान से होकर सोवियत यूनियन को पहुँचने वाली सहायता के लिए उसका धन्यवाद किया। तेहरान सम्मेलन में किए गए निश्चयों की विज्ञप्ति तीन भागों में थी। पहले भाग में जर्मनी के विरुद्ध लड़ने का दृढ़ निश्चय और अपनी विजय में ध्रुव विश्वास प्रकट किया गया था। क्रूरता, दासता, अत्याचार और असहिष्णुता के उन्मूलन में अन्य राष्ट्रों का सहयोग माँगा गया था। इस वक्तव्य के अन्त में कहा गया था—"हम यहाँ आशा और विश्वास के साथ आए थे; यहाँ से प्रस्थान के समय वस्तुतः भावना और उद्देश्यों की दृष्टि से मित्र बनकर जा रहे हैं।" इसका दूसरा भाग ईरान के सम्बन्ध में था। इसमें तीन बड़ों (Big three) ने इसकी 'स्वतन्त्रता, सर्वोच्च सत्ता तथा प्रादेशिक अखण्डता' बनाए रखने की इच्छा अभिव्यक्त की थी। तीसरा भाग एक गुप्त समझौता था, यह बाद में २४ मार्च, १९४७ को प्रकाशित किया गया। इसमें (१) यह व्यवस्था थी कि नार्मण्डी

में मित्रराष्ट्रों का दूसरा मोर्चा खोलने के साथ ही सोवियत सेनाएँ जर्मनी के विरुद्ध प्रबल प्रत्याक्रमण आरम्भ करें ताकि हिटलर पूर्वी मोर्चे से अपनी फौजों को पश्चिमी मोर्चे पर न ले जा सके। (२) टर्की को युद्ध में सम्मिलित करने की प्रेरणा की जाय। (३) यूगोस्लाविया में तीनों महाशक्तियाँ मार्शल टीटो के नेतृत्व में लड़ने वाले देशभक्तों को 'अधिकतम मात्रा' में सहायता प्रदान करें। इस सम्मेलन में रूजवैल्ट स्टालिन से पहली बार मिले और यह तीनों देशों में वैयक्तिक सम्बन्ध के आधार पर सौहार्द पैदा करने में बड़ा सफल हुआ।

अप्रैल १९४४ में फिलाडेलफिया में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन हुआ। २१ जुलाई को ४४ संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन न्यू हैम्पशायर के ब्रेटनवुड्स (Brettonwoods) नामक स्थान में हुआ, इसने पुनर्निर्माण और विकास के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (International Monetary Fund) स्थापित करने का निश्चय किया।

डम्बर्टन ओक्स सम्मेलन (Dumberton Oaks Conference)—२१ अगस्त से ७ सितम्बर, १९४४ तक सं० रा० अमेरिका, सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधियों ने वाशिंगटन के निकट डम्बर्टन ओक्स नामक स्थान में एकत्र होकर एक अन्तर्राष्ट्रीय भावी संगठन—सं० रा० संघ की रूपरेखा के सम्बन्ध में विचार विमर्श और अनौपचारिक (Informal) वार्त्ता की, किन्तु कोई निर्णय नहीं किया। इसमें सं० रा० अमेरिका ने यह प्रयत्न किया कि प्रस्तावित संगठन की सुरक्षा परिषद् में ब्राजील को स्थायी सदस्य बनाया जाय, किन्तु ग्रेट ब्रिटेन और सोवियत संघ ने इसका घोर विरोध किया। सोवियत संघ का यह सुझाव स्वीकार नहीं हुआ कि उसके १६ गणराज्यों को संघ का स्वतन्त्र सदस्य बनाया जाय। रूस ने आर्थिक और सामाजिक विषयों पर विचार के लिए एक स्वतन्त्र संगठन की स्थापना की माँग की, किन्तु ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमेरिका इसके लिए तैयार नहीं थे। रूस का यह भी प्रस्ताव था कि सं० रा० संघ सुरक्षा परिषद् के आदेशों द्वारा संचालित होने वाली एक अन्तर्राष्ट्रीय वायुसेना का निर्माण किया जाय। किन्तु सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन का यह मत स्वीकार हुआ कि आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रीय वायुसेनाओं के दस्ते पारस्परिक समझौतों के आधार पर सुरक्षा परिषद् को दिए जायं।

इस सम्मेलन में सबसे विवादास्पद प्रश्न निषेधाधिकार (Veto) का था। सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन का यह विचार था कि सुरक्षा परिषद् के सब सदस्यों को वीटो का अधिकार हो, किन्तु ये प्रत्यक्ष रूप से अपने देश से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में वीटो के अधिकार का प्रयोग न कर सकें। रूस इसका घोर विरोधी था, वह वीटो के अधिकार के प्रयोग पर कोई पाबन्दी नहीं लगाना चाहता था। इस विषय में यह तय हुआ कि अभी इस पर कोई निर्णय न किया जाय; तीनों राज्यों के शासनाध्यक्ष भविष्य में इस पर वार्त्तालाप करें।

डम्बर्टन ओक्स के विचार विमर्श और प्रस्ताव बाद में सं० रा० संघ के संगठन की आरम्भिक रूपरेखा का आधार बने। इसी सम्मेलन में यह निश्चय हुआ कि २५ अप्रैल, १९४५ को संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन सानफ्रांसिस्को में बुलाया जाय और

वह डम्बर्टन ओक्स में हुए विचारों के आधार पर सं० रा० संघ के अन्तिम संविधान (Final Charter) का निर्माण करे।

११ सितम्बर, १९४४ को रूजवैल्ट और चर्चिल ने क्वेबेक में एकत्र होकर जर्मनी में विभिन्न देशों द्वारा अधिकृत किए जाने वाले क्षेत्रों के सम्बन्ध में समझौता किया। ९ अक्टू० को चर्चिल, ईडन, स्तालिन और मोलोतोव ने मास्को में एकत्र होकर यह समझौता किया कि बल्गारिया और रूमानिया में रूस का प्राधान्य स्वीकार किया जायगा और यूनान में ग्रेट ब्रिटेन का।

क्रीमिया (याल्ता) सम्मेलन (४ फर०–११ फरवरी १९४५)—कृष्णासागर में क्रीमिया प्रायद्वीप के याल्ता (Yalta) नामक स्थान पर इस सम्मेलन में रूजवैल्ट, स्तालिन और चर्चिल अपने परामर्शदाताओं के साथ एकत्र हुए और इसमें संयुक्त राष्ट्र-संघ, योरोप, जर्मनी तथा सुदूरपूर्व के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निश्चय हुए। यह सम्मेलन युद्ध के सभी सम्मेलनों में सबसे अधिक महत्ता रखता है, क्योंकि इसने ऐसी समस्याएँ उत्पन्न कीं, जिन्होंने युद्ध की समाप्ति के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव डाला, मित्रराष्ट्रों में वैमनस्य, मनोमालिन्य और शीतयुद्ध की स्थिति उत्पन्न की। इसके कुछ निर्णय उस समय गुप्त रखे गए और पूरा विवरण १९५५ में सं० रा० अमेरिका के स्टेट डिपार्टमैण्ट ने प्रकाशित किया। इसके महत्त्वपूर्ण निर्णय निम्नलिखित थे :—

(१) विश्व संगठन के सम्बन्ध में २५ अप्रैल, १९४५ को सान फ्रांसिस्को (सं० रा० अमेरिका) में संयुक्त राष्ट्रों का एक सम्मेलन बुलाया जाय, १ मार्च १९४५ तक जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित करने वाले राज्यों को इसमें निमन्त्रित किया जाय, यूक्रेन और श्वेत रूस को मित्रराष्ट्रों द्वारा पृथक् रूप में बुलाया जाय। पाँच राज्यों—सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस, चीन और फ्रांस को इसकी सुरक्षा परिषद् में स्थायी सदस्य बनाया जाय, सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य को सब महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर वीटो का अधिकार हो।

(२) योरोप के नात्सी एवं फासिस्ट दासता से मुक्त प्रदेशों के सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया कि योरोप की नई व्यवस्था में लोगों को अटलान्टिक चार्टर (पृ० २२४) में घोषित सिद्धान्तों और आदर्शों के अनुसार लोकतन्त्रीय ढंग से अपनी सरकारें चुनने की स्वतन्त्रता दी जाएगी, आक्रान्ता राष्ट्रों द्वारा जनता के छीने हुए अधिकार और प्रदेश उन्हें वापिस किए जाएँगे।

(३) योरोप की शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक समझे जाने वाले जर्मनी का निःशस्त्रीकरण किया जायगा, युद्ध में क्रूरता करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध मुकदमे चलाने के सम्बन्ध में आवश्यक जाँच यथासमय तीन विदेश-मन्त्रियों द्वारा होगी। जर्मनी से क्षतिपूर्ति की वसूली उसके कारखानों, मशीनों और सामग्री तथा जर्मन जनता के श्रम द्वारा की जाय। मास्को सम्मेलन के अनुसार जर्मनी का हर्जाना २० अरब डालर हो और इसका आधा भाग सोवियत रूस को दिया जाय। ब्रिटिश प्रतिनिधि इससे सहमत नहीं थे।

(४) पोलैण्ड की पूर्वी सीमा कर्जन रेखा को कुछ परिवर्तनों के साथ स्वीकार

किया जाय, पोलैण्ड की 'राष्ट्रीय एकता की अस्थायी सरकार' यथासम्भव शीघ्र ही स्वतन्त्र चुनाव कराएगी।

(५) यूगोस्लाविया के सम्बन्ध में मार्शल टीटो तथा सुबासिच (Subasitch) के मध्य हुए समझौते के अनुसार नई सरकार बनाने का निश्चय किया गया।

(६) रूज़वैल्ट के आग्रह पर स्तालिन ने योरोप में युद्ध समाप्त होने के तीन महीने के भीतर जापान के विरुद्ध युद्ध छेड़ना स्वीकार किया।

(७) जापान के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का वचन देने के बदले स्तालिन ने चर्चिल और रूज़वैल्ट से सुदूरपूर्व के सम्बन्ध में कुछ बड़ी महत्त्वपूर्ण सुविधाएँ प्राप्त कीं। इन दोनों ने बाह्य मंगोलिया में यथापूर्व स्थिति (Status Quo) स्वीकार की, १९०४ में जापान के आक्रमण से छिने हुए निम्न प्रदेश रूस को देना निश्चित किया—(क) साखालीन द्वीप का दक्षिणी भाग और इसके समीपवर्ती टापू (ख) पोर्ट आर्थर का नौसैनिक अड्डा रूस को लौटाना तथा डाइरैन (Dairen) के बन्दरगाह का अन्तर्राष्ट्रीयकरण (ग) चीनी-पूर्वी रेलवे तथा दक्षिण मंचूरियन रेलवे पर सोवियत चीनी कम्पनी का संयुक्त स्वामित्व, मंचूरिया में चीन की सर्वोच्च सत्ता की स्वीकृति (घ) क्यूराइल द्वीप का सोवियत रूस को लौटाना। बाह्य मंगोलिया तथा रेल सम्बन्धी समझौते के लिए च्यांग काई शेक की स्वीकृति आवश्यक होगी और उसे स्तालिन के परामर्श पर रूज़वैल्ट चीन से प्राप्त करेगा। तीनों महाशक्तियों के अध्यक्ष जापान की हार के बाद उसे उपर्युक्त अधिकार प्राप्त कराएँगे और रूस भी चीन की राष्ट्रीय सरकार के साथ मित्रता का समझौता और सन्धि कर लेगा। याल्ता की यह व्यवस्था सबसे अधिक विवादास्पद थी, इसे रूस द्वारा जापान के विरुद्ध युद्ध छेड़ने तक गुप्त रखना उचित था, किन्तु उसके बाद भी इसे गुप्त रखा गया, चीन पर प्रभाव डालने वाली इस व्यवस्था के सम्बन्ध में चीन से बिना परामर्श लिए रूस को वचन दे देना बहुत आपत्तिजनक था। युद्ध के बाद इसने बहुत विवाद उत्पन्न किया।

सानफ्रांसिस्को सम्मेलन (२५ अप्रैल, १९४५–२६ जून, १९४५)—इस सम्मेलन का प्रधान कार्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का निर्माण तथा सं० रा० संघ की स्थापना थी। इसमें आरम्भ में ४६ देशों के ८५० प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। इसके आरम्भ होने से १३ दिन पहले राष्ट्रपति रूज़वैल्ट के दिवंगत होने से (१२ अप्रैल, १९४५) उनके उत्तराधिकारी ट्रूमैन ने इसके उद्घाटन भाषण में कहा था—"इस सम्मेलन का यह उद्देश्य नहीं है कि वह पुराने ढर्रे की सन्धि करे, हमारा यह कार्य नहीं है कि हम प्रदेशों, सीमाओं, नागरिकता और क्षतिपूर्ति से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों का निर्णय करें। यह सम्मेलन अपनी सम्पूर्ण शक्ति शान्ति को सुरक्षित रखने वाले संगठन के निर्माण में लगाएगा, आपने इसका मौलिक चार्टर बनाना है।······हम युद्ध में अकेले नहीं थे; शान्ति में भी अकेले नहीं रह सकते। यदि हम युद्ध में इकट्ठा नहीं मरना चाहते तो हमें शान्तिकाल में मिलकर रहना सीखना चाहिए।" इस सम्मेलन द्वारा तैयार किए गए सं० रा० संघ के चार्टर का अगले अध्याय में विस्तृत वर्णन होगा।

पोटसडाम (बर्लिन) सम्मेलन (१७ जुलाई–२ अगस्त १९४५)

यह सम्मेलन जर्मनी के बिना शर्त आत्मसमर्पण (७ मई) के बाद बर्लिन के निकट पोटसडाम (Potsdam) में हुआ, इसमें अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन, एटली (चर्चिल के स्थान पर नये चुनावों के बाद १५ जुलाई को बने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री), स्तालिन तथा च्यांग काई शेक सम्मिलित हुए। इसने अन्तिम स्थायी सन्धि होने से पूर्व जर्मनी पर अधिकार और इनके प्रशासन के सम्बन्ध में समझौता किया तथा अन्य धुरी राष्ट्रों के साथ सन्धियों की आरम्भिक तैयारी की, अभी तक युद्ध कर रहे जापान को यह चेतावनी दी कि यदि उसने बिना शर्त आत्मसमर्पण नहीं किया तो उसका पूर्ण विध्वंस कर दिया जाएगा।

इसमें सं० रा० अमेरिका, सोवियत और ग्रेट ब्रिटेन ने निम्नलिखित निर्णय किए—(१) शान्ति समझौते की आवश्यक आरम्भिक तैयारी के लिए लन्दन में स्थायी सचिवालय रखने वाली सं० रा० अमेरिका, सोवियत यूनियन, चीन, फ्रांस और ग्रट ब्रिटेन के विदेश-मन्त्रियों की एक परिषद् (Foreign Minister's Council) स्थापित की जाएगी। इसकी पहली बैठक १ सितम्बर, १९४५ को लन्दन में होगी, इसके बाद अन्य बैठकें समझौते के अनुसार अन्य राजधानियों में भी हो सकती हैं, इसका तात्कालिक और महत्त्वपूर्ण कार्य, सं० रा० संघ में प्रस्तुत किए जाने के लिए इटली, रूमानिया, बलगारिया, हंगरी, फिनलैण्ड की संधियाँ, प्रादेशिक प्रश्नों का निपटारा तथा जर्मनी के साथ की जाने वाली संधि की तैयारी होगी।

(२) जर्मनी के साथ अन्तिम सन्धि करने से पहले उसके साथ व्यवहार करने के दस राजनैतिक सिद्धान्तों, नौ आर्थिक सिद्धान्तों, दस क्षतिपूर्ति विषयक सिद्धान्तों, जर्मन नौसेना के बंटवारे के छः सिद्धान्तों तथा जर्मनी के व्यापारिक जहाजों के बंटवारे के बारे में पाँच सिद्धान्तों का निश्चय किया गया। राजनैतिक दृष्टि से जर्मनी को अमेरिकन, ब्रिटिश, रूसी और फ्रेंच—चार अधिकार क्षेत्रों में बाँटा गया, इसके नियंत्रण के लिए चार महाशक्तियों के प्रतिनिधियों की एक परिषद् स्थापित की गई। जर्मनी को पूर्ण रूप से निश्शस्त्र और सेनाहीन करने का, सब नात्सी संगठनों और नात्सी कानूनों के अन्त करने का, युद्ध में क्रूरता आदि के अपराध करने वालों पर अभियोग चलाने का, जर्मनी के राजनीतिक जीवन को लोकतन्त्रात्मक आधार पर संगठित करने का, तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं को पुनः प्रदान करने का निश्चय किया गया। आर्थिक सिद्धान्तों में जर्मनी में शस्त्रास्त्र तथा युद्ध-सामग्री के निर्माण तथा लड़ाई के लिए तैयार किए जाने वाले वायुयानों तथा समुद्री जहाजों के उत्पादन को बंद करने का, जर्मन अर्थव्यवस्था में विकेन्द्रीकरण करने का तथा कृषि और शान्तिकालीन उद्योगों के प्रोत्साहन का निर्णय किया गया और यह सिद्धान्त तय किया गया कि जर्मनी को एक आर्थिक इकाई के रूप में रखा जाएगा और उससे क्षतिपूर्त्ति की राशि इतनी ही ली जाएगी जिससे उसकी अर्थव्यवस्था बाह्य सहायता के बिना सुचारु रूप से चल सके। क्षतिपूर्त्ति के सम्बन्ध में यह निर्णय हुआ कि सोवियत रूस के हर्जाने की राशि सोवियत यूनियन

द्वारा अधिकृत क्षेत्र से और बाह्य पूंजी से तथा सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य देशों के हर्जाने पश्चिमी क्षेत्र से तथा जर्मनी की बाह्य पूंजी (External assets) से पूरे किए जाएँगे। सोवियत यूनियन को जर्मनी की शान्तिकालीन अर्थव्यवस्था के लिए अनावश्यक १० प्रतिशत कारखानों की मशीनें और सामग्री पश्चिमी क्षेत्र से दी जाएगी और उसके अतिरिक्त पश्चिमी क्षेत्र से ली जाने वाली १५ प्रतिशत औद्योगिक सामग्री के बदले वह पूर्वी क्षेत्र से इतने ही मूल्य का अन्न, कोयला, पोटाश, इमारती लकड़ी आदि का सामान प्रदान करेगा। सोवियत सरकार ने जर्मनी में मित्रराष्ट्रों की सेनाओं द्वारा हस्तगत किए स्वर्ण कोष पर तथा पश्चिमी क्षेत्र के जर्मन कारखानों पर दावे का परित्याग किया और इसी प्रकार सं० रा० अमेरिका, और ग्रेट ब्रिटेन पूर्वी क्षेत्र के कारखानों में किसी हिस्से का दावा नहीं करेंगे। जर्मनी की नौसेना और व्यापारिक जहाजों के बारे में यह निश्चय हुआ कि जर्मन पनडुब्बियों का अधिकांश भाग डुबा दिया जाएगा, केवल ३० पनडुब्बियाँ तीनों देशों में समान रूप से परीक्षणात्मक और प्राविधिक प्रयोगों के लिए वितरित की जाएँगी। व्यापारिक जहाज तीनों में समान रूप से बांटें जाएँगे। कनिक्सबर्ग (Koenigsberg) का शहर और इसके आस-पास का प्रदेश सोवियत यूनियन को देने का निश्चय हुआ।

(३) पोलैण्ड में सार्वजनिक मताधिकार पर स्वतन्त्र चुनाव कराने का निश्चय किया गया और अस्थायी तौर पर उसकी सीमा पूर्व में बाल्टिक समुद्र से स्वीनेमुंडे (Swinemunde) के पश्चिम में ओडर तथा नाइसे (Neisse) नदियों के साथ-साथ चैक सीमान्त तक होगी।

(४) इटली, बल्गारिया, फ़िनलैण्ड, हंगरी के साथ संधियाँ करके इन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना लेना चाहिए।

(५) ईरान से मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ फौरन हटा ली जानी चाहिएँ।

(६) टैंजियर का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय बना रहना चाहिए।

(७) आस्ट्रिया से क्षतिपूर्ति की राशि नहीं ली जानी चाहिए।

(८) जापान द्वारा आत्मसमर्पण की शर्तें निम्नलिखित रूप में निश्चित की गईं—(क) जापान के उन सैनिक तत्त्वों का समूलोन्मूलन किया जाएगा, जिन्होंने उसे विश्व-विजय के लिए युद्ध का आश्रय लेने को विवश किया। (ख) इन तत्त्वों के पूर्ण विध्वंस होने तक मित्रराष्ट्रों का जापानी प्रदेश पर सैनिक अधिकार बना रहेगा। (ग) काहिरा सम्मेलन के निर्णयानुसार जापान की सर्वोच्च प्रभुता केवल होंशू (Honshu), होकाइदो (Hokkaido), क्यूशू, शिकोकू (Shikoku) तथा तीन शक्तियों तक निश्चित किए जाने वाले अन्य ऐसे छोटे टापुओं तक ही मर्यादित रहेगी। (घ) जापानी सेनाओं को पूर्ण रूप से निश्शस्त्र कर दिया जाएगा। (ङ) युद्ध अपराधियों को दण्डित किया जाएगा। (च) जापानी सरकार का संगठन लोकतन्त्रात्मक होगा तथा जापानियों को वाणी, लेखन, धर्म और विचार की स्वतन्त्रता तथा मौलिक अधिकार दिए जाएँगे। (छ) जापान में स्वतन्त्र चुनावों के बाद जापानी जनता की इच्छा से उत्तरदायी सरकार स्थापित हो जाने के बाद ही मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ जापानी प्रदेश को खाली

करेंगी। यदि जापान जल्दी बिना शर्त आत्मसमर्पण नहीं करेगा तो उसका शीघ्र एवं समग्र विध्वंस किया जाएगा। जापान द्वारा इस चेतावनी की उपेक्षा करने पर सं० रा० अमेरिका ने उसके समूलोन्मूलन के लिए पहला अणुबम ६ अगस्त को हिरोशिमा नगर पर तथा दूसरा अणुबम ९ अगस्त को नागासाकी नगर पर गिराया। इन बमों की प्रलयंकर क्षति से संत्रस्त होकर जापान ने १० अगस्त, १९४५ को बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया और इससे द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो गया।

शान्ति समझौते के सम्मेलन और संधियाँ

अशान्त शान्ति, पूर्व-पश्चिम का संघर्ष—जापान के आत्मसमर्पण के साथ यद्यपि सैनिक संघर्ष समाप्त हो गया, किन्तु वास्तविक शान्ति नहीं स्थापित हो सकी। इसका मुख्य कारण विजयी राष्ट्रों का पारस्परिक संघर्ष था, युद्ध के समय सैनिक विजय प्राप्त करते हुए इनके आपसी मतभेद दबे हुए थे, वे अब पुनः प्रकट होने लगे। शान्ति-सम्मेलनों में मास्को का पश्चिमी राष्ट्रों के साथ उग्र संघर्ष प्रकट होने लगा। इससे शान्ति-संधियों का कार्य बड़ी मन्दगति से चला। जापान से १९५१ में ही सन्धि हो सकी और जर्मनी से दोनों पक्ष अब तक कोई अन्तिम संधि नहीं कर सके। अतः युद्ध बन्द होने से जो शान्ति स्थापित हुई, वह बड़ी अशान्त थी। निम्नलिखित विवरण से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाएगा।

शान्ति स्थापित करने के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन मित्रराष्ट्रों ने अटलाण्टिक चार्टर, कासांब्लांका, मास्को, तेहरान, याल्टा और पोटसडाम सम्मेलनों में किया था (पृ० २३१)। किन्तु युद्ध के बाद इन्हें क्रियान्वित करने में सबसे बड़ी कठिनाई क्रेमलिन का तथा पश्चिमी देशों का संघर्ष था। इसने शान्ति सन्धियों के कार्य को १९१९ के पेरिस के शान्ति सम्मेलन की अपेक्षा अधिक जटिल बना दिया। पोटसडाम सम्मेलन के निर्णयानुसार इटली, रूमानिया, बलगारिया, हंगरी और फिनलैण्ड के साथ सन्धियाँ करने के लिए सितम्बर १९४५ से दिस० १९४७ तक बुलाई गई **विदेश-मन्त्रियों की परिषद्** की पेरिस, न्यूयार्क, मास्को तथा लन्दन की बैठकों में दोनों पक्षों के मतभेद बड़े उग्ररूप में प्रकट हुए।[3] फिर भी इन राज्यों के साथ दो वर्ष में ही सन्धियाँ इसलिए हो सकीं कि सोवियत यूनियन इटली से मित्रराष्ट्रों की सेनाओं को शीघ्र से शीघ्र हटाने के लिए उत्सुक था और मित्रराष्ट्र इसी प्रकार सोवियत सेनाओं को मध्य योरोप से हटाना चाहते थे। किन्तु मास्को में तथा वाशिंगटन, लन्दन और पेरिस में सहमति न होने के कारण जर्मनी, आस्ट्रिया और जापान से सन्धि करने में बहुत विलम्ब हो गया और बर्लिन की समस्या को युद्ध की समाप्ति के १५ वर्ष बाद १९६० का पेरिस का शिखर सम्मेलन भी नहीं हल कर सका।

लन्दन की विदेश-मन्त्री परिषद् (सितम्बर १९४५)—इसमें सं० रा० अमेरिका,

---

३. इसके रोचक विवरण के लिए देखिये—जान फास्टर डलेज—वार आर पीस, पृ० २७-३०।

ग्रेट ब्रिटेन, रूस और फ्रांस के विदेश-मन्त्री—जेम्स फ्रांसिस बर्न्ज (Byrens), बेविन (Bevin) और बीदो (Georges Bidault) तथा मोलोतोव—ने सर्वप्रथम इटली न्ध पर विचार आरम्भ किया। इसमें मोलोतोव ने इटली के उपनिवेश लिबिया पर सोवियत रूस की ट्रस्टीशिप की माँग करके तथा कम्यूनिस्ट प्रधानता वाले यूगोस्लाविया के एड्रियाटिक सागर पर प्रादेशिक विस्तार का समर्थन करके पश्चिमी राष्ट्रों को स्तब्ध कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध में टर्की की तटस्थता से मास्को की दर्रे दानियाल और बास्फोरस द्वारा भूमध्यसागर में प्रवेश की तथा प्रभुत्व की चिरवांछित अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई थी, अब वह लिबिया पर प्रभुत्व एवं यूगोस्लाविया के समर्थन से इसे पाना चाहता था। शीघ्र ही यह प्रकट हो गया कि इस सम्मेलन का कार्य इटली के साथ सन्धि करना नहीं है किन्तु पश्चिमी राष्ट्रों और सोवियत रूस में समझौता कराना है। इस समय मास्को ने पूर्वी योरोप में रूमानिया (२३ अगस्त, १९४४), बलगारिया (९ सितम्बर, १९४५), फिनलैण्ड (१९४४), और हंगरी (२० जन० १९४५) के साथ विराम सन्धियाँ करके अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी और इन सबको अपना समर्थक बना लिया था। पश्चिमी राष्ट्रों को यह स्थिति और पूर्वी योरोप पर रूस की प्रभाववृद्धि स्वीकरणीय नहीं थी। वे रूस को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ रियायतें देना चाहते थे और रूस ने उनकी मनोवृत्ति को समझकर खूब बड़ी माँगें रखकर अड़ना शुरू किया ताकि अन्तिम समझौतों में उसकी बहुत सी माँगें स्वीकार करायी जा सकें।[४]

लन्दन की विदेश-मन्त्री परिषद् में मोलोतोव और उसके पश्चिमी साथियों में इटली की सन्धि पर तीन प्रश्नों में मतभेद था—(१) इटली तथा यूगोस्लाविया की सीमा। (२) इटली से लिया जाने वाला हर्जाना। (३) इटली के उपनिवेशों का बंटवारा। सोवियत यूनियन की यह माँग थी कि ट्रीस्टे और फ्यूमे के बन्दरगाहों सहित समूचा जूलियन मार्च (जूलियन आल्प्स का उत्तर पश्चिमी यूगोस्लाविया तथा उत्तर पूर्वी इटली का सीमावर्ती प्रदेश) उसके मित्र यूगोस्लाविया को दे दिया जाय, पश्चिमी राष्ट्र ट्रीस्टे को स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह रखना चाहते थे और जूलियन मार्च का बंटवारा इटालियन और स्लाव जातियों द्वारा बसे भूभाग के अनुसार करना चाहते थे। रूस इटली से ६० करोड़ डालर का हर्जाना वसूल करना और उसका अधिकांश भाग स्वयं हस्तगत करना चाहता था। पश्चिमी राष्ट्र इस राशि को बहुत अधिक समझते थे। इन देशों द्वारा रोम को दी गई विशाल आर्थिक सहायता की दृष्टि से वे इसका अधिकांश भाग मास्को को नहीं देना चाहते थे। उपनिवेशों के बारे में रूस की माँग लिबिया पर ट्रस्टीशिप पाने की तथा डोडेकेनीज टापू में सैनिक अड्डा प्राप्त करने की थी। पश्चिमी राष्ट्रों को भूमध्यसागर में तथा अरब प्रदेशों में रूस की प्रभाववृद्धि सह्य नहीं थी। इन प्रश्नों पर कोई समझौता न हो सकने के कारण लन्दन का सम्मेलन पूर्णरूप से विफल होकर भंग हो गया। युद्ध में जिन राष्ट्रों ने विजय प्राप्त करने में सफलता पाई थी, वे शान्ति संधि करने में सफल नहीं हो सके।

---

४. लैंगसम—पर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८७६

इस बीच में दोनों पक्षों में कुछ अन्य घटनाओं के कारण तनाव बढ़ने लगा। सुदूरपूर्व में कोरिया में ३८वीं अक्षांश रेखा के उत्तर में तथा मंचूरिया में रूस ने अपनी स्थिति सुदृढ़ बनानी आरम्भ की। उसने ईरान में अपनी सेनायें बढ़ायीं, यद्यपि लन्दन के समझौते के अनुसार २ मार्च, १९४६ तक यहाँ से इन्हें हटा लेना चाहिए था। यूनान में भी उसने अपना हस्तक्षेप और प्रभाव बढ़ाया। ट्रूमैन ने यूनान और ईरान में रूस के हस्तक्षेप को निकट पूर्व के तेल तथा भूमध्यसागर पर प्रभुत्व पाने के लिए विशाल संडासी की चालें (Giant Pincer Movements) समझा। फिर भी दोनों पक्षों ने समझौते के प्रयत्न जारी रखे।

मास्को की विदेश-मन्त्री परिषद् (१६ दिसम्बर, १९४५)—अमेरिकन विदेश-मन्त्री बर्न्ज के सुझावों पर मास्को में केवल सं० रा० अमेरिका, रूस और ग्रेट ब्रिटेन के विदेश-मन्त्रियों का सम्मेलन इटली आदि पाँच देशों के साथ संधि करने, रूमानिया, बल्गारिया की सरकारों की स्वीकृति, अणुशक्ति के नियन्त्रण, सुदूरपूर्व तथा ईरान की समस्याओं पर विचार करने के लिए बुलाया गया। यह लन्दन की पहली परिषद् की अपेक्षा सफल हुआ। इसमें विभिन्न देशों के साथ संधि निर्णय का कार्य उन देशों से आत्मसमर्पण लेने वाली महाशक्तियों को सौंपा गया और इनका आरम्भिक रूप निश्चित होने पर इन्हें धुरी शक्तियों के साथ लड़ने वाले सभी राष्ट्रों के सम्मेलन में प्रस्तुत करने का निश्चय हुआ। संधियों पर हस्ताक्षर होने के बाद पराजित राष्ट्रों के प्रदेशों से मित्रराष्ट्रों की सेनायें हटा लेने की व्यवस्था की गयी। केवल आस्ट्रिया के साथ संधि होने तक वियना-स्थित रूसी फौजों का स्वदेश से यातायात का मार्ग सुरक्षित बनाये रखने के लिए रूमानिया और हंगरी में सोवियत सेनाओं का बना रहना स्वीकार किया गया। यह मास्को की बहुत बड़ी सफलता थी क्योंकि इसके बाद वियना के साथ संधि में रूस ने बड़ी असम्भव शर्तें रखीं और इनके पूरा न होने पर संधि न होने से बहुत देर तक तीनों देशों में अपनी सेनायें बनाये रखने का अधिकार उसे प्राप्त हो गया।

सुदूरपूर्व के सम्बन्ध में वाशिंगटन में रूस, सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, चीन, फ्रांस, हालैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, फिलिप्पाइन और भारत का एक **सुदूर-पूर्व आयोग** (Far Eastern Commission) बनाया गया, जापान के लिए रूस, ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका और चीन की एक मित्र परिषद् (Allied Council) बनाई गई, इसका अध्यक्ष टोकियो में मित्रराष्ट्रों का सर्वोच्च कमाण्डर नियत किया गया। कोरिया की समस्या के अध्ययन के लिए **रूस-अमेरिकी आयोग** स्थापित किया गया।

इस सम्मेलन में रूस के प्रति बर्न्ज द्वारा दिखायी गई उदारता को ट्रूमैन ने नापसन्द किया और उसके स्थान पर मार्शल को विदेश-मन्त्री बनाया गया। बेविन ने भी बर्न्ज की तुष्टीकरण की नीति का विरोध किया। इसके बाद विदेश-मन्त्रियों की परिषद् ने अपनी पेरिस की दो बैठकों (अप्रैल-जुलाई १९४६) और पेरिस के २१ राष्ट्रों के सम्मेलन में पाँचों राष्ट्रों के साथ सन्धियों पर विचार किया। न्यूयार्क की विदेश मन्त्रियों की परिषद् की बैठक में ये संधियाँ अन्तिम रूप में लिखी गयीं और १० फरवरी, १९४७ को पेरिस में सं० रा० संघ के २१ सदस्यों तथा पाँच हारे हुए राज्यों ने इन

सन्धियों पर हस्ताक्षर किये।

इटली के साथ सन्धि—इसमें ६० धारायें तथा १७ परिशिष्ट थे। रोम को अपने निम्न प्रदेश दूसरे राज्यों को देने पड़े—फ्रांस को छोटा सैण्ट बर्नार्ड का दर्रा, ब्रीगा टाण्डा (Briga Tanda) के प्रदेश, यूगोस्लाविया को पूर्वी वानात्स्या जूलया (Venezia Giulia) में ३,००० वर्गमील का प्रदेश, ज़ारा (Zara) तक एड्रियाटिक सागर के कुछ टापू। ट्रीस्टे को सुरक्षा परिषद् द्वारा नियुक्त गवर्नर द्वारा शासित होने वाला स्वतन्त्र बन्दरगाह बनाया गया। डोडेकेनीज, रोडस् तथा कास्टेलोरिजो (Castellorizo) के टापू यूनान को मिले। अल्बानिया को साजेनो (Saseno) का टापू मिला। दक्षिणी टिरोल यद्यपि इटली के पास रहा किन्तु उसे इस प्रदेश के जर्मन भाषा-भाषियों को समान अधिकार और मर्यादित स्वायत्त शासन देना पड़ा। इटली ने लिबिया, एरिट्रिया, सुमालीलैण्ड के उपनिवेशों पर अपने अधिकार का परित्याग किया। इनके भविष्य का निर्णय सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और रूस पर छोड़ा गया। इनमें समझौता होने पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामान्य असेम्बली ने इसका निर्णय करना था। इसने दिसंबर १९४९ में लिबिया को १ जनवरी, १९५२ तक स्वाधीन बनाने का निश्चय किया। सुमालीलैण्ड को संयुक्त राष्ट्रसंघ सोमालिया के नाम से २ दिसम्बर, १९६० से स्वतन्त्र बनाने का निश्चय कर चुका है।[५] अल्बानिया और एबीसीनिया युद्ध के बीच में ही मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने स्वाधीन कर दिये थे। इस सन्धि ने इटली का औपनिवेशिक साम्राज्य बिल्कुल समाप्त कर दिया।

इटली के लिए हर्जाने की सात वर्ष में अदा की जाने वाली कुल राशि ३६ करोड़ डालर निश्चित की गयी, इनमें १२½ करोड़ यूगोस्लाविया को, १०½ करोड़ यूनान को, १० करोड़ सोवियत रूस को, २½ करोड़ एबीसिनिया को तथा ५० लाख अल्बानिया को दी जानी थी। उसकी स्थलसेना २½ लाख सिपाहियों तथा २०० टैंकों तक, नौसेना २५ हजार नौसैनिकों, २ युद्धपोतों, ४ क्रूजरों तक, वायुसेना २५ हजार सैनिकों, हवाई सेना २०० लड़ाकू जहाजों तथा १५० विविध प्रकार के वायुयानों तक सीमित कर दी गई। फ्रेंच और यूगोस्लाव सीमाओं की सिसली, तथा सार्डीनिया तटों की ओर माल्टा तथा ट्यूनिसिया के बीच के लाम्पेदूजा (Lampedusa), पान्तेलेरिया (Pantatleria) टापुओं की सब किलेबन्दियाँ और दुर्ग नष्ट कर दिये जाने का निश्चय हुआ।

रूमानिया की सन्धि—हिटलर द्वारा दबाव दिये जाने के कारण हंगरी को १९४० में दिया गया ट्रांसिल्वानिया का प्रदेश रूमानिया को वापिस मिला, किन्तु उसे बेसारेबिया और बुकोविना रूस को तथा दोब्रुजा बल्गारिया को देने पड़े। इससे आठ वर्ष में वस्तुओं के रूप में वसूल किया जाने वाला ३० करोड़ डालर का हर्जाना केवल रूस को दिया जाना तय हुआ। रूमानिया की स्थल सेना १,२०,००० सैनिकों तक,

५. पाँच दिसम्बर, १९५९ को सं० रा० संघ ने कुछ अफ्रीकी राज्यों के आग्रह पर इसकी स्वतन्त्रता की तिथि १ जुलाई, १९६० कर दी और अब यह स्वतन्त्र हो चुका है।

नौसेना ५,००० तक, वायुसेना ८,००० व्यक्तियों तक मर्यादित की गई। वह केवल १०० लड़ाकू जहाज रख सकता था।

बल्गारिया की सन्धि—इससे कोई प्रदेश नहीं छीना गया, प्रत्युत इसे दोब्रुजा का प्रदेश रूमानिया से प्राप्त हुआ। ८ वर्षों में उसने ७ करोड़ का कुल हर्जाना यूनान और यूगोस्लाविया को देना था। उसकी स्थल, जल और वायुसेना की संख्या क्रमशः ५,५००, ३,५०० तथा ५,२०० तक तथा लड़ाकू वायुयानों की संख्या ७० तक सीमित की गई। उसके यूनानी सीमान्त पर कोई किलाबन्दी न करने का निश्चय हुआ।

हंगरी की सन्धि—हंगरी को रूमानिया का ट्रांसिल्वानिया का प्रदेश वापिस करना पड़ा। १९३८ में चैकोस्लोवाकिया से लिया गया प्रदेश भी चैक राज्य को लौटाया गया। इसके अतिरिक्त ब्रातिस्लावा में डैन्यूब के दक्षिण में उसे कुछ प्रदेश चैकों को देना पड़ा। ८ वर्ष में उसने रूस को २० करोड़ का तथा चैकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया को १० करोड़ डालर का हर्जाना वस्तुओं के रूप में देना था। मगयार स्थल और वायुसेना तथा विमानों की संख्या क्रमशः ६,५००० और ५,२०० व्यक्ति तथा ९० निश्चित की गई।

फिनलैण्ड की सन्धि—इससे रूस को १९४० में दिए गये प्रदेशों की पुष्टि की गई। इनके अनुसार करेलियन स्थलडमरूमध्य, सल्ला (Salla) क्षेत्र, पेतसामो प्रान्त तथा ५० वर्ष के लिए पट्टे पर हेलसिंकी के पश्चिम में १९ मील दूर पोरक्कला उद्द (Porkkala-Udd) नौसैनिक अड्डा बनाने के लिए मास्को को मिले।[६] ८ वर्ष में फिनलैण्ड ने वस्तुओं के रूप में ३० करोड़ डालर का हर्जाना रूस को चुकाना था। उसकी स्थल, जल और वायुसेना की संख्या क्रमशः ३४,०००, ४,५०० तथा ३,००० व्यक्तियों तक मर्यादित की गई, वह अधिक-से-अधिक ९० हवाई जहाज रख सकता था।

इन सन्धियों के परिणामस्वरूप यूगोस्लाविया बाल्कान में सबसे शक्तिशाली और इटली का प्रतिस्पर्धी राष्ट्र बन गया। सोवियत रूस को आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक लाभ हुआ। पाँच राज्यों के हर्जाने की ७०% राशि ९० करोड़ डालर उसे प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त २९ जून, १९४५ की सन्धि के अनुसार उसे चैकोस्लोवाकिया से 'सबकारपेथियन' रूथीनिया (Subcarpathean Ruthenia) मिला तथा पोलैण्ड से १६ अगस्त, १९४५ की सन्धि द्वारा पूर्वी पोलैण्ड का बड़ा भाग प्राप्त हुआ। पोटसडाम सम्मेलन ने उसे २ अगस्त, १९४५ को पूर्वी प्रशिया में कनिगसबर्ग (Konigsberg) का प्रदेश प्रदान किया था।

जर्मनी और आस्ट्रिया की सन्धिवार्ता—द्वितीय विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों ने इनके सम्बन्ध में अनेक घोषणायें की थीं। मास्को सम्मेलन में जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया के एकी-

---

६. रूस ने १२ मार्च, १९४० की सन्धि के अनुसार हांको का नौसैनिक अड्डा फिनलैण्ड से प्राप्त किया था। इसे जर्मन तथा फिन फौजों ने १९४१ में रूस से छीन लिया, १९४४ में रूस ने पुनः फिनलैण्ड को हराकर उसके साथ सन्धि करते हुए हांको के बदले पोरक्कला उद्द का प्रदेश प्राप्त किया।

करण को अवैध घोषित करते हुए स्वतन्त्र आस्ट्रिया की पुनःस्थापना का निश्चय प्रकट किया गया था। जर्मनी के सम्बन्ध में सबसे अधिक विस्तृत व्यवस्थायें पोटसडाम सम्मेलन में की गई थीं (पृ० २३२)। इनमें जर्मनी को एक आर्थिक इकाई बनाने पर, अर्थव्यवस्था के विकेन्द्रीकरण पर, कृषि और शान्तिवादी गृहोद्योगों के विकास पर क्षतिपूर्ति, लोकतन्त्रीय व्यवस्था की स्थापना और नात्सी तत्त्वों के विनाश पर बहुत बल दिया गया था।

युद्ध की समाप्ति के बाद विदेश-मन्त्रियों की परिषद् में अनेक बार आस्ट्रिया और जर्मनी का मामला उठाया गया, किन्तु इन पर मास्को तथा पश्चिमी राष्ट्रों में इतने गम्भीर मतभेद थे कि कोई समझौता नहीं हो सका। पेरिस की विदेश-मन्त्री परिषद् (अप्रैल-मई १९४६) में सं० रा० अमेरिका ने आस्ट्रिया की सन्धि का प्रश्न उठाया। इसे रूस ने वीटो कर दिया। जून-जुलाई १९४६ की इस परिषद् की दूसरी बैठक में पुनः सं० रा० अमेरिका और ब्रिटेन ने आस्ट्रिया से विदेशी सेनायें हटाने का प्रस्ताव रखा, रूस ने इस पर यह आपत्ति की कि आस्ट्रिया में नात्सी तत्त्वों का पूरी तरह उन्मूलन नहीं हुआ। वह अभी तक मास्को-विरोधी शरणार्थियों का अड्डा है, अतः यहां से सेनायें नहीं हटायी जा सकतीं। अन्ततोगत्वा दस वर्ष के विचार-विमर्श के बाद एक सन्धि द्वारा २७ जुलाई, १९५५ को १२ मार्च, १९३८ के बाद १७ वर्ष तक पराधीन रहने के पश्चात् आस्ट्रिया को स्वाधीनता और सर्वोच्च प्रभुता प्राप्त हुई। आस्ट्रिया राज्य की इस संधि पर १५ मई को सं० रा० अमेरिका, सोवियत रूस और ग्रेट ब्रिटेन तथा आस्ट्रिया ने हस्ताक्षर किये, इसके अनुसार आस्ट्रिया ने यह स्वीकार किया कि वह जर्मनी के साथ राजनीतिक या आर्थिक संघ का निर्माण नहीं करेगा।

जर्मनी के प्रश्न पर मित्रराष्ट्रों में मतभेद इतने उग्र थे कि अब तक इस सम्बन्ध में विधिपूर्वक कोई सन्धि नहीं हो सकी। ५ जून, १९४५ की बर्लिन घोषणा के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत रूस और फ्रांस की सरकारों ने जर्मनी को चार क्षेत्रों में विभक्त कर जर्मनी पर अधिकार कर लिया था, चारों क्षेत्रों के प्रधान सेनापतियों को अपने प्रदेश में सर्वोच्च अधिकार थे। इन चारों की मित्रराष्ट्रीय नियन्त्रण परिषद् बर्लिन में स्थापित की गई, बर्लिन को भी चार भागों में विभक्त किया गया; किन्तु आपसी मतभेदों के कारण नियन्त्रण परिषद् देर तक काम नहीं कर सकी।

जर्मनी की समस्या के सम्बन्ध में १० मार्च, १९४७ से आरम्भ होने वाली मास्को की विदेश मन्त्रिपरिषद् की बैठक में ५० दिन तक लम्बे वाद-विवाद होते रहे, किन्तु फिर भी यह परिषद् इस विषय में कोई सन्धि तैयार नहीं कर सकी और न ही जर्मनी की आर्थिक और राजनैतिक एकता में सहायक हो सकी। इससे केवल दोनों पक्षों की कटुता और वैमनस्य ही बढ़ा। डा० जान फास्टर डलेस के मतानुसार दोनों पक्षों में निम्न मतभेद थे :—

(१) सं० रा० अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस जर्मनी का ऐसा पुनर्निर्माण चाहते थे कि जर्मनी भविष्य में कभी युद्ध न छेड़ सके, किन्तु रूस इसे पुनः मध्य योरोप में शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहता था।

(२) पोटसडाम सम्मेलन में शान्ति सुरक्षित बनाए रखने के लिए यह निश्चय किया गया था कि उसमें अधिक शक्ति रखने वाली केन्द्रीय सरकार न हो, किन्तु रूस सोवियत क्षेत्र में बर्लिन से संचालित होने वाली शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार, एक शक्तिशाली राजनैतिक दल और ट्रेड यूनियन संघ बनाना चाहता था।

(३) पोटसडाम सम्मेलन ने जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से निर्बल बनाने के लिए यह व्यवस्था की थी कि उसके युद्ध का सामान तैयार करने वाले कारखानों की मशीनें तथा अन्य सामग्री क्षतिपूर्ति के रूप में रूस आदि को दे दी जाय। रूस ऐसे बहुत से कारखाने और मशीनें ले गया, किन्तु इन्हें चलाने में सफल नहीं हो सका। अधिकांश मशीनें रेलवे स्टेशनों पर पड़ी हुई जंग खाने लगीं। इस पर रूस यह चाहने लगा कि कारखाने न उठाये जायं, उनमें तैयार माल लिया जाय, इसके लिए जर्मनी का उद्योगीकरण हो और वह जर्मनी से १० अरब डालर का हर्जाना वसूल कर सके।

इसके अतिरिक्त दोनों पक्षों में कुछ अन्य मतभेद भी थे। (क) पश्चिमी राष्ट्र जर्मनी का नया संविधान संघात्मक (Federal) बनाना चाहते थे, सोवियत रूस इसका विरोधी था। (ख) राइन प्रदेश को पश्चिमी राष्ट्र जर्मनी से पृथक् करना चाहते थे, मास्को इससे सहमत नहीं था। (ग) मित्रराष्ट्रों को मास्को के रूर पर चार शक्तियों द्वारा नियन्त्रण का, जर्मनी के व्यापारिक तथा औद्योगिक संघों (Cartels) के तथा बड़ी जमींदारियों के समाप्त करने के प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं थे। (घ) जर्मनी की पूर्वी सीमाओं के सम्बन्ध में उग्र मतभेद थे। याल्टा में इसे कर्जनरेखा माना गया था, पोटसडाम में पूर्वी प्रशिया को रूस और पोलैण्ड के मध्य बांटने का समझौता हुआ था। किन्तु यह तय नहीं हुआ था कि पोलैण्ड द्वारा रूस को दिए जाने वाले प्रदेश की क्षतिपूर्ति जर्मनी से किस प्रकार पूरी की जाएगी। फिर भी सं० रा० अमेरिका और ब्रिटेन ने अन्तिम समझौता होने से पूर्व ओडरनाइस्से रेखा से पूर्व का प्रदेश पोलैण्ड को देना स्वीकार किया था। सोवियत रूस पोटसडाम द्वारा निर्धारित सीमा को अन्तिम समझता था, किन्तु पश्चिमी राष्ट्र इसमें संशोधन चाहते थे।

जब इन सब मतभेदों के कारण जर्मनी के साथ कोई संधि करना सम्भव न हो सका तो मित्रराष्ट्रों ने अपने क्षेत्रों (Zones) को मिलाना शुरू किया, पहले अमेरिकी और ब्रिटिश क्षेत्रों को १९४७ के आरम्भ में आर्थिक दृष्टि से संयुक्त बनाते हुए एक द्विक्षेत्र (Bizonia) का निर्माण किया गया और बाद में ३१ मई, १९४८ को पश्चिम के तीनों क्षेत्रों (Trizonia) के लिए सं० रा० अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने एक केन्द्रीय सरकार बनाना स्वीकार कर लिया। २१ सितम्बर, १९४९ को पश्चिमी जर्मनी में संघीय गणराज्य (Federal Republic of Germany) की स्थापना हुई, मित्रराष्ट्रों के सैनिक कमीशन ने इसे प्रशासन के अधिकार प्रदान किए। पश्चिमी गणराज्य की राजधानी बान (Bonn) है। पूर्वी क्षेत्र में सोवियत रूस ने ७ अक्टूबर, १९४९ को जर्मन डेमोक्रेटिक गणराज्य की स्थापना की। इसकी राजधानी सोवियत रूस के बर्लिन क्षेत्र में रखी गई। किन्तु अभी तक जर्मनी के साथ कोई सन्धि न होने के कारण लड़ाई की स्थिति थी। १९५१ में सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने युद्ध की

स्थिति को समाप्त किया और २५ जनवरी, १९५५ को सोवियत रूस ने इसका अनुसरण किया। ५ मई, १९५५ को पश्चिमी राष्ट्रों का सैनिक अधिकार समाप्त होने से जर्मनी के संघीय गणराज्य को स्वाधीनता और सर्वोच्च प्रभुता प्राप्त हुई।[7] किन्तु जर्मनी के एकीकरण तथा बर्लिन की समस्या अभी तक हल नहीं हुई।

जापान के साथ संधि—पहले यह बताया जा चुका है कि मित्रराष्ट्रों ने काहिरा, याल्ता (पृ० २३०) और पोटसडाम (पृ० २३२) सम्मेलनों में जापान के भविष्य के सम्बन्ध में अपने कुछ महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की घोषणा की थी। ये मुख्य रूप से इस प्रकार थे—युद्ध की समाप्ति पर जापान का प्रभुत्व केवल चार बड़े तथा कुछ छोटे टापुओं तक सीमित रखना, कोरिया को स्वतन्त्र बनाना, रूस को १९०४ के बाद उससे लिए गए अनेक प्रदेश—साखालीन टापू का दक्षिणी भाग और चीन में कुछ प्रदेश वापिस करना, जापानी सैनिकवाद का सदा के लिए उन्मूलन करना, युद्धापराधियों को दण्डित करना, युद्धोद्योगों को बन्द करना, लोकतन्त्रीय शासन की सब बाधाओं को दूर करना, नागरिक स्वतन्त्रतायें प्रदान करना, क्षतिपूर्ति की वसूली तथा उत्तरदायी शान्तिवादी सरकार स्थापित होने तक मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का जापान में बना रहना। जापान द्वारा आत्मसमर्पण करने के बाद इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तथा सुदूरपूर्व का नियन्त्रण करने के लिए टोकियो में मित्रशक्तियों के सर्वोच्च सेना नायक (Supreme Commander for the Allied Power SCAP) के पद पर जनरल मैकार्थर को नियुक्त किया गया तथा जापान के लिए मित्रराष्ट्रों की परिषद् बनाई गई और वाशिंगटन में ११ राष्ट्रों का **सुदूरपूर्व आयोग** (Far Eastern Commission FEC) बनाया गया।

जर्मनी की अपेक्षा जापान की युद्धोत्तर समस्यायें बहुत कम जटिल थीं, यह उसके समान चार विदेशी सेनाओं से अधिकृत नहीं था, किन्तु यहाँ सेना का पूरा नियन्त्रण जनरल मैकार्थर के हाथ में था। जर्मनी में कोई स्थानीय शासन नहीं था, यहाँ जापानी सम्राट् और मंत्रिमंडल विद्यमान थे। जापान जर्मनी की तरह विभक्त न होकर, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से एक इकाई के रूप में बना हुआ था। इन सब कारणों से संधि कार्य सुकर होने पर भी विभिन्न महाशक्तियों के पारस्परिक मतभेद के कारण बड़ा दुष्कर हो गया। जुलाई १९४७ में वाशिंगटन ने सुदूरपूर्व आयोग के प्रतिनिधियों द्वारा जापान की संधि पर विचार करने के कुछ प्रस्ताव रखे। मास्को ने इनका घोर विरोध करते हुए विदेश-मन्त्रि-परिषद् द्वारा जापान की संधि तैयार कराने पर बल दिया। अमेरिका का यह कहना था कि काहिरा, याल्ता और पोटसडाम सम्मेलनों में ऐसा कोई निश्चय नहीं हुआ था। यदि विदेश-मंत्री-परिषद् द्वारा यह संधि तैयार करने का यत्न किया गया तो यह कभी सम्पन्न नहीं हो सकेगी क्योंकि उसमें कोई भी महाशक्ति अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करके इसे रद्द कर सकती थी।

इसके अतिरिक्त महाशक्तियों में इस विषय में कुछ अन्य मतभेद इस प्रकार थे:—

७. लैंगसम—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८८६

(१) रूस के साथ जापान से ली जाने वाली क्षतिपूर्ति की मात्रा के सम्बन्ध में बड़ा विवाद था, युद्ध के समय उसने मंचूरिया से रणसामग्री को बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्त किया था, किन्तु अब क्षतिपूर्ति में मास्को इसका मूल्य सम्मिलित नहीं करना चाहता था।

(२) मास्को जापान से निश्चित अवधि के भीतर अमेरिकन सेना को हटाने का, जापानी भूमि पर ८०० अमेरिकी सैनिक अड्डों को खाली करने का समर्थक और वाशिंगटन द्वारा जापान के पुनःशस्त्रीकरण का विरोधी था। वह अमेरिका को रयूकू (Ryuku) तथा बोनिन टापुओं पर ट्रस्टीशिप नहीं देना चाहता था, और सन्धिवार्त्ता में चीन का प्रतिनिधित्व अमेरिका द्वारा समर्थित राष्ट्रवादी चीन द्वारा नहीं किन्तु कम्यूनिस्ट चीन द्वारा चाहता था।

(३) ब्रिटेन और अमेरिका में जापान और चीन के सम्बन्धों के विषय में उग्र मतभेद थे। ब्रिटेन जापान द्वारा पेकिंग के साम्यवादी गणराज्य को स्वीकार कराना चाहता था और अमेरिका च्यांगकाई शेक के राष्ट्रवादी चीन को।

(४) शक्तियों के अन्य मतभेद—भारत जापान से अमेरिकी फौजों को हटाना तथा 'सम्माननीय समझौता' करना चाहता था, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और फिलिप्पाइन द्वीपसमूह जापान से क्षतिपूर्ति की राशि अवश्य वसूल करना चाहते थे, किन्तु सं० रा० अमेरिका सामान्य रूप से इसे नहीं लेना चाहता था।

इन मतभेदों के कारण जब जापान के साथ संधि में गतिरोध उत्पन्न हो गया, और १९५० तक कोरिया युद्ध छिड़ जाने के कारण इसमें कोई प्रगति नहीं हो सकी, अमेरिका के जापानी संधि विषयक प्रस्तावों को २० दिसम्बर, १९५० को सोवियत सरकार ने रद्द कर दिया तो अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ११ जनवरी, १९५१ को जान फास्टर डलेस को इस सन्धि के सम्पन्न कराने का कार्य सौंपा। राष्ट्रपति के निश्चयानुसार यह संधि दण्डव्यवस्था रहित, जापान को आर्थिक दृष्टि से समर्थ बनाए रखने वाली तथा विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित रखने वाली होनी चाहिए, यह सन्धि रूस के सहयोग से हो तो अच्छा है, किन्तु उसके विरोध में भी होनी चाहिए। डलेस ने टोकियो, मनीला, कैनबरा की यात्रा के बाद संधि का प्रारूप तैयार किया।

इसके अनुसार (१) जापान ने कोरिया की स्वाधीनता स्वीकार की, फारमोसा, क्यूराइल तथा साखालीन टापुओं पर अपने अधिकार छोड़े, प्रशान्तमहासागर में बोनिन, रयूकू टापुओं पर अमेरिका की २ अप्रैल, १९४७ की ट्रस्टीशिप मान ली गई। जापान ने प्रशान्तमहासागर के अन्य टापुओं के अमेरिका द्वारा प्रशासित होने को स्वीकार कर लिया, बशर्ते कि इस व्यवस्था को संयुक्त राष्ट्रसंघ संपुष्ट करे। जापान की सर्वोच्च सत्ता और प्रभुता केवल चार बड़े तथा कुछ छोटे टापुओं के १,५०,००० वर्गमील के क्षेत्र तक ही सीमित कर दी गई। (२) विदेशी सेनाओं को शीघ्र हटा लिया जाना चाहिए, यदि इनके बारे में सं० रा० अमेरिका और जापान के कोई समझौते हो जाते हैं तो ये सेनायें जापान में रह भी सकती हैं। (३) जापान ने चीन में अपने सब अधिकारों का छोड़ना और युद्ध अपराधियों के सम्बन्ध में मित्रराष्ट्रों के युद्धापराध न्यायालयों के निर्णय

मानना स्वीकार किया। (४) मित्रराष्ट्रों को चार वर्ष तक जापान से व्यापारिक मामलों में परमानुग्रह का व्यवहार (Most favoured treatment) पाने का अधिकार दिया गया। (५) क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया कि जापानियों को युद्ध में पहुँचाई क्षति को पूर्ण करने के लिए हर्जाने की राशि मित्रराष्ट्रों को अवश्य देनी चाहिए, किन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि वर्तमान समय में उसके आर्थिक साधन ऐसे नहीं हैं कि वह इन्हें अदा कर सके। जापान ने युद्ध आरम्भ होने से पहले लिये गए ऋणों को अदा करना स्वीकार किया।

२० जुलाई, १९५१ को जापान के विरुद्ध लड़ने वाले ५१ राज्यों को इस संधि का प्रारूप भेजा गया और इस सम्बन्ध में ४ सितम्बर को सानफ्रांसिस्को में होने वाले एक सम्मेलन में उन्हें निमन्त्रित किया गया। भारत ने संधि के इस मसविदे के सम्बन्ध में वाशिंगटन को भेजे गए अपने ३० जुलाई के पत्र में इसे बड़ा कठोर और अपमानजनक बताया। श्री नेहरू ने बोनिन तथा र्‍यूकू टापुओं पर अमेरिकन ट्रस्टीशिप का विरोध करते हुए इन्हें जापान को वापिस करने, फारमोसा चीन को देने के प्रस्ताव रखे और जापान में विदेशी सेनायें रखने का विरोध किया। ट्रूमैन ने जब नेहरू के प्रस्ताव नहीं स्वीकार किए तो नई दिल्ली ने २३ अगस्त को वाशिंगटन को यह सूचना दी कि वह सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में शामिल नहीं होगा, जापान से पृथक् संधि करेगा। बर्मा ने भी २३ जुलाई को इस मसविदे को अस्वीकार कर दिया और २३ अगस्त को प्रस्तावित संधि सम्मेलन में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया।

किन्तु सोवियत रूस, उसके समर्थक पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया तथा अन्य राज्यों ने इस सम्मेलन में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। १२ अगस्त को जब मास्को ने इसकी स्वीकृति दी तो वाशिंगटन आश्चर्य चकित रह गया। उसे यह आशा थी कि रूस इस प्रस्ताव को रद्द कर देगा और सम्मेलन में नहीं आएगा। किन्तु इसके विपरीत मास्को ने सम्मेलन में उपस्थित होकर संधि रद्द कराने की योजना बनाई। डलेस ने इसे विफल बनाने के लिए यह घोषणा की कि यह सम्मेलन केवल संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए बुलाया जा रहा है, इसमें इसके सम्बन्ध में विचारविमर्श या नये प्रस्तावों और प्रतिप्रस्तावों पर बहस नहीं होगी। इस चेतावनी के बावजूद ४ सितम्बर को सम्मेलन आरम्भ होने पर रूसी प्रतिनिधि ग्रोमिको इसमें सम्मिलित हुआ और अगले ही दिन उसने अपने १३ नये प्रस्ताव रखे, इनमें मुख्य ये थे—जापान द्वारा पेकिंग की साम्यवादी सरकार की स्वीकृति, जापान से हर्जाने की वसूली, जापान द्वारा यह वचन दिया जाना कि वह उसके विरुद्ध लड़ने वाली किसी महाशक्ति से सैनिक समझौता नहीं करेगा। उसके ये प्रस्ताव अन्य राज्यों ने स्वीकार नहीं किए, अतः उसने तथा उसके साथी पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया ने इस संधि पर हस्ताक्षर नहीं किए, किन्तु अन्य ४८ राज्यों ने इस पर हस्ताक्षर कर दिए। इसी दिन सं० रा० अमेरिका और जापान में एक सुरक्षा समझौता हुआ, इसके अनुसार जापान ने अपने सैनिक अड्डे अमेरिका को देना तथा अपनी भूमि में अमेरिकी फौजों को रखना स्वीकार किया। जापान की शांति संधि २८ अप्रैल, १९५२ से क्रियान्वित हुई। भारत ने जापान के साथ ९ जून को

पृथक् संधि करते हुए २८ अप्रैल से चुंगी के विषय में उसके साथ परमानुग्रह का व्यवहार (Most favoured Treatment) करना तथा भारत में युद्ध के समय जब्त की जापानियों की सम्पत्ति को लौटाने का निश्चय किया तथा टोकियो ने इसी प्रकार जापान में जब्त की भारतीय सम्पत्ति को लौटाने का वचन दिया।

प्रश्न

1. Compare and contrast the task of peacemaking in 1945 with peacemaking in 1919. Mention the causes which rendered more difficult the signing of peace treaties after the Second World War. (Agra Uni. 1957)
2. "The bright promises of the Atlantic Charter, the Four Freedoms and the United Nations were unfulfilled in the face of quarrels of the victors and the revolt of Asia." (Shuman). Comment. (Agra Uni. 1957)
3. Write short notes on :—
   Atlantic Charter (Agra Uni. 1960)
   The Yalta Conference (Raj. Uni. 1960)
   Dumberton Oaks Conference (Raj. Uni. 1960)

M. 3mb

सातवाँ अध्याय

संयुक्त राष्ट्रसंघ

13/3/70

संघ के विचार का उद्भव और विकास

द्वितीय विश्वयुद्ध के भीषण नरमेध और विध्वंस के ताण्डव ने विचारशील व्यक्तियों को मानव जाति की रक्षा के लिए शान्ति को सुरक्षित बनाए रखने वाले एक अन्तर्राष्टीय संगठन के निर्माण की तीव्र आवश्यकता अनुभव कराई। पश्चिमी योरोप तथा सं० रा० अमेरिका में इसके लिए पिछले राष्ट्रसंघ से एक भिन्न संगठन बनाना कई कारणों से आवश्यक समझा गया। **पहला कारण** अमेरिकी सीनेट द्वारा राष्ट्र-संघ की योजना की अस्वीकृति थी। (देखिए पृ० १९५–६)। ऐसी संस्था को सं० रा० अमेरिका द्वारा अपनाना सम्भव नहीं था। **दूसरा कारण** राष्ट्रसंघ की परिषद् द्वारा १९३९ में सोवियत यूनियन का इससे निष्कासन था (देखिए पृ० ६१)। मास्को का ऐसी संस्था में सम्मिलित होना असम्भव था, जिसे उसने अपनी सदस्यता से पृथक् कर दिया था। **तीसरा कारण** राष्ट्रसंघ के साथ लगी हुई बदनामी और उसके संविधान की कुछ मौलिक त्रुटियाँ थीं, इनका निराकरण संघ से भिन्न एक नई तथा अधिक शक्तिशाली संस्था से ही हो सकता था। चर्चिल ने अटलांटिक चार्टर का मस्विदा तैयार करते समय ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना को इसमें सम्मिलित करना चाहा था। किन्तु अमेरिका में राष्ट्रसंघ के पुराने विरोध को दृष्टि में रखते हुए रूजवैल्ट इसके लिए तैयार नहीं था। उसने सुमनर वैल्ज को कहा था—"राष्ट्रसंघ की असेम्बली जैसी संस्था के पुर्ननिर्माण से अधिक निरर्थक कोई अन्य कार्य नहीं है।"[1]

किन्तु इस समय अमेरिका के चर्चों ने स्थायी शान्ति बनाए रखने वाले अन्त-र्राष्ट्रीय संगठन को बनाने के लिए प्रबल आन्दोलन किया। दिसम्बर १९४० में एक ऐसी संस्था (A Federal Council of the Churches of Chirst) ने जान फास्टर डलेस की अध्यक्षता में "न्याय्य और स्थायी शान्ति का आयोग" स्थापित किया। इसने प्रबल प्रचार द्वारा अमेरिका की जनता को ऐसे संगठन की आवश्यकता अनुभव कराई। परिणामस्वरूप २१ सितम्बर तथा ५ नवम्बर १९४३ को कांग्रेस की सीनेट तथा प्रति-निधि सभा—दोनों ने ऐसे विश्वसंगठन स्थापित करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किए और ७ अक्टूबर, १९४३ को अमेरिकी विदेशमंत्री कार्डल हल इस प्रस्ताव को लेकर मास्को गया और मास्को सम्मेलन की चार देशों की घोषणा में सामान्य सुरक्षा के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने का विचार स्वीकार किया गया (१ नवम्बर, १९४३)।

इसके बाद इस संगठन की रूपरेखा तैयार करने के लिए वाशिंगटन के निकट

---

१. जान फास्टर डलेस—वार आर पीस, विशेष विद्यार्थी संस्करण, पृ० ३३

डम्बर्टन ओक्स में तीन देशों के प्रतिनिधि एकत्र हुए (देखिए पृष्ठ २२८)। इन्होंने इस नई संस्था के विभिन्न अंग पुरानी लीग के अंगों की भाँति—एक असेम्बली, सुरक्षा परिषद्, सचिवालय और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय रखे। इसके अतिरिक्त संघ के सचिवालय द्वारा किए जाने वाले कार्यों को अधिक क्षमतापूर्वक करने के लिए एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council) बनाने का तथा शान्ति स्थापित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र सेनाओं की व्यवस्था के लिए सैनिक स्टाफ समिति के निर्माण के सुझाव दिए गए। इस समय पहली बार इस संस्था के सम्बन्ध में पश्चिमी राष्ट्रों और रूस के कुछ मतभेद प्रकट हुए। रूस इस संस्था को महाशक्तियों के निर्णयों पर सहमति प्राप्त करने तथा प्रचार करने का साधनमात्र समझता था, वह इस पूंजीवादी (बूर्जुआ) राष्ट्रबहुल संस्था में अपना प्रभाव बनाए रखने के लिए वीटो या निषेधाधिकार चाहता था। उसका यह कहना था कि केवल इसी प्रकार महाशक्तियों में शान्ति को स्थायी बनाए रखने वाली एकता रह सकती है। वाशिंगटन सिद्धान्त रूप में वीटो से सहमत था किन्तु इसे मर्यादित करना चाहता था, इस सम्मेलन में इस प्रश्न का कोई अन्तिम फैसला नहीं हो सका। **याल्टा सम्मेलन** में रूज़वैल्ट और स्तालिन ने इस पर यह समझौता किया कि सुरक्षा परिषद् प्रक्रिया सम्बन्धी (Procedural) मामलों में ११ सदस्यों में से ७ के बहुमत से तथा अन्य आवश्यक विषयों (Substantive matters) में सात स्वीकारात्मक मतों (Affirmative votes) से कार्य करे। इसमें सुरक्षा परिषद् के पाँचों सदस्यों सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत यूनियन, फ्रांस और चीन की सहमति तथा एकमति (unanimity) होनी चाहिए। संयुक्त राष्ट्रसंघ के विधान (चार्टर) को अन्तिम रूप सानफ्रांसिस्को सम्मेलन (२५ अप्रैल–२६ जून १९४५) में दिया गया। यहां इसका तैयार किया गया चार्टर २४ अक्टू० १९४५ से लागू हुआ और इसकी पहली बैठक जनवरी १९४६ में लन्दन में हुई। इसी वर्ष दिसम्बर में जान डी० राकफैलर द्वारा मैनहैट्टन (न्यूयार्क) के मध्य में दान दिए गए स्थान में इसका स्थायी मुख्य कार्यालय रखने का निश्चय हुआ।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य और प्रयोजन—संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। इसमें दस हज़ार शब्द, १११ धाराएं तथा १९ अध्याय हैं। इसके आरम्भ में ही इसके उद्देश्यों का वर्णन है। इसका **पहला** उद्देश्य मानव जाति की भावी सन्ततियों को युद्ध की विभीषिका से मुक्ति प्रदान करना, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना है और इस दृष्टि से शान्ति को संकट में न डालने वाले सभी कार्यों के विरोध के लिए प्रभावशाली सामूहिक उपायों का ग्रहण करना है तथा शान्ति को भंग करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के आधार पर शान्तिपूर्ण उपायों से हल करना है। इसका **दूसरा** उद्देश्य सब राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का बढ़ाना है, इनका आधार सब लोगों के समानाधिकार तथा आत्मनिर्णय (selfdetermination) का सिद्धान्त होना चाहिए। **तीसरा** उद्देश्य आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवतावादी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के हल करने में सब देशों का सहयोग प्राप्त करना, मानवीय अधिकारों के प्रति सम्मान

बढ़ाना तथा जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेदभाव किए बिना सबको मौलिक स्वतंत्रताएँ प्राप्त कराना है। **चौथा** उद्देश्य संयुक्त राष्ट्रसंघ को ऐसा केन्द्र बनाना है, जो इन सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रों द्वारा किए जाने वाले कार्यों में सामंजस्य स्थापित कर सके।

मौलिक सिद्धान्त—संघ के चार्टर की धारा २ में इसके निम्नलिखित मौलिक सिद्धान्त बताए गए हैं :—(१) इसका प्रधान आधार छोटे-बड़े सब देशों की समानता और सर्वोच्च सत्ता का सिद्धान्त है। उदाहरणार्थ इसमें रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे बड़े राज्यों का तथा घाना जैसे हाल में स्वतन्त्र हुए राज्यों का दर्जा समान माना जाता है, उन्हें बराबर संख्या में प्रतिनिधि भेजने, इसकी सब कार्यवाहियों में भाग लेने, वोट देने के अधिकार एक जैसे हैं। (२) प्रत्येक सदस्य से यह आशा रखी जाती है कि वे चार्टर द्वारा उन पर लागू होने वाले दायित्वों का पालन पूरी ईमानदारी से करेंगे। (३) सभी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा शान्तिपूर्ण साधनों से करेंगे। (४) सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करेंगे, वे किसी देश की स्वतन्त्रता का हनन करने की या आक्रमण करने की न तो धमकी देंगे और न ऐसा कार्य करेंगे। (५) कोई भी देश चार्टर के प्रतिकूल काम करने वाले देश की सहायता नहीं करेगा। (६) सं० रा० संघ इसका सदस्य न बनने वाले राज्यों से भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने वाले सिद्धान्तों का पालन कराएगा। (७) सं० रा० संघ किसी देश के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

सदस्यता—संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र इसके आरम्भिक सदस्य थे। नये सदस्य पाँच स्थायी सदस्यों सहित सुरक्षा परिषद् के बहुमत की सिफारिश पर तथा असेम्बली के दो तिहाई बहुमत से बनाये जा सकते हैं। सदस्य बनने के लिए किसी देश का शान्तिप्रिय होना, चार्टर की बाध्यताओं को स्वीकार करना तथा इन्हें पूरा करने के लिए समर्थ होना है। पाँच स्थायी सदस्यों में से कोई भी किसी नये सदस्य को अपने वीटो (निषेधाधिकार) से संघ में प्रविष्ट होने से रोक सकता है। संघ के आरम्भिक ५१ सदस्य ये थे—अर्जन्टायना, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, बोलिविया, ब्राजील, बाइलोरशिया, कनाडा, चिली, चीन, कोलम्बिया, कोस्टारिका, क्यूबा, चैकोस्लोवाकिया, डेन्मार्क, डोमिनकिन रिपब्लिक, इक्वेडोर, मिस्र, अल साल्वादोर, ईथियोपिया, फ्रांस, यूनान, ग्वाटीमाला, होण्डूरास, भारत, ईरान, इराक, लेबनान, साइबीरिया, लक्जमबर्ग, मेक्सिको, हालैण्ड, न्यूजीलैण्ड, निकारगुआ, नार्वे, पानाम, पैराग्वे, पेरू, फिलिप्पाइन द्वीपसमूह, सौदीअरब, सीरिया, टर्की, यूक्रेन, दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन, सोवियत यूनियन, ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका, युरेग्वे, वेनेजुएला, यूगोस्लाविया, पोलैण्ड। इसके बाद निम्नलिखित देश इसके और सदस्य बने—अफगानिस्तान, आइसलैण्ड, स्वीडन, थाइलैण्ड (१९४६), पाकिस्तान, यमन (१९४६), बर्मा (१९४८), इजराइल (१९४९), इण्डोनीसिया (१९५०), स्पेन (१९५५)। निम्न १६ राज्यों को बड़े विवाद के बाद दिसम्बर १९५५ में सदस्य बनाया गया था—अल्बानिया, आस्ट्रिया, बल्गारिया, सीलोन, कम्बोडिया, फिनलैण्ड, हंगरी, आयरिश रिपब्लिक, इटली, जोर्डन, लिबिया, लाओस,

नेपाल, पुर्तगाल, रूमानिया और स्पेन[२]। इसके बाद इसके सदस्यों की कुल संख्या ७६ हो गयी। १९५६ में जापान इसका ८०वां सदस्य बना, १९५७ में घाना और मलाया के सदस्य बनने से यह संख्या ८२ हो गयी है। १२ दिसम्बर १९५८ को गिनी उसका सदस्य बना। १९६० में अफ्रीका में स्वतन्त्र हुए १५ नये राज्यों तथा साइप्रस के[३] इसका सदस्य बनने से सं० रा० संघ की सदस्य संख्या ९९ हो गई। इसके बाद दिसम्बर १९६३ तक निम्नलिखित १४ नये राज्य कोष्ठों में दी गई तिथियों में इसके सदस्य बने—सियर्रा लिओन (६ अक्टूबर, १९६१), मंगोलिया (२७ अक्टूबर, १९६१), मारीतानिया (२७ अक्टूबर, १९६१), टांगानिका (२४ नवम्बर १९६१), बुरुण्डी तथा रुआण्डा (१८ सितम्बर, १९६२), ट्रिनीडाड टोबेगो तथा जमैका (१८ सितम्बर, १९६२), अल्जीरिया (६ अक्टूबर १९६२), युगाण्डा (२५ अक्टूबर, १९६२), कुवैत (१४ मई, १९६३) जंजीबार तथा केनिया (१२ दिसम्बर, १९६३)। इस प्रकार १९६४ के आरम्भ में सं० रा० संघ के सदस्यों की कुल संख्या ११३ थी।

इसके सब सदस्यों के अधिकार समान समझे जाते हैं, उनसे यह आशा रखी

---

२. इस विवाद का कारण सं० रा० अमेरिका और सोवियत रूस के परस्पर विरोधी गुटों द्वारा अपने समर्थक राज्यों की संख्या बढ़ाना और विरोधियों को सदस्य न बनने देने की इच्छा थी। अमेरिका सोवियत पक्षपाती अल्बानिया, बल्गारिया, हंगरी, रूमानिया, मंगोलिया को सदस्य नहीं बनने देना चाहता था और रूस अमेरिका पक्षपाती आस्ट्रिया, जोर्डन, लीओन, जापान का विरोधी था। इस समय भारत के प्रति निधि श्री कृष्ण मेनन के प्रयत्न से दोनों पक्षों में समझौता हुआ। श्री मेनन की प्रेरणा से रूस ने १६ देशों को सदस्य बनाना स्वीकार कर लिया। इन देशों के सदस्य बन जाने के दो बड़े परिणाम हुए—(१) एंग्लो अमेरिका गुट के प्रभाव की क्षीणता—इससे पहले सं० रा० अमेरिका दक्षिण अमेरिका के २० राज्यों के वोटों की सहायता से असेम्बली में दो तिहाई बहुमत सुगमतापूर्वक प्राप्त कर लेता था और इसमें उसकी प्रधानता थी। नये सदस्यों के आ जाने से उसका पुराना प्राधान्य नहीं रहा। (२) नये सदस्यों में काफी संख्या एशिया, अफरीका के उन राज्यों की थी, जो भारत की भांति दोनों गुटों के झगड़ों से पृथक् रहना चाहते थे। इनसे 'एशिया-अफरीका' का तटस्थ गुट शक्तिशाली हुआ है। अब संयुक्त राष्ट्रसंघ में योरोप के तीन के अतिरिक्त सभी देश हैं। इनमें स्विटजरलैण्ड तो तटस्थता का इतना भक्त है कि वह सं० रा० संघ में सम्मिलित होना इसका भंग होना समझता है। जर्मनी के दोनों राज्य भी पूर्व-पश्चिम संघर्ष के कारण इनके सदस्य नहीं बने। एशिया में कम्यूनिस्ट चीन को सं० रा० अमेरिका के विरोध के कारण इसकी सदस्यता अब तक प्राप्त नहीं हो सकी।

३. २० सित० १९६० को साइप्रस तथा अफ्रीका में स्वतन्त्र होने वाले १२ राज्यों को जनरल असेम्बली ने संघ का सदस्य बनाना स्वीकार किया—कैमरून गणराज्य, टोगोलीज गणराज्य, मलगासी (मैडागास्कर) गणराज्य, दहोमी, नाइजर, अपर वोल्टा, आइवरी कोस्ट, सोमालिया-गणराज्य, गेबोन तथा मध्य अफ्रीका के गणराज्य, काँगो (लिओपोल्डविले)। २८ सित०, १९६० को जनरल असेम्बली ने अफ्रीका के अन्य नये राज्यों माली तथा सेनेगाल को अपना सदस्य बनाया। ८ अक्टूबर १९६० को नाइजीरिया संघ का ९९ वां सदस्य बना है। इन नवीन १६ राज्यों के कारण अफ्रीका-एशिया के राज्यों की संख्या ४५ हो गयी है। अब दो तिहाई बहुमत से पास होने वाले प्रस्ताव के लिए इनका समर्थन आवश्यक हो गया है।

जाती है कि वे इस चार्टर के अनुसार अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों का पालन पूरी ईमानदारी से करेंगे। इसके सब सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान शान्तिपूर्ण रीति से इस प्रकार करेंगे कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा और न्याय संकटापन्न न हो। सब सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता भंग करने के लिए न तो शक्ति प्रयोग करने की धमकी देंगे और न शक्ति का प्रयोग करेंगे। वे कोई भी ऐसा कार्य नहीं करेंगे, जो संयुक्त राष्ट्रों के प्रयोजनों के अनुकूल न हो। सभी सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ को ऐसी प्रत्येक कार्यवाही में सब प्रकार की सहायता देंगे, जो वर्तमान चार्टर के अनुसार हो तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ जिस राज्य के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर रहा हो, उसे कोई मदद नहीं देंगे। संयुक्त राष्ट्रसंघ को किसी राज्य के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। यद्यपि इसका सदस्य न बनने वाले राज्यों पर चार्टर के दायित्व और बन्धन नहीं लागू होते; फिर भी यदि वे शान्ति का भंग करते हैं तो संयुक्त राष्ट्रसंघ उसके विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है। सदस्य न बनने वाले राज्यों को भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवाद सुरक्षा परिषद् के सामने लाने का अधिकार है, वे सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर सामान्य असेम्बली द्वारा निश्चित की गई शर्तों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में सम्मिलित होने का भी अधिकार रखते हैं।

१९४६ में सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर सामान्द असेम्बली ने इसका पहला महामन्त्री नार्वे के श्रमिकदल के नेता तथा भूतपूर्व प्रधानमन्त्री ट्रिग्वे ली (Trygave Halfdan Lie) को नियुक्त किया था, ७ वर्ष तक घोर परिश्रम के साथ अपना कार्य सम्पन्न करने पर भी रूसियों के विरोध के कारण इसने त्यागपत्र दे दिया, उसके बाद १९५३ में उनके स्थान पर स्वीडन के वित्त विशेषज्ञ डाग हैमरशौल्ड (Hammarsk Jold) इसके महामन्त्री बने। १९६१ में इनकी मृत्यु पर बर्मा के ऊथांस ३० नवम्बर, १९६२ को महामन्त्री चुने गये। इसका बजट १९४८ में ३॥ करोड़ डालर था और १९६० में ६,३१,४९,७०० अमेरिकन डालर। यह राशि सदस्य राज्यों द्वारा दिये जाने वाले अंशदानों से पूरी की जाती है। १९५८ में इसका सबसे बड़ा हिस्सा ३२.५१% सं० रा० अमेरिका ने प्रदान किया था, इसके बाद रूस ने १३.६२% दिया, भारत ने २.९०% अंशदान किया था। मैनहैट्टन में इसका स्थायी कार्यालय बनने से पूर्व इसका अस्थायी कार्यालय लांग द्वीप के लेक सक्सेस में था।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग

असेम्बली—चार्टर की धारा ७ के अनुसार इसके छः अंग हैं—[१] सामान्य असेम्बली (General Assembly), [२] सुरक्षा परिषद् (Security Council), [३] आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council), [४] न्यास परिषद् (Trusteeship Council), [५] अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, [६] सचिवालय (Secretariat)।

सामान्य असेम्बली (महासभा या बृहत्सभा) में संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य राज्य को इसमें ५ प्रतिनिधि तथा ५ वैकल्पिक प्रतिनिधि

(Alternate delegates) भेजने का अधिकार है किन्तु वह वोट एक ही दे सकता है। इसका अधिवेशन वर्ष में एक बार सितम्बर महीने के तीसरे बृहस्पतिवार से प्रारम्भ होता है। इसके विशेष अधिवेशन महामन्त्री सुरक्षा परिषद् की अथवा सं० रा० संघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर बुला सकता है। ऐसे विशेष अधिवेशन पेलेस्टाइन की समस्या पर २८ अप्रैल से १५ मई, १९४७ को तथा १६ अप्रैल से १४ मई, १९४८ को, मध्यपूर्व की स्थिति पर १ से १० नव० १९५६ को तथा हंगरी की स्थिति पर ४ से १० नव० १९५६ को, लेबनान पर ८ से २१ अगस्त १९५८ तथा कांगो पर १७–२० सितम्बर १९६० को बुलाये गये।

असेम्बली का कार्य सात मुख्य समितियों में बंटा हुआ है, प्रत्येक सदस्य इनमें अपना एक प्रतिनिधि भेज सकता है। ये समितियां इस प्रकार हैं :—(१) राजनीतिक और सुरक्षा समिति (First Political and Security Committee) इसमें शस्त्रास्त्रों का नियन्त्रण भी सम्मिलित है। (२) आर्थिक और वित्तीय समिति। (३) सामाजिक, मानवीय और सांस्कृतिक समिति।(४)न्यास समिति (Trusteeship Committee)। (५) प्रशासनात्मक तथा बजट समिति (Administrative and Budget Committee)। (६) कानूनी समिति (Legal Committee)। (७) विशेष राजनीतिक समिति। इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रक्रियात्मक (Procedural) समितियां होती हैं—(१)सामान्य समिति—इसका कार्य असेम्बली की तथा इसकी समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करना होता है। (२) प्रमाणपत्र समिति (Credentials Committee)। यह प्रतिनिधियों के प्रमाणपत्रों की जांच करती है।

असेम्बली प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति चुनती है। इसके आठवें अधिवेशन के लिए भारत की श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित सभापति चुनी गई थीं। इसके 'महत्त्वपूर्ण निर्णय' दो तिहाई बहुमत से तथा अन्य निर्णय सामान्य बहुमत से होते हैं। 'महत्त्वपूर्ण' विषय निम्नलिखित हैं—शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी सिफारिशें, सदस्यों का प्रवेश या निष्कासन, ट्रस्टीशिप के विषय, संघ के अन्य अंगों के सदस्यों का चुनाव।

असेम्बली वर्तमान चार्टर के क्षेत्र के अन्तर्गत किसी भी विषय पर विचार कर सकती है। इसके प्रमुख विचारणीय विषय ये हैं—(१) निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियन्त्रण के सिद्धान्त, (२) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग के सामान्य सिद्धान्त, (३) संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य अथवा सदस्येतर किसी राज्य द्वारा इसके समक्ष उपस्थित किये गए शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्न, (४) संघ के विभिन्न अंगों की शक्तियों तथा कार्यों से संबद्ध प्रश्न, (५) सुरक्षा परिषद् की वार्षिक तथा विशेष रिपोर्टों पर विचार, (६) बजट पर विचार तथा अनुमोदन, (७) विभिन्न देशों द्वारा संघ के व्यय को वहन करने का अनुपात।

सामान्य असेम्बली निम्नलिखित बातों के अध्ययन की व्यवस्था करती है तथा उस पर अपनी सिफारिशें देती है—(क) राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाना, (ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास और संहिताकरण को प्रोत्साहित करना, (ग) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा और स्वास्थ्य संबन्धी क्षेत्रों में

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाना, जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेद किये बिना सबको मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रतायें दिलाने में सहायता देना। मूल चार्टर में यह व्यवस्था थी (धारा १२) कि सुरक्षा परिषद् जब किसी झगड़े या परिस्थिति पर विचार कर रही हो तो उसके सम्बन्ध में असेम्बली तब तक कोई सिफारिश नहीं करेगी, जब तक स्वयं सुरक्षा परिषद् उससे ऐसा करने को न कहे। किन्तु जब सुरक्षा परिषद् में महाशक्तियों द्वारा वीटो के प्रयोग से गतिरोध उत्पन्न होने लगा तो असेम्बली ने १९५० में अपने पाँचवें अधिवेशन में यह प्रस्ताव पास किया कि जब सुरक्षा परिषद्, ऐकमत्य (Unanimity) न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित रखने के अपने प्रधान उत्तरदायित्व को पूरा न कर सके और शान्ति भंग के भय या आक्रमण की आशंका हो तो असेम्बली इस विषय पर फौरन विचार करके सदस्यों से शान्ति बनाये रखने के सामूहिक उपायों की सिफारिश करेगी। यदि शान्ति भंग या आक्रमण की आशंका हो तो वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिए सैनिक कार्यवाही के प्रयोग की सिफारिश भी कर सकती है। इस प्रस्ताव से असेम्बली के अधिकार और प्रभाव में बड़ी वृद्धि हुई है।

छोटी असेम्बली (Little Assembly)—१९४७ तक सुरक्षा परिषद् में स्थायी महाशक्तियों के उग्रविरोध और वीटो के प्रयोग के कारण ऐसा गतिरोध उत्पन्न हो गया कि सुरक्षा परिषद् से युद्ध और आक्रमणों की आशंकाओं से भयभीत विश्व को सुरक्षा पाने या शान्ति बनाए रखने की आशाओं का पूरा होना असम्भव प्रतीत हुआ। अतः सामान्य असेम्बली ने इस नवीन परिस्थिति का हल करने के लिए १३ नवम्बर, १९४७ को 'अन्तरिम समिति' (Interim Committee) नामक एक नया सहायक अंग स्थापित किया। इसे सामान्य रूप से '**छोटी असेम्बली**' कहा जाता है, यह असेम्बली का सामान्य अधिवेशन न होने की दशा में उसके अधिकार क्षेत्र में आने वाले प्रश्नों पर विचार करती है। इसके लिए इसे जांच कमीशन नियत कराने, आवश्यक अन्वेषण कराने और महामन्त्री को असेम्बली का विशेष अधिवेशन बुलाने की सिफारिश करने का अधिकार है। इसकी स्थिति सुस्पष्ट करने के लिए सामान्य असेम्बली ने यह भी निश्चय किया कि छोटी असेम्बली चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के दायित्वों का भी ध्यान रखेगी। सामान्य असेम्बली के प्रत्येक सदस्य को इसमें एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। इस प्रकार यह जनरल असेम्बली से बहुत छोटी, उसका पंचमांश और सदा अधिवेशन में रहने वाली स्थायी संस्था है। आरम्भ में यह दो बार एक वर्ष के लिए बनाई गई। नवम्बर १९४९ में इसे अनिश्चित अवधि के लिए पुनःस्थापित किया गया। किन्तु रूस तथा उसके समर्थक देश इसके घोर विरोधी थे। १९५२ के बाद इसका कोई बैठक नहीं हुई।

शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव (Uniting for Peace) (३ नव०, १९५०)—सुरक्षा परिषद् में वीटो के प्रयोग से उत्पन्न गतिरोध को दूर करने का दूसरा प्रयत्न यह प्रस्ताव था। यह वस्तुतः सोवियत रूस द्वारा बार-बार निषेधाधिकार के व्यवहार से उत्पन्न परिस्थिति का प्रतिकार करने के लिए और कोरिया युद्ध में चीनी फौजों के

हस्तक्षेप की सूचना कोरिया की संयुक्त कमान से उपलब्ध होने से दो दिन पूर्व पास किया गया था। जून १६५० में कोरिया के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् ने बड़ी तेज़ी से कार्यवाही की थी। इसका कारण यह था कि उस समय सोवियत रूस सं० रा० संघ के कुछ अंगों की बैठकों का जान-बूझकर बायकाट कर रहा था, क्योंकि संघ ने पेकिंग की कम्यूनिस्ट सरकार को अपना सदस्य बनाना स्वीकार नहीं किया था। अगस्त १६५० में रूस ने इस बहिष्कार की नीति को छोड़ कर सुरक्षा परिषद् की बैठकों में भाग लेना शुरू किया। इससे यह स्पष्ट था कि कोरिया के मामले में वह किसी भी कार्यवाही में अड़ंगेबाज़ी करेगा। इसका हल करने के लिए तथा वीटो के प्रयोग से उत्पन्न गतिरोध को समाप्त करने के लिए अमेरिका की ओर से यह प्रस्ताव रखा गया कि ऐसी स्थिति में जनरल असेम्बली को विचार करने और आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार दिया जाय। जनरल असेम्बली में वीटो न होने के कारण वहाँ इस प्रकार की अड़ंगेबाज़ी नहीं हो सकती थी। रूस ने यद्यपि इसका इस आधार पर घोर विरोध किया कि इससे सुरक्षा परिषद् की सत्ता क्षीण हो जायगी, फिर भी यह 'अकेसन योजना' (Acheson Plan) पास हो गई।

इसके अनुसार सुरक्षा परिषद् के वीटोविहीन सात सदस्यों के वोट से या संघ के सदस्यों के बहुमत से २४ घण्टे का नोटिस देकर जनरल असेम्बली का आवश्यक विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। यदि सुरक्षा परिषद् आपसी मतभेदों के कारण शान्ति-भंग की अथवा आक्रमण की आशंका को या आक्रमण को रोकने में अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करती, तो असेम्बली इस विषय पर फौरन विचार करके "सामूहिक उपायों" के लिए अपनी सिफारिशें दे सकती है और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए फौजी कार्यवाही का भी निर्देश कर सकती है। इस प्रस्ताव में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव वाले क्षेत्रों में स्थिति का निरीक्षण करने और रिपोर्ट देने के लिए १४ व्यक्तियों के **शान्ति निरीक्षण आयोग** (Peace Observation Committee) की व्यवस्था थी और इसके तीसरे (c) भाग में सदस्यों से यह प्रार्थना थी कि वे अपनी सेनाओं का कुछ विशेष भाग "इस दृष्टि से प्रशिक्षित, संगठित और सुसज्जित करें कि वह सुरक्षा परिषद् या जनरल असेम्बली की सिफारिश पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की इकाई के रूप में फौरन सेवा के लिए उपलब्ध हो सके।"

यह प्रस्ताव संघ के विधान में बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाला है। इसने जनरल असेम्बली को सुरक्षा परिषद् से अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। पहले सं० रा० संघ का केन्द्र सुरक्षा परिषद् थी। अब इसने यह गौरवास्पद स्थान असेम्बली को प्रदान किया है। इससे वीटो की समाप्ति तो नहीं हुई किन्तु उससे उत्पन्न गतिरोध को दूर करने का हल निकल आया है। यद्यपि सुरक्षा परिषद् इस विषय में केवल सिफारिशें ही करती है और इनका मानना या न मानना सदस्यों की इच्छा पर है और इन्हें न मानते हुए भी सदस्य चार्टर का उल्लंघन नहीं करते, जैसे भारत और सोवियत गुट ने कोरिया युद्ध में चीनी हस्तक्षेप के सम्बन्ध में असेम्बली की सिफारिश नहीं मानी थी, फिर भी ये सिफारिशें बड़ा महत्त्व रखती हैं। नवम्बर १६५६ में मिस्र पर इज़राइल, ग्रेट ब्रिटेन

और फ्रांस का आक्रमण होने पर जनरल असेम्बली के विशेष अधिवेशन ने इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य करते हुए सफलतापूर्वक शान्ति स्थापित की।

१९४९ से सुरक्षा परिषद् की तुलना में जनरल असेम्बली (महासभा या बृहत्सभा) का महत्त्व बढ़ रहा है। इसमें ११३ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के समानता के आधार पर सम्मिलित होने के कारण तथा उनके स्वतन्त्र रूप में अपनी शिकायतें, प्रस्ताव और सुझाव रखने के कारण इसे 'विश्व का उन्मुक्त अन्तःकरण' (Open Conscience of the world) कहा जाता है। इसमें "अणुबम से लेकर मानवीय कल्याण, भोजन, कपड़ों और आवास स्थान" तक की सभी समस्याओं पर विचार होता है। स्टार्क के कथनानुसार "यह बात उल्लेखनीय है कि जनरल असेम्बली ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में प्रधान भाग लिया है। इसने संयुक्त राष्ट्र-संघ के समक्ष लाए गए कुछ मुख्य प्रश्नों पर विचार करके पेलेस्टाइन, यूनान, स्पेन और कोरिया के सम्बन्ध में कार्यवाही की है। पेलेस्टाइन के विषय में इसने १९४६ में तथ्य अन्वेषण की विशेष समिति नियत की, १९४८ में यहूदियों तथा अरबों के विवाद के निर्णय के लिए पहले मध्यस्थ नियुक्त किया और बाद में समझौता आयोग बनाया।"[३]

सुरक्षा परिषद् (Security Council)—चार्टर के पाँचवें अध्याय में धारा २३ से ३२ तक सुरक्षा परिषद् के संगठन, कार्यों, अधिकारों तथा मतदान पद्धति का वर्णन है। इस परिषद् के ११ सदस्य होते हैं। इनमें चीन, फ्रांस, सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमेरिका स्थायी सदस्य (Permanent members) हैं, छः अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिए जनरल असेम्बली के दो-तिहाई बहुमत से चुने जाते हैं। २ वर्ष की अवधि समाप्त होने पर किसी सदस्य को पुनः चुनाव के लिए खड़ा होने का अधिकार नहीं है। परिषद् में प्रत्येक सदस्य का एक प्रतिनिधि होता है। अस्थायी सदस्य प्रायः विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से चुने जाते हैं। इनमें प्रायः दो लैटिन अमेरिका राज्यों के प्रतिनिधि, एक ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का प्रतिनिधि और एक कम्यूनिस्ट देशों का प्रतिनिधि होता है। सं० रा० संघ का कोई भी सदस्य अपने देश से संबद्ध विषय उपस्थित होने पर इसकी कार्यवाही में भाग ले सकता है (धारा ३२)। किन्तु उसे वोट देने का अधिकार नहीं होता। १९४७–४८ में सुरक्षा परिषद् में काश्मीर का प्रश्न उपस्थित होने पर भारत और पाकिस्तान ने इसकी कार्यवाही में इसी प्रकार भाग लिया था।

सुरक्षा परिषद् का संगठन इस प्रकार का बनाया गया है कि वह लगातार काम करती रहे। अतः संघ के मुख्य कार्यालय में सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक प्रतिनिधि बना रहना आवश्यक है (धारा २८), सुरक्षा परिषद् का मुख्य उत्तरदायित्व "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखना है" (धारा २४)। इसे "अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष और विवाद उत्पन्न करने वाली किसी भी परिस्थिति या झगड़े की जांच" का पूरा अधिकार दिया गया है। इसमें सामान्य रूप से कानूनी विवाद नहीं आते क्योंकि

३. स्टार्क—एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल लॉ, पृ० ४५९-६०।

इनका निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा किया जाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्य इस बात पर सहमत हैं कि वे "वर्तमान चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के सब निर्णयों को स्वीकार करेंगे एवं पालन करेंगे" (धारा २)। सुरक्षा परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के शान्तिपूर्ण निपटारे के सम्बन्ध में धारा ३३-३८ तक तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को संकट में डालने, इसे भंग करने तथा आक्रमण रोकने की कार्यवाही के सम्बन्ध में धारा ३९-५१ तक विस्तृत वर्णन है। यह परिषद् अपने निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए सदस्यों को पहले तो ऐसे उपायों को व्यवहार में लाने के लिए कहेगी जिनमें सेना के उपयोग की आवश्यकता न हो। यदि ये उपाय अपर्याप्त हों तो परिषद् "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने या फिर से स्थापित करने के लिए जल, थल, वायु-सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है" (धारा ४२)। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्य यह वचन देते हैं, कि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा बनाए रखने में सहयोग देने के लिए "सुरक्षा परिषद् के माँगने पर और विशेष समझौतों के अनुसार वे अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता तथा अन्य सुविधाएँ" प्रस्तुत करेंगे। (धारा ४३)। सुरक्षा परिषद् "सशस्त्र सेनाओं को उपयोग में लाने की योजनाएँ" एक सैनिक स्टाफ समिति की सलाह और सहायता से बनायेगी (धारा ४४)। यह सैनिक स्टाफ समिति (Military Staff Committee) सुरक्षा परिषद् को निम्न विषयों में सहायता और परामर्श देगी—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाए रखने की सैनिक आवश्यकताएँ, इस समिति के आधीन सेनाओं का प्रयोग और कमान, शस्त्रों का नियन्त्रण, संभावित निःशस्त्रीकरण (धारा ४७)। इस समिति के सदस्य सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों के सैनिक स्टाफों के अध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि होंगे। सुरक्षा परिषद् को उपयोग के लिए दी गई सशस्त्र सेनाओं का सामरिक संचालन सैनिक स्टाफ समिति के हाथ में होगा और यह परिषद् के आधीन होगी (धारा ४७)। सुरक्षा परिषद् जो भी कार्यवाही तय करेगी, उसे पूरा करने में सब सदस्य सामूहिक रूप से एक-दूसरे को सहयोग देंगे (धारा ५०)।

सुरक्षा परिषद् की ये व्यवस्थाएँ **राष्ट्रसंघ के पुराने प्रतिज्ञापत्र से मौलिक भेद रखती हैं**, इसमें आक्रमणों को रोकने के लिए सैनिक स्टाफ समिति जैसा कोई संगठन नहीं था। सुरक्षा परिषद् ने कोरिया के युद्ध में इन धाराओं का उपयोग किया था। ७ जुलाई तथा २७ जुलाई, १९५० को पास किए प्रस्तावों में उत्तर कोरिया में आक्रमण की निन्दा करते हुए सब सदस्यों को इसके निरोध के लिए सेनाएँ देने और अन्य सहायता करने को कहा था। १३ जुलाई १९६० को सुरक्षा परिषद् ने कांगो गणराज्य की प्रार्थना पर महामन्त्री को उसे पूरी सैनिक सहायता भेजने का अधिकार दिया और २८ जु० तक सं० रा० संघ की ओर से कांगो में १० हज़ार सैनिक पहुँच गए थे। कई बार संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा किसी सदस्य पर आक्रमण होने की दशा में उसे सहायता पहुँचाने में किन्हीं कारणों से विलम्ब हो सकता था, अतः धारा ५१ में उसे उस समय तक आत्मरक्षा (Self-defence) का अधिकार दिया गया है "जब तक सुरक्षा परिषद् स्वयमेव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए कोई कार्यवाही नहीं करती।" इसके अति-

रिक्त चार्टर ने शान्ति बनाए रखने के लिए प्रादेशिक व्यवस्थाओं (Regional arrangements), संगठनों, सन्धियों, समझौतों की भी अनुमति इस शर्त पर दी है कि ये सं० रा० संघ के प्रयोजनों और सिद्धान्तों से मेल रखते हों, (धारा ५२) और सुरक्षा परिषद् के आधीन ही अपनी सारी कार्यवाही करें और इसकी सूचना सुरक्षा परिषद् को भेजते रहें (धारा ५३)।

सुरक्षा परिषद् में मतदान प्रणाली तथा वीटो—चार्टर की धारा २७ में सुरक्षा परिषद् में मतदान की प्रणाली का वर्णन है। इसके अनुसार प्रक्रिया सम्बन्धी (Procedural) विषयों में परिषद् के निर्णय सात सदस्यों के स्वीकारात्मक (Affirmative) मत से किए जाएँगे। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों का आशय ऐसे मामलों से है जिनमें सुरक्षा परिषद् की बैठक के समय या स्थान का निर्णय करना, इसके सहायक अंगों की स्थापना कार्यवाही चलाने के नियम और सदस्यों को बैठक में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित करना आदि हो। इनके अतिरिक्त सब विषय **सारवान** (Substantive) या महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। ऐसे विषयों के निर्णयों के लिए सात सदस्यों के स्वीकारात्मक सात वोटों के साथ पाँच स्थायी सदस्यों के स्वीकारात्मक वोट भी होने चाहिएँ। यदि इन पाँच में से किसी का विवादास्पद झगड़े से सम्बन्ध है तो वह वोट नहीं देगा। इस व्यवस्था के अनुसार यदि पाँच सदस्यों में से कोई एक भी किसी महत्त्वपूर्ण निर्णय के विपक्ष में वोट देता है, तो यह विषय अस्वीकृत समझा जायगा। यही **निषेधाधिकार या वीटो** (Veto) की सुप्रसिद्ध व्यवस्था है।

सुरक्षा परिषद् में पहले ७ वर्षों में वीटो का पचास बार प्रयोग हुआ, इनमें से केवल एक बार फ्रांस ने किन्तु ४९ बार सोवियत रूस ने इसका प्रयोग किया।[४] इसका प्रयोग प्रायः संघ में नये सदस्यों का प्रवेश रोकने के लिए तथा विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे के विषय में हुआ है। प्रायः यह कहा जाता है कि **वीटो की व्यवस्था** बड़ी दोषपूर्ण है, इससे कोई एक महाशक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्य सभी सदस्यों द्वारा चाही जाने वाली व्यवस्थाओं को ठप्प कर सकती है। अतः वीटो की दूषित और हानिकर व्यवस्था का उन्मूलन अथवा संशोधन होना चाहिए।

इस प्रश्न की समुचित मीमांसा के लिए वीटो व्यवस्था की पृष्ठभूमि पर विचार करना आवश्यक है। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तिम समय में नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर विचार करते हुए राष्ट्रपति रूज़वैल्ट ने इस व्यवस्था को इसलिए आवश्यक समझा था कि युद्ध के बाद ऐसे संगठन को तभी सफलता मिल सकती थी, जब कि इसे सब महाशक्तियों का सहयोग प्राप्त हो। राष्ट्रपति की दूरदृष्टि ने यह अनुभव कर लिया था कि सोवियत रूस या सं० रा० अमेरिका जैसे बड़े देशों के लिए एक ऐसे संगठन में भाग लेना सम्भव नहीं है, जिसमें अन्य राष्ट्र केवल अपने बहुमत के बल पर ही महाशक्तियों को कोई कार्य करने के लिए बाधित करें। इसे रोकने का एकमात्र उपाय वीटो था। महाशक्तियों के सहयोग के बिना विश्व संगठन की कोई व्यवस्था सफल नहीं हो सकती

---

४. चार्ल्स श्लीचर—इन्ट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल पालिटिक्स, पृ० ६२५।

और उन्हें जबर्दस्ती उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता था, इसका परिणाम युद्ध और विश्व संगठन की समाप्ति थी। अतः सं० रा० अमेरिका का यह विचार था कि वह वीटो वाला विश्व संगठन ही स्वीकार करेगा और यदि इसमें वीटो की व्यवस्था नहीं होगी तो वह उसके लिए सर्वथा अस्वीकार्य होगा। सं० रा० अमेरिका का यह मत था कि सुरक्षा परिषद् ऐसे निर्णय कर सकती है, जिनके अनुसार उसे अपनी सेना का उपयोग करना पड़े, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे उपयोग अपनी च्छा से करे, न कि दूसरे राष्ट्रों द्वारा बाधित होकर। यदि सं० रा० अमेरिका ऐसे उपयोग से सहमत नहीं है तो उसे इसको अपने निषेधाधिकार द्वारा रद्द करने का पूरा अधिकार होना चाहिए। किन्तु वीटो के अधिकार का प्रबल समर्थक होते हुए भी वाशिंगटन यह चाहता था कि इसके प्रयोग में बड़ी सावधानी बरती जानी चाहिए। इसका उपयोग विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे को रोकने या नये सदस्यों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत रूस निषेधाधिकार के प्रयोग नियंत्रित करने के पक्ष में नहीं है, वह जुलाई १९६० तक इसका प्रयोग ८९ बार कर चुका है।

सुप्रसिद्ध विधिशास्त्री केलसन (Kelsen) का यह मत है कि वीटो राष्ट्रसंघ में पाँच स्थायी सदस्यों को विशेषाधिकार प्राप्त शक्तियाँ बनाता है, अन्य सब सदस्यों पर उनकी कानूनी प्रभुता स्थापित करता है, यह उनके निरंकुश और स्वच्छन्द शासन का सूचक है, चार्टर के सब सदस्यों की समानता के मूल एवं सर्वप्रथम सिद्धान्त का प्रत्याख्यान है, यह उसकी समूची राजनैतिक विचारधारा का विरोधी है और संघ की व्यवस्था में गतिरोध उत्पन्न करने वाला है, अतः इसकी समाप्ति होनी चाहिए[५]।

किन्तु यह मत कई कारणों से ठीक प्रतीत नहीं होता। पहला कारण तो यह है कि सं० रा० संघ को सुचारु रूप से चलाने के लिए वीटो का होना अत्यावश्यक है। पहले यह बताया जा चुका है कि संघ की सफलता के लिए महाशक्तियों का सहयोग अपेक्षित है, राष्ट्रसंघ की विफलता का एक कारण सं० रा० अमेरिका और रूस का उससे पृथक् रहना था। यदि वर्तमान संघ में बहुमत द्वारा किसी महाशक्ति को किसी कार्य के लिए बाधित किया जाता तो उसका परिणाम विश्वयुद्ध और संघ से उस शक्ति का पृथक् हो जाना होता। अतः वीटो का मूल विचार श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में विश्वयुद्ध की सम्भावना को हटाना तथा विवादों को सम्मेलनों द्वारा सुलझाना है।[६] वीटो पद्धति को इसमें बड़ी सफलता मिली है, अतः उसका बना रहना आवश्यक है। इसके न होने का परिणाम संयुक्त राष्ट्रसंघ की क्षीणता और विघटन होगा। दूसरा कारण वीटो की हानि का अतिरंजित चित्रण है, यह कहना सत्य नहीं है कि इसने सुरक्षा परिषद् के कार्य को ठप्प कर दिया है और प्रबल गतिरोध उत्पन्न किया है। श्लीचर ने

---

५. हैन्स केल्सन—दी ला ऑफ दी यूनाइटिड नेशन्स, पृ० २७६–७७.

६. १८ सितम्बर, १९५० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की विषय समिति में दिया गया भाषण।

इस सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि इस बात का निर्धारण करना बड़ा कठिन है कि वीटो ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य पर कितना प्रतिकूल प्रभाव डाला है। संघ के पहले सात वर्षों में आधे वीटो सदस्यता के प्रार्थनापत्रों के सम्बन्ध में थे और शेष विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे के बारे में। कई वीटो एक ही प्रश्न पर कई बार किए गए थे। यद्यपि इन राज्यों का संघ का सदस्य न बनना दुर्भाग्यपूर्ण है, किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि संघ में इन राज्यों की अनुपस्थिति से उसके कार्य को कोई क्षति पहुँची है। तीसरा कारण यह है कि वीटो कई बार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्वक हल करने में वरदान भी सिद्ध हुआ है। सं० रा० संघ के आरम्भिक वर्षों में यह कहा जाता था कि यदि वीटो को हटा दिया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने का कार्य सुगम हो जायगा। किन्तु यदि ऐसा होता तो इसमें एक गुट की प्रधानता हो जाती, वीटो ने संघ में विभिन्न पक्षों में संतुलन बनाए रखा है और किसी भी गुट को अपना मनमाना कार्य करने से रोका है। उदाहरणार्थ, सुरक्षा परिषद् में काश्मीर के प्रश्न पर जब ब्रिटिश-अमेरिकन गुट ने पाकिस्तान का समर्थन करना चाहा तो सोवियत रूस ने १९५७ में दो बार वीटो के प्रयोग से अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को सम्भाला।[७] जनवरी १९५७ में रूस ने एंग्लो-अमेरिकन गुट के काश्मीर में १९४८ की स्थिति वापिस लाने वाले पाकिस्तान पक्षपाती प्रस्ताव को वीटो किया। इस वीटो का सुपरिणाम यह हुआ कि सब पक्षों को स्वीकरणीय एक दूसरा प्रस्ताव पास हुआ और यारिंग (Jarring) को काश्मीर की समस्या का समाधान ढूँढ़ने को भारत भेजा गया। दूसरी बार नवम्बर, १९५७ में जब पुनः एंग्लो-अमेरिकन गुट ने यारिंग रिपोर्ट की उपेक्षा करते हुए काश्मीर के विसैन्यीकरण (Demilitarization) का प्रस्ताव रखा तो रूस द्वारा वीटो की धमकी ने ब्रिटेन और अमेरिका को एक अधिक मृदु प्रस्ताव स्वीकार करने को बाधित किया। **चौथा कारण** यह है कि 'शान्ति के लिए एकता का प्रस्ताव' पास होने (पृ० २५०) से वीटो का तथा वीटो करने वाली सुरक्षा परिषद् का महत्त्व घट गया है। अब वीटो का प्रभाव मुख्य रूप से सदस्यता के सम्बन्ध में रह गया है। इस समय वस्तुतः वीटो न तो कोई नये अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न करता है और न इन्हें आगे बढ़ाता है। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य को पंगु भी नहीं बनाता। इसके होते हुए भी जनरल असेम्बली द्वारा बहुत-सा कार्य किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की वास्तविक सफलता तो इसमें है कि यह विभिन्न राज्यों से अपने निर्णय क्रियान्वित करा सके। यदि कुछ राज्य इन्हें मानने के लिए तैयार नहीं हैं तो केवल वीटो की व्यवस्था हटाने से कोई लाभ नहीं होगा। इलीचर के शब्दों में वीटो असहमति सूचक लक्षण है, न कि इसका कारण है। अतः वीटो व्यवस्था के समाप्त कर देने से महाशक्तियों के मतभेद दूर नहीं होंगे और इससे कोई बड़ा लाभ नहीं होगा। फिर वीटो कई प्रकार के प्रश्नों के लिए प्रयुक्त होता है। सदस्यता और शान्तिपूर्ण समझौते के सम्बन्ध में इस व्यवस्था की समाप्ति लाभप्रद है।

---

७. एङ्गो आर्शीविथम् दी यूनाइटिड नेशन्स एण्ड वर्ल्ड पीस—'दी इंडियन जनरल ऑफ पोलिटिकल साइन्स' जनवरी-मार्च १९५८, पृ० २४६।

किन्तु शान्तिभंग की तथा आक्रमण की दशा में सैनिक कार्यवाही के सम्बन्ध में वीटो की व्यवस्था को समाप्त करना बहुत विवादास्पद और नई समस्याओं को उत्पन्न करने वाला है, अतः इस सम्बन्ध में वीटो व्यवस्था बनी रहनी चाहिए।[८]

आर्थिक और सामाजिक परिषद् (The Economic and Social Council ECOSOCO) चार्टर के दसवें अध्याय में धारा ६१ से ७२ तक इस परिषद् के स्वरूप, कार्यों तथा शक्तियों का वर्णन है। इस परिषद् में जनरल असेम्बली द्वारा चुने हुए १८ सदस्य होते हैं, इनमें से ६ सदस्य प्रतिवर्ष तीन साल के लिए निर्वाचित होते हैं, और जिन सदस्यों की अवधि समाप्त हो जाय, वे चुनाव के लिए पुनः खड़े हो सकते हैं। यह संस्था संघ के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा अन्य विभिन्न प्रकार के कार्यों को करती है। इन्हें सम्पन्न करने के लिए यह उपर्युक्त विषयों का अध्ययन करती है, इन पर रिपोर्ट देती है, इसके अध्ययन का प्रबन्ध करती है। यह सबके लिए मानव अधिकारों तथा मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति आस्था बढ़ाने या उनका पालन करने के लिए सिफारिशें कर सकती है। अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर आने वाले विषयों के सम्बन्ध में असेम्बली में पेश करने के लिए समझौतों का मस्विदा तैयार कर सकती है, तथा इससे सम्बद्ध विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कर सकती है। इसे आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में मानव अधिकारों को बढ़ावा देने के लिए कमीशन बनाने का अधिकार है। इसके सब निर्णय उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों के बहुमत से किये जाते हैं। प्रतिवर्ष इसके कम-से-कम दो अधिवेशन होते हैं। यह केवल सिफारिशें करती है, इसे अपने निर्णय क्रियान्वित कराने का अधिकार नहीं है।

परिषद् के उद्देश्य—इस परिषद् का उद्देश्य विश्व को अभाव से मुक्ति प्रदान कराना है। जिस प्रकार सुरक्षा परिषद् विश्व को युद्ध के भय से बचाती है, इसी प्रकार यह उसकी दरिद्रता और दैन्य के दानवों से रक्षा करती है। चार्टर की ५५ वीं धारा में यह कहा गया है कि संघ का उद्देश्य निम्न बातों को बढ़ावा देना है :—

(क) रहन-सहन का स्तर ऊंचा करना, सबको काम दिलाना, आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न करना।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य और तत्सम्बन्धी समस्याओं का सुलझाना, संस्कृति तथा शिक्षा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग।

(ग) जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेद किए बिना सबके लिए मानव अधिकारों और मूल स्वतन्त्रता के प्रति सर्वत्र सम्मान और उनका पालन। यह व्यवस्था सर्वथा नवीन है, राष्ट्रसंघ के संविधान में केवल राष्ट्रीय अल्पसंख्याओं के अधिकारों को अल्पसंख्यक सन्धियों द्वारा सुरक्षित बनाने की व्यवस्था थी, किन्तु इसमें मानवीय अधिकारों की सुरक्षा पर बल दिया गया है। आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा परिषद् उपर्युक्त उद्देश्यों को पूरा करने का यत्न करती है। आर्थिक उन्नति के लिए यह प्राविधिक सहायता (Technical assistance) का आयोजन करती है और सामाजिक उन्नति के

---

८. चार्ल्स श्लीचर—एन इन्ट्रोडक्शन इन्टरनेशनल पालिटिक्स, पृष्ठ ६२५–२६।

लिए मानवीय अधिकारों का निर्धारण और पालन। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, आर्थिक उन्नति के बिना मानवीय अधिकार निरर्थक हैं और मानवीय अधिकारों के बिना भरपेट भोजन करने वाला मनुष्य पशुओं से बेहतर नहीं है।

प्राविधिक सहायता (Technical Assistance)—इसका उद्देश्य दरिद्रता के दुःख से मानव जाति का परित्राण करना है। राष्ट्रपति ट्रूमैन के शब्दों में "विश्व की आधे से अधिक जनता दरिद्रता के दुःख भोग रही है, उनको पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। वे बीमारियों के शिकार होते हैं। उनका आर्थिक संगठन आदिम ढंग का है। उनकी दरिद्रता उनकी उन्नति में बाधा है और समृद्ध प्रदेशों के लिए बड़ा संकट है। इतिहास में पहली बार मनुष्य जाति को जनता के दुःखों को दूर करने का ज्ञान और दक्षता प्राप्त हुई है, अतः हमें वैज्ञानिक तथा औद्योगिक उन्नति के लाभों द्वारा कम विकसित प्रदेशों को उन्नत करने की नई साहसपूर्ण योजना को क्रियान्वित करना चाहिये।" भारत जैसे कम विकसित प्रदेशों को वर्तमान समय में दो प्रकार की सहायता की अपेक्षा है—(१) प्राविधिक दक्षता (Technical skill) नई विधियों और उपायों की सहायता से उत्पादन बढ़ा कर दरिद्रता दूर करना (२) आवश्यक उपकरणों, यन्त्रों, मशीनों, भवनों, सड़कों, बन्दरगाहों को प्रस्तुत करके व्यापार, उद्योग तथा कृषि का उत्पादन बढ़ाना। संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक परिषद् अल्पविकसित देशों में विशेषज्ञ भेज कर तथा यन्त्रों, मशीनों और उपकरणों अथवा इनके प्राप्त करने के लिए विशेष राशि देकर एशिया और अफ्रीका के देशों को बड़ा लाभ पहुँचा रही है।

मानवीय अधिकार—संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा राष्ट्रसंघ की अपेक्षा इन अधिकारों पर अधिक बल दिये जाने का यह कारण था कि द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले और उसमें बर्बरतापूर्ण अत्याचारों से मानवीय अधिकारों का अत्यधिक हनन होने के कारण यह एक ज्वलन्त प्रश्न बन गया था। यह माँग की जाने लगी थी कि ऐसी क्रूरताओं की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए और सं० रा० संघ को इसकी रक्षा का विशेष यत्न करना चाहिये अतएव संघ के चार्टर में जनरल असेम्बली को तथा आर्थिक सामाजिक परिषद् को इस कार्य का विशेष दायित्व दिया गया है। इसे पूरा करने के लिए सामाजिक परिषद् ने विभिन्न प्रकार के मानवीय अधिकारों का अध्ययन किया है और इनके लिए अनेक आयोग स्थापित किये हैं। शरणार्थियों और राज्यहीन व्यक्तियों के लिए नियम बनाये गये हैं, ट्रेड यूनियनों के अधिकारों का, दासता का तथा बेगार का अध्ययन किया गया है। जनरल असेम्बली ने जातिनाश (Genocide) के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया है, इसके अनुसार किसी राष्ट्रीय, नस्ली या धार्मिक समुदाय को पूर्णरूप से विनष्ट करने के प्रयत्नों को अवैध घोषित किया गया है। भारत ने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के मानवीय अधिकारों के अपहरण का प्रश्न असेम्बली में उठाया है। सामाजिक परिषद् ने स्त्रियों की स्थिति पर, सूचना और प्रेस की स्वतन्त्रता पर आयोग बनाकर इनके सम्बन्ध में कई समझौतों या अभिसमयों (Conventions) के प्रारूप तैयार किये हैं।

किन्तु इस विषय में सबसे बड़ा कार्य **मानवीय अधिकारों की सार्वजनिक घोषणा**

(The Universal Declaration of Human Rights) का है। इसे एक आयोग द्वारा तैयार किये जाने के बाद सामाजिक परिषद् को दिया गया था। इसने इसे जनरल असेम्बली में विचार के लिए प्रस्तुत किया और १० दिसम्बर, १९४८ को इसे ४८—० के बहुमत से स्वीकार किया। सोवियत ग्रुट के ६ सदस्यों ने, सौदी अरब ने और दक्षिण अफ्रीका के यूनियन ने इस पर वोट नहीं दिया। इस घोषणा में भूमिका तथा ३० धारायें हैं। इनमें राजनीतिक, दीवानी, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों का वर्णन है। इनमें मुख्य रूप से अन्तःकरण की, धर्म की, सम्पत्ति रखने की, वोट देने की लोकतन्त्रीय प्रतिनिधित्व पाने के तथा दूसरे देश में शरण तथा काम पाने के, सामाजिक सुरक्षा के, ट्रेड यूनियनों में सम्मिलित होने के, शिक्षा और विश्राम पाने के अधिकारों का उल्लेख है। इन अधिकारों को अधिक प्रकाशन और प्रसिद्धि देने के उद्देश्य से १० दिसम्बर को प्रतिवर्ष 'मानवीय अधिकार दिवस' मनाया जाता है।

आर्थिक तथा सामाजिक सुरक्षा परिषद् अपना कार्य विभिन्न प्रकार के आयोगों, स्थायी समितियों, तदर्थ समितियों और विशेष संस्थाओं के माध्यम से करती है। ये इसको रिपोर्ट देते हैं। इसके आयोग दो प्रकार के हैं—कार्यात्मक (Functional) और प्रादेशिक (Regional)। पहले प्रकार के आयोग निम्न विषयों से सम्बद्ध हैं—आर्थिक और रोजगार, यातायात तथा संचार साधन, आंकड़ों सम्बन्धी, मानवीय अधिकार, स्त्रियों का सामाजिक दर्जा, नशीली दवाइयां, वित्त विषयक तथा जनसंख्या सम्बन्धी। प्रादेशिक आयोग विभिन्न देशों की आर्थिक समस्याओं के समाधान में सहायता पहुँचाते हैं। अब तक ऐसे तीन आयोग स्थापित हुए हैं—पहला १९४७ में **योरोप के लिए आर्थिक आयोग** (Economic Commission for Europe) था, इसके आधीन विभिन्न समितियाँ कोयले, बिजली, उद्योग, आन्तरिक यातायात, इस्पात, इमारती व्यापार और कृषि की समस्याओं पर विचार करती हैं। १९४७ में ही **एशिया तथा सुदूरपूर्व के लिए आर्थिक आयोग** (Economic Commission for Asia and Far East, ECAFE) तथा १९४८ में **दक्षिण अमेरिका का आर्थिक आयोग** (Economic Commission for Latin America) स्थापित किया गया। इस परिषद् की विशेष संस्थायें निम्नलिखित हैं— स्थायी केन्द्रीय अफीम बोर्ड, अन्तर्राष्ट्रीय बाल कल्याण निधि (U. N. International Children's Emergency Fund, UNICEF)। अन्तिम संस्था जनरल असेम्बली द्वारा ११ दिसम्बर, १९४६ को स्थापित की गई थी। इसका उद्देश्य बाल कल्याण के विविध कार्य, बच्चे के स्वास्थ्य और पोषण के प्रोग्रामों को सहायता देना है। यह संस्था १०२ राज्यों में सराहनीय कार्य कर रही है।

न्यास परिषद् (Trusteeship Council)

न्यास के विचार का विकास—संयुक्त राष्ट्रसंघ ने राष्ट्रसंघ की मैण्डेट व्यवस्था के स्थान पर न्यासपद्धति (Trusteeship) को ग्रहण किया और इसके संचालन के लिए न्यास समिति का निर्माण किया है। मैण्डेट की भाँति न्यास की व्यवस्था भी विभिन्न

शक्तियों में समझौते का परिणाम थी[९]। १९४५ में ७० करोड़ व्यक्ति पश्चिमी राष्ट्रों के साम्राज्यों में पराधीन थे। इस प्रकार मानव जाति के प्रति तीन व्यक्तियों में से एक परतन्त्र था। किन्तु अगले दस वर्षों में इस विचार के विकास से प्रति बारह व्यक्तियों में से एक ही पराधीन रह गया है। युद्ध के समय में अनेक सम्मेलनों में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की समस्या पर विचार हुआ था। उस समय राष्ट्रपति रूज़वैल्ट पराधीन देशों भारत आदि को स्वाधीन बनाने की नवीन व्यवस्था (New Deal) के पक्षपाती थे।

किन्तु सं० रा० अमेरिका में उपनिवेशवाद-विरोधी भावना होते हुए भी कुछ व्यक्ति प्रशांत महासागर में जापान से छीने हुए टापुओं पर सामरिक दृष्टि से अमेरिका का प्रभुत्व वांछनीय समझते थे। डच, फ्रेंच और दक्षिण अफ्रीका यूनियन वाले साम्राज्यवाद और मैण्डेट व्यवस्था को बनाए रखना चाहते थे। किन्तु इसके साथ ही द्वितीय महायुद्ध में एशिया में उत्पन्न साम्राज्यवादी विरोधी भावना की उपेक्षा संभव नहीं थी। इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ के मैण्डेट वाले प्रदेशों की तथा इटली के साम्राज्य की नई व्यवस्था करनी थी। सानफ्रांसिस्को के सम्मेलन में जब इन समस्याओं पर विचार हुआ तो फ्रांस, हालैण्ड और दक्षिण अफ्रीका, तथा सं. रा. अमेरिका के सैनिक दलों ने पुरानी मैण्डेट व्यवस्था में किसी प्रकार के विस्तार का तथा रूजवैल्ट की तथा कार्डेल हल की न्यासपद्धति के विचारों का विरोध किया। किन्तु न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया, मध्यपूर्व तथा दक्षिण अमेरिका के देशों, सोवियत यूनियन, सं० रा० अमेरिका तथा चीन ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के उन्मूलन पर बल दिया। इन दोनों के दृष्टिकोण में हुए समझौते का परिणाम सं० रा० संघ की न्यासपद्धति है। इसकी विस्तृत व्यवस्था चार्टर के ११, १२ तथा १३ अध्यायों में धारा ७६ से ९१ तक में है।

न्यासपद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि इस समय कुछ पिछड़े हुए, अल्पविकसित और आदिम दशा वाले प्रदेशों के निवासी इस योग्य नहीं हैं कि वे अपने देश का शासन स्वयमेव कर सकें और अपने भाग्यविधाता बन सकें, इन्हें दूसरे विकसित और उन्नत देशों की सहायता अपेक्षित है। सभ्य देशों का यह कर्त्तव्य है कि वे इनके विकास में पूरी सहायता दें और जब तक ये अपना शासन करने में समर्थ नहीं हो जाते, तब तक इनकी तथा इनके हितों की देखभाल, इन्हें न्यास या अमानत (Trust) समझते हुए करें, इनका अपने स्वार्थों के लिए शोषण न करें। इन शक्तियों द्वारा यह कार्य सं० रा० संघ के नियन्त्रण में होना चाहिए। राष्ट्रसंघ की मैण्डेट व्यवस्था केवल जर्मनी, टर्की आदि के साम्राज्यवाद से पीड़ित हुए प्रदेशों के लिए थी, किन्तु सं० रा० संघ की न्यासपद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाये गए सभी क्षेत्रों के लिए है।

चार्टर के अनुसार न्यासपद्धति के चार उद्देश्य हैं:—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ाना।

९. इस पद्धति के विकास की अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा के लिए देखिए डलेस—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७६–७८।

(२) लोगों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी उन्नति में योग देना, **स्वशासन अथवा स्वतन्त्रता** के क्रमिक विकास में सहायता देना।

(३) जाति, लिंग, भाषा और धर्म का भेदभाव किये बिना सबके लिए मानव अधिकारों और मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति आस्था बढ़ाना और उनमें यह भाव जगाना कि संसार के सब लोग एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

(४) सामाजिक, आर्थिक और वाणिज्य सम्बन्धी मामलों में सं० रा० संघ के सब सदस्यों के और उनके नागरिकों के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना (धारा ७६)।

न्यास के स्वरूप का तथा न्यास प्राप्त करने वाले देशों के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए चार्टर की धारा ७३ में यह कहा गया है—पूर्ण स्वतन्त्रता न पाये प्रदेशों के प्रशासन का उत्तरदायित्व ग्रहण करने वाले सं० रा० संघ के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि इन प्रदेशों के निवासियों के हितों की रक्षा सर्वप्रथम होनी चाहिए और वे एक पवित्र न्यास के रूप में अपना यह दायित्व मानते हैं कि वर्तमान चार्टर से स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा प्रणाली के आधीन इन देशों के निवासियों की अधिक से अधिक भलाई करनी है, और इसके लिए उन्हें निम्न कार्य करने होंगे—(१) इन प्रदेशों के लोगों की संस्कृति का पूरा ध्यान रखते हुए, उनकी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा की उन्नति, उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार और उन्हें अत्याचारों से बचाने का पूरा प्रबन्ध करना होगा। (२) प्रत्येक प्रदेश की और उसके लोगों की अपनी परिस्थितियों के और उनके विकास की अवस्था के अनुसार, उनमें स्वशासन को बढ़ावा देने का, उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं का उचित ध्यान रखने का और उनकी स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओं के अधिकाधिक विकास में पूरी सहायता देने का पूरा प्रबन्ध करना होगा। (३) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बढ़ानी होगी। (४) इस धारा में बताए गए सामाजिक, आर्थिक और वैज्ञानिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए विकास के रचनात्मक कार्यों को बढ़ावा देना होगा, शोधकार्यों को प्रोत्साहन देना होगा और एक-दूसरे के साथ तथा जब और जहां ठीक हो, विशेष कार्य करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ सहयोग स्थापित करना होगा। (५) सुरक्षा और वैधानिक बातों की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए महामन्त्री को इन प्रदेशों की आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी परिस्थितियों के अलग-अलग आंकड़े और दूसरी प्राविधिक सूचनाएँ देनी होंगी।

न्यासपद्धति के प्रदेश—चार्टर में न्यासपद्धति में आने वाले दो प्रकार के पराधीन प्रदेशों का वर्णन है—(१) ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड आदि पश्चिमी देशों के वशवर्ती, और उनके साम्राज्यों के विविध प्रदेश—इन्हें स्वशासन न करने वाले प्रदेश (Non-Self-Governing Territories) कहा जाता है। इनके सम्बन्ध में चार्टर में केवल सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन है और इन पर शासन करने वाली शक्तियों पर संघ का इसके अतिरिक्त कोई निरीक्षण नहीं है कि ये इनके सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ संघ को दें (२) न्यास प्रदेश (Trust Territories) ये तीन प्रकार के हैं—(क) मैण्डेट

के आधीन प्रदेश (ख) द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप शत्रु राज्यों से छीने गए प्रदेश (ग) अपनी इच्छा से महाशक्तियों द्वारा संघ को सौंपे जाने वाले प्रदेश। अभी तक किसी देश ने अपने वशवर्ती किसी क्षेत्र को संघ को सौंपने की उदारता प्रदर्शित नहीं की। राष्ट्रसंघ के मैण्डेट वाले प्रदेशों में दक्षिण अफ्रीका के यूनियन ने दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका को तीव्र आलोचना के बावजूद सं० रा० संघ की न्यासपद्धति के अन्तर्गत प्रदान करना स्वीकार नहीं किया है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा इस विषय में किए गये निर्णय के अनुसार दक्षिण अफ्रीका को इसे न्यासपद्धति में देने के लिए बाधित तो नहीं किया जा सकता, किन्तु इस पर राष्ट्रसंघ का मैण्डेट विद्यमान है और उसके उत्तराधिकारी सं० रा० संघ को इस पर निरीक्षण के राष्ट्रसंघ वाले अधिकार प्राप्त हैं। जनरल असेम्बली ने इसके शासन के संबंध में प्राप्त होने वाली वार्षिक रिपोर्टों की जांच के लिए एक समिति नियुक्त की, किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने इस प्रदेश के शासन के सम्बन्ध में रिपोर्टें भेजने से इन्कार कर दिया। असेम्बली ने अपने ११वें अधिवेशन में पास किए गये एक प्रस्ताव में दक्षिण अफ्रीका के यूनियन से इस प्रदेश को न्यासपद्धति में लाने के लिए कहा है, पर यूनियन पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। १३ अक्टूबर, १९५८ को न्यास समिति को दक्षिण अफ्रीका सम्बन्धी समिति की रिपोर्ट उपस्थित होने पर जब यह सुझाव दिया गया कि अन्य मित्रशक्तियों के साथ इस प्रदेश का बँटवारा करते हुए राष्ट्रसंघ जैसा मैण्डेट इस पर स्थापित किया जाय तो भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्ण मेनन ने इसका घोर विरोध करते हुए कहा—"यह दासों की मण्डी नहीं है, जहां एक दल दूसरे को यह कहे कि हम तुम्हें इस प्रदेश का यह हिस्सा देते हैं, इसके बदले में तुम दूसरे हिस्से की ओर ध्यान नहीं दोगे।" द० अ० के यूनियन के दुराग्रह के कारण यह समस्या अब तक नहीं सुलझी। १७ नवम्बर, १९५९ को जनरल असेम्बली ने अफ्रीका-एशिया के २३ राष्ट्रों का यह प्रस्ताव ५५-५-११ के बहुमत से स्वीकार किया कि दक्षिण अफ्रीका के यूनियन को दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका सं० रा० संघ की न्यासपद्धति में दे देना चाहिए किन्तु द० अ० यूनियन ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया।

कुछ वर्ष पहले न्यासपद्धति के अन्तर्गत निम्नलिखित ११ प्रदेश थे। कोष्ठों में क्रमशः उन पर प्रशासन करने वाले देश का नाम, जनसंख्या और क्षेत्रफल दिया गया है—न्यूगिनी (आस्ट्रेलिया, १०,०६,२००, ९३,००० व० मी०), रुआण्डा उरुण्डी (बेल्जियम, ३७,१८,६९६, २०,९१६ व० मी०), फ्रैंच कैमरून्ज (फ्रांस, २७,०२,५०, ०१, ६६,७६७ व० मी०), फ्रैंच टोगोलैण्ड (फ्रांस, ९,४४,४४६, २१,२३६ व० मी०), पश्चिमी समोआ (न्यूजीलैण्ड, ७२,९३६, १,११३ व० मी०) टांगानिक्या (ग्रेट ब्रिटेन, ७०,७९,५५७, ३,६२,६८८ व० मी०), ब्रिटिश कैमरून्ज, (ग्रेट ब्रिटेन, ९,९१०००, ३४,०८१ व० मी०), नौरू (आस्ट्रेलिया, ३,१६२, ८२ व० मी०), प्रशान्त महासागर के द्वीपों का न्यास प्रदेश (सं० रा० अमेरिका ६०,०००, ६८७ व० मी०), सुमालीलैण्ड (इटली ९१५,०००१, ९४,००० व० मी०)। इनकी कुल जनसंख्या १,७४,७५,६४७ तथा क्षेत्रफल ९,०७,६६० व० मी० है। इनमें से ब्रिटिश टोगोलैण्ड घाना के नये राष्ट्र के साथ मिलकर ६ मार्च, १९५७ को स्वाधीनता प्राप्त कर चुका है, फ्रेंच कैमरून्स १

जन० १९६० को, फ्रेंच टोगोलैण्ड २७ अप्रैल १९६० को, इटालियन सुमालीलैंड १ जुलाई १९६० को, टांगानिक्या ९ दिस० १९६१ को, पश्चिमी समोग्रा १ जन० १९६२ को, रुआण्डा-उरुण्डी दो पृथक् राज्यों के रूप में १ जुलाई १९६२ को स्वतन्त्र हुआ। ब्रिटिश कैमरून्ज का उत्तरी भाग नाइजीरिया तथा दक्षिणी भाग कैमरून गणराज्य के साथ मिलकर १९६१ में स्वाधीन हो गया। इसके बाद न्यासपद्धति में केवल दो प्रदेश ही स्वशासन न करने वाले रह गये हैं।

न्यास परिषद् (Trusteeship Council)—इनके शासन की देखभाल का कार्य न्यास परिषद् करती है। इसके दो सदस्य न्यास प्रदेशों का शासन करने वाले ग्रास्ट्रेलिया, सं० रा० अमेरिका तथा सुरक्षा परिषद् के न्यास प्रदेशों का शासन न करने वाले स्थायी सदस्य फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, चीन और सोवियत रूस तथा इतनी ही संख्या में ३ वर्ष के लिए जनरल असेम्बली द्वारा चुने जाने वाले देश हैं, भारत भी ३१ दिस० १९५९ तक इसका एक चुना हुआ सदस्य था। इसके सब निर्णय उपस्थित और वोट देने वाले सदस्यों के बहुमत से किए जाते हैं। वर्ष में इसकी बैठकें नियमित रूप से होती हैं। सभापति सदस्यों द्वारा एक वर्ष के लिए चुना जाता है।

न्यास परिषद् न्यास प्रदेशों के प्रशासन की देखभाल तीन प्रकार से करती है—(१) सुरक्षा परिषद् द्वारा तैयार की गई प्रश्नावली के आधार पर प्रशासन करने वाले देशों से न्यास प्रदेशों की विविध प्रकार की प्रगति के सम्बन्ध में विस्तृत रिपोर्टें मँगाई जाती हैं। (२) इन प्रदेशों के निवासियों के मौखिक अथवा लिखित आवेदन-पत्रों पर परिषद् विचार करती है। १९५१ तक परिषद् ने ऐसे ७०० प्रार्थनापत्रों पर विचार किया था, १९५५ में इनकी संख्या बढ़कर एक ही अधिवेशन में ४०० तक पहुँच गई, १९५७ में यह संख्या १०५७ हो गई। (३) परिषद् प्रतिवर्ष अपने निरीक्षक मण्डल (Visiting Missions) पूर्वी अफ्रीका, पश्चिमी अफ्रीका, प्रशान्त महासागर, टांगानिक्या, सुमालीलैंड आदि विभिन्न देशों में इस प्रकार भेजती हैं कि तीन वर्षों में एक बार प्रत्येक प्रदेश का निरीक्षण हो जाए। ये मण्डल न्यास प्रदेशों की अन्तर्राष्ट्रीय देख-भाल के बड़े प्रभावशाली साधन हैं और परिषद् के सदस्यों को इन प्रदेशों का प्रामाणिक ज्ञान कराने तथा इनकी समस्याएँ हल कराने में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं। ये मिशन न्यास परिषद् के प्रति उत्तरदायी होने के कारण निष्पक्ष और स्वतन्त्र अन्वेषण कर सकते हैं।

राष्ट्रसंघ की मैण्डेट प्रणाली तथा सं० रा० संघ की न्यासपद्धति की तुलना—इनकी तुलना से यह प्रतीत होता है कि न्यासपद्धति कई कारणों से मैण्डेट प्रणाली से अधिक उत्कृष्ट व्यवस्था है। **पहला कारण** यह है कि इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। मैण्डेट प्रणाली केवल जर्मनी और टर्की से छीने गए प्रदेशों तक सीमित थी, किन्तु न्यास पद्धति न केवल शत्रु से छीने गए प्रदेशों के लिए है अपितु स्वशासन न करने वाले (Non self-governing) पराधीन और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का शिकार बने सभी क्षेत्रों पर लागू होती है। फील्ड मार्शल स्मट्स के शब्दों में—"यह योजना क्षेत्र की दृष्टि से राष्ट्रसंघ की पुरानी योजना से बहुत भिन्न है। अब न्यास का

सिद्धान्त सामान्य रूप से लागू किया गया है, यह सब पराधीन देशों में परतन्त्र लोगों के लिए लागू होता है। इस सिद्धान्त को दिया गया यह विस्तार बड़ा दूरगामी और महत्त्वपूर्ण है।' **दूसरा कारण** यह है कि इस व्यवस्था में न्यास प्रदेशों पर शासन करने वाली शक्तियों पर मैण्डेट प्रणाली के अपेक्षा अधिक कड़ा निरीक्षण है। मैण्डेट व्यवस्था में स्थायी मैण्डेट कमीशन को न तो मैण्डेट वाले प्रदेशों में जाकर निरीक्षण करने का अधिकार था और न ही वह मैण्डेट के सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रार्थनापत्रों पर विचार कर सकता था। इस प्रकार यह मैण्डेट के सम्बन्ध में देखने और सुनने—दोनों प्रकार के अधिकारों से वंचित था। न्यासपद्धति में परिषद् आवेदनपत्र सुन सकती है, अपने निरीक्षक मण्डल भेज सकती है। अतः उसका निरीक्षण मैण्डेट प्रणाली के निरीक्षण से अधिक प्रभावशाली, विस्तृत और क्षमतापूर्ण है। **तीसरा कारण** यह है कि मैण्डेट प्रणाली विभिन्न प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सीधा सम्मिलित करने का आवरण मात्र थी, इसमें इन प्रदेशों की उन्नति, स्वशासन और स्वतन्त्रता के लिए कोई व्यवस्था नहीं थी। न्यासपद्धति में स्वशासन का सुस्पष्ट विचार है और शासन करने वाले देशों का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वे अपने प्रदेशों को स्वशासन और स्वतन्त्रता के लिए समर्थ तथा योग्य बनाएँ। इसमें उपनिवेशवाद के उन्मूलन की स्पष्ट व्यवस्था है, मैण्डेट प्रणाली में ऐसा नहीं था। **चौथा कारण** यह है कि पुरानी व्यवस्था में मैण्डेटों की समस्या स्थायी मैण्डेट कमीशन (P. M. C.) का विषय समझी जाती थी और इस कमीशन की स्थिति महत्त्वपूर्ण न होने से इसके कार्यों की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। किन्तु नई व्यवस्था में यह विषय न्यास परिषद् की अपेक्षा जनरल असेम्बली में अधिक आने लगा है। इसमें लघु राष्ट्रों की बहुसंख्या है, यह औपनिवेशिक शक्तियों की तीव्र आलोचक है तथा न्यास वाले प्रदेशों की हितचिन्ता और कल्याण के लिए बहुत व्यग्र एवं चिन्तित रहती है। अतः पुरानी व्यवस्था में प्रायः मैण्डेट उपेक्षित रहते थे, किन्तु अब न्यास वाले प्रदेशों की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। **पाँचवाँ कारण** यह है कि न्यासपद्धति के प्रधान अंग न्यास परिषद् की रचना और संगठन स्थायी मैण्डेट कमीशन की अपेक्षा अधिक सन्तुलित, स्वतन्त्र और सुसंगठित हैं। मैण्डेट कमीशन में केवल विशेषज्ञ होते थे, ये प्रायः शासक देशों के होते थे अतः यह एकपक्षीय और असन्तुलित संगठन था, इसमें शासक वर्ग की ही प्रधानता थी। किन्तु न्यास परिषद् में न केवल प्रशासन करने वाले देश हैं, इनके अतिरिक्त सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य और इनकी संख्या के बराबर जनरल असेम्बली से चुने जाने वाले सदस्य हैं। इससे इस परिषद् में केवल शासक शक्तियों की प्रधानता नहीं रहती, किन्तु दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व होने से सन्तुलन बना रहता है। इसे अपनी कार्यवाही के नियम बनाने में पूरी स्वतन्त्रता है, यह अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए इच्छानुसार अपने प्रोग्राम और योजनाएँ बना सकती है। ऐसी स्वतन्त्रता स्थायी मैण्डेट कमीशन को नहीं थी। उसकी कार्यवाही के नियम संघ की परिषद् बनाया करती थी, अतः इस दृष्टि से परतन्त्र होने के कारण वह मैण्डेटों के सुधार के लिए अधिक कार्य नहीं कर सकता था। इन सब कारणों से न्यास पद्धति अल्प समय में ही न्यास प्रदेशों के निवासियों की दशा सुधारने

तथा उन्हें स्वतन्त्रता के पथ पर अग्रसर करने में मैण्डेट प्रणाली की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—यह सं० रा० संघ के चार्टर (अध्याय १४ धारा ६२-६६) तथा इसके न्यायालय सम्बन्धी परिशिष्ट (Statute) के आधार पर बनाया गया है। इसके नियम प्राय: राष्ट्रसंघ के स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के नियमों जैसे हैं। इसके न्यायाधीश राष्ट्रीयता का विचार किए बिना अपने उच्च नैतिक चरित्र और अगाध अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी ज्ञान के कारण चुने जाते हैं। इस न्यायालय के कुल पन्द्रह न्यायाधीश होते हैं, इनमें से कोई दो एक राष्ट्र के नहीं हो सकते। ये सुरक्षा परिषद् और जनरल असेम्बली द्वारा ९ वर्ष के लिए चुने जाते हैं, और अपनी पदावधि समाप्त होने पर चुनाव के लिए पुन: खड़े हो सकते हैं। इसका कोरम नौ जजों का होता है। सं० रा० संघ के सभी सदस्य इसका लाभ उठा सकते हैं। इसमें किसी राज्य को ज़बर्दस्ती मुकदमे में नहीं घसीटा जा सकता। प्रतिवादी राज्य की सहमति मिलने पर ही किसी मामले पर न्यायालय विचार करता है।

न्यायालय का राष्ट्रों पर **अनिवार्य क्षेत्राधिकार** (Compulsory Jurisdiction) नहीं है। संघ के सदस्य अपने मामले इसके सामने लाने के लिए बाधित नहीं किए जा सकते। उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता है कि वे किसी सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय पहले ही यह प्रतिज्ञा करें कि यदि इस संधि की व्याख्या के सम्बन्ध में कोई मतभेद होगा तो वे इस विषय को न्यायालय में उपस्थित करेंगे। **वैकल्पिक धारा** (Optional Clause) में इसकी विस्तार से व्याख्या की गई है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नियमों की सुप्रसिद्ध ३६वीं धारा के अनुसार इन्हें मानने वाला कोई भी देश घोषणा कर सकता है कि वह निम्न चार प्रकार के कानूनी झगड़ों में न्यायालय का अधिकार क्षेत्र स्वीकार करता है—(१) किसी संधि का अर्थ करना, (२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रश्न, (३) किसी ऐसी बात का उठ खड़ा होना, जो यदि प्रमाणित हो जाए तो उससे किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का भंग होता हो। (४) किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के भंग होने पर जो मुआवज़ा देना पड़े, उसका रूप और उसकी मात्रा तय करना। किन्तु ऐसी घोषणा करते समय प्राय: राष्ट्र कुछ शर्तें लगा लेते हैं। उदाहरणार्थ सं० रा० अमेरिका, मेक्सिको और पाकिस्तान ने यह शर्त लगाई है कि वे जिन मामलों को घरेलू अधिकार क्षेत्र (Domestic Jurisdiction) में समझेंगे, उनके विषय में न्यायालय का अधिकारक्षेत्र नहीं स्वीकार करेंगे। ऐसी शर्त से अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्र बहुत संकुचित और सीमित हो गया है। वैकल्पिक धारा के अनुसार घोषणा करके न्यायालय का अनिवार्य अधिकारक्षेत्र स्वीकार करने वाले राज्यों की संख्या १९५४ तक कुल ३५ ही थी।

इस न्यायालय की बैठकें एण्ड्रयू कार्नेगी के दान से बने हुए शान्तिप्रासाद में हालैण्ड के हेग नगर में होती हैं। इसकी भाषा अंग्रेज़ी अथवा फ्रेंच हैं, किन्तु धारा ३९ के अनुसार किसी पक्ष की प्रार्थना पर न्यायालय अन्य किसी भाषा के प्रयोग की अनुमति दे सकता है। न्यायालय के निर्णय बहुमत से होते हैं। इसमें केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी विवादों

पर विचार होता है। अब तक न्यायालय के विचार किए गए मामलों में कुछ प्रमुख विवाद निम्नलिखित हैं—मोरक्को का मामला (फ्रांस और सं० रा० अमेरिका के बीच मोरक्को के अमेरिकी नागरिकों के सम्बन्ध में), एंग्लो-ईरानियन मामला (ग्रेट ब्रिटेन और ईरान के मध्य में), भारत-पुर्तगाल का भारतीय प्रदेश में से पुर्तगाल को मार्ग देने के अधिकार का विवाद। इसी प्रकार न्यायालय ने १४ विषयों में पूछे जाने पर अपनी परामर्शात्मक सम्मति भी दी है। इस न्यायालय की एक विशेषता यह है कि इसके नियमों का सुरक्षा परिषद् के निश्चयों की भांति पालन करना आवश्यक होता है। किन्तु इसके निर्णयों पर नवीन तथ्यों के आधार पर पुनर्विचार भी हो सकता है। यह न्यायालय राष्ट्रसंघ के न्यायालय की भांति प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है। सम्भवतः इसका मुख्य कारण सोवियत रूस द्वारा पश्चिमी देशों की अन्तर्राष्ट्रीय कानून पद्धति को स्वीकार न करना और मास्को द्वारा इस न्यायालय में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को न ले जाना है।

सचिवालय (Secretariat)—चार्टर के १५वें अध्याय (धारा ९७-१०१) में संघ का कार्य चलाने वाले सचिवालय का वर्णन है। इसमें महामन्त्री और संघ की आवश्यकतानुसार कर्मचारी वर्ग रहता है। महामन्त्री की नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर जनरल असेम्बली करती है। सचिवालय के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ के विधान-पत्र में कोई व्यवस्था नहीं; किन्तु चार्टर में इसका विस्तार से वर्णन है। इसके अनुसार यह संघ का कार्यवाहक और प्रशासनात्मक अंग है। **महामन्त्री** सचिवालय की सहायता से उसके सारे कार्य का संचालन करता है। उसके मुख्य कार्य ये हैं—(१) वह असेम्बली में, आर्थिक और सामाजिक परिषद् में, न्यास परिषद् की बैठकों में काम करता है। (२) संघ के विभिन्न अंग उसे जो काम सौंपते हैं, उन्हें पूरा करता है। (३) संघ के कार्यों के सम्बन्ध में जनरल असेम्बली को वार्षिक रिपोर्ट देता है। (४) यदि उसकी सम्मति में किसी मामले से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होता है तो सुरक्षा परिषद् का ध्यान उस मामले की ओर खींच सकता है। (५) कर्मचारियों की नियुक्ति जनरल असेम्बली द्वारा बनाए नियमों के अनुसार करता है। कर्मचारियों के भरती करने और उनकी नौकरियों की शर्तों को निर्धारित करने में सबसे अधिक इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि दक्षता, क्षमता और ईमानदारी का ऊँचे से ऊँचा स्तर कायम रह सके। साथ ही यह भी देखा जाता है कि भरती अधिक-से-अधिक विस्तृत भौगोलिक आधार पर हो (धारा १०१)। प्रधानमंत्री और कर्मचारी वर्ग के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरी तरह समझें, संघ के बाहर किसी राज्य के अधिकारी से कोई परामर्श न प्राप्त करें। उनकी सम्पूर्ण निष्ठा और उत्तर-दायित्व संघ के प्रति होना चाहिए। इसके साथ संयुक्तराष्ट्र के प्रत्येक सदस्य के लिए यह प्रतिज्ञा करना आवश्यक है कि वह महामन्त्री और उसके कर्मचारियों के दायित्वों के पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को मानेगा और उन दायित्वों के पालन में किसी प्रकार का प्रभाव डालने का प्रयत्न नहीं करेगा (धारा १००)। किन्तु कई बार निष्पक्षता और तटस्थता के इस उदात्त आदर्श का पूरा पालन नहीं हुआ। कुछ वर्ष पहले कम्यूनिस्ट विरोधी आन्दोलन बहुत उग्र होने पर सं० रा० अमेरिका ने अपने प्रभाव का प्रयोग करते

हुए महामन्त्री की सहायता से संघ में कार्य करने वाले, किन्तु कम्यूनिस्ट प्रकृति वाले कुछ अमेरिकनों को इसके सचिवालय से निष्कासित किया था।

चार्टर का संशोधन—चार्टर की धारा १०८ और १०९ में इसके संशोधन की प्रक्रिया की व्यवस्था का उल्लेख करते हुए यह कहा गया कि जब कभी इसके संशोधन की आवश्यकता हो तो इसके लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का एक सम्मेलन किया जा सकता है। इसके लागू होने के दसवें वर्ष में ऐसा सम्मेलन करने का प्रस्ताव जनरल असेम्बली में पेश किया जा सकता है। इस प्रकार के सभी संशोधनों के स्वीकृत होने के लिए जनरल असेम्बली का दो तिहाई बहुमत होना तथा सुरक्षा परिषद् के सात सदस्यों का बहुमत होना चाहिए। ३ जून, १९५७ को सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने चार्टर के संशोधन के लिए विश्व सम्मेलन बुलाने की योजना सितम्बर १९५९ में बुलाए जाने वाले १४वें अधिवेशन तक स्थगित करने का प्रस्ताव इस आशा में पास किया कि तब तक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में सुधार हो जाएगा। किन्तु निकट भविष्य में ऐसा होने की कोई आशा नहीं है। जब तक सुरक्षा परिषद् में पूर्व और पश्चिम का, मास्को तथा लन्दन, पेरिस और वाशिंगटन का संघर्ष उग्र रूप में विद्यमान है, तब तक किसी भी संशोधन के वीटो द्वारा रद्द होने की पूरी सम्भावना है। फिर भी पिछले १२–१३ वर्षों के अनुभव से चार्टर की निम्न व्यवस्थाओं में संशोधन उचित प्रतीत होता है :—

(१) नए राज्यों के संघ में प्रवेश के लिए स्थायी सदस्यों द्वारा वीटो का प्रयोग बन्द कर दिया जाय (दे० पृ० २५४–७)।

(२) चार्टर की दूसरी धारा के सातवें पैराग्राफ में यह व्यवस्था है—"वर्तमान चार्टर में जो कुछ कहा गया है, उससे संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी भी राज्य के उन मामलों में दखल देने का अधिकारी न होगा, जो निश्चित रूप से उस राज्य के घरेलू क्षेत्र के भीतर आते हों।" घरेलू क्षेत्र (Domestic Jurisdiction) के इस विधान ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाहियों का क्षेत्र बहुत सीमित कर दिया है। दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों के साथ बहुत बुरा व्यवहार होता है। उसके प्रतिकार के लिए भारत ने जब कभी सं० रा० संघ में यह प्रश्न उठाया है, तब दक्षिण अफ्रीका ने इसी आधार पर भारत के प्रस्ताव का विरोध किया। एंग्लो-ईरानियन तेल विवाद में तथा कोरिया के झगड़े में भी इसी कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही रोकने के लिए प्रयत्न किया गया था। इस आधार पर कोई भी राज्य संघ की कार्यवाही में अड़ंगा डाल सकता है, संघ को शक्तिशाली बनाने के लिए इसका समुचित संशोधन होना चाहिए।

(३) चार्टर की धारा ४ में सदस्यता के लिए दो शर्तें रखी गई हैं। पहली शर्त सदस्य बनने वाले के लिए शान्तिप्रेमी होना तथा चार्टर में दिए दायित्वों को मानने और पालन करने की इच्छा तथा योग्यता का होना है। दूसरी शर्त इसकी सुरक्षा परिषद् द्वारा सिफारिश तथा इस पर जनरल असेम्बली का निर्णय है। दूसरी शर्त के कारण संघ में बड़े विवाद हुए हैं। सुरक्षा परिषद् तथा संघ में सोवियत रूस तथा पश्चिमी राज्य अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए अपने विरोधी राज्यों के प्रवेश को वीटो के अधिकार द्वारा रद्द करते हैं। उदाहरणार्थ आयरलैण्ड, फिनलैण्ड, इटली, पुर्तगाल,

आस्ट्रिया, जोर्डन, सीलोन और जापान के संघ में प्रवेश का तीव्र विरोध रूस ने किया क्योंकि वह इन्हें अमेरिका का समर्थक समझता था और अमेरिका ने अल्बानिया, बल्गारिया, हंगरी, रूमानिया और मंगोलियन जन गणराज्य के सोवियत पक्षपाती होने से इनकी संघ की सदस्यता में अड़ंगा लगाया। इससे संघ में दोनों पक्षों में वैमनस्य और कटुता बढ़ी है और सब देशों का प्रतिनिधित्व भी संघ में नहीं हो पा रहा। अतः सदस्यता के लिए सुरक्षा परिषद् की सिफारिश की शर्त हटा देनी चाहिए।

(४) न्यासपद्धति सम्बन्धी धारा ७६ (ख) बड़ी अस्पष्ट है। उसमें पराधीन देशों को स्वतन्त्र करने की बात कही गई, पर इसके लिए कोई अवधि निश्चित नहीं की गई। विभिन्न प्रदेशों के विकास को देखते हुए उनको कितने वर्ष में स्वाधीनता दे दी जाएगी, इस प्रकार की समय की अवधि का निर्देश अवश्य होना चाहिए।

(५) न्यासपद्धति सम्बन्धी धारा ७७ (क) का संशोधन इस प्रकार होना चाहिए कि राष्ट्रसंघ के सभी मैण्डेट आवश्यक रूप से न्यास परिषद् का अंग समझे जायें। दक्षिण अफ्रीका द्वारा दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका को न्यास प्रदेश न बनाने के दुराग्रह के कारण यह संशोधन आवश्यक है।

(६) न्यासपद्धति की धारा ७७ (ग) में पश्चिमी देशों के साम्राज्यों में आने वाले सभी प्रदेशों को इनके निवासियों के आवेदन पर न्यास प्रदेश (Trust Territory) बनाने का संशोधन होना चाहिए।

(७) धारा ५१–५२ में चार्टर ने प्रादेशिक संगठनों को बनाने की अनुमति दी है। इससे दक्षिण पूर्वी एशिया संगठन (South East Asia Treaty Organisation SEATO) तथा उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (North Atlantic Treaty Organisation) जैसे सैनिक संगठन बन गए हैं। इस धारा का ऐसा संशोधन होना चाहिए कि भविष्य में ऐसे सैनिक संगठन न बन सकें।

(८) धारा २७ में सुरक्षा परिषद् में मतदान की व्यवस्था में 'प्रक्रिया सम्बन्धी' (Procedural matters) तथा 'अन्य सभी विषय' (on all other matters) शब्दों का प्रयोग है। ये बड़े अनिश्चित और अस्पष्ट हैं, इनकी अस्पष्टता से ही वीटो का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है, इसे कम करने के लिए इन्हें अधिक स्पष्ट किया जाना आवश्यक है।

(९) वर्तमान समय में सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों में एशिया और अफ्रीका का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है। एशिया का एक सदस्य चीन अवश्य है, किन्तु वह च्यांग काई शेक का फारमोसा वाला चीन है, जिसका चीन की मुख्य भूमि में कोई प्रभाव या प्रभुत्व नहीं है। इसके सदस्यों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिए और इसमें भारत को तथा अफ्रीका के एक देश को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। विभिन्न राष्ट्रों के अणु एवं उदजन बमों तथा अन्य घातक शस्त्रों के विस्फोट पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। मानवीय अधिकारों को प्राप्त कराने के लिए केवल घोषणा नहीं किन्तु इन्हें क्रियात्मक बनाने के लिए उपयुक्त संस्थाएँ और व्यवस्थाएँ होनी चाहिएँ।

पिछले वर्षों में चार्टर के संशोधन का प्रश्न संघ में अफ्रीका-एशिया के

सदस्यों की संख्या में आशातीत वृद्धि होने से बड़े उग्र रूप में उपस्थित हुआ है। अक्टूबर १९५९ में सं० रा० संघ की **राजनीतिक समिति** (Political Committee) में सुरक्षा परिषद् तथा आर्थिक और सामाजिक परिषद् के सदस्यों की तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के जजों की संख्या बढ़ाने के लिए चार्टर में संशोधन के प्रश्न पर विचार हुआ। इस समय इन दोनों परिषदों के सदस्यों की संख्या क्रमशः ११ तथा १८ हैं, इनमें पाँच सीटें ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका, फ्रांस, सोवियत रूस तथा कुओमिन्तांग चीन को स्थायी रूप से प्राप्त हैं। भारतीय प्रतिनिधि श्री चन्द्रशेखर झा ने इस अवसर पर यह कहा था कि "सं० रा० संघ एक निरन्तर प्रगतिशील संस्था है किन्तु उसके प्रमुख अंगों के संगठन के विकास में कोई प्रगति नहीं हुई। इसमें एशिया और अफ्रीका के देशों का प्रतिनिधित्व बहुत ही कम है। सुरक्षा परिषद् का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना है, उसमें भूगोल का बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। अतः इसमें यह सम्भव नहीं है कि विश्व के बड़े भौगोलिक प्रदेशों को कोई प्रतिनिधित्व न दिया जाए। अतः भारत विभिन्न परिषदों की सदस्य संख्या बढ़ाने के पक्ष में है। किन्तु चार्टर का संशोधन तभी होना चाहिए, जब सभी महाशक्तियां इसके लिए सहमत हों।" सं० अरब गणराज्य के प्रतिनिधि रफीक पाशा ने सदस्य संख्या बढ़ाने पर बल देते हुए कहा कि इन परिषदों में दो महाद्वीपों का प्रतिनिधित्व बहुत ही कम है।

इस विषय में सोवियत रूस का यह मत था कि जब तक सं० रा० संघ में साम्यवादी चीन को स्थान नहीं दिया जाता, तब तक वह चार्टर में किसी संशोधन के लिए तैयार नहीं है। सं० रा० अमेरिका तथा दक्षिणी अमेरिका के राज्य भी इसमें कोई परिवर्तन नहीं चाहते थे। इस अवस्था में अफ्रेशियाई राज्यों ने संघ की परिषदों में सदस्यों की संख्यावृद्धि के प्रस्ताव को १९६० के लिए स्थगित करने का प्रयत्न किया और २५ नवम्बर, १९६० को जनरल असेम्बली ने ४८–१०–२२ के बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया।

चार्टर के संशोधन विषयक रूस के प्रस्ताव—१९६० में आगे बताई जाने वाली यू–२ तथा आर–बी. ४७ नामक अमेरिकी विमानों की रूसी प्रदेश पर जासूसी उड़ानों की निन्दा का प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् में पास न हो सकने से रूस को बड़ी निराशा हुई। अब वह चार्टर के संशोधन का प्रबल पक्षपाती हो गया। सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने २८ सितम्बर, १९६० को न्यूयार्क के एक पत्रकार सम्मेलन में यह घोषणा की कि सं० रा० संघ के चार्टर में परिवर्तन का समय आ गया है। इसका निर्माण तब हुआ था, जब सं० रा० अमेरिका सबसे शक्तिशाली देश था और साम्यवादी गुट इतना बड़ा नहीं हुआ था, जितना अब है। अफ्रीका के तथा अन्य स्थानों के उपनिवेश स्वतन्त्र नहीं हुए थे। अब ये सब परिवर्तन होने के बावजूद सं० रा० संघ अमेरिका के प्रभाव में है। यह इससे स्पष्ट है कि सुरक्षा परिषद् यू–२ तथा आर० बी० ४७ नामक जासूसी विमानों की उड़ानों के सम्बन्ध में अमेरिका की निन्दा करने में असफल रही है। संघ के महामन्त्री 'एकाधिकारवादी पूंजीवादियों के चाकर हैं'। इससे पहले २३ सितम्बर को सं० रा० संघ में भाषण करते हुए ख्रुश्चेव ने कहा था—"सं० रा० संघ सब समस्याओं-पर

'देशों के एक विशेष समूह की दृष्टि से' विचार करता है। पश्चिमी शक्तियां महामन्त्री के पद का अपने स्वार्थों के लिए लाभ उठाती हैं। महामन्त्री डाग हैमरशोल्ड ने कांगो के संकट का सामना करने के लिए क्रियान्वित किए जाने वाले उपायों में पक्षपात का प्रदर्शन किया है और उसने उपनिवेशवादियों तथा इनका समर्थन करने वाले देशों का साथ दिया है। अतः यह न्यायपूर्ण एवं उचित होगा कि महामन्त्री के पद पर एक व्यक्ति को न रखा जाए, किन्तु तीन व्यक्तियों को रखा जाए, एक व्यक्ति पश्चिमी राज्यों का प्रतिनिधि हो, दूसरा कम्यूनिस्ट देशों का तथा तीसरा तटस्थ देशों का। सं० रा० संघ के प्रधान कार्यालय का स्थान सं० रा० अमेरिका में होने से बड़ी असुविधाएँ होती हैं। इसे किसी ऐसे स्थान में ले जाया जाना चाहिए, जहाँ इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का कार्य अधिक क्षमता के साथ हो सके। स्विटजरलैण्ड या आस्ट्रिया ऐसे स्थान हो सकते हैं। यदि इसका मुख्य कार्यालय सोवियत यूनियन में रखा जाना उचित समझा जाए तो हम इस बात का वचन देते हैं कि इसके कार्य के लिए सर्वोत्तम परिस्थितियां उत्पन्न की जाएंगी।"

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रूस संघ के चार्टर में मुख्य रूप से निम्न संशोधन करना चाहता है—(१) सं० रा० संघ की परिषदों से सं० रा० अमेरिका का प्रभुत्व कम किया जाए, इनमें अफ्रीका तथा एशिया के देशों को अधिक प्रतिनिधित्व दिया जाए। (२) संघ में साम्यवादी चीन को स्थान दिया जाय। (३) संघ के महामन्त्री का पद तीन व्यक्तियों में बाँट दिया जाय। (४) संघ का प्रधान कार्यालय सं० रा० अमेरिका से हटाकर किसी दूसरे देश में ले जाया जाय।

ख्रु श्चेव के संघ के चार्टर में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाले उपर्युक्त सुधारों का अन्य देशों ने घोर विरोध किया। मलाया के प्रधानमन्त्री अब्दुलरहमान ने सितम्बर १९६० को महामन्त्री पद को तीन व्यक्तियों में विभक्त करने के रूसी प्रस्ताव को 'शरारतपूर्ण विचार' बताया और कहा कि "इसका उद्देश्य विभिन्न देशों को एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ाना है। यह एक घृणास्पद चाल है और इससे सं० रा० विभक्त राष्ट्र (Disunited nations) हो जाएगा।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि मन्त्रीपद तीन विभिन्न प्रवृत्तियों के व्यक्तियों में बाँट दिया जाय तो सुरक्षा परिषद् की बैठकों जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी और सब काम ठप्प हो जाएगा। सोवियत प्रधानमन्त्री के चार्टर में उपर्युक्त संशोधनों के प्रस्ताव की निकट भविष्य में स्वीकृत होने की कोई आशा नहीं है।

१९६० में अफ्रीका के १४ नए देशों के संघ का सदस्य बनने से संघ की स्थिति में बड़ा परिवर्तन आ गया है। १९४५ में जब संघ का चार्टर बना था तो इसके सदस्यों की संख्या कुल ५१ थी। अब यह लगभग दुगुनी से अधिक हो गई है। इसके आरम्भिक ५१ सदस्यों में २२ उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के थे, १४ योरोप के थे, ९ एशिया के और अफ्रीका महाद्वीप के केवल ४ सदस्य थे। बाद में अमेरिका महाद्वीप के सदस्यों में तो कोई वृद्धि नहीं हुई, किन्तु योरोप के सदस्य बढ़कर २७ हो गए। १९५८ में एशिया के सदस्यों की संख्या २३ हो गई। १९६० में अफ्रीका के १४ नए सदस्य बने हैं। १९६४ में संघ में अफ्रेशियाई गुट के सदस्यों की संख्या ५८ हो गई है। यह आधे से कुछ अधिक

है। संघ में दो तिहाई के बहुमत से पास होने वाला प्रस्ताव इसकी सहमति के बिना नहीं पास हो सकता। संघ की सदस्यता में वृद्धि का यह परिणाम हुआ है कि इसकी जनरल असेम्बली में अमेरिका और उसके साथियों का प्रभुत्व समाप्त हो गया है। १९४५ में अमेरिकी देश संघ के सदस्यों का ३९·३% थे, अब वे २०% से भी कम हैं।

किन्तु फिर भी संघ की सुरक्षा परिषद् में तथा अन्य परिषदों में अमेरिका की प्रभुता चार्टर में कोई परिवर्तन न होने के कारण पूर्ववत् बनी हुई है। सुरक्षा परिषद् में पाँच सीटें तो पाँच महाशक्तियों के लिए सुरक्षित हैं, शेष छः अस्थायी सीटें भौगोलिक आधार पर निम्न रूप में बँटी होती हैं—दो दक्षिणी (लैटिन) अमेरिका के लिए, १ पश्चिमी योरोप के लिए, १ पूर्वी योरोप के लिए, १ मध्यपूर्व के देशों के लिए तथा एक ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के लिए। इसका यह अभिप्राय है कि समूचे एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीप की केवल एक ही सीट है। यह स्थिति ठीक नहीं प्रतीत होती। इनकी विशाल जनसंख्या तथा स्वतन्त्र देशों की संख्या को देखते हुए इन दोनों महाद्वीपों को कम-से-कम तीन नई सीटें देना उचित जान पड़ता है। इससे इनका सुरक्षा परिषद् में समुचित प्रतिनिधित्व हो सकेगा। इस समय सं० रा० संघ के चार्टर में सबसे महत्त्वपूर्ण यह संशोधन होना अनिवार्य प्रतीत होता है। जब संघ के जनरल असेम्बली के सदस्यों की संख्या दुगुनी हो गई है तो इसकी सुरक्षा परिषद् तथा अन्य परिषदों की सदस्य संख्या में विस्तार की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है।

किन्तु इस संशोधन के भी शीघ्र होने की सम्भावना नहीं प्रतीत होती, क्योंकि चार्टर का कोई भी संशोधन तभी क्रियान्वित हो सकता है जब सं० रा० संघ के दो-तिहाई सदस्यों का बहुमत तथा सुरक्षा परिषद् के पाँचों स्थायी सदस्य इसके लिए सहमत हों। इस समय चार्टर का संशोधन पाँचों स्थायी सदस्य—सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और कुओमिन्तांग चीन तथा रूस चाहते हैं। किन्तु पहली चार शक्तियां जो परिवर्तन करना चाहेंगी, उन्हें सोवियत यूनियन नहीं स्वीकार करेगा और रूस के उपर्युक्त प्रस्ताव पहली चार शक्तियों को मान्य नहीं हैं। इन पाँचों शक्तियों में इस विषय में कोई समझौता होना बहुत कठिन है। जिस प्रकार निःशस्त्रीकरण के विषय में दोनों पक्षों में अब तक कोई समझौता नहीं हो सका, इसी प्रकार चार्टर के संशोधन के विषय में भी समझौते की सम्भावन नहीं प्रतीत होती।

राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना—इन दोनों की तुलना से यह प्रतीत होता है कि दोनों में अनेक सादृश्य तथा अन्तर हैं। कुछ अंशों में राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाएँ अधिक स्पष्ट और सुदृढ़ थीं, किन्तु अधिक अंशों में संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाएँ राष्ट्रसंघ की व्यवस्थाओं की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं और इसके कारण यह राष्ट्रसंघ की अपेक्षा श्रेष्ठ संगठन है। दोनों में निम्न अंशों में सादृश्य है:—

(१) दोनों का प्रधान उद्देश्य युद्धों की विभीषिका से मानव जाति को मुक्त कराना है।

(२) दोनों सब सदस्य राज्यों की सर्वोच्च सत्ता और समानता के मौलिक सिद्धान्त पर आधारित हैं।

(३) दोनों के उपाय तथा अंग (organs) लगभग एक जैसे हैं। दोनों सब विवादों के निर्णय के सर्वोत्तम उपाय परस्पर वार्त्तालाप द्वारा समझौता करना समझते हैं। दोनों के विभिन्न अंग लगभग एक जैसे हैं। सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली, सुरक्षा परिषद्, और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय राष्ट्रसंघ की असेम्बली, परिषद्, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय के प्रतिरूप हैं। इस प्रकार इन दोनों के कई विशेष संगठन **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय** (ILO) एक से हैं, दोनों के सब देशों में स्वास्थ्य के सुधार, नशीली दवाइयों तथा स्त्रियों के अनैतिक व्यापार के विरोध के लिए सहयोग पाने के संगठन बहुत साम्य रखते हैं।

(४) दोनों की सफलता इनकी सत्ता और शक्ति पर नहीं, किन्तु सदस्यों के स्वेच्छापूर्वक दिए सहयोग पर निर्भर है, दोनों के प्रधान साधन प्रेरणा, परामर्श, वार्त्तालाप, वादविवाद और लोकमत का प्रभाव हैं।

दोनों के **मुख्य अन्तर** निम्नलिखित हैं—(१) दोनों का प्रादुर्भाव विभिन्न प्रकार से हुआ है। राष्ट्रसंघ का प्रतिज्ञापत्र (Covenant) वर्साय की संधि का तथा अन्य संधियों का अनिवार्य भाग था और इसका एक बड़ा उद्देश्य इन सन्धियों की व्यवस्था को बनाए रखना था। इसमें सम्मिलित होने वाले अधिकांश देशों का यही ध्येय था। किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ का सम्बन्ध पराजित राष्ट्रों पर थोपी गई ऐसी किसी सन्धि से नहीं है, यह केवल संयुक्त राष्ट्रों की जनताओं को युद्ध की विभीषिका से मुक्ति पाने के दृढ़ संकल्प का मूर्त्त रूप है।

(२) राष्ट्रसंघ के मुख्य अंग केवल तीन थे—असेम्बली, कौन्सिल और सचिवालय। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान अंग छः हैं—जनरल असेम्बली, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय। इससे यह स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ के कार्य प्रधान रूप से राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित थे, किन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ में इनके अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मानवीय कार्यों तथा विषयों को बहुत महत्त्व दिया गया है। इस संगठन में मानव व्यक्तित्व के विकास तथा व्यक्तियों के मानवीय अधिकारों के संरक्षण पर बहुत बल दिया गया है। इसके विभिन्न संगठन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF), विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO), सं० रा० शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन (UNESCO), मानव जाति की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक एकता संपुष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हैं। सं० रा० संघ द्वारा इस कार्य को दी गई प्राथमिकता का स्पष्टीकरण यूनेस्को के संविधान की भूमिका के इन शब्दों से होता है—"क्योंकि युद्ध पहले मनुष्यों के मन में उत्पन्न होते हैं, अतः शान्ति की आधारशिलाएं मनुष्यों के मन में स्थापित की जानी चाहिएँ।"

(३) लीग की तथा सं० रा० की असेम्बलियों में एक प्रधान अन्तर यह है कि पहली के निर्णयों का पालन सदस्यों के लिए आवश्यक (Binding) होता था किन्तु दूसरी के बारे में ऐसी बाध्यता नहीं है। सं० रा० संघ की असेम्बली केवल सिफारिशें ही करती है। इस दृष्टि से सं० रा० संघ की असेम्बली लीग की असेम्बली से निर्बल है।

(४) किन्तु सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली में मतदान की प्रणाली लीग

की प्रणाली से अधिक अच्छी है। लीग की असेम्बली में सब निर्णयों के लिए उपस्थित तथा वोट देने वाले सदस्यों की सर्वसम्मति (Unanimity) आवश्यक थी, किन्तु सं० रा० संघ की असेम्बली के सभी महत्त्वपूर्ण विषयों के निर्णय दो-तिहाई बहुमत से किए जाते हैं। महत्त्वपूर्ण विषयों का तात्पर्य इन विषयों से है—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के प्रश्न, विभिन्न कौन्सिलों के सदस्यों का चुनाव, संघ में नए सदस्यों का प्रवेश, न्यासपद्धति तथा बजटविषयक प्रश्न। लीग में सब महत्त्वपूर्ण निर्णयों के लिए सर्वसम्मति का नियम होने से कोई भी एक शक्ति संघ के कार्य में बाधा डाल सकती थी। किन्तु संघ की असेम्बली में ⅔ बहुमत का नियम होने से ऐसा नहीं हो सकता। इसमें केवल सुरक्षा परिषद् में पाँच शक्तियों को ही वीटो का अधिकार है, किन्तु पहले लीग की असेम्बली में यह अधिकार प्रत्येक सदस्य को प्राप्त था।

(५) सं० रा० संघ के चार्टर में असेम्बली और सुरक्षा परिषद् के कार्यों का लीग की असेम्बली और कौन्सिल के कार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विभाजन है। लीग में दोनों के कार्यों का स्पष्ट विभाजन न होने से बड़ी अनिश्चितता और संदेह था और इस कारण लीग बड़ी दुर्बल थी। सं० रा० संघ के चार्टर में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने का कार्य सुरक्षा परिषद् का विषय है। अतः सुरक्षा परिषद् का कार्यक्षेत्र लीग की कौन्सिल की अपेक्षा मर्यादित होते हुए भी सुस्पष्ट है, उसके निर्णयों का पालन सदस्यों के लिए बाध्य होने से वह कौन्सिल की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। यद्यपि १९५० के शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव (Uniting for peace) से असेम्बली को भी शान्ति रक्षा का कार्य मिल गया है, किन्तु यह इसे तभी करती है, जब सुरक्षा परिषद् किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर कार्यवाही करने में वीटो के कारण विफल हो जाय और विश्व में शान्ति भंग की आशंका हो। इस स्थिति में भी असेम्बली इस पर विचार, विवाद और सिफारिश ही कर सकती है, कोई कार्यवाही नहीं कर सकती, यह अधिकार केवल सुरक्षा परिषद् को ही है। अतः सुरक्षा परिषद् लीग की कौन्सिल की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट और शक्तिशाली है।

(६) सुरक्षा परिषद् लीग की कौन्सिल से इस दृष्टि से भी उत्कृष्ट है कि यह स्थायी संस्था है और १४ दिन में इसकी एक बैठक अवश्य होती है, जबकि लीग की कौन्सिल की साल में केवल तीन बैठकें होती थीं। आपत्काल में सुरक्षा परिषद् की बैठक बहुत थोड़े समय में फौरन बुलाई जा सकती है। उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिण कोरिया पर आक्रमण होने पर २६ जून, १९५० को यह बैठक तत्काल बुलाई गई थी।

(७) शान्तिभंग तथा आक्रमणों को रोकने के सम्बन्ध में सं० रा० संघ राष्ट्रसंघ की अपेक्षा निम्नलिखित कारणों से अधिक शक्तिशाली है :—

(क) राष्ट्रसंघ आक्रमण होने पर ही उसे रोकने के लिए कोई कार्यवाही कर सकता था, सं० रा० संघ "शान्ति-भंग के भय और आक्रमण की सम्भावना" होने पर भी अपनी कार्यवाही कर सकता है।

(ख) राष्ट्रसंघ में शान्ति-भंग करने वाले के विरुद्ध मुख्य रूप से आर्थिक प्रतिबन्धों (Economic Sanctions) की व्यवस्था थी (पृ० ५२)। किन्तु चार्टर में

सुरक्षा-परिषद् को शान्तिभंग की समस्या हल करने के लिए स्थल, जल और नभ की सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग का अधिकार दिया गया है, वह अपने सदस्यों से सेनाओं की माँग कर सकती है। उसकी सैनिक योजनाओं को सुचारु रूप से क्रियान्वित करने के लिए एक सैनिक स्टाफ समिति (Military Staff Committee) भी है। राष्ट्रसंघ के पास संकट में प्रयुक्त की जा सकने वाली इस प्रकार की कोई सेनाएँ नहीं थीं, अतः उसकी आक्रान्ता को रोकने की व्यवस्था सं० रा० संघ की भांति शक्तिशाली और प्रभावपूर्ण नहीं थी। सं० रा० संघ ने १९५० में कोरिया के युद्ध में आक्रान्ता को रोकने के लिए सैनिक कार्यवाही की थी; और १९५६ में स्वेज नहर के क्षेत्र में युद्ध बन्द करने के लिए अपनी आपत्कालीन सेना भेजी थी।

(ग) आक्रमण को रोकने की कार्यवाही के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ और सं० रा० संघ में एक बड़ा भेद यह भी है कि पहले में इस कार्यवाही के करने के लिए सब सदस्यों को पूरी स्वतन्त्रता थी। संघ के प्रतिज्ञापत्र की १६वीं धारा के अनुसार यह निर्णय करना संघ के सदस्यों का कार्य था कि किसी सदस्य ने संघ के प्रतिज्ञापत्र के दायित्वों का उल्लंघन किया है या नहीं तथा उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाय या नहीं। राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र में सदस्यों पर सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई बाध्यता नहीं थी। किन्तु चार्टर शान्तिभंग की दशा का निश्चित करना और सैनिक कार्यवाही करने का निर्णय करना सदस्यों पर नहीं किन्तु सुरक्षा परिषद् पर छोड़ा गया और उसके निर्णय का पालन सदस्यों की इच्छा पर नहीं, किन्तु आवश्यक है।

(घ) शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव ने जनरल असेम्बली को भी सुरक्षा परिषद् में वीटो के कारण गतिरोध होने पर शान्ति स्थापित करने के लिए सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार प्रदान किया है। ऐसी कोई व्यवस्था राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र में नहीं थी। इस प्रकार सं० रा० संघ की आक्रान्ता के विरुद्ध सदस्यों द्वारा सैनिक कार्यवाही की व्यवस्था राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक अच्छी और शक्तिशाली है।

(ड) घरेलू अधिकारक्षेत्र (Domestic Jurisdiction) के सम्बन्ध में दोनों में मौलिक अन्तर है। सं० रा० संघ की इस विषय की व्यवस्था रा० सं० की व्यवस्था से अधिक व्यापक तथा सदस्यों को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने वाली है। चार्टर की धारा (२७) के अनुसार "सं० रा० संघ को किसी भी राज्य के उन मामलों में दखल देने का अधिकार न होगा, जो निश्चित रूप से उस राज्य के घरेलू क्षेत्र के भीतर आते हों।" चार्टर में यह स्पष्ट नहीं किया गया कि 'घरेलू क्षेत्र' का निश्चय कौन करेगा। इससे उसने प्रत्येक सदस्य को इसका निर्णय करने की स्वतन्त्रता प्रदान की है और संयुक्त रा० संघ का कार्यक्षेत्र बहुत संकुचित कर दिया है। राष्ट्रसंघ की इस विषय की व्यवस्था अधिक अच्छी थी, उसमें इसका निर्धारण सदस्यों पर नहीं छोड़ा गया था किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर इसके निर्णय करने का भार कौन्सिल पर डाला गया था।

(९) आत्मरक्षा के अधिकार के सम्बन्ध में राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र में कोई बात स्पष्टरूप से नहीं कही गई थी, केवल धारा १५ (७) में इसका गोलमाल संकेत

था। किन्तु चार्टर की धारा ५१ में सं० रा० संघ द्वारा कार्यवाही करने से पहले आक्रमण का शिकार बने राज्यों को आत्मरक्षा का अधिकार बड़े स्पष्ट शब्दों में दिया गया है।

(१०) चार्टर में शान्तिरक्षा के लिए प्रादेशिक संगठन (Regional Organisation) बनाने की अनुमति दी गई है (धारा ५२), किन्तु राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी।

(११) सं० रा० संघ के चार्टर में मानवीय अधिकारों, मौलिक स्वतन्त्रताओं, आर्थिक और सामाजिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग पर अधिक बल दिया गया है। राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञापत्र में इनका बहुत कम उल्लेख है।

(१२) सं० रा० संघ की न्यासपद्धति तथा न्यास परिषद् (Trusteeship Council) राष्ट्रसंघ की मैण्डेट प्रणाली तथा स्थायी मैण्डेट आयोग (Permanent Mandate Commission) से बहुत भिन्न, अधिक उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ है। मैण्डेट पद्धति केवल जर्मनी और टर्की से छीने हुए प्रदेशों के सम्बन्ध में थी, किन्तु न्यासपद्धति का क्षेत्र शत्रुओं से प्राप्त प्रदेशों के साथ-साथ उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद से पीड़ित सभी स्वशासन न करने वाले प्रदेश (Nonselfgoverning Areas) हैं। क्षेत्र विस्तार के साथ-साथ दोनों के उद्देश्यों भी बहुत अन्तर है। न्यास पद्धति का उद्देश्य इन प्रदेशों को स्वशासन और स्वाधीनता के योग्य बनाना है। दोनों संस्थाओं के स्वरूप तथा अधिकारों में भी बड़ा अन्तर है। स्थायी मैण्डेट आयोग के संगठन की अपेक्षा न्यास परिषद् का संगठन अधिक अच्छा है और इसे न्यास प्रदेशों के व्यक्तियों की शिकायतें और आवेदनपत्र सुनने तथा इन प्रदेशों में अपने निरीक्षक मण्डल भेजने का अधिकार है (देखिए पृ० २६३–४)।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सं० रा० संघ का संगठन सामान्य रूप से राष्ट्रसंघ के संगठन से अनेक अंशों में अधिक उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ है।

सं० रा० संघ के कार्य

सं० रा० संघ के कार्य दो मुख्य वर्गों में बांटे जा सकते हैं—(क) राजनीतिक कार्य—ये प्रधान रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विवादों और प्रश्नों का हल करना, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखना है। ये कार्य मुख्य रूप से सुरक्षा परिषद् तथा जनरल असेम्बली करती है। (२) संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किये जाने वाले मानवीय हित के आर्थिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा अन्य विविध प्रकार के कार्य। ये प्रधान रूप से संघ से संबद्ध १० विशेष संस्थाओं (Special Agencies) द्वारा किए जाते हैं। यहां इन दोनों का क्रमशः संक्षिप्त वर्णन किया जायगा। संघ और सुरक्षा परिषद् में लाये गए विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय विवादों और समस्याओं में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विवाद—ईरान—यह संघ में उपस्थित होने वाला पहला महत्त्वपूर्ण विवाद था। १९ जनवरी, १९४६ को ईरान ने सुरक्षा परिषद् को यह सूचना दी कि रूसी फौजें उसके आज़रबाइजान (Azrbaizan) प्रान्त में घुसी हुई हैं और इसे

खाली नहीं कर रहीं। ईरान के पक्ष का बड़ा प्रबल समर्थन ग्रेट ब्रिटेन के विदेशमन्त्री बेविन ने किया। इस पर सोवियत विदेशमंत्री विशिंस्की (Vishinsky) ने सुरक्षा परिषद् से यह प्रार्थना की कि यूनान में विद्यमान ब्रिटिश फौजों को निकालने का विषय भी सुरक्षा परिषद् में उपस्थित किया जाय। इससे बेविन-विशिंस्की तुमुल वाग्युद्ध शुरू हो गया। सुरक्षा परिषद् के कार्य का इस विवाद के साथ श्रीगणेश होना शुभ नहीं था, फिर भी इस समस्या का हल २१ मई, १९४६ को सोवियत सेनाओं के ईरान से हट जाने के साथ सफलतापूर्वक हो गया।

यह सुरक्षा परिषद् की पहली बड़ी सफलता थी। रूस द्वारा सेनाएँ हटाने का मुख्य कारण सुरक्षा परिषद् द्वारा की गई कोई कार्यवाही नहीं थी, किन्तु इस परिषद् में हुई बहस से निर्मित हुआ प्रबल लोकमत था। इस विवाद से विश्व को यह ज्ञात हुआ कि ईरान में सोवियत सेनायें तेहरान की इच्छा के विरुद्ध ठहरी हुई हैं और यूनान में ब्रिटिश फौजें एथेन्स के निमन्त्रण पर गई हैं। दोनों की स्थिति में यह महत्त्वपूर्ण अन्तर होने से विश्व का लोकमत इस विषय में निश्चित रूप से सोवियत विरोधी हो गया, अतः सोवियत रूस को अपनी सेनाएँ हटाने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस घटना ने यह स्पष्ट कर दिया कि जिस प्रकार चोर चाँदनी से डरता है, वैसे ही आक्रमण करने वाला राज्य संघ की बहसों में होने वाली बदनामी की आशंका से घबराता है।[१०] कई बार यह लोकमत सैनिक कार्यवाही से अधिक प्रभावशाली होता है। स्तालिन ने एक बार राष्ट्रसंघ के विषय में यह कहा था कि "अनेक दुर्बलताओं के होते हुए भी यह एक ऐसे मंच का प्रयोजन भलीभांति पूरा कर सकता है, जहां आक्रांताओं की पोल खोली जा सके; इस प्रकार शान्ति स्थापना का दुर्बल साधन होते हुए भी यह युद्ध छिड़ने को रोक सकता है।" स्तालिन की यह उक्ति ईरान के सम्बन्ध में सोलह आने सही सिद्ध हुई।

यूनान—द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मन सेनाओं को परास्त करने के लिए यहां ब्रिटिश सेनाएँ आई थीं। युद्ध की समाप्ति पर इन सेनाओं ने यूनान पर उत्तर दिशा से होने वाले कम्यूनिस्ट छापामार दस्तों के हमलों को भी रोका। किन्तु कुछ समय बाद ब्रिटिश सरकार ने यह अनुभव किया कि वह अकेले इस कार्य को नहीं कर सकती, १९४७ में उसने अमेरिकी सरकार से इस विषय में सहायता माँगते हुए कहा कि यदि यह न दी गई तो यूनान, टर्की तथा मध्यपूर्व में कम्यूनिस्ट प्रभाव बढ़ जायगा। १२ मार्च, १९४७ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कांग्रेस के एक भाषण में यूनान और टर्की को सहायता देने की घोषणा की, किन्तु यह सं० रा० संघ के सहयोग से दी जानी थी। संघ द्वारा इस विषय की जांच के लिए नियुक्त आयोग ने यह रिपोर्ट दी (२७ मई, १९४७) कि कम्यूनिस्ट अल्बानिया, बल्गारिया और यूगोस्लाविया से यूनानी छापामार दस्तों की सहायता कर रहे हैं। किन्तु जब सुरक्षा परिषद् ने इस विषय में अधिक अन्वेषण करना चाहा तो रूस ने इसे वीटो कर दिया। अतः १५ सितम्बर, १९४७ को यह विषय असेम्बली में लाया गया। बड़े लम्बे-चौड़े और कटु विवाद के बाद बाल्कान में एक आयोग

१०. डलेस—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४३

भेजे जाने का निश्चय हुआ। यद्यपि इसे उपर्युक्त तीनों देशों में नहीं जाने दिया गया, किन्तु यूनान की उत्तरी सीमा पर इसके निरीक्षण से इसे यह विश्वास हो गया कि तीनों देशों से यूनानी छापामारों को भी सहायता मिल रही है। आयोग की उपस्थिति से इसकी मात्रा में कुछ कमी भी हुई। इस जांच के आधार पर असेम्बली ने यूनान को सहायता देने का निश्चय किया तथा यूनान, अलबानिया, बलगारिया, और यूगोस्लाविया को आपस में समझौता करने को कहा। मार्शल टीटो का स्तालिन के साथ मतभेद बढ़ने से यूनानी छापामारों को यूगोस्लाविया से मिलने वाली सहायता बन्द हो गई। अमेरिका की सं० रा० संघ के निरीक्षण में दी जाने वाली सहायता से यूनानी सरकार छापामारों को दबाने तथा कम्यूनिज्म का प्रसार रोकने में सफल हुई।

सीरिया-लेबनान—सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में सीरिया तथा लेबनान के प्रतिनिधियों ने अपने देश से फ्रेंच फौजों के हटाने की माँग की थी। ४ फरवरी, १९४६ को उन्होंने सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत रखी। सं० रा० अमेरिका ने इस पर यह प्रस्ताव रखा कि "सुरक्षा परिषद् को विश्वास है कि ये फौजें **यथासम्भव शीघ्र ही** हटा ली जायेंगी।" सोवियत यूनियन ने इसका विरोध करते हुए यह प्रस्ताव रखा कि ये सेनाएँ तत्काल हटा ली जायें। पहले प्रस्ताव में सात स्वीकारात्मक वोट तो आये किन्तु रूस के वीटो के कारण यह रद्द हो गया। फ्रांस और ब्रिटेन ने संबद्ध पक्ष होने के कारण वोट देते हुए भी यह घोषणा की कि वे अपनी फौजें हटा लेंगे और बाद में उन्होंने यह वचन पूरा किया। इसमें भी संघ को सफलता मिली।

बर्लिन का घेरा—१९४५ के पोटसडाम समझौते (पृ० २३०) के अनुसार बर्लिन नगर चार विभिन्न शक्तियों के नियन्त्रण में चार क्षेत्रों में बाँटा गया था। इसका पूर्वी भाग सोवियत रूस के तथा पश्चिमी बर्लिन के तीन भाग फ्रांस, अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के नियन्त्रण में थे। इन पश्चिमी भागों का मार्ग रूस के पूर्वी भाग में से होकर गुजरता था। १ मार्च, १९४८ को स्थानीय मुद्रा विषयक एक झगड़े का आधार लेकर रूस ने पश्चिमी बर्लिन के स्थल और जल के सब मार्ग बन्द कर दिये, अब बर्लिन पहुँचने के लिए फ्रांस, सं० रा० अमेरिका तथा ब्रिटेन के पास केवल हवाई मार्ग ही बच गया। ४ अक्टूबर, १९४८ को इन तीनों देशों ने सुरक्षा परिषद् में बर्लिन के घेरे के विरुद्ध शिकायत की। सोवियत रूस ने इसका विरोध करते हुए कहा कि सुरक्षा परिषद् को यह मामला सुनने का अधिकार नहीं है, पश्चिमी क्षेत्रों के मुद्रा सुधारों के कारण सोवियत क्षेत्र का आर्थिक विध्वंस रोकने के लिए ही ऐसा किया गया है, बर्लिन का प्रश्न जर्मनी के साथ सन्धि की समूची समस्या से संबद्ध है, उस पर पृथक् विचार करना भ्रान्तिपूर्ण निर्णयों को उत्पन्न करेगा। इसके विपरीत सं० रा० अमेरिका इसे विश्व-शान्ति के लिए संकट समझता था। दोनों पक्षों में वार्तालाप के परिणामस्वरूप ४ मई १९४९ को हुए समझौते में रूस घेरा उठाने के लिए तथा अन्य तीनों राष्ट्र इसके प्रतिवाद में लगाई हुई पाबन्दियां उठाने को तैयार हो गये। यह घेरा १२ मई, १९४९ को हटा लिया गया। रूस के आग्रह से यह समझौता विदेश-मन्त्रियों की परिषद् में हुआ था, अतः इस समस्या के हल का श्रेय उसी संस्था को है, न कि सुरक्षा परिषद् को।

फिर भी संयुक्त राष्ट्रसंघ ने दोनों पक्षों के परस्पर मिलने के लिए स्थान और सुविधाएँ उत्पन्न कीं। डलेस के मतानुसार इस विवाद के हल करने में सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों ने बड़ा भाग लिया।[11]

पेलेस्टाइन—प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर टर्की का यह प्रदेश मैण्डेट के रूप में ग्रेट ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। इसमें यहूदियों के पवित्र धार्मिक स्थान और जेरुसलम का नगर विद्यमान है, वे इसे अपनी धर्मभूमि मानते थे। ब्रिटिश सरकार ने प्रथम विश्वयुद्ध में यहां यहूदियों का राष्ट्रीयगृह (National Home) स्थापित करने की तथा यहूदी राज्य बनाने की घोषणा की थी। किन्तु यह उस समय मुख्यरूप से अरबों की बस्ती थी, वे इसे अपनी मातृभूमि समझते थे। अंग्रेजों ने प्रथम विश्वयुद्ध में अरबों में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करते हुए उन्हें भी गुप्त रूप से युद्ध के बाद यहाँ टर्की से पृथक् होकर स्वतन्त्र अरब राज्य स्थापित करने का आश्वासन दिया। परिणामस्वरूप युद्ध के बाद इस ब्रिटिश मैण्डेट में यहूदियों तथा अरबों का उग्र संघर्ष आरम्भ हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त तक पेलेस्टाइन में दंगों, उपद्रवों, विद्रोहों और हिंसा का बाजार गर्म रहा। फरवरी १९४७ में ब्रिटिश विदेशमन्त्री अर्नेस्ट बेविन ने पार्लियामेण्ट में यह घोषणा की कि इस मैण्डेट का चलाना ब्रिटेन के लिए सम्भव नहीं है, यह समस्या संघ में रखी जायेगी। संघ की असेम्बली ने २८ अप्रैल के विशेष अधिवेशन में इस विषय पर विचार के लिए ११ राष्ट्रों की एक समिति नियत की। ३१ अगस्त, १९४७ को प्रकाशित इस कमेटी की रिपोर्ट में पेलेस्टाइन को अरब तथा यहूदी राज्यों में बाँटने की तथा जेरुसलम को अन्तर्राष्ट्रीय शासन में रखने की व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की गई। इसे सं० रा० संघ की असेम्बली ने स्वीकार कर लिया, और इसे क्रियान्वित करने के लिए एक **पेलेस्टाइन आयोग** नियुक्त किया। ग्रेट ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि वह १५ मई, १९४८ को अपने मैण्डेट की अवधि पूर्ण होने पर अपनी सेनाएँ और प्रभुत्व पेलेस्टाइन से हटा लेगा।

संघ द्वारा पेलेस्टाइन विभाजन की योजना का अरब और यहूदी दोनों पक्षों ने घोर विरोध किया। अरब इस बात पर तुले हुए थे कि उनकी मातृभूमि में कोई विदेशी राज्य न स्थापित हो। दूसरी ओर यहूदियों का यह दृढ़ निश्चय था कि वे अपनी धर्मभूमि में नये राज्य को अवश्य स्थापित करेंगे। इसका परिणाम अरबों तथा यहूदियों में गृहयुद्ध था। अरबों ने विभाजन से मातृभूमि की रक्षा के लिए सीधी कार्यवाही आरम्भ कर दी और यहूदियों ने अपने उद्देश्य को सफल बनाने के घोर हिंसा के कार्य शुरू किये। मार्च १९४८ में सुरक्षा परिषद् ने इस समस्या के समाधान के लिए सं० रा० अमेरिका का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि पेलेस्टाइन को अस्थायी रूप से न्यास परिषद् के आधीन रखा जाय तथा इस पर विचार करने के लिए जनरल असेम्बली का विशेष अधिवेशन बुलाया जाय।

किन्तु यहूदियों ने न्यास परिषद् के विचार का घोर विरोध किया। इसके बाद

---

११. डलेस—वार ग्रार पीस, पृ० ५८

सुरक्षा परिषद् ने पेलेस्टाइन के अरब और यहूदी सशस्त्र दलों से हिंसा के कार्य फौरन बन्द करने के लिए ७ प्रस्ताव पास किये और यहां शान्ति स्थापित करने के लिए विराम सन्धि आयोग (Truce Commission) नियत किया (२७ अप्रैल १९४८)। जनरल असेम्बली अपने द्वितीय विशेष अधिवेशन (१६ अप्रैल, १९४८) में चार सप्ताह तक विचार के बाद इस विषय में केवल सं० रा० संघ के आधीन एक अस्थायी शासन की व्यवस्था का सुझाव दे सकी और मैण्डेट समाप्त होने से एक दिन पूर्व १४ मई, १९४८ को असेम्बली ने इसकी शान्तिपूर्ण व्यवस्था के लिए एक मध्यस्थ को नियुक्त करने का निश्चय किया। बाद में इस पद के लिए स्वीडन के काउण्ट फाक बर्नाडाट (Count Folke Bernadotte) को चुना गया। इसी दिन पेलेस्टाइन में यहूदियों ने इजराइल राज्य की स्थापना की घोषणा की और सं० रा० अमेरिका ने इसे इतनी जल्दी मान्यता प्रदान की कि सं० रा० संघ में अमेरिका के प्रतिनिधि मण्डल को इसका ज्ञान समाचार-पत्रों से ही हुआ।

इस घटनाचक्र से सारी स्थिति बिल्कुल बदल गई। इज़राइल के राज्य पर चारों ओर से अरब राज्यों ने हमला कर दिया। यह प्रतीत होता था कि नवीन इज-राइल की भ्रूणहत्या हो जायगी। सुरक्षा परिषद् में सं० रा० अमेरिका तथा रूस ने इज़राइल को सहायता देने का प्रस्ताव रखा, किन्तु ग्रेट ब्रिटेन, सीरिया, अर्जण्टायना, कनाडा, चीन तथा बेल्जियम के इस प्रस्ताव पर मतदान से अनुपस्थित रहने के कारण यह पास नहीं हो सका। ११ जून तक इज़राइल की सेनाओं ने अरब सेनाओं को अपनी भूमि से बाहर भगा दिया था।

सुरक्षा परिषद् ने १५ जुलाई को पेलेस्टाइन में युद्ध बन्द कर देने का प्रस्ताव पास किया। १८ जुलाई से यद्यपि युद्ध बन्द हो गया, किन्तु उपद्रव चलते रहे। १७ सितम्बर को बर्नाडाट (Bernadotte) की हत्या कर दी गई, इसके बाद इस पद पर नियुक्त डा० राल्फ बुंचे के प्रयत्नों से दोनों पक्षों में विरामसन्धि हो पाई। जनरल असे-म्बली ने अपने तीसरे अधिवेशन में इस विषय में अन्तिम समझौता कराने के लिए सं० रा० अमेरिका, फ्रांस और टर्की के प्रतिनिधियों का एक **सं० रा० समझौता आयोग** (U. N. Conciliation Commission) नियत किया। इसके सामने इज़राइल से भगाये गए १० लाख अरबों के पुनर्वास तथा अन्य अरब राज्यों के साथ इज़राइल की सीमाओं के निर्धारण तथा जेरुसलम की समस्या हल करने के विकट प्रश्न थे। पर्याप्त समय तक लड़ाई चलने के बाद मध्यस्थता का कार्य सुगम हो गया तथा इजराइल की अपने पड़ोसी राज्यों—मिस्र के साथ **रोडस** की (२४ फरवरी, १९४९), लेबनान के साथ **रासअल नकौरा की** (२३ मार्च), जोर्डन के साथ **रोडस की** (३ अप्रैल) की तथा सीरिया के साथ **मन हनयीम** (२० जुलाई) की सीमा सम्बन्धी सन्धियां होने से इस प्रदेश में शान्ति स्थापित हुई।

इण्डोनीशिया—द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर डचों ने पूर्वी द्वीपसमूह में अपनी सत्ता पुनः स्थापित करनी चाही किन्तु जापानी सेनाओं के आत्मसमर्पण के बाद यहां राष्ट्रीय आन्दोलन बड़ा प्रबल हो गया था और इसने अपना स्वतन्त्र गणराज्य

स्थापित कर लिया था। अब डचों के साथ इसका संघर्ष छिड़ गया। भारत और आस्ट्रेलिया ने सुरक्षा परिषद् का ध्यान इन दोनों पक्षों की लड़ाई की ओर आकृष्ट किया (जुलाई १९४७)। सुरक्षा परिषद् द्वारा नियुक्त की गई सत्कार्य समिति (Good Offices Committee) के प्रयत्नों से अगस्त १९४७ में युद्ध बन्द हो गया और हालैंड तथा गणराज्य ने १७ जनवरी, १९४८ को एक विरामसंधि के समझौते पर सं० रा० अमेरिका के एक जलपोत रैनेविल्ले (Reneville) पर हस्ताक्षर किये, दोनों देशों में स्थायी संधि की वार्त्ता चलने लगी। किन्तु इसी बीच में १८ दिसम्बर को हालैण्ड ने विराम संधि के समझौते को तोड़ते हुए गणराज्य के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया।

इस पर सुरक्षा परिषद् ने हालैण्ड को लड़ाई बंद करने,गणराज्य के प्रधान तथा अन्य राजनीतिक कैदियों को छोड़ने के लिए कहा। २८ जनवरी, १९४९ को सुरक्षा परिषद् ने दोनों पक्षों को सैनिक और छापामार लड़ाई बन्द करने तथा हालैण्ड को १८ दिसम्बर, १९४८ के बाद पकड़े हुए सब राजनीतिक बन्दियों के बिना किसी शर्त के छोड़ने को कहा, १ जुलाई १९४९ तक "संघीय संयुक्त इंडोनीशिया राज्य" की स्थापना करने की सिफारिश की, इसके प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिए सत्कार्य समिति को 'इंडोनीशिया आयोग' में परिवर्तित किया।

डचों ने कुछ समय तक तो इस प्रस्ताव का विरोध किया, किन्तु बाद में अमेरिका के दबाव से २ मार्च, १९४९ को वे हेग में इस विषय में 'गोलमेज सम्मेलन' बुलाने के लिए तैयार हो गए। लम्बी संधिवार्त्ता के बाद डचों ने अपनी सेनाएँ जावा सुमात्रा से हटा लीं। हेग का सम्मेलन २३ अगस्त से २ नवम्बर, १९३९ तक हुआ, इसमें हालैंड और इंडोनीशिया के अतिरिक्त सं० रा० संघ के उपर्युक्त आयोग के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसके परिणामस्वरूप डचों ने इंडोनीशिया को पूरी स्वाधीनता देना स्वीकार किया और २७ दिसम्बर, १९४९ को इसे यह स्वतन्त्रता (Independence) और सर्वोच्च प्रभुता (sovereignty) प्राप्त हुई।

इस मामले में संघ को पूरी सफलता मिली। सुरक्षा परिषद् ने अपनी सिफारिशों, कमेटियों तथा आयोग द्वारा इस समस्या के समाधान में बड़ा सहयोग दिया। यद्यपि हालैण्ड हिन्देशिया को स्वतन्त्रता देने के पक्ष में नहीं था, किन्तु सं० रा० अमेरिका के कारण उसे इसके लिए बाध्य होना पड़ा। उस समय सं० रा० अमेरिका ने हालैण्ड को यह धमकी दी थी कि यदि वह हिन्देशिया को स्वाधीनता नहीं देगा तो वह इसके पुनरुद्धार के लिए दी जाने वाली मार्शल योजना की आर्थिक सहायता बन्द कर देगा। यदि सं० रा० का यह दबाव न होता तो संघ को इतनी सफलता न मिलती।[१२] अरब-एशियाई राज्यों ने इस प्रश्न का समाधान न होने पर इसे जनरल असेम्बली के सामने लाने की धमकी भी दी थी। अतः यह मामला जल्दी सुलझ गया।

स्पेन—अप्रैल १९४६ में पोलैण्ड ने सुरक्षा परिषद् से यह प्रार्थना की कि स्पेन में फ्रांको का शासन फासिस्ट होने के कारण यह पोटसडाम और सानफ्रांसिस्को सम्मे-

---

१२. चार्ल्स श्लीचर—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल रिलेशन्स, पृ० ७०४।

लनों के प्रस्तावों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा (Threat) है। सुरक्षा परिषद् ने पश्चिमी देशों के कथनानुसार इसमें खतरे के स्थान पर राजनैतिक संकट (Political menace) शब्द रखने का सुझाव दिया, रूस ने इस प्रस्ताव को अपने वीटो से रद्द कर दिया। किन्तु जनरल असेम्बली ने इस विषय में यह सिफारिश की कि फ्रांको सरकार को सं० रा० संघ की तथा इसकी सहायक संस्थाओं की सदस्यता से वंचित कर दिया जाय।

बाद में शीतयुद्ध का विकास होने पर सं० रा० अमेरिका को फ्रांको की सद्भावना की आवश्यकता प्रतीत हुई, अतः १९५० में जनरल असेम्बली ने अपनी पहली सिफारिश को रद्द कर दिया। १९५५ में स्पेन को सं० रा० संघ का सदस्य भी बना लिया गया।

कोरफू चैनल (Corfu Channel) विवाद—१९४७ में ग्रेट ब्रिटेन ने सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत की कि अल्बानिया द्वारा कोरफू टापू के पास वाले समुद्र में बिछाई गई एक सुरंग से ब्रिटिश युद्धपोतों को क्षति पहुँची है, तथा नौसैनिकों को चोट लगी है, अल्बानिया को इसकी क्षतिपूर्ति करनी चाहिए। अल्बानिया ने इसके प्रत्युत्तर में यह कहा कि ग्रेट ब्रिटेन ने उसके प्रादेशिक समुद्र में उसकी सर्वोच्चसत्ता का उल्लंघन किया है। अन्त में यह मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले जाया गया और उसने यह निर्णय दिया कि अल्बानिया को २४ लाख डालर का हर्जाना देना चाहिये। अल्बानिया ने यह हर्जाना अभी तक नहीं दिया है।

एंग्लो-ईरानियन तेल विवाद—१ मई, १९५१ को ईरान की सरकार ने 'ईरानी तेल राष्ट्रीयकरण कानून' द्वारा एंग्लो-ईरानियन तेल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इस कम्पनी में अधिकांश हिस्से ब्रिटिश सरकार के थे। अतः उसने यह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में उठाया। ब्रिटेन का यह दावा था कि १९३३ में ईरानी सरकार तथा कम्पनी के बीच हुए समझौते के अनुसार इसका निर्णय मध्यस्थता (Arbitration) के माध्यम से होना चाहिए। ५ जुलाई को न्यायालय ने ईरान को यह आदेश दिया कि वह अन्तिम निर्णय होने तक कम्पनी को कार्य करने दे, किन्तु ईरानी सरकार ने इस आधार पर उसका यह आदेश मानना अस्वीकार कर दिया कि इस विषय में ईरान उसके अधिकारक्षेत्र (Jurisdiction) में नहीं है। इस पर सितम्बर में ब्रिटेन ने सुरक्षा परिषद् से इस मामले को अपने हाथ में लेने की प्रार्थना की, उसने यद्यपि इसे अपनी विचारणीय विषय सूची में ले लिया, किन्तु न्यायालय के निर्णय होने तक इस पर विचार स्थगित रखा। २२ जून को न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि इस विषय में उसका अधिकारक्षेत्र नहीं है, क्योंकि (१) ईरान ने न्यायालय की वैकल्पिक धारा (Optional clause देखिये पृ० २९५) पर हस्ताक्षर करते हुए इसके बाद की संधियों और समझौतों के लिए ही न्यायालय का अधिकार क्षेत्र स्वीकार किया था। १९३३ का तेल कम्पनी का समझौता इसके पहले का है। (२) तेल कम्पनी का समझौता दो राज्यों की संधि नहीं है, किन्तु एक वैयक्तिक कम्पनी को रियायतें प्रदान करने वाला समझौता है।

कोरिया—इसमें सं० रा० संघ ने पहली बार सैनिक कार्यवाही द्वारा शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया था। अतः संघ के इतिहास में इसका असाधारण महत्त्व

है। कोरिया के प्रदेश को जापान ने १९१० में चीन से जीता था। १९४३ के काहिरा सम्मेलन (देखिये पृ० २२७) में स्तालिन ने इस स्थिति को स्वीकार किया था। मई १९४५ में हैरी हापकिन्स तथा स्तालिन के मध्य यह समझौता हुआ था कि इस पर चार शक्तियों—सं० रा० अमेरिका, सोवियत यूनियन, ग्रेट ब्रिटेन और चीन की ट्रस्टीशिप स्थापित की जाय। दिस० १९४५ में मास्को सम्मेलन ने इसे पुष्ट करते हुए "अस्थायी कोरियन लोकतन्त्रीय सरकार" स्थापित करने के लिए सं० रा० अमेरिका और सोवियत रूस का संयुक्त आयोग स्थापित करने का निश्चय किया। मार्च १९४६ में हुई इस आयोग की बैठक में दोनों पक्षों में समझौता असम्भव प्रतीत हुआ। टोकियो द्वारा आत्म-समर्पण करने पर सैनिक सुविधा की दृष्टि से ३८ अक्षांश रेखा से उत्तर में जापानियों ने रूसियों को तथा इसके दक्षिण में अमेरिकनों को समर्पण किया था। यह रेखा शीघ्र ही उत्तरी और दक्षिणी कोरिया का विभाजन करने वाली सुदृढ़ सीमान्त रेखा बन गयी। सितम्बर १९४७ में सं० रा० अमेरिका के विदेश-मंत्री मार्शल ने यह विषय जनरल असेम्बली में रखा। असेम्बली अपनी बैठकों में १९४७ से जून १९५० तक कोरिया के दोनों भागों के एकीकरण के प्रस्ताव करती रही, किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली।

१७ नव० १९४७ को असेम्बली ने सारे देश में एक शासन स्थापित करने वाली कोरिया की राष्ट्रीय असेम्बली का चुनाव करवाने के लिए **'सं० रा० संघ का कोरिया पर अस्थायी आयोग'** (U. N. Temporary Commission on Korea) स्थापित किया। भारत इसका एक सदस्य था, किन्तु इस आयोग को उत्तर कोरिया में नहीं जाने दिया गया। फिर भी इसने दक्षिण कोरिया में चुनाव कराके वहां कोरिया गणराज्य की स्थापना की और सिंगमन री इसका राष्ट्रपति चुना गया। १२ दिस० को असेम्बली ने इसे कोरिया की वैध सरकार माना और उत्तर कोरिया की 'लोकतन्त्रीय जनता कोरिया गणराज्य' की उपेक्षा की। इसके बाद सात सदस्यों का एक आयोग कोरिया के एकीकरण के लिए बनाया गया। एकीकरण का कार्य बड़ा कठिन था। इसमें कम्यूनिस्ट और सिंगमन री दोनों अड़ंगेबाजी कर रहे थे। ३८ अक्षांश की सीमान्त रेखा पर दोनों पक्षों में मुठभेड़ और टक्कर होने लगी तथा २५ जून, १९५० को उत्तर कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया।

कोरिया के सं० रा० आयोग द्वारा यह सूचना पाने पर सुरक्षा परिषद् की आवश्यक बैठक बुलायी गयी। परिषद् ने दोनों पक्षों को फौरन युद्ध बन्द करने तथा सेनाओं को ३८ अक्षांश रेखा तक लौट जाने के लिए कहा। उत्तर कोरिया ने जब सुरक्षा परिषद् के इस कथन की सर्वथा अवहेलना की तो उसने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने के लिए सैनिक कार्यवाही करने का निश्चय किया। उन दिनों सोवियत रूस संघ द्वारा कम्यूनिस्ट चीन को मान्यता न देने के प्रतिवादस्वरूप संघ की सब बैठकों का बहिष्कार कर रहा था। अतः सुरक्षा परिषद् में सं० रा० अमेरिका का कोरिया में सैनिक कार्यवाही का प्रस्ताव २५ जून, १९५० को बड़ी सुगमता से पास हो गया। सुरक्षा परिषद् में इसके पक्ष में नौ वोट आए, यूगोस्लाविया ने वोट नहीं दिया, रूस अनुपस्थित था। इस प्रस्ताव में उत्तर कोरिया की सेना के कार्यों को शान्ति भंग करने वाला

घोषित करते हुए लड़ाई बन्द कर देने को, उत्तरी कोरिया की फौजों को ३८ अक्षांश रेखा के उत्तर में लौट जाने को तथा सं० रा० संघ के सदस्यों को इस प्रस्ताव के क्रियान्वित करने में सहायता देने को कहा गया था। एक दूसरे प्रस्ताव में यह सिफारिश की गयी थी कि "सं० रा० संघ के सदस्य कोरिया के गणराज्य को ऐसी आवश्यक सहायता दें जो सशस्त्र आक्रमण का प्रतिरोध कर सके तथा उस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रख सके।" यह प्रस्ताव सात वोटों से पास हुआ, यूगोस्लाविया तटस्थ रहा, मिस्र और भारत ने वोट में भाग नहीं लिया, सोवियत रूस अनुपस्थित था। ७ जुलाई, १९५० के एक तीसरे प्रस्ताव में इस युद्ध की संयुक्त कमान बनाते हुए सं० रा० अमेरिका को इसका सेनापति निश्चित करने को कहा।

यह युद्ध प्रायः 'संयुक्त राष्ट्रसंघ का युद्ध' कहा जाता है। वस्तुतः यह इसके संरक्षण में संयुक्त राज्य अमेरिका का युद्ध था। जब सं० रा० संघ की सेनायें उत्तर में बढ़ने लगीं तो श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस बात पर बहुत बल दिया कि सं० रा० संघ की सेनायें ३८ अक्षांश से उत्तर में लड़ाई को आगे न बढ़ायें, किन्तु जनरल मैकार्थर अपनी सेनाओं को न केवल कोरिया की उत्तरी सीमा यलू नदी तक किन्तु मंचूरिया तक ले जाना चाहता था, क्योंकि उसके मतानुसार यहीं से उत्तरी कोरिया वालों को सेना और रणसामग्री की कुमुक पहुँच रही थी।

नवम्बर १९५० में कोरिया के युद्ध में कम्यूनिस्ट चीन के 'स्वयं सेवक' भाग लेने लगे। इससे युद्ध की समस्या बहुत गम्भीर हो गई। भारत ने इस समय दोनों पक्षों में समझौता कराने का बड़ा प्रयत्न किया। भारत की प्रेरणा से कम्यूनिस्ट चीन ने इस समस्या को सुलझाने के लिए संघ में अपना प्रतिनिधि भेजने का निश्चय किया। इसने विराम संधि के लिए तीन मांगें रखीं—(१) कोरिया से सब विदेशी सेनाओं की वापिसी। (२) फारमोसा से सं० रा० अमेरिका की सेनाओं की वापिसी और (३) सं० रा० संघ में कम्यूनिस्ट चीन को प्रतिनिधित्व दिया जाना। अमेरिका इन माँगों को मानने को तैयार न था, उसके प्रभाव से १ फरवरी, १९५१ को चीन को कोरिया में आक्रान्ता घोषित किया गया। इससे चीन का विरोध बहुत उग्र हो गया।

एक वर्ष के युद्ध के बाद दोनों पक्षों में विराम संधि की चर्चा चलने लगी। इसमें एक बड़ी बाधा युद्धबन्दियों के प्रत्यावर्तन का प्रश्न था। कम्यूनिस्टों का यह कहना था कि वे आवश्यक रूप से अपने देश को लौटाये जायें, अमेरिका का यह कहना था कि अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी व्यक्ति को जबर्दस्ती उसकी मातृभूमि में लौटाना एक मौलिक मानवीय अधिकार का हनन है। बन्दियों के इस प्रश्न के हल करने में भारत ने बहुत भाग लिया। अन्त में इसके सम्बन्ध में तटस्थ देशों का आयोग बनाने का निश्चय हुआ। भारत के जनरल थिमैया इसके सभापति थे। २७ जुलाई, १९५३ को पानमुन जोन में कोरिया युद्ध की विराम सन्धि पर हस्ताक्षर होने से संयुक्तराष्ट्र द्वारा की गई पहली सैनिक कार्यवाही समाप्त हुई।

कोरिया में सं० रा० संघ की प्रभावशाली और सफल कार्यवाही के अनेक कारण थे। **पहला** कारण इस समय में रूस का जनवरी से अगस्त १९५० तक कम्यूनिस्ट चीन

के प्रश्न के कारण सुरक्षा परिषद् की बैठकों में भाग न लेना था। यदि जून में रूसी प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद् में होता तो वह सैनिक कार्यवाही को अपने वीटो से अवश्य रद्द कर देता। उसके अभाव में ही सुरक्षा परिषद् सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) की यह कार्यवाही कर पाई। **दूसरा** कारण आक्रमण से पहले ही सैनिक निरीक्षकों वाले संयुक्त राष्ट्रसंघ के आयोग की कोरिया में उपस्थिति थी। इससे सुरक्षा परिषद् को प्रामाणिक सूचना बहुत जल्दी मिल गई और वह आक्रमण रोकने का कार्य शीघ्रतापूर्वक कर सकी। **तीसरा** कारण जापान में अमेरिकी फौजों की उपस्थिति और अमेरिका द्वारा सं० रा० संघ को इन फौजों का लड़ने के लिए प्रदान करना था।

कोरिया की घटना ने कई **बड़े महत्त्वपूर्ण परिणाम** उत्पन्न किये—(१) इसने सैनिक कार्यवाही के सम्बन्ध में चार्टर की व्यवस्था में यह संशोधन किया कि इसे ऐच्छिक बना दिया। सुरक्षा परिषद् ने इस कार्य को करने की सदस्यों से सिफ़ारिश की थी, इसका अर्थ यह था कि यह सदस्यों की इच्छा पर था कि वे सैनिक सहायता दें या न दें। भारत ने सेनाएँ नहीं भेजीं, किन्तु घायल सैनिकों की चिकित्सा के लिए डाक्टरी सहायता भेजी। चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णयों का पालन सदस्यों के लिए आवश्यक था किन्तु इस घटना ने उसे जनरल असेम्बली के निर्णयों के समान ऐच्छिक बना दिया। (२) शान्ति के लिए एकता (Uniting for Peace) के प्रस्ताव ने जनरल असेम्बली को शान्ति रक्षा के नवीन अधिकार देते हुए, उसकी प्रतिष्ठा और गौरव में बड़ी महत्त्वपूर्ण वृद्धि की। (३) इसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि सुरक्षा परिषद् में किसी स्थायी सदस्य के कार्यवाही में सम्मिलित न होने और वोट न देने का अर्थ वीटो नहीं है, उसकी अनुपस्थिति परिषद् की कार्यवाही में बाधा नहीं डाल सकती। (४) इसने सं० रा० संघ के सम्बन्ध में इस मौलिक धारणा को भ्रान्त सिद्ध किया कि सैनिक कार्यवाही के प्रभावशाली होने के लिए पांचों स्थायी सदस्यों का सहयोग आवश्यक है। यह कार्यवाही रूस की सहमति के बिना की गई थी। पहले ऐसी कार्यवाही का अधिकार केवल सुरक्षा परिषद् को था, उसके एक भी सदस्य के सहमत न होने के कारण यह कार्यवाही नहीं हो सकती थी, किन्तु अब जनरल असेम्बली $\frac{2}{3}$ बहुमत से इसे कर सकती थी[13] (५) इसने यह भी सिद्ध किया कि सं० रा० संघ की सैनिक कार्यवाही की सफलता उसके सदस्यों के सहयोग पर तथा महाशक्तियों के उत्साह पर अवलम्बित है। इस कार्यवाही की सफलता का एक बड़ा कारण इसमें सं० रा० अमेरिका द्वारा ली जाने वाली दिलचस्पी और प्रयत्न थे।

ट्रीस्टे—इटली के साथ हुई शान्ति सन्धि के अनुसार (देखिये पृ० २३६-७) इसे अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह बनाने तथा सुरक्षा परिषद् द्वारा नियुक्त किये जाने वाले गवर्नर द्वारा इसके शासन की व्यवस्था की गई थी। इस गवर्नर की नियुक्ति तक इसके क्षेत्र अ (Zone A) पर ब्रिटिश, अमेरिकी और फ्रेंच सेनाओं का तथा क्षेत्र ब (Zone B) में यूगोस्लाव सेनाओं के शासन की व्यवस्था की गई थी। १९४८ में पश्चिमी देशों ने

१३. चार्ल्स श्लीचर—एन इंट्रोडक्शन टू इण्टरनेशनल रिलेशन्स, पृ० ७२९-३०

इटली के चुनावों में पश्चिमी गुट का समर्थन करने वालों की शक्ति बढ़ाने के लिए इटली को ट्रीस्टे देने की योजना बनायी। यूगोस्लाविया ने इसका विरोध करते हुए सुरक्षा परिषद् से २८ जुलाई, १९४८ को यह प्रार्थना की कि क्षेत्र अ में पश्चिमी शक्तियों द्वारा लागू की जाने वाली योजना इटली की सन्धि के विरुद्ध है, ट्रीस्टे के स्वतन्त्र प्रदेश की स्वाधीनता को संकट में डालने वाली है, इसे रद्द किया जाए और गवर्नर की नियुक्ति की जाए। इस प्रार्थना पर विचार करने के लिए उसे परिषद् में सात वोट नहीं मिल सके, अतः इस पर विचार नहीं हो सका और गवर्नर की नियुक्ति भी नहीं हुई।

८ अक्टूबर, १९५३ की एक एंग्लो-अमेरिकन घोषणा में क्षेत्र अ का प्रदेश इटली को देने की योजना पुनः प्रकट की गई। इस पर यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने यह धमकी दी कि यदि इटालियन सेनाओं ने क्षेत्र अ पर अधिकार किया तो उसकी सेनाएँ भी इस प्रदेश में चली जाएँगी। इस धमकी का यह प्रभाव हुआ कि ब्रिटिश-अमेरिकन सेनाओं ने क्षेत्र अ को खाली नहीं किया। सोवियत यूनियन ने एंग्लो-अमेरिकन घोषणा की १९४७ की इटालियन शान्ति सन्धि का विरोधी होने के कारण कड़ी निन्दा की और सुरक्षा परिषद् में यह प्रस्ताव रखा कि १९४७ की सन्धि के अनुसार इस प्रदेश में गवर्नर की नियुक्ति की जाय। परिषद् में बड़ा कटु विवाद होने के बाद इस विषय की कार्यवाही को स्थगित कर दिया गया। इस बीच में इटली तथा यूगोस्लाविया की सरकारों ने इस विषय में समझौता करने की इच्छा प्रकट की और अक्टूबर १९५४ में दोनों पक्षों में हुए समझौते के अनुसार क्षेत्र अ इटली को तथा क्षेत्र व यूगोस्लाविया को दे दिया गया।

बर्मा में चीनी सेनायें—१९५३ में बर्मा ने जनरल असेम्बली में यह शिकायत की कि उसके देश में राष्ट्रवादी चीन की विदेशी सेनाएँ घुस आई हैं, ये बर्मा में शत्रुतापूर्ण कार्य कर रही हैं, उनको फौरन बाहर निकाला जाना चाहिये। २३ अप्रैल, १९५३ को असेम्बली ने एक प्रस्ताव में बर्मा में विदेशी सेनाओं की उपस्थिति की निन्दा करते हुए संधिवार्ता द्वारा तथा कुछ राज्यों के सत्प्रयत्नों द्वारा इन्हें बाहर हटाने का प्रस्ताव पास किया तथा सब राज्यों से इन्हें बाहर निकालने में सहायता देने की प्रार्थना की। १९५३–५४ में असेम्बली की बैठकों में बर्मा ने इस प्रश्न को उठाते हुए कहा कि इस विषय में बहुत कम प्रगति हुई है। इस बीच में बर्मा, राष्ट्रवादी चीन, थाईलैण्ड तथा सं० रा० अमेरिका की 'संयुक्त सैनिक समिति' ने बर्मा से चीनी सैनिकों को निकालना शुरू किया और यह समस्या शान्तिपूर्वक हल हो गई।

संयुक्त राज्य अमेरिका के हवाबाज—१० दिसम्बर, १९५४ को कोरिया युद्ध में भाग लेने वाले १५ राष्ट्रों ने संघ के महामन्त्री से प्रार्थना की कि वह चीन द्वारा पकड़े हुए और जासूसी के अपराध में लम्बे कारावास के लिए दण्डित ११ अमेरिकी हवाबाजों की रिहाई का प्रयत्न कराये। इनका यह कहना था कि चीन का यह कार्य कोरिया की विराम सन्धि के समझौते का उल्लंघन है। महामन्त्री डाग हैमरशोल्ड ने ५–१० जनवरी, १९५५ को पेकिंग में चौ-एन-लाई से इस विषय में वार्त्तालाप किया और बाद में इस समस्या से सम्बद्ध महाशक्तियों के साथ भी बातचीत की। परिणामस्वरूप अप्रैल में सं० रा० अमेरिका ने कुछ चीनी विद्यार्थियों को स्वदेश लौटने दिया, मई में फारमोसा

जलडमरूमध्य में नौसैनिक कार्यवाही बन्द कर दी गई, और सं० रा० अमेरिका के लड़ाकू हवाई जहाजों के पेकिंग द्वारा बन्दी बनाये गए चार चालक मुक्त कर दिये गए। ४ अगस्त, १९५५ को ११ अमेरिकी हवाबाज भी पेकिंग ने छोड़ दिए। यह कार्य मुख्य रूप से संघ के महामन्त्री के प्रयास से हुआ था, इसके लिए उसे तथा सं० रा० संघ को अमेरिकी राष्ट्रपति ने विशेष रूप से धन्यवाद दिया।

मोरक्को तथा ट्यूनिस—ये दोनों उत्तरी अफ्रीका में फ्रांस के साम्राज्य का अंग थे। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद इनमें स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रबल हुआ। १३ एशियाई तथा अरब राष्ट्रों ने १९५२ में असेम्बली में ट्यूनिसिया तथा मोरक्को की स्वतन्त्रता का प्रश्न उठाया। फ्रांस ने इसे घरेलू मामलों में हस्तक्षेप बताते हुए इस प्रस्ताव का बड़ा विरोध किया, किन्तु सातवीं तथा आठवीं असेम्बलियों ने इन प्रदेशों में रहने वाले लोगों की स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार को स्वीकार करते हुए दोनों पक्षों से इस विषय में शीघ्र समझौता करने को कहा। १९५४ में फ्रेंच प्रधानमन्त्री मेंदें फ्रांस (Mendes France) ने उदारनीति का श्रीगणेश किया, ३१ जुलाई को उसने ट्यूनिसिया का होमरूल प्रदान किया। ३ जून, १९५५ को पेरिस के साथ नये समझौतों द्वारा ट्यूनिस को १ सितम्बर, १९५५ से पूरी आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई और २० मार्च, १९५५ के प्रोटोकोल द्वारा फ्रांस ने १२ मई, १८८१ की बार्दो की तथा ८ जून, १८८३ की वार्सा की संधियों को रद्द करते हुए ट्यूनिसिया की स्वाधीनता स्वीकार कर ली। २ मार्च, १९५६ को फ्रांस ने एक सन्धि द्वारा मोरक्को पर भी अपने अधिकार का परित्याग किया। १९५६ में इन दोनों को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न—१९४६ में जनरल असेम्बली के पहले ही अधिवेशन में भारतीय प्रतिनिधि ने दक्षिण अफ्रीका के यूनियन में वहाँ की सरकार द्वारा भारतीयों के साथ बरती जाने वाली भेदभाव की नीति तथा १९४६ के **एशियाटिक लैण्ड टेन्योर एण्ड रिप्रेजेण्टेशन एक्ट** की अन्यायपूर्ण तथा अपमानजनक व्यवस्थाओं की ओर असेम्बली का ध्यान आकृष्ट किया और यह कहा कि ये सं० रा० संघ की 'मानवीय समानता और गरिमा' के आदर्श के प्रतिकूल है। दक्षिण अफ्रीका के यूनियन का यह कहना था कि यह विषय विशुद्ध रूप से चार्टर की धारा २ (७) के अनुसार उसका घरेलू मामला है, राष्ट्रसंघ इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। असेम्बली ने इस दलील को स्वीकार न करते हुए यह कहा क्योंकि संघ के दो सदस्यों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध इससे बिगड़ सकते हैं, अतः इस विषय पर संघ विचार कर सकता है। दक्षिण अफ्रीका ने इस प्रस्ताव के आधार पर होने वाले पारस्परिक वार्तालाप में भाग लेना अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसका अर्थ यह होता कि दक्षिण अफ्रीका ने असेम्बली के कथनानुसार चार्टर का उल्लंघन स्वीकार कर लिया है। १९४९ के तीसरे अधिवेशन में असेम्बली ने पुनः इस विषय में एक प्रस्ताव पास किया कि भारत, पाकिस्तान और दक्षिणी अफ्रीका इस विषय में एक गोलमेज सम्मेलन करें और उसमें इस समस्या पर विचार करते हुए चार्टर के सिद्धान्तों और प्रयोजनों तथा मानवीय अधिकारों की सार्वभौम घोषणा का ध्यान रखें (१४ मई, १९४९)। दक्षिण अफ्रीका ने

इस प्रस्ताव को पुनः घरेलू मामले में हस्तक्षेप के आधार पर अस्वीकार कर दिया। फरवरी १९५० में इस सम्मेलन के लिए आरम्भिक वार्त्तालाप की चर्चा भी भंग हो गई। इसी बीच में दक्षिण अफ्रीका में श्वेत तथा अश्वेत जातियों के शहरों में पृथक् क्षेत्रों में रहने का कानून (Group Area Act) १९५० में पास हुआ। असेम्बली ने अपने सातवें अधिवेशन में पास किये प्रस्तावों में इस कानून का प्रयोग स्थगित करने, इस समस्या को सुलझाने के लिए यूगोस्लाविया, क्यूबा और सीरिया के प्रतिनिधियों का सत्कार्य आयोग (Good Offices Commission) बनाने का निश्चय किया तथा दक्षिण अफ्रीका में श्वेत एवं अश्वेत जातियों को पृथक् रखने (Apartheid) की समस्या का अध्ययन करने के लिए एक समिति नियत की। किन्तु दक्षिण अफ्रीका के तीव्र विरोध और दुराग्रह के कारण संघ इस विषय में अब तक प्रस्ताव पास करने के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सका है। पश्चिमी शक्तियां शीतयुद्ध अधिक उग्र होने के कारण अब इस विषय में भारत के पक्ष का पहले जैसी समर्थक नहीं रही हैं। वे दक्षिण अफ्रीका को मास्को के विरुद्ध संघर्ष में अपने साथ बनाये रखना चाहती हैं, एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशवाद के विरुद्ध व्यापक असन्तोष ने भी उन्हें भयभीत कर दिया है। १९५५ में यह स्थिति यहां तक बढ़ गई कि असेम्बली ने दक्षिण अफ्रीका की जातीय भेदभाव की निन्दा के पहले प्रस्ताव रद्द कर दिये। सं० रा० संघ की यह बहुत बड़ी विफलता है।

काश्मीर—१५ अगस्त, १९४७ को भारत का विभाजन होने पर मुस्लिमबहुल किन्तु हिन्दू राजा द्वारा शासित काश्मीर का राज्य भारत और पाकिस्तान के दोनों राज्यों से पृथक् रहा। पाकिस्तान इसे अपना अंग बनाना चाहता था, पहले उसने पाकिस्तान से होकर जाने वाले मार्गों से अनाज, नमक, पेट्रोल आदि भेजना बन्द करके काश्मीर पर पाकिस्तान में सम्मिलित होने के लिए आर्थिक दवाव डाला और इसके निष्फल होने पर उसकी प्रेरणा तथा सहायता से उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त के कबायली (Tribal) लोगों ने २२ अक्टूबर, १९४७ को काश्मीर पर हमला कर दिया। चार दिन में आक्रान्ता बड़ी तेजी से आगे बढ़ते हुए काश्मीर की राजधानी श्रीनगर से ३५ मील दूर बारामूला पहुँच गये। इस परिस्थिति में काश्मीर के राजा ने २६ अक्टूबर, १९४७ को भारत के गवर्नर जनरल माउण्टबेटन से सहायता माँगी और अपने राज्य को भारत में मिलाने की प्रार्थना की। २७ अक्टूबर को भारत सरकार ने राजा की प्रार्थना स्वीकार करते हुए हवाई जहाजों से काश्मीर की रक्षा के लिए अपनी सेना भेजी और युद्ध समाप्ति पर जनमत संग्रह की शर्त के साथ उसे भारत का अंग मान लिया। कबायली आक्रान्ता पाकिस्तान में से होकर काश्मीर पर चढ़ाई कर रहे थे। अतः भारत सरकार ने पाकिस्तान से कबायलियों का मार्ग बन्द करने की प्रार्थना की, शनैः शनैः पाकिस्तान द्वारा इन्हें सहायता देने के प्रमाण मिलने लगे। २२ दिसम्बर, १९४७ को भारत के प्रधानमन्त्री ने पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री को कबायलियों को दी जाने वाली सहायता का विस्तृत विवरण देते हुए इसे बन्द करने की प्रार्थना की और इसका कोई उत्तर न मिलने पर १ जनवरी, १९४८ को भारत ने सुरक्षा परिषद् में चार्टर की धारा ३४, ३५ के अनुसार यह शिकायत की कि पाकिस्तान से सहायता प्राप्त कबायली

आक्रान्ताओं द्वारा काश्मीर में किए जाने वाले युद्ध से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति भंग होने का भय है। अतः सुरक्षा परिषद् पाकिस्तान सरकार के नागरिकों तथा सैनिकों को काश्मीर के आक्रमण में सहायता देने से रोके, आक्रान्ताओं को अपने प्रदेश में से न गुजरने दे और इस आक्रमण को बन्द कराए। पाकिस्तान ने भारत के आरोप का खण्डन करते हुए भारत पर अनेक प्रत्यारोप लगाए और यह कहा कि काश्मीर का भारत में विलय सर्वथा अवैध है।

सुरक्षा परिषद् ने इस समस्या को सुलझाने के लिए २१ अप्रैल, १९४८ को **पाँच सदस्यों का आयोग** (United Nations Commission for India and Pakistan–U. N. C. I. P.) बनाया और इसे भारत में युद्ध बन्द कराने तथा जनमत संग्रह का कठिन कार्य सौंपा। सुरक्षा परिषद् ने अपने एक अन्य प्रस्ताव में इस बात की भी सिफारिश की कि काश्मीर से विदेशी कबायली, पाकिस्तान के नागरिक और बड़ी मात्रा में भारतीय फौजें भी हटा ली जाएँ और भारत द्वारा जनमत संग्रह के लिए भाषण, लेखन, सभा आदि की स्वतन्त्रता का वातावरण तैयार किया जाय।

इस आयोग ने दोनों पक्षों से मिलने और उनके विचार जानने के बाद १३ अगस्त, १९४८ को दोनों सरकारों से युद्ध बन्द करने (Cease-fire) को कहा और समझौता करने के लिए निम्न सिद्धान्तों को आधार रूप में मानने की प्रार्थना की (१) पाकिस्तान अपनी सेनाएँ काश्मीर से हटा ले तथा विदेशी कबायलियों को तथा काश्मीर में सामान्य रूप से न रहने वाले नागरिकों को भी वहाँ से हटवाने का प्रयत्न करे। (२) इस प्रकार सेनाओं द्वारा खाली किये गए प्रदेश का शासन प्रबन्ध स्थानीय अधिकारी आयोग के निरीक्षण में करेंगे। (३) जब आयोग भारत को पाकिस्तान द्वारा उपर्युक्त शर्तों के पूरा करने की सूचना दे तो भारत भी आयोग के साथ किये जाने वाले समझौते के अनुसार अपनी सेनाओं का अधिकांश भाग वापिस हटा ले। (४) अन्तिम समझौता होने तक भारतीय सरकार युद्ध विराम की सीमा के भीतर उतनी ही सेनाएँ रखेगी, जितनी इस प्रदेश में कानून और व्यवस्था को बनाये रखने के कार्य में स्थानीय अधिकारियों को सहायता देने के लिए आवश्यक हों। पाकिस्तान ने इस आयोग को यह सूचित किया कि वह इसे कुछ शर्तों के साथ ही स्वीकार कर सकता है। बहुत लम्बे विचार विमर्श के बाद दोनों पक्षों ने १ जनवरी, १९४९ को युद्ध बन्द करना मान लिया। इस पर कमीशन ने युद्ध विराम (Cease-fire) रेखा पर देखभाल के लिए विभिन्न राष्ट्रों के निरीक्षक नियत कर दिए। जनमत संग्रह के प्रशासन के लिए सं० रा० अमेरिका के फ्लीट एडमिरल श्री चैस्टर निमिट्ज को नियत किया गया। निमिट्ज प्रशासक बनकर यहाँ आये, किन्तु पाकिस्तान और भारत में जनमत संग्रह की शर्तों पर कोई समझौता न हो सका और कुछ महीने बाद निमिट्ज ने जनमत संग्रह के प्रशासक के पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद सुरक्षा परिषद् के कनाडियन सभापति मैकनाटन ने इस समस्या को सुलझाने का विफल प्रयास किया।

२४ फरवरी, १९५० के सुरक्षा परिषद् के प्रस्तावानुसार ५ महीने के भीतर काश्मीर से दोनों पक्षों की सेनायें हटाने के लिए (Demilitarization) आस्ट्रेलिया

हाई कोर्ट के जज सर ओवन डिक्सन (Sir Owen Dixon) को नियत किया गया। मई १९५० में डिक्सन भारत आया, किन्तु अगस्त तक उसे यह विश्वास हो गया कि यह समस्या उससे नहीं सुलझ सकती। डिक्सन ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया कि 'काश्मीर में विरोधी कबायलियों का तथा मई १९४८ में पाकिस्तान की नियमित सेनाओं का प्रवेश 'अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध' था।' किन्तु उसने पाकिस्तान को आक्रान्ता मानते हुए भी काश्मीर से दोनों पक्षों की सेनायें हटाये जाने पर बल दिया। भारत को यह स्वीकार न था, क्योंकि उसके मतानुसार पाकिस्तान की सेनायें काश्मीर पर आक्रमण करने के लिए गई थीं, और उसकी सेनायें काश्मीर सरकार के निमन्त्रण पर उसकी रक्षा के लिए वहाँ पहुँची थीं। दोनों की स्थिति में मौलिक अन्तर था। आक्रान्ता होने के कारण पाकिस्तान की फौजों का काश्मीर से हटाया जाना आवश्यक था, किन्तु भारतीय फौजों को हटाने की आवश्यकता नहीं थी। डिक्सन की अन्तिम योजना समूचे प्रदेश के जनमत संग्रह के स्थान पर इसका विभाजन करने की थी। उसका यह प्रस्ताव था कि जो प्रदेश पाकिस्तानी सेनाओं के अधिकार में है, वह उन्हें दे दिया जाय। भारतीय सेनाओं द्वारा अधिकृत प्रदेश भारत को मिले तथा काश्मीर की घाटी का भाग्य-निर्णय जनमत संग्रह द्वारा हो। जब यह योजना दोनों पक्षों को स्वीकार नहीं हुई तो डिक्सन ने सुरक्षा परिषद् को यह परामर्श दिया कि दोनों पक्षों को स्वयमेव संधि वार्ता द्वारा काश्मीर की समस्या का हल करने को कहा जाय।

अतः डिक्सन की विफलता के बाद इसे लन्दन में ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के प्रधान-मन्त्रियों के सम्मेलन में हल करने के तीन प्रस्ताव रखे गए—(१) जनमत संग्रह से पहले तथा उसके समय में काश्मीर में राष्ट्रमंडल के सदस्य अपनी सेनाएँ रखें। (२) इस समय में भारत और पाकिस्तान दोनों की संयुक्त सेना एक कमान में वहां रहे। (३) इस समय के लिए स्थानीय काश्मीरी व्यक्तियों की एक सेना बनाई जाए। भारत इन तीनों प्रस्तावों से सहमत न था, अतः प्रधानमन्त्री सम्मेलन इस प्रश्न का कोई हल नहीं कर सका।

इस बीच में काश्मीर की सरकार ने यह निश्चय किया कि वहां काश्मीर का नया संविधान बनाने के लिए विधान निर्मात्री परिषद् (Constituent Assembly) के चुनाव कराए जाएं। सुरक्षा परिषद् ने मार्च १९५१ में इस समस्या को सुलझाने के लिए नया मध्यस्थ नियत करने का प्रस्ताव पास किया, ३० अप्रैल को सं० रा० अमेरिका के डा० फ्रैंक ग्राहम (Frank Graham) को इस पद पर नियत किया गया। ग्राहम ने अगले दो वर्ष (१९५१–५३) तक इस समस्या को सुलझाने के अनेक प्रस्ताव रखे। उसके अन्तिम प्रस्ताव में काश्मीर से दोनों पक्षों द्वारा अपनी सेनाएँ हटाने तथा जनमत संग्रह के कार्य का संचालन करने के लिए पाकिस्तान और भारत के क्रमशः ६००० तथा १८००० सैनिक रखने की व्यवस्था थी। ६ नवम्बर, १९५२ को सुरक्षा परिषद् ने इस विषय में एक प्रस्ताव भी पास किया, किन्तु यह दोनों पक्षों को मान्य नहीं था। ग्राहम ने २७ मार्च, १९५३ की अन्तिम रिपोर्ट में इस प्रश्न को डिक्सन की भांति भारत और पाकिस्तान के मध्य सीधी सन्धि-चर्चा द्वारा सुलझाने का सुझाव रखा।

इस सुझाव के अनुसार दोनों देशों के प्रधानमन्त्रियों ने लन्दन (जून १९५३), करांची (जुलाई १९५३) और नई दिल्ली में काश्मीर के सम्बन्ध में वार्त्तालाप किया। १९५३–४ में दोनों प्रधानमन्त्रियों में इस विषय में पत्र व्यवहार चलता रहा। इस बीच में पाकिस्तान ने अमेरिका से सैनिक सहायता प्राप्त करने तथा सं० रा० अमेरिका द्वारा समर्थित मध्य पूर्व तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के सैनिक संगठनों (Military Organisations) में सम्मिलित होने का निश्चय किया। नवम्बर १९५३ में पाकिस्तान का तत्कालीन प्रधान सेनापति और वर्तमान समय में उसका सर्वेसर्वा जनरल अयूब खाँ सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए वाशिंगटन गया। २२ फरवरी, १९५४ को पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री मुहम्मदअली ने यह घोषणा की कि सं० रा० अमेरिका पाकिस्तान को सं० रा० सैनिक सुरक्षा कानून के अन्तर्गत सैनिक सहायता देने को तैयार हो गया है।

इसका काश्मीर की समस्या पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। १ मार्च, १९५४ को लोकसभा में इस पर प्रकाश डालते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा—"सं० रा० अमेरिका के राष्ट्रपति ने कहा है कि पाकिस्तान को दी गई सैनिक सहायता का यदि दुरुपयोग होता है, इससे दूसरे पर हमला किया जाता है तो वह ऐसे आक्रमण को रोकेगा। किन्तु हमें पिछले अनुभव से यह ज्ञात है कि आक्रमण होता है तथा उसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। ६½ वर्ष पूर्व काश्मीर पर भीषण आक्रमण हुआ था, किन्तु सं० रा० अमेरिका ने आज तक उसकी निन्दा नहीं की और हमें यह कहा जाता है कि हम शान्ति बनाए रखने के लिए इस पर आग्रह न करें। सं० रा० अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली सहायता से आक्रमण को प्रोत्साहन देने वाली परिस्थितियों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। ······पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री ने कहा है कि यह सैनिक सहायता काश्मीर की समस्या को सुलझाने में सहायक सिद्ध होगी। यह इस बात की सूचक है कि उसका मन किस प्रकार सोचता है और वह सैनिक सहायता को किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है।"

पाकिस्तान को दी गई सैनिक सहायता ने तथा करांची द्वारा ३० जून, १९५५ को बगदाद पैक्ट में सम्मिलित होने ने सर्वथा नवीन परिस्थितियां उत्पन्न कर दीं। अब महाशक्तियों का शीतयुद्ध (Cold war) भारत के द्वार तक पहुँच गया। काश्मीर के गिलगित आदि सोवियत रूस की सीमा के पास के सैनिक अड्डों में अमेरिका की गहरी दिलचस्पी थी; वह सामरिक कारणों से उन पर अधिकार करना चाहता था। रूस को यह सहन नहीं था, ख्रुश्चेव और बुलगानिन ने अपनी भारत-यात्रा में यह स्पष्ट कह दिया था कि वे काश्मीर को भारत का अविभाज्य अंग समझते हैं। ख्रुश्चेव ने तो श्रीनगर में यहां तक कहा—"आप पहाड़ की चोटी पर खड़े होकर आवाज दीजिए, हम आपकी सहायता के लिए आ जाएंगे"। इन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से तथा काश्मीर की जनता द्वारा निर्वाचित विधान निर्मात्री परिषद् के काश्मीर को भारत में सम्मिलित करने के निश्चय तथा इस विधान को २६ जनवरी, १९५७ से लागू करने के निर्णय से काश्मीर की समस्या का स्वरूप बिल्कुल बदल गया। श्री नेहरू ने १३ अप्रैल, १९५६

के एक भाषण में इसे स्पष्ट करते हुए कहा—"जनमत संग्रह करने का प्रश्न स्पष्ट रूप से इस शर्त के साथ सम्बद्ध था कि पाकिस्तान काश्मीर से अपनी सेनाएँ हटा लेगा। पिछले नौ वर्षों में पाकिस्तान यह शर्त पूरी करने में असमर्थ रहा है। इस बीच में काश्मीर का स्वरूप बिल्कुल बदल गया है और कई नई घटनाएँ हुई हैं। पाकिस्तान को दी जाने वाली अमेरिकी सैनिक सहायता ने इसका स्वरूप बिल्कुल बदल दिया है। क्योंकि अब यदि पाकिस्तानी सेनाएँ काश्मीर की भूमि से निकल कर, सीमा से २०-३० मील के अन्दर अपनी नई किलेबन्दी करती हैं तो भी नई सहायता से उनकी संहारक और मारक शक्ति पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है। पाकिस्तान को मिलने वाली सैनिक सहायता ने और उसकी सैनिक समझौतों की सदस्यता ने काश्मीर में जनमत संग्रह करने के प्रस्ताव के मूल आधार को ही नष्ट कर दिया है।"

२ जनवरी, १९५७ को पाकिस्तान के विदेश-मन्त्री फिरोजखाँ नून ने यह प्रश्न सुरक्षा परिषद् के प्रधान को लिखे गए एक पत्र में इस आधार पर पुनः उठाया कि "दोनों देशों में सीधी सन्धि-चर्चा विफल हो चुकी है, श्रीनगर की विधान परिषद् २६ जनवरी, १९५७ से काश्मीर को भारत का अविभाज्य अंग बनाने वाला नया संविधान लागू कर रही है, भारत के प्रधानमन्त्री ने जनमत संग्रह का विरोध किया है। इससे बड़ी भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई है, अतः इस पर शीघ्र विचार किया जाना चाहिए। १६ जनवरी को सुरक्षा परिषद् ने पिछले ४ वर्ष से खटाई में पड़े रहने वाले इस प्रश्न पर पुनर्विचार आरम्भ किया। इसमें श्री कृष्ण मेनन ने ७ घंटे ४८ मिनट की अपनी विस्तृत एवं प्रभावशाली वक्तृता में भारत का पक्ष बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया, फिर भी १५ फरवरी को पाकिस्तान के समर्थक एंग्लो-अमेरिकन गुट की ओर से चार महाशक्तियों (सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, क्यूबा) का यह प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् में उपस्थित किया गया कि उस महीने के सुरक्षा परिषद् के प्रधान स्वीडन के गुन्नार यारिंग (Gunnar Jarring) भारत और पाकिस्तान जाकर इस समस्या को सुलझाने का प्रयास करें, १५ अप्रैल तक कौंसिल को इस विषय में रिपोर्ट दें और पाकिस्तान के इस सुझाव पर विचार करें कि राज्य के विसैन्यीकरण (Demilitarization) तथा जनमत संग्रह तक संयुक्तराष्ट्र की आपत्कालीन सेना (United Nations Emergency Force) को काश्मीर भेजा जाए। श्री मेनन ने सेना भेजने की व्यवस्था का घोर विरोध किया। सोवियत रूस के प्रतिनिधि सोबोलेव ने १८ फरवरी, १९५७ को कहा कि काश्मीर के प्रश्न का हल वहां की जनता कर चुकी है, यह अब भारत का अविभाज्य अंग है। उसने इस प्रस्ताव से सेना सम्बन्धी व्यवस्थाओं को हटाने का संशोधन रखा। किन्तु उसका संशोधन अस्वीकृत होने पर जब पूरे मूल प्रस्ताव पर वोट लिये गए तो रूस ने अपने वीटो का प्रयोग करते हुए इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया (२० फरवरी)। रूस के निषेधाधिकार द्वारा पहला प्रस्ताव रद्द होने पर २१ फरवरी को सुरक्षा परिषद् में एक दूसरा प्रस्ताव पेश किया, इसमें केवल यारिंग के भारत और पाकिस्तान जाकर इस समस्या को सुलझाने और रिपोर्ट देने की बात थी, सेना भेजने का कोई उल्लेख नहीं था। यह प्रस्ताव १० वोटों से स्वीकार होगया।

यारिंग १४ मार्च को करांची आए और २४ मार्च को दिल्ली। ९ अप्रैल तक दोनों पक्षों से वार्त्तालाप के बाद उन्होंने सुरक्षा परिषद् को यह रिपोर्ट दी कि वह "ऐसे ठोस प्रस्ताव रखने में असमर्थ है, जिनसे इस समस्या का हल हो सके" क्योंकि दोनों देशों में १३ अगस्त, १९४८ के सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के सम्बन्ध में मौलिक मतभेद हैं। यारिंग ने यह भी स्वीकार किया कि पिछले नौ वर्षों में काश्मीर की स्थिति बहुत बदल गई है।

इसके बाद पाकिस्तान ने ५ अगस्त १९५७ को भारत के विरुद्ध काश्मीर के विविध प्रदेशों में सरकार द्वारा हिन्दुओं को बसा कर हिन्दू बहुमत बढ़ाने, जनमत संग्रह को प्रभावित करने, मुसलमानों पर अत्याचार करके उन्हें काश्मीर से भगाने, उनकी सम्पत्ति ज़ब्त करने आदि की अनेक शिकायतें रखीं। सितम्बर, १९५७ से दिसम्बर १९५७ तक इस समस्या पर सुरक्षा परिषद् विचार करती रही और २ दिसम्बर, १९५७ को उसने अपने पास किए हुए प्रस्ताव में इस समस्या को सुलझाने को पुनः डा० फ्रैंक ग्राहम को भारत भेजने का निश्चय किया और दोनों देशों से यह प्रार्थना की कि वे इस स्थिति को बिगाड़ने वाले वक्तव्य न दें और ऐसे कार्य भी न करें, तथा सन्धिवार्त्ता के लिए अनुकूल वातावरण बनाने में सहायता प्रदान करें। भारत के प्रतिनिधि श्री मेनन ने इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा कि हम अपनी आतिथ्य की पुरानी परम्परा के कारण ग्राहम का स्वागत करेंगे, किन्तु भारत किसी भी ऐसे प्रस्ताव को स्वीकार करने को तैयार नहीं है, जिसमें आक्रान्ता पाकिस्तान को अपनी सेनाएँ हटाने के लिए न कहा गया हो। रूस ने भी इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा कि यह पाकिस्तान के हितों का पोषक है और इसमें पहले विफल सिद्ध हो चुके प्रस्तावों का वर्णन है।

इस प्रस्ताव के अनुसार डा० फ्रैंक ग्राहम १२ जनवरी से १५ फरवरी, १९५८ तक भारत और पाकिस्तान में इस समस्या के सम्बन्ध में दोनों सरकारों से बातचीत करते रहे। ३ अप्रैल, १९५८ को प्रकाशित हुई ग्राहम रिपोर्ट में काश्मीर की समस्या के समाधान के लिए निम्नलिखित पाँच सिफारिशें की गई थीं—(१-२) दोनों देशों द्वारा जनता के नाम सन्धि-चर्चा के अनुकूल वातावरण बनाने की तथा युद्ध विराम रेखा को उल्लंघन न करने की घोषणा, (३) काश्मीर से पाकिस्तानी फौजों का हटाया जाना और इनके स्थान पर सं० रा० की सेनाएँ रखना। (४) दोनों सरकारों तथा सं० रा० संघ के प्रतिनिधि के बीच में जनमतसंग्रह कराने की सम्भावना के विषय में वार्त्ता। (५) दोनों देशों के प्रधानमन्त्रियों की जल्दी से जल्दी इस विषय में भेंट। पाकिस्तान की सरकार ने इन सिफारिशों को सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लिया, किन्तु भारत ने इन्हें निम्न कारणों से अस्वीकार कर दिया है—(१) इनमें १३ अगस्त, १९४८ के सं० रा० संघ के भारत-पाकिस्तान आयोग द्वारा पास की गई पाकिस्तानी सेनाओं को काश्मीर से हटाने की व्यवस्था के पाकिस्तान द्वारा पालन न किए जाने के तथ्य की उपेक्षा की गई है। (२) इन सिफारिशों ने आक्रमण करने वाले पाकिस्तान तथा आक्रमण का शिकार बनने वाले भारत को समान स्थिति प्रदान की है। इसके बाद कुछ समय तक सुरक्षा परिषद् इस विषय में मौन रही।

२० अप्रैल, १९६२ को पाकिस्तान के प्रतिनिधि जफरुल्ला खाँ ने इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में पुनः उठाया। सुरक्षा परिषद् अप्रैल, मई और जून १९६२ में इस प्रश्न पर विचार करती रही। २९ जून, १९६२ में आयर्लैण्ड ने सुरक्षा परिषद् में इस विषय में एक प्रस्ताव पेश किया। इस प्रस्ताव में भारत तथा पाकिस्तान को यह स्मरण कराया गया था कि वे सं० रा० संघ के १३ अगस्त, १९४८ के प्रस्ताव के तीसरे भाग अर्थात् जनता की इच्छा जानने के लिए जनमत संग्रह कराने का ध्यान रखें तथा ऐसे कोई कार्य न करें, जिनसे शान्ति को खतरा पैदा हो जाए। भारत के प्रतिनिधि श्री कृष्ण मेनन ने इसका घोर विरोध करते हुए कहा कि काश्मीर भारत का अंग बन चुका है, अतः अब वहां जनमतसंग्रह का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। पाकिस्तान ने जनमतसंग्रह से पहले की शर्त्त को पूरा करते हुए काश्मीर से इस पर आक्रमण करने वाली अपनी सेनाओं को नहीं हटाया, उनके हटने से पहले जनमतसंग्रह नहीं हो सकता। उसने काश्मीर में अपनी सेनाएँ बढ़ाकर और इन्हें वापिस न बुलाकर सं० रा० संघ के उपर्युक्त प्रस्ताव का उल्लंघन किया है। आयर्लैण्ड के इस भारत विरोधी प्रस्ताव को सोवियत संघ ने अपने निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करते हुए रद्द कर दिया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सुरक्षा परिषद् पिछले १६ वर्ष में काश्मीर की समस्या हल नहीं कर पाई क्योंकि उसका एंग्लो-अमेरिकन गुट पाकिस्तान को आक्रान्ता मानकर उसे रुष्ट करते हुए उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं करना चाहता।

स्वेज नहर—स्वेज की समस्या को भली भाँति समझने के लिए इसकी पृष्ठभूमि का परिचय आवश्यक है। स्वेज की नहर भूमध्यसागर को रक्तसागर से जोड़ती है, योरोप से पूर्व जाने वाले मार्ग को ४००० मील छोटा बनाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और राजनीति में असाधारण महत्त्व रखने वाली इस नहर को एक फ्रेंच कम्पनी (The Compagnie Universelle du Canal Maritime de Suez) ने २५ अप्रैल १८५९ में बनाना शुरू किया था, १७ नव० १८६९ को इसका उद्घाटन हुआ। इस कम्पनी के मिस्र के तत्कालीन शासक खदीव के साथ हुए समझौते के अनुसार कम्पनी को इस नहर का ठेका १७ नव० १९६९ तक मिला, इसके बाद यह मिस्र की सम्पत्ति हो जानी थी। इस कम्पनी की पूंजी में पहले अधिकांश हिस्से फ्रांस के थे, ब्रिटेन ने इसे अपने साम्राज्य का महत्त्वपूर्ण सामरिक मार्ग समझते हुए १८७५ में इसके आधे हिस्से खरीद लिए। इस नहर से होने वाली आय का १५% मिस्र को तथा ७५% हिस्सेदारों को मिलता था। २९ अक्टू० १८८८ को कुस्तुन्तुनिया में इस नहर की स्थिति के सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली, आस्ट्रिया, हंगरी, रूस, स्पेन, हालैण्ड और टर्की में एक समझौता (Convention) हुआ, इसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि यह नहर शांति एवं युद्ध दोनों कालों में व्यापारिक तथा जंगी जहाजों के लिए खुली रहेगी और इसमें कोई स्थायी किलेबन्दी नहीं की जाएगी। प्रथम विश्वयुद्ध में यह नहर इसी प्रकार खुली रही। नहर यद्यपि मिस्री प्रदेश में से होकर गुजरती है, किन्तु इसकी रक्षा के लिए १९२२ में मिस्र के स्वाधीन होने पर भी ब्रिटिश सेनाएँ रहती थीं और एबीसीनिया पर इटली के चढ़ाई के समय २६ अगस्त, १९३६ को ग्रेट ब्रिटेन तथा मिस्र में

हुई सन्धि के अनुसार मिस्र ने ग्रेट ब्रिटेन को नहर के प्रदेश में सेनाएँ रखने का अधिकार दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटिश सेनाएँ उपर्युक्त सन्धि के अनुसार इस प्रदेश की रक्षा करती रहीं।

द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने पर मिस्र में राष्ट्रीयता का आन्दोलन प्रबल हुआ, ब्रिटिश सेनाओं की उपस्थिति को देश के आत्मगौरव, सर्वोच्च सत्ता तथा प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझा गया। २६ नव० १६५० को मिस्र के राजा फारूक ने १६३६ की एंग्लो-मिस्र सन्धि रद्द करने की, स्वेज नहर के क्षेत्र को ब्रिटिश फौजों द्वारा फौरन खाली किए जाने तथा मिस्री शासन और सूडान की एकता की माँग की। ब्रिटिश विदेश-मन्त्री अर्नेस्ट बेविन ने इसका यह उत्तर दिया कि वह मध्यपूर्व के प्रदेश को अरक्षित नहीं छोड़ सकता, सन्धि का संशोधन पारस्परिक सहमति के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकता, स्वेज नहर से ब्रिटिश फौजें एकदम नहीं हटाई जा सकतीं।

किन्तु ८ अक्टू० १६५१ को मिस्री प्रधान मन्त्री नहसपाशा ने १६३६ की सन्धि तथा १८६६ के सूडान के मिस्र और ब्रिटेन द्वारा संयुक्त शासन (Condominium) के समझौते की निन्दा करते हुए मिस्री पार्लियामेंट में मिस्र के राजा फारूक को सूडान का शासक बनाने की घोषणा की और पार्लियामेंट के एक आदेश (Decree) द्वारा स्वेज नहर के क्षेत्र में ब्रिटिश सेनाओं के अधिकारों की समाप्ति की। इस पर ब्रिटेन ने यह कहा कि मिस्र द्वारा १६३६ की **एंग्लो-मिस्री सन्धि** के एक पक्ष द्वारा रद्द करने का कोई कानूनी महत्त्व नहीं है, उसका स्वेज नहर के क्षेत्र में रहने वाली ब्रिटिश सेनाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, वे वहां उस समय तक बनी रहेंगी, जब तक कि १६३६ की सन्धि का स्थान लेने वाला कोई नया समझौता नहीं हो जाता और सूडान की स्थिति में परिवर्तन करने से पहले सूडानियों से परामर्श करना आवश्यक है। ब्रिटेन ने मध्य पूर्व की रक्षा के लिए चार महाशक्तियों (ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका, फ्रांस, टर्की) के सम्मेलन का प्रस्ताव रखते हुए इसमें मिस्र को भी बुलाया, किन्तु मिश्र ने इसे अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप न समझते हुए अस्वीकार कर दिया।

बड़ी लम्बी सन्धि-चर्चा के उपरान्त काहिरा में २७ जुलाई, १६५४ को हुई सन्धि के अनुसार २० जून, १६५६ तक ब्रिटेन ने स्वेज क्षेत्र से अपने ८,००० सैनिक हटाकर इस प्रदेश को खाली करना स्वीकार कर लिया, किन्तु यदि मिस्र पर टर्की या किसी अन्य राज्य का आक्रमण हो तो ब्रिटिश सेनाएँ इस क्षेत्र में पुनः आ सकती थीं, स्वेज नहर को मिस्र का अविभाज्य अंग तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का मार्ग स्वीकार किया गया, और दोनों पक्षों ने १८८८ के समझौते के अनुसार नहर में नौ चालन (Navigation) की स्वतन्त्रता की गारण्टी के पूर्ण पालन का दृढ़ निश्चय प्रकट किया।

इस समय मिस्र में कर्नल नासिर का शासन था। वह पश्चिमी साम्राज्यवाद और प्रभुता का कट्टर विरोधी था, अपने देश की दरिद्रता को दूर करने के लिए नील नदी पर आस्वान में बड़ा बांध बनाना चाहता था, इसके लिए अपेक्षित विशाल धनराशि उसे पश्चिम से प्राप्त हो सकती थी, किन्तु जब उसके पश्चिम-विरोधी तथा रूस-पक्षपाती रुख के कारण पश्चिमी देशों ने उसे यह राशि देने से इन्कार किया तो उसने स्वेज नहर

का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) करके इससे मिस्र के विकास के लिए यह राशि प्राप्त करने का निश्चय किया। नासिर के कथनानुसार स्वेज नहर का १ अरब डालर का मुनाफा प्रतिवर्ष कम्पनी के ब्रिटेन, फ्रांस और योरोप के हिस्सेदारों को चला जाता था।[१४] इस विशाल धन प्रवाह को मिस्र वासियों के कल्याण में लगाने के उद्देश्य से नासिर ने २६ जुलाई, १९५६ को स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की तथा मिस्र में स्वेज नहर कम्पनी की सम्पत्ति को जब्त (freeze) कर लिया।

ब्रिटेन और फ्रांस के लिए यह अनभ्र वज्रपात था। उन्होंने मिस्र से इसका तीव्र प्रतिवाद करते हुए इस कार्य को १८८८ के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का उल्लंघन बताया। जब मिस्र ने इन प्रतिवादों की परवाह न की तो लन्दन में ब्रिटेन ने २२ राष्ट्रों का एक सम्मेलन अगस्त में बुलाया। इसमें सं० रा० अमेरिका के विदेश-मन्त्री डलेस ने स्वेज नहर विवाद को सुलझाने के लिए एक योजना रखी। इसका मूल सिद्धान्त १८८८ के समझौते की भूमिका में प्रतिपादित इस नहर को सब देशों के लिए युद्ध और शान्तिकाल में समान रूप से सदा खुला रखने की नीति थी, इस नहर पर मिस्र की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार किया गया तथा नहर का कार्य चलाने के लिए एक **अन्तर्राष्ट्रीय स्वेज नहर बोर्ड** की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया, इस बोर्ड को अपने कार्यों की रिपोर्ट समय-समय पर सं० रा० संघ को देनी थी, तथा इसे कार्य करने के लिए पूरे अधिकार मिस्री सरकार ने प्रदान करने थे। इस विषय में भारत की योजना डलेस योजना से भिन्न थी। इस नहर पर मिस्र की सर्वोच्च सत्ता का तथा इसे सदा खुला रखने का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भौगोलिक प्रतिनिधित्व के आधार पर स्वेज नहर का उपयोग करने वाले देशों की एक **परामर्शदात्री संस्था** बनाने की थी। श्री कृष्ण मेनन ने डलेस योजना का विरोध करते हुए कहा था—"स्वेज नहर मिस्र की है। इस पर अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना का अर्थ नए साइन बोर्ड के साथ स्वेज नहर कम्पनी का पुनरुज्जीवन है।" किन्तु १७ देशों ने डलेस योजना का समर्थन किया। जब यह नासिर के पास भेजी गई तो उसने नहर के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की यह योजना ठुकरा दी। इस पर १२ सितम्बर, १९५६ को ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि ब्रिटेन, फ्रांस तथा अमेरिका स्वेज नहर में से गुजरने वाले यातायात का उत्तरदायित्व लेने के लिए इसका उपयोग करने वालों का संघ (Users Association) स्थापित कर रहे हैं।

मिस्र द्वारा स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न विवाद को ब्रिटेन और फ्रांस सुरक्षा परिषद् में ले गए। १३ अक्टूबर, १९५६ को सुरक्षा परिषद् ने इस विषय में सर्वसम्मति से दो हिस्सों वाले एक प्रस्ताव का केवल पहला भाग पास किया। इसमें स्वेज नहर विवाद में संधि-चर्चा के लिए निम्नलिखित आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन था—(१) नहर बिना किसी भेदभाव के सबके लिए समानरूप से खुली रहेगी। (२) इसमें मिस्र की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की जाएगी। (३) नहर के संचालन को सब देशों की राजनीति से पृथक् रखा जाएगा, (४) नहर में जहाजों से ली जाने वाली चुंगी तथा

१४. करंजिया—अरब डान, पुस्तकालय संस्करण, पृ० ३९

अन्य कर मिस्र तथा इसके उपयोगकर्त्ताओं के बीच होने वाले समझौते से निश्चित किए जाएँगे। (५) नहर से होने वाली आमदनी का काफी हिस्सा इसके विकास में व्यय किया जाएगा। (६) स्वेज़ कम्पनी तथा मिस्री सरकार के बीच होने वाले विवादों का निर्णय मध्यस्थता (Arbitration) द्वारा किया जाएगा। इस प्रस्ताव के दूसरे भाग में स्वेज़ नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की संस्था वाली डलेस योजना का वर्णन था। सोवियत रूस ने ७८वीं बार सुरक्षा परिषद् में अपने वीटो का प्रयोग करते हुए इस भाग को रद्द कर दिया और नहर पर इस बहाने से अधिकार पाने की एंग्लो-फ्रेंच योजना विफल हो गई।

अब लन्दन और पेरिस मिस्र में हस्तक्षेप का अवसर ढूँढने लगे ताकि वे स्वेज़ नहर पर पुनः स्वत्व स्थापित कर सकें। २६ अक्टूबर, १९५६ को इज़रायल ने अपने पुराने शत्रु मिस्र पर संभवतः इनकी सलाह या प्रेरणा से, बिना किसी उत्तेजना के सहसा आक्रमण कर दिया। ३० अक्टूबर को ब्रिटेन और फ्रांस ने मिस्र को एक अल्टीमेटम देते हुए कहा कि वह अपनी सेनाएँ स्वेज़ से १० मील पश्चिम में हटाले। जब नासिर ने इस अल्टीमेटम को रद्द कर दिया तो ३१ अक्टूबर को फ्रांस और ब्रिटेन ने स्वेज़ के प्रदेश पर अधिकार करने के उद्देश्य से पोर्ट सय्यद पर हमला कर दिया। इसी दिन सुरक्षा परिषद् में सब राष्ट्रों से मिस्र में सेना का प्रयोग न करने की प्रार्थना करने वाला प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के वीटो के कारण पास नहीं हो सका।

१ नव० १९५६ से आरम्भ होने वाले असेम्बली के पहले विशेष अधिवेशन में इस पर बड़ा कटु तथा उग्र विवाद हुआ। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने अपने कार्य की तुलना कोरिया में अमेरिका द्वारा की गई कार्यवाही से की।

२ नव० १९५६ को सं० रा० की जनरल असेम्बली ने सं० रा० अमेरिका का एक प्रस्ताव प्रबल बहुमत से स्वीकृत किया, इसमें स्वेज़ नहर के प्रदेश में ब्रिटिश, फ्रेंच तथा इजरायली सैनिक कार्यवाही पर गम्भीर चिन्ता प्रकट की गई थी और अविलम्ब युद्ध बन्द कर देने पर बल दिया गया था। ४ नवम्बर को असेम्बली ने कनाडा का यह प्रस्ताव पास किया कि संघ के महामन्त्री डाग हैमरशोल्ड मिस्र में लड़ाई बन्द करने तथा युद्धविराम की देखभाल के लिए सं० रा० संघ की एक आपत्कालीन सेना (United Nations Emergency Force) की योजना प्रस्तुत करें। इस पर दस देशों के सैनिक दस्तों से बनी अन्तर्राष्ट्रीय सेना के ६,००० सैनिक मिस्र में सं० रा० संघ की अध्यक्षता में शान्ति स्थापित करने भेजे गए।

५ नव० को रूस ने फ्रांस और ब्रिटेन को यह चेतावनी दी कि सं० रा० संघ के अन्य सदस्यों के साथ वह मध्यपूर्व में शान्ति स्थापित करने और आक्रमण रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा। इसका फौरन प्रभाव पड़ा। फ्रांस और ब्रिटेन रूस तथा सं० रा० अमेरिका के संयुक्त विरोध में कोई लड़ाई नहीं लड़ सकते थे। अतः इसी दिन डाग हैमरशोल्ड ने संघ को यह शुभ समाचार दिया कि ६–७ नव० को मध्य-रात्रि में एंग्लो-फ्रेंच फौजें युद्ध बन्द कर देंगी। ७ नव० को सं० रा० संघ की असेम्बली ने एशिया-अफ्रीका के देशों का यह प्रस्ताव पास किया कि ब्रिटिश, फ्रेंच और इजरायली सेनाएँ मिस्र की

भूमि से हट जाएँ, स्वेज़ नहर के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस स्थापित की जाए। सात सदस्यों (ब्राजील, कनाडा, श्रीलंका, कोलम्बिया, भारत, नार्वे और पाकिस्तान) की एक समिति अन्तर्राष्ट्रीय सेना के आयोजन के लिए बनाई गई। १५ नवम्बर को इस सेना (U. N. E. F.) का पहला दस्ता मिस्र पहुँच गया।

२४ नवम्बर को जनरल असेम्बली ने पुनः ब्रिटिश, फ्रेंच और इज़रायली फौजों के तत्काल मिस्र से हट जाने का प्रस्ताव पास किया। २२ दिसम्बर तक ब्रिटेन और फ्रांस ने भारी कलंक कालिमा के साथ मिस्र से अपनी फौजें हटालीं। किन्तु इजरायल ने गाजा की पट्टी तथा शर्मल-शेख क्षेत्र से अपनी सेनायें हटाने से इंकार किया। १६ जनवरी तथा २ फ० १६५७ को असेम्बली ने इजरायल द्वारा फौजें हटाने के तथा महामंत्री को इस प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के दो अन्य प्रस्ताव पास किये। इज़रायल ने इनका भी पालन नहीं किया। इसके बाद छः शक्तियों ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि "सब राज्य इज़रायल को सैनिक तथा आर्थिक सहायता देना बन्द कर दें।" इस पर पहली मार्च १६५७ को इज़रायल ने कुछ शर्तों के साथ सेनायें हटाना स्वीकार किया और ७ मार्च तक सब सेनायें मिस्र से हटा ली गयीं।

मिस्र में युद्ध बन्द करने तथा विदेशी सेनायें हटाने में सं० रा० संघ को पूरी सफलता मिली। इसका प्रधान कारण यह था कि विश्व की दो महाशक्तियां—रूस और सं० रा० अमेरिका इस युद्ध को बन्द करना चाहती थीं। इस घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि महाशक्तियों का सहयोग संघ की सब कार्यवाहियों को सफल बना सकता है। युद्ध के दिनों में स्वेज़ की नहर को जहाज डुबाकर नौचालन के लिए सर्वथा निकम्मा बना दिया था। संघ ने १५ करोड़ रुपये की प्राविधिक सहायता (Technical assistance) से इसे साफ करके शीघ्र ही नौचालन योग्य बना दिया गया।

हंगरी—मध्य योरोप के इस छोटे से देश में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत ढंग का संविधान बना और १८ अग० १६४६ को यहां सोवियत पक्षपाती 'जनता का गणराज्य' स्थापित हुआ। २३ अक्टूबर १६५६ को यहां स्तालिन विरोधी क्रान्ति हुई। १ नव० को इमरे नेगी (Imre Nagy) ने नई संयुक्त सरकार बनाई, वारसा पैक्ट (देखिये अगला अध्याय) का परित्याग किया और सं० रा० संघ से अपनी तटस्थता की रक्षा करने की प्रार्थना की। इस बीच में आपसी मतभेदों के कारण प्रधानमंत्री नेगी के मुख्य सहायक तथा रूस के पक्षपाती जानोस काडार (Kadar) ने हंगेरियन क्रान्तिकारी मजदूरों और किसानों की एक नई सरकार बनाई और इसने विद्रोहियों को दबाने के लिए सोवियत यूनियन से सेनाओं की सहायता माँगी। इसके उत्तर में ४ नव० को रूसी सेनाओं ने हंगरी में प्रवेश किया, इमरे नेगी का अपहरण किया (२२ नव०), यहां सैनिक त्रास और शासन स्थापित हुआ, २ लाख हंगेरियनों को इन उपद्रवों और सैनिक अत्याचारों में अपने देश से बाहर भागना पड़ा[१५]। जब सोवियत सेनायें हंगरी की राजधानी बुडापैस्ट की ओर बढ़ रही थीं तो इमरे नेगी ने सुरक्षा परिषद् से अपने देश की रक्षा की प्रार्थना की। ४ नव०

---

१५. स्टेट्स मैन यीअर बुक १६५८, पृ० ११०६

१९५६ को सुरक्षा परिषद् में सं० रा० अमेरिका ने यह प्रस्ताव रखा कि यह परिषद् रूस को हंगरी में सोवियत सेनाओं के सशस्त्र हस्तक्षेप करने से रोकने को और उसे अपनी सेनाओं को हंगरी से जल्दी से जल्दी बुला लेने को कहे। रूस ने जब सुरक्षा परिषद् में इस प्रस्ताव को अपने वीटो द्वारा रद्द कर दिया तो सं० रा० अमेरिका ने जनरल असेम्बली का विशेष अधिवेशन बुलवाया। इसमें ९ नवम्बर, १९५६ को यह प्रस्ताव रखा गया कि रूस हंगरी से अपनी सेनाएँ हटाले, ताकि वहां सं० रा० संघ की अध्यक्षता में स्वतन्त्र चुनाव हो सकें। सोवियत रूस ने इसका बड़ा विरोध किया, उसका यह कहना था कि हंगरी की सरकार के निमन्त्रण पर उसकी फौजें वहां गई हैं, सोवियत प्रतिनिधि शेपीलोव ने १९ नवम्बर, १९५६ को जनरल असेम्बली में अपनी सरकार का दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए कहा—"हमें इस बात का ध्यान रखना है कि हंगरी की सीमा सोवियत यूनियन के साथ लगी हुई है, हंगरी ने रूस के साथ पारस्परिक सहायता और सहयोग की वारसा की संधि की हुई है। हंगरी में यदि प्रतिगामी शक्तियों की विजय होती है तो वे इसे न केवल सोवियत यूनियन के विरुद्ध अपितु पूर्वी योरोप के अन्य देशों के विरुद्ध भी हमला करने का अड्डा बना लेंगे।" सोवियत रूस के विरोध के बावजूद दो तिहाई बहुमत वाले नियम से जनरल असेम्बली ने हंगरी के सम्बन्ध में दस प्रस्ताव पास किये।

इन प्रस्तावों में निम्न बातों पर बल दिया गया था—सोवियत रूस के सैनिक हस्तक्षेप का विरोध, हंगरी जाकर वहां की परिस्थिति का निरीक्षण और अन्वेषण, हंगरी की जनता के लिए सहायता का आयोजन, हंगरी से भागकर आने वाले शरणार्थियों की मदद। १२ दि० १९५६ को एक प्रस्ताव में असेम्बली ने रूस की इसलिए निन्दा की कि उसने "हंगरी की स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का अपहरण करके, हंगेरियन जनता के मौलिक अधिकारों के उपयोग में बाधा डालकर चार्टर का उल्लंघन" किया है। हंगरी की स्थिति का निरीक्षण करने के लिए वहां निरीक्षकों को तथा महामन्त्री को भेजने का निश्चय किया गया। १० जनवरी, १९५७ को असेम्बली ने इस स्थिति के अन्वेषण के लिए पाँच सदस्यों (डेनमार्क, आस्ट्रेलिया, सीलोन, ट्यूनिसिया, यूरेगुए) की एक विशेष समिति बनाई। किन्तु इसे हंगरी में प्रवेश की आज्ञा नहीं मिली। इसने हंगरी से भाग कर आये सौ व्यक्तियों से न्यूयार्क, रोम, वियना, लन्दन आदि में भेंट की। इनकी जांच के आधार पर अपनी रिपोर्ट में सोवियत रूस को हंगरी में हस्तक्षेप का दोषी ठहराया (२० जून, १९५७)। हंगरी की सरकार ने इस रिपोर्ट को "देशद्रोही शरणार्थियों, और अपराधियों की गवाहियों पर आधारित झूठों का पुलिन्दा" बताया तथा इसे अपने घरेलू मामले में संघ का अनुचित हस्तक्षेप कहा। असेम्बली ने अपने ११ वें अधिवेशन में १४ सि० १९५७ को रूस के हस्तक्षेप की निन्दा का एक और प्रस्ताव ६० वोटों के बहुमत से पास किया। किन्तु हंगरी पर इसका कोई क्रियात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। रूस के विरोध के कारण संघ को इस मामले में कोई सफलता नहीं मिली।

किन्तु सं० रा० अमेरिका संघ में हंगरी का प्रश्न बार-बार उठाता रहता है। १० के विरुद्ध ५४ वोटों के बहुमत से १९५९ में संघ की जनरल असेम्बली ने हंगरी के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास करते हुए इमरे नेगी (Imre Nagy), जनरल पातमलेटर तथा अन्य

हंगेरियन देशभक्तों को प्राणदण्ड दिए जाने की निन्दा की, सोवियत सशस्त्र सेनाओं की उपस्थिति में "हंगेरियन जनता के मौलिक अधिकारों के दमन" की भर्त्सना की, हंगरी तथा सोवियत यूनियन द्वारा संघ के पहले पास किए हुए प्रस्तावों की अवज्ञा करने पर खेद प्रकट किया, हंगरी के सम्बन्ध में नियुक्त की गई विशेष समिति की रिपोर्ट का समर्थन किया तथा न्यूजीलैण्ड के सर लेस्ली मनरो को यह कार्य सौंपा कि वे हंगरी पर संघ के प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के सम्बन्ध की घटनाओं पर संघ को रिपोर्ट देते रहें।

अल्जीरिया—यह उत्तरी अफ्रीका में फ्रांस का उपनिवेश था। फ्रांस ने १८३० में इस प्रदेश पर अधिकार किया। १८४८ में एक घोषणा द्वारा इसे फ्रांस की भूमि का अङ्ग बना दिया गया। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हजारों फ्रेंच तथा योरोपियन लोग यहां आकर बसने लगे। इससे पहले यहां मुसलमान धर्म मानने वाली स्थानीय बर्बर (Berber) और अरब जातियां बसी हुई थीं। योरोपियनों के बसने से अफ्रीकनों की संख्या कम होने लगी तथा मुसलमानों को द्वितीय श्रेणी का नागरिक समझते हुए इनको दूसरे दर्जे का नागरिक माना जाने लगा, इनके साथ हीन व्यवहार किया जाने लगा। इससे इनमें असन्तोष की भावना प्रबल हुई। ये फ्रेंच प्रभुता से स्वतन्त्र होने का यत्न करने लगे।

१ नवम्बर, १९५४ को अल्जीरियनों ने फ्रेंच साम्राज्यवाद के विरुद्ध जिहाद छेड़ दिया। इस संघर्ष में छः वर्ष में १३,००० फ्रेंच तथा १,४५,००० अल्जीरियन मर गये। साठ करोड़ डालर व्यय हुआ। यह फ्रांस के लिए कुछ वर्ष पहले सबसे बड़ी समस्या थी। इस समस्या का मूल कारण यह था कि अल्जीरिया में रहने वाले दस लाख योरोपियन (इन्हें यहां Colons कहा जाता है) ९० लाख मुसलमानों की प्रभुता में नहीं जाना चाहते थे। ये फ्रांस के साथ सम्बन्ध बनाये रखने के प्रबल पक्षपाती थे, इनके कारण फ्रांस में १० मन्त्रिमण्डल बदले, इसने मई १९५८ में गृहयुद्ध की स्थिति उत्पन्न की। इसी से जनरल डी गाल सत्तारूढ़ हुआ तथा पाँचवां फ्रेंच गणराज्य स्थापित हुआ।

अल्जीरिया के स्वतन्त्रता आन्दोलन से सहानुभूति रखने वाले एशिया-अफ्रीका के देशों ने पिछले पाँच वर्षों में सं० रा० संघ में इस प्रश्न को बार-बार उठाने का प्रयत्न किया है। किन्तु फ्रांस का यह मत है कि यह उसका घरेलू मामला है क्योंकि अल्जीरिया फ्रांस के प्रदेश का अंग है। घरेलू मामला होने के कारण, चार्टर की धारा २ के अनुसार संघ में इस विषय पर विचार नहीं हो सकता। वह १९५५ से संघ की ऐसी कार्यवाही का बहिष्कार करता रहा। फ्रेंच विदेश-मन्त्री मो० कूव-द-मुरविल (Cowe de Murville) ने १८ सितम्बर, १९५९ को यह घोषणा की थी कि इस प्रकार का विचार 'निष्फल और असामयिक है।'

किन्तु एशिया अफ्रीका के देश अल्जीरिया की समस्या को हल करने के लिए संघ में निरन्तर प्रस्ताव लाते रहे। ८ दिसम्बर, १९५९ को ट्यूनिसिया के मो० मोंगीस्लिम का इस विषय में एक प्रस्ताव संघ की राजनीतिक समिति ने स्वीकार कर लिया। इसमें 'अल्जीरिया की जनता का स्वतन्त्रता का अधिकार' मानते हुए यहां युद्ध जारी रहने पर गम्भीर चिन्ता व्यक्त की गई थी, यह घोषणा की गई थी कि अल्जीरिया में वर्तमान स्थिति बनी रहने पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरा है; अन्त में

दोनों पक्षों से यह प्रेरणा की गई कि वे चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार इस विषय में शीघ्र ही किसी समझौते पर पहुँचने का प्रयत्न करें। जनरल असेम्बली में १३ दिसम्बर, १९५९ को इस पर वोट लिए गए, पक्ष में ३५, विपक्ष में १८ तथा तटस्थ २८ वोट थे। इसके पास होने के लिए सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत (३५ वोट) आवश्यक था, अतः एक वोट की कमी से यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं हो सका।

१९६० में २१ अफ्रेशियाई देशों ने १० दिसम्बर को राजनीतिक समिति में यह प्रस्ताव रखा कि सं० रा० संघ की अध्यक्षता में जनमतसंग्रह (Referendum) करा कर अल्जीरिया के प्रश्न का समाधान कराया जाय। १ जुलाई, १९६२ को अल्जीरिया में जनमतसंग्रह हुआ और उसने स्वतन्त्र होने का निर्णय किया। अतः ३ जुलाई, १९६२ को ११४ वर्ष पराधीन रहने के बाद फ्रांस ने इसे स्वतन्त्रता प्रदान की।

यू-२ विमान की घटना—१८ मई, १९६० को सोवियत सरकार के विदेश-मन्त्री आन्द्रेई ग्रोमिको (Andrei Gromyko) ने "सं० रा० अमेरिका की हवाई सेना के आक्रमणात्मक कार्यों" पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद् के उस मास के प्रधान सर क्लाड कोरिया से इसकी एक आवश्यक बैठक फौरन बुलाने की प्रार्थना की। इस प्रार्थना के साथ प्रधान को भेजे गए एक व्याख्यात्मक पत्र (Exploratory note) में यह कहा गया था कि "१ मई को प्रातःकाल सं० रा० अमेरिका के एक वायुयान ने सोवियत सीमा का अतिक्रमण किया, जब यह सोवियत-अफगान की सीमा के अन्दर २,००० किलोमीटर तक चला गया और इसके आक्रमणात्मक इरादों का निश्चय हो गया तो इसे स्वर्डलोवस्क के निकट राकेट द्वारा नीचे गिरा लिया गया। नष्ट किए गए विमान के निरीक्षण से यह ज्ञात हुआ कि इसमें जासूसी करने के अनेक यन्त्र और उपकरण थे। पैराशूट की सहायता से सुरक्षित नीचे उतरने वाले इसके चालक पावर्स ने भी इस बात की पुष्टि की कि लाकहैड यू-२ (Lockhead U-2) प्रकार का यह विमान सोवियत संघ के आकाश में सैनिक निरीक्षण के लिए, विशेषतः सोवियत रूस के औद्योगिक कारखानों और सैनिक अड्डों की सूचना प्राप्त करने के लिए भेजा गया था। इसमें उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विशेष यन्त्र लगे हुए थे और सोवियत प्रदेश पर से उड़ते हुए यह विभिन्न स्थानों के फोटो ले रहा था। सं० रा० अमेरिका के विदेश विभाग ने पहले तो ऐसी उड़ान का खण्डन किया; बाद में यह कहा कि टर्की में सोवियत सीमान्त के पास एक विमान ऋतुविज्ञानीय निरीक्षण और अनुसन्धान के लिए उड़ रहा था। किन्तु ७ मई को अमेरिकी विदेश विभाग को यह स्वीकार करना पड़ा कि यह विमान सोवियत आकाश में सैनिक अड्डों की जानकारी प्राप्त करने के लिए भेजा गया था। ९ मई को अमेरिकी विदेश-मन्त्री हर्टर ने तथा १२ मई को राष्ट्रपति आइज़नहावर ने इस घटना की सत्यता की पुष्टि की।

सोवियत नोट में आगे यह कहा गया था कि "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में तथा सैनिक प्रविधियों की प्रगति के वर्तमान स्तर में यह समझना कठिन नहीं है कि ऐसी घटनाएं विश्वशान्ति के लिए कितनी खतरनाक हो सकती हैं। जब यह ज्ञात है कि ं० रा० अमेरिका के बमवर्षक, अणु एवं हाइड्रोजन बमों को लादकर चलते हैं तो यह

कल्पना की जा सकती है कि सोवियत सीमा का उल्लंघन करने वाले विमानों पर भी ऐसी घातक सामग्री लदी होगी। ऐसी अवस्था में सोवियत संघ स्वाभाविक रूप से अपनी सुरक्षा के लिए तथा आक्रमण के प्रतिरोध के बदले की कार्यवाही कर सकता है। इस अवस्था में इसके परिणामों का सारा उत्तरदायित्व दूसरे देशों के विरुद्ध आक्रमण करने वाले राज्यों का होगा। ······इसमें यह तथ्य उल्लेखनीय है कि सोवियत संघ के प्रदेश में आक्रमणात्मक प्रयोजनों के लिए विमान भेजते हुए सं० रा० अमेरिका छोटे देशों की प्रादेशिक अखण्डता तथा सर्वोच्च अधिकारों (Territorial integrity and sovereign rights) का अतिक्रमण करता है। ९ अप्रैल तथा १ मई, १९६० को अमेरिकी विमान ने रूस की दक्षिणी सीमा का अतिक्रमण करने से पूर्व अफगानिस्तान के आकाश का उल्लंघन किया है। १९५८ में इसने मध्यपूर्व में सेनाएं भेजने के लिए तटस्थ देश आस्ट्रिया के आकाश का अतिक्रमण किया था।"

"इस प्रकार अकाट्य तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि सं० रा० अमेरिका जानबूझ कर पूरी तैयारी के साथ ऐसे कार्य करता है, जो न केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आरम्भिक नियमों का तथा सं० रा० संघ के चार्टर की व्यवस्थाओं का घोर उल्लंघन हैं, अपितु विश्व की शान्ति के लिए भीषण संकट हैं।"

"सोवियत सरकार को यह आशा थी कि पेरिस में शासनाध्यक्षों के सम्मेलन में सं० रा० अमेरिका आक्रमणात्मक कार्य करने वाली अपनी वायुसेना की निन्दा करेगा। इस प्रकार की नीति का परित्याग करेगा। यू–२ वायुयान की जासूसी उड़ान का उत्तेजनात्मक कार्य करने वालों को दण्ड देगा, ऐसा आश्वासन देगा कि वह भविष्य में ऐसे कार्य नहीं करेगा। हमारे देश के इस प्रकार हुए अपमान के लिए सार्वजनिक रूप से आवश्यक कार्यवाही करेगा और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने वाली तथा शान्ति को संकट में डालने वाली घटना का अन्त करेगा। सोवियत सरकार को खेद है कि उसने ऐसा नहीं किया।"······सोवियत सरकार का यह विचार है कि सुरक्षा परिषद् का यह कर्त्तव्य है कि वह सं० रा० अमेरिका के शान्ति भंग करने वाले कार्यों की दृढ़तापूर्वक निन्दा करे और दूसरे राज्यों के आकाश का अतिक्रमण करने वाले सं० रा० अमेरिका के कार्यों को बन्द कराए। सं० रा० संघ जनता के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करेगा, यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में ऐसे मनमानेपन तथा उत्तेजनापूर्ण कार्यों को बन्द नहीं कराता। अतः सुरक्षा परिषद् में विश्वशान्ति को बनाये रखने के लिए सोवियत संघ के विरुद्ध सं० रा० अमेरिका की वायुसेना के आक्रमणात्मक कार्यों पर तत्काल विचार होना चाहिए।"

२३ मई, १९६० को इस प्रश्न पर विचार के लिए बुलाई गई सुरक्षा परिषद् में रूस की ओर से यह प्रस्ताव रखा गया कि "परिषद् ने सं० रा० अमेरिका की वायुसेना के सोवियत यूनियन के विरुद्ध आक्रमणात्मक कार्यों के प्रश्न पर विचार किया। यह संसार की शान्ति के लिए संकट हैं, दूसरे राज्यों की सर्वोच्च सत्ता का अतिक्रमण सं० रा० संघ के सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों के प्रतिकूल है। अतः यह सं० रा० अमेरिका के विमानों का अन्य राज्यों के प्रदेश में जाना आक्रमणात्मक कार्य समझता है और सं०

रा० अमेरिका से प्रार्थना करता है कि वह ऐसे कार्यों को फौरन बन्द करदे तथा भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति न होने दे।" ग्रोमिको ने इस प्रस्ताव को पेश करते हुए उपर्युक्त सोवियत नोट की युक्तियों को दुहराया।

सं० रा० अमेरिका के प्रतिनिधि श्री हेनरी केबट लाज ने रूस के आरोपों का उत्तर देते हुए कहा—"सोवियत आकाश में एक इंजन वाले, एक व्यक्ति को ले जाने वाले, शस्त्रहीन वायुयान की उपस्थिति को "आक्रमण" नहीं कहा जा सकता। सोवियत संघ दूसरे देशों के प्रदेश में हजारों जासूस रखता है और अब एक 'निर्दोष उड़ान' का प्रतिवाद कर रहा है। सं० रा० अमेरिका यदि चाहे तो सोवियत संघ के ऐसे कार्यों के अनेक उदाहरण दे सकता है। लांग-द्वीप (Long Island) के पास एक सोवियत जहाज ने सं० रा० अमेरिका की नौसैनिक कार्यवाहियों में बाधा डाली है। सं० रा० अमेरिका के प्रदेश में रूस के अनेक गुप्तचर हैं। मार्शल स्तालिन की मृत्यु के बाद दूसरे देशों में पकड़े गए रूसी गुप्तचरों की संख्या ३५० है। सोवियत संघ द्वारा सं० रा० संघ के चार्टर के अतिक्रमणों ने स्वतन्त्र देशों को बहुत चिन्ता में डाल दिया है। पर्ल हार्बर जैसे आकस्मिक आक्रमणों की पुनरावृत्ति रोकने के लिए ऐसी उड़ानें की गई हैं।"

किन्तु ग्रोमिको का यह कथन सत्य नहीं है कि सोवियत प्रदेश पर ऐसी उड़ानें निरन्तर करते रहना सं० रा० अमेरिका की नीति है। यह तथ्यों के सर्वथा विपरीत है। राष्ट्रपति आइजनहावर ने पेरिस में कहा था कि ऐसी उड़ानें बन्द कर दी गई हैं। राष्ट्रपति ने यह भी कहा था कि सं० रा० अमेरिका तथा अन्य देश निरन्तर रूस की जासूसी का शिकार हो रहे हैं। रूसी प्रतिनिधि ने राष्ट्रपति के वक्तव्य को गलत रूप में रखा है कि आइजनहावर ने ऐसी उड़ानों को निरन्तर जारी रखने की धमकी दी है। वस्तुतः ऐसी कोई धमकी नहीं दी गई। केवल इतना कहा गया है कि सं० रा० अमेरिका आकस्मिक आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के उत्तरदायित्व में शिथिलता नहीं कर सकता। रूसी प्रदेश पर अमेरिकी उड़ानें स्थगित कर दी गई हैं और इन्हें अब पुनः आरम्भ नहीं किया जाएगा। शिखर सम्मेलन से पहले ही राष्ट्रपति ने सोवियत संघ के सन्मुख उन्मुक्त आकाश (Open Skies) की सन्धि करने का प्रस्ताव रखा था। सोवियत संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बहुत दुहाई दी है, किन्तु उस समय यह क़ानून कहां गया था, जब कम्यूनिस्ट फौजों ने दक्षिण कोरिया पर चढ़ाई की थी, १९५६ में हंगरी की स्वतन्त्रता का अन्त किया था। सोवियत संघ ने सारी दुनिया में अपने जासूसों का जाल फैला रखा है। सं० रा० अमेरिका के विदेशी दूतावासों में ऐसी जासूसी करने वाले १०० यन्त्र पकड़े गए हैं। केबट लाज ने सुरक्षा परिषद् के सदस्यों को अमेरिका की सरकारी राजमुद्रा (Seal) की एक काष्ठ प्रतिकृति दिखाते हुए कहा कि रूसी सरकार की ओर से यह मास्को के राजदूत को दूतावास में लगाने के लिए भेंट की गई थी। इसमें अमेरिकी दूतावास में होने वाले सभी वार्तालापों को अंकित एवं सुरक्षित रखने का सूक्ष्म माइक्रोफोन था। यह मुद्रा बहुत समय तक दूतावास के कार्यालय में लगी रही और इससे राजदूत के वार्तालाप की सूचना सोवियत अधिकारियों को मिलती रही।

रूसी प्रस्ताव के विरोध में अर्जेण्टायना, लंका, इक्वेडोर तथा ट्यूनिसिया ने एक नया चतुश्शक्ति प्रस्ताव (Four Power Resolution) रखा। इसमें यह कहा गया था कि सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने के उत्तर-दायित्व को समझती हुई बड़े खेद के साथ यह देखती है कि फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका तथा सोवियत संघ के शासनाध्यक्षों का सम्मेलन नहीं हुआ, इससे शान्ति को संकट में डालने वाला अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ रहा है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और विश्वास को बढ़ाने की आवश्यकता है। यह परिषद् सभी सरकारों से यह सिफारिश करती है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान संघ के चार्टर में बताए वार्ता तथा अन्य शान्तिपूर्ण साधनों के माध्यम से करें, तनाव पैदा करने वाला कोई कार्य न करें, निःश-स्त्रीकरण के प्रयत्न जारी रखें। फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, सं०रा० अमेरिका तथा सोवियत रूस की पुनः (शिखर सम्मेलन की) वार्ता आरम्भ करें।" ग्रोमिको ने इस प्रस्ताव पर यह आपत्ति की कि इसमें सोवियत यूनियन के विरुद्ध 'सं० रा० अमेरिका के उग्र उत्तेजक कार्यों' का उल्लेख और निन्दा नहीं थी।

२६ मई को सुरक्षा परिषद् ने रूस का अमेरिकी जासूसी उड़ानों की निन्दा करने वाला प्रस्ताव रद्द कर दिया। इसके पक्ष में केवल रूस और पोलैण्ड ने वोट दिया। लंका और ट्यूनिसिया तटस्थ रहे, शेष सात सदस्यों ने इसके विपक्ष में वोट दिया। २७ मई को उपर्युक्त चतुश्शक्ति प्रस्ताव कुछ संशोधनों के साथ पास हो गया। रूस ने इस प्रस्ताव में अमेरिका की निन्दा के कुछ संशोधन पेश किए। किन्तु उनके पक्ष में केवल रूस तथा पोलैंड के ही वोट थे। लंका, इक्वेडार तथा ट्यूनिसिया के अतिरिक्त अन्य छः देशों ने इसके विरुद्ध वोट दिए। अतः रूस का अमेरिका की निन्दा करने का प्रयत्न निष्फल हुआ।

आर० बी० ४७ विमान काण्ड—यू–२ विमान घटना के ठीक दो महीने बाद पहली जुलाई १९६० को सोवियत रूस ने सं० रा० अमेरिका का आर० बी० ४७ (R. B. 47) नामक निरीक्षण विमान बरेण्ट्स सागर (Barents Sea) में मार गिराया। इस सम्बन्ध में रूस का यह दावा था कि यह विमान बरेण्ट्स सागर में सोवियत रूस के प्रादेशिक समुद्र में जासूसी कर रहा था, अतः इसे भी यू–२ विमान की भांति नीचे गिराया गया। सं० रा० अमेरिका का यह दावा था कि यह विमान ध्रुवीय प्रदेश के विद्युत-चुम्बकीय सर्वेक्षण (Electro-magnetic survey) के कार्य में लगा हुआ था। यह सोवियत प्रदेश की सीमा से ३० मील की दूरी के अन्दर कभी नहीं गया। रूसी विमानों ने इसे जबर्दस्ती रूस की प्रादेशिक सीमा में धकेलने का प्रयत्न किया, वे इसमें सफल नहीं हो सके, फिर भी उन्होंने इसे अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र में मार गिराया। यह उसका सर्वथा मनमाना और गैर-कानूनी कार्य है।

११ जुलाई को सं० रा० अमेरिका को भेजे गए एक प्रतिवाद पत्र में सोवियत रूस ने लिखा कि "सं० रा० अमेरिका की वायुसेना द्वारा सोवियत संघ के आकाश का एक नया भीषण अतिक्रमण हुआ है। १ जुलाई, १९६० को बरेण्ट्स समुद्र में कोला

(Kola) प्रायद्वीप के पास सीमान्त पर एक अज्ञात वायुयान उड़ता हुआ देखा गया। एक सोवियत लड़ाकू विमान इसे पहचानने तथा सोवियत प्रदेश पर हमला करने से रोकने के लिए भेजा गया। सोवियत लड़ाकू विमान के चालक ने इस पर सं० रा० अमेरिका की वायुसेना के निशान देखे। यह एक बमवर्षक था। यह स्विअतोई नोस (Svyatoi Nos) अन्तरीप के उत्तर में राज्य की सीमा लांघकर २२ किलोमीटर अन्दर प्रविष्ट हो गया था और आर्केन्जल की दिशा में (अर्थात् रूस की सीमा के भीतर) जा रहा था। सोवियत लड़ाकू विमान द्वारा इसका अनुसरण करने के तथा जमीन पर उतरने के आदेशों की अवहेलना करता हुआ, यह विमान सोवियत रूस की सीमा के भीतर बढ़ता चला गया। अतः इसे मास्को समय के अनुसार शाम को ६ बजकर ३ मिनट पर स्विअतोई नोस अन्तरीप के पूर्व में सोवियत प्रादेशिक समुद्र (territorial waters) में गोली मार कर गिरा दिया गया। कुछ समय बाद रूस के प्रादेशिक समुद्र में वायुयान के दिशा चालक (Navigator) जॉन आर० मैकोन (John R. Mckone) तथा सह-चालक फ्रीमैन ओल्मस्टैड पकड़े गए। इनसे प्रश्न करने पर ज्ञात हुआ कि यह अमेरिकी वायुसेना का छः इंजनों वाला, आर० बी० ४७ निरीक्षण बमवर्षक विमान था। इस पर २० मिलीमीटर की तोपें तथा कुछ गोले लदे हुए थे। विशेष निरीक्षण के लिए इस पर फोटो लेने तथा रेडियो द्वारा संदेश भेजने के यन्त्र लगे हुए थे। इनकी साक्षी के अनुसार यह अमेरिकी सैनिक विमान ग्रेट ब्रिटेन के ब्राइज़ नोर्टन (Brize Norton) नामक अड्डे से उड़ा था, नार्वे के उत्तरी सीमान्त से होता हुआ यह सोवियत सीमा पर उड़ रहा था। इसने अपना कार्य करके लौट जाना था तथा इस उड़ान को गुप्त रखने के लिए इसे यह आदेश था कि यह अपने अड्डे के साथ रेडियो द्वारा कोई सम्पर्क न रखे। दो महीने पहले ऐसी घटना ने शिखर सम्मेलन को विफल कर दिया था। इस प्रकार की आक्रमणात्मक तथा उत्तेजनात्मक घटनाओं के भीषण परिणाम हो सकते हैं और उनकी सारी जिम्मेदारी सं० रा० अमेरिका पर होगी। सोवियत संघ सं० रा० अमेरिका को यह चेतावनी देना अपना कर्त्तव्य समझता है कि उसे दुनिया के लोगों के भाग्य के साथ खिलवाड़ करने का कोई अधिकार नहीं है। जो देश अमेरिका को सैनिक अड्डों की सुविधा दे रहे हैं, वे उसके आक्रमणात्मक कार्यों में साझीदार हैं और अपने देशों की जनता के लिए भारी खतरा मोल ले रहे हैं।" रूस ने इसी प्रकार के प्रतिवाद-पत्र ग्रेट ब्रिटेन और नार्वे को भेजे। सं० रा० अमेरिका ने इसके उत्तर में १३ जुलाई को सोवियत सरकार के आर० बी०–४७ विमान को अकारण और जानबूझकर अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र में नष्ट करने के लिए कड़ा विरोधपत्र भेजा। ग्रेट ब्रिटेन और नार्वे ने भी सोवियत विरोध पत्र की बातों से असहमति प्रकट करते हुए इसे अस्वीकार किया।

इस पर १४ जुलाई, १९६० को सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद् की एक आवश्यक बैठक बुलाने की प्रार्थना की ताकि इसमें 'संसार की शान्ति संकट में डालने वाले, सोवियत संघ के विरुद्ध किये गए, सं० रा० अमेरिका के नवीन आक्रमणात्मक कार्यों पर विचार किया जा सके'। २२ जुलाई को सुरक्षा परिषद् की बैठक में सोवियत प्रतिनिधि श्री वेसिली कुज़नेस्तोव (Vesil Kuznestov) ने बहस शुरू करते हुए कहा कि

सुरक्षा परिषद् ने सं० रा० संघ की सब सदस्य सरकारों से यह कहा था कि वे एक दूसरे की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण न करें तथा तनाव बढ़ाने वाले कार्य न करें, किन्तु सं० रा० अमेरिका की सरकार ने हाल की घटनाओं से यह प्रमाणित किया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के आधारभूत उपर्युक्त सिद्धान्तों की उपेक्षा करती है। सुरक्षा परिषद् सब राष्ट्रों तथा जनताओं में शान्ति बनाए रखने के उत्तरदायित्व वहन करने वाली प्रमुख संस्था है। सोवियत सरकार उसके लिए यह आवश्यक समझती है कि वह सोवियत यूनियन के आकाश में आर० बी० ४७ बमवर्षक भेजने वाले अमेरिकी आक्रान्ताओं की निन्दा करे तथा उसे अन्य देशों के विरुद्ध ऐसे उत्तेजक कार्य करने से रोके। इसके बाद उसने अमेरिका की निन्दा का निम्नलिखित प्रस्ताव उपस्थित किया—"सुरक्षा परिषद् ने सोवियत यूनियन के विरुद्ध सं० रा० अमेरिका की वायुसेना के नये आक्रमणात्मक कार्यों पर विचार किया। ये विश्व की शान्ति के लिए संकट हैं। परिषद् यह स्वीकार करती है कि सं० रा० अमेरिका की सरकार ने दूसरे देशों के सर्वोच्च प्रभुसत्ता के अधिकारों का अतिक्रमण करना जारी रखा है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ते हैं, विश्व-शान्ति खतरे में पड़ती है। यह परिषद् सं० रा० अमेरिका की वायुसेना के इन उत्तेजनात्मक कार्यों की निन्दा करती है, इन्हें आक्रमण के कार्य समझती है। और सं० रा० अमेरिका की सरकार से यह आग्रह करती है कि वह ऐसे कार्यों को रोकने तथा भविष्य में इनकी पुनरावृत्ति न होने देने के लिए तत्काल कार्यवाही करे।"

सं० रा० अमेरिका के प्रतिनिधि श्री हेनरी केबट लाज ने श्री कुजनेस्तोव का उत्तर देते हुए कहा कि आर० बी० ४७ को गोली से मारकर नीचे गिराना अपराधपूर्ण तथा समुद्री डकैती वाला (Criminal and piratical) कार्य है। सोवियत यूनियन जिस समय में जहाज़ का गिराया जाना बताता है, उस समय वह वास्तव में सोवियत समुद्रतट की सीमा से ५० मील दूर था। बीस मिनट बाद वह रूस द्वारा बताये स्थान से २०० मी० दूर था और उत्तर पूर्व की दिशा में रूसी सीमा से बाहर की ओर जा रहा था। वह कभी भी सोवियत समुद्रतट से ३० मी० से कम दूरी के भीतर नहीं आया। २५ जुलाई को इस विमान के गिराये जाने की घटना पर प्रकाश डालते हुए केबट लाज ने कहा कि यह विमान सारा समय अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र पर उड़ता रहा, इसमें आक्रमण करने के कोई शस्त्र नहीं थे। केवल पीछे की ओर रक्षा के लिए २० मिलीमीटर की तोपें थीं। यह विमान ग्रीनविच टाइम के अनुसार ३-३३ पर लुप्त हो गया, किन्तु सं० रा० अमेरिका के अधिकारी राडार आदि यंत्रों की सहायता से इसके लुप्त होने के स्थान को अच्छी तरह जानते हैं। यह कोला प्रायःद्वीप से २०० मील उत्तर-पूर्व में था। विमान लुप्त होने के बाद इसकी खोज आरम्भ हुई। पहले सोवियत रूस ने इसमें सद्भावना से सहायता दी। किन्तु दस दिन बाद यह घोषित किया कि उन्होंने लुप्त विमान को सोवियत आकाश का अतिक्रमण करते हुए गोली मारकर नीचे गिराया है। यह दस दिन की देरी बड़ी रहस्यपूर्ण है। ख्रुश्चेव का कहना है कि यह हमें धोखा देने के लिए की गयी है। वास्तविक तथ्य कुछ और ही है। इस विमान पर बड़ा शक्तिशाली राडार यंत्र था, वह निरन्तर यह बताता रहता था कि वे भूमि से कितनी दूर हैं। इसकी व्यवस्था जान-

बूझकर की गयी थी क्योंकि सोवियत यूनियन जहाज़ों को अपनी सीमा की ओर आकृष्ट करता रहता है।

सोवियत सरकार का यह दावा कोरी कल्पना है कि इस विमान ने स्विअतोई नोस अन्तरीप के उत्तर में २२ किलोमीटर (१२ मील) पर सोवियत सीमा का अतिक्रमण किया है और इसे सोवियत रूस के प्रादेशिक समुद्र में गिराया गया है। यह कल्पना जान-बूझकर अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र में गिराये जाने वाले जघन्य विमानकांड पर पर्दा डालने के लिए गढ़ी गयी है। यह विमान कभी भी सोवियत प्रादेशिक समुद्र में नहीं गया, इसने किसी भी समय सोवियत सीमा का अतिक्रमण नहीं किया। आर० बी० ४७ शाम को ३'०३ सोवियत प्रदेश स्विअतोई नोस से ५० मील उत्तर में नहीं गिरा। इसके गिराये जाने का सोवियत सरकार द्वारा बताया जाने वाला समय और स्थान ठीक नहीं है।

"वास्तविक घटना यह है कि जब यह स्विअतोई नोस से ५० मील उत्तर पूर्व में पहुँचा तो इसने पूर्व निर्धारित मार्ग के अनुसार उत्तर पूर्व की ओर मुड़ना था, इसी समय समुद्र की ओर से एक सोवियत लड़ाकू विमान आया और वह इसे सोवियत देश की ओर जबर्दस्ती धकेलने लगा। इसने हमारे जहाज़ को अपने मार्ग से विचलित तो कर दिया, किन्तु यह उसे सोवियत प्रदेश के भीतर लाने में सफल नहीं हो सका, क्योंकि हमारा जहाज़ जल्दी ही घूमकर अपने पूर्व निर्धारित मार्ग पर पहुँच गया। ऐसा करते हुए यह सोवियत सीमा के निकटतम बिन्दु से ३० मील से अधिक अन्दर नहीं आया। यह कनिन (Kanin) प्रायद्वीप में था। सोवियत नोट द्वारा बताये गए इसे गिराने के समय के २० मिनट बाद स्विअतोई नोस से २०० मील की दूरी पर उड़ रहा था। यहां इसे गिराया गया। राडार द्वारा लिए गए जहाज़ की गतिविधि के मानचित्रों से यह बात भलीभांति पुष्ट होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इस जहाज़ को पहले सोवियत सीमा में धकेलकर नष्ट करने का प्रयत्न किया गया, जब ऐसा नहीं हो सका तो इसे अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र में गिराकर यह कहा गया कि यह प्रादेशिक समुद्र में गिराया गया है। सोवियत वायुसेना वाले अपनी यह कमज़ोरी नहीं मानना चाहते थे कि उन्होंने २०० मील दूर इस जहाज को गिराया है। अतः उन्होंने ख्रुश्चेव से झूठ बोला। अधिनायकतन्त्रों में ऐसा हुआ करता है।"

"इन अवस्थाओं में सं० रा० अमेरिका को यह अधिकार है कि वह सुरक्षा परिषद् से इस घृणित आक्रमण की निन्दा करने को कहे तथा इस विमान के विनाश की तथा इसके चालकों की प्राणहानि की क्षतिपूर्ति करे। किन्तु फिर भी सं० रा० अमेरिका अभी केवल यही चाहता है कि वह सोवियत यूनियन से इस मामले की निष्पक्ष जांच स्वीकार करने के लिए कहे।

इसके बाद श्री हेनरी केबट लाज ने अमेरिका की ओर से निम्न प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् में रखा "सुरक्षा परिषद् ने १३ जुलाई, १९६० को सोवियत यूनियन द्वारा प्रस्तुत किये विषय पर विचार किया, सं० रा० अमेरिका तथा सोवियत यूनियन के प्रतिनिधियों के वक्तव्य सुने, १ जुलाई १९६० को सोवियत सेनाओं द्वारा सं० रा० अमेरिका की वायुसेना के एक विमान गिराये जाने की घटना पर दोनों सरकारों के

मतभेद विद्यमान होने के तथा इस घटना के कानूनी उत्तरदायित्व के बारे में विचार किया। २७ मई, १९६० में प्रस्ताव को पुनःस्मरण कराते हुए सुरक्षा परिषद् यह सिफारिश करती है कि सोवियत यूनियन तथा सं० रा० अमेरिका १ जुलाई, १९६० को हुई विमान दुर्घटना के सम्बन्ध में उत्पन्न हुए मतभेद का हल एक आयोग द्वारा तथ्यों का अनुसन्धान करवा के करें। इस आयोग में दोनों सरकारों के तथा दोनों सरकारों को स्वीकरणीय एक तीसरी सरकार के प्रतिनिधि तुल्य संख्या में हों, यह इस घटना की जांच इसके स्थल पर जाकर, वायुयान के ध्वंसावशेषों को देखकर तथा इसके बचे हुए चालकों तथा अन्य साथियों से प्रश्न पूछकर करें अथवा इस मामले का विचार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपा जाय।"

रूसी प्रतिनिधि कुजनेस्तोव ने निष्पक्ष जांच की माँग का विरोध करते हुए अमेरिकी प्रतिनिधि के वक्तव्य को सर्वथा असत्य, अप्रामाणिक और अविश्वसनीय बताया तथा अमेरिका पर अनेक आरोप करते हुए अपने प्रस्ताव के पास किए जाने पर बल दिया। केबट लाज ने इसके प्रत्युत्तर में कहा कि "यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कुजनेस्तोव अपने पक्ष के समर्थन में प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं समझता। वह आरोप लगाता है, मैं उसका उत्तर देता हूँ और वह यह आशा रखता है कि मैं इसे प्रमाणों से पुष्ट करूँ। किन्तु वह अपना आरोप प्रमाणों से पुष्ट नहीं करता। यह कितनी पिछड़ी हुई विचार प्रणाली है। कुजनेस्तोव के लिए इतना ही पर्याप्त है कि मास्को में किसी अधिकारी ने यह किस्सा गढ़ा है, बस यह उसके लिए वेदवाक्य है। किन्तु हम मास्को में नहीं हैं। हम संयुक्त राष्ट्रसंघ में बैठे हैं।" "कुजनेस्तोव ने यह प्रश्न किया था कि अमेरिका के विमान को उसकी सीमा से १० हज़ार किलोमीटर दूर आने का क्या कारण है। इसका उत्तर देते हुए लाज ने कहा है कि यह उसी प्रयोजन के लिए है, जिसके लिए सोवियत संघ अमेरिका के समुद्रतट और आकाश पर अपने जहाज़ भेजता है।"

इसके बाद उसने रूसी ट्रालर वेगा (Vega) द्वारा २६ अप्रैल, १९६० को सं० रा० अमेरिकी सेना के संकेत केन्द्र (Signal Centre) के स्थान फोर्ट मानमाउथ के पास न्यूजर्सी से ३० मील दूर आने, जार्ज वाशिंगटन नामक अणुशक्ति संचालित पनडुब्बी की जासूसी करने तथा वेलप्स द्वीप (Wallops Island) के हेनरी अन्तरीप से केवल १३ मील दूर आने का वर्णन किया। वैलप्स द्वीप अमेरिका के राष्ट्रीय हवाई संचालन तथा आकाश प्रशासन (National Aeronautics and Space Administration) का केन्द्र है और यहां अधिक ऊंचाई पर उड़ने वाले गुब्बारों के अनेक महत्त्वपूर्ण परीक्षण होते हैं। लाज ने बड़े आवेशपूर्ण शब्दों में कहा कि "हमने अपने सैनिक अड्डे के इतना निकट आने वाले सोवियत जहाज़ वेगा के केवल फोटो ही लिए।" वेगा जहाज़ हमारे समुद्रतट की सीमा से उससे कहीं अधिक निकट था, जितना आर० बी० ४७ सोवियत समुद्रतट के निकट गया था। किन्तु "हमने इसे डुबोया नहीं, इस पर गोलियां नहीं चलायीं, केवल इसकी फोटो ली।" सोवियत रूस कई वर्षों से हमारे अलास्का राज्य के निरीक्षण के लिए विमान भेजता रहता है। १९५९–६० में सोवियत विमानों की ऐसी उड़ानों का विवरण देते हुए लाज ने यह बताया कि कई बार

रूसी विमान हमारी सीमा से ५ मील तथा ३ मील की दूरी से हमारे राडार के तथा अन्य अड्डों की जासूसी करते रहे हैं। सं० रा० अमेरिका तथा सोवियत संघ में यही अन्तर है कि हम सोवियत विमानों को अपने कैमरों से फोटो खींचने का लक्ष्य बनाते हैं तथा रूसी हमारे विमानों को तोपों तथा राकेटों का लक्ष्य बनाते हैं, हमारे चालकों को मार डालते हैं या कैद कर लेते हैं।"

इटली ने इस विषय में यह प्रस्ताव रखा कि इस दुर्घटना से ग्रस्त व्यक्तियों की सहायता का मानवीय कार्य अन्तर्राष्ट्रीय रैडक्रास संस्था को सौंपा जाय। २६ जुलाई को तीनों प्रस्तावों पर वोट लिए गए। सुरक्षा परिषद् ने बहुमत से अमेरिका की निन्दा करने वाला रूसी प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। इसके बाद आर० वी० ४७ विमान काण्ड की जांच के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आयोग स्थापित करने का सं० रा० अमेरिका का प्रस्ताव रूस ने ८८वीं बार वीटो का प्रयोग करते हुए रद्द कर दिया। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय रैडक्रास द्वारा इस दुर्घटना से ग्रस्त व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने के इटालियन प्रस्ताव को रूस ने ८९वीं बार वीटो का प्रयोग करते हुए रद्द कर दिया।

रूस ने सं० रा० संघ के १५वें अधिवेशन में इन दोनों उड़ानों का प्रश्न उठाना चाहा, किन्तु वह इसमें सफल नहीं हो सका।

कांगो—इस समय सं० रा० संघ की कांगो में कड़ी अग्नि परीक्षा हो रही है। कांगो मध्य अफ्रीका में १ करोड़ ३० लाख की जनसंख्या तथा ९,४३,००० वर्गमील का क्षेत्रफल रखने वाला एक विशाल राज्य है। पिछली शताब्दी के अन्त में यह बेल्जियम का उपनिवेश बना। इसकी विशेष महत्ता इसकी खनिज सम्पदा के कारण है। यहां की तांबे की खानों में १५ प्रतिशत शुद्ध तांबा मिलता है। संसार का ७३ प्रतिशत कोबाल्ट यहां उत्पन्न होता है। रांगे (Tin) के उत्पादन में बोलिविया और मलाया के बाद संसार में इसका स्थान है। संसार के औद्योगिक हीरों (Industrial Diamonds) की ८० प्रतिशत आवश्यकता यह देश पूरी करता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में अणुबम के अनुसन्धान के लिए इसके निर्माण का प्रधान तत्त्व यूरेनियम यहीं से गया था। यूरेनियम का एक प्रधान स्रोत होने के कारण वर्तमान जगत में इसका असाधारण महत्त्व है। बेल्जियम ने इसका शासन उपनिवेश के रूप में नहीं, किन्तु व्यापारिक कम्पनी के रूप में किया था। जब यहां स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए आन्दोलन तथा उपद्रव हुए तो बेल्जियम ने इसे स्वाधीनता देने का निश्चय किया और नये चुनाव होने के बाद ३० जून, १९६० को बड़े भव्य समारोह के साथ राजधानी लिओपोल्डविले में स्वतन्त्र कांगो गणराज्य की घोषणा की गई।

किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही इस देश पर मुसीबतों के बादल घिर आये। देश का शासन और अर्थव्यवस्था चलाने वाले हजारों बेल्जियन स्वतन्त्र गणराज्य में अपनी स्थिति असुरक्षित समझकर स्वदेश लौट गये। इससे वहां का शासनचक्र और अर्थव्यवस्था बिल्कुल ठप्प हो गयी। कांगो के छः प्रान्तों में बसी हुई जातियां और कबीले स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। प्रधानमन्त्री लुमुम्बा इस समय देश में शासन और व्यवस्था २५ हजार सैनिकों की कांगोली सेना द्वारा ही रख सकता था, किन्तु इसमें

कोई भी कांगोली अफसर नहीं था। ६ जुलाई को लिओपोलडविले की सेना में विद्रोह हो गया, कांगोली सैनिक बेल्जियन अफसरों की तथा अपनी सरकार के आदेशों की अवज्ञा करने लगे, वेतन में वृद्धि की माँग की जाने लगी। प्रधानमन्त्री लुमुम्बा ने सब सैनिकों का शीघ्र ही एक पद बढ़ाने की घोषणा की। इसके बाद यहां बसे बेल्जियन तथा अन्य यूरोपियन व्यक्तियों पर आक्रमण होने लगे। उनकी सम्पत्ति लूटी जाने लगी। इस पर बेल्जियम की सरकार ने कांगो के बेल्जियनों की सुरक्षा के लिए ९ जुलाई को यहां अपनी सेनाएं भेज दीं। प्रधानमन्त्री लुमुम्बा ने बेल्जियम के इस हस्तक्षेप का उग्र विरोध किया। ११ जुलाई को कांगो के एक दक्षिणी प्रान्त कटंगा ने शोम्बे के नेतृत्व में लिओपोल्डविले के विरुद्ध विद्रोह करके पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य बनाने की घोषणा की। खनिज द्रव्यों की तथा यूरेनियम की दृष्टि से यह सबसे अधिक समृद्ध प्रान्त था। स्वतन्त्रता प्राप्ति से कांगो की तथा बेल्जियम की सरकार में हुए समझौते के अनुसार कुछ निश्चित अड्डों में २,००० बेल्जियन सैनिकों को रखने की व्यवस्था हुई थी। अब इसका उल्लंघन करते हुए बेल्जियम ने कटंगा में अपने सैनिक भेजने शुरू किये। लुमुम्बा ने यह माँग की कि बेल्जियन सेना केवल अपने अड्डों तक ही सीमित रहनी चाहिए। किन्तु बेल्जियम की सेना ने राजधानी के यूरोपियन भाग पर भी अधिकार कर लिया।

इस पर १२ जुलाई को लुमुम्बा ने बेल्जियम पर 'आक्रमण करने' तथा 'कटंगा को पृथक् राज्य बनाने के लिए भड़काने का' आरोप लगाया और यह कहा कि इन साम्राज्यवादी चालों (Colonialist machinations) का मुख्य उद्देश्य देश पर अपना प्रभुत्व बनाये रखना है। इस स्थिति में लुमुम्बा ने सं० रा० संघ से यह प्रार्थना की कि कांगो को बेल्जियन सेनाओं के आक्रमण से देश की रक्षा के लिए फौरन सैनिक सहायता दी जाय। इस समय कांगो सरकार के कुछ व्यक्तियों ने सं० रा० अमेरिका से भी सहायता माँगी। किन्तु प्रधानमन्त्री लुमुम्बा और राष्ट्रपति कासावुबू ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि हम सं० रा० अमेरिका से नहीं, किन्तु सं० रा० संघ से तटस्थ देशों की सेनाओं की सहायता चाहते हैं।

अब यह समस्या पूर्व और पश्चिम के विवाद का विषय बन गई। मास्को से ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि 'कांगोली सैनिकों का अपने अफसरों के विरुद्ध विद्रोह' करना बिल्कुल ठीक था। उसने सं० रा० अमेरिका तथा नाटो संगठन पर यह आरोप लगाया कि दंगे दबाने के बहाने वे बेल्जियन सेनाओं को कांगो में पुनः "औपनिवेशिक शासन स्थापित करने के लिए" भेज रहे हैं।

सं० रा० संघ के महामन्त्री डाग हैमरशोल्ड ने कांगो को पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बनाने से रोकने के लिए १३ जुलाई, १९६० की रात को ही सुरक्षा परिषद् की आवश्यक बैठक संघ के संविधान की धारा ९९ के अनुसार बुलाई और इसमें कांगो सरकार को अविलम्ब सैनिक सहायता भेजने की प्रार्थना रखी। इस बैठक में रूसी तथा अमेरिकी प्रतिनिधियों में बड़ा उग्र एवं कटु विवाद हुआ। रूस ने एक प्रस्ताव द्वारा बेल्जियम के सशस्त्र आक्रमण की निन्दा करनी चाही तथा सं० रा० अमेरिका पर कांगो की स्वतन्त्रता छीनने का षड्यन्त्र करने का दोषारोपण किया। अमेरिका ने

सोवियत आरोपों को सर्वथा असत्य बताया। १४ जुलाई को सुरक्षा परिषद् ने ट्यूनिसिया का यह प्रस्ताव किया कि (१) बेल्जियम की सेनाएं कांगो से वापिस चली जाएं, इसके लिए कोई अवधि निश्चित नहीं की गई थी। (२) महामन्त्री को यह अधिकार दिया कि "जब तक कांगो की रक्षा करने वाली सेना अपने कार्य में समर्थ न हो तब तक आवश्यक समझी जाने वाली सैनिक सहायता दी जाय।" किन्तु १५ जुलाई को ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि मास्को का विचार कांगो में सीधा हस्तक्षेप करने का है, क्योंकि उसे प्रधानमन्त्री लुमुम्बा और राष्ट्रपति कासावुबू का यह तार मिला है कि "उनके प्राण संकट में हैं" और "यदि पश्चिमी देश कांगो गणराज्य की प्रभुसत्ता के विरुद्ध आक्रमण करने से विरत नहीं होते तो वे सोवियत यूनियन से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना करने के लिए बाध्य हो जाएंगे।" ख्रुश्चेव ने यह भी कहा कि यदि कांगो में "पश्चिमी देशों का आक्रमण जारी रहा तो सोवियत यूनियन कार्यवाही करने में संकोच नहीं करेगा।"

२८ जुलाई तक सं० रा० संघ की सेनाओं के १०,००० से अधिक सैनिक कांगो पहुँच गए। ये घाना, ईथियोपिया, गिनी, आइरिश गणराज्य, लाइबीरिया, मोरक्को और ट्यूनिसिया के थे। इन्हें हवाई जहाजों से पहुँचाने में निम्न देशों ने सहायता की थी—अर्जण्टायना, ब्राजील, ईथियोपिया, भारत, नार्वे, स्वीडन और यूगोस्लाविया। भारत ने चिकित्सा एवं संकेत (Signalling) के लिए ही यहां थोड़े से सैनिक भेजे। इन सैनिकों ने कांगोली तथा बेल्जियन सैनिकों में संघर्ष बन्द कर दिया, हवाई अड्डों पर अधिकार कर लिया ताकि विदेशी शक्तियां इनके उपयोग से कांगो में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सकें। संघ ने कांगो सरकार को प्राविधिक सहायता दी तथा इसकी सेना को फौजी प्रशिक्षण देने का कार्य आरम्भ किया ताकि सरकार विद्रोहियों के दमन में समर्थ हो सके।

जुलाई १९६० के अन्त तक कांगो की स्वतन्त्रता के पहले महीने में संघ की सेनाएं कटंगा के अतिरिक्त अन्य सभी प्रान्तों में पहुँच गईं। बेल्जियम यह वचन देने लगा कि वह एक सन्धि द्वारा निश्चित किये दो सैनिक अड्डों के अतिरिक्त सभी स्थानों से अपने सैनिक हटा लेगा, किन्तु वस्तुतः उसके १५०० सैनिक ही यहां से हटे। उसने यह कहा कि ईथियोपिया से आई संघ की फौजों ने कांगोली फौजों के साथ मिल कर यूरोपियनों की लूटमार की है, अतः बेल्जियन फौजों का वहां रहना आवश्यक है। इस समय ८,५०० बेल्जियन कटंगा में थे। लुमुम्बा मन्त्रिमण्डल इस पर बल दे रहा था कि संघीय सेनाओं को कटंगा में प्रवेश करके वहां से बेल्जियम सेनाओं को हटाना चाहिए क्योंकि "इनका उद्देश्य बेल्जियम द्वारा उभाड़ी गई पार्थक्य (Succession) की भावना को पुष्ट करना है।" दूसरी ओर कटंगा के प्रधानमन्त्री शोम्बे (Tshombe) ने यह घोषणा की कि वह अपने प्रदेश में सं० रा० संघ की सेनाओं के आने का पूरा विरोध करेगा। ३ अगस्त को उसने एक वक्तव्य में कहा—"कटंगा स्वतन्त्र है। संघ को ऐसा कोई अधिकार नहीं है कि वह जब तक हमारे यहां शान्ति और व्यवस्था है, तब तक हमारी इच्छा के विरुद्ध यहां अपनी सेनाएं भेजे।" इस पर डाग हैमरशोल्ड ने कहा कि संघ किसी भी अवस्था में कांगो के 'आन्तरिक झगड़ों में नहीं पड़ेगा।' कटंगा की समस्या

हल करने के लिए न्यूयार्क से संघ के अण्डर सेक्रेटरी डा० राल्फ बुंचे को भेजा गया। यह ५ अगस्त को जब संघ के प्राविधिक कर्मचारियों के एक विमान के साथ कटंगा पहुँचे तो पहले इस जहाज को अड्डे पर उतरने की अनुमति नहीं दी गई। जब यह अनुमति मिली तो कटंगा वालों ने संघ के किसी कर्मचारी को वहां नहीं उतरने दिया और बुंचे अपने साथियों सहित लिओपोल्डविले वापिस लौट आये। यह स्पष्ट था कि रक्तपात के विना संघ का कटंगा में प्रवेश नहीं हो सकता था। इसे बचाने के लिए हैमरशोल्ड ने कहा कि संघ की सेनाएं कटंगा नहीं भेजी जायेंगी और इस स्थिति पर विचार के लिए सुरक्षा परिषद् की बैठक बुलाई।

इसमें हैमरशोल्ड ने यह कहा कि "बेल्जियन सेनाओं की निरन्तर उपस्थिति ही कांगो के संकट को उग्र एवं जटिल बना रही है।" बेल्जियन लोगों को कटंगा खाली कर देना चाहिए। "यदि शोम्बे कटंगा में संघ की सेनाओं को न घुसने दे तो अव्यवस्था का सारा उत्तरदायित्व उसके शासन पर तथा उसके समर्थकों पर होगा।" सुरक्षा परिषद् ने सोलह घंटे की गर्मागर्म बहस के बाद लंका तथा ट्यूनिसिया का यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि बेल्जियन फौजें कटंगा से "फौरन निकल जायें" और "कटंगा में संघीय फौजों का प्रवेश आवश्यक है" तथा संघ की फौजें "कांगो की केन्द्रीय सरकार के साथ कटंगा के संघर्ष के परिणाम" को किसी प्रकार प्रभावित नहीं करेंगी और इस झगड़े में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगी।

सुरक्षा परिषद् के इस प्रस्ताव के बाद हैमरशोल्ड स्वयं संघ की स्वीडिश सेना के २४० व्यक्तियों के साथ कटंगा के लिए रवाना हुए। १२ अगस्त को कटंगा के अधिकारियों ने इस सेना को अपने प्रदेश में प्रवेश करने दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि कटंगा की खानों के मालिकों ने समझा कि इस समय ब्रूसेल्ज सरकार उनकी सहायता करने में असमर्थ है और यहां अफ्रीकन अथवा रूसी फौजों की अपेक्षा यूरोपियन फौजों से उनके हित अधिक सुरक्षित रहेंगे। अब शोम्बे की भी स्थिति सुरक्षित हो गई। जब तक संघ की फौजें वहां थीं, तब तक लुमुम्बा उसे कांगो में सम्मिलित होने के लिए सैनिक दवाव नहीं डाल सकता था।

लुमुम्बा ने १३ अगस्त को हैमरशोल्ड के कार्य का विरोध करते हुए कहा कि कटंगा में अफ्रीकी सेनाएं भेजी जानी चाहिएं, संघ के बहाने से वहां बेल्जियम की सत्ता सुदृढ़ हो रही है। १५ अगस्त को उसने हैमरशोल्ड को अपना एक घोषणापत्र दिया, जिसमें संघ के महामन्त्री पर अविश्वास प्रकट किया गया था। लुमुम्बा संघ की कार्यवाही को कांगो के लिए घातक समझ रहा था। उसने सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिए निम्नलिखित चौदह देशों के तटस्थ प्रेक्षक भेजने की माँग की—भारत, लंका, मोरक्को, ट्यूनिसिया, ईथियोपिया, घाना, गिनी, संयुक्त अरब गणराज्य, सूडान, लाइबीरिया, माली, बर्मा, अफगानिस्तान और लेबानन। १६ अगस्त को लुमुम्बा ने सारे देश में छः महीने के लिए फौजी शासन स्थापित करने की घोषणा की तथा सुरक्षा परिषद् को यह अल्टीमेटम भेजा कि यदि एक सप्ताह के भीतर उसका "पूर्णरूप से संतोषजनक" हल नहीं प्राप्त हुआ तो वह कटंगा में एक मित्र अफ्रीकी राज्य की सहायता से

कांगोली सेनायें भेज देगा ।

अगस्त के अन्त में कांगो की स्थिति बहुत बिगड़ने लगी। कटंगा का अनुसरण करते हुए अन्य प्रान्तों में भी लिओपोल्डविले तथा लुमुम्बा की सरकार के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। कसाई प्रान्त में अल्बर्ट कलोंजी ने एक नवीन स्वतन्त्र 'खनिज-राज्य' (Mining State) की घोषणा करते हुए अपने को उसका राष्ट्रपति घोषित किया। इक्वेटोर (Equator) प्रान्त में एक अन्य व्यक्ति जीन बोलो कांगो ने इसे स्वतन्त्र घोषित किया। कांगो में ३८ भाषायें बोलने वाले २०० विभिन्न कबीले एवं जन जातियां निवास करती हैं। पूर्वी प्रान्त (Orientale) में बलूबा रहते हैं, किवू प्रान्त में पिगमी रहते हैं। इन सब जातियों में पहले ही रक्तरंजित संघर्ष होते रहते थे। अब नई परिस्थितियों से इन्हें प्रोत्साहन मिला। लुमुम्बा ने सोवियत विमानों की सहायता से जब कटंगा के उत्तर में कसाई (Kasai) और किवू प्रान्तों में विद्रोह दबाने का प्रयत्न किया तो कसाई प्रान्त के पार्थक्यवादियों ने भी दूसरे देशों से सहायता माँगी। बेल्जियम ने विद्रोहियों को मदद भेजी। अगस्त के अन्तिम सप्ताह में कसाई प्रान्त में भीषण लड़ाई छिड़ गई। दोनों पक्ष बड़ी नृशंसतापूर्वक लड़ने लगे, शत्रुओं के हाथ काट कर उन्हें विजय चिह्नों के रूप में धारण किया जाने लगा।

इसी समय संघ की सेनाओं ने विदेशी हस्तक्षेप को रोकने के लिए कांगो के सभी हवाई अड्डों पर अपना अधिकार स्थापित करते हुए इस गृहयुद्ध में तटस्थता की नीति स्वीकार की। लुमुम्बा सरकार अपना सेनाएं कटंगा में रूसी हवाई जहाजों द्वारा भेजना चाहती थी। यहां का सबसे बड़ा हवाई अड्डा कमीना (Kamina) संघ के अधिकार में था। लुमुम्बा तथा रूसियों ने इस पर इस आधार पर आपत्ति की कि यहां संघ के अधिकांश कर्मचारी बेल्जियन थे। लुमुम्बा संघ की अवहेलना करके यहां सेनाएं भेजना चाहता था। किन्तु ३१ अगस्त को अफ्रीका के १३ अन्य राज्यों द्वारा दबाव डालने पर वह संघ के साथ सहयोग करने के लिए तैयार हो गया। इसी समय अखिल अफ्रीका सम्मेलन (Pan Africa Conference) ने कांगो में पार्थक्यवादी आन्दोलन की निन्दा करते हुए लुमुम्बा को संघ के साथ घनिष्ठ सहयोग करने के लिए कहा।

सितम्बर के आरम्भ में कांगो में बड़ा नाटकीय घटनाक्रम हुआ। राष्ट्रपति कासावुबू तथा प्रधानमन्त्री लुमुम्बा में सेना के नियन्त्रण और शासनसत्ता हस्तगत करने का संघर्ष छिड़ गया। ४ सितम्बर को कासावुबू ने घोषणा की कि वह लुमुम्बा को प्रधानमंत्री के पद से च्युत कर रहा है। कटंगा में इस घोषणा का बड़ा स्वागत किया गया। इसके बाद लुमुम्बा की बारी थी। उसने कांगोली पार्लियामेंट के दोनों सदनों की बैठक बुलाकर उसमें कासावुबू पर बेल्जियम का पिट्ठू होने का आरोप लगाया तथा निम्न सदन (Lower House) में १६ के विरुद्ध ६० वोटों द्वारा तथा उच्च सदन (Upper House) में २ के विरुद्ध ४१ वोटों से अपने में विश्वास का प्रस्ताव पास कराया। उसने यह घोषणा की कि वह राज्य के अध्यक्ष तथा प्रधान सेनापति का कार्य सम्भाल रहा है। उसने कासावुबू को पदच्युत कर दिया है। इस समय लुमुम्बा सं० रा० संघ पर निरन्तर यह आक्षेप कर रहा था कि उसकी नीति से विद्रोहियों को लाभ पहुँच रहा है। वह लिओ-

पोल्डविले के रेडियो स्टेशन तथा हवाई अड्डों को संघ के नियन्त्रण से मुक्त कर अपने अधिकार में लेने की माँग कर रहा था, और यदि उसकी ये माँग न स्वीकार करे तो वह अपने देश से संघ की फौजें बाहर किये जाने की प्रार्थना कर रहा था। इसी प्रकार कटंगा की राजधानी एलिजाबेथविले में विद्रोही भी सं० रा० संघ द्वारा हवाई अड्डों पर अधिकार का विरोध कर रहे थे।

कांगो में संघ की कठिनाइयां इस कारण बहुत अधिक बढ़ गईं कि दोनों पक्ष रूस और बेल्जियम से सहायता प्राप्त करने लगे थे। ७ सितम्बर को हैमरशोल्ड ने किसी देश का नामोल्लेख न करते हुए संघ को यह सूचना दी कि दोनों पक्षों को बाहर से कुछ सहायता मिल रही है। उसने यह सुझाव रखा कि कांगो की सेनाओं को गृहयुद्ध के भीषण विस्फोट से पहले ही निःशस्त्र कर देना चाहिए। ८ सितम्बर को उसने बेल्जियम द्वारा कटंगा में हथियार पहुँचाने की तथा बेल्जियन सेनाओं के वहां बने रहने की निन्दा की और सुरक्षा परिषद् से इस विषय में कार्यवाही का स्पष्ट आदेश (Manda:e) माँगा।

सुरक्षा परिषद् की बैठक में महामन्त्री ने रेडियो स्टेशन तथा हवाई अड्डों पर संघ का नियन्त्रण स्थापित करने का औचित्य बताते हुए कहा कि यह कासावुबू-लुमुम्बा के संघर्ष में तटस्थता बनाये रखने के लिए आवश्यक है। उसके मतानुसार प्रधानमन्त्री के कासावुबू को पदच्युत करने के वक्तव्यों के बाद भी संघ को उसे ही राष्ट्रपति मानना चाहिए। उसने दोनों पक्षों द्वारा ली जाने वाली विदेशी सहायता की निन्दा करते हुए, बाह्य हस्तक्षेप तथा सहायता को रोकने तथा कांगोली सेना को निःशस्त्र बनाने के सुझाव पर बल दिया। सुरक्षा परिषद् ने इस पर ११ सितम्बर को विचार आरम्भ किया, किन्तु इसी समय इसमें भाग लेने के लिए कांगो के दोनों पक्षों के दो प्रतिनिधि-मण्डल आये। सुरक्षा परिषद् के सामने यह समस्या थी कि कासावुबू के प्रतिनिधि-मण्डल को असली समझा जाय या लुमुम्बा के प्रतिनिधि-मण्डल को। उसने १७ सितम्बर को संघ का एक विशेष अधिवेशन कांगो की समस्या पर विचार करने के लिए बुलाने का निश्चय किया।

इसी बीच में १३ सितम्बर को राष्ट्रपति कासावुबू ने प्रधानमन्त्री लुमुम्बा को गिरफ्तार करके राजधानी के निकट एक सैनिक कैम्प में भेज दिया। किन्तु प्रधानमन्त्री शीघ्र ही बन्धन-मुक्त होने में सफल हुआ, उसने राजधानी में अपनी सफलता की घोषणा करते हुए उसी रात को कांगोली पार्लियामेंट की बैठक बुलाई और इसने उसे "वर्तमान संकट के समाधान होने तक" पूर्णाधिकार देते हुए १७ सितम्बर से प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति बनाया ताकि उस पर कासावुबू का ४ सितम्बर को उसे पदच्युत करने वाला आदेश लागू न हो।

किन्तु १४ सितम्बर को कर्नल मोबूतू ने दोनों पक्षों को तटस्थ बनाने के लिए सारी शासन सत्ता अपने हाथ में ले ली और यह घोषणा की कि ३१ दिसम्बर, १९६० तक कांगो में सैनिक शासन रहेगा। प्रधानमन्त्री और राष्ट्रपति उस समय तक अपने पद से निलम्बित (Suspended) समझे जाएंगे, जब तक देश की समस्याओं का समाधान नहीं हो जाएगा। उसने सोवियत राजदूत को कांगो से फौरन निकल जाने का आदेश दिया। लुमुम्बा के साथ दुर्व्यवहार होने लगा, वह सं० रा० संघ की सेनाओं के संरक्षण

में चला गया। मोबूतू ने देश का शासन चलाने के लिए विद्यार्थियों तथा विश्वविद्यालयों के स्नातकों की सहायता ली। इन्हें कमिश्नर नियत किया। उसे कासावुबू तथा पार्थक्यवादी नेताओं का समर्थन प्राप्त था।

९ अक्टूबर को लुमुम्बा ने अपने संरक्षित स्थान से बाहर निकलकर जनता को अपना समर्थन करने की प्रेरणा की तथा घाना और गिनी की सेनाओं के अतिरिक्त सं० रा० संघ की अन्य सेनाओं को अपने देश से निकालने के लिए लोगों को उकसाया। इस पर कर्नल मोबूतू ने यह माँग की कि संघ की सेनाएं ११ अक्टूबर को ३ बजे तक लुमुम्बा को समर्पित कर दें अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हों। संघ ने इस अल्टीमेटम को ठुकराते हुए कहा कि संघ कांगो के आन्तरिक झगड़ों में तटस्थ रहेगा और "ऐसा राजनीतिक अन्याय नहीं होने देगा कि एक राजनीतिक नेता कानून की उचित प्रक्रिया के बिना ही पकड़ लिया जाय।" शक्तिशाली व्यक्ति (Strongman) कहे जाने वाले मोबूतू को इस मामले में संघ के आगे झुकना पड़ा। लुमुम्बा के पक्षपातियों ने मोबूतू का विरोध जारी रखा। कांगोली सैनिकों ने अक्टूबर के अन्तिम सप्ताह में तीन दिन तक लिओपोल्डविले में बड़ा उत्पात मचाया। मोबूतू का कहना था कि ये गड़बड़ पैदा करने वाले व्यक्ति उसकी सेना से सम्बन्ध नहीं रखते। किन्तु संघ का यह कहना था कि देश के सुशासन की सारी जिम्मेवारी उस पर है और सब सैनिकों को राजधानी से हट कर अपनी बैरकों में चले जाना चाहिए। मोबूतू के प्रयत्न से सैनिकों के हट जाने से शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो गयी।

महामन्त्री की तटस्थता की नीति के सम्बन्ध में सोवियत यूनियन तथा लुमुम्बा की समर्थक अफ्रीकी सरकारों की ओर से बड़े-बड़े आक्षेप हो रहे थे। उनका कहना था कि संघ को लुमुम्बा की वैध (Legitimate) सरकार का समर्थन और सहायता करनी चाहिए थी, विरोधी दलों के आक्रमणों से इसे बचाना उचित था और कांगोली पार्लियामेंट को पुनः बुलाकर इस समस्या को हल करना चाहिए। इस समय डाग हैमरशोल्ड ने १८ सदस्यों की कांगो पर उन्हें **परामर्श देने वाली समिति** (Congo Advisory Committee) बनायी, भारत के श्री राजेश्वरदयाल को कांगो में अपना विशेष प्रतिनिधि नियत किया। जनरल असेम्बली ने इस समिति को संराधन समिति (Conciliation Committee) का रूप देते हुए कांगो जाने तथा "सब दलों के साथ मिलकर आन्तरिक संघर्षों के समाधान का कार्य" सौंपा। इस समिति के कुछ सदस्य कर्नल मोबूतू को हटाकर लुमुम्बा को सत्तारूढ़ करना चाहते थे। किन्तु कुछ देश इसके घोर विरोधी थे। उनका कहना था कि लुमुम्बा के पास जब सत्ता थी, तब उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वह देश में एकता तथा सुदृढ़ शासन स्थापित कर सके। लुमुम्बा ने संघ के कार्यों का विरोध किया है, अतः उसे संघ का समर्थन नहीं मिलना चाहिए और तटस्थता की वर्तमान नीति जारी रहनी चाहिए।

इसी बीच में कांगो पर श्री राजेश्वरदयाल ने १६ हजार शब्दों की रिपोर्ट महामन्त्री को प्रस्तुत की। इसमें यह कहा गया था कि "बेल्जियनों ने पार्थक्यवादी कांगोली फौजों को सशस्त्र करने में सहायता दी है, बेल्जियन अधिकारियों ने इन सेनाओं का

संचालन किया है और कुछ क्षेत्रों में ये क्रूरतापूर्ण अमानवीय कार्य करने के लिए पूर्णरूप से उत्तरदायी हैं। कसाई प्रान्त में इनका नेतृत्व एक बेल्जियन कर्नल कर रहा है। कांगो में इस समय कोई सरकार नहीं है। केवल दो संस्थाओं का मूलाधारमात्र है—ये हैं राष्ट्रपति का पद और पार्लियामेंट। कांगो की सेना सुरक्षा तथा सुदृढ़ता के स्थान पर अराजकता उत्पन्न कर रही है।" कांगो का इससे अधिक भयावह और मार्मिक चित्र क्या हो सकता है।

इस समय संघ की असेम्बली के सामने कांगो के लुमुम्बा के तथा कासावुबू के प्रतिनिधि-मण्डलों में एक प्रतिनिधि-मण्डल को संघ में स्थान देने तथा मान्यता देने का प्रश्न था। २३ नवम्बर, १९६० को जनरल असेम्बली ने २४ के विरुद्ध ५३ वोटों से कासावुबू के प्रतिनिधि-मण्डल को मान्यता प्रदान की। इस समय असेम्बली में हुए बहुमत से यह स्पष्ट हो गया कि कांगो के विषय में अफ्रीकी राज्यों में फूट पड़ गयी है और दो दल हो गये हैं। घाना और उसके साथी राज्यों ने कासावुबू प्रतिनिधि-मण्डल का विरोध करते हुए इस प्रस्ताव को स्थगित करना चाहा, किन्तु कैमरून आदि अनेक राज्यों ने इसका विरोध किया।

२७ नवम्बर को जब सारा लिओपोल्डविले संघ में अपना प्रतिनिधि-मण्डल बिठाने में सफलता प्राप्त करके राजधानी लौटने वाले राष्ट्रपति कासावुबू के स्वागत समारोह में संलग्न था, लुमुम्बा सं० रा० संघ के संरक्षण से चुपचाप भाग खड़े हुए। उनका लक्ष्य उनका समर्थन करने वाले उत्तरपूर्वी प्रान्त ओरियण्टेल (Orientale) की राजधानी स्टैनलीविले में पहुँचना तथा वहां से अपना संघर्ष आन्दोलन जारी रखना था। किन्तु वे वहां पहुँचने में सफल नहीं हो सके, मार्ग में ही कर्नल मोबूतू के सैनिकों द्वारा पकड़ लिए गए और थिसविले में बन्दी बनाकर रखे गये। कर्नल मोबूतू ने कहा कि उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाकर दण्डित किया जायगा। इस समय मोबूतू के सैनिकों ने सं० रा० संघ के कर्मचारियों के साथ दुर्व्यवहार किया, जो अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के सर्वथा प्रतिकूल था।

न्यूयार्क में ८ दिसम्बर को जब सुरक्षा परिषद् ने कांगो की समस्या पर विचार आरम्भ किया तो इसके सामने दो प्रस्ताव थे। रूस के प्रस्ताव में यह कहा गया था कि लुमुम्बा को फौरन मुक्त कर दिया जाय, कर्नल मोबूतू की सेनाओं का निःशस्त्रीकरण किया जाय, कर्नल मोबूतू को हथियार और पैसा किन स्रोतों से मिल रहा है, इसकी जांच के लिए इण्डो-एशियन राज्यों का एक आयोग बनाया जाय तथा बेल्जियनों को कांगो से हटा दिया जाय, कांगोली पार्लियामेंट की बैठक बुलायी जाय। इसके विरुद्ध पश्चिमी देशों का यह मानवीय प्रस्ताव था कि कांगो में बन्दी व्यक्तियों से मिलकर उनकी जांच करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास के व्यक्तियों को भेजा जाय। रूस का प्रस्ताव १४ सितम्बर को पश्चिमी राष्ट्रों के विरोधी बहुमत से रद्द हो गया तथा पश्चिमी राष्ट्रों का 'मानवीय प्रस्ताव' रूस ने ९२वीं बार अपने वीटो का प्रयोग करते हुए रद्द कर दिया। अब इस मामले में सुरक्षा परिषद् में गतिरोध उत्पन्न हो जाने के कारण जनरल असेम्बली ही इस समस्या का हल कर सकती थी। इसमें १७ दिसम्बर को भारत, घाना, सं० अ० गणराज्य, इंडोनीशिया, इराक और यूगोस्लाविया ने यह प्रस्ताव रखा कि संघ को (१)

यह आदेश दिया जाय कि वह यहां शान्ति और सुरक्षा के भंग को रोके, कानून और व्यवस्था स्थापित करे, सं० रा० संघ के व्यक्तियों तथा राजदूतों की अनतिक्रम्यता (Inviolability) के सिद्धान्त का पालन करे, कांगो की महत्त्वपूर्ण आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करे। (२) सब राजनीतिक बन्दियों, विशेषतः केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों तथा संसद् सदस्यों को फौरन रिहा किया जाय। (३) पार्लियामेंट की बैठक सं० रा० संघ की संरक्षकता में फौरन बुलायी जानी चाहिए। (४) तुरन्त ऐसे उपाय किये जाने चाहियें कि सशस्त्र दल देश के राजनीतिक जीवन में कोई हस्तक्षेप न करें और विदेशों से कोई सहायता न प्राप्त कर सकें। (५) बेल्जियम की सरकार का ध्यान उस द्वारा सं० रा० संघ के प्रस्तावों की अवहेलना की ओर आकृष्ट करना है। (६) बेल्जियम के सैनिक, अर्धसैनिक सलाहकार तथा शिल्पी बेल्जियन सरकार को संघ को पहले दिये गये वायदों के अनुसार फौरन वापिस बुला लेने चाहियें।

इस समय कांगो की सबसे बड़ी जटिल समस्या शोम्बे के नेतृत्व में इसके एक प्रान्त कटंगा की कांगो की केन्द्रीय सरकार से पृथक् होने की घोषणा तथा केन्द्रीय सरकार से संघर्ष करना था। कांगो ३० जून, १९६० को स्वतन्त्र हुआ तथा इसके ११ दिन बाद ११ जुलाई, १९६० को कटंगा की प्रान्तीय सरकार के अध्यक्ष शोम्बे ने कटंगा प्रान्त के स्वाधीन होने तथा केन्द्रीय सरकार से पृथक् होने की घोषणा की तथा बेल्जियम से प्रार्थना की कि वह कटंगा को आर्थिक, सैनिक तथा प्राविधिक (Technical) सहायता प्रदान करता रहे। सं० रा० संघ पिछले दो वर्ष से इसके समाधान का यत्न कर रहा था और जनवरी, १९६३ में उसे इसमें बड़ी सफलता मिली है।

कटंगा कांगो का खनिज सम्पत्ति से भरपूर एवं औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध प्रान्त है। इसमें तांबा, चाँदी, जस्ता, कैडमियम तथा कोबाल्ट की खानें हैं। बेल्जियम के शासनकाल से इस विशाल खनिज सम्पत्ति को निकालने का कार्य Union Miniere Duttant Katanga नामक एक कम्पनी कर रही है। यह विश्व की अत्यन्त सफल खनिज कम्पनियों में है और इसमें अधिकांश पूंजी बेल्जियम तथा इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों की है। इसे ६००० वर्ग मील में १९९० ई० तक खनिज पदार्थ निकालने का ठेका मिला हुआ है। यह कम्पनी विश्व का ८० फीसदी तांबा तथा ६० फीसदी कोबाल्ट उत्पन्न करती है, इसके अतिरिक्त जस्ता, चाँदी आदि भी निकालती है। कांगो की अर्थ-व्यवस्था में इसका असाधारण महत्त्व है। कांगो के कुल टैक्सों का ४५ से ५० फीसदी यही कम्पनी दिया करती है। १९६१ में इस कम्पनी ने शोम्बे की सरकार को टैक्सों तथा डिविडैण्ड के रूप में ४ करोड़ (४० मिलियन) पौण्ड प्रदान किये। कांगो की आय का प्रधान स्रोत यही कम्पनी है। यदि यह कम्पनी कटंगा प्रान्त को कांगो से पृथक् कर लेती है तो कांगो का दिवाला निकल जाता है। इस कम्पनी के अधिकारी शोम्बे के साथ मिलकर पिछले ढाई वर्ष से इसे कांगो से पृथक् रखने का प्रयत्न कर रहे थे। अतः यू थाण्ट ने जुलाई, १९६२ में लन्दन के एक प्रेस सम्मेलन में कहा था—"कांगो की समस्या कटंगा की समस्या है। कटंगा की समस्या वित्त की समस्या है। वित्त की समस्या यूनियन मिनियेरे कम्पनी की समस्या है। यह कम्पनी कांगो की समस्या के शीघ्र समाधान करने

में महत्त्वपूर्ण सहायता दे सकती है।"

सुरक्षा परिषद् ने कांगो के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये थे। पहला प्रस्ताव २१ फरवरी, १९६१ का था। इसमें इस बात पर बल दिया गया था कि कांगो में गृहयुद्ध रोकने के लिए सब उपाय बरते जाएं तथा ऐसा प्रयत्न किया जाय कि वे सब विदेशी सैनिक और वेतनभोगी राजनीतिक परामर्शदाता कांगो से चले जाएं, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेवा में न हों। दूसरा प्रस्ताव २४ नवम्बर, १९६१ का था। यह कटंगा की सेनाओं द्वारा सं० रा० संघ की सेनाओं पर हमलों के बाद पास किया गया था, इसमें यह कहा गया था कि कांगो से कटंगा के पृथक् होने के कार्यों को रोकने का प्रयत्न किया जाय।

इन प्रस्तावों के अनुसार अगस्त १९६२ में संघ के महामंत्री यू थांट ने कांगो के पुनः एकीकरण की योजना (Re-unification plan) तैयार की। इस योजना का उद्देश्य कांगो के विभिन्न प्रान्तों को एकता के दृढ़ सूत्र में पिरोना था। इसमें सबसे बड़ी बाधा कटंगा के शोम्बे तथा यूनियन कम्पनी की थी। इसे दूर करने के लिए १ अगस्त, १९६२ को यू थांट ने यह सुझाव दिया कि सं० रा० संघ के सदस्य कांगो में एकता स्थापित करने के लिए अपने प्रभाव का दबाव डालें। यदि इससे काम न चला तो कटंगा के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने पड़ेंगे। इन प्रतिबन्धों में सबसे महत्त्वपूर्ण उपर्युक्त खनिज कम्पनी (Union Miniere) द्वारा कटंगा को दी जाने वाली धनराशि को ज़प्त (freeze) करना है क्योंकि शोम्बे की कांगो को विघटित करने वाली कार्यवाहियों का मुख्य आधार इस कम्पनी से मिलने वाली सहायता है। सं० रा० अमेरिका इस प्रस्ताव से सहमत था, किन्तु ब्रिटेन, फ्रांस और बेल्जियम इसके विरोधी थे। इसके बाद यू थांट ने सं० रा० अमेरिका, ब्रिटेन और बेल्जियम से परामर्श करके कांगो के एकीकरण की विस्तृत योजना तैयार की। इसमें इसके लिए अनेक संवैधानिक, सैनिक तथा आर्थिक उपायों का निर्देश था। इसमें कांगो के संघीय विधानों की व्यवस्था करते हुए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में राजकीय आय के बँटवारे का नवीन नियम बनाया गया, कांगो की सेना के एकीकरण तथा केन्द्रीय सरकार के सब पार्टियों के सम्मिलित आधार पर बनाने के प्रस्ताव थे।

इस बात की पूरी सम्भावना थी कि कटंगा तथा शोम्बे इस योजना को लागू करने में बड़ी टालमटोल करेंगे। अतः यू थांट ने इस बात पर बल दिया कि यदि शोम्बे १० दिन में इस योजना को स्वीकार न करे तो कटंगा के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने तथा सैनिक कार्यवाही करने की व्यवस्था करनी चाहिए।

१६ नवम्बर, १९६२ को कांगो में संघ के प्रतिनिधि श्री राबर्ट गार्डिनर ने कांगो के एकीकरण के लिए शोम्बे से निम्नलिखित पाँच बातें पूरी करने पर बल दिया—(१) वह अपने बड़े सैनिक अधिकारियों को यह आदेश दें कि वे राष्ट्रपति कासावुबू के प्रति राजभक्ति की शपथ लें तथा कटंगा की पृथक् सेना भंग कर दें। (२) कटंगा की खानों से होने वाली आमदनी का उपयोग केन्द्रीय सरकार के साथ मिलकर किया जाय। (३) केन्द्रीय सरकार के कस्टम्ज़ तथा Immigration विभाग के कर्मचारी

कटंगा में भी अन्य प्रान्तों की भाँति कार्य करें। (४) सं० रा० संघ की सेना को जादोतविले, किपिशी, कोलवेज़ी आदि अब तक निषिद्ध स्थानों में प्रवेश की सुविधा दी जाय क्योंकि यहां कांगो की एकता में बाधा डालने वाले ५०० विदेशी यूरोपियन वेतन-भोगी सैनिक (White mercenaries) छिपे हुए हैं। (५) वह वेतनभोगी विदेशियों को देश से बाहर निकालने में संघ को सहयोग दे।

यू थांट ने इसी समय ब्रिटेन, बेल्जियम, पुर्तगाल, दक्षिण अफ्रीका को कटंगा से सामान न खरीदने की प्रेरणा की। कांगो के प्रधानमन्त्री अदौला ने १७ अन्य राष्ट्रों से कटंगा के माल का बहिष्कार करने की प्रार्थना की। सं० रा० अमेरिका से प्रार्थना की गई कि वह कांगो की सेना को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक रणसामग्री भेजे।

इस समय संघ वस्तुतः युद्ध नहीं चाहता था, किन्तु इन सैनिक तैयारियों से शोम्बे को आतंकित करके उसे कांगो की एकता में सहायक बनाने का इच्छुक था। शोम्बे ने इस समय संघ को प्रसन्न करने के लिए उससे वार्ता आरम्भ की। किन्तु इसी बीच में कटंगा की राजधानी एलिजाबेथविले के बाहर कटंगा के सैनिकों ने सं० रा० संघ के एक निरस्त्र हेलिकोप्टर पर गोली चलाई, संघ की सेना के एक सिख लैफ्टिनेण्ट की हत्या की और कटंगा की सेना शोम्बे के नियन्त्रण से बाहर होकर संघ की सेना पर हमले करने लगी।

इस पर सं० रा० संघ ने कांगो में लड़ने वाली अपनी सेना की आत्मरक्षा के लिए तथा व्यवस्था स्थापित करने के लिए सैनिक कार्यवाही का आदेश दिया। कांगो की संघीय सेना के अध्यक्ष श्री नोरोन्हा ने शोम्बे को यह अल्टीमेटम दिया कि वह अपनी सेना को युद्ध-विराम का आदेश दे, अन्यथा उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया जायगा। शोम्बे द्वारा अल्टीमेटम अस्वीकार किये जाने पर युद्ध छिड़ गया।

संघ की सेनाओं ने एलिजाबेथविले तथा तांबा उत्पन्न करने वाले जादोतविले पर शीघ्र ही अधिकार कर लिया तथा २१ जनवरी, १९६३ को संघ की सेनाओं ने कटंगा की सेना के अन्तिम गढ़ कोलवेज़ी पर अधिकार कर लिया। १५ जनवरी को शोम्बे ने यह घोषणा की कि कटंगा का कांगो से पृथक्करण समाप्त होता है तथा वह यू थांट की एकीकरण की योजना में पूरा सहयोग देगा।

इस प्रकार कांगो में सं० रा० संघ का प्रधान कार्य कांगो का एकीकरण सफलता के साथ समाप्त हुआ। किन्तु कांगो की एक दूसरी बड़ी समस्या वहां शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करना तथा वहां के शासन को सुव्यवस्थित रीति से चलाना है। इसके लिए वहां उपयुक्त सैनिक तथा असैनिक अधिकारियों, वैज्ञानिकों तथा शिक्षकों की कमी है। जब तक कांगो की जनता इन कार्यों के लिए शिक्षित नहीं होती, तब तक वहां दूसरे देशों से विशेषज्ञ और अधिकारी भेजने पड़ेंगे और कांगो की जनता को अपने देश का शासन चलाने की शिक्षा देनी पड़ेगी।

इस समय वहां संघ शिक्षा के इस महत्त्वपूर्ण कार्य को कर रहा है। २००० कांगोली इस समय संघ के विभिन्न प्रशिक्षण प्रोग्रामों में प्रशिक्षित किये जा रहे हैं। संघ ने वहां एक हजार विदेशी शिक्षक तथा वैज्ञानिक कारीगर भेजे हैं। बेल्जियम इस

समय कांगो को २००० डाक्टरों, अध्यापकों, कृषि-विशारदों की सेवाएं प्रदान कर रहा है। ४० हजार वेल्जियम इस समय वहां व्यापारिक कार्य करते हुए उसकी अर्थ-व्यवस्था को उन्नत कर रहे हैं।

संघ को कांगो में अनेक दृष्टियों से बड़ी सफलता मिली है। (१) संघ ने कांगो को अराजकता से बचाने, पुलिस का कार्य करने वाले तथा कबायली युद्धों को रोकने वाले २८ देशों के २० हजार सैनिक भेजे। संघ के महामन्त्री यू थांट के शब्दों में "संघ ने एक उलझी हुई स्थिति को अराजकता और अशान्ति का रूप धारण करने से रोका।" (२) कांगो की स्वास्थ्य, संचार, अर्थव्यवस्था आदि की आवश्यक सेवाओं का संचालन संघ के १६० विशेषज्ञों तथा सिविलियन व्यक्तियों द्वारा हो रहा है।(३) संघ ने अभी तक कांगो की पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बनने से रक्षा की है। उसने कांगो को बाह्य एवं विदेशी हस्तक्षेप से बचाया है। उसकी नीति तटस्थता की रही है। श्री राजेश्वरदयाल के शब्दों में "संयुक्त राष्ट्र यहां सहायता देने के लिए है, हस्तक्षेप करने के लिए नहीं; सलाह देने के लिए है किन्तु आज्ञा देने के लिए नहीं है। संघ बीच-बचाव करने के लिए है, पर किसी का पक्ष लेने के लिए नहीं है। संघ ने इस नीति पर आचरण करते हुए कांगो के हवाई अड्डों पर अधिकार करके दोनों पक्षों को रूस अथवा पश्चिम से सहायता लेने के साधनों से वंचित कर दिया, शीतयुद्ध की एवं गृहयुद्ध की भीषण ज्वालाओं से उसकी अब तक रक्षा की है। संघ के महामन्त्री डाग हैमरशोल्ड ने ८ दिसम्बर, १९६० को सुरक्षा परिषद् को कहा था—'सं० रा० संघ की सेनाएं कांगो से वापिस बुलाते ही पूर्व और पश्चिम के दोहरे हस्तक्षेप का मार्ग प्रशस्त हो जायगा। उस समय कांगो की स्थिति स्पेन के गृहयुद्ध की सी हो जायगी।" (४) संघ की सेनाओं की उपस्थिति ने कांगो में अनेक मानवीय कार्यों में सहायता की है। बलूबा जाति के लोगों को बर्बरतापूर्ण विध्वंस से बचाया है। नवम्बर के अन्त में लुमुम्बा के पलायन के बाद उसके समर्थक पूर्वी प्रान्त की राजधानी स्टैनलीविले के योरोपियनों को नष्ट करने की धमकी दी गयी थी। संघ के इस विषय में दृढ़तापूर्ण रुख से ही इनकी प्राण-रक्षा हो सकी।

पश्चिमी इरियन—सं० रा० संघ ने इसकी समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान करने में सफलता प्राप्त की है। यह प्रशान्त महासागर में स्थित न्यूगिनी टापू का पश्चिमी भाग है, इसका पूर्वी भाग अब तक आस्ट्रेलिया के नियन्त्रण में है। इरियन न्यूगिनी टापू का स्थानीय नाम है। इसका पश्चिमी भाग पहले हालैण्ड के अधिकार में था और डच न्यूगिनी कहलाता था। इसका क्षेत्रफल हालैण्ड से १२ गुना तथा जनसंख्या ७ से १० लाख के बीच में है। यहां हालैण्ड ने बहुत अधिक पूंजी लगा रखी थी और यहां उसकी अतिरिक्त आबादी के बसने के लिए उपयुक्त प्रदेश था। अतः इण्डोनीशिया की स्वतन्त्रता स्वीकार करने के बाद भी हालैण्ड इसे स्वाधीनता देने को तैयार नहीं था। उसका यह कहना था कि इस टापू के रहने वाले पपुअन लोग नस्ल की दृष्टि से इण्डोनिशिया के लोगों से सर्वथा भिन्न हैं और उन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार होना चाहिए। इस विषय में इस टापू के पूर्वी भाग पर नियन्त्रण रखने वाला आस्ट्रेलिया हालैण्ड का

प्रबल समर्थक था।

हालैंड ने १९४९ में इण्डोनीशिया के स्वाधीन होने पर दो वर्ष के भीतर पश्चिमी इरियन के भविष्य पर विचार करने का वचन दिया था, किन्तु वह इसे निरन्तर टालता रहा। इस पर इण्डोनीशिया से उसका विवाद इतना उग्र हो गया कि दोनों देशों ने अपने दूत सम्बन्ध भंग कर लिए और इण्डोनीशिया ने अपने देश में विद्यमान सारी डच सम्पत्ति को ज़ब्त (Freeze) कर लिया।

दिसम्बर १९६१ में इण्डोनीशिया के राष्ट्रपति डा० सुकार्णो ने हालैण्ड को यह अल्टीमेटम दिया कि या तो ३१ दिसम्बर, १९६२ तक उसे पश्चिमी इरियन सौंप दिया जाय अन्यथा वह इसे शक्ति द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। इस पर हालैण्ड ने अपने हवाई छतरी वाले तथा समुद्री सैनिक यहां भेज दिये, दोनों देशों में युद्ध की विस्फोटक एवं भीषण स्थिति उत्पन्न हो गई।

इस समस्या का समाधान करने के लिए सं० रा० अमेरिका के एलसबर्थ बंकर ने यह योजना प्रस्तुत की कि हालैण्ड इस टापू की सत्ता सं० रा० संघ के कर्मचारियों को हस्तान्तरित करे और ये इसे इण्डोनीशियन लोगों को प्रदान करें। बाद में इसमें कुछ संशोधन किये गए। हालैण्ड ने पहली अक्टूबर १९६२ को इस टापू का शासन सं० रा० संघ को सौंपा और संघ ने पहली मई १९६३ को इसे इण्डोनीशिया को प्रदान किया।

लाओस—यह दक्षिणपूर्वी एशिया में ९० हजार वर्ग मील का तथा २० लाख की आबादी का देश छः देशों से घिरा हुआ है, इनमें दो देश उत्तरी वियतनाम और साम्यवादी चीन के समर्थक हैं, थाईलैण्ड और दक्षिणी वियतनाम पश्चिम के समर्थक हैं, बर्मा तथा कम्बोडिया तटस्थ देश हैं। इस देश में तीन दल होने के कारण यहां की स्थिति बड़ी जटिल है। ये तीन दल इस प्रकार हैं—(१) साम्यवादियों के नेतृत्व में पाथेट लाओ (Pathet Lao) दल, इनके नेता राजकुमार सूफानौवोंग हैं। (२) राजसत्तावादी (Royalists), इनके नेता बौन औम हैं। (३) तटस्थतावादी (Neutralists) इसके नेता राजकुमार सौवन्ना फौमा हैं।

पिछले दस वर्षों से इन तीनों दलों में गृहयुद्ध चल रहा है। १९६१ में यहां परिस्थिति इतनी जटिल हो गई कि ऐसा प्रतीत होता था कि इसके कारण विश्वयुद्ध छिड़ जायगा, किन्तु सं० रा० संघ द्वारा यहां शान्ति स्थापित रखने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

लाओस की अन्तर्राष्ट्रीय असाधारण सामरिक महत्ता का कारण यह है कि पश्चिमी देश यह समझते हैं कि यदि इस देश पर साम्यवादियों का शासन स्थापित हो गया तो इसे अड्डा बनाकर वे थाईलैण्ड और दक्षिणी वियतनाम की ओर बढ़ेंगे। दूसरी ओर इसी दृष्टि से साम्यवादी चीन इस पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए पाथेट लाओ दल को शस्त्रास्त्र की पूरी सहायता दे रहा है। इस प्रकार यह छोटा-सा देश पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है और किसी भी समय यहां विश्वयुद्ध का दावानल प्रज्वलित हो सकता है।

इसे रोकने के लिए जून १९६२ में महाशक्तियों ने जेनीवा में एक समझौता किया। यहां शान्ति स्थापित करने के लिए संघ की ओर से तीन सदस्यों का एक अन्त-

र्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग (International Control Commission, ICC) है। इसका सभापति भारत है। किन्तु इसे अभी तक पूरी सफलता नहीं मिली, कई बार यहां गृहयुद्ध की अग्नि भड़क उठती है। फरवरी १९६३ में पाथेट लाओ द्वारा घोर कम्यूनिस्ट विरोधी सैन्याधिकारी कर्नल केरसाना वोंग सतावह्न की हत्या कर दी गई, अप्रैल १९६३ में वामपक्षपाती तटस्थतावादी मंत्री क्विनीम फोलसेन की हत्या हुई तथा इससे जार्स के मैदान (Plains of Jars) में युद्ध की अग्नि भड़क उठी, कहा जाता है कि इसमें साम्यवादी चीन तथा उत्तरी वियतनाम की सेनाओं ने भाग लिया। अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग के भारतीय सभापति श्री अवतारसिंह शान्ति स्थापित करने के लिए यहां पहुंचे तथा सं० रा० संघ के महामन्त्री यू थांट ने इस समस्या का समाधान करने के लिए १४ राष्ट्रों का सम्मेलन जेनीवा में बुलाया। यद्यपि यह सम्मेलन लाओस की समस्या हल नहीं कर सका, अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग को भी शान्ति स्थापित करने में पूर्ण सफलता नहीं मिली, किन्तु फिर भी संघ इस दृष्टि से सफल रहा है कि उसने इस युद्ध के दावानल को लाओस तक ही सीमित रखा है, उसे विश्वयुद्ध में परिणत होने से रोके रखा है।

यमन—१९ सितम्बर, १९६२ को यमन के अत्याचारी शासक इमाम अहमद की मृत्यु होने पर २६ सितम्बर को वहां क्रान्ति हुई और कर्नल अब्दुल्ला सल्लाल के नेतृत्व में क्रान्तिकारी परिषद् ने वहां राजतन्त्र का अन्त करके गणराज्य स्थापित किया और राजसत्ता अपने हाथ में लेली। इसके नेता कर्नल नासिर एवं मिस्र से बहुत प्रभावित थे और इन्हें रूस और मिस्र का पूरा समर्थन प्राप्त था। रूस और मिस्र ने २८ तथा २९ सितम्बर को नई सरकार को मान्यता प्रदान की। इसी समय यमन की नई सरकार का विरोध करने तथा पुराने राजतन्त्र का समर्थन करने के लिए राजकुमार हसन ने सौदी अरब के जिद्दा स्थान में यमन की निर्वासित सरकार (Government in exile) की स्थापना की। इस सरकार को सौदी अरब तथा जोर्डन का समर्थन प्राप्त था और ये देश यमन की क्रान्तिकारी गणराज्य सरकार को कुचलने के लिए इसे शस्त्रास्त्र और सेनाओं की सहायता करने को तैयार थे। इस पर १३ मई को राष्ट्रपति नासिर ने यह घोषणा की कि वह यमन में किसी भी विदेशी हस्तक्षेप का विरोध करेगा। इसी बीच में यह समाचार आया कि इमाम अहमद का उत्तराधिकारी इमाम मुहम्मद जीवित है, अभी तक यह समझा जाता था कि २६ सितम्बर की क्रान्ति में राजमहल पर हमले के समय वह मारा गया था, वास्तव में वह विध्वस्त महल के मलवे में दब गया था और एक स्त्री की सहायता से सिपाही का वेष बदल कर यमन के उत्तरी प्रदेश के पहाड़ों में छिपकर चला आया था, जहां उसके समर्थक अधिक संख्या में थे। यमन की निर्वासित सरकार के अध्यक्ष हसन ने अपने चाचा के इस प्रकार प्रकट होने से सारी शासन सत्ता उसे सौंप दी और उसने नई सरकार में अपने भतीजे हसन को प्रधानमन्त्री बनाया। अक्टूबर की समाप्ति पर राजपक्षपाती (Royalists) तथा गणराज्यवादियों के दोनों पक्षों में भीषण युद्ध छिड़ गया।

३१ अक्टूबर, १९६२ को राज्यपक्षपातियों ने यमन पर रक्तसागर के निकट

हकड़ क्षेत्र पर आक्रमण किया। यह कहा जाता था कि उसमें सौदी अरब के १००० सैनिक थे। हकड़ यमन की राजधानी सनआ को जाने वाले एकमात्र मैदानी मार्ग को नियन्त्रित करता था, शेष तीन ओर से राजधानी दुर्गम पहाड़ी प्रदेशों से घिरी होने के कारण सुरक्षित थी। इसके बाद दोनों पक्षों में काफी बड़े पैमाने पर युद्ध छिड़ गया। मिस्र (सं० अरब गणराज्य) ने यमन के गणराज्य की सरकार को सहायता देने के लिए १० हजार से अधिक सैनिक भेजे और सौदी अरब तथा जोर्डन राजसत्तावादियों (Royalists) को शस्त्रास्त्र और सेना की भारी मदद पहुंचाई। यह युद्ध अब यमन का आन्तरिक गृहयुद्ध न होकर अरब राज्यों की लड़ाई का रूप धारण करने लगा। १९६३ के पहले तीन महीनों में इस प्रदेश में उग्र युद्ध चलने के कारण स्थिति बड़ी गम्भीर हो गई।

इस भयावह और विस्फोटक स्थिति को रोकने के लिए सं० रा० संघ की ओर से हस्तक्षेप किया गया। उसकी ओर से डा० राल्फ बुंचे इस विषय में तथ्यों की जांच के लिए यहां भेजे गए (१-४ मार्च, १९६३)। वे सनआ में यमन के राष्ट्रपति सल्लाल से मिले तथा युद्धग्रस्त क्षेत्रों का निरीक्षण करने के बाद वे काहिरा में राष्ट्रपति नासिर से मिले और उन्होंने इस समस्या को शान्तिपूर्वक सुलझाने का तथा दोनों पक्षों को मदद देने वाली विदेशी शक्तियों से अपने सैनिक वापिस बुला लेने की प्रेरणा की। न्यूयार्क में २० मार्च को सं० रा० संघ के एक प्रवक्ता ने बताया कि राल्फ बुंचे के साथ वार्त्ता के फलस्वरूप राष्ट्रपतिन ासिर ने यमन से २५ हज़ार के लगभग अपनी सभी फौजों को इस शर्त पर वापिस बुलाना मान लिया है कि इसके साथ ही यमन की स्थलीय सीमाओं से कोई अन्य देश इसे सैनिकों की और युद्धसामग्री की मदद नहीं पहुँचाएगा। संघ के प्रयत्नों से शनैः शनैः बाह्य शक्तियों ने यमन से अपनी सैनिक सहायता हटानी शुरू कर दी और इसके परिणामस्वरूप यहां शान्ति स्थापित हो गई।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि संघ अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की कई समस्याएँ सुलझाने में सफल रहा है। उसने ईरान, बर्मा, सीरिया, लेबनान से विदेशी सेनाएं हटवाने में, कोरिया, मिस्र, यूनान, काश्मीर, फिलस्तीन तथा इण्डोनीशिया में युद्ध बन्द करवाने में तथा कांगो पश्चिमी इरियन, लाओस, यमन में शांति स्थापित करने में सफलता पाई है। यद्यपि दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ होने वाले दुर्व्यवहार को रोकने की अक्षमता, निःशस्त्रीकरण, वीटो का बार-बार उपयोग संघ की बड़ी शोचनीय विफलताएं हैं, किन्तु फिर भी सं० रा० संघ को राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे में बहुत अधिक सफलता मिली है और इससे भी अधिक सफलता उसे आर्थिक तथा सांस्कृतिक कार्यों में मिली है।

संघ के आर्थिक, सांस्कृतिक तथा अन्य कार्य

पहले यह बताया जा चुका है कि सं० रा० संघ के चार्टर में मानवीय सांस्कृतिक एवं आर्थिक कार्यों को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इनके लिए अनेक विशेष संगठन (Specialised Agencies) और आयोग संघ से सम्बद्ध हैं। इनकी संख्या इस

समय ११ है। कार्यों की दृष्टि से इन्हें चार मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है—आर्थिक, संचार साधन (Communications), शिक्षा सम्बन्धी, स्वास्थ्य और कल्याण सम्बन्धी, यहां इनके कार्यों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाएगा।

आर्थिक कार्य और संगठन—संघ के आर्थिक कार्यों को करने वाले मुख्य संगठन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation, I. L. O.), खाद्य कृषि संगठन (Food And Agriculture Organisation, F. A. O.), अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund, I. M. F.), अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निकाय (International Finance Corporation, I. F. C.) हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन—यह सं० रा० संघ का सबसे पुराना, राष्ट्रसंघ के साथ १९१९ में स्थापित किया गया संगठन है, इसका मजदूरों, मिल मालिकों तथा सरकारों के प्रतिनिधियों का त्रिपक्षीय स्वरूप भी पहले स्पष्ट किया जा चुका है (देखिए पृ० ४४)। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय फिलाडेल्फिया में हुई इसकी बैठक में की गई घोषणा में इसके निम्नलिखित मौलिक सिद्धान्त निश्चित किये गए थे—(१) श्रम वस्तु (Commodity) नहीं हैं। (२) कहीं भी दरिद्रता हो, वह सब जगह की समृद्धि के लिए खतरा है। (३) निरन्तर उन्नति के लिए अभिव्यक्ति और संगठन की स्वतन्त्रता आवश्यक है। (४) अभाव और दरिद्रता के विरुद्ध प्रत्येक देश में पूरे उत्साह के साथ युद्ध लड़ा जाना चाहिए। उपर्युक्त घोषणा में निम्नलिखित सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रोग्राम बनाने का निश्चय हुआ—(१) पूरा रोजगार तथा जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक पूरी मजदूरी (२) सामाजिक सुरक्षा के कार्यों का विस्तार (३) पर्याप्त भोजन तथा निवासगृहों की व्यवस्था, (४) सामूहिक रूप से सौदा करने (Collective bargain) का अधिकार, (५) अवसरों की समानता, (६) स्वास्थ्य और सुरक्षा-सम्बन्धी पूर्ण व्यवस्था। इसका मुख्य लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा श्रमिकों की दशा उन्नत करना, जीवनस्तर को ऊंचा उठाना, आर्थिक और सामाजिक स्थिरता को बढ़ाना है। १९४६ में राष्ट्रसंघ की इस संस्था को उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, संयुक्त राष्ट्रसंघ का अंग स्वीकार किया गया।

इसका एक प्रधान कार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समझौतों (Conventions) व सिफारिशों के रूप में विविध प्रकार की श्रम सम्बन्धी दशाओं के अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों (Standards) का निर्माण है। इसके सदस्यों से यह आशा रखी जाती है कि वे अपनी सरकारों से इन समझौतों की संपुष्टि (Ratification) करवा के इन्हें कानून का रूप दिलवाने का प्रयत्न करेंगे और श्रम कार्यालय को इस बात की रिपोर्ट देंगे कि इनका पालन कहां तक हो रहा है। १९५७ तक ऐसे १०७ समझौते तथा विभिन्न सरकारों द्वारा इनकी १८०० संपुष्टियां हो चुकी हैं। इसकी सिफारिशों के लिए यद्यपि संपुष्टि आवश्यक नहीं हैं किन्तु फिर भी सदस्य इन्हें कानून द्वारा क्रियान्वित करने का प्रयत्न करते हैं।

यह संगठन श्रमिकों की दशाएं सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार के सामाजिक अनुसन्धान करता है, आंकड़े तथा रिपोर्टें प्रकाशित करता है, प्राविधिक सहायता की विविध योजनाओं की तथा विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रमों की व्यवस्था करता है,

विभिन्न देशों को जीवनस्तर ऊंचा करने, उत्पादन वृद्धि, मजदूरों की क्षमता बढ़ाने के परामर्श देता है। सहकारिता, सामाजिक सुरक्षा, औद्योगिक सुरक्षा, स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में यह विभिन्न राज्यों को सलाह देता है। इसका स्थायी कार्यालय जेनीवा में है, और क्षेत्रीय कार्यालय (Field offices) एशिया के लिए बंगलौर (भारत) में, दक्षिण अमेरिका के लिए लीमा (पेरू) में, मध्य अमेरिका के लिए मेक्सिको नगर में और मध्यपूर्व के लिए इस्तम्बूल में हैं। इसने कारखानों में काम करने वालों के लिए अनेक नियमावलियां या संहिताएं (Codes) तैयार की हैं जैसे कोयले की खानों में काम करने वालों का कोड, कारखानों के कार्यकर्ताओं का कोड।

इस संगठन के तीन अंग हैं—शासक संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन तथा श्रम कार्यालय। इस समय इसकी शासक संस्था (Governing body) के ४० सदस्यों में २० विभिन्न सरकारों के, १० मजदूरों के तथा १० मालिकों के प्रतिनिधि होते हैं, ये हर तीसरे वर्ष चुने जाते हैं। २० सरकारों में से निम्नलिखित १० सरकारें अपनी औद्योगिक महत्ता के कारण इसकी स्थायी सदस्य हैं—कनाडा, चीन, फ्रांस, जर्मनी, भारत, इटली, जापान, रूस, सं. रा. अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन। इसका दूसरा अंग अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference) है, इसमें इसके सदस्य राज्यों के दो सरकारी प्रतिनिधि, १ मजदूर संगठनों का तथा १ मिल मालिकों के संगठन का प्रतिनिधि होता है। इसका श्रम कार्यालय सामाजिक, आर्थिक और श्रम-सम्बन्धी प्रश्नों का अनुसन्धान करता है, इन विषयों पर सरकारों को परामर्श देता है, विभिन्न सम्मेलनों का तथा सभाओं का कार्यक्रम और आवश्यक सामग्री तैयार करता है।

खाद्य और कृषि संगठन (F. A. O.)—यह संयुक्तराष्ट्र के अन्तर्गत १९४५ में युद्ध के बाद स्थापित होने वाला पहला संगठन था। इसके मुख्य अंग एक सम्मेलन, एक परिषद् तथा डायरेक्टर जनरल और उसका स्टाफ है। सम्मेलन में ७७ सदस्य राष्ट्रों का एक-एक प्रतिनिधि होता है, परिषद् में सम्मेलन द्वारा चुने हुए २४ सदस्य होते हैं। इसका प्रधान कार्यालय रोम में रखा गया है। इसका प्रधान कार्य खाद्य और कृषि सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन और अनुसन्धान, विश्व में खाद्य सामग्री तथा कृषि की परिस्थितियों का निरीक्षण, विभिन्न सरकारों को इस विषय में आंकड़े, अनुमान तथा भावी सम्भावनाओं की सूचनाएं देना है। यह कृषि, वनसम्पदा और मत्स्यपालन के विषय में निम्न उद्देश्य पूरा करने के लिए उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कार्य करने के सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें देता है—(१) खाद्यान्नों, वन्यसम्पत्ति तथा मछलियों का उत्पादन बढ़ाना, इनके विक्रय की व्यवस्था उन्नत करना। (२) जीवन-यापन और पोषण के स्तर को उन्नत करना। (३) अपने कार्यक्षेत्र में शिक्षण एवं प्रशासन का सुधार। (४) प्राकृतिक साधनों का संरक्षण। (५) भूमि धारण व्यवस्था (Land Tenure) की विभिन्न पद्धतियों का सुधार और कृषि के लिए साख का प्रबन्ध। यह संगठन अल्पविकसित देशों के राष्ट्रीय विकास के प्रोग्रामों में सहायता देने के लिए अपने विशेषज्ञ भेजता है। उत्तर प्रदेश में तराई के प्रदेश को कृषि योग्य बनाने

में इसने बड़ी सहायता दी है, इण्डोनीशिया में मछली तथा चावल के उत्पादन को इसने बहुत बढ़ाया है! इसके कारण थाईलैण्ड, हैटा में खेती की नई विधियों का प्रचार हुआ, भारत में चावल के अनुसन्धान का केन्द्र स्थापित हुआ। इसने मध्य एवं सुदूरपूर्व के देशों में लाखों पशुओं का संहार करने वाली बीमारियों के प्रतिकार ढूंढ़े है। यूनान, ग्वाटीमाला, फिलिप्पाइन द्वीप-समूह और थाईलैण्ड में इसने पोषण की समस्याओं का अध्ययन किया है, योरोप और दक्षिण अमेरिका में इमारती लकड़ी का उत्पादन बढ़ाने में सहायता दी है, कृषि सम्बन्धी समस्याओं पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया है। खाद्य और कृषि की प्रत्येक समस्या पर यह विभिन्न देशों को प्राविधिक सहायता और परामर्श देता है, प्रतिवर्ष विश्व खाद्यान्नों का सर्वेक्षण (World Food Survey) करता है। राष्ट्रसंघ में इस प्रकार का कोई संगठन नहीं था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.)—२७ दिसम्बर, १९४५ को ब्रेटनवुडस् सम्मेलन (जुलाई १९४४) के निर्णयानुसार इसे स्थापित किया गया था। इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सम्बन्धी सहयोग बढ़ाना, विनिमय (Exchange) की बाधाओं को दूर करना, इसमें स्थिरता लाना, विश्व व्यापार के विस्तार में सुविधाएं प्रदान करना है। ३१ दिसम्बर, १९६२ तक ८२ राष्ट्र इसके सदस्य बन चुके थे। इसने विभिन्न सरकारों को उनकी मुद्राओं की विनिमय दरें (Exchange rates) सोने में तथा सं० रा० अमेरिका के डालर में निश्चित करने में सहयोग प्रदान किया है और विनिमय सम्बन्ध व्यवहार में आने वाली बाधाओं को दूर किया है।

पुर्ननिर्माण तथा विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction and Development, IBRD) की योजना का सूत्रपात भी ब्रेटन-वुडस् सम्मेलन में हुआ था, किन्तु इसने अपना कार्य जून १९४६ में आरम्भ किया। इसका उद्देश्य उत्पादन बढ़ाने, जीवन-स्तर ऊंचा उठाने, विश्व व्यापार में अधिक अच्छा सन्तुलन लाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग को प्रोत्साहन करना है। १९५७ में इसकी पूंजी ९,३३,३०,००,००० डालर थी। यह बैंक अपनी पूंजी से विभिन्न देशों को विकास के कार्यों के लिए ऋण प्रदान करता है। ३१ दिसम्बर, १९६२ तक इसने ८१ सदस्यों में से ६१ सदस्यों को ६७,०,०१०,००,००० डालर के ३३३ ऋण बिजली पैदा करने के कारखानों, यातायात, उद्योग तथा कृषि के विकास के लिए दिए थे। भारत को अपने औद्योगिक विकास तथा पंचवर्षीय योजनाओं में इस बैंक से बड़े महत्त्वपूर्ण ऋण मिले हैं। नवम्बर १९५७ तक भारत को इस बैंक से १,७६,०५,००,००,००० की सहायता निम्नलिखित कार्यों के लिए मिली थी—(१) भारतीय रेलों के इंजन खरीदना। (२) जंगलों की भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए आवश्यक मशीनें ट्रैक्टर, बुलडोज़र आदि खरीदना। (३) दामोदर घाटी की बोकारी-कोनार योजना की पूर्ति। (४) एयर इण्डिया इन्टरनेशनल द्वारा नए हवाई जहाजों का खरीदना। (५) इण्डियन आयरन स्टील कम्पनी का तथा टाटा आयरन कम्पनी के कारखानों का विस्तार और आधुनिकीकरण। (६) ट्राम्बे में बिजली के लिए थर्मल प्लाण्ट लगाना। १९५८ में इस बैंक ने भारतीय रेलों के विस्तार और उन्नति की योजना के लिए ८,५०,००,००० डालर का ऋण दिया

है। १९५७–५८ में इस बैंक ने भारत को नौ ऋण, जापान को सात, इक्वेडोर को चार तथा पाकिस्तान को तीन ऋण दिए। इन ऋणों से यह अल्पविकसित देशों की आर्थिक उन्नति में बहुत सहायक सिद्ध हो रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निकाय (I. F. C.)—यह जुलाई १९४६ में स्थापित किया गया था, यह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से सम्बद्ध ५३ सदस्यों का ९ करोड़ ३० लाख डालर की पूंजी वाला संगठन है। यह भी आर्थिक विकास के लिए धन विनियोग करता है। किन्तु यह सरकारी गारण्टी के बिना, निजीक्षेत्र (Private Sector) में पूंजी लगाने वाले व्यक्तियों को ऐसी स्थिति में ऋण देता है, जब उचित दर पर पर्याप्त पूंजी उपलब्ध न हो। ३१ दिसम्बर, १९५७ तक इसने ६० लाख डालर के ऋण ब्राजील, मैक्सिको, चिली, आस्ट्रेलिया को दिए थे।

संचार सम्बन्धी संगठन और कार्य—अन्तर्राष्ट्रीय सैनिकेतर हवाई संगठन (International Civil Association Organization, ICAO) ४ अप्रैल, १९४७ को स्थापित किया गया, इसका उद्देश्य हवाई यात्रा सम्बन्धी विभिन्न सुरक्षा व्यवस्थाओं तथा इनके एकरूप संचालन को उन्नत करना, नवीन प्राविधिक साधनों और सामग्री की जानकारी को बढ़ाना और सब देशों को सुलभ बनाना है। इसी प्रकार के तीन अन्य संगठनों—सार्वभौम पोस्टल संघ (Universal Postal Union, UPU), अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ (International Telecommunication Union, ITU) तथा विश्व ऋतुविज्ञानीय संगठन (World Meteorological Organization, WMO) का स्वरूप इनके नामों से ही स्पष्ट है। १९४७ में आर्थिक और सुरक्षा परिषद् ने नौचालन तथा समुद्री जहाजों के संचालन के अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के सम्बन्ध में अन्तःसरकारी सामुद्रिक परामर्शदाता संगठन (Inter Governmental Maritime Consultative Organization, IMCO) स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों की यात्रा करने वाले व्यक्तियों के लिए पासपोर्ट, विसा तथा मुद्रा सम्बन्धी नियमों को सुगम बनाने तथा यात्रियों पर टैक्सों का बोझ कम करने के लिए सरकारी यात्रा संगठनों का अन्तर्राष्ट्रीय संघ (International Union of Official Travel Organization, IUOTO) भी बना हुआ है।

सांस्कृतिक कार्य—इनके लिए सं० रा० संघ की सुप्रसिद्ध संस्था **सं० रा० शैक्षणिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक संगठन** (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization, UNESCO) है। यह मित्रराष्ट्रों के शिक्षामंत्रियों के युद्धकालीन सम्मेलनों के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है। नवम्बर १९४५ में लन्दन के सम्मेलन में ब्रिटिश तथा फ्रेंच सरकारों ने इसके संविधान का निर्माण आरम्भ किया और ४ नवम्बर को इस संस्था का जन्म हुआ। आरम्भ में इसके केवल २० सदस्य थे, फरवरी १९५८ में इनकी संख्या बढ़कर ७९ हो गई है। सोवियत यूनियन इसका सदस्य बहुत देर से १९५४ में बना।

इसके संविधान में इसका उद्देश्य शान्ति और सुरक्षा की वृद्धि बताया गया है और इसकी भूमिका में कहा गया है "युद्ध मनुष्यों के मनों में पैदा होते हैं, इसलिए शांति

को सुरक्षित रखने की आधारशिलाएं भी मनुष्यों के मनों में बनाई जानी चाहिएं।" अतः यूनेस्को का मुख्य उद्देश्य मनुष्यों के मनों को इस तरह परिवर्तित कर देना है कि युद्धों की सम्भावना समाप्त हो जाय। यह "शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के माध्यम से न्याय, कानून के शासन, मानवीय और मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सब लोगों में आदर की भावना उत्पन्न करता है।"

यूनेस्को के तीन अंग हैं—(१) सामान्य सम्मेलन (General Conference)—इसमें सब सदस्य देशों का एक-एक प्रतिनिधि होता है। इसकी बैठक दो वर्ष में एक बार होती है और यह इसकी नीति का तथा कार्यक्रमों का निर्धारण करती है। (२) कार्यवाहक (Executive) बोर्ड—इसके २४ सदस्य सामान्य सम्मेलन द्वारा चुने जाते हैं। इसकी बैठकें साल में दो बार होती हैं और इसके विभिन्न कार्यक्रमों को क्रियान्वित करती हैं। (३) सचिवालय (Secretariat)—इसमें एक महानिर्देशक (Director General) तथा उसका अन्तर्राष्ट्रीय स्टाफ इसके मुख्य कार्यालय पेरिस में रहता है। यह इसके प्रमुख कार्यक्रमों के अनुसार छः भागों में विभक्त है—शिक्षा, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, सांस्कृतिक कार्य, सामूहिक शिक्षा और प्रचार के साधन (Mass Communication), प्राविधिक सहायता।

यूनेस्को का कार्यक्रम मुख्यरूप से आठ अंशों में बंटा हुआ है। (१) शिक्षा—इस कार्यक्रम के तीन लक्ष्य हैं—शिक्षा का विस्तार, शिक्षा की उन्नति और विश्व समुदाय (World Community) में रहने की शिक्षा। इसमें साक्षरता के प्रसार और मौलिक शिक्षा (Fundamental Education) पर बहुत बल दिया गया है। मौलिक शिक्षा का तात्पर्य सामुदायिक विकास (Community Development) की उस शिक्षा से है, जो साधारण जनता को उनके स्वास्थ्य, भोजन, फसलों और जीवन-स्तर को सुधारने के लिए दी जाती है। निरक्षर जनता को साक्षर बनाने के साथ-साथ, शारीरिक स्वास्थ्य, आहार तथा पोषण, कृषि, गृहविज्ञान की आरम्भिक शिक्षा भी दी जाती है। शिक्षा की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए विशेषज्ञ भेजे जाते हैं। सामूहिक शिक्षा (Mass Education) पर यूनेस्को ने बड़ा बल दिया है। १९५१ में इस कार्य के लिए पात्सक्वारो (Patzcaro) (मेक्सिको) में एक केन्द्र खोला गया था। इसका प्रयोजन इस शिक्षा की प्रविधियों के विशेषज्ञों का प्रशिक्षण तथा इस क्षेत्र के लिए उपयुक्त शिक्षा सम्बन्धी सामग्री तैयार करना था। भारत में इस प्रकार की कई योजनाएँ चल रही हैं, जामिया मिलिया ने यूनेस्को की सहायता से प्रौढ़ों को साक्षर बनाने के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने का, एवं साहित्य प्रकाशन का कार्य किया है। अरब राज्यों के लिए मौलिक शिक्षा का एक केन्द्र १९५३ में मिस्र में खोला गया था। यूनेस्को का ध्येय सर्वत्र सब लोगों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करना है। यह विभिन्न देशों की शिक्षा सम्बन्धी विशेष योजनाओं को सहायता देती है। इसका एक बड़ा उद्देश्य युद्ध उत्पन्न करने वाले विचारों के विरुद्ध विश्व नागरिकता के मूल तत्त्वों की शिक्षा देना है, युद्धों का एक बड़ा कारण नस्ल (Race) एवं जाति का मिथ्याभिमान होता है, हिटलर नार्डिक आर्य जाति को सर्वोत्कृष्ट और विश्व पर

शासन करने योग्य समझता था, यहूदियों का उत्पीड़न करता था। यूनेस्को ने जातिवाद के विरुद्ध विभिन्न भाषाओं में साहित्य प्रकाशित किया है। भारत में कई साम्प्रदायिक संघर्ष और तनाव शान्ति भंग कर देते हैं, इन तनावों के मूल कारणों की खोज यूनेस्को की ओर से प्राध्यापक मरफी ने की है। (२) प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में इसने वैज्ञानिकों के सभा सम्मेलनों का आयोजन, वैज्ञानिक संगठनों की सहायता, अनुसन्धान, प्रकाशन तथा वैज्ञानिक शिक्षा का कार्य किया है। (३) सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में इसके प्रधान कार्य इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संघों का निर्माण और सहायता, विचारगोष्ठियों का आयोजन, अन्तर्राष्ट्रीय तनावों पर साहित्य का प्रकाशन रहा है। यह अन्तर्राष्ट्रीय समाजविज्ञान बुलेटिन (International Social Science Bulletin) का प्रकाशन करता है। (४) इसका सांस्कृतिक कार्य विभिन्न कलाओं और दर्शन से सम्बद्ध है, इनके विषय में अनुसन्धान, सभा-सम्मेलनों, विचार गोष्ठियों (Seminar) का आयोजन तथा विविध प्रकार के साहित्य का प्रकाशन है। संग्रहालयों के लिए फ्रेंच और इंगलिश में 'म्यूज़ियम' नामक पत्र भी निकाला जाता है। (५) व्यक्तियों के विनिमय (Exchange of Persons) कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न देशों के विद्वानों को दूसरे देशों में भेजा जाता है, विभिन्न समूहों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किए जाते हैं। (६) सामूहिक शिक्षा और प्रचार (Mass Education) में इसका कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इसमें अन्धों के शिक्षण की एकरूप उभरे अक्षरों वाली ब्रेल-पद्धति (Braille Type) से लेकर सब देशों में शिक्षाप्रसार के विभिन्न साधनों—प्रेस, फिल्म, रेडियो द्वारा शिक्षा सामग्री के स्वतन्त्र प्रवाह सम्बन्धी अनेक प्रकार के कार्य हैं। (७) पुनर्वास (Rehabilitation)—इसने सं० रा० अमेरिका, कनाडा आदि में जन-कल्याणकारी संस्थाओं द्वारा धन संग्रह करके इससे विभिन्न देशों के शरणार्थियों के पुनर्वास में बड़ी सहायता पहुंचाई है। (८) संघ के अन्य विशेष संगठनों की भांति यह प्राविधिक सहायता (Technical Assistance) कार्यक्रम के अन्तर्गत अपने विशेषज्ञों द्वारा विभिन्न प्रदेशों को उपयुक्त परामर्शों द्वारा लाभ पहुँचाता है।

इसके कुछ विशेष कार्य निम्नलिखित हैं—(१) अग्रगामी विकास योजनाओं (Pilot Projects) द्वारा किए अनुसन्धानों से विभिन्न देशों की जनता का स्तर ऊंचा करना, (२) ग्रामीण क्षेत्रों में प्रौढ़ शिक्षा के सम्बन्ध में विचारगोष्ठियों का आयोजन (३) विशेष समस्याओं को हल करने के लिए विशेषज्ञ भेजना (४) वैज्ञानिकों में सम्पर्क और सम्बन्ध स्थापित करना (५) विज्ञान, सामाजिक विकास, शिक्षा-प्रबन्ध, चित्रपट तथा रेडियो द्वारा शिक्षा आदि विषयों के अध्ययन के सम्बन्ध में छात्रवृत्तियां प्रदान करना (६) डालर की कमी वाले क्षेत्रों में लाखों डालरों के कूपन प्रदान करके इसने शिक्षा सम्बन्धी सामग्री, पुस्तकों और वैज्ञानिक यन्त्रों को प्राप्त करने में बड़ी सहायता की है। (७) अन्तर्राष्ट्रीय कापीराइट समझौते से इसने लेखकों और कलाकारों के अधिकारों की रक्षा की है।

यूनेस्को ने निम्नलिखित समस्याओं के अध्ययन तथा कार्यों में प्रशंसनीय कार्य किया है—युद्ध उत्पन्न करने में सहायक तनाव (Tensions) तथा जातीय (racial)

समस्याएं, पूर्व-पश्चिम के तनाव, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय संचार साधन, शिक्षा सम्बन्धी पुनर्निर्माण, मानवजाति की एकता को सुदृढ़ करने वाला तथा एक-दूसरे की संस्कृति के प्रति सम्मान उत्पन्न करने वाला सांस्कृतिक आदान-प्रदान, वैज्ञानिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग।

अन्य कार्य

विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organization, WHO)—सं० रा० संघ की सामाजिक-आर्थिक परिषद् द्वारा न्यूयार्क में १९ जून से २२ जुलाई, १९४६ तक बुलाये गए एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्मेलन ने इसका संविधान तैयार किया था, यह ७ अप्रैल, १९४८ से क्रियान्वित किया गया। ३१ मार्च, १९६३ तक ११९ देश इसके सदस्य बन चुके थे। इसके संविधान में स्वास्थ्य का लक्षण करते हुए कहा गया है कि "यह बीमारी या दुर्बलता का अभाव नहीं, किन्तु शारीरिक, मानसिक और सामाजिक दृष्टि से पूर्णरूप से उत्तम रहने की दशा है।" इसका उद्देश्य "विश्व के देशों की जनता द्वारा स्वास्थ्य की उच्चतम संभव दशा" प्राप्त करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह संगठन निम्नलिखित कार्य करता है—(१) अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य के कार्यों का संचालन और समन्वय, (२) स्वास्थ्य के क्षेत्र में सं० रा० संघ तथा इसके विशेष संगठनों तथा अन्य स्वास्थ्य सम्बन्धी संस्थाओं में सहयोग स्थापित करना, (३) महामारियों तथा बीमारियों के उन्मूलन के कार्य को प्रोत्साहित करना, (४) आकस्मिक चोटों को रोकने का यत्न करना, (५) लोगों के वातावरणीय स्वास्थ्य (Environmental Hygiene) की परिस्थितियों को तथा आहार पोषण, निवासगृह और सफाई, तथा काम करने की दशाओं को उन्नत करना, (६) मातृ मंगल तथा बाल स्वास्थ्य और कल्याण कार्यों की वृद्धि, (७) स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनुसन्धान, (८) स्वास्थ्य शिक्षा और प्रशिक्षण के स्तर को ऊंचा करना, (९) मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में कार्य करना, (१०) स्वास्थ्य के क्षेत्र में प्रशासनात्मक (administrative) और सामाजिक प्रविधियों (Techniques) का अध्ययन, (११) बीमारियों के अन्तर्राष्ट्रीय नामों के तथा निदान सम्बन्धी (Diagnostic) कार्यों का मानकीकरण (Standardization), (१२) खाद्यपदार्थों, दवाइयों तथा अन्य ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मानक निश्चित करना।

इस संगठन के तीन अंग हैं—(१) सब सदस्य राज्यों के प्रतिनिधियों की असेम्बली (२) असेम्बली द्वारा चुने गए २४ राज्यों की सरकारों द्वारा नियत होने वाले चिकित्सा आदि का विशेष ज्ञान रखने वाले २४ व्यक्तियों का कार्यवाहक (Executive) बोर्ड (३) सचिवालय। अफ्रीका, दक्षिण पूर्वी एशिया, योरोप, पूर्वी भूमध्यसागर और पश्चिमी प्रशान्त महासागर के क्षेत्रों के लिए इसके प्रादेशिक संगठन हैं। इसका मुख्य कार्यालय जेनीवा में है।

इसके महत्त्वपूर्ण कार्यों का कुछ अनुमान इन तथ्यों से लगाया जा सकता है। इसने यूनान में मलेरिया विरोध के लिए बड़े पैमाने पर सहायता की और वहां इस

बीमारी की औसत ६५% से घटकर ५% ही रह गई। भारत में इसने क्षयरोग के निवारण के लिए बी० सी० जी० वैक्सीन प्रभूतमात्रा में दी है। ईथियोपिया की सरकार के लिए चिकित्सा के शिक्षण की विस्तृत योजना बनाई है। इटालियन सरकार को बन्दरगाहों में स्वास्थ्य की परिस्थितियां उत्कृष्ट बनाने में सहायता दी है, विभिन्न देशों को आवश्यक दवाइयां तथा डाक्टरी का बहुमूल्य सामान उपलब्ध कराया है, अल्पविकसित देशों की सरकारों द्वारा सुझाये गए सरकारी अफसरों के सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी उच्च अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियां प्रदान की हैं। मलेरिया निरोध के लिए विभिन्न देशों को डी० डी० टी० तथा अन्य बीमारियां रोकने के लिए पेन्सिलीन आदि दवाइयां बहुत बड़ी मात्रा में प्रदान की हैं।

बच्चों के स्वास्थ्य के कार्य को विशेष रूप से सं० रा० संघ अन्तर्राष्ट्रीय बाल आपत्कालीन कोष (United Nations International Emergency Fund, UNICEF) करता है। इसके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—मातृ एवं बाल कल्याण सेवाओं के लिए दवाई तथा अन्य चिकित्सा सामग्री देना, बाल रोगों का निरोध, बालपोषण, भूकम्पों, अकालों, ज्वालामुखी विस्फोटों, बाढ़ों में बच्चों की सहायता, मातृमंगल तथा शिशु कल्याण की सेवाओं का आयोजन तथा प्रशिक्षण, क्षयरोग तथा या (Yaw) नामक बीमारियों के निरोध के लिए बच्चों को टीके करना। १९५३ तक इसने बी० सी० जी० क्षयनिवारण टीके २ करोड़ २७ लाख बच्चों के लगाए थे। १ करोड़ २० लाख बच्चों की मलेरिया से तथा ३० लाख की 'या' से रक्षा की थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में संघ की विभिन्न संस्थाओं का कार्य बड़ा लाभदायक और सराहनीय है। खाद्य संगठन (FAO) ने अन्न का उत्पादन बढ़ाकर दुर्भिक्षों का तथा भुखमरी का निवारण किया है, श्रम संगठन (ILO) ने श्रमिकों की दशा को बहुत उन्नत किया है। स्वास्थ्य संगठन (WHO) ने बड़े पैमाने पर पेन्सिलीन, डी० डी० टी० आदि दवाइयों के वितरण से बीमारियों के प्रतिरोध में बड़ी सहायता पहुंचाई है, महामारियों का प्रसार रोका है। यूनेस्को ने निरक्षरता के उन्मूलन, नवीन ज्ञान के विश्वव्यापी प्रचार तथा सांस्कृतिक कार्यों में बड़ा सहयोग दिया है। संघ के ये कार्य उसके राजनीतिक कार्यों की अपेक्षा बहुत सफल हुए हैं। एक स्यामी राजकुमार के शब्दों में "निःशस्त्रीकरण और राजनीतिक कार्यों का खरगोश तो अभी झपकी ले रहा है, किन्तु इसकी विशेष संस्थाओं की प्राविधिक सहायता और सहयोग का कछुआ बहुत आगे बढ़ गया है।"

संघ का मूल्यांकन, विफलताएं और सफलताएं—अनेक आलोचक यह कहते हैं कि संघ अपने प्रधान उद्देश्य—युद्धों के निवारण और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण हल करने में विफल हुआ है, वह अनेक समस्याओं का अभी तक हल नहीं कर सका, निःशस्त्रीकरण के तथा अणुबमों के परीक्षणों पर रोक लगाने के बारे में विभिन्न देशों में समझौता नहीं करा सका, दक्षिण अफ्रीका के यूनियन में भारतीयों तथा अश्वेत जातियों के साथ दुर्व्यवहार को नहीं रोक सका, दक्षिण अफ्रीका के यूनियन से राष्ट्रसंघ के मैंडेण्ट का प्रदेश दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका वापिस नहीं ले सका, कम्यूनिस्ट

चीन को संघ का सदस्य नहीं बना सका, पूर्व और पश्चिम के मतभेदों को और महाशक्तियों के वैमनस्य और विरोध को नहीं मिटा सका, चैकोस्लोवाकिया और हंगरी में कम्यूनिस्ट आक्रमण को नहीं रोक सका। काश्मीर में महाशक्तियों के कूटनीतिक स्वार्थों के कारण पाकिस्तान को आक्रान्ता घोषित करने के बाद भी वह इस प्रदेश से पाकिस्तानी फौजों को नहीं हटा सका। यह रूस और अमेरिका के, पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है, इसमें महाशक्तियां अपने परस्पर विरोधी स्वार्थों के कारण विभिन्न शान्ति प्रस्तावों को वीटो द्वारा रद्द करती रहती हैं, वस्तुतः यहां इतना अधिक विरोध और वीटो का प्रयोग दिखाई देता है कि इसे संयुक्त राष्ट्रसंघ के स्थान पर विभक्त (Disunited) और विरोधी दलों में बंटा हुआ राष्ट्रसंघ कहना अधिक उपयुक्त है।[१६]

किन्तु राष्ट्रसंघ की यह आलोचना बड़ी अतिरंजित और अत्युक्तिपूर्ण है। उसकी उपर्युक्त विफलताओं की तुलना में उसकी निम्नलिखित सफलताएं उल्लेखनीय हैं:—

(१) आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी क्षेत्रों में उसकी सफलताएं निर्विवाद, असंदिग्ध और सराहनीय हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि रोगों के उन्मूलन में, दरिद्रता और निरक्षरता के विनाश में तथा ज्ञान के प्रसार में इन्होंने बड़ा सहयोग दिया है, मानव जीवन को सुखी, समृद्ध और स्वस्थ बनाने में इनका योगदान अविस्मरणीय है।

(२) राजनीतिक विवादों के हल करने में संघ सर्वथा असफल रहा हो, सो

---

१६. सं० रा० संघ के सदस्य इस समय चार मुख्य गुटों में बंटे हुए हैं, २३ पश्चिमी राज्य, २० लेटिन (दक्षिण) अमेरिका के राज्य, १० कम्यूनिस्ट देश, ६० एशिया-अफ्रीका के राज्य। इनमें से पहले दो गुट प्रायः कम्यूनिस्टों के विरोध में एक हो जाते हैं, एशिया-अफ्रीका के राज्य बहुधा तटस्थ या पश्चिमी देशों के साथ रहते हैं। २३ पश्चिमी राज्य ये हैं—आस्ट्रेलिया, आस्ट्रिया, बेल्जियम, कनाडा, डेन्मार्क, फिनलैण्ड, फ्रांस, ग्रीस, आइसलैंड, आयरलैंड, इजरायल, इटली, लक्जमबर्ग, हालैंड, न्यूजीलैंड, नार्वे, पुर्तगाल, स्पेन, स्वीडन, टर्की, दक्षिण अफ्रीका का यूनियन, ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमेरिका। १० कम्यूनिस्ट देश इस प्रकार हैं—अल्बानिया, बल्गारिया, बायलो रूसी गणराज्य, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैण्ड, रूमानिया, यूक्रेनियन गणराज्य, सोवियत रूस, यूगोस्लाविया। एशिया-अफ्रीका के ६० राज्य—अफगानिस्तान, बर्मा, कम्बोडिया, सीलोन, ईथियोपिया, घाना, इण्डोनीशिया, ईरान, इराक, भारत, जापान, जोर्डन, लाओस, लाइबीरिया, लेबानन, लिबिया, मलाया, मोरक्को, नेपाल, पाकिस्तान फिलिपाइन्स, सौदी अरब, सूडान, ताइवान (चीन का गणराज्य), थाईलैंड, ट्यूनिशिया, संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र व सीरिया), यमन, गिनी, चाड, कैमरून, भूतपूर्व फ्रेंच कांगो, दहोमी, (बेल्जियन) कांगो, गेबोन, आइवरी कोस्ट, मैडागास्कर, नाईजर, सेनेगाल, माली, टोगो, केन्द्रीय अफ्रीकन गणराज्य, सोमानिया, अपरवोल्टा, साइप्रस, नाइजीरिया, कुवैत, जंजीबार, केनिया, टांगानिक्या। लैटिन अमेरिका के २० देश—अर्जेण्टाइना, बोलिविया, पेरू, ब्राजील, चिली, कोलम्बिया, कोस्टारिका, डोमिनकन रिपब्लिक, अल साल्वादोर, ग्वाटीमाला, हैटी, होण्डरास, मैक्सिको, निकारगुआ, पानामा, पैरेगुए, यूरेगुए, वेनेजुएला।

बात नहीं है। काश्मीर में यद्यपि वह पाकिस्तान की सेनाओं को नहीं हटा सका, किन्तु यदि संघ का इसमें हस्तक्षेप न होता तो युद्धविराम (Cease-fire) न हो पाता और सम्भवतः पाकिस्तान और भारत में युद्ध छिड़ जाता, इसे रोकने का श्रेय संघ को ही है। स्वेज के मामले में संघ ने इजरायल, फ्रांस और ब्रिटेन के आक्रमण से मिस्र की रक्षा करने तथा युद्ध रोकने में पूरी सफलता पाई है, यदि राष्ट्रसंघ न होता तो मिस्र बरबाद हो जाता, मध्यपूर्व में युद्ध का दावानल प्रज्वलित होता, फ्रांस तथा ब्रिटेन अपनी पुरानी साम्राज्यवादी परम्परा के अनुसार स्वेज को हड़प लेते। कोरिया में संघ की अध्यक्षता में सोलह देशों की सेनाओं ने उत्तरी कोरिया के आक्रमण से दक्षिण कोरिया की रक्षा की है (पृ० २८१), इसमें सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को बड़ी सफलता मिली थी। इराक, सीरिया तथा लेबानन से विदेशी सेनाएं हटाने में भी यह सफल हुआ है। इंडोनीशिया में इसने युद्ध बन्द कराया, बर्लिन के घेरे में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम किया। कांगों में इसे पूर्व और पश्चिम के हस्तक्षेप को रोकने में सफलता मिली है। संघ के १५वें अधिवेशन में ३ अक्टूबर, १९६० को भाषण करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि सं०रा० संघ ने कई बार हमारे बार-बार उत्पन्न होने वाले संकटों को युद्ध में परिणत होने से बचाया है।"

(३) सं० रा० संघ ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद (Colonialism) के उन्मूलन में पर्याप्त सफलता पाई है, एबीसीनिया को द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इटली के साम्राज्यवाद से मुक्त करते हुए एरिट्रिया का प्रदेश इसे दिया गया। लिबिया को सं० रा० की अध्यक्षता में स्वतन्त्र राज्य बनाया गया। सुमालीलैण्ड पर यद्यपि इटली को ट्रस्टीशिप दी है, किन्तु वह १९६० में स्वतन्त्र हो गया। फ्रांस ने मोरक्को और ट्यूनिसिया की स्वतन्त्रता के प्रश्न को काफी टालने का प्रयत्न किया, किन्तु अन्त में उसे विवश होकर इन्हें स्वतन्त्रता देनी ही पड़ी। अल्जीरिया के प्रश्न पर वह यद्यपि काफी देर तक अड़ा रहा, किन्तु अन्त में उसे इस पर भी झुकना पड़ा। सं० रा० संघ की ट्रस्टीशिप वाले टोगोलैंड आदि आठ प्रदेश स्वाधीनता पा चुके हैं और अब केवल दो पराधीन प्रदेश नौरू तथा न्यूगिनी इस पथ पर अग्रसर हो रहे हैं।

(४) सं० रा० संघ का एक बड़ा लाभ अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव और सौहार्द की वृद्धि है। यहां सब देशों के विभिन्न धर्मावलम्बी ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, यहूदी, बौद्ध, विभिन्न काली, पीली, श्वेत जातियों के प्रतिनिधि न केवल एक सभामंच पर एकत्र होते हैं, अपितु दावतों, होटलों, उपहारगृहों में समानता के स्तर पर मिलते हैं, वार्त्तालाप और गोष्ठी करते हैं. परस्पर मित्र बनते हैं। इससे उत्पन्न होने वाला सौहार्द कई बार जटिल अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का समाधान करने में सहायक होता है। डलेस ने लिखा है कि फरवरी १९४९ में बर्लिन के घेरे की समस्या पर जब गतिरोध उत्पन्न हुआ तो लेकसक्सेस में पश्चिमी प्रतिनिधियों के कमरे में रूसी प्रतिनिधि मलिक की उपस्थिति से इस प्रश्न पर पुनः वार्त्ता आरम्भ हुई और इससे समस्या के समाधान में बड़ी सहायता मिली।

(५) सं० रा० संघ का अन्तर्राष्ट्रीय सभामंच प्रचार की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। पहले यह बताया जा चुका है कि स्तालिन राष्ट्रसंघ को आक्रान्ताओं के सही इरादों का भण्डाफोड़ करने का उपयुक्त स्थान समझता था। सं० रा० संघ के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है। उपनिवेशवादी तथा साम्राज्यवादी शक्तियों के क्रूरतापूर्ण अत्याचारों और बर्बर कृत्यों की चर्चा जब यहां की जाती है तो उसका प्रचार क्षण भर में सारे विश्व में हो जाता है। इसका सब शक्तियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह नैतिक दवाव कई बार सैनिक शक्ति से अधिक प्रभावशाली होता है। पहले यह बताया जा चुका है कि इसी कारण रूस ने ईरान से सेनाएं हटाई थीं। फ्रांस को यहां बदनाम होकर अपने उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेश छोड़ने पड़े, हालैंड को यहां के लोकमत के प्रभाव के कारण इंडोनीशिया छोड़ना पड़ा। रूसी प्रतिनिधि इस मंच का अपने प्रचार के लिए खूब उपयोग करते हैं और डलेस ने लिखा है कि इससे उनके ढोंग और मिथ्याचार का पर्दाफाश होता है, क्योंकि जब एक ओर वे शान्तिवाद की दुहाई देते हैं और लोगों को अपने शान्तिप्रेमी होने का विश्वास कराते हैं, किन्तु दूसरी ओर अणुबमों के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के लिए रखे गए ठोस प्रस्तावों का विरोध करते हैं तो उनकी कलई खुल जाती है।[१७]

(६) यह संघ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को रोकने के सेफ्टीवाल्व का काम भी करता है। जिस प्रकार इंजन में भाप अधिक हो जाने पर उसे निकालने तथा इंजन को फटने से बचाने के लिए एक छोटी छिद्र प्रणाली द्वारा भाप निकाल दी जाती है वैसे यह राष्ट्रसंघ विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों की गर्मी और भड़ास निकालने का बड़ा उपयुक्त माध्यम है। यह कहा जाता है कि जब अरबों तथा इजराइलियों की सैनिक मुठभेड़ें बहुत बढ़ जाती थीं तो संघ में यह समस्या उपस्थित कर दी जाती थी और एक मिश्रित विराम संधि कमीशन बना दिया जाता था। इस प्रस्ताव पर विवाद के समय दोनों पक्ष अपनी सारी गर्मी जोशीली वक्तृताओं में निकाल देते थे, और कमीशन के विचार से कुछ सन्तुष्ट हो जाते थे, पूरे युद्ध की सम्भावना टल जाती थी। चीन द्वारा अमेरिकी हवाबाजों की गिरफ्तारी पर जब अमेरिका में पेकिंग के विरुद्ध रोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया तो संघ में इस प्रश्न पर विवाद ने उसे कुछ शान्त कर दिया, यदि ऐसा न होता तो अमेरिका उस समय कम्यूनिस्ट चीन का नौसैनिक प्रतिरोध या युद्ध छेड़ने वाला अन्य कोई कार्य करता। इस विषय में संघ के अण्डर सेक्रेटरी डा० राल्फ बुंचे ने सत्य ही कहा था कि "सं० रा० संघ की मुख्य विशेषता यह है कि यह राष्ट्रों को बातचीत में व्यस्त रखता है। वे जितनी अधिक देर तक बात करते रहें, उतना ही अधिक अच्छा है, क्योंकि इतने समय तक युद्ध टल जाता है।"[१८]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सं० रा० संघ अपनी विफलताओं के बावजूद अब तक मानवीय बुद्धि द्वारा परिकल्पित श्रेष्ठतम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है, उसे अपने उद्देश्यों

---

१७. डलेस—वार आर पीस, पृ० ५८
१८. डलेस—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६८६

और कार्यों में बड़ी सफलता मिली है, वह राष्ट्रसंघ की अपेक्षा बहुत अधिक कार्य कर पाया है। फिर भी यदि उसने युद्धों के निवारण और निःशस्त्रीकरण में सफलता नहीं पाई, इस क्षेत्र में चमत्कारपूर्ण कार्य नहीं किए, तो इसका कारण इसके सदस्यों—विशेषतः रूस और अमेरिका के पारस्परिक मतभेद हैं। इसकी पूर्ण सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इसके सदस्य चार्टर के सिद्धान्तों पर हस्ताक्षर करके ही सन्तुष्ट न हों, उस पर क्रियात्मक आचरण भी करें। तभी यह संगठन पूरी तरह सफल होगा। दूसरा कोई मार्ग नहीं है, नान्यः पन्था: विद्यते अयनाय।

प्रश्न

1. What, in your opinion, are the more important provisions in the charter of the United Nations that need revision? (Agra Uni. 1958)
2. Write short notes on :—
   The covenant of human rights, Technical assistance, Optional clause, Suez canal dispute, Trusteeship, Anglo-Iranian Oil dispute. (Agra Uni. 1958, 57)
3. Describe the constitution, functions and objectives of the Economic and social council and assess its contribution to international co-operation. (Agra Uni. 1957, B. H. U. 1957)
4. Write an essay on the working of the United Nations Organization as an instrument for the establishment of world peace. (Agra Uni. 1955)
5. 'The international trusteeship system is no mere prolongation of the mandates system under the League of Nations. It is a new system of international supervision. Its scope is wider, its power broader, and its potentialities far greater than those of the mandates system.' Explain and discuss. (Agra Uni. 1954)
6. 'U. N. O. is going the way of League of Nations.' Discuss. (Raj Uni. 1957)
7. Write short notes on :—
   Unesco, Little Assembly of the United Nations, Universal Declaration of Human Rights, International Court of Justice, Optional clause. (B. H. U. 1958, 1956)
8. Describe in brief the objectives, functions and achievements of I. L. O. (B. H.U. 1958)
9. In what respect is the Charter of the United Nations an improvement on the covenant of the League of Nations? (B. H. U. 1957)
10. Write an essay on the security council of the United Nations with special reference to the 'Veto' power available to its permanent members. Would you advocate the abolition of the 'Veto' as a means of making the United Nations more effective? (B. H. U. 1956)
11. Describe the mechanism for collective security under the charter

of the United Nations and show how it differs from the collective security system under the covenant of the League of Nations. (B. H. U. 1955)

12. Describe the machinery for international supervision over backward areas under the League of Nations and the U. N. In what respects, if any, would you regard the charter provisions as an improvement upon the League's mandate system ? (B. H. U. 1955)

13. How far is the United Nations Trusteeship system is an improvement upon the mandate system ? (Agra Uni. 1960)

14. Describe the composition and powers of the Security Council of U. N. To what extent it is better qualified to establish world peace than the Council of the League of Nations. (Agra Uni 1960)

15. Describe the orgnization and functions of the United Nations Organization. (Raj. Uni. 1960)

16. Describe briefly the origin, composition and functions of the Permanent Court of International Justice and give a brief review of the work of the court during the period of its existence. (Agra Uni. 1961)

17. Assess the success or failure of the United Nations in respect of pacific settlements of International disputes and collective security. Give illustrations. (Agra Uni. 1...

18. The International trusteeship system, it is stated, is no mere prolongation of Mandate system. Explain and discuss. (Agra Uni 1962

आठवां अध्याय

प्रादेशिक संगठन और समझौते

संयुक्त राष्ट्र संघके चार्टर की धारा ५२ में विभिन्न क्षेत्रों और प्रदेशों के लिए संघ के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के अनुकूल प्रादेशिक संगठनों (Regional Organizations) की सत्ता स्वीकार की गई है। प्रायः यह कहा जाता है कि नस्ल (Race) की, संस्थाओं की तथा आर्थिक और राजनीतिक हितों की समानता रखने वाले एक प्रदेश के राज्यों का पारस्परिक संगठन विश्वव्यापी संगठन की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ और शांति को बनाए रखने वाला होता है। विश्वव्यापी सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) की तुलना में एक विशिष्ट प्रदेश की सुरक्षा का संगठन बनाना अधिक सुगम है। इस प्रकार के अनेक प्रादेशिक संगठन विश्व की शान्ति में बड़े सहायक सिद्ध हो सकते हैं, अतएव इन्हें संघ के चार्टर में स्थान दिया गया है। चार्टर में यह व्यवस्था दक्षिण अमेरिका के राज्यों तथा अरब लीग के आग्रह पर रखी गई थी। पिछले १०–१२ वर्षों में ऐसे संगठनों की बाढ़ आ गई है और इनसे विश्व शान्ति की समस्या सुलझने के स्थान पर उलझ रही है। इन संगठनों और समझौतों ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को उत्पन्न किया है, तनाव को बढ़ाया है, सं० रा० संघ के महत्त्व को घटाया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव डालने वाले कुछ प्रमुख समझौते तथा संगठन निम्नलिखित हैं :—

(१) **अमेरिकन राज्यों का संगठन** (Organization of American States, OAS)—अमेरिकन महाद्वीप में अमेरिका के सब राज्यों को संगठित करने का पहला प्रयत्न १८८९–९० का वाशिंगटन में होने वाला पहला 'अन्तर अमेरिकन सम्मेलन' (Inter American Congress) थी। किन्तु इसे सुदृढ़ बनाने के प्रयास द्वितीय विश्वयुद्ध में १९४५ के आरम्भ में मेक्सिको नगर में हुए। इस संगठन के तीन प्रधान अंग हैं—संगठन का चार्टर, शान्तिपूर्ण समझौते की अमेरिकन सन्धि (बोगोटा समझौता) तथा पारस्परिक सहायता की अन्तर अमेरिकन सन्धि (१९४७ की रियो संधि)। इनका विस्तृत स्वरूप बोगोटा (कोलम्बिया) में १९४८ में अमेरिकन राज्यों के नवें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में निश्चित हुआ था। चार्टर में इस संगठन के स्वरूप, अधिकारों तथा कार्यक्षेत्र को स्पष्ट किया गया है। इसमें इसे सं० रा० संघ के अन्तर्गत प्रादेशिक संगठन घोषित किया गया है; कनाडा सहित सभी अमेरिकन राज्य इसके सदस्य हो सकते हैं, किसी भी सदस्य को निकाला नहीं जा सकता। किन्तु दो वर्ष का नोटिस देकर कोई भी राज्य इससे पृथक् हो सकता है। इस संगठन के पाँच अंग हैं—(१) अन्तर-अमेरिकन सम्मेलन—यह अन्य सभी अंगों के स्वरूप और कार्यों का तथा संगठन की नीति और कार्यक्रम का निर्धारण करता है। इसकी बैठक पाँच वर्ष में एक बार होती है। (२) विदेश-मन्त्रियों की बैठक (Meeting of Foreign

Ministers) आवश्यक विषयों पर विचार करती है, सशस्त्र आक्रमण की दशा में इसकी बैठक बुलाई जाती है, इसकी सहायता के लिए परामर्शदात्री प्रतिरक्षा समिति भी होती है, (३) परिषद् (Council)—प्रत्येक सदस्य-राज्य द्वारा नियत किये गए एक-एक प्रतिनिधि से बनने वाले तथा वाशिंगटन में मुख्य कार्यालय रखने वाले इस अंग का प्रधान कार्य शान्ति, सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों तथा इस संगठन के विभिन्न अंगों के कार्यों की देखभाल है। (४) पैन-अमेरिकन यूनियन (Pan-American Union) —यह इसका केन्द्रीय एवं स्थायी संगठन और इसका सचिवालय है। (५) इसके विशेष संगठन (Specialised Agencies) विशिष्ट कार्य करने वाली संस्थाएं हैं। बोगोटा समझौते (Pact of Bogota) में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समझौता करने की व्यवस्थाओं का विस्तृत उल्लेख है।

पारस्परिक सहायता की अन्तर अमेरिकन संधि को १९४७ में ब्राजील की राजधानी रीओडिजानेरो में स्वीकृत होने के कारण रीओ संधि (Rio Treaty) भी कहा जाता है। इसका लक्ष्य पश्चिमी गोलार्द्ध में सैनिक आक्रमण होने या शान्ति भंग का भय होने की दशा में सामूहिक कार्यवाही की व्यवस्था करना है। इसमें उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक, अमेरिकन महाद्वीप और ग्रीनलैण्ड के चारों ओर एक सुरक्षा क्षेत्र निश्चित किया गया है, इसके भीतर से या इस पर बाहर से होने वाला कोई भी आक्रमण सब राज्यों पर आक्रमण समझा जाएगा और इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाला प्रत्येक देश इसके प्रतिरोध में सहायता प्रदान करेगा। ऐसी अवस्था में विदेश-मन्त्रियों की बैठक बुलाकर दो तिहाई बहुमत से आवश्यक कार्यवाही का निश्चय किया जाएगा।

डंकर्क संधि (Dunkirk Treaty)—यह ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य ४ मार्च, १९४७ को ५० वर्ष के लिए की गई थी। यह जर्मन आक्रमणों के विरुद्ध एक दूसरे की सहायता करने की सैनिक सन्धि है। इसमें (क) जर्मनी द्वारा आक्रमण होने की, (ख) जर्मनी द्वारा आक्रमण को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाने की तथा (ग) संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की दशा में दोनों देशों द्वारा एक दूसरे को सब प्रकार की सैनिक सहायता देने की व्यवस्था है।

ब्रुसेल्ज संधि संगठन (१७ मार्च, १९४८)—पश्चिमी योरोप में सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था सुदृढ़ करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन, बेल्जियम, फ्रांस, लक्जमबर्ग और हालैण्ड ने 'आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सहयोग और सामूहिक सुरक्षा की' इस सन्धि पर बेल्जियम के ब्रूसेल्ज (Brussels) नगर में हस्ताक्षर किये। यह सन्धि ५० वर्ष के लिए है। इस सन्धि की चौथी धारा में यह कहा गया है कि इस पर हस्ताक्षर करने वालों में से किसी देश पर यदि योरोप में सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश सं० रा० संघ के चार्टर की धारा ५१ के अनुसार अपनी सम्पूर्ण सैनिक तथा अन्य सहायता आक्रमण का शिकार बने देश को प्रदान करेंगे। १९५४ में पेरिस के समझौतों से पश्चिमी जर्मनी और इटली भी इसमें सम्मिलित हो गए हैं और अब इस संगठन का नया नाम पश्चिमी योरोपियन संघ (Western European Union) रखा गया है।

नाटो (The North Atlantic Treaty Organization, NATO)—उत्तरी

अटलांटिक सन्धि संगठन का जन्म दो आशंकाओं से हुआ है—सोवियत साम्राज्यवाद का भय और सोवियत आक्रमण के विरुद्ध सं० रा० संघ से पर्याप्त सुरक्षा न पा सकने की सम्भावना। उपर्युक्त ब्रूसेल्ज सन्धि भी इन्हीं आशंकाओं का परिणाम थी। इस सन्धि पर हस्ताक्षर होने वाले दिन (१७ मार्च, १९४८) अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह घोषणा की थी "योरोप के स्वतन्त्र देशों के अपने को सुरक्षित बनाने के संकल्प के साथ हम भी उन्हें सहायता देने का निश्चय रखते हैं।" ११ जून, १९४८ को सं० रा० अमेरिका की सीनेट ने वैण्डनबर्ग का एक प्रस्ताव पास करके इस सन्धि के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस प्रस्ताव में "सामूहिक आत्मरक्षा के लिए किये जाने वाले प्रादेशिक संगठनों और प्रबन्धों" का समर्थन करते हुए इनमें सं० रा० अमेरिका के सम्मिलित होने की बात कही गई थी। इसका परिणाम नाटो की संधि थी। इस पर ४ अप्रैल, १९४९ को वाशिंगटन में बेल्जियम, कनाडा, डेन्मार्क, फ्रांस, आइसलैण्ड, इटली, लक्ज़मबर्ग, हालैण्ड, पुर्तगाल, ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका ने हस्ताक्षर किये। यूनान और टर्की इसमें फरवरी १९५२ से तथा जर्मन फैडरल रिपब्लिक ९ मई, १९५५ से सम्मिलित हुआ।

इस सन्धि की प्रस्तावना में सन्धिकर्त्ताओं ने सं० रा० संघ के चार्टर के प्रयोजनों और सिद्धान्तों में पूर्ण विश्वास करते हुए "स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र, वैयक्तिक स्वाधीनता और कानून के शासन पर आधारित सभ्यता की रक्षा का दृढ़ संकल्प" प्रकट किया है और उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने की इच्छा व्यक्त की है। इस सन्धि का मर्म इसकी **पाँचवीं धारा** में है, इसके अनुसार योरोप में या उत्तरी अमेरिका में किसी एक या अनेक देशों के विरुद्ध किया गया सशस्त्र आक्रमण सब देशों के विरुद्ध आक्रमण समझा जायगा और ऐसा आक्रमण होने की दशा में वे वैयक्तिक रूप से अथवा अन्य सदस्यों के साथ मिलकर "उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यक समझा जाने वाला कार्य" करेंगे। इसकी अन्य धाराओं में सन्धिकर्त्ताओं ने आर्थिक सहयोग का (धारा २), सशस्त्र आक्रमण के प्रतिरोध की क्षमता विकसित करने (धारा ३) का वर्णन है। यह सन्धि २० वर्ष के लिए है (धारा १३) और इसमें बाद में अन्य राज्यों के सम्मिलित होने की व्यवस्था भी है (धारा १०)। इस सन्धि के दायित्व इतने अस्पष्ट हैं कि आक्रमण की दशा में प्रत्येक सदस्य को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है।[1]

इस सन्धि के तीन मनोवैज्ञानिक प्रभाव हैं—(१) यह सोवियत संघ को चेतावनी है कि यदि उसने इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले किसी देश पर आक्रमण किया तो सं० रा० अमेरिका फौरन उसकी सहायता करेगा। ११ दिसम्बर, १९५६ को अमेरिकन विदेश-मन्त्री डलेस ने १५ राष्ट्रों वाले इस संगठन में भाषण करते हुए कहा था—"विश्व महान् संकट में से गुजर रहा है। इस संगठन को अपनी पूरी सैन्य शक्ति बनाये रखनी चाहिए और इसमें कोई सन्देह नहीं रहने देना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर इसका उपयोग भी किया जा सकता है, तभी इस बात का पूरा विश्वास होगा

१. चार्ल्स श्लीचर—एन इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल रिलेशन्स, पृ० ६७३

कि लाल सेना के जो टैंक बुडापेस्ट में बढ़ आये हैं, वे पश्चिमी योरोप में आगे नहीं बढ़ेंगे।" (२) इसका **दूसरा** प्रभाव योरोपियन देशों को ऐसा सुरक्षा का आवरण प्रदान करना है, जिसमें वे अपने आर्थिक और सैनिक विकास के कार्यक्रमों को निर्भय होकर पूरा कर सकें। (३) इसका **तीसरा** प्रभाव संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को युद्ध के लिए तैयार रखना है। अब सोवियत आक्रमण होने की दशा में वह युद्ध में फौरन कूद पड़ेगा, पिछले दो विश्वयुद्धों की भांति लड़ाई में सम्मिलित होने में देर नहीं लगायेगा (देखिये पृ० १९४–२०६)।

इस सन्धि-संगठन के शीर्षस्थान पर उत्तर अटलांटिक परिषद् है, इसमें प्रत्येक देश का विदेश-मन्त्री अथवा रक्षामन्त्री होता है। यह अपनी सहायक संस्थाओं का निर्माण करती है, और सन्धि की व्यवस्थाओं को क्रियान्वित करती है। इसकी साल में दो या तीन बैठकें होती हैं, मुख्य कार्यालय पेरिस में है। इसके सभापति प्रति वर्ष बारी-बारी से विभिन्न देशों के मन्त्री होते हैं। नाटो के कार्य-संचालन के लिए एक महामन्त्री और उसका सचिवालय होता है। नाटो देशों के सेनाध्यक्ष (Chief of Staff) इसकी सैनिक समिति (Military Committee) का निर्माण करते हैं। इसके मुख्य कार्य परिषद् को परामर्श देना तथा सैनिक योजनाएं बनाना है। १९५० में परिषद् ने पश्चिमी योरोप की रक्षा के लिए सब देशों की एक संयुक्त सेना का निर्माण योरोप की मित्र शक्तियों के मुख्य कार्यालय (Supreme Headquarters Allied Powers, Europe ,SHAPE) के आधीन किया। पहले सर्वोच्च सेनापति १९५५ में आइजनहावर बनाये गये थे। इसके अतिरिक्त नाटो की दो अन्य कमानें अटलाण्टिक सागर कमान और चैनल् कमान है। १९५३ में नाटो की अमेरिकन सेनाओं को अणु आयुधों से सुसज्जित किया गया। स्वेज़ संकट के समय (दे० पिछला अध्याय) नाटो देशों में परस्पर मतभेद उत्पन्न हो गया था, किन्तु वह जल्दी ही दूर हो गया। रूस इस संगठन का उग्र विरोधी है। इस समय यह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की विदेशनीति की आधारशिला है।

वारसा पैक्ट या पूर्वी योरोपियन सन्धि संगठन (१४ मई, १९५५)—५० करोड़ आबादी के १५ देशों वाले नाटो संगठन ने अपने विरोधी २९ करोड़ आबादी तथा ८ देशों वाले वारसा पैक्ट (Warsehavelkij Dagawor) को जन्म दिया है। इसमें पूर्वी योरोप के आठ देशों—अल्बानिया, बल्गारिया, चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड, रूमानिया और सोवियत रूस ने—२० वर्ष के लिए वारसा की सन्धि की है। पहले तो रूस ने नाटो का विरोध किया, दिसम्बर १९५४ में मास्को के एक सम्मेलन में यह घोषणा की गई कि यदि पेरिस के सम्मेलन ने पश्चिमी जर्मनी के शस्त्रीकरण का निश्चय किया तो रूस भी एक नया पैक्ट करेगा। १४ मई, १९५५ को रूस और उसके साथी आठ देशों ने "सुरक्षा और शान्ति" के इस समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस संधि की भूमिका में योरोप में सामूहिक सुरक्षा की पद्धति स्थापित करने पर बल दिया गया है और यह कहा गया है कि पश्चिमी योरोप के संघ तथा पश्चिमी जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण से यह आवश्यक हो गया है कि वे अपनी सुरक्षा सुदृढ़ करें और योरोप में शान्ति स्थापित रखें। इस दृष्टि से इसमें आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विषयों में घनिष्ठ

सहयोग का वर्णन है और कहा गया है कि इसके सदस्य "शक्ति का प्रयोग करने से बचे रहने" का प्रयत्न करेंगे और यह घोषणा करते हैं कि वे अपने "अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण उपायों से करेंगे (धारा १), किन्तु हंगरी के मामले में १९५६ में इस सिद्धान्त की उपेक्षा की गई थी (दे० पिछला अध्याय)। इसकी छठी धारा में आठ शक्तियों की 'राजनीतिक परामर्शदात्री समिति' (Political Consultative Committee) द्वारा सब सामान्य प्रश्नों पर विचार करने की, सहायक संस्थाएं स्थापित करने की तथा वर्ष में दो बार बैठक करने की व्यवस्था है। इस समिति के महामन्त्री का कार्यालय मास्को में है, और यहां अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का अध्ययन करने और विदेशनीति के सम्बन्ध में सिफारिशें करने के लिए एक स्थायी आयोग भी १९५६ में स्थापित किया गया था।

इस पैक्ट की मुख्य व्यवस्था धारा ३ में है। इसके अनुसार यदि किसी सदस्य पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश उसकी सैनिक सहायता करेंगे। इसके लिए धारा ५ में एक संयुक्त सैनिक कमान (United Military Command) बनाई गई है। इसके आधीन सब देशों की सेनाएं होंगी और इनका एक सर्वोच्च सेनापति होगा, वह महामन्त्री के तथा सोवियत जनरल स्टाफ के साथ परामर्श करके सेनाओं का संगठन तथा इनका विभिन्न प्रदेशों में वितरण करेगा। योरोप में इसकी उत्तरी, मध्य तथा दक्षिण योरोप की तीन कमानें तथा सुदूरपूर्व की एक कमान रखी गई है। इस प्रकार वारसा पैक्ट नाटो का पूरा जवाब है।

इसके अतिरिक्त सभी कम्यूनिस्ट देशों यूगोस्लाविया, पोलैण्ड, रूमानिया, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी, बल्गारिया और फिनलैण्ड ने पारस्परिक सहायता की बीस सन्धियां की हुई हैं। मास्को ने कम्यूनिस्ट चीन के साथ उस पर जापान द्वारा अथवा जापान के साथ सम्बद्ध किसी शक्ति द्वारा सैनिक आक्रमण होने की दशा में पूरी सैनिक सहायता देने की सन्धि ३० वर्ष के लिए १४ फरवरी, १९५० को की थी।

योरोपियन एकीकरण (Integration) **के विभिन्न संगठन**—द्वितीय महायुद्ध से पहले पश्चिमी योरोप के राष्ट्र ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी विश्व की प्रथम कोटि की महाशक्तियां थीं, युद्ध के बाद यह स्थान संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस ने ग्रहण किया, न केवल योरोप का पुराना महत्त्व और प्रभुत्व क्षीण हो गया, किन्तु युद्ध के भीषण विध्वंस ने उसको आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से निर्बल बना दिया। उसके पूर्व में सोवियत रूस की विस्तारवादी नीति उसे आतंकित करने लगी और पश्चिम में सं० रा० अमेरिका का उत्कर्ष भी उसे व्यथित करने लगा। इन दो नवीन महादैत्यों के बीच में पश्चिमी योरोप के राष्ट्रों के लिए आत्म-रक्षा और उन्नति का उपाय योरोपियन एकता को सुदृढ़ करना तथा इसके लिए विविध आर्थिक और राजनीतिक संगठन बनाना था, अमेरिका भी रूस के विरुद्ध ऐसे संगठनों को आत्मरक्षा के लिए आवश्यक समझता था। १९५१ के पारस्परिक सुरक्षा कानून (The Mutual Security Act) में "योरोप का आर्थिक और राजनीतिक संघ बनाने के लिए" अमेरिका द्वारा आर्थिक सहायता की व्यवस्था की गई। १९४६ में चर्चिल ने योरोप की एकता का आन्दोलन

चलाया। योरोप में कुछ लोग उसका समर्थन कम्यूनिज्म के विरोध की दृष्टि से करते हैं, और कुछ इसे विश्वसंघ की दिशा में प्रथम पग समझते हैं। इन सब विचारों और आन्दोलनों के परिणामस्वरूप योरोप में आर्थिक और राजनीतिक एकीकरण के निम्नलिखित प्रमुख संगठन बने हैं :—

(१) **योरोपियन आर्थिक सहयोग का संगठन** (The Organisation for European Economic Co-operation, OEEC १९४८)—इसका उद्देश्य इसके सदस्यों को ऐसी सहायता करना था, जिससे वे असाधारण बाह्य सहायता के बिना अपने आर्थिक क्रियाकलाप सन्तोषजनक स्तर तक पहुँचा सकें, अपना उत्पादन बढ़ायें, अपने औद्योगिक संस्थानों तथा कृषि व्यवस्था का विकास और आधुनिकीकरण करें, व्यापार का विस्तार करें, व्यापारिक प्रतिबन्धों को शनैः शनैः घटाएं, पूरे रोजगार को प्रोत्साहन दें, अपनी अर्थव्यवस्था तथा मुद्रा पद्धति को सुदृढ़ बनायें।" इसके निर्माण का उद्देश्य मार्शल योजना अथवा योरोपियन पुनर्निर्माण कार्यक्रम (European Recovery Programme) के अन्तर्गत दी जाने वाली आर्थिक सहायता को व्यवस्थित तथा उपयोगी बनाना था। इसका मुख्य सम्बन्ध योरोप के सामान्य व्यापार, आर्थिक विकास, तथा अन्तःयोरोपियन वित्त व्यवस्था से है। पिछले कुछ वर्षों में पश्चिमी योरोप के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने का प्रधान श्रेय इसी संगठन को है। ट्रीस्टे तथा जर्मन फैडरल रिपब्लिक सहित १८ योरोपियन राज्य इसके सदस्य हैं। सं० रा० अमेरिका और कनाडा इसके 'साथी' (Associate) सदस्य हैं। इसका प्रधान कार्यालय पेरिस में है।

चौदह वर्ष कार्य करने के बाद ३० सितम्बर, १९६१ को इस संगठन का स्थान एक नई संस्था आर्थिक सहयोग और विकास के संगठन (Organization for Economic Co-operation and Development, OECD) ने ले लिया है। यह नाम परिवर्तन इसकी स्थिति और कार्यों में परिवर्तन का परिचायक है। अब सं० रा० अमेरिका और कनाडा इसके पूर्ण सदस्य मान लिए गये हैं। अतः अब यह विशुद्ध योरोपियन संगठन नहीं रहा। अब इसके कार्यों में विकास के लिए सहायता देने को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इसके बीस सदस्य देश निम्नलिखित हैं—आस्ट्रिया, बेल्जियम, कनाडा, डेन्मार्क, फ्रांस, जर्मनी, ग्रीस, आइसलैण्ड, आयरिश गणराज्य, इटली, लक्जमबर्ग, नीदरलैण्डस (हालैण्ड), नार्वे, पुर्त्तगाल, स्पेन, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, टर्की, सं० राज्य (ग्रेट ब्रिटेन) तथा सं० रा० अमेरिका। फिनलैण्ड, यूगोस्लाविया तथा जापान इसके विशेष कार्यों में भाग लेते हैं। १४ दिसम्बर, १९६० को इस संगठन के सम्बन्ध में स्वीकार किये गये एक अभिसमय (Convention) में इसके निम्नलिखित उद्देश्य बताये गये हैं। (१) सदस्य देशों में उच्चतम आर्थिक विकास, तथा रोजगार करना तथा जीवनयापन के स्तर को उन्नत करना। (२) आर्थिक स्थिरता को बनाये रखते हुए विश्व की अर्थव्यवस्था के विकास में सहायक होना। (३) सदस्य देशों में तथा अन्य देशों में स्वस्थ आर्थिक विस्तार और विकास में सहयोग देना। (४) विश्व-व्यापार के ऐसे विस्तार में सहयोग देना, जो बहुपक्षीय (Multilateral) हो तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के अनुसार तथा कोई विशेष भेदभाव न करने वाला (Nondiscriminatory) हो। इन

उद्देश्यों की पूर्ति के लिए **आर्थिक नीति समिति, विकास सहायता समिति** तथा व्यापार समिति का निर्माण किया गया है। दिसम्बर १९६१ की इसकी पहली परिषद् में यह लक्ष्य निर्धारित किया गया है कि इसके २० सदस्य देशों के वास्तविक कुल (Gross) राष्ट्रीय उत्पादन में १९६०–७० के दस वर्षों में ५० प्रतिशत वृद्धि की जाय।

(२) **योरोपियन अदायगी संघ** (The European Payments Union, EPU)—पहले संगठन से सम्बद्ध यह संस्था सितम्बर, १९५० में बनाई गई थी। इसका प्रयोजन अन्तःयोरोपियन व्यापार को सुविधाजनक बनाना है, यह अपने सदस्य-राज्यों की एक देश की कमाई को दूसरे देश में उसका ऋण अदा करने के लिए सुलभ बनाने की व्यवस्था करता है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और अदायगियों के भुगतान में बड़ी सुविधा हो गई है।

(३) **योरोप की परिषद्** (Council of Europe)—इसकी स्थापना योरोपियन एकता के आन्दोलन के परिणामस्वरूप ५ मई, १९४९ को हुई। इसके संविधान (Statute) में इसका उद्देश्य यह बताया गया है कि यह "आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए तथा अपनी सामान्य विरासत के आदर्शों और सिद्धान्तों में पहले से अधिक एकता लाने का प्रयत्न करेगी।" इसका मुख्य कार्यालय स्ट्रैसबर्ग (Strasbourg) में बनाया गया। इसके सदस्य शुरू में तीन **बेनीलक्स** (Benelux) देश (बेल्जियम, नीदरलैण्ड, लक्ज़मबर्ग), फ्रांस, आयरलैण्ड, इटली, नार्वे, स्वीडन, डेन्मार्क और ग्रेट-ब्रिटेन थे तथा बाद में ग्रीस, टर्की, आइसलैण्ड, जर्मन, फैडरल रिपब्लिक और सार प्रदेश बने। इस संगठन के दो अंग हैं—विमर्श सभा (Consultative Assembly) और मन्त्रीसमिति (Committee of Ministers)। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की दृष्टि से इसमें कई विलक्षणताएं हैं।

विमर्श सभा के सदस्यों की संख्या १२५ है और इनके चुनाव का ढंग प्रत्येक देश की सरकार अपनी इच्छा से निश्चित करती है, प्रायः ये सदस्य विभिन्न देशों की पालियामेंटों से इनमें विद्यमान पार्टियों-प्रतिनिधियों की आनुपातिक संख्या में चुने जाते हैं; कम्यूनिस्टों को इसमें कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता। विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों की संख्या अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भाँति समान नहीं है, किन्तु देशों के महत्त्व को देखते हुए निश्चित की गई है, फ्रांस, इटली, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मन, फैडरल गणराज्य में से प्रत्येक के १८ प्रतिनिधि होते हैं, और सार के केवल तीन। यह प्रतिरक्षा के विषयों के अतिरिक्त योरोप से सम्बन्ध रखने वाले सभी आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार करती है, इसे अपने विचार के बाद केवल मंत्रीसमिति को सिफारिशें करने का अधिकार है, मंत्रीसमिति के सदस्यों को इन्हें अपनी सरकारों तक पहुँचाने या न पहुँचाने की पूरी स्वतन्त्रता है। इस समिति का निर्माण विभिन्न देशों के मन्त्रिमण्डलों के एक सदस्य—प्रायः विदेश-मन्त्री—से होता है। अभी तक इसमें विमर्श सभा और मन्त्रीसमिति में, संघर्ष होता रहा है। ग्रेट ब्रिटेन ने इस संघ (Federation) के बनने का विरोध किया है। फिर भी यह परिषद् योरोप की एकता को सुदृढ़ करने में बहुत सहायक हो सकती है।

(४) **योरोपियन कोयला इस्पात समुदाय** (European Coal and Steel

Community, ECSC)—यह १९५० में फ्रांस के विदेश-मन्त्री शूमां (Schuman) द्वारा प्रस्तुत की गई योजना के आधार पर बनाया गया है, इसके सदस्य बेल्जियम, नीदरलैण्ड, लक्ज़मबर्ग, फ्रांस, इटली और पश्चिमी जर्मनी हैं, इसका जन्म १० अगस्त, १९५२ को हुआ है। इसका उद्देश्य कोयले और इस्पात के लिए एक मण्डी का बनाना है। इनके सम्बन्ध में आयात और निर्यात करों को तथा राजकीय सहायता (State Subsidies) को बन्द करना तथा इस विषय में अन्य अवांछनीय बातों का विरोध करना, व्यापारिक बाधाओं को, एकाधिकारवादी तथा भेदभाव करने वाले (Discriminatory) मूल्यों को हटाकर 'उच्च सत्ता' (High Authority) द्वारा तय किये दामों के अनुसार इनके विक्रय की व्यवस्था करना है। इस कार्य के संचालन के लिए इसमें नौ सदस्यों की उच्च सत्ता (High Authority) तथा ७८ प्रतिनिधियों की $\frac{2}{3}$ बहुमत से उच्च सत्ता की आलोचना तथा नियन्त्रण करने वाली सामान्य सभा (Common Assembly) बनाई गई है। उच्चसत्ता का सरकारों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विभिन्न देशों के मन्त्रियों की परिषद् (Council of Ministers) है, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं, सामान्य हाट (Common market) सम्बन्धी विषयों में कार्य करने के लिए उच्च-सत्ता मन्त्री परिषद् की पूर्व स्वीकृति लेती है। विवादास्पद व्याख्याओं पर निर्णय देने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Court of Justice) की स्थापना की गई है। उच्च सत्ता को परामर्श देने के लिए मन्त्री परिषद् द्वारा नियुक्त की जाने वाली तथा उत्पादकों, मजदूरों और उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों की एक विमर्श समिति (Consultative Committee) भी है। इसका प्रधान कार्यालय लक्ज़मबर्ग में रखा गया है और यह सन्धि ५० वर्ष के लिए है, पहले छः महीने इसकी तैयारी का काल थे, इसके बाद ५ वर्ष परिवर्तन काल (Transition stage) के लिए रखे गये हैं, १९५३ से कोयले और इस्पात की एकल मंडियाँ (Single markets) क्रियारूप में परिणत हो गई हैं।

इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान उच्च सत्ता (High Authority) का है। विभिन्न राज्यों ने विनियोग, उत्पादन, मूल्य, मजदूरी तथा श्रमिकों के पुनर्वास सम्बन्धी अपने कुछ सर्वोच्च अधिकार (Sovereign Rights) इसे प्रदान किये हैं, इस उच्चसत्ता के बहुमत से किये गए सब निर्णयों का पालन सदस्यों के लिए आवश्यक है और इनका उल्लंघन होने पर इसे सदस्यों को दण्ड देने का भी अधिकार है। **इस दृष्टि से यह पहला ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय तथा अधिराष्ट्रीय** (Supernational) **संगठन है,** जिसमें राज्यों ने कुछ क्षेत्रों में अपने सर्वोच्च अधिकारों का परित्याग किया है और अपने राष्ट्र से बाहर की किसी सत्ता के आदेशों का आवश्यक रूप से पालन करने का निश्चय किया है। इस दृष्टि से इसका असाधारण महत्त्व है। इसके अतिरिक्त इसके सम्बन्ध में यह भी दावा किया जाता है कि इसने फ्रांस और जर्मनी की अर्थव्यवस्था का एकीकरण करके उनकी शाश्वत शत्रुता का समूलोन्मूलन कर दिया है, इसने न केवल इन दोनों के युद्ध को अविचारणीय बनाया है, किन्तु इसे सर्वथा असम्भव बना दिया है[2]; भविष्य ही इस बात का

---

२. चार्ल्स श्लीचर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६८४-७

निर्णय करेगा कि इसके ये दावे कहां तक सत्य सिद्ध होते हैं।

इस समुदाय ने इस्पात के उत्पादन में बड़ी सफलता प्राप्त की है। १९५२ में यह ४२० लाख मीट्रिक टन था, १९६२ में यह ७२८ लाख टन हो गया है। जुलाई, १९६२ में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा इसका सदस्य बनने के लिए आवेदन-पत्र पर विचार आरम्भ हुआ, किन्तु २९ जनवरी, १९६३ को फ्रांस के आग्रह पर इसे रद्द कर दिया गया।

योरोपियन आणविक शक्ति समुदाय (European Atomic Energy Community, Eurotom)—यह २५ मार्च, १९५७ को रोम में हुई सन्धि के अनुसार १ जनवरी, १९५८ को स्थापित हुआ। इसका उद्देश्य योरोप के छः राज्यों—बेल्जियम, फ्रांस, संघीय जर्मनी, इटली, लक्ज़मबर्ग तथा नीदरलैण्डस (हालैण्ड) में शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के लिए आणविक शक्ति के विकास के लिए सामान्य प्रयत्न करना है। जुलाई १९६२ में ग्रेट ब्रिटेन ने इसका सदस्य बनने का आवेदन पत्र दिया, किन्तु जनवरी १९६३ में इसे अस्वीकार कर दिया गया।

योरोपियन सामान्य मंडी (The European Common Market, ECM) अथवा योरोपियन आर्थिक समुदाय (European Economic Community, ECC) इसे १ जनवरी, १९५८ को योरोप के छः देशों—बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैण्डस तथा लक्ज़मबर्ग ने योरोप के आर्थिक और राजनीतिक एकीकरण की दृष्टि से स्थापित किया। इसमें निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गई थीं—(१) आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों और करों की समाप्ति। (२) एक सामान्य तटकर नीति तथा व्यापार नीति (Common Customs Tariff and Trade Policy) को स्वीकार करना। (३) व्यक्तियों, सेवाओं तथा पूंजी के स्वतन्त्र संचरण (Free Circulation of Persons, Services and Capital) की सब बाधाओं को दूर करना। (४) आर्थिक विकास की सुविधा के लिए एक योरोपियन विनियोग निधि (Investment Fund) का निर्माण। (५) अन्य देशों के प्रति एक सामान्य तटकर की तथा व्यापार की नीति का अनुसरण (६) कृषि एवं परिवहन की सामान्य नीति का अनुसरण। (७) योरोप का राजनीतिक एकीकरण।

छः देशों की सामान्य मंडी का क्षेत्रफल ४,४९,००० व० मी० तथा जनसंख्या १० करोड़ है। इसका क्षेत्र बाल्टिक तथा उत्तरी सागर से अटलाण्टिक तथा भूमध्य सागर तक फैला हुआ है। इस समुदाय में अफ्रीका के सोलह देश साथी सदस्य (Associate Members) हैं। इसके कारण योरोप में बड़ी समृद्धि आई है, पश्चिमी जर्मनी तथा फ्रांस की डालरों की सुरक्षित निधि में वृद्धि हुई है। इस समुदाय के कुल राष्ट्रीय उत्पादन में ३२ प्रतिशत की, औद्योगिक उत्पादन में ४० प्रतिशत की तथा छः देशों के पारस्परिक व्यापार में ८५ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

योरोपियन मुक्त व्यापार संघ (European Free Trade Association, EFTA)—योरोपियन सामान्य मंडी से ग्रेट ब्रिटेन को तथा अन्य देशों को काफी हानि पहुँची। अतः इसके दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन ने इसका निर्माण किया। इसके सदस्य सात राज्य हैं—ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, डेन्मार्क, नार्वे, पुर्तगाल, स्वीडन,

स्विट्जरलैण्ड। इस संघ का आरम्भ ३ मई, १९६० को हुआ। २ मार्च, १९६१ को फिनलैण्ड इसका साथी सदस्य बना। इस संघ के अधिकांश सदस्य योरोप के बाहरी छोर पर अवस्थित हैं, अतः इन्हें योरोपियन सामान्य मंडी के आन्तरिक छः (Inner Six) देशों की तुलना में बाह्य सात (Outer Seven) भी कहा जाता है। यह आन्तरिक छः के संगठन की अपेक्षा शिथिल आर्थिक संगठन है। इसमें सदस्य-राज्यों द्वारा तटकर शनैः-शनैः घटाने की व्यवस्था है। १ जनवरी, १९६३ तक इन देशों ने अपने तटकरों में ५० प्रतिशत की कमी की थी, सदस्य-देशों से भिन्न देशों के माल पर इन्हें चुंगा लगाने का अधिकार है। इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन को राष्ट्रमंडल के देशों को चुंगी में छूट देने तथा विशेष व्यवहार करने की पूरी स्वतन्त्रता है।

ग्रेट ब्रिटेन पहले योरोप की सामान्य मंडी में सम्मिलित नहीं हुआ क्योंकि उसे उसकी सफलता में बड़ा संदेह था, वह राष्ट्रमंडल के देशों के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था तथा वह विश्व में अपनी स्थिति ऊंची बनाये रखने के लिए किसी ऐसे संगठन में नहीं सम्मिलित होना चाहता था, जिसमें वह अपना पूरा प्रभाव न डाल सके। किन्तु १९६१ तक ब्रिटेन का योरोप के साथ निर्यात व्यापार घट गया, उसकी कृषि की वस्तुओं की मंडी बिल्कुल समाप्त हो गई और उसे यह आशंका हुई कि योरोप के साथ उसका व्यापार सर्वथा समाप्त हो जायगा। इस भयावह स्थिति से बचने के लिए उसने योरोपियन सामान्य मंडी का सदस्य बनने का प्रयत्न किया। किन्तु इससे राष्ट्रमंडल के देश बड़े चिन्तित हुए, क्योंकि यह उनके व्यापार को गहरी हानि पहुँचाने वाला था। उदाहरणार्थ इस समय भारत की चाय पर ग्रेट ब्रिटेन में कोई चुंगी नहीं है, किन्तु ग्रेट ब्रिटेन के योरोपियन सामान्य मंडी का सदस्य बनने पर इस पर ३५% चुंगी लग जाती। भारतीय जूट की भी यही दशा होती, इस समय भारत से १७ करोड़ रुपये का कपड़ा ग्रेट ब्रिटेन को निर्यात होता है। इसकी माँग बिल्कुल समाप्त होने की आशा थी। न्यूजीलैण्ड दुग्धशाला-संबंधी उत्पादन का ९२% ग्रेट ब्रिटेन को निर्यात करता है। इस व्यापार के भी समाप्त होने की संभावना थी।

ब्रिटेन सामान्य मंडी का सदस्य बनते समय राष्ट्रमंडल के देशों की हानि को रोकने के लिए उनके सम्बन्ध में कुछ रियायतें प्राप्त करना चाहता था। किन्तु सारा विश्व उस समय स्तब्ध रह गया, जब फ्रांस के आग्रह से उसके मंडी का सदस्य बनने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया (२९ जनवरी, १९६३)। फ्रांस के जनरल डीगाल ने ब्रिटेन का विरोध निम्न कारणों के आधार पर किया—(१) ग्रेट ब्रिटेन एक पृथक् टापू है, अतः योरोप में उसका कोई स्थान नहीं है। (२) वह राष्ट्रमंडल के साथ संबंध को बड़ा महत्त्व देता है, अतः उसे इसके साथ ही सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए। (३) ग्रेट ब्रिटेन सामान्य मंडी में इसलिए प्रवेश चाहता है कि वह सं० रा० अमेरिका के हितों को सुरक्षित रख सके।

योरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय (The European Defence Community, EDC)—विन्स्टन चर्चिल ने १९५० में सर्वप्रथम योरोप की रक्षा के लिए एक संगठन बनाने का प्रस्ताव विमर्श सभा (Consultative Assembly) के सम्मुख रखा था, इसके

स्वीकृत होने पर फ्रेंच प्रधानमन्त्री प्लेवें (Pleven) ने इसकी विस्तृत योजना बनाई। फ्रांस द्वारा इसमें गहरी दिलचस्पी लेने का कारण सं० रा० अमेरिका द्वारा सोवियत रूस के विरोध के लिए जर्मनी के पुन: शस्त्रीकरण पर किया जाने वाला आग्रह था। फ्रांस का कहना था कि यदि जर्मन लोगों ने पुन: शस्त्र धारण करने हैं तो उन्हें एक योरोपियन सेना का अंग बनकर ही ऐसा करना चाहिए। बड़ी लम्बी और जटिल सन्धि-चर्चा के बाद योरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की सन्धि पर २७ मई, १९५२ को हस्ताक्षर हुए।

इस सन्धि के अनुसार सन्धिकर्त्ता राज्यों की सब सेनाओं ने मिलकर नाटो की कमान में एक योरोपियन सेना का अंग बनना था। सदस्य-राज्य अपने समुद्र पार के प्रदेशों की रक्षा के लिए तथा कोरिया युद्ध जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में सं० रा० संघ की सहायता के लिए पृथक् सेनाएं रख सकते थे। इस समुदाय को सदस्य राज्यों के युद्धोद्योगों पर भी नियन्त्रण का अधिकार दिया गया था।

योरोप के राजनीतिक एकीकरण के लिए यह बड़ी महत्त्वपूर्ण योजना थी तथा इसे वास्तविक संघ का पूर्णरूप समझा जा रहा था। इसका लक्ष्य यह था कि सारे योरोप की एक सामान्य सेना, एक सामान्य सैनिक बजट तथा राष्ट्रीय राज्यों से ऊपर उठा हुआ एक राजनीतिक संगठन हो। इस प्रकार जर्मनी अपने नियन्त्रण में कोई राष्ट्रीय सेना नहीं रख सकेगा। उससे आक्रमण की आशंका नहीं रहेगी और समूचा योरोप एकीकरण की दिशा में एक बड़ा पग बढ़ा सकेगा।

किन्तु इस सन्धि के संपुष्ट होने से पहले ही स्तालिन की मृत्यु हो गई। रूस के आक्रमण का आतंक घट गया, ग्रेट ब्रिटेन ने इस प्रतिरक्षा समुदाय के साथ सहयोग करना अस्वीकार कर दिया, आणविक आयुधों के कारण स्थल सेनाओं का महत्त्व घटने लगा और जर्मनी से भय की आशंका अधिक उग्ररूप में उपस्थित की जाने लगी। इस परिस्थिति में ३० अगस्त, १९५४ को फ्रांस की राष्ट्रीय परिषद् ने इस सन्धि को रद्द कर दिया। यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य था कि आरम्भ में फ्रांस ने ही इस प्रतिरक्षा समुदाय का प्रस्ताव किया था और अब उसी ने इसकी अन्त्येष्टि की। इसके बाद सं० रा० अमेरिका ने जर्मनी के तेजी से पुन: शस्त्रीकरण को रूस से रक्षा के लिए प्रोत्साहित किया। अंग्रेजों ने योरोप में अपनी सेनाओं को स्थानीय रूप से रखना मान लिया और पश्चिमी योरोप के संघ का निर्माण हुआ।

पश्चिमी योरोपियन संघ (Western European Union, WEU)—२८ सितम्बर से ३ अक्टूबर, १९५४ तक लन्दन में होने वाले एक सम्मेलन ने इस संघ का निर्माण करते हुए यह निश्चय किया कि पश्चिमी जर्मनी पर मित्रराष्ट्रों का सैनिक अधिकार समाप्त कर दिया जाय, उसे नाटो में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया जाय तथा इसके बदले में पश्चिमी जर्मनी ने यह स्वीकार किया कि वह अपने शस्त्रास्त्र के उत्पादन पर स्वेच्छापूर्वक नियन्त्रण करेगा। यह योरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय (EDC) की अपेक्षा कम अधिकारों वाली योजना थी। इसमें सारे योरोप की एक सेना बनाने का विचार छोड़ दिया गया और नाटो की अध्यक्षता में राष्ट्रीय सेनाओं को मान लिया गया। इसमें प० यो० सं० (WEU) की जटिल प्रशासन व्यवस्था को छोड़ दिया गया

और इसके साथ ही योरोप के राजनीतिक दृष्टि से वस्तुतः एक होने की आशा और संभावना समाप्त हो गई। अब प. यो. संघ (WEU) का केवल एक ही काम रह गया है कि वह शस्त्रास्त्र के नियन्त्रण की देखभाल करे और यह भी प्रधान रूप से जर्मनी की सैनिक प्रभुता को रोकने के लिए। यो० प्र० समुदाय (EDC) योरोपियन सामान्य मंडी (ECM) की भांति सफल हो सकता था। किन्तु इसकी विफलता योरोपियन इतिहास की बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है।[3]

केन्द्रीय सन्धि संगठन तथा बगदाद पैक्ट (Central Treaty Organization, CENTO)[4]—ब्रिटिश फौजों के द्वारा मिस्र और स्वेज नहर का प्रदेश खाली कर देने के समझौते से (देखिये पिछला अध्याय) तथा मध्यपूर्व में ब्रिटिश प्रभाव क्षीण होने पर सं. रा. अमेरिका को यह चिन्ता हुई कि इस क्षेत्र में सोवियत रूस का प्रभाव न बढ़ जाए, अतः मध्यपूर्व में तेल के हितों की और सामरिक अड्डों और मार्गों की सुरक्षा तथा सोवियत रूस के प्रसार के निरोध की दृष्टि से अमेरिकी विदेश-मन्त्री जान फास्टर डलेस ने अपनी १९५३ की मध्यपूर्व की यात्रा के बाद सोवियत यूनियन की सीमा से लगने वाले राष्ट्रों—टर्की, ईरान, इराक आदि का ब्रिटेन की सहायता से एक सुरक्षा संगठन बनाने का निश्चय किया।

इराक की राजधानी बगदाद में इस संगठन का सूत्रपात लन्दन द्वारा इराकी प्रधानमन्त्री नूरी अस्सय्यद के साथ १९३० की पुरानी सन्धि के स्थान पर नई सन्धि करने के प्रस्ताव से तथा टर्की-पाकिस्तान की मित्रता सन्धि (२२ अप्रैल, १९५४) से हुआ। २४ फरवरी, १९५५ को टर्की और इराक द्वारा की गई एक पंचवर्षीय सन्धि इस समझौते का मूल आधार था। इसमें यह कहा गया था कि इस सन्धि के द्वार मध्यपूर्व की सुरक्षा के लिए सक्रिय रूप से चिन्तित सभी राष्ट्रों के लिए खुले हैं। छः राष्ट्रों के इसमें सम्मिलित होने पर इसकी स्थायी परिषद् बनाई जाएगी, इसके सदस्य इन राज्यों के मन्त्रि-मण्डलों के सदस्य होंगे, इसमें दोनों देशों की सुरक्षा-सम्बन्धी अनेक व्यवस्थाएं तथा इराक के रास्ते टर्की को बिना चुंगी के शस्त्रास्त्र भेजने का उल्लेख था। ४ फरवरी, १९५५ को ग्रेट ब्रिटेन टर्की की सन्धि में सम्मिलित हो गया और उसने १९३२ की सन्धि के स्थान पर एक नया समझौता किया। इसके अनुसार इराक पर सशस्त्र आक्रमण तथा आक्रमण की आशंका होने पर ग्रेट ब्रिटेन ने उसे पूरी सहायता देने का वचन दिया। इससे दोनों देशों में घनिष्ठ सैनिक सहयोग स्थापित हो गया। २३ सितम्बर, १९५५ को पाकिस्तान इस बगदाद सन्धि का चौथा तथा १९ अक्टूबर, १९५५ को ईरान इसका पाँचवां सदस्य बना। ब्रिटेन का जोर्डन को इसका छठा सदस्य बनाने का प्रयत्न सफल नहीं हो सका। सं० रा० अमेरिका पहले इसका पूरा सदस्य नहीं बना, किन्तु उसने

---

३. चार्ल्स श्लीचर—इण्टरनेशनल रिलेशन्स–कोआपरेशन एण्ड कान्फिलक्ट, पृ० ४७६

४. २४ मार्च, १९५९ को इराक इस सन्धि संगठन से पृथक् हो गया। अतः इराक की राजधानी बगदाद के नाम पर इसका नामकरण निरर्थक हो गया। २१ अगस्त, १९५९ को इसे केन्द्रीय सन्धि संगठन का नया नाम दिया गया है।

इसकी आर्थिक तथा तोड़-फोड़ विरोधी (Counter Subversion) समितियों में भाग लेना स्वीकार किया, स्वेज नहर के संकट के बाद वह इसकी सैनिक समिति में भी भाग लेने लगा है। २८ जुलाई, १९५८ को सं० रा० अमेरिका इस पर सहमत हो गया कि वह सहयोग देने की दृष्टि से समझौता करेगा। उसने टर्की, ईरान तथा पाकिस्तान के साथ द्विपक्षीय सन्धियों पर अंकारा में ५ मार्च, १९५९ को हस्ताक्षर किए।

बगदाद सन्धि वाले राष्ट्रों की परिषद् की पहली बैठक २१-२२ नवम्बर, १९५५ को बगदाद में इराकी प्रधानमन्त्री श्री नूरी अस्सय्यद के सभापतित्व में हुई। इसमें यह घोषणा की गई कि यह सन्धि सं० रा० संघ की धारा ५१ के अन्तर्गत मध्यपूर्व में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए की गई है, इसकी निरन्तर अधिवेशन वाली एक स्थायी परिषद् का तथा सैनिक समिति का निर्माण किया गया। १९५६ में तेहरान में हुए इस सन्धि परिषद् के दूसरे वार्षिक अधिवेशन में सं० रा० अमेरिका के प्रतिनिधि श्री लाय हैण्डर्सन ने यह घोषणा की कि सं० रा० अमेरिका बगदाद सन्धि वाले देशों की निम्न रूपों में सहायता करेगा—(१) सन्धि के उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए पूरी सैनिक सहायता दी जायेगी। (२) बगदाद में सैनिक सम्पर्क कार्यालय स्थापित किया जायगा। (३) बगदाद में इसके स्थायी सचिवालय के लिए वह आर्थिक सहायता करेगा। (४) यह सन्धि साम्यवादी आक्रमण का प्रतिरोध करेगी।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इस सन्धि का प्रधान उद्देश्य सोवियत रूस की दक्षिणी सीमा से लगे राज्यों में उसके विरुद्ध गुटबन्दी तथा इन देशों में अमेरिका के सैनिक और हवाई अड्डे स्थापित करना है। पाकिस्तान को इस पैक्ट में सम्मिलित होने के कारण सं० रा० अमेरिका प्रभूत मात्रा में सैनिक सहायता दे रहा है। यह भारत के लिए बड़ी चिन्ता का विषय हैं, अतः भारत ने बगदाद सन्धि की तीव्र आलोचना की है (देखिये पिछला अध्याय)। रूस ने भी अपने विरुद्ध की जाने वाली इस गुटबन्दी का उग्र विरोध किया है, उसकी दृष्टि में यह 'आक्रामक, सैनिक तथा राजनीतिक गठबन्धन' ही नहीं, किन्तु "गुलाम बनाने के साधनों में से एक साधन तथा उपनिवेशवाद जैसे ही एक नए प्रकार के शोषण का साधन है।" पश्चिम-विरोधी नासिर जैसे अरब राजनीतिज्ञ इस सन्धि के कट्टर विरोधी हैं, उनका यह कहना है कि इस सन्धि ने स्वतन्त्र इराक को ग्रेट ब्रिटेन का उपनिवेश बना दिया है और यह संगठन अरबों की एकता और राष्ट्रीयता को कुचलने के लिए पश्चिमी शक्तियों का षड्यन्त्र है।

१४ जुलाई, १९५८ को बगदाद में हुई इराकी क्रान्ति ने इस सन्धि संगठन को बहुत निर्बल कर दिया है, इस क्रान्ति में इस समझौते के प्रमुख प्रवर्त्तक, पश्चिम के उग्र समर्थक ७० वर्षीय इराकी प्रधानमन्त्री नूरी अस्सय्यद की तथा इराक के राजा और उसके परिवार की हत्या कर दी गई। जनरल अब्दुल करीम कासिम ने प्रधानमन्त्री के रूप में नई सरकार बनाने की घोषणा करते हुए यहां राजतन्त्र की समाप्ति कर गणराज्य की स्थापना की है।

दक्षिण पूर्वी एशिया सन्धि संगठन (South East Asian Treaty Organization, SEATO)—इसका मुख्य उद्देश्य दक्षिण पूर्वी एशिया में कम्यूनिस्ट चीन के

साम्यवादी प्रसार का निरोध करना है। १९५३ में श्री चर्चिल ने सं० रा० अमेरिका के आगे यह प्रस्ताव रखा था कि दक्षिण पूर्वी एशिया के लिए नाटो जैसे एक संगठन का निर्माण किया जाय। फ्रेंच हिन्दचीन में हो रहे स्वातन्त्र्य युद्ध में हो ची मिन्ह को कम्यूनिस्टों द्वारा दी जाने वाली सहायता रोकने के लिए वह इसका समर्थक था। आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड भी प्रशान्त महासागर में कम्यूनिज्म का प्रसार अपने लिए घातक समझते थे। सं० रा० अमेरिका पहले ऐसे संगठन का विरोधी था। वह यह समझता था कि इसे फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के साम्राज्यों में रहने वाले देश इनके साम्राज्यवाद को सुरक्षित बनाये रखने का साधन समझेंगे। किन्तु कोरिया के युद्ध में (देखिये पिछला अध्याय) कम्यूनिस्ट चीन के हस्तक्षेप ने तथा हिन्दचीन में फ्रांस की दुर्दशा ने वाशिंगटन को ऐसे संगठन की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव कराई। अप्रैल १९५४ में डलेस ने लन्दन जाकर इस प्रदेश के लिए ब्रिटेन के सम्मुख नाटो जैसी एक सामूहिक सुरक्षा-पद्धति की योजना रखी। हिन्दचीन के प्रश्न पर 'जेनीवा समझौता' हो जाने पर उत्तरी वीतनाम कम्यूनिस्टों के पास चला गया। इस पर सं० रा० अमेरिका कम्यूनिस्ट चीन को रोकना बहुत आवश्यक समझने लगा। यही स्थिति आस्ट्रेलिया की थी, उसके प्रधान मन्त्री मेन्ज़ीज़ ने कहा था—"कम्यूनिस्टों का प्रभाव हिन्दचीन के दक्षिणी छोर तक पहुँच गया है।" स्याम और फिलिप्पाइन भी कम्यूनिस्ट प्रसार से भयभीत थे। अतः इन सब देशों का एक सम्मेलन ६ सितम्बर, १९५४ को फिलीप्पाइन द्वीपसमूह के बाग्यो (Baguio) नामक स्थान में बुलाया गया। इस सम्मेलन में दक्षिणी-पूर्वी एशिया के अन्य देशों—बर्मा, इण्डोनीशिया, भारत, पाकिस्तान, लंका आदि को भी बुलाया गया, किन्तु इनमें से पाकिस्तान के अतिरिक्त किसी देश ने इसमें सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया। इस सम्मेलन के परिणामस्वरूप आठ देशों—आस्ट्रेलिया, फ्रांस, न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान, फिलिप्पाइन्स, थाईलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका ने पारस्परिक सहायता और सामूहिक सुरक्षा के एक समझौते पर मनीला में ८ सितम्बर, १९५४ को हस्ताक्षर किये।

इस सन्धि की प्रस्तावना में सन्धिकर्त्ताओं ने सं० रा० संघ के सिद्धान्तों तथा "शान्ति, स्वाधीनता, जनतन्त्र, व्यक्ति स्वातन्त्र्य, कानून की व्यवस्था" में दृढ़ विश्वास और आस्था प्रकट की है, पहली धारा में अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे की तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी भी रूप में शक्ति प्रयोग और धमकी का मार्ग न अपनाने की प्रतिज्ञा की है, तीसरी धारा में सभी राज्यों ने "स्वतन्त्र संस्थाओं को सुदृढ़ करने, आर्थिक उन्नति तथा सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और प्राविधिक सहायता" करने का वचन दिया है। चौथी धारा सबसे महत्त्वपूर्ण है, इसमें यह कहा गया है कि इस सन्धि के किसी भी देश के विरुद्ध "सशस्त्र आक्रमण होने या शान्तिभंग का भय होने पर यह सबके लिए समान खतरे की स्थिति है" और "इसमें सब देश अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार कार्यवाही करेंगे" और इसकी सूचना सं० रा० संघ को देंगे। किन्तु किसी सदस्य राष्ट्र के सीमा क्षेत्र में उस समय तक कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती, "जब तक वहां की सरकार का निमन्त्रण अथवा

सहमति न प्राप्त हो जाय।" धारा ५ में इस सन्धि-सम्बन्धी सब मामलों पर विचार करने के लिए "सैनिक तथा किसी दूसरी योजना के लिए सलाह देने के लिए" प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के एक-एक प्रतिनिधि से निर्मित होने वाली परिषद् का वर्णन है। आठवीं धारा में इस सन्धि के क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि यह इसमें सम्मिलित होने वाले राज्यों की सीमाएं तथा २१ डिग्री ३० मिनट की उत्तरी अक्षांश रेखा (हिन्द-चीन की उत्तरी सीमा) है। यह सन्धि अनिश्चित काल के लिए है, किन्तु इससे पृथक् होने की इच्छा रखने वाला देश एक वर्ष का नोटिस देकर अलग हो सकता है (धारा ११)। इस सन्धि के साथ सं० रा० अमेरिका का एक व्याख्यापत्र भी है, इसमें यह कहा गया है कि इसकी दृष्टि में धारा ४ में वर्णित "आक्रमण का अभिप्राय साम्यवादी आक्रमण" है। इसका यह अर्थ है कि अमेरिका कम्यूनिस्टों द्वारा आक्रमण होने पर ही इन राज्यों को सहायता देगा, उनके आपसी आन्तरिक विवादों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। इस संगठन का प्रधान कार्यालय थाईलैण्ड की राजधानी बैंकाक में है।

एशिया के अनेक देशों ने इसकी तीव्र आलोचना की है। चीन के प्रधानमंत्री चौ-एन-लाई के शब्दों में यह "सामूहिक सुरक्षा के आवरण से आवेष्टित आक्रमण का साधन है।" श्री कृष्ण मेनन के मतानुसार "यह सुरक्षा का क्षेत्रीय संगठन नहीं है, अपितु ऐसे विदेशी लोगों का संगठन है, जिन्हें इस क्षेत्र में अपने हितों की सुरक्षा करनी है।" श्री जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में भाषण करते हुए कहा था—"यह सं० रा० संघ की भावना के विरुद्ध है, इससे विश्व में शान्ति में वृद्धि के स्थान पर तनाव और असुरक्षा बढ़ेगी। यह एक प्रकार का मनरो सिद्धान्त है, जिसे दक्षिण-पूर्वी देशों पर जबर्दस्ती थोप दिया गया है।"

उपसंहार—कहा जाता है कि जब लक्ष्मण सीता की प्रेरणा पर अपने बड़े भाई की रक्षा के लिए पंचवटी की कुटिया से बाहर निकले थे तो उन्होंने भाभी की रक्षा के लिए उसके द्वार पर एक रेखा खींचते हुए उसे उससे बाहर न आने को कहा था। इस समय उपर्युक्त प्रादेशिक संगठनों और सन्धियों द्वारा पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत रूस का प्रसार रोकने के लिए ऐसी ही **'लक्ष्मण रेखा'** खींची है और चर्चिल की निरोध (Containment) नीति के अनुसार साम्यवादी शक्तियों को इस रेखा के भीतर रखने का प्रयत्न किया है। कोरिया में यह ३८ डिग्री उत्तरी अक्षांश रेखा है, हिन्दचीन में २१वीं उत्तरी अक्षांश रेखा। **रियो सन्धि** ने पश्चिमी गोलार्द्ध के चारों ओर ऐसी रेखा खींची है, योरोप को इस रेखा ने दो भागों में बांट दिया। किन्तु स्पूतनिकों और प्रक्षेपणास्त्रों के युग में इन रेखाओं पर भरोसा रखना सम्भव नहीं है। ये सब रक्षात्मक सन्धियां और संगठन शान्ति और सुरक्षा के नाम पर किये जाते हैं, किन्तु इनका मुख्य परिणाम प्रतिपक्षियों के दिलों में अशान्ति और असुरक्षा उत्पन्न करना होता है। इससे एक दूसरे के प्रति सन्देह, आशंका और भय के भाव बढ़ते हैं। नाटो, वारसा पैक्ट, बगदाद पैक्ट तथा सीटो शान्ति के अग्रदूत नहीं, किन्तु युद्धों का बीजारोपण करने वाले तथा सं० रा० संघ को क्षीण करने वाले हैं। अतः भारत की विदेशनीति इस प्रकार के प्रादेशिक सैनिक समझौतों और संगठनों की प्रबल विरोधी है।

प्रश्न

1. Write a critical note on the North Atlantic Treaty Organization. (B. H. U. 1958)

2. Describe the main provisions of the North Atlantic Treaty of 1949 and examine its compatibility with the United Nations charter and its effects on collective security. (B. H. U. 1955)

3. Write short notes on :
EDC, NATO, Brussels Treaty, Seato, Regional Pacts.
(B. H. U. 1958, 1957, 56; Agra Uni. 1960)

4. Write a short note on Regional Defence Pacts and the U. N. O. (Rajasthan 1960)

नवां अध्याय

रूस और अमेरिका का शीतयुद्ध तथा विदेशनीति

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व में प्रथम कोटि की दो ही महाशक्तियां रह गई हैं—सोवियत रूस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका। युद्ध के समय में ये मित्र थीं, किन्तु युद्ध के बाद इन दोनों में तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गए। शीघ्र ही इन मतभेदों ने इतने तनाव, वैमनस्य और मनोमालिन्य की स्थिति उत्पन्न कर दी कि दोनों देशों में बारूद के गोले-गोलियों से लड़े जाने वाले सशस्त्र सैनिक संघर्ष के न होते हुए भी, कागज के गोलों, अखबारों से लड़ा जाने वाला परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार का तुमुल संग्राम छिड़ गया। यही शीतयुद्ध कहलाता है। लगभग सारा संसार इनके समर्थक दो गुटों में बंट गया। दोनों देश सर्वत्र अपना प्रसार तथा विरोधी का निरोध करने का यत्न करने लगे। द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच प्रलयंकर आणविक आयुधों से सम्पन्न इन दोनों भीमाकार दानवों के संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के परिचय के लिए इनके शीतयुद्ध (Cold War) के कारणों और दोनों के विदेशनीति के मूल तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस की स्थिति और नीति—आइजनहावर ने लिखा है "१९४५ में जब हम हवाई जहाज से रूस गए तो हमने इसकी पश्चिमी सीमा से मास्को तक के विशाल प्रदेश में एक भी मकान खड़ा नहीं देखा।" विध्वंस और विनाश के इस ताण्डव में रूस द्वारा उठाई गई असीम जन-धन की क्षति का सही अन्दाजा बहुत कठिन है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि रणचण्डी का खप्पर डेढ़ करोड़ रूसियों के बलिदान से अवश्य भरा होगा।[1] रूस का इस पर गहरा प्रभाव पड़ा, उसने यह निश्चय किया कि वह भविष्य में अपने चारों ओर अपने समर्थक राज्यों का घेरा बनाकर अपने को इतना शक्तिशाली बना लेगा कि भविष्य में वह अजेय हो जाय। प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी द्वारा पराभव, बोल्शेविक क्रांति के बाद मित्रराष्ट्रों के आक्रमण, १९१९ के पेरिस के समझौते द्वारा उसके चारों ओर विरोधी राज्यों के निर्माण, उसके साथ पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा किए जाने वाले अछूत जैसे व्यवहार, हिटलर के प्रबल आक्रमण और विनाश ने उसे इस नीति के लिए बाधित किया कि वह रूस की सैनिक शक्ति को बढ़ाए, मित्रराष्ट्रों द्वारा उससे अब तक गुप्त रखे गए अणुबमों के रहस्यों का अनुसन्धान कर उससे भी शक्तिशाली शस्त्र बनाए, अपने चारों ओर ऐसे कठपुतली और समर्थक कम्यूनिस्ट राज्य स्थापित करे, जो भावी युद्ध में उसकी सीमाओं को सुरक्षा प्रदान करें और विरोधी शक्तियों के अड्डे न बनें, जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से निर्बल बनाकर उस समय तक विभक्त रखा जाय, जब तक कि वहां कोई कम्यूनिस्ट शासन

१. लैंगसम—वर्ल्ड सिन्स १९१९, पृ० ६५५

नहीं स्थापित हो जाता, शक्तिशाली जापान के पुनरुज्जीवन का विरोध करे। मास्को की प्रभुता दक्षिण दिशा में मध्यपूर्व अरब, ईरान में तथा पूर्व दिशा में चीन में स्थापित हो, वह विश्व में कम्यूनिस्ट क्रांति के प्रसार के अपने पुराने लक्ष्य को पूरा करे।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के दो वर्ष के भीतर ही १९४७ तक रूस को अपने उपर्युक्त लक्ष्यों में बड़ी सफलता मिली। समूचे पूर्वी योरोप के देशों—अल्बानिया, बल्गारिया, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैण्ड, रूमानिया और कुछ समय तक यूगोस्लाविया में उसका आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो गया। कई कारणों से रूस को इसमें बड़ी सुविधा हुई। इन सब देशों में जर्मनी को हराने के बाद उसकी लाल सेनाएं विद्यमान थीं। याल्ता सम्मेलन (फरवरी १९४५) में पश्चिमी शक्तियों ने पूर्वी योरोप में रूस के प्रभाव की प्रधानता स्वीकार की थी, मास्को ने सितम्बर १९४४ से जनवरी १९४५ तक फिनलैण्ड, रूमानिया, बल्गारिया के साथ विराम सन्धियां कीं, इनमें स्थायी सन्धियां होने तक रूस को वैसे ही असाधारण, राजनीतिक और आर्थिक अधिकार मिले, जैसे यूनान और इटली में पश्चिमी शक्तियों को मिले थे। रूस ने इस स्थिति का पूरा सदुपयोग उठाते हुए पश्चिम की सद्भावना प्राप्त करने के लिए पहले तो इन देशों में विभिन्न दलों की 'राष्ट्रीय एकता' (National Unity) वाली सब दलों की मिली-जुली सरकारों के निर्माण को प्रोत्साहित किया, इनमें कम्यूनिस्टों के अतिरिक्त किसानों, बुद्धिजीवियों, मध्यमवर्ग वालों के अन्य दल भी सम्मिलित थे। किन्तु शनैः शनैः मास्को ने इन संयुक्त 'लोकप्रिय मोर्चे, (Popular Front) की सर्वदलीय सरकारों के गैर-कम्यूनिस्ट नेताओं को बदनाम करके हटाना और निकालना शुरू किया। लाल सेना के सहयोग से यह कार्य बड़ा सुगम था। इस समय पोलैंड, बल्गारिया, रूमानिया, हंगरी और चैकोस्लोवाकिया की सरकारों में क्रमशः कामरेड गोमुल्का, दिमित्रोव, अन्ना पाकर, राकोसी और गाटवाल्ड प्रबल हुए, इन्होंने एक-एक करके गैर कम्यूनिस्ट नेताओं को सरकार से अर्धचन्द्र दे दिया। गैर कम्यूनिस्ट नेता प्रायः कृषकवर्ग के थे, बड़ी जमींदारियों को समाप्त करके भूमि का पुनर्वितरण चाहते थे, किन्तु कम्यूनिस्टों के कृषि के समूहीकरण (Collectivization) के विरोधी थे। इनका विनाश छल, बल सभी उपायों से किया गया, बल्गारिया के कृषक नेता पेतकोव (Petkov) पर देशद्रोह का अभियोग चलाकर उसे प्राणदण्ड दिया गया। रूमानिया में मैनिउ (Maniu) को जेल में डाल दिया गया, हंगरी में बेला कोवाक (Kovac) को सोवियत पुलिस ने बन्दी बनाया, पोलैण्ड में मिकोलजज़िक (Mikolajczyk) को जान बचाकर मातृभूमि से भागना पड़ा।

सेना, पुलिस और सरकार की सहायता से प्रमुख कम्यूनिस्ट विरोधी नेताओं का सफाया कर देने के बाद १९४५ के अन्त में अलबानिया और यूगोस्लाविया में, १९४६ के अन्त में बल्गारिया और रूमानिया में तथा १९४७ में पोलैंड और हंगरी में चुनाव कराये गए। सर्वत्र मास्को के पृष्ठपोषक कम्यूनिस्ट दल विजयी हुए और इन देशों में कम्यूनिस्ट सरकारें बनीं। रूस के साथ लगने वाले केवल दो देशों फिनलैंड और चैकोस्लोवाकिया के चुनाव में कम्यूनिस्ट बहुमत में नहीं आ सके। मार्च १९४५ की

फिनिश डायट में कम्यूनिस्टों को एक चौथाई सीटें मिलीं। १९४८ के चुनावों में इनकी हालत और बुरी हो गई, वे १९% वोट ही प्राप्त कर सके और उन्हें मन्त्री-पदों से वंचित होना पड़ा। इसका कारण केवल फिन लोगों की पिछली रूसी फिनयुद्ध के कारण मास्को के प्रति घोर घृणा ही न थी, किन्तु सोवियत रूस की फिनलैंड में दिलचस्पी का अभाव था, उसे जर्मन शक्ति के विध्वंस होने के कारण बाल्टिक सागर में किसी संकट की आशंका नहीं रही थी और सन्धि द्वारा फिनलैंड से उसने सब अभीष्ट सुविधाएं प्राप्त कर ली थीं।

किन्तु चैकोस्लोवाकिया के महत्त्वपूर्ण राज्य में कम्यूनिस्ट प्रभाव की क्षीणता मास्को को सह्य नहीं थी। मई १९४६ के चुनावों में यहां कम्यूनिस्टों को ३८ प्रतिशत वोट मिले थे, १९४७ के अन्त में हुए चुनावों में इतने मत भी नहीं मिले। अतः १९४८ के चुनाव में इस दुरवस्था की पुनरावृत्ति रोकने के लिए उन्होंने छल, बल, षड्यन्त्र आदि उपायों का प्रयोग किया, पुलिस तथा सरकारी कार्यालयों में और मजदूर संगठनों में काम करने वाली संस्थाओं पूरा उपयोग उठाया। परिणाम-स्वरूप फरवरी १९४८ में दूसरी पार्टियों के उदार मन्त्रियों को त्यागपत्र देना पड़ा। कम्यूनिस्टों ने इस समय देश के प्रमुख उद्योगों में बेनेश के विरुद्ध हड़तालें कर दीं, प्राग में सशस्त्र जलूस निकलवाए और प्रदर्शन करवाये। अन्त में लाचार होकर बेनेश को कम्यूनिस्ट बहु-संख्या वाला मन्त्रिमण्डल बनाना स्वीकार करना पड़ा। सितम्बर में बेनेश की मृत्यु हो गई और मई १९४९ के चुनावों में कम्यूनिस्टों को प्रबल बहुमत मिला और यहां भी कम्यूनिस्ट ढंग का मास्कोपक्षपाती शासन सुदृढ़ हो गया।

इस प्रकार पूर्वी योरोप में क्रेमलिन की पृष्ठपोषक 'जनता की लोकतन्त्र' (People's Democracies) सरकारें स्थापित हुईं। इसमें एकमात्र अपवाद यूगोस्लाविया का मार्शल टीटो था। उसने लाल सेना की सहायता से नहीं, किन्तु अपनी सेना की सहायता से मातृभूमि को जर्मन सैनिकों की दासता के पंजे से मुक्त किया था, अतः उसे स्तालिन के प्रति कृतज्ञ होने की आवश्यकता नहीं थी। वह यद्यपि कम्यूनिस्ट था, किन्तु इसके साथ पक्का राष्ट्रीय नेता भी था, क्रेमलिन की कठपुतली नहीं बनना चाहता था। अतः अक्टूबर १९४७ में कोमिण्टर्न के आदेश पर स्थापित विभिन्न देशों में कम्यूनिज्म का प्रसार करने वाली कोमिन्फार्म (Communist Information Bureau) द्वारा अनेक निन्दा के प्रस्ताव जून १९४८ में पास होने पर भी उसने स्तालिन का वशवर्त्ती होना स्वीकार नहीं किया। किन्तु उसके अतिरिक्त किसानों तथा रोमन कैथोलिकों का घोर विरोध होते हुए भी पूर्वी योरोप के अन्य सब राज्य मास्को के पृष्ठ-पोषक, समर्थक और अनुगामी बन गए। राबर्ट बर्न्ज के शब्दों में रूस को इससे निम्न-लिखित लाभ प्राप्त हुए[२]—"इसने सोवियत यूनियन की सीमाओं को आक्रमणों से सुरक्षित कर दिया है। इसने सोवियत यूनियन को मध्य योरोप में अपने देश से काफी आगे बढ़ा हुआ शक्तिशाली अड्डा प्रदान किया है, इसने योरोप के महाद्वीप को विभक्त करके

२. करेण्ट हिस्टरी फ़रवरी १९५७, पृ० ७१

पश्चिमी योरोप के सिर पर एक बन्दूक तान कर रख दी है। इसने सोवियत यूनियन को जर्मनी के एकीकरण के किसी समाधान को वीटो करने का अधिकार प्रदान किया है, इससे रूस को शोषण के लिए बड़ा समृद्ध साम्राज्य हस्तगत हुआ है।"

अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी शक्तियों का रूस की इस प्रभाववृद्धि से भयभीत, आशंकित और संत्रस्त होना स्वाभाविक था। इसके परिणामस्वरूप मास्को और वाशिंगटन में, पूर्व और पश्चिम में एक शीतयुद्ध आरम्भ हो गया। १९४७ से मार्च १९५३ में स्तालिन की मृत्यु तक यह बड़ी उग्रता से चलता रहा, १९५३ से १९५६ तक सोवियत सरकार की नई नीति के कारण इसमें कुछ शिथिलता आई, किन्तु इसके बाद यह पुनः इस समय जारी है, १९६० में यू-२ तथा आर० बी०-४७ विमानकाण्डों तथा कांगो ने इसमें तेजी ला दी। यह इस समय सब अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को प्रभावित कर रहा है। इसके उत्पन्न होने के कारण निम्नलिखित थे :—

शीतयुद्ध का श्रीगणेश, इसके कारण और प्रगति—यह बड़े आश्चर्य की बात थी कि हिटलर के विरुद्ध कन्धे से कन्धा भिड़ाकर लड़ने वाले मित्रराष्ट्र युद्ध के बाद इतनी जल्दी आपस में लड़ने लगें। **याल्टा-सम्मेलन** में स्तालिन ने रूजवैल्ट और चर्चिल की पूर्वी योरोप में स्वतन्त्र चुनाव कराने तथा अन्य माँगों को स्वीकार करने में इतनी उदारता दिखाई थी कि उस समय पश्चिमी देशों के प्रतिनिधि अत्यधिक प्रसन्न और सन्तुष्ट थे। उन्हें स्वप्न में भी यह आशंका नहीं थी कि रूस के साथ उनके झगड़े इतनी जल्दी शुरू हो जायेंगे। हैरी हापकिन्स ने याल्टा-सम्मेलन से लौटने वाले प्रतिनिधियों के विचारों के सम्बन्ध में लिखा है—"हमें वस्तुतः अपने हृदयों में यह विश्वास था कि यह उस नवीन दिवस का उषाकाल है, जिसके लिए हम इतने वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे। हमें इस बात का पूर्ण विश्वास था कि हमने शान्ति की प्रथम विजय को प्राप्त कर लिया है।"[3] इस शान्ति के शीतयुद्ध में परिणत होने का **प्रथम कारण** युद्धकाल में दोनों पक्षों का एक दूसरे के प्रति बढ़ता हुआ संदेह और अविश्वास था। यद्यपि युद्ध के समय हिटलर के आक्रमण ने रूस और पश्चिमी देशों को एक-दूसरे का मित्र बना दिया था, किन्तु यह मैत्री प्रगाढ़ नहीं हो पाई, क्योंकि सोवियत रूस बोल्शेविक क्रान्ति के अपने जन्मकाल से पश्चिमी शक्तियों द्वारा उसे समाप्त करने के प्रयत्नों (पृ० २०९-२१२) को नहीं भूल सकता था. और पश्चिमी राष्ट्र उसके पूंजीवाद के उन्मूलन के निश्चय, विश्व-क्रान्ति के विचार तथा १९३९ में हिटलर के साथ अनाक्रमण समझौते को नहीं भुला सकते थे। **दूसरा कारण** रूस द्वारा १९४२ से योरोप में दूसरा मोर्चा खोलने के लिए बल देना था। इस विषय में चर्चिल की योजना यह थी कि अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन की सेनाएं बाल्कान प्रायद्वीप से योरोप में उत्तर की ओर बढ़ें ताकि रूस की सेनाएं पूर्वी यूरोप में बहुत आगे न बढ़ सकें। इसके अतिरिक्त मास्को इस बात से रुष्ट था कि दूसरा मोर्चा खोलने में विलम्ब क्यों किया जा रहा है, उसकी दृष्टि में उसका प्रधान कारण जान-बूझकर उसकी शक्ति को क्षीण करना था। **तीसरा कारण** युद्ध में दोनों पक्षों द्वारा

३. राबर्ट शेरवुड—रूजवैल्ट एण्ड हापकिन्स, पृ० ८७०

जर्मनी से जीते गए प्रदेशों में उसके विरुद्ध स्वातन्त्र्य संघर्ष करने वाले विभिन्न दलों में अपना समर्थन करने वाले दलों को मान्यता प्रदान करना था। इटली में मित्रराष्ट्र कम्यूनिस्टों को समाप्त करने के लिए मुसोलिनी के फासिस्ट दल से सहयोग कर रहे थे, यूगोस्लाविया में जर्मन दासता के बन्धनों को काटने वाला टीटो चर्चिल को नापसन्द था और उसने ३१ अगस्त, १९४३ को यूगोस्लाविया के राजा को उसकी गद्दी पर पुनः बिठाने के इरादे की घोषणा की। यूनान में भी ब्रिटेन कम्यूनिस्ट-विरोधी राजपक्षपाती दल का समर्थक था। इन सबसे रूस के मन में सन्देह पुष्ट हो रहा था। दूसरी ओर रूस की लालसेना द्वारा पूर्वी योरोप में कम्यूनिस्ट पार्टियों के प्रोत्साहन तथा विरोधी तत्त्वों के विध्वंस ने मित्रराष्ट्रों को चिन्तित किया। पोलैण्ड के कैटिन (Katyn) वन-हत्याकाण्ड में चार हजार गैर कम्यूनिस्ट पोलों का लालसेना द्वारा सफाया कर दिया गया, ११ हजार अन्य लापता पोलों के साथ भी इसी व्यवहार की आशंका की जाती है।[४] चर्चिल ने रूस के प्रति इस सन्देह से प्रेरित होकर ही बाल्कान के सम्बन्ध में अक्टूबर १९४४ के **एंग्लो-सोवियत समझौते** द्वारा यह बटवारा कराया कि लालसेना का प्रभावक्षेत्र बल्गारिया और रूमानिया समझा जाय, यूनान मित्रराष्ट्रों के अधिकार में रहे और हंगरी व यूगोस्लाविया में दोनों का प्रभुत्व स्वीकार किया जाय। किन्तु इस समझौते से दोनों के सन्देह समाप्त नहीं हुए, दोनों की आकांक्षाएं तथा संघर्ष अधिक बढ़ गए।

चौथा कारण अमेरिका और ब्रिटेन द्वारा अणुबम के अनुसंधान और परीक्षणों का रहस्य स्तालिन से जान-बूझकर गुप्त रखना था। अमेरिका ने ग्रेट ब्रिटेन को इस अनुसंधान की पूरी प्रगति से परिचित रखा, किन्तु स्तालिन को ट्रूमैन ने यह सूचना २४ जुलाई, १९४५ को ही गोलमाल रूप में दी थी। अतः हिरोशिमा पर अणुबम के विस्फोट ने इस शहर का ही सर्वनाश नहीं किया, किन्तु युद्धकालीन मित्रराष्ट्रों की मित्रता का भी विध्वंस किया। ट्रूमैन और चर्चिल को अणुबम के कारण यह अभिमान था कि अब उन्हें रूसियों की सहायता की आवश्यकता नहीं है। रूस को इस बात का धक्का लगा कि पश्चिम ने उसके साथ इसके रहस्य को छिपाकर घोर विश्वासघात किया है। यद्यपि उसने युद्ध-समाप्ति के बाद के चार वर्षों में इस रहस्य का पता लगा लिया और ४ अक्टूबर, १९५७ को स्पूतनिक छोड़कर वैज्ञानिक उन्नति में अमेरिका को मात दे दी। किन्तु युद्ध की समाप्ति पर रूस इस रहस्य की गोपनीयता के कारण पश्चिम से अत्यन्त रुष्ट और असन्तुष्ट था।

उपर्युक्त कारणों से युद्ध समाप्त होने तक दोनों पक्षों में गहरे मतभेद उत्पन्न गये, युद्ध के बाद इनकी उग्रता बहुत अधिक बढ़ गई। इनके मतभेद विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और विदेशनीतियों में प्रकट होने लगे। पहले मित्रराष्ट्रों ने रणक्षेत्र में हिटलर की सेनाओं के विरुद्ध शस्त्रों द्वारा लड़ाई की थी, अब अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों की मेजों के दोनों ओर समाचार-पत्रों और रेडियो द्वारा भीषण वाग्युद्ध और प्रचारयुद्ध

---

४. चार्ल्स श्लीचर— इंट्रोडक्शन टु इण्टरनेशनल रिलेशन्स, पृ० ४२

आरम्भ हो गये। सारा संसार शीघ्र ही दो विरोधी गुटों (Blocks) में विभक्त हो गया, अमेरिका के नेतृत्व में एंग्लो-अमेरिकन गुट पश्चिम (West) "स्वतन्त्र विश्व (Free World) अथवा लोकतन्त्रों (Democracies) का गुट (Bloc) कहलाता है"। रूस के नेतृत्व में दूसरा गुट पूर्व, "शान्ति का कैम्प, लोकतन्त्रीय कैम्प (Democratic Camp), जनता का लोकतन्त्र (People's Democracy) सोवियत लोकतन्त्र (Soviet Democracy) कहलाता है"।

इन गुटों के निर्माण में उपर्युक्त मौलिक मतभेदों के अतिरिक्त युद्ध के बाद होने वाली कई बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनायें थीं। **पहली घटना** तो पूर्वी यूरोप में रूस की एकछत्र सत्ता का प्रसार था। चर्चिल युद्ध में ही इसे रोकना चाहता था, मई १९४५ में भी वह चाहता था कि अमेरिकन फौजें जर्मनी में अधिक-से-अधिक प्रदेश पर अधिकार करलें, किन्तु अमेरिकन फौजों के स्वदेश वापिस लौटने की आतुरता ने योरोप का बड़ा भाग लालसेना के लिए खाली छोड़ दिया, रूस का इसमें तेजी से प्रसार पश्चिमी योरोप को भयभीत करने लगा, इसे मास्को के विरुद्ध शक्तिशाली संगठन बनाने की प्रेरणा देने लगा। **दूसरी घटना** इटली के साथ शान्ति सन्धि तय करने के लिए लन्दन में बुलाई गई विदेश-मन्त्रियों की परिषद् थी (देखिये पृ० २३३) इसमें रूसी विदेश-मन्त्री मोलोतोव की माँगों ने पश्चिमी राष्ट्रों को स्तब्ध कर दिया, इसका परिणाम यह हुआ कि विदेश-मंत्री परिषदों की बैठकें शान्ति की समस्यायें सुलझाने के स्थान पर उन्हें उलझा कर नये विवाद उत्पन्न करने लगीं।[5] **तीसरी घटना** १९४५ के अन्त में ईरान से सोवि-

५. यह तथ्य विदेश-मन्त्रियों के विभिन्न सम्मेलनों के निम्न विवरण से स्पष्ट हो जायगा। सितम्बर १९४५ से जनवरी १९६४ तक अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें सुलझाने के लिए ऐसे १५ सम्मेलन हो चुके हैं। लन्दन का पहला सम्मेलन (सितम्बर ११—अक्टूबर २, १९४५) इटली आदि की सन्धियों की समस्या नहीं हल कर सका, दूसरे मास्को स० (दिसम्बर १६-२६, १९४५) में मोलोतोव ने ईरान से रूसी फौजें हटाना अस्वीकार कर दिया। तीसरे पेरिस स० (अप्रैल २५—मई १६, १९४६) में इटली, फिनलैण्ड, बाल्कान की सन्धियां नहीं तय हो सकीं, चौथे पेरिस सम्मेलन (५ जून—१२ जुलाई, १९४६) में इटली आदि की सन्धियों के सम्बन्धों में कुछ समझौता हुआ। पाँचवें न्यूयार्क स० (४ नवम्बर—१२ दिसम्बर) में इटली आदि की सन्धियां तय होने पर भी आस्ट्रिया और जर्मनी की सन्धियों के बारे में कोई समझौता नहीं हो सका। छठा मास्को सम्मेलन (१० मार्च—२४ अप्रैल, १९४७) छः सप्ताह के कटु विवाद के बाद जर्मनी तथा आस्ट्रिया की सन्धि नहीं तय कर सका। सातवें लन्दन सम्मेलन (२५ नवम्बर—१५ दिसम्बर, १९४७) में यह समस्या नहीं सलझ सकी। आठवां पेरिस सम्मेलन (१३-२५ सितम्बर, १९४८) इटली के उपनिवेशों के बंटवारे का प्रश्न नहीं तय कर पाया। नवां पेरिस स० (२३ मई—२० जून, १९४९) आस्ट्रियन जर्मन सन्धियों के प्रश्न की गुत्थी नहीं सुलझा सका। दसवां न्यूयार्क स० (२६ सितम्बर—६ अक्टू० १९४९) जर्मन सन्धि के प्रश्न पर विफल हो गया। ११वां बर्लिन स० (२५ जनवरी—१८ फरवरी, १९५४) स्तालिन की मृत्यु के बाद हुआ, हिन्दचीन में लड़ाई बन्द करने के लिए एक सम्मेलन बुलाने के लिए दोनों पक्षों की सहमति इसकी बड़ी सफलता थी। १२वें जेनीवा स० में (२६ अप्रैल—२० जलाई, १९४५) हिन्दचीन का कम्यूनिस्ट तथा गैर कम्यूनिस्ट दो भागों में बंटवारा करके यह युद्ध बन्द करने का निश्चय हुआ। १३वें वियना सम्मेलन ने (१४, १५ मई

यत यूनियन द्वारा यह युद्ध समाप्त होने पर भी अपनी सेनायें न हटाने के कारण मित्र-राष्ट्रों का उसके प्रति सन्देह बढ़ने लगा (देखिये अध्याय ७)। **चौथी घटना** यूनान में पड़ोसी कम्यूनिस्ट देशों—अल्बानिया, यूगोस्लाविया, बल्गारिया द्वारा यूनानी कम्यूनिस्ट छापामारों को दी जाने वाली सहायता के कारण तथा टर्की पर बास्फोरस तथा दर्रे दानियाल जलडमरूमध्य पर प्रभुत्व पाने के लिए डाले जाने वाले रूस के दबाव और ब्रिटेन तथा अमेरिका की चिन्ता थी, इसका परिणाम अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा 'स्वतन्त्र देशों को सहायता देने की घोषणा (१२ मार्च, १९४७) और मार्शल योजना (५ जून, १९४७) थी। आगे इनका विस्तार से वर्णन होगा। इनसे रूस चिन्तित हुआ, दोनों पक्षों के मतभेद की खाई चौड़ी हुई। चर्चिल ने पश्चिम की कम्यूनिज्म विरोध की नई नीति का निर्देश १९४६ में अपनी सुप्रसिद्ध **फुल्टन वक्तृता** में किया। ट्रूमैन द्वारा इसे १९४७ में बलपूर्वक पुष्ट कर दिये जाने के बाद सं० रा० संघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन दोनों के संघर्ष का अखाड़ा बन गये, सुरक्षा परिषद् की पहली बैठक में ही रूसी प्रतिनिधियों ने पश्चिम पर बड़े कटु और उग्र आक्षेप किये और उसके बाद तो इसकी तथा जनरल असेम्बली की शायद ही कोई ऐसी बैठक हुई हो, जिसमें दोनों ने एक-दूसरे पर भीषण आरोप-प्रत्यारोप न लगाये हों। आरम्भ में असेम्बली में दक्षिण अमेरिका के २० वोटों के कारण एंग्लो-अमेरिकन गुट के पास ३१ से अधिक वोट थे, जबकि रूस के पास केवल पाँच वोट थे। किन्तु सुरक्षा परिषद् में मास्को ने अपने वीटो के अधिकार का पूरा लाभ उठाया। रूस ने अमेरिका की मार्शल योजना के जवाब में योरोप के ९ कम्यूनिस्ट देशों का कोमिनफार्म (Cominform—Communist Information Bureau) २५ अक्टूबर १९४७ को स्थापित किया[६]। १७ मार्च, १९४८ की बेनीलक्स संधि और बर्लिन संकट (देखिये अध्याय ७) के साथ यह संघर्ष उग्र हुआ। जर्मनी तथा आस्ट्रिया के साथ संधि के विषय में दोनों पक्षों के उग्र मतभेद थे (देखिये आगे)। पश्चिमी देशों द्वारा जर्मनी के तीनों पश्चिमी क्षेत्रों के एकीकरण के बाद संघीय पश्चिमी जर्मनी बनने पर मास्को ने पूर्व में लोकतन्त्रीय जर्मनी की स्थापना की, किन्तु इन दोनों के एकीकरण के प्रश्न पर अब तक दोनों पक्षों में मतभेद बने हुए हैं।

१ अक्टूबर, १९४९ को पेकिंग में कम्यूनिस्टों का जनगणराज्य स्थापित होने

१९५५) आस्ट्रिया की सन्धि के प्रश्न को हल किया। १४वां जेनीवा सम्मेलन भी विफल रहा (२७ अक्टूबर–१६ नवम्बर, १९५५)। १५वां जेनीवा सम्मेलन (११ मई, १९५९) को गोल और चौकोर मेज के झगड़े से आरम्भ हुआ और २० जून १९५९ को जर्मनी के एकीकरण तथा बर्लिन प्रश्न पर बिना कोई निर्णय १३ जुलाई के लिए स्थगित हो गया। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि १५ में से केवल ५ सम्मेलन सफल हुए हैं, १० सम्मेलन पूर्व-पश्चिम की समस्याओं को हल करने में विफल रहे हैं।

६. जून १९४८ में मास्को की नीति का समर्थक न होने के कारण टीटो का यूगोस्लाविया इससे निकाल दिया गया था। १९५६ में मास्को द्वारा यूगोस्लाविया के साथ समझौता होने के कारण १९५६–५७ में कुछ समय के लिए इसे भंग कर दिया गया था।

से शीतयुद्ध में बड़ी गर्मी आ गई। चीन सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य है, अब तक इसमें इसका प्रतिनिधि वाशिंगटन द्वारा समर्थित च्यांगकाई शेक की सरकार का होता था। अब इसे साम्यवादी सरकार ने पूर्णरूप से पराभूत कर दिया और यह चीनी महाद्वीप से भागकर अमेरिकी फौजों द्वारा सुरक्षित फारमोसा टापू में चली गई। इस अवस्था में पेकिंग की सरकार द्वारा सुरक्षा परिषद् में अपने प्रतिनिधि के बैठाने की माँग करना स्वाभाविक था। किन्तु इससे सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यों में से दो कम्यूनिस्ट हो जाते और उनकी शक्ति बढ़ जाती। अतः अमेरिका ने चीन की नई सरकार को मान्यता नहीं दी और कम्यूनिस्ट प्रतिनिधि के संघ में बिठाने का घोर विरोध किया, इस उग्र विरोध के कारण वह अब तक संघ का सदस्य नहीं बन सका। इस समय यह दोनों पक्षों में शीतयुद्ध का एक प्रधान कारण बना हुआ है।

कम्यूनिस्ट चीन को संघ का सदस्य न बनाने के प्रश्न पर अपना विरोध प्रकट करने के लिए रूस ने सुरक्षा परिषद् और संघ का बहिष्कार किया। रूसी प्रतिनिधि १३ जनवरी, १९५० को सुरक्षा परिषद् की बैठक से बाहर निकल आया और १ अगस्त, १९५० तक उसने इसकी बैठकों में कोई भाग नहीं लिया। इसी बीच में सोवियत प्रतिनिधि की अनुपस्थिति में कम्यूनिस्ट उत्तर कोरिया द्वारा दक्षिण कोरिया पर किये गये आक्रमण के निवारण के लिए सुरक्षा परिषद् ने २७ जून, १९५० को इसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही का निश्चय किया (देखिये अध्याय ७)। यह बड़ा महत्त्वपूर्ण निर्णय था, मतदान के समय यूगोस्लाविया ने इसका विरोध किया, भारत और मिस्र इस पर तटस्थ रहे। कोरियन-युद्ध में कुछ समय तक शीतयुद्ध शस्त्र-युद्ध में परिणत हुआ। ८ जून, १९५३ को इस युद्ध का विराम (Cease-fire) हुआ, किन्तु शीतयुद्ध जारी रहा।

कोरिया के युद्ध के बाद प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रश्न पर दोनों गुटों का तीव्र मतभेद रहा है, हिन्दचीन में फ्रेंच साम्राज्यवाद के विरुद्ध चल रहा युद्ध दोनों पक्षों में संघर्ष का कारण बना। सं० रा० अमेरिका ने कम्यूनिज्म को रोकने के लिए सैनिक समझौतों और संधियों की नीति अपनाई, नाटो, बगदाद पैक्ट तथा सीटो बनाये (देखिये पिछला अध्याय), रूस ने इसकी तीव्र भर्त्सना की। इसके अतिरिक्त दोनों में जापान के पुनः शस्त्रीकरण, जर्मनी के एकीकरण और निःशस्त्रीकरण पर प्रबल मतभेद थे। रूस ने फ्रांस और ब्रिटेन के उपनिवेशवाद का उग्र विरोध किया है, वीतनाम, मलाया, ट्यूनिसिया, अल्जीरिया आदि पराधीन देशों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। मध्यपूर्व के तेल और सामरिक महत्त्व के कारण इस प्रदेश में प्रभुता पाने के लिए दोनों पक्षों में उग्र संघर्ष हुआ है, इसके कुछ उदाहरण एंग्लो-ईरानियन तेल विवाद (१९५४), मिस्र से ब्रिटिश फौजों का हटना, स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण का विवाद (जुलाई १९५६, देखिये अध्याय ७) लेबानन में अमेरिकी फौजों का उतारा जाना (जुलाई १९५८), और इराक की क्रान्ति (जुलाई १९५८) हैं। इस क्षेत्र के लिए "आइजनहावर सिद्धान्त" की घोषणा के बाद मध्यपूर्व में दोनों पक्षों का संघर्ष बहुत उग्र हो गया है, आगे इसका विस्तार से वर्णन होगा। हंगरी के विद्रोह (१९५६) ने भी दोनों पक्षों में बड़ी कटुता उत्पन्न की है। ११ मई से २० जून, १९५९ तक की जेनीवा की

विदेश-मन्त्री परिषद् में दोनों पक्ष जर्मनी और बर्लिन के एकीकरण और निःशस्त्रीकरण की समस्याओं का समाधान नहीं कर सके, इनके मतभेद यथापूर्व विद्यमान हैं, निकट भविष्य में इनके समाधान की आशा कम है। सितम्बर १९५९ में ख्रुश्चेव की सं० रा० अमेरिका की यात्रा से यह आशा होने लगी थी कि शीतयुद्ध में नर्मी आ जायगी। इसके परिणामस्वरूप मई १९६० में शिखर सम्मेलन बुलाया। किन्तु इसके कुछ समय बाद यू-२ विमान की जासूसी उड़ान (देखिये अध्याय ७) ने इसमें पुनः तेजी ला दी और शिखर सम्मेलन विफल हो गया। दोनों देशों के प्रमुख मतभेदों का स्पष्टीकरण अमेरिका और रूस की विदेशनीतियों के निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जायगा।

अमेरिका की विदेशनीति

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर अमेरिका की विदेशनीति में एक बड़ी क्रान्ति हुई। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उसने योरोपियन विवादों से अलग रहने की पार्थक्यवादी (Isolationist) नीति स्वीकार की थी (देखिये पृ० १९५)। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की नवीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में यह सम्भव ही न था। इस समय कम्यूनिज्म को रोकने के लिए सं० रा० अमेरिका सब देशों से सैनिक समझौते करने और उन्हें सब प्रकार की सैनिक और आर्थिक सहायता देने को तैयार हो गया। १९४५ से अमेरिका की इस विदेश-नीति का क्रमिक विकास श्लीचर के मतानुसार निम्न अवस्थाओं में से होकर गुजरा है[७]—(१) सहयोग और आनुकूल्य की नीति (१९४५–अगस्त १९४६) (२) कठोरता और धैर्य की नीति (अगस्त १९४६–मार्च १९४७) (३) आर्थिक सहायता द्वारा कम्यूनिज्म को सीमित करने (Containment) की नीति (मार्च १९४७–अप्रैल १९४९) (४) सैनिक शक्ति तथा समझौते पर बल देने वाली नीति अप्रैल १९४९ से।

(१) सहयोग और आनुकूल्य (Co-operation & Accommodation) **की नीति (अगस्त १९४५–अगस्त १९४६)**—द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने पर अमेरिका को यह आशा थी कि मित्रराष्ट्रों का युद्धकालीन सहयोग शान्ति काल में भी चलता रहेगा। अतः इस समय उसने अन्य शक्तियों के साथ मिलकर सं० रा० संघ की स्थापना की। युद्ध से विध्वस्त देशों के पुनर्वास और पुनर्निर्माण का कार्य किया, अणुशक्ति के नियन्त्रण की योजनायें बनाईं, योरोप से सेनाओं को हटाया, चीन में कम्यूनिस्टों और राष्ट्रवादियों का समझौता कराने का यत्न किया, जर्मनी तथा उसके साथी राष्ट्रों के साथ शीघ्र ही संधि करने पर बल दिया, एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन बनाने के प्रस्ताव रखे। इस समय वाशिंगटन वैदेशिक सम्बन्धों में सैनिक शक्ति का प्रयोग न केवल अनावश्यक समझता था, किन्तु इसे भय, आशंका और संदेह का वातावरण उत्पन्न करने के कारण घातक मानता था। २८ अक्टूबर, १९४५ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिका की विदेशनीति के सम्बन्ध में द्वादशसूत्री (Twelve point) उद्देश्यों की

७. श्लीचर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३२७

घोषणा की थी। ये उद्देश्य संक्षेप में इस प्रकार थे—(१) अमेरिका प्रादेशिक विस्तार, या स्वार्थपूर्ण लाभ नहीं चाहता, वह किसी छोटे या बड़े देश पर आक्रमण नहीं करेगा। (२) उसका विश्वास है कि जिन देशों से सर्वोच्च प्रभुसत्ता के अधिकार बलपूर्वक छीने गये थे, वे उन्हें वापिस किये जाने चाहिएं। (३) वह किसी मित्रदेश में स्वतन्त्रता-पूर्वक व्यक्त की गई जनता की सहमति के बिना किये गये किसी प्रादेशिक परिवर्तन को स्वीकार नहीं करेगा। (४) उसका यह विश्वास है कि स्वशासन के लिए समर्थ और उद्यत देशों को विदेशी हस्तक्षेप के बिना अपने शासन का स्वरूप चुनने में स्वाधीनता होनी चाहिये। यह सिद्धान्त योरोप, एशिया, अफ्रीका और पश्चिमी गोलार्द्ध में समान रूप से लागू होता है। (५) वह अपने साथियों के साथ सहयोग करते हुए पराजित देशों में शांतिपूर्ण लोकतन्त्रीय शासन स्थापित करेगा। (६) वह विदेशी शक्ति द्वारा किसी देश में बलपूर्वक थोपी गई सरकार को मान्यता नहीं प्रदान करेगा। (७) अनेक देशों में से होकर गुजरने वाली नदियों में तथा समुद्रों में आवागमन की निर्बाध स्वतन्त्रता सब देशों को होनी चाहिये। (८) विश्व के कच्चे माल की प्राप्ति में तथा व्यापार में सब देशों को स्वतन्त्रता होनी चाहिए। (९) उसका विश्वास है कि पश्चिमी गोलार्द्ध के राज्यों को इस गोलार्द्ध के बाहर से किसी शक्ति के हस्तक्षेप के बिना, उत्तम पड़ोसियों की भांति अपनी सामान्य समस्याओं का समाधान करना चाहिए। (१०) उसका विश्वास है कि समूचे विश्व में दरिद्रता के अभाव को दूर करने तथा जीवन के स्तर को ऊँचा करने के लिए सब देशों में पूर्ण आर्थिक सहयोग होना चाहिए। (११) वह विश्व में अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतन्त्रता को बढ़ाने के लिए प्रयत्न करेगा। (१२) उसका यह दृढ़ विश्वास है कि राष्ट्रों में शान्ति बनाये रखने के लिए ऐसे सं० रा० संघ की आवश्यकता है, जिसके सदस्य शान्ति-प्रेमी हों तथा शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यवाही करने के लिए भी तैयार हों।

(२) दृढ़ता और धैर्य की नीति (अगस्त १९४६–मार्च १९४७)—किन्तु शीघ्र ही सोवियत यूनियन के साथ सन्धि-चर्चा में अनेक प्रश्नों पर उग्र मतभेद उत्पन्न होने से अमेरिका को सहयोग की नीति का परित्याग करना पड़ा। इस समय सं० रा० अमेरिका पूर्वी योरोप में रूस की प्रभाववृद्धि से चिन्तित हो गया। वह इसे याल्ता-सम्मेलन में स्तालिन द्वारा पूर्वी देशों में स्वतन्त्र सरकारों की स्थापना के लिए दिए गए वचनों के विरुद्ध समझता था। १९४६–४७ में दोनों देशों में जर्मनी के अधिकार कोरिया के एकीकरण, यूनान के गृहयुद्ध, टर्की के सम्मुख रखी गई रूसी माँगों के सम्बन्ध में प्रबल मतभेद उत्पन्न हुए। अणुशक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की सन्धिवार्त्ता में गतिरोध उत्पन्न हो गया।

इस अवस्था में राष्ट्रपति रूजवैल्ट तथा ट्रूमैन के प्रधान परामर्शदाता एवरिल हैरीमैन ने तथा विदेश विभाग के रूसी विशेषज्ञ जार्ज केनन (Kennan) ने क्रेमलिन के साथ सहयोग की नीति में सन्देह प्रकट किया। उनका कहना था कि मास्को समझौते की बात को दुर्बलता का चिह्न समझता है, वह केवल शक्ति की परवाह करता है, उसके साथ दृढ़ता की नीति बरती जानी चाहिए। दिसम्बर १९४६ में ये मास्को के विदेशमन्त्री-

सम्मेलन से निराश लौटे। अमेरिकी विदेश-मन्त्री बर्न्ज को यह विश्वास हो गया कि रूस के साथ सहयोग की नीति सफल होने की कोई सम्भावना नहीं है, अगले वर्ष उसके उत्तराधिकारी मार्शल को मास्को के विदेशमन्त्री-सम्मेलन में यही अनुभव हुआ और अमेरिका की विदेशनीति में परिवर्तन आ गया।

(३) आर्थिक सहायता द्वारा कम्यूनिज्म सीमित करने (Containment) की नीति (मार्च १९४७–अप्रैल १९४९)—इस समय यूनान, टर्की और ईरान की घटनाओं ने सं० रा० अमेरिका को पहले दोनों देशों को बहुत बड़े परिमाण में आर्थिक सहायता देकर कम्यूनिज्म का प्रसार रोकने की नीति का अवलम्बन करने को बाधित किया।

(क) यूनान की समस्या—द्वितीय विश्वयुद्ध में यूनान पर इटली और जर्मनी का आक्रमण होने पर दो यूनानी संगठनों ने इसका विरोध किया था। एक संगठन E. A. M. कम्यूनिस्टों का था और दूसरा E. D. E. S. राजा के समर्थकों का था। १९४४ में जर्मन लोगों के यहां से हटने पर ब्रिटिश फौजों ने यहां प्रवेश किया। इसी वर्ष के अक्टूबर के समझौते के अनुसार रूस ने यूनान को ब्रिटेन का प्रभावक्षेत्र स्वीकार किया। ब्रिटेन इस प्रदेश पर प्रभुत्व द्वारा अपने साम्राज्य के पूर्वी हिस्से को जाने वाले मार्ग को सुरक्षित बनाना चाहता था। यदि यहां कम्यूनिस्टों का नियन्त्रण होता तो रूस यूनान से इटली और टर्की में आगे बढ़कर ब्रिटिश हितों को बड़ी हानि पहुँचा सकता था। अतः ब्रिटेन ने यूनान में कम्यूनिस्ट दल का विरोध और राजपक्षपाती दल का समर्थन किया। ब्रिटिश दमन से बचने के लिए कम्यूनिस्ट समीपवर्ती कम्यूनिस्ट देशों में और उत्तरी पहाड़ों में भाग गए। मार्च १९४५ के चुनावों में राजपक्षपातियों को पूर्ण बहुमत मिला। सितम्बर में यहां राजतन्त्र की स्थापना हो गई।

इसी बीच उत्तरी पहाड़ों में भागे हुए कम्यूनिस्टों ने यूनानी सरकार के विरुद्ध गुरिल्ला या छापामार युद्ध छेड़ दिया। दिसम्बर १९४६ में सुरक्षा परिषद् में यूनान ने "विद्रोही दलों को विदेशों से सहायता दिए जाने की" शिकायत पेश की। १९४७ में इस विषय की जांच के लिए भेजे गए विशेष आयोग ने यह रिपोर्ट दी कि "विद्रोहियों को हथियारों की, सैनिक प्रशिक्षण तथा यातायात की सहायता यूगोस्लाविया से तथा कुछ कम मात्रा में अल्बानिया और बल्गारिया से मिल रही है।" रूस इस मामले में गहरी दिलचस्पी ले रहा था। इस समय ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वह यूनान में कम्यूनिस्ट विद्रोहियों के दमन के लिए वहां अपनी सेना बढ़ा सके। २४ फरवरी को वाशिंगटन के ब्रिटिश दूत ने अमेरिकी विदेश-मन्त्री को यह सूचित किया कि "ब्रिटिश सरकार आर्थिक कारणों से विवश होकर वर्तमान वित्तीय वर्ष की समाप्ति तक पाँच सप्ताह के भीतर अपनी सेनाएं यूनान से हटा लेगी।" ट्रूमैन ने इस विषय में जब अपने सहायकों से परामर्श किया तो अकेसन तथा मार्शल ने कहा—"यदि यूनान हाथ से निकल गया तो कम्यूनिज्म के समुद्र में टर्की के टापू की रक्षा असम्भव हो जायगी" (२६ फरवरी, १९४७)। अतः ट्रूमैन ने यह निश्चय किया कि अमेरिका को इन स्वतन्त्र देशों की सहायता अवश्य करनी चाहिए। इसी आवश्यकता तथा टर्की और

ईरान की स्थिति ने ट्रूमैन सिद्धान्त को जन्म दिया।

(ख) **टर्की की समस्या**—मध्ययुग से भूमध्यसागर और कृष्णसागर को जोड़ने वाले वास्फोरस तथा दर्रे दानियाल जलडमरूमध्यों को प्राप्त करना रूस की विदेशनीति का प्रधान लक्ष्य रहा है, क्योंकि इन पर अधिकार से उसके लिए भूमध्य-सागर में जाने का मार्ग खुल जाता है। इस पर स्वामित्व रखने वाली शक्ति कृष्ण-सागर तीरवर्ती सब देशों का व्यापार बन्द कर सकती है, और कृष्ण एवं भूमध्य सागरों में नौसैनिक आक्रमण कर सकती है। किन्तु इस समय इस पर टर्की का अधिकार था। जून १९३६ में हुए **मांत्र समझौते** (Montreaux Convention) के अनुसार उपर्युक्त जलडमरूमध्यों में शान्ति एवं युद्धकाल में व्यापारिक और रणपोतों के स्वतन्त्रता-पूर्वक गुजरने और इनके दोनों पार्श्व किलेबन्दी रहित करने की व्यवस्था की गई थी, इस किलेबन्दी रहित प्रदेश की सुरक्षा की और इनमें जहाजों के गुजरने की स्वतन्त्रता की गारण्टी ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने दी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति से पूर्व ही रूस ने इस महत्त्वपूर्ण सामरिक केन्द्र पर अधिकार करने की चिरवांछित अभिलाषा की पूर्ति के लिए टर्की के साथ १९२५ में किया अनाक्रमण समझौता भंग करने की घोषणा की (२० मार्च, १९४५)। उसने इसका यह कारण बताया कि १९२५ से परिस्थितियां बहुत बदल चुकी हैं। सोवियत पत्रों ने १९२१ में टर्की को दिये गए कार्स तथा आर्दा-हान प्रदेश वापिस लौटाने तथा जलडमरूमध्यों के बारे में नई सन्धि करने पर बल दिया। पोटसडाम सम्मेलन में रूस ने **मांत्र समझौते** के संशोधन पर बल दिया, किन्तु एटली और ट्रूमैन ने इसका कड़ा विरोध किया।

७ अगस्त, १९४६ को मास्को ने एक पत्र में टर्की के सम्मुख जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में निम्न प्रस्ताव रखे—(१) ये युद्ध एवं शान्तिकाल में सब देशों के व्यापारिक जहाजों के लिए खुले रहें। (२) कृष्णसागर की शक्तियों के युद्धपोतों के लिए ये सदा खुले रहें। (३) विशेष अवस्थाओं को छोड़कर कृष्णसागर से भिन्न शक्तियों के युद्ध-पोतों का इनमें से गुजरना निषिद्ध होना चाहिए। (४) जलडमरूमध्यों का शासन-प्रबंध टर्की तथा कृष्णसागर की शक्तियों के हाथ में हो। (५) जलडमरूमध्यों की रक्षा टर्की तथा सोवियत यूनियन के 'सामान्य साधनों' से हो। इसके साथ ही टर्की पर द्वितीय विश्वयुद्ध में धुरी राष्ट्रों के अनेक रणपोत इसमें से गुजरने देने के आरोप थे। टर्की ने इन आरोपों का खण्डन करते हुए पहले तीन प्रस्ताव तो मान लिए किन्तु चौथा, पाँचवां प्रस्ताव रद्द किया, क्योंकि इनसे जलडमरूमध्यों पर रूस की सत्ता स्थापित हो जाती, टर्की की सर्वोच्च सत्ता का हनन होता तथा कृष्णसागरतीरवर्ती शक्तियों से विभिन्न देशों के अधिकारों का उल्लंघन होता। इसके प्रत्युत्तर में २४ सितम्बर को मास्को ने इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने से पहले दोनों देशों में वार्तालाप का सुझाव दिया। किन्तु इस समय टर्की पर सोवियत आक्रमण की आशंका बढ़ रही थी। अंकारा ने वाशिंगटन से मास्को के प्रस्तावों के बारे में सलाह माँगी और इसके अनुसार उसने मास्को के प्रस्ताव अस्वीकार कर दिए। वाशिंगटन ने भी क्रेमलिन को चेतावनी दी कि यदि उसने टर्की पर हमला किया तो यह विषय सुरक्षा परिषद् में पेश किया जायगा।

मास्को में अमेरिकी राजदूत ने ६ जनवरी, १९४७ को वाशिंगटन को सूचित किया कि अब रूसी आक्रमण न होने की बहुत कम आशा है। टर्की द्वारा मास्को के प्रस्ताव रद्द कर देने के बाद उसने सोवियत आक्रमण से बचने के लिए रक्षात्मक तैयारियां आरम्भ कर दीं। १९४६ में उसका आधा बजट प्रतिरक्षा और सैनिक कार्यों के लिए था। किन्तु इतना भारी व्यय इसकी अर्थव्यवस्था को विच्छिन्न करने वाला था और रूस जैसी महाशक्ति के प्रतिरोध के लिए अपनी सेना के आधुनिकीकरण के लिए अपर्याप्त था। उसने इस विषय में अमेरिका से सहायता माँगी और ट्रूमैन ने ईरान की घटनाओं से प्रभावित होकर टर्की को सहायता देने का निश्चय कर लिया।

(ग) **ईरान की समस्या**—द्वितीय विश्वयुद्ध में ईरान का सामरिक महत्त्व दो कारणों से बढ़ गया। पहला कारण तो इसका तेल था, और दूसरा कारण इस देश के मार्गों द्वारा सोवियत रूस को मित्रराष्ट्रों द्वारा सब प्रकार की सहायता पहुँचाना था। अगस्त १९४१ में तेल की पूर्ति तथा मार्गों को सुरक्षित रखने के लिए सोवियत सेनाओं ने उत्तरी ईरान के आजरबाइजान आदि प्रान्तों तथा ब्रिटिश सेनाओं ने दक्षिण के तेल-प्रदेश पर अधिकार कर लिया। १९४२ में ईरान के साथ ब्रिटेन और रूस की एक संधि में उत्तर और दक्षिण में सोवियत तथा ब्रिटिश सेनाओं के अधिकार को स्वीकार करते हुए यह व्यवस्था की गई कि युद्ध समाप्ति के बाद छ: महीने के भीतर विदेशी सेनाएं ईरान खाली कर देंगी।

युद्ध की समाप्ति निकट आने पर रूस ने ईरान में मौलिक सुधार चाहने वाली कम्यूनिस्ट तूदेह पार्टी का समर्थन किया, यह उत्तरी ईरान के आजरबाइजान प्रान्त में स्वतन्त्रता के आन्दोलन को प्रोत्साहित किया। इसके नेता ईरानी आजरबाइजान को तेहरान से स्वतन्त्र करके सोवियत यूनियन के आजरबाइजान गणराज्य में मिलाना चाहते थे। रूस इस समय इस प्रदेश में तेल के लिए सुविधाएं चाहता था। यहां मास्को की नीति के दो बड़े लक्ष्य थे—उत्तरी ईरान में मास्को के प्रति अनुकूल मित्रतापूर्ण शासन स्थापित करना। (२) उत्तरी ईरान में ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका को तेल सम्बन्धी रियायतें न पाने देना।

मई १९४५ में जर्मनी के परास्त होने पर तेहरान ने विदेशी सेनाओं के ईरान से हटाए जाने की माँग की। सितम्बर १९४५ की लन्दन की विदेशमन्त्री परिषद् में यह निश्चय हुआ कि २ मार्च, १९४६ तक सब सेनाएं ईरान से हटा ली जाएं। नवम्बर १९४५ में आजरबाइजान की तूदेह पार्टी ने तेहरान के विरुद्ध विद्रोह करते हुए अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। जब तेहरान ने इस विद्रोह को दबाने के लिए अपनी सेनाएं वहां भेजनी चाहीं तो रूस ने इन्हें वहां प्रवेश की आज्ञा नहीं दी। इस समस्या के हल के लिए रूस पर बल डालने के लिए अमेरिका ने यह कहा कि यदि सब विदेशी सेनाएं ईरान से हटें तो वह १ जनवरी, १९४६ तक अपनी सेनाएं वहां से हटा लेगा। ३ दिसम्बर को रूसियों ने यह प्रस्ताव रद्द कर दिया। इस पर १९ जनवरी, १९४६ को ईरान ने यह प्रश्न सुरक्षा परिषद् में उठाया (देखिए अध्याय ७)। रूस ने इसका विरोध करते हुए यह कहा कि यह विषय सं० रा० संघ के अधिकारक्षेत्र में नहीं आता।

परिषद् ने दोनों देशों को सीधी वार्त्ता द्वारा यह प्रश्न निपटाने को कहा। फौजें हटाने की लन्दन परिषद् द्वारा निर्धारित २ मार्च, १९४६ की तिथि बीत जाने पर भी जब रूस ने फौजें नहीं हटायीं तो अमेरिका ने ४ मार्च को लन्दन परिषद के निर्णय को रूस द्वारा भंग करने का तीव्र प्रतिवाद किया। रूस पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। उसने इस प्रतिवाद का कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी सेनाएं ईरान में डटी रहीं। अप्रैल में उसने तेहरान के साथ इस विषय में एक समझौता किया। इसमें १ मई तक रूसी सेनाओं द्वारा ईरान खाली करने की तथा ५१% रूसी हिस्सों वाली एक संयुक्त सोवियत-ईरानी तेल कम्पनी स्थापित करने का निश्चय किया गया था। मई में लाल सेनाएं ईरान से हट गईं, जून में आजरबाइजान तेहरान के अधिकार में आ गया। इसके बाद ईरान की मजलिस (पार्लियामेण्ट) ने तेल कम्पनी स्थापित करने वाला समझौता मानने से इन्कार कर दिया।

ईरान, टर्की तथा यूनान की उपर्युक्त घटनाओं से ट्रूमैन को तथा अमेरिकी विदेश विभाग को सोवियत यूनियन की मध्यपूर्व में प्रभुता बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षाओं के बारे में कोई सन्देह नहीं रहा। उसने इन्हें रोकने के लिए इन देशों को सहायता देने की नीति अपनाई। यही तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति के नाम से ट्रूमैन सिद्धान्त (Truman Doctrine) कहलाती है।

ट्रूमैन सिद्धान्त—७ मार्च, १९४७ को ट्रूमैन ने अपने मंत्रिमण्डल की बैठक में कहा कि उसने कांग्रेस से यह सिफारिश की है कि यूनान को २५ करोड़ डालर की तथा टर्की को १५ करोड़ डालर की सहायता दी जाय। १२ मार्च, १९४७ को १ बजे कांग्रेस के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में ट्रूमैन ने अपने ऐतिहासिक भाषण में कम्यूनिज्म का प्रसार रोकने के लिए यूनान और टर्की को आर्थिक सहायता देने के लिए कहा और यह घोषणा की कि स्वतन्त्र देशों की बाह्य प्रभाव से रक्षा करना सं० रा० की नीति होनी चाहिए। "आज यूनानी राज्य की सत्ता संकट में है। इसका कारण कम्यूनिस्टों के सरकार को चुनौती देने वाले, कई हजार सशस्त्र व्यक्तियों के आतंकवादी कार्य हैं।...... यूनानी सरकार इस स्थिति का सामना करने में असमर्थ है। उसे सहायता की आवश्यकता है। सं० रा० अमेरिका को उसे सहायता देनी चाहिए।......टर्की की भी यही स्थिति है। अभी हाल में दुनिया के कई देशों में सर्वाधिकारवादी शासन (Totalitarian regimes) वहां की जनता की इच्छा के विरुद्ध स्थापित हो गये हैं। सं० रा० अमेरिका ने याल्ता समझौते का भंग करते हुए पोलैण्ड, रूमानिया, बल्गारिया में धमकी और दबाव से स्थापित शासनों के विरुद्ध प्रतिवाद किया है। मेरा विश्वास है कि सं० रा० अमेरिका की यह नीति होनी चाहिए कि वह बाह्य दबाव से या सशस्त्र अल्पसंख्या द्वारा स्थापित किये जाने वाले शासनों का प्रतिरोध करने वाली स्वतन्त्र जनताओं का समर्थन करे।......यदि यूनान सशस्त्र अल्पसंख्या के हाथ में आ जाता है तो इसका तात्कालिक और भीषण प्रभाव इसके पड़ोसी पर पड़ेगा। समूचे मध्यपूर्व में गड़बड़ और अव्यवस्था फैल जायगी।......इसका प्रभाव योरोप में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाली जनता पर पड़ेगा। स्वतन्त्र संस्थाओं का विध्वंस और स्वाधीनता का अपहरण न केवल उनके

लिए अपितु समूचे विश्व के लिए घातक होगा।······सर्वाधिकारवादी शासनों के बीज दुख और दरिद्रता में पनपते हैं। उनका विकास और वृद्धि निर्धनता तथा संघर्ष में होता है; जब जनता में उत्कृष्ट जीवन के लिए आशा नष्ट हो जाती है तो इनका पूर्ण विकास होता है, हमें यह आशा नष्ट नहीं होने देनी चाहिए। जगत् की स्वतन्त्र जनताएं अपनी स्वाधीनता बनाये रखने के लिए हमारी ओर निहार रही हैं। यदि हमने नेतृत्व में चूक की तो सारे विश्व की शान्ति संकट में पड़ जायेगी। हम अपने राष्ट्र के कल्याण को संकटपूर्ण बना देंगे।"

कांग्रेस ने मई में राष्ट्रपति का यूनान और टर्की को ४० करोड़ डालर की सहायता देने का बिल स्वीकार कर लिया। इस पर २२ मई, १९४८ को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो गये।

ट्रूमैन सिद्धान्त कई दृष्टियों से असाधारण महत्त्व रखता है। (१) यह अमेरिकी विदेशनीति की परम्पराओं में मौलिक क्रान्ति लाने वाला है। ट्रूमैन के शब्दों में "यह अमेरिका की विदेशनीति में नया मोड़ था। इसने यह घोषणा की कि जहां कहीं शान्ति-भंग करने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमणात्मक कार्य होगा, वहा सं० रा० अमेरिका की सुरक्षा संकट में होगी" और वह इसे रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा। अमेरिका की पुरानी नीति योरोप के झगड़ों से पृथक् रहने की थी, वह अपना कार्यक्षेत्र अमेरिकी गोलार्द्ध ही समझता था। किन्तु अब यह विश्वव्यापी हो गयी। (२) यह रूस को स्पष्ट चेतावनी थी, उसके साथ शीतयुद्ध की घोषणा थी, रूज़वैल्ट की मास्को के साथ सहयोग करने वाली नीति का परित्याग थी। यद्यपि ट्रूमैन की सारी वक्तृता में नाम से रूस का उल्लेख कहीं नहीं किया गया था, किन्तु किसी समझदार व्यक्ति को तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता था कि इसमें 'सर्वाधिकारवादी' और 'स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले राज्य' से किस देश का अभिप्राय है। (३) इस घोषणा ने विश्व को विचारधारा की दृष्टि से दो विरोधी दलों में विभक्त कर दिया। एक वर्ग ट्रूमैन के शब्दों में 'स्वतन्त्रता की आकांक्षा करने वाला और उसकी रक्षा करने वाला' और दूसरा उसे कुचलने वाला सर्वाधिकारवादी शासन। (४) यह मनरो सिद्धान्त का बृहत् और विश्वव्यापी रूप था। मनरो सिद्धान्त में वाशिंगटन ने यह घोषणा की थी कि पश्चिमी गोलार्द्ध के किसी राज्य में अमेरिका से बाहर की कोई शक्ति हस्तक्षेप न करे। इस नये सिद्धान्त में इसका क्षेत्र विशाल करते हुए पूर्वी और पश्चिमी दोनों गोलार्द्धों में कहीं भी, किसी भी स्वतन्त्रता-प्रेमी जनता को उसके स्वाधीनता संघर्ष में सहायता देने का निश्चय प्रकट किया गया। (५) इससे यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ब्रिटिश साम्राज्यवाद के क्षीण होने पर उसका स्थान ग्रहण करना चाहता है। ट्रूमैन के भाषण में इस बात का स्पष्ट संकेत था कि मध्यपूर्व में ब्रिटिश प्रभाव को द्वितीय विश्वयुद्ध ने समाप्त कर दिया है। उसकी जगह साम्यवाद के लेने से पहले ही वह इस क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लेना चाहता था। इस दृष्टि से यह जनवरी १९५७ में प्रतिपादित आइजनहावर सिद्धान्त का पूर्व रूप था। रूसी अमेरिका की दूसरे देशों को आर्थिक सहायता देने की नीति को साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का नया रूप कहते हैं। उनके मतानुसार वह मध्यपूर्व के अल्पविक-

सित देशों की आर्थिक कठिनाइयों का अपने स्वार्थ के लिए लाभ उठाता है, 'सहायता के नाम पर इन देशों के साथ ऐसे समझौते होते हैं, जिनसे अमेरिकन अर्थव्यवस्था इन पर हावी हो जाती है, वह इन देशों के कच्चे माल पर अधिकार कर लेता है, सैनिक अड्डों और सामरिक महत्त्व के मार्गों को अपने काबू में कर लेता है।' (६) सं० रा० अमेरिका द्वारा यह महत्त्वपूर्ण सहायता टर्की और ग्रीस को सं० रा० संघ के माध्यम से न देकर, सीधा देना संघ को निर्बल बनाना था। (७) टर्की और यूनान को 'स्वतन्त्रता की रक्षा' के नाम पर सहायता देना कोरा ढोंग तथा अपने वास्तविक उद्देश्यों को मनमोहक शब्दाडम्बर के जाल में छिपाना था। उस समय न तो यूनान में और न टर्की में सच्चा लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता थी, जिसकी रक्षा के लिए ट्रूमैन ने उसे सहायता दी। उसका वास्तविक उद्देश्य तो यूनान और टर्की को बाल्कान प्रायद्वीप में रूस के अधिकार को रोकने के लिए और उसे घेरने के लिए महत्त्वपूर्ण सैनिक अड्डे के रूप में सुरक्षित रखना तथा मध्यपूर्व के विशाल तेल भण्डार को अपने अधिकार में बनाये रखना था। ट्रूमैन स्वतन्त्रता या लोकतन्त्र की रक्षा नहीं, किन्तु इनके नाम पर तेल की रक्षा करना चाहता था। उसने स्वयं लिखा है—"यदि रूसियों का ईरान के तेल पर अधिकार हो गया तो विश्व में इसका सन्तुलन बहुत बिगड़ जायगा और पश्चिमी जगत् की अर्थ-व्यवस्था को इससे भारी क्षति पहुँचेगी।" (८) ट्रूमैन सिद्धान्त वस्तुतः अमेरिका में अनेक कारणों से उत्पन्न रूस के प्रति घृणा, विद्वेष और वैमनस्य का मूर्त्त रूप था। इन कारणों में मुख्य रूप से निम्न उल्लेखनीय हैं—पूंजीवाद के समूलोन्मूलन का रूसी सकल्प, रूस की तानाशाही व्यवस्था, राजनीतिक आतंक, वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं का अपहरण, सोवियत रूस द्वारा अमेरिकी ऋणों की अदायगी से इन्कार, कोमिण्टर्न की गतिविधियां और कार्य, युद्ध के समय रूस का जापान के साथ युद्ध छेड़ने में विलम्ब, उसका साइबेरिया के अड्डों को जापान पर हमले के लिए अमेरिका को न देना, रूसी सरकार का रूसी जनता से अमेरिकी उधारपट्टे की सहायता का विवरण जान-बूझकर छिपा कर रखना, पोलैण्ड के प्रति रूस का व्यवहार। इन सब कारणों से अमेरिका में कम्यूनिज्म के प्रति उग्र विरोध पहले से ही विद्यमान था, ट्रूमैन सिद्धान्त उसकी स्थूल अभिव्यक्ति थी।

मार्शल योजना—यह युद्ध-विध्वस्त योरोप का पुनरुद्धार करके उसे कम्यूनिज्म से बचाने की थी। युद्धकालीन विध्वंस और विनाश से योरोप के सब देशों की अर्थ-व्यवस्था सर्वथा विच्छिन्न हो गयी थी, सर्वत्र तीव्र असन्तोष, घोर दरिद्रता, दैन्य और आर्थिक कष्ट का साम्राज्य था। कम्यूनिज्म ऐसी अवस्थाओं में खूब पनपता है। अमेरिकी विदेशमन्त्री मार्शल ने मास्को की विदेशमन्त्री-परिषद् में देखा था कि रूसी हर बात में अड़ंगेबाजी करके सन्धियां करने में विलम्ब कर रहे हैं, स्तालिन ने उसे कहा था, "समय हमारे पक्ष में है, वह समझौता करा देगा।" मार्शल को इसका अर्थ जल्दी ही समझ में आ गया, रूसियों के सन्धि-चर्चा में देर लगाने का कारण यह है कि योरोपीय देशों में क्रान्तियों द्वारा साम्यवाद की प्रतिष्ठा हो जाय, फिर समझौता करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। मार्शल ने २६ अप्रैल, १९४७ को वाशिंगटन लौटकर इस बात पर बल दिया कि यदि इस समय फौरन योरोप के आर्थिक पुनरुद्धार का यत्न न

किया गया तो वह कम्यूनिस्ट हो जायेगा। ट्रूमैन ने अपने सहकारियों के साथ परामर्श करके यह सहायता देने का निश्चय कर लिया।

मार्शल ने ५ जून, १९४७ को हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अपने सुप्रसिद्ध भाषण, में कहा—"हमारी नीति किसी देश या सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। यह भूख, दरिद्रता, निराशा और अव्यवस्था के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य विश्व में एक ऐसी अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान है, जिसमें स्वतन्त्र संस्थाओं को विकसित करने वाली राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियां उत्पन्न हो सकें। यह स्पष्ट है कि सं० रा० अमेरिका की सरकार द्वारा योरोप को सहायता दिये जाने से पहले यह आवश्यक है कि योरोपियन देशों में इस सहायता की आवश्यकताओं के विषय में परामर्श हो जाय। इस सरकार के लिए यह न तो अच्छा होगा और न प्रभावशाली होगा कि वह योरोप के अपने पैरों पर खड़ा करने वाले आर्थिक कार्यक्रम का निर्माण करे। यह योरोपियनों का कार्य है। इसकी पहल योरोप से होनी चाहिए। हमारा कार्य सहायता देना है।" मार्शल के इस भाषण के प्रत्युत्तर में जुलाई में पेरिस में हुए १६ योरोपियन देशों के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन ने योरोपियन पुनरुद्धार का सहयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किया। रूस और उसके साथियों ने इसमें कोई भाग नहीं लिया। इस कार्यक्रम के अनुसार अगले चार वर्षों में योरोप को १२ अरब डालर की सहायता देने के लिए १९४८ में आर्थिक सहयोग कानून (Economic Co-operation Act) बनाया गया। अमेरिका ने योरोपियन देशों को यह सहायता देते हुए यह शर्त लगाई कि वे अपनी सरकारों में कम्यूनिस्ट तत्वों का उन्मूलन करेंगे। १९४६-४७ तक फ्रेंच सरकार में कम्यूनिस्ट थे, पर १९४६ में जब व्लुम फ्रांस के लिए ऋण लेने वाशिंगटन गया तो उस पर यह दबाव डाला गया कि इसे पाने के लिए कम्यूनिस्टों का फ्रेंच सरकार से निस्सारण आवश्यक है और इसी प्रकार इटली में मार्शल सहायता पाने वाली सरकार को मन्त्रिमण्डल से कम्यूनिस्ट निकालने पड़े।

मार्शल योजना का पश्चिमी देशों ने तो स्वागत किया। किन्तु रूस ने इस पर प्रबल आक्षेप किये। विशिंस्की ने कहा कि १६ देश अमेरिकन साम्राज्यवाद के पिछलग्गू बन गये हैं (१८ सितम्बर, १९४७)। इससे रूस और पश्चिम का विरोध अधिक उग्र हुआ। पूर्वी योरोप में मास्को विरोधी कम्यूनिस्टों का तेजी से सफाया किया जाने लगा। २२-२३ सितम्बर को विलिजिया गोरा (साइलीशिया) में कम्यूनिस्ट देशों के सम्मेलन ने कोमिनफार्म (Communist Information Bureau) की स्थापना विभिन्न देशों की कम्यूनिस्ट पार्टियों में सामञ्जस्य स्थापित करने के उद्देश्य से की।

२० जनवरी, १९४९ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमेरिकी विदेशनीति के **चतुस्सूत्री कार्यक्रम** (The Four Point Programme) की घोषणा की, यह इस प्रकार था—(१) सं० रा० संघ का पूरा समर्थन (२) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के कार्यक्रमों को जारी रखना। (३) आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता-प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना। (४) अल्पविकसित देशों को प्राविधिक सहायता देना। चौथे सूत्र की पहले व्याख्या हो चुकी है। (दे० अध्याय ७)।

इस समय अमेरिकन लोगों को तीन घटनाओं ने विशेष रूप से रूस का विरोधी

बनाया। पहली घटना फरवरी १९४८ में चैकोस्लोवाकिया में कम्यूनिस्टों द्वारा बलपूर्वक सत्ता हस्तगत करना था। इससे पश्चिमी देशों में यह विश्वास दृढ़ हो गया कि रूस जहां तक सम्भव होगा लोकतन्त्रीय सरकारों को समाप्त कर देगा। दूसरी घटना बर्लिन के घेरे (Berlin Blockade) की थी। इससे यह प्रकट हुआ कि यह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शक्ति के प्रयोग का संकोच नहीं करता। तीसरी घटना चीन में कम्यूनिस्ट शासन की स्थापना थी। इससे सं० रा० अमेरिका की सुदूरपूर्व की नीति में मौलिक परिवर्तन आना स्वाभाविक था।

सैनिक सन्धियों की नीति (अप्रैल १९४९)—युद्धोत्तर अमेरिकी विदेशनीति के इस चौथे युग में वाशिंगटन ने दूसरे देशों की आर्थिक सहायता के अतिरिक्त उनके साथ सैनिक संधियां और समझौते करने आरम्भ किये। मई १९४८ में सीनेट ने ६४ के विरुद्ध ४ मतों से वैण्डेनवर्ग का प्रस्ताव स्वीकार किया। अमेरिकी विदेश विभाग के कथनानुसार "अमेरिकी विदेशनीति में यह सर्वथा नया परिवर्तन था," क्योंकि इसमें राष्ट्र के इतिहास में पहली बार सं०रा० अमेरिका द्वारा शान्ति काल में पश्चिमी गोलार्द्ध से बाहर की शक्तियों के साथ सामूहिक सुरक्षा सम्बन्धी समझौतों में सम्मिलित होने की व्यवस्था इस दृष्टि से की गई थी, कि अमेरिका में शान्ति बनी रहे तथा इसकी सुरक्षा सुदृढ़ हो। इसका पहला परिणाम नाटो की संधि था (दे० पिछला अध्याय)। इसके साथ ही नवम्बर १९४९ में योरोपियन देशों की सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए तथा उन्हें नवीनतम रणसामग्री से सुसज्जित करने के लिए 'पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता का कार्यक्रम' (Mutual Defence Assistance Programme, MDAP) पास किया गया।

इसी समय अमेरिका को तेजी से सैनिक संधियों के पथ पर अग्रसर करने के लिए एक बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना रूस द्वारा अणु बम के रहस्यों का खोज लेना था। इसी अध्याय में पहले यह बताया जा चुका है कि युद्ध के समय अमेरिका ने रूस का मित्र होते हुए भी उससे ये रहस्य गुप्त रखे थे। फिर भी यह आशा रखी जाती थी कि अन्ततोगत्वा रूस इनकी स्वयमेव खोज कर लेगा, किन्तु उसे इसमें काफी समय लगेगा। जून १९४५ में अमेरिकी विदेश-मंत्री बर्न्ज ने यह विश्वास प्रकट किया था कि इसमें उसे कम-से-कम सात से दस वर्ष लगेंगे। किन्तु २३ सितम्बर, १९४९ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह घोषणा की कि सोवियत यूनियन ने एक आणविक विस्फोट किया है।

अब तक अणु बमों पर अमेरिका का एकाधिकार था। इस कारण उसकी शक्ति सर्वोच्च थी। अब ऐसी स्थिति नहीं रही। इससे कम्यूनिज्म का आतंक अमेरिका के लिए पहले से भी अधिक बढ़ गया। जून १९५० में उसकी प्रेरणा से सं० रा० संघ ने कोरिया में पहली अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक कार्यवाही की (देखिये पृ० २८१)। अक्टूबर १९५१ में पारस्परिक सहायता सुरक्षा कानून (U. S. Mutual Security Appropriations Act) पास हुआ। इसके अनुसार सं० रा० अमेरिका से सैनिक संधि करने वाले देशों की सहायता के लिए ७ अरब ३३ करोड़ डालर की सहायता की व्यवस्था की गई। इसमें से ४ अरब ८१ करोड़ ९० लाख तो सैनिक सहायता के लिए थे और शेष आर्थिक सहायता के लिए।

इसके अनुसार सं० रा० अमेरिका ने दूसरे देशों के साथ सैनिक संधियां करके उन्हें सहायता देना शुरू किया। ८ सितम्बर, १९५१ को सं० रा० अमेरिका ने जापान के साथ अनिश्चित काल के लिए एक प्रतिरक्षा समझौता (U. S.–Japanese Defence Pact) किया। इससे जापान को बाह्य सशस्त्र आक्रमण होने की दशा में अथवा बाह्य शक्तियों के भड़काने से या हस्तक्षेप से तथा जापान में बड़े पैमाने पर उपद्रव होने की दशा में टोकियो को सैनिक सहायता देने की व्यवस्था है। इसके बदले में सं० रा० अमेरिका को जापान ने अपने देश में जल, स्थल तथा वायु सेनाएं रखने का अधिकार सुदूरपूर्व में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए दिया। जापान सं० रा० अमेरिका की स्वीकृति के बिना किसी तीसरी शक्ति को अपने देश में अड्डे बनाने, किलेबन्दी करने, सेना रखने या इसके गुजरने का मार्ग नहीं दे सकता। इस संधि से ७ दिन पूर्व १ सितम्बर, १९५१ को प्रशान्त महासागर में शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से उसने आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के साथ सुरक्षा संधि (Australia Newzealand United States of America Security Treaty-Anzus Pact) की। ३० अगस्त, १९५१ को सं० रा० ने फिलिप्पाइन्स के साथ भी पारस्परिक प्रतिरक्षा की संधि की।

१९५३ के चुनावों में अमेरिका में डेमोक्रेटिक पार्टी के स्थान पर रिपब्लिकन पार्टी को सफलता मिली। आइजनहावर राष्ट्रपति बने। मार्च १९५३ में स्तालिन की मृत्यु हुई। इन सब घटनाओं से शीतयुद्ध की गर्मी में कुछ समय के लिए कमी हुई, किन्तु अमेरिकी विदेशनीति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आया। इसकी निम्नलिखित मुख्य विशेषताएं पूर्ववत् बनी रहीं—(१) सोवियत विस्तार और आक्रमण के विरुद्ध मैत्रीपूर्ण सैनिक संधियों के जाल का विस्तार (२) अपने प्रमुख मित्रों को सैनिक सहायता देकर उनकी रणसामग्री और साज-सज्जा का आधुनिकीकरण (३) पश्चिमी योरोप, सोवियत रूस और चीन के समीपवर्ती देशों, तथा अन्य अल्पविकसित देशों को आर्थिक सहायता देते रहना (४) ४० अरब डालर के वार्षिक प्रतिरक्षा बजट द्वारा अमेरिकी सेना का आधुनिकीकरण (५) संयुक्त राष्ट्रसंघ का समर्थन।

पिछले छः वर्षों में उपर्युक्त कार्यक्रम के अनुसार सं० रा० अमेरिका ने केन्द्रीय संधि संगठन (बगदाद पैक्ट) और सीटो की जो सैनिक संधियां की हैं, इनका वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है। इस काल की महत्त्वपूर्ण घटना आइजनहावर सिद्धान्त है, पहले इसका वर्णन करके रूस और अमेरिका के अन्य मतभेदों की संक्षिप्त चर्चा की जायगी।

आइजनहावर सिद्धान्त (Eisenhower Doctrine)—यह ट्रूमैन सिद्धान्त का विकसित रूप है और मध्यपूर्व से सम्बन्ध रखता है। यह सिद्धान्त स्वेज नहर के संकट के बाद (पृ० २९३) इस प्रदेश में शान्ति बनाये रखने तथा कम्यूनिस्टों का प्रसार रोकने के लिए घोषित किया गया था। १९५६ में मध्यपूर्व में उत्पन्न होने वाले कुल तेल का ६० फी सदी भाग अमेरिकन कम्पनियों के हाथ में था। यहां इन कम्पनियों की पूंजी तथा तेल की प्राप्ति दोनों को सुरक्षित बनाये रखने की आवश्यकता थी। १९३९ में यहां के ८० प्रतिशत तेल पर ब्रिटेन का अधिकार था, स्वेज नहर के क्षेत्र में, फिलिस्तीन और इराक आदि देशों में ब्रिटेन की प्रभुता थी। किन्तु १९५६ के स्वेज नहर के संकट में उसे

'मध्यपूर्व के कूचे से बड़ा बेग्राबरू' होकर निकलना पड़ा। मिस्र के नासिर की सहानुभूति कम्यूनिस्टों के साथ थी। अन्य देशों में सोवियत प्रभाव बढ़ रहा था। यह संभावना थी कि इस प्रदेश में लन्दन द्वारा खाली किया स्थान मास्को न ले ले। इसे रोकने के लिए ५ जून, १९५७ को कांग्रेस को भेजे गये सन्देश में आइजनहावर ने मध्यपूर्व के सम्बन्ध में अमेरिकी नीति की घोषणा की। यही आइजनहावर सिद्धान्त कहलाता है। इस संदेश के अनुसार कांग्रेस के दोनों सदनों द्वारा संयुक्त रूप में पास किये गये कानून पर राष्ट्रपति ने ९ मार्च, १९५७ को हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार कांग्रेस ने राष्ट्रपति को मध्यपूर्व के किसी भी देश में अपनी विवेकबुद्धि के अनुसार कम्यूनिस्ट आक्रमण को रोकने के लिए फौजें भेजने तथा सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार दिया। इस कानून की मुख्य व्यवस्थाएं निम्नलिखित हैं :—

(क) इसके प्रथम भाग में मध्यपूर्व में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह "मध्यपूर्व के सामान्य क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वाधीनता बनाये रखने वाले" किसी भी देश को उसकी आर्थिक शक्ति के विकास के लिए सहायता दे सकता है। (ख) इस कानून के दूसरे भाग में राष्ट्रपति को यह महत्त्वपूर्ण अधिकार दिया गया है कि वह "मध्यपूर्व के राष्ट्रों की अखण्डता और स्वतन्त्रता तथा विश्वशान्ति की सुरक्षा के लिए" आवश्यकता समझने पर सैनिक सहायता भी दे सकता है। किन्तु यह उन्हीं देशों को दी जायगी, जो इसकी इच्छा रखेंगे और इसके लिए प्रार्थना करेंगे। "अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद द्वारा नियन्त्रित किसी देश से सशस्त्र आक्रमण होने की दशा में" राष्ट्रपति को शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सेना भी उस देश में भेजने का अधिकार दिया गया है। (ग) इसके तीसरे भाग में इस सहायता की विस्तृत व्यवस्था तथा पाँचवें भाग में इस विषय में राष्ट्रपति द्वारा किये जाने वाले कार्य की प्रतिवर्ष जनवरी और जुलाई में कांग्रेस को रिपोर्ट देने की व्यवस्था है। कांग्रस ने इन देशों की सैनिक सहायता के लिए २० करोड़ डालर व्यय स्वीकार किया।

इस सिद्धान्त और कानून का रूस ने तथा एशिया के कई देशों ने घोर विरोध किया। रूसी समाचार समिति तास ने १५ जनवरी को इसकी तीव्र निन्दा की। श्री नेहरू ने इसे उपनिवेशवाद की ओर प्रत्यावर्तन कहा। सीरिया तथा मिस्र ने इसे एंग्लो-फ्रेंच साम्राज्यवाद का जुआ उतार फेंकने वाली अरब राष्ट्रीयता को कुचलने तथा इज़राइल को अरब के विरुद्ध आक्रमण के लिए प्रोत्साहित करने वाला समझा।

आइजनहावर सिद्धान्त कुछ अंशों में ट्रूमैन सिद्धान्त से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। (क) ट्रूमैन सिद्धान्त में सहायता का क्षेत्र बिल्कुल सुनिश्चित—टर्की और यूनान था, इसमें यह मध्यपूर्व का सामान्य प्रदेश है, इसकी कोई निश्चित व्याख्या नहीं की गयी। इस सारे विशाल प्रदेश में राष्ट्रपति जहां चाहे, वहां आर्थिक और सैनिक सहायता भेज सकता है। (ख) इसने राष्ट्रपति को ट्रूमैन सिद्धान्त की अपेक्षा सेनाएं भेजने तथा लड़ाई छेड़ने के अधिक विस्तृत अधिकार प्रदान किये हैं। (ग) सेनाएं भेजने में यह शर्त लगाई गई है कि ये बाह्य कम्यूनिस्ट आक्रमण या उसकी आशंका पर, उन देशों की प्रार्थना और इच्छा पर ही भेजी जायेंगी। किन्तु वास्तविक परिस्थितियों को देखते हुए इस शर्त

का कोई महत्त्व नहीं है। क्योंकि इन प्रदेशों में डालरों के प्रभाव से वाशिंगटन के अनुकूल और वशवर्ती सरकारों को बनाये रखना बड़ा आसान था। ऐसी सरकार द्वारा अमेरिका की फौजों को बुलाने की स्वीकृति पाना कठिन न था। अगले विवरण से यह स्पष्ट हो जायेगा। (घ) ट्रूमैन के सिद्धांत की भांति यह सिद्धान्त भी अमेरिका के नवीन साम्राज्यवाद का सूचक था। इसका प्रधान उद्देश्य मध्यपूर्व के तेल पर तथा अन्य कच्चे माल पर अमेरिका का एकाधिकार स्थापित करना तथा इस प्रदेश में साम्राज्यवादी ब्रिटेन का स्थान ग्रहण करना था।

आइजनहावर सिद्धान्त का प्रयोग—वाशिंगटन ने उपर्युक्त सिद्धान्त की घोषणा होते ही मध्यपूर्व के राज्यों द्वारा इसकी पुष्टि, स्वीकृति और समर्थन कराना चाहा। बगदाद पैक्ट के चारों राज्यों—टर्की, ईरान, इराक और पाकिस्तान ने २१ जनवरी को इसका समर्थन किया। सं० रा० अमेरिका के एक विशेष राजदूत जेम्ज पी० रिचर्डस को इस सिद्धान्त की व्याख्या और प्रचार के लिए मध्यपूर्व के देशों का दौरा करने के लिए भेजा गया। इस समय इन देशों में दो बड़े वर्ग थे—पश्चिम के समर्थक और पश्चिम के विरोधी तथा सोवियत-पक्षपाती। पश्चिम के समर्थकों में बगदाद पैक्ट के उपर्युक्त चार देशों के अतिरिक्त लेबानन, लिबिया और इजराइल ने भी इस सिद्धान्त को मान लिया, किन्तु पश्चिम-विरोधी सीरिया और यमन ने इसे अस्वीकार कर दिया। सूडान ने गोलमाल जवाब दिया, मिस्र सरकार इस पर मौन रही। शीघ्र ही दो देशों में अमेरिका ने इसका प्रयोग किया—लेबानन में स्वयमेव तथा जोर्डन में ब्रिटेन की सहायता से, किन्तु इन देशों में वाशिंगटन को विशेष सफलता नहीं मिली।

लेबानन में अमेरिकी सेना का प्रवेश—भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर अवस्थित १२० मील लम्बा, ३०-३५ मील चौड़ा यह छोटा-सा राज्य प्रथम विश्वयुद्ध के बाद फ्रेंच मैण्डेट बना। द्वितीय विश्वयुद्ध में फ्रांस की पराजय के बाद इसने २६ नवम्बर, १९४१ को अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। इसमें ईसाई और मुसलमान रहते हैं। इसके ट्रिपोली बन्दरगाह में किरकूक (इराक) से तेल के पाइप की लाइन आती है, और साइड में सौदी अरब से आने वाली तेल पाइप की लाइन समाप्त होती है। ९ मई, १९५८ से यहां तत्कालीन सरकार के विरुद्ध उपद्रव शुरू हो गये। उस समय यहां राष्ट्रपति चामौं (Chamoun) का शासन था। प्रधानमन्त्री सामी सोलह था। ये दोनों पश्चिम-पक्षपाती थे, इन्होंने आइजनहावर का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। किन्तु अब्दुला याफ्फी तथा सएब सल्लम के नेतृत्व में यहां के मुसलमानों की सहानुभूति पश्चिम विरोधी मिस्र और सीरिया के साथ थी। ये पिछले चुनावों में हार चुके थे। तत्कालीन सरकार-विरोधी एक समाचार-पत्र के सम्पादक की हत्या (८ मई, १९५८) से यहां उपद्रव आरम्भ हुए। शीघ्र ही सब विरोधी दलों द्वारा व्यापक रूप में हड़तालें कराने के कारण ये शनैः शनैः विद्रोह के रूप में परिणत होने लगे। राजधानी बेरूत के तथा ट्रिपोली के सं० रा० अमेरिका के सूचना कार्यालय के पुस्तकालय जला दिये गये। इराक से ट्रिपोली आने वाली तेल की लाइन काट डाली गयी। उपद्रव अधिक बढ़ जाने पर लेबानीज विदेशमन्त्री डा० चार्ल्स मलिक ने १३ मई को अपने एक प्रेस वक्तव्य में मिस्र

और सीरिया के संयुक्त अरब गणराज्य को उन उपद्रवों के लिए उत्तरदायी ठहराया और २२ मई को लेबानीज सरकार ने सुरक्षा परिषद् की एक आवश्यक बैठक इस मामले पर बुलाने की प्रार्थना की और सं० रा० अरब गणराज्य पर लेबानन के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने, सीरिया से सशस्त्र सैनिक दलों के प्रवेश, सं० अरब गणराज्य के नागरिकों द्वारा लेबानन की सरकार के विरुद्ध विद्रोह तथा आतंकवाद के कार्य करने, सं० अ० गणराज्य द्वारा लेबानन की सरकार को हटाने के लिए प्रेस और रेडियो का प्रबल प्रचार करने के आरोप लगाये। सुरक्षा परिषद् ने पहले तो इस झगड़े को निपटाने का कार्य अरब लीग को सौंपा, उसके विफल होने पर ६ जून से स्वयं इस मामले पर विचार आरम्भ किया और ११ को स्वीडन का यह प्रस्ताव पास किया कि (१) लेबानन में सं० रा० का प्रेक्षकदल यह देखने के लिए भेजा जाय कि लेबानीज सीमा से कोई अवैध शस्त्रों या सैनिकों का प्रवेश तो नहीं हो रहा। (२) महामन्त्री हैमरशोल्ड को इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्यवाही करने तथा प्रेक्षक दल को महामन्त्री के माध्यम से इस विषय में निरन्तर सूचनाएं देने को कहा। १४ जून को महामन्त्री ने तीन व्यक्तियों के एक प्रेक्षकदल की नियुक्ति की। इसमें भारत के श्री राजेश्वरदयाल भी थे। इस दल की रिपोर्टों के आधार पर हैमरशोल्ड ने ३ जुलाई को यह घोषणा की कि "सं० अ० गणराज्य के नागरिकों के अथवा हथियारों के बड़ी मात्रा में लेबानन में प्रवेश" के आरोप को पुष्ट करने वाली कोई साक्षी नहीं है। किन्तु लेबानन की सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया, उनके सं० रा० संघ में स्थायी प्रतिनिधि के अनुसार इस समय १० से १२ हजार विद्रोहियों में २५ से ३० प्रतिशत बाहर से आने वाले थे।

१५ जुलाई, १९५८ को राष्ट्रपति आइजनहावर ने यह घोषणा की कि लेबानीज राष्ट्रपति चामौं की अत्यावश्यक अपील पर सं० रा० अमेरिका की सेना वहां भेजी जा रही है। इसी दिन सं० रा० अमेरिका के जहाजी बेड़े के रणपोतों से १५०० नौसैनिक बेरूत में उतर गये, २० जुलाई तक सैनिकों की संख्या १० हजार तक पहुँच गयी। इन्होंने शीघ्र ही विद्रोहों को दबा दिया।

किन्तु लेबानन के प्रमुख नेताओं, पार्लियामेंट के स्पीकर अदन ओस्सीरां तथा विरोधी दल के सएब सल्लम ने इन सेनाओं के आगमन का घोर विरोध किया, इसे अपने देश की सर्वोच्च सत्ता का उल्लंघन तथा निन्दनीय आक्रमण बताया। रूसी प्रतिनिधि सोबोलेव ने सुरक्षा परिषद् में १५ जुलाई को एक प्रस्ताव उपस्थित किया, इसमें सं० रा० अमेरिका को लेबानन से तथा अंग्रेजों को जोर्डन से फौरन फौजें हटाने को कहा था। अमेरिका ने इसके विरोध में लेबानन में अमेरिकी फौजों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय सेना भेजने का प्रस्ताव रखा। १८ जुलाई को सोवियत प्रस्ताव रद्द हो गया। १९ को ख्रुश्चेव ने इस समस्या को हल करने के लिए जेनीवा में शिखर सम्मेलन बुलाने का सुझाव देते हुए आइजनहावर, मैकमिलन, जनरल डिगाल, श्री नेहरू तथा हैमरशोल्ड को पत्र लिखे, पश्चिम को यह धमकी दी कि रूस के पास अन्तःमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र (Inter Continental Ballastic Missiles, ICBM) हैं।

१३ अगस्त, १९५८ को इस विषय पर विचार करने के लिए जनरल असेम्बली

का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इसमें आइजनहावर ने यह घोषणा की कि अमेरिका लेबानन से फौजें दो अवस्थाओं में फौरन हटाने को तैयार है। पहली तो यह कि वहां की विधिवत् स्थापित सरकार इसकी प्रार्थना करे और दूसरी यह कि सं० रा० संघ द्वारा या अन्य किसी प्रकार से लेबानन का संकट दूर हो जाय। रूसी प्रतिनिधि ग्रोमिको ने कहा—"अमेरिका और ब्रिटेन का कार्य सं० रा० संघ के चार्टर का तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का घोर उल्लंघन है। तेल, अधिक तेल यही सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन के एकाधिकारवादियों का प्रलोभन है।" २३ अगस्त को जनरल असेम्बली ने १६ अरब राज्यों द्वारा मध्यपूर्व में स्थिरता लाने पर, ब्रिटिश और अमेरिकी फौजों की वापिसी पर बल देने वाला तथा इस विषय में आवश्यक कार्यवाही के लिए महामन्त्री को अधिकार देने वाला प्रस्ताव पास किया।

इस बीच में लेबानन में गृहयुद्ध जारी था। इसमें प्रधान सेनापति जनरल चेहब को लेबानीज पार्लियामेंट ने ३१ जुलाई को चामौं का कार्यकाल समाप्त होने पर नया राष्ट्रपति चुन लिया। विरोधी दलों की पश्चिम के कट्टर समर्थक चामौं को हटाने की मुख्य माँग पूरी हो जाने पर आन्तरिक विद्रोह शान्त हो गया। २४ सितम्बर, १९५८ को राष्ट्रपति चेहब ने मुस्लिम नेता करामी के प्रधान मन्त्रित्व में नई सरकार बनाने की आज्ञा दी। नये प्रधान मन्त्री तथा सरकार ने पहली माँग यह रखी कि अमेरिकन फौजें लेबानन खाली कर चली जायं। करामी के विरुद्ध यद्यपि चामौं की समर्थक ईसाई फ्लैंजिस्ट पार्टी (Christian Falangist Party) ने विद्रोह किया, किन्तु वह शीघ्र ही दबा दिया गया। लेबानीज़ सरकार द्वारा फौजें हटाने की माँग पर वाशिंगटन को अपनी फौजें वापिस बुलानी पड़ीं। २६ अक्टूबर, १९५८ तक १४६६६ अमेरिकन सेनाओं ने लेबानन खाली कर दिया। इसी प्रकार २ नवम्बर तक ट्रांसजोर्डन की राजधानी अम्मान को ब्रिटिश फौजों ने खाली कर दिया। जोर्डन की घटनाओं का संक्षिप्त विवरण अधोलिखित है।

जोर्डन से ब्रिटिश फौजों की वापिसी—१९२२ में ब्रिटिश सरकार द्वारा पैलेस्टाइन मैण्डेट के अन्तर्गत स्थापित किया गया यह राज्य २५ मार्च, १९४६ को स्वतन्त्र हुआ। अरब जगत् में केन्द्रीय स्थिति होने से इसका असाधारण सामरिक महत्त्व है। आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ और दरिद्र यह राजतन्त्र १९५७ तक ब्रिटिश सरकार से प्राप्त होने वाली ६५ लाख पौंड की सहायता पर जीवित होने के कारण पश्चिमी शक्तियों का पृष्ठपोषक था। जब मिस्र तथा अन्य पश्चिम-विरोधी अरब राज्यों ने इसे अपने साथ मिलाना चाहा तो इसने उनसे ब्रिटिश सरकार से मिलने वाले ६५ लाख पौंड देने की माँग की। १९५७ के शुरू में मिस्र, सौदी अरब तथा सीरिया ने उसे यह राशि देने का वचन दिया।

इस समय जोर्डन का राजा हुसैन पश्चिमी शक्तियों का समर्थक और उसका प्रधान मन्त्री नाबुलसी पश्चिमी शक्तियों का घोर विरोधी था। नाबुलसी नें आइजनहावर सिद्धांत को स्वीकार करते हुए मिस्र, सौदी अरब तथा सीरिया के साथ अरब एकता सुदृढ़ करने के लिए समझौते पर हस्ताक्षर किये। १३ फरवरी, १९५७ को उसने ब्रिटेन के साथ

हुई १९४८ की एंग्लो-जोर्डन सन्धि को पहली अप्रैल से रद्द करने की घोषणा की और इस सन्धि के अनुसार ब्रिटेन को प्राप्त सैनिक अड्डे खाली करने तथा ब्रिटिश फौजें हटाने पर बल दिया। अप्रैल में जोर्डन ने सोवियत यूनियन से दौत्य सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया। इस नीति ने उस देश के पश्चिम-पक्षपाती तथा रूस-विरोधी तत्वों को बहुत असन्तुष्ट और क्रुद्ध कर दिया। सं० रा० अमेरिका ने जोर्डन को आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा और इसके तथा ब्रिटेन के प्रभाव से नाबुल्सी सरकार को त्यागपत्र देना पड़ा। इस पर १० अप्रैल, १९५७ को जोर्डन में व्यापक पैमाने पर दंगे शुरू हो गए। हुसैन अमेरिकी सहायता लेने के पक्ष में था। उसने सेनाधिकारियों के सहयोग से जनता के विद्रोह को दबा दिया। रूसी साम्यवाद को इन उपद्रवों के लिए उत्तरदायी बताया और पश्चिम-पक्षपाती इब्राहीम हाशिम को मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सौंपा। अमेरिका ने जोर्डन को पहले १ करोड़ डालर की तथा बाद में ८० लाख डालर की सहायता दी। सं० रा० अमेरिका का मुख्य लक्ष्य इस समय जोर्डन को मिस्र और सीरिया से बिल्कुल पृथक् करना, अरब एकता को भंग करना, तथा अरब राष्ट्रीयता के इन अग्रणी देशों के निरोध के लिए मध्यपूर्व में सुदृढ़ अड्डा स्थापित करना था। जोर्डन ने अमेरिका के दूसरे अरब-पक्षपाती इराक के साथ मिलकर मिस्र और सीरिया के संयुक्त अरब गणराज्य (United Arab Republic) के मुकाबले में अरब संघीय राज्य (Arab Federal State) का भी निर्माण किया (१४ फरवरी, १९५८)।

किन्तु १४ जुलाई, १९५८ को इराक के पश्चिम-पक्षपाती जनरल नूरी अस्सय्यद के शासन के विरुद्ध इराकी सेना के युवक अधिकारियों ने विद्रोह कर दिया। इसका इराक के साथ लगे जोर्डन पर प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था और यह आशंका थी कि जोर्डन में भी ऐसी क्रान्ति हो जायेगी, अतः १७ जुलाई को प्रातःकाल जोर्डन के राजा हुसैन ने राजधानी अम्मान में रेडियो से यह घोषणा की कि बगदाद की क्रान्ति से उत्पन्न स्थिति से रक्षा के लिए उसने "मित्रराज्यों से प्रभावशाली सैनिक सहायता" माँगने का निश्चय किया है, ताकि हमारी सीमाओं की चारों ओर के शत्रुओं से रक्षा की जा सके। उसने ब्रिटेन तथा सं० रा० अमेरिका से फौरन सेनायें भेजने की प्रार्थना की। इस पर ब्रिटेन ने वायुयानों द्वारा साइप्रस से ३०० सैनिक १७ जुलाई को ही भेज दिए और अगले दिन तक २००० सैनिक अम्मान पहुँच गये। सं० रा० अमेरिका के ग्लोब-मास्टर वायुयानों ने इराकी तथा लेबानीज़ सीमान्तों के बन्द होने से जोर्डन में उत्पन्न हुई पेट्रोल की कमी दूर करने के लिए बहरीन से तेल की ढुलाई आरम्भ कर दी। २० जुलाई को सं० रा० अमेरिका ने जोर्डन को ७५ लाख डालर की नई सहायता देने की घोषणा की।

जोर्डन ने १७ जुलाई, १९५८ को सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत की कि सं० अरब गणराज्य उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर रहा है। १३ अगस्त को लेबानन तथा इसके सम्बन्ध में बुलाये गए विशेष अधिवेशन में पास किए गये प्रस्ताव का पहले उल्लेख किया जा चुका है, इसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने २ नवम्बर, १९५८ तक अपनी सब सेनायें जोर्डन की राजधानी अम्मान से निकोसिया (साइप्रस) वापिस बुला लीं।

उपर्युक्त उदाहरणों से कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं—(१) यह स्पष्ट है कि आइजनहावर सिद्धान्त मध्यपूर्व में कम्यूनिज्म तथा सोवियत प्रभाव को रोकने, इस क्षेत्र में शांति स्थापित करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर करने में सफल नहीं हुआ। इसके विपरीत लेबानन और जोर्डन में सेनायें भेजने का उल्टा प्रभाव हुआ, इन घटनाओं से यहां पश्चिम-विरोधी तथा साम्यवादी तत्त्वों को पुष्टि मिली है, दोनों राज्यों में पश्चिमी प्रभाव का प्रतिरोध करने वाली सरकारों की स्थापना हुई है, इराक की क्रान्ति के कारण बगदाद पैक्ट से उसका एक प्रधान और महत्त्वपूर्ण सदस्य निकल गया है। इससे इन देशों में अमेरिका के प्रभाव में कमी हुई, मास्को की प्रभुता बढ़ी। (२) यह सिद्धान्त ट्रूमैन सिद्धान्त की भांति सं० रा० संघ को निर्बल बनाने वाला है। किसी महाशक्ति द्वारा चाहे वह कितनी बड़ी क्यों न हो, सं० रा० संघ के कार्य अपने हाथ में लेना उसकी सत्ता को क्षीण करना है। लेबानन में सं० रा० प्रेक्षक दल द्वारा सं० अरब गणराज्य की ओर से हस्तक्षेप के पुष्ट प्रमाण न मिलने पर भी वहां अमेरिकी फौजों को भेजने का निश्चय करना तटस्थ राज्यों की दृष्टि में उचित न था। यह उसके साम्राज्यवाद का सूचक और संघ में अविश्वास का परिचायक था। प्रेक्षक दल की रिपोर्ट के बाद भी अमेरिका की कार्यवाही यही सूचित करती थी कि वह इस सामरिक एवं आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में अपना नियन्त्रण तथा निजी प्रभाव स्थापित करने के लिए ऐसा कर रहा है। (३) आइजनहावर सिद्धान्त की विफलता का सबसे बड़ा कारण मध्यपूर्व की स्थिति में महत्त्व रखने वाले कुछ मौलिक तत्त्वों की उपेक्षा थी। ये मौलिक तत्त्व इस प्रकार हैं—(क) अरब राष्ट्रीयता (ख) इजरायल के प्रति अरबों का तीव्र विरोध (ग) इस प्रदेश की शोचनीय, आर्थिक और सामाजिक दशा (घ) कर्नल नासिर का प्रभाव। आगे इनका विस्तार से वर्णन होगा। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि आइजनहावर सिद्धान्त इनकी उपेक्षा करते हुए लाखों डालरों की आर्थिक सहायता के बल पर इस प्रदेश में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। किन्तु अरब राष्ट्रीयता और कर्नल नासिर इससे अधिक शक्तिशाली थे, और उनके कारण वाशिंगटन की महत्त्वाकांक्षाएं पूरी नहीं हो सकीं।

अमेरिका-रूस के अन्य मतभेद—(क) जर्मनी का एकीकरण—इस समय अमेरिका रूस के अन्य मतभेद मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रश्नों पर है—(१) जर्मनी तथा बर्लिन का एकीकरण (२) कम्यूनिस्ट चीन की मान्यता (३) निःशस्त्रीकरण। पहले यह बताया जा चुका है कि इस समय जर्मनी दो राज्यों तथा बर्लिन चार क्षेत्रों में विभक्त है (पृ० २३१–३२)। इसका पिछला इतिहास बड़ा रोचक है। पोटसडाम के समझौते के अनुसार जर्मनी तथा बर्लिन ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, और रूस की सेनाओं द्वारा अधिकृत चार क्षेत्रों में बाँट दिये गए। शीघ्र ही इनके प्रशासन के संबंध में चारों शक्तियों में मतभेद उत्पन्न हो गए। सोवियत यूनियन ने पोटसडाम समझौते के जर्मनी की आर्थिक इकाई बनाये रखने के मौलिक आर्थिक सिद्धान्त का उल्लंघन करते हुए क्षतिपूर्ति के लिए जर्मन कारखानों की भारी मशीनों को रूस ले जाना शुरू किया। उसने तथा पोलैंड ने अस्थायी रूप से दिए गए जर्मन प्रदेशों को स्थायी रूप से

स्वयमेव अपने प्रदेश में मिला लिया। इस पर जर्मनी की आर्थिक एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए अमेरिका और ब्रिटेन ने अपने दो क्षेत्रों को एक करके द्विक्षेत्र या बाईजोनिया (Bizonia) का निर्माण किया (१ जनवरी, १९४७)। फ्रांस पिछले दो महायुद्धों में जर्मन आक्रमण का शिकार होने के कारण अपनी सुरक्षा के लिए जर्मनी को निर्बल बनाने, सार को फ्रांस में मिलाने, रूस को जर्मनी से पृथक् करने और राइनलैंड पर अपना प्रभुत्व रखने की माँग कर रहा था। किन्तु ज्यों-ज्यों पश्चिमी शक्तियों का रूस से मतभेद बढ़ता गया तो फ्रांस ने यह अनुभव किया कि उसका बड़ा शत्रु जर्मनी नहीं, किन्तु रूस है। अतः उसने जर्मनी के साथ परम्परागत शत्रुता और उसके विभिन्न प्रदेश छीनकर निर्बल बनाने की नीति का परित्याग किया और बाईजोनिया के साथ फ्रांस के अधिकृत प्रदेश को मिलाकर १९४९ में ट्रिजोनिया (Trizonia) या त्रिक्षेत्र बनाया। इन तीनों क्षेत्रों की राजनीतिक एकता के लिए लन्दन में तीनों पश्चिमी शक्तियों द्वारा हुए समझौते के अनुसार उन्होंने इसका नया संविधान तैयार करने के लिए एक विधान परिषद् का चुनाव कराया। इसने बान (Bonn) नगर में १९४९ में पश्चिमी जर्मनी के 'जर्मन संघीय गणराज्य' (German Federal Republic) को जन्म दिया। यह पश्चिम का समर्थक था। इसके उत्तर में रूस ने भी पूर्वी जर्मनी का राज्य बनाया।

जून १९४८ में पश्चिमी क्षेत्रों में देश की आर्थिक एकता को सुदृढ़ करने की दृष्टि से कुछ मुद्रा-सम्बन्धी सुधार किये गए। रूस ने इनका घोर विरोध किया और २४ जून, १९४८ को उसने बर्लिन की मुद्रा-पद्धति को सुरक्षित रखने की दृष्टि से बर्लिन के चारों ओर आने-जाने वाले मार्गों को बन्द करके उस पर घेरा (Blockade) डाल दिया। यह लगभग १ वर्ष तक जारी रहा। इससे बर्लिन के पश्चिमी भाग में मित्रराष्ट्रों के आधीन तीनों क्षेत्रों का बाह्य जगत् से जल एवं स्थल मार्गों का सम्बन्ध बिल्कुल विच्छिन्न हो गया, किन्तु मित्रराष्ट्रों ने हवाई जहाजों से पश्चिमी बर्लिन में खाद्यान्नों की तथा अन्य सब प्रकार की सामग्री बड़ी सफलतापूर्वक पहुँचायी और बर्लिन के इस भाग को भूखे मरने से बचाया। इससे मित्रराष्ट्रों ने हवाई शक्ति में अपनी क्षमता को भली-भाँति प्रदर्शित किया और रूस को असंदिग्ध रूप में यह बता दिया कि उन्हें बर्लिन से जबर्दस्ती नहीं हटाया जा सकता। शूमैन के कथनानुसार "बर्लिन का घेरा वस्तुतः इस बात की परीक्षा थी कि क्या पश्चिमी शक्तियों को बर्लिन से निकाला जा सकता है? क्या उन्हें पश्चिमी जर्मनी का राज्य बनाने की योजना क्रियान्वित करने से विरत किया जा सकता है?"

पश्चिमी राज्यों ने रूस के विरोध की कोई परवाह न करते हुए बान के जर्मन संघीय गणराज्य को पूर्ण स्वाधीनता देने का समझौता (Contractual Agreement) किया (२६ मई, १९५३) तथा रूस ने भी २५ मार्च, १९५४ को बर्लिन की राजधानी वाले पूर्वी जर्मनी को पूर्ण सर्वोच्च सत्ता प्रदान की।

इस समय बर्लिन से ८०–१०० मी० पश्चिम में उत्तर से दक्षिण की ओर खींची जाने वाली एक रेखा से दोनों जर्मन राज्य विभक्त होते हैं। पश्चिम के औद्योगिक दृष्टि से समुन्नत, ५ करोड़ १० लाख की आबादी वाले संघीय गणराज्य (Federal

Republic) के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री कोनार्ड आडेनौर तथा वर्तमान प्रधानमन्त्री एरहार्ड पश्चिम के प्रबल पक्षपाती हैं। इस रेखा के पूर्व में ओडर-नाइस्से नदियों तक कृषि-प्रधान १ करोड़ ६० लाख की आबादी वाले जर्मन लोकतन्त्रीय गणराज्य (German Democratic Republic) के प्रधानमन्त्री ओटो ओटेवोहल (Otto Grotewohl) हैं। इस राज्य को पश्चिमी शक्तियों ने स्वीकार नहीं किया। दोनों में आर्थिक उन्नति, उद्योगों, सम्पन्नता तथा जनसंख्या की दृष्टि से पश्चिमी राज्य बढ़ा-चढ़ा है।

जर्मनी के दोनों भागों के एकीकरण के लिए बर्लिन में विदेश-मन्त्रियों का सम्मेलन बुलाया गया (२५ जनवरी—१८ फरवरी, १९५४)। इसमें दोनों पक्षों के मत-भेद इतने उग्र थे कि कोई समझौता नहीं हो सका। पश्चिमी शक्तियों ने निम्न बातों पर बल दिया—(१) जर्मनी के दोनों भागों में तथा बर्लिन में स्वतन्त्र मतदान द्वारा विधाननिर्मात्री सभा चुनी जाय। (२) यह सभा एक केन्द्रीय जर्मन सरकार स्थापित करे। (३) यह सरकार विजेता शक्तियों के साथ सन्धि करे और इसमें पोलैंड तथा रूस द्वारा हथियाये गए जर्मन प्रदेशों का अन्तिम बँटवारा किया जाय। (४) यह केन्द्रीय सरकार शान्ति सन्धि में की गयी शर्तों के अनुसार अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्वयमेव निश्चित करे। इसके विपरीत सोवियत रूस ने एकीकरण के लिए निम्न बातों पर बल दिया—(१) पश्चिमी देश पूर्वी जर्मनी के **'जर्मन लोकतन्त्रीय गणराज्य'** को सर्वोच्च प्रभुतासम्पन्न राज्य स्वीकार कर लें। (२) पश्चिमी देश सोवियत रूस की यह बात स्वीकार कर लें कि जर्मनी पर अधिकार करने वाले देश अब जर्मनी के एकीकरण के लिए उत्तरदायी नहीं हैं। (३) पूर्वी और पश्चिमी दोनों गणराज्य एकीकरण के लिए आपस में सीधा वार्त्तालाप करें। (४) यह वार्त्तालाप कुछ निश्चित शर्तों के आधार पर होगा, ये शर्तें इस प्रकार हैं—दोनों राज्यों की सरकारों का बना रहना, सोवियत क्षेत्र में कम्यूनिस्ट संस्थाओं की सुरक्षा, बान के संघीय जर्मन गणराज्य का नाटो से पृथक् होना तथा पश्चिमी देशों की सेनाओं का पश्चिमी जर्मनी के प्रदेश से हट जाना।

दोनों पक्षों की शर्तों की तुलना करने पर यह प्रतीत होगा कि पश्चिमी पक्ष का बल दोनों क्षेत्रों के सम्मिलित चुनाव कराने पर है। पश्चिमी राज्य की आबादी पूर्वी क्षेत्र से तिगुनी होने के कारण इसके परिणाम में बहुत कम सन्देह है। संयुक्त जर्मनी निश्चित रूप से पश्चिम का पृष्ठपोषक होगा, इसका अर्थ योरोप में सोवियत सीमान्त का २०० मील पूर्व में चला जाना, पूर्वी जर्मनी में विद्यमान रूस के २२ डिविजनों का पूर्वी पोलैंड में हट जाना, पश्चिम पर आक्रमण के लिए प्रक्षेपणास्त्र फेंकने के अड्डों का पीछे हटना है, इसका पूर्वी योरोप में रूस के अन्य समर्थक राज्यों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। वहाँ इससे उसकी प्रभुता कम होगी, पूर्वी जर्मनी का औद्योगिक प्रदेश उसके साथ से निकल जायगा। अतः मास्को पश्चिम की जर्मन एकीकरण की शर्तों का घोर विरोधी है।

दूसरी ओर पश्चिमी देश एकीकरण के लिए रूसी शर्तें मानने को तैयार नहीं है, क्योंकि यदि इसके आधार पर सन्धि हो जाय तो उनका यह कहना है कि यह पोटसडाम समझौते में जर्मन जनता को विचार, वाणी, लेखन, भाषण, धर्म आदि की स्वतंत्रताएँ देने के वचन का उल्लंघन होगा, मास्को की शर्तों के अनुसार इसका एकीकरण

करने पर सारा देश साम्यवादी हो जायगा। पश्चिमी देशों की सीमा राइन नदी पर आ जायगी। पश्चिमी जर्मनी के प्रमुख औद्योगिक केन्द्र और जनसंख्या सोवियत रूस के हाथ में चली जायगी, सोवियत यूनियन के नेतृत्व में उसकी शक्तिशाली सेना हिटलर की नात्सी सेना की भाँति पश्चिम के त्रास और विनाश का हेतु बन जायगी। यह पश्चिम के लिए सर्वथा अवांछनीय और अनभीष्ट है। अतः इन मौलिक मतभेदों के कारण दोनों पक्षों में अब तक कोई समझौता नहीं हो सका। इसे उग्र बनाने का एक बड़ा कारण जर्मनी द्वारा नाटो का सदस्य बनना है (९ मई, १९५५)। २५ मार्च, १९५८ को प० जर्मनी की पार्लियामेंट (Bundestag) ने यह निश्चय किया कि इसकी सेनाओं को आणविक आयुधों तथा प्रक्षेपणास्त्रों (Missiles) से सुसज्जित किया जाय। रूस इससे बड़ा चिन्तित और कुपित हुआ। मई १९५८ में ख्रुश्चेव ने घोषणा की "पश्चिमी जर्मनी के आणविक शस्त्रों से सुसज्जित होने से जर्मन राष्ट्रीय एकता सम्पन्न करने का एक बचा हुआ खुला दरवाजा भी कस कर बन्द कर दिया गया है।"

जेनीवा का विदेशमन्त्री सम्मेलन (११ मई–२० जून, १९५९)—१० नवम्बर, १९५८ को सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि "समूचा बर्लिन जर्मन लोकतन्त्रीय गणराज्य के प्रदेश में है, इस क्षेत्र पर इस गणराज्य की सर्वोच्च प्रभुता है। इसके पश्चिमी भाग पर पश्चिमी शक्तियों के अधिकार का कोई कानूनी आधार नहीं है। सोवियत सरकार ने यह निश्चय किया है कि बर्लिन में विदेशी शासन को समाप्त कर दिया जाय। सोवियत सरकार पश्चिम के साथ इस विषय पर वार्तालाप करने को तैयार है कि इसे निस्सैन्य (Demilitarized) स्वतन्त्र नगर बना दिया जाय, रूस इस परिवर्तन को छः महीने के भीतर करना चाहता है, वह देर तक सोवियत-विरोधी जासूसी के इस अड्डे को नहीं बने रहने देना चाहता। यदि पश्चिम बर्लिन में बने रहने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग करेगा तो रूस भी युद्ध करेगा।" २७ नवम्बर को उसने इस विषय में विस्तृत रूसी प्रस्ताव पश्चिमी देशों के आगे रखा। पश्चिमी देशों पर इस भीषण चेतावनी तथा प्रस्ताव का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उनका यह कहना है कि बर्लिन में उनकी वर्त्तमान स्थिति ५ जून, १९४५ के **पोटसडाम के तथा ४ मई, १९४९** को बर्लिन घेरे की समाप्ति पर हुए समझौते के अनुसार है। ३१ दिसम्बर, १९५८ को फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका द्वारा मास्को को भेजे गए एक नोट में उन्होंने बर्लिन के **प्रश्न** पर 'व्यापक रूप में जर्मनी की तथा योरोपियन सुरक्षा की' समस्याओं के साथ विचार करना मान लिया। १० जनवरी, १९५८ को रूस ने जर्मनी और बर्लिन की समस्या का हल निकालने के लिए शासनाध्यक्ष सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव रखा था, उस पर पश्चिमी देशों ने यह कहा कि पहले परराष्ट्रमन्त्रियों का सम्मेलन होना चाहिये। १९ मार्च, १९५९ को ख्रुश्चेव ने ११ मई से जेनीवा में इस सम्मेलन को बुलाने का प्रस्ताव मान लिया।

११ मई से गोल या चौकोर मेज के झगड़े से शुरू होने वाले इस सम्मेलन में सं० रा० अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस के विदेश-मन्त्री—क्रिश्चियन हर्टर, आन्द्रेई ग्रोमिको, सेल्विन लायड तथा कूवेद मरवीय (Couvede Murvllie) जेनीवा के राष्ट्र प्रासाद (Palais Des Nations) में सं० रा० संघ के तत्त्वावधान में एकत्र हुए। आरम्भ

में पश्चिमी देशों ने संयुक्त रूप से जर्मन एकीकरण के लिए कुछ प्रस्ताव रखे। ग्रोमिको ने इन्हें अस्वीकार करते हुए कहा कि पहले शान्ति सन्धि होनी चाहिए। शान्ति सन्धि न होने के कारण पश्चिमी जर्मनी आणविक शस्त्रों से सुसज्जित होकर तथा उत्तरी अटलांटिक सन्धि संगठन का सदस्य बनकर योरोप में तनाव उत्पन्न कर रहा है। ६ जन से बर्लिन विषयक ग्रोमिको के प्रस्तावों पर गतिरोध उत्पन्न हुआ। ये प्रस्ताव इस प्रकार थे—(१) रूस पश्चिमी देशों को एक वर्ष तक के लिए कुछ सीमित अधिकार देने को तैयार है, इसके बाद पश्चिमी बर्लिन पर उनका अधिकार समाप्त होना चाहिये। (२) इस बीच में पश्चिमी देश वहां अपनी सेनाएं कम कर देंगे, कम्यूनिस्ट-विरोधी प्रचार पर प्रतिबन्ध लगायेंगे और कम्यूनिस्ट-विरोधी जासूसी और तोड़फोड़ करने वाली संस्थाओं को समाप्त कर देंगे, पश्चिमी बर्लिन में आणविक या राकेट अड्डे नहीं बनाये जायेंगे। (३) एक वर्ष के भीतर पश्चिमी और पूर्वी बर्लिन की एक अखिल जर्मनी समिति बनायी जायगी, इसमें दोनों जर्मन राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या समान होगी, यह दोनों राज्यों में सम्पर्क बढ़ायेगी तथा एकीकरण एवं शान्ति के प्रस्ताव तैयार करेगी। यदि पश्चिम दो वर्ष के भीतर इन आधारों पर समझौता होने में अड़चन डालेगा तो रूस जर्मन के साथ शान्ति सन्धि कर लेगा।

पश्चिमी राष्ट्रों ने ग्रोमिको के प्रस्तावों को अल्टीमेटम की संज्ञा दी। अमेरिका ने इन्हें "पूर्णतया अस्वीकार्य" बताया। पश्चिमी देशों ने बर्लिन के सम्बन्ध में निम्न प्रस्ताव रखे—(१) पश्चिमी देश बर्लिन में विद्यमान अपनी ग्यारह हजार सेना को अधिक नहीं बढ़ायेंगे। यदि स्थिति अनुकूल रही तो इसमें कमी करने का विचार किया जा सकता है। इन सेनाओं को साधारण शस्त्र ही दिये जायेंगे। (२) पश्चिमी बर्लिन को आने वाले थल, जल और नभ मार्गों को खुला रखने की गारण्टी रूस दे। (३) पश्चिमी देश पारस्परिक आधार पर इस बात से सहमत हैं कि विरोधी प्रचार या तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों की वे जांच करेंगे।

दोनों पक्षों की माँगों में दो बड़े मौलिक मतभेद हैं—(१) रूस पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को समानता के आधार पर रखते हुए बात चलाना चाहता है, पश्चिमी देश इस समान स्थिति को बिल्कुल नहीं मानते। वे पूर्वी जर्मनी को स्वीकार ही नहीं करते। (२) रूस पश्चिमी बर्लिन को एक निश्चित अवधि में अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के आधिपत्य से मुक्त करा लेना चाहता है। किन्तु पश्चिमी देश इसे खाली करने को तैयार नहीं हैं और इसमें आने-जाने के सब मार्ग खुले रखने की गारण्टी चाहते हैं। इन मतभेदों के परिणामस्वरूप कोई समझौता न होने के कारण यह सम्मेलन ११ जून को १३ जुलाई, १९५९ के लिए स्थगित हो गया। १३ जुलाई से ५ अगस्त, १९५९ तक पुनः विदेश-मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ, किन्तु बर्लिन-समस्या का कोई समाधान नहीं हो सका। मई १९६० में शिखर सम्मेलन में इस पर विचार होना था, किन्तु उसकी भ्रूण-हत्या होने से उसमें भी यह विचार नहीं हो सका।

(ख) चीन की मान्यता का प्रश्न—अमेरिका और रूस की तनातनी का एक बड़ा कारण फारमोसा की च्यांगकाई शेक की राष्ट्रवादी सरकार है। पहले यह बताया

जा चुका है कि १ अक्टूबर, १९४९ को चीन में साम्यवादी शासन स्थापित हो जाने पर तथा चीनी महाद्वीप पर इसका अधिकार होने पर च्यांगकाई शेक की राष्ट्रवादी सरकार भागकर फारमोसा टापू में चली गई। रूस ने साम्यवादी सरकार स्वीकार करने तथा इसके प्रतिनिधि को संघ एवं सुरक्षा परिषद् में बैठाने और राष्ट्रवादी चीन के प्रतिनिधि को हटाने पर बल दिया। किन्तु सं० रा० अमेरिका के विरोध से यह प्रयत्न अब तक सफल नहीं हो सका और दोनों में संघर्ष का कारण बना हुआ है। भारत ने चीन की मान्यता का प्रश्न कई बार सं० रा० संघ में उठाया है, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली।

इस विषय में डलेस ने सं० रा० अमेरिका की नीति को स्पष्ट करते हुए २८ जून, १९५७ के अपने एक भाषण में कहा था—"चीनी साम्यवादी दल ने हिंसा द्वारा सत्ता प्राप्त की है। वह हिंसा द्वारा जीवित है।...उसे चीनी जनता की इच्छा से नहीं, किन्तु व्यापक और भीषण दमन से ही सत्ता हस्तगत हुई है। उसने कोरिया में सं० रा० संघ से युद्ध किया है, हिन्दचीन के युद्ध में कम्यूनिस्टों की सहायता की है, तिब्बत को बलपूर्वक हस्तगत किया है। इसने फिलिप्पाइन में हुए विद्रोह को तथा मलाया में कम्यूनिस्टों के उपद्रव को प्रोत्साहित किया है। यह सं० रा० अमेरिका का घोर शत्रु है।...मान्यता एक विशेष अधिकार है, वह उत्तम व्यवहार के अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों से ही उपार्जित की जानी चाहिए ...बोल्शेविकों ने केरेन्स्की से १९१७ में सत्ता छीनी थी, फिर भी हम १६ वर्ष तक इस सरकार के रूस से बाहर रहने वाले प्रतिनिधियों को वैध सरकार मानते रहे। १९३३ तक यह प्रतीत हुआ कि रूस के कम्यूनिस्ट शासन को समाज का शान्तिप्रिय सदस्य माना जा सकता है। उसने पिछले दस वर्ष में कोई सशस्त्र आक्रमण का कार्य नहीं किया था। सं० रा० अमेरिका में तोड़-फोड़ की कार्यवाहियां बन्द करने का वचन दिया था।...यदि हमें १९३३ में यह पता होता कि रूस अपने वचन का भंग करेगा, हम उसे मान्यता न देते। साम्यवादी चीन का पिछला इतिहास सशस्त्र आक्रमण का इतिहास है। हम उसे मान्यता नहीं दे सकते।"

सं० रा० संघ में उसे सीट देने के सम्बन्ध में डलेस ने कहा कि यह संघ शान्तिप्रिय राज्यों का संगठन है, इसमें सं० रा० संघ के साथ कोरिया युद्ध में लड़ने वाले राज्य को कैसे सीट दी जा सकती है। "क्या सात वर्ष में कोरिया, हिन्दचीन, तिब्बत, फिलिप्पाइन्स और मलाया में पाँच विदेशी या गृहयुद्ध कराने वाले को, सं० रा० द्वारा आक्रांता घोषित किए जाने वाले तथा उससे लड़ने वाले को, कोरिया के एकीकरण विषयक संघ के आदेशों की अवहेलना करने वाले को उस सं० रा० संघ में स्थायी सीट और वीटो का अधिकार दिया जाय, जिसका प्रधान उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना है।"

(ग) निःशस्त्रीकरण—विभिन्न प्रकार के शस्त्रों के विकास द्वारा सोवियत रूस और अमेरिका में शस्त्रीकरण की होड़ बढ़ जाने से निःशस्त्रीकरण की समस्या बहुत जटिल हो गई है। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद रूस ने १९४९ तक न केवल अणुबम के रहस्य का पता लगा लिया, अपितु २६ अगस्त, १९५७ को उसने यह दावा किया कि उसने अन्तःमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र (Inter Continental Ballistic Missile,

ICBM) का सफल परीक्षण कर लिया, इससे विध्वंसक बम के गोले (Missile) को दुनिया के किसी भी हिस्से में, एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में फेंका जा सकता था। उदाहरणार्थ मास्को से वाशिंगटन को नष्ट करने वाला गोला बगैर किसी वायुयान के पश्चिमी गोलार्द्ध से सीधा फेंका जा सकता था। यह राकेटों के तथा प्रबल शक्तिशाली ईंधनों के विकास का परिणाम था। पश्चिम ने पहले तो इसे अलिफलैला का किस्सा समझा, किन्तु जब ४ अक्टूबर, १९५७ को रूस ने पृथ्वी के चारों ओर घूमने वाला एक स्पूतनिक छोड़ दिया तो पश्चिमी जगत् रूस की वैज्ञानिक प्रगति से स्तब्ध रह गया, निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव की जाने लगी।

३ फरवरी, १९५८ को बुलगानिन ने राष्ट्रपति आइजनहावर के सम्मुख निःशस्त्रीकरण की एक विस्तृत योजना रखी। इसमें निम्न बातों पर बल दिया गया था—अणुबमों तथा उद्जन बमों के परीक्षणों को बन्द करना सोवियत रूस, सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन द्वारा न्यष्टि शस्त्रों (Nuclear Weapons) का परित्याग, नाटो तथा वारसा पैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता, जर्मनी तथा योरोप के अन्य राज्यों में विदेशी सेनाओं का घटाया जाना, आकस्मिक आक्रमणों को रोकने का समझौता। १५ मार्च, १९५८ को सोवियत विदेश मन्त्रालय ने इस विषय में कुछ अन्य प्रस्ताव भी रखे। ये इस प्रकार थे—सैनिक प्रयोजनों के लिए बाह्य आकाश (Outer Space) के प्रयोग का निषेध, सं० रा० संघ की अध्यक्षता में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा उपर्युक्त निषेध के पालन का निरीक्षण। इस समय रूस ने पोल विदेश-मन्त्री रापाकी (Rapaki) द्वारा १४ फरवरी को प्रस्तुत की गई योजना का भी समर्थन किया। इसके अनुसार योरोप में सुरक्षा बनाए रखने के लिए पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, जर्मन लोकतन्त्रीय गणराज्य तथा संघीय जर्मन गणराज्य के प्रदेशों को अणु आयुधों के निर्माण, संग्रह और उपयोग से शून्य बनाने पर बल दिया गया था, ताकि निःशस्त्रीकरण को प्रोत्साहन मिल सके। ३१ मार्च, १९५८ को सुप्रीम सोवियत ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया, इसमें यह कहा गया था कि सोवियत यूनियन में सब आणविक एवं उद्जन शस्त्रों के परीक्षण इस आशा में बन्द किए जाते हैं कि अन्य देशों की पार्लियामेण्टें भी आणविक परीक्षणों को समाप्त कर देंगी। किन्तु यदि अन्य देशों ने ऐसे परीक्षण बन्द न किए तो रूस इन्हें पुनः शुरू कर देगा।

राष्ट्रपति आइजनहावर ने रूस के इन प्रस्तावों का २ अप्रैल, १९५८ को उत्तर देते हुए इन्हें रूस का प्रचारमात्र बताया और रूस द्वारा सं० रा० अमेरिका की पिछली निःशस्त्रीकरण योजनाओं को जून १९४६, जुलाई १९५५, अगस्त १९५७ में विफल बनाने के इतिहास पर प्रकाश डाला तथा ९ अप्रैल को यह घोषणा की कि एनीवीटोक (Enevitok) में चल रहे आणविक परीक्षण समाप्त होने पर अमेरिका को यदि यह निश्चय हो गया कि रूस ने वस्तुतः ये परीक्षण बन्द कर दिए हैं तो अमेरिका भी इन्हें बन्द करने के विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेगा। सितम्बर १९५८ के अन्त में सोवियत रूस ने अपने आणविक बमों के परीक्षण पुनः इस आधार पर शुरू कर दिए कि ३१ मार्च से सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन ने रूस द्वारा परीक्षण बन्द करने की

अवधि से "अधिकतम सैनिक लाभ उठाया है।" ३१ अक्टूबर, १९५८ से जेनीवा में तथा सं० रा० संघ के १३वें अधिवेशन में १६ सितम्बर से १३ दिसम्बर, १९५८ तक निःशस्त्रीकरण के प्रश्न पर अनेक सम्मेलन और प्रस्ताव पास हुए हैं। ४ नवम्बर को असेम्बली ने जेनीवा सम्मेलन की अवधि तक सब प्रकार के आणविक परीक्षण बन्द करने का प्रस्ताव पास किया। जेनीवा सम्मेलन में रूस का यह प्रस्ताव था कि ये परीक्षण सदा के लिए बन्द करने का समझौता हो, ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका यह कहते हैं कि इन्हें एक-एक वर्ष के लिए बन्द करने के समझौते के साथ एक प्रभावशाली निरीक्षण पद्धति होनी चाहिए। दोनों पक्ष इस पर सहमत हो गए कि (क) आणविक परीक्षणों के नियन्त्रण के लिए स्थापित किए जाने वाले आयोग में ७ सदस्य हों, इनमें से तीन आणविक परीक्षण करने वाले देश रूस, अमेरिका और ब्रिटेन इसके स्थायी सदस्य हों, चार दो वर्ष के लिए चुने जायं (ख) आयोग का एक प्रशासक तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्टाफ हो (ग) परीक्षणों की जांच और पहिचान की पद्धति निश्चित की जाय। किन्तु अभी तक इस प्रश्न पर समझौता नहीं हो सका कि (क) नियन्त्रण आयोग में मतदान की क्या पद्धति हो (ख) नियन्त्रण करने वाले व्यक्तियों को तथा निरीक्षक मण्डलों को किस प्रकार नियत किया जाय।

१८ सितम्बर, १९५९ को रूसी प्रधानमंत्री श्री ख्रुश्चेव ने अपनी अमेरिकी यात्रा में "पूर्ण एवं सामान्य निःशस्त्रीकरण (Complete and general disarmament) के प्रस्ताव रखे। इनके अनुसार चार वर्ष की अवधि में सब राज्यों को ऐसा निःशस्त्रीकरण करना चाहिए कि इसके बाद उनके पास लड़ाई करने के कोई साधन न रहें।" पूर्ण निःशस्त्रीकरण का अभिप्राय सब राज्यों द्वारा बिना किसी अपवाद के सब प्रकार की सशस्त्र सेनाओं का परित्याग करना है। वे केवल आन्तरिक सुरक्षा के लिए थोड़ी-सी आवश्यक पुलिस और सेना (Militia) रख सकते हैं। यदि यह योजना पश्चिम को स्वीकार न हो तो ख्रुश्चेव ने आंशिक निःशस्त्रीकरण (Partial Disarmament) को निम्न अवस्थाओं में करने के प्रस्ताव रखे (१)—एक विशेष क्षेत्र में नियन्त्रण और निरीक्षण की व्यवस्था स्थापित करना। (२) मध्य योरोप में आणविक आयुधों से रहित क्षेत्र (Denuclearized zone) की स्थापना। (३) योरोपियन राज्यों से सब विदेशी सेनाओं का हटाना, विदेशी प्रदेशों के सब सैनिक अड्डों को समाप्त करना। (४) नाटो संधिसंगठन के सदस्यों के साथ तथा पश्चिमी राज्यों के साथ अनाक्रमण समझौते करना। (५) एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य पर आकस्मिक आक्रमण रोकने के बारे में समझौता करना। नियन्त्रण के सम्बन्ध में ख्रुश्चेव ने कहा—"निःशस्त्रीकरण का समझौता हो जाने के बाद हम उसे क्रियान्वित करने के लिए कठोर नियन्त्रण के पक्ष में हैं, किन्तु हम निःशस्त्रीकरण के बिना नियन्त्रण को नहीं चाहते।" सं० रा० संघ के १४वें अधिवेशन में रूसी प्रतिनिधिमंडल ने इस आशय के कुछ प्रस्ताव भी रखे।

किन्तु सं० रा० अमेरिका तथा पश्चिमी देश इन प्रस्तावों से सहमत नहीं हैं। दोनों पक्षों का मतभेद निम्न बातों पर है—(१) **नियन्त्रण**—रूस पहले निःशस्त्रीकरण का समझौता करने का इच्छुक है तथा बाद में उसे क्रियान्वित करने के लिए

कठोर नियन्त्रण चाहता है। किन्तु अमेरिका नियन्त्रण व्यवस्था को निश्चित करने के बाद ही निःशस्त्रीकरण का समर्थक है। (२) **सैनिकों की संख्या**—रूस अपनी, सं० रा० अमेरिका तथा कम्यूनिस्ट चीन की सेनाओं की संख्या प्रत्येक देश के लिए १७ लाख तक मर्यादित करना चाहता है, ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाएं ६$\frac{1}{2}$ लाख होनी चाहिए। अमेरिका का यह मत है कि उसकी तथा रूस की सेनाएं २१ लाख तक सीमित होनी चाहिएं, वह अन्य देशों की सेनाओं के सम्बन्ध में कोई बात नहीं कहता। (३) **आणविक परीक्षण**—रूस के मतानुसार ऐसे सब आणविक परीक्षण बन्द कर देने चाहिएं, जिनका वर्तमान साधनों से पता लगाया जाना (Detection) संभव है। जब तक इनके पता लगाने का कोई प्रामाणिक और विश्वसनीय साधन नहीं निकल आता, तब तक सब शक्तियां स्वेच्छापूर्वक ऐसे परीक्षण करना बन्द कर दें। अमेरिका यह चाहता है कि इनके निरीक्षण की उपयुक्त व्यवस्था पर समझौता होने के बाद ये परीक्षण दो वर्ष के लिए बन्द कर दिए जायं। जब आणविक आयुधों का उत्पादन बन्द हो जाय तो ऐसे परीक्षण बिल्कुल बंद कर दिए जायं। (४) **आणविक आयुध**—रूस के मत में इनका प्रयोग सर्वथा बन्द होना चाहिए और जब दोनों पक्ष अपनी सेनाओं को घटा लें तो इन्हें सर्वथा नष्ट कर देना चाहिए। अमेरिका का यह विचार है कि आणविक विस्फोट वाली सामग्री के उत्पादन पर एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण पद्धति होनी चाहिए, इस पद्धति के क्रियान्वित होते ही सब आणविक आयुधों का उत्पादन बन्द होना चाहिए। आणविक विस्फोट की सामग्री का शान्तिपूर्ण उपयोग होना चाहिए। (५) **अन्तरिक्ष** (Space)—अमेरिका के मतानुसार बाह्य अन्तरिक्ष में राकेट छोड़ने वाले देशों को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण संस्था (International Control Agency) को इनकी सूचना देनी चाहिए। बाह्य अन्तरिक्ष में सैनिक प्रयोग की दृष्टि से राकेट नहीं भेजने चाहिएं। रूस का यह कहना है कि सब सैनिक राकेटों को नष्ट कर देना चाहिए और उनका उत्पादन बन्द होना चाहिए। (६) **उन्मुक्त आकाश** (Open skies)—अमेरिका के मतानुसार उत्तरी अमेरिका तथा सोवियत रूस के तथा उत्तरी महासागर के बड़े भाग के आकाश दोनों देशों के लिए खुले रहने चाहिएं। इसमें हवाई निरीक्षण, राडार पद्धति तथा उड़ानों की पूर्व-सूचना द्वारा नियन्त्रण स्थापित होना चाहिए। रूस का मत है कि निम्न क्षेत्रों पर निर्बाध हवाई निरीक्षण का अधिकार होना चाहिए—(क) लन्दन, रीगा, एथेन्स और मैड्रिड से घिरा हुआ योरोपियन क्षेत्र, (ख) सं० रा० अमेरिका के पश्चिमी भाग से तथा रूस के पूर्वी भाग से लगा हुआ प्रशान्त महासागर का क्षेत्र। दोनों पक्षों के ये मतभेद बड़े मौलिक हैं और इनके शीघ्र समाधान की संभावना नहीं है।

१९६० में जेनीवा में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में दो सम्मेलनों पर विश्व की आशाएं केन्द्रित थीं—दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन तथा आणविक शस्त्रास्त्रों के परीक्षणों का निषेध करने के सम्बन्ध में त्रिराष्ट्रीय वार्त्ता। किन्तु इन दोनों में कोई विशेष प्रगति इसलिए नहीं हो सकी कि सोवियत रूस सामान्य निःशस्त्रीकरण का प्रस्ताव पश्चिमी राष्ट्रों से पहले स्वीकार कराना चाहता है, और अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्र इसे स्वीकार करने से पहले नियन्त्रण और जांच-पड़ताल की विस्तृत

व्यवस्था कर लेना चाहते हैं। इस पर गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण १ मार्च, १९६० से आरम्भ होने वाला दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन २९ जून, को भंग हो गया। अमेरिका ने इसका प्रधान कारण सोवियत रूस की अड़ंगानीति को तथा गोपनीयता और लौह आवरण को सुरक्षित बनाये रखने की चिन्ता को बताया, क्योंकि इसी कारण रूस नियन्त्रण की किसी व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता।

किन्तु विश्वशांति की दृष्टि से निःशस्त्रीकरण की समस्या कई कारणों से जल्दी हल होनी चाहिए। **पहला कारण** यह है कि इस समय आणविक आयुधों के निर्माण का ज्ञान रखने वाली महाशक्तियां इनी-गिनी हैं। सं० रा० अमेरिका, रूस और ग्रेट ब्रिटेन ही अणुबमों का निर्माण कर सकते हैं। फ्रांस तथा चीन भी अब इस श्रेणी में सम्मिलित हो रहे हैं। भविष्य में इन देशों की संख्या निरन्तर बढ़ती जायेगी। अब थोड़े राज्यों में इस विषय का समझौता कराना आसान है, इनकी संख्या बढ़ जाने पर समझौता कराना कठिन हो जायगा। **दूसरा कारण** यह है कि अभी तक अणुबमों का निर्माण बड़ी व्यय-साध्य और जटिल प्रक्रिया है। बहुत थोड़े देशों में इतना आर्थिक सामर्थ्य है कि वे इन्हें बना सकें या क्रय कर सकें। किन्तु अब जर्मन वैज्ञानिकों ने यह दावा किया है कि वे इसे तैयार करने की सरल और सस्ती विधि निकाल रहे हैं। यदि अगले कुछ वर्षों में इनका उत्पादन सस्ता हो गया तो सभी देश इन्हें खरीद सकेंगे और इनके दुरुपयोग की संभावनाएं बहुत बढ़ जायेंगी, इनका नियन्त्रण दुस्साध्य ही नहीं, किन्तु असम्भव हो जायगा। **तीसरी कारण** प्रलयंकर विध्वंस करने वाले राकेटों, अन्तःमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों, पोलरिस प्रक्षेपास्त्रों[८] (Polaris missile) का विलक्षण विकास है। अतः दोनों पक्षों

---

८. ये मीडियम रेंज (medium range) वाले ऐसे राकेट होते हैं, जिनमें हाइड्रोजन बम लदा होता है। इनकी यह विशेषता है कि इसे स्थल से, समुद्र से या समुद्र के भीतरी भाग से छोड़ा जा सकता है। समुद्र के भीतर से छोड़े जाने के कारण इसने आणविक आयुधों की रण-नीति में एक नवीन क्रान्ति ला दी है। अब तक राकेट स्थलीय अड्डों से छोड़े जाते थे, किन्तु इन्हें शत्रु के राकेट किसी भी समय नष्ट कर सकते। अब पोलरिस प्रक्षेपणास्त्र पनडुब्बियों पर लदे होते हैं, पनडुब्बियां समुद्र के भीतर चक्कर काटती रहती हैं। इनका कोई निश्चित स्थान न होने से इन्हें स्थलीय अड्डों की भांति नष्ट नहीं किया जा सकता। एक पनडुब्बी पर १६ पोलरिस प्रक्षेपणास्त्र रह सकते हैं। अमेरिका की यह योजना है कि योरोप के चारों ओर ऐसे प्रक्षेपणास्त्र रखने वाले तथा अणुशक्ति द्वारा संचालित पनडुब्बियों के कुछ अड्डे बनाये जायं। प्रत्येक अड्डा नौ पनडुब्बियों के लिए हो, किन्तु एक समय में उस पर तीन से अधिक पनडुब्बियां न हों। शेष समुद्र में घूमती रहें। इस प्रकार आणविक आयुध और इन्हें संचालित करने वाली पनडुब्बियां पानी में डूबी रहने से शत्रु के बमवर्षक हवाई जहाजों के आगमन की सूचना देने वाले राडार आदि आधुनिक यन्त्रों की पकड़ (Detections) में नहीं आ सकतीं। एक पोलरिस प्रक्षेपणास्त्र के निर्माण में ४६.८ लाख रुपया व्यय होता है। यह १२०० से २५०० मी० तक की दूरी के लक्ष्य स्थानों को नष्ट कर सकता है इसकी विध्वंसक शक्ति हिरोशिमा पर गिराये गए अणुबम से कई गुना अधिक है। इसका ईंधन ठोस होता है, यह रेडियो द्वारा आर्डर मिलने पर लक्ष्य पर फेंका जा सकता है। अमेरिका ने इस प्रक्षेपणास्त्र को वहन करने वाली पनडुब्बियों का पहला अड्डा स्काटलैण्ड में होली लाच (Holy Lach) में स्थापित किया है।

के निःशस्त्रीकरण पर शीघ्र समझौता होना आवश्यक है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने सं० रा० संघ के १५वें अधिवेशन में ३० अक्टूबर, १९६० को भाषण करते हुए कहा था कि "यदि अगले तीन-चार वर्षों में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में समझौता न हुआ तो कोई भी शक्ति विश्व को विध्वंस से नहीं बचा सकती।"

शीतयुद्ध में शिथिलता—ख्रुश्चेव की अमेरिकी यात्रा—१९५९ के उत्तरार्ध में कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा था कि रूस तथा अमेरिका के शीतयुद्ध की बरफ पिघलने लगी है और शीघ्र ही दोनों देशों के उग्र मतभेद कम हो जायेंगे। १५ सितम्बर से २८ सितम्बर, १९५९ तक अपने परिवार तथा १०० व्यक्तियों के दल के साथ रूसी प्रधानमंत्री श्री ख्रुश्चेव ने अमेरिकी राष्ट्रपति आइजनहावर के निमन्त्रण पर सं० रा० अमेरिका की यात्रा की। १७ सितम्बर को न्यूयार्क में सं० रा० संघ के १४वें अधिवेशन में भाषण करते हुए रूसी प्रधानमंत्री ने "सामान्य एवं पूर्ण निःशस्त्रीकरण के प्रस्तावों" को रखने के साथ "शीतयुद्ध की तथा शस्त्रास्त्रों की होड़" समाप्त करने पर तथा सब देशों द्वारा "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और मैत्रीपूर्ण सहयोग" के सिद्धान्तों के पालन पर बड़ा बल दिया। उसने यह घोषणा की कि "शीतयुद्ध ने ही ऐसी असह्य स्थिति पैदा कर दी है" कि साम्यवादी चीन को सं० रा० संघ में अभी तक मान्यता नहीं प्राप्त हुई। अपनी अमेरिका यात्रा की समाप्ति पर श्री ख्रुश्चेव आइजनहावर के मैरीलैण्ड पहाड़ियों में बने निवासगृह कैम्प डेविड (Camp David) में राष्ट्रपति के साथ २५ सितम्बर से तीन दिन तक विश्व की विभिन्न समस्याओं—बर्लिन-संकट, जर्मन-समस्या, निःशस्त्रीकरण इसके लिए आवश्यक नियन्त्रण, लाओस की स्थिति, अणुशक्ति के शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए उपयोग आदि पर विचार विमर्श करते रहे। वाशिंगटन लौटने पर ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि आइजनहावर ने उनके निमन्त्रण पर रूस आना स्वीकार कर लिया है और यह कहा कि उनके रूस आने के सम्बन्ध में "उनके पोतों ने" यह समझौता किया है कि आइजनवाहर १९६० के वसन्तकाल में रूस की यात्रा करें और इसे उनके "दादाओं" ने स्वीकार कर लिया है।

२८ सितम्बर को स्वदेश लौटते समय अपने अन्तिम टेलिविज़न भाषण में श्री ख्रुश्चेव ने कहा—"राष्ट्रपति आइजनहावर से मेरी बड़ी मधुर वार्त्ता हुई है। हमने जिन प्रश्नों पर विचार किया है, उन सबके बारे में यह पाया गया है कि स्थिति के मूल्यांकन की दृष्टि से तथा दोनों देशों में सम्बन्ध सुधारने की आवश्यकता की दृष्टि से दोनों पक्षों का दृष्टिकोण तथा विचार एक जैसे हैं।" इस यात्रा ने दोनों देशों में बड़े सौहार्द, प्रीति का वातावरण उत्पन्न किया। यह कैम्प डेविड में हुए वार्त्तालाप का परिणाम था। अतः इस समय इस सौहार्द को **'कैम्प डेविड की भावना'** का नाम दिया गया और यह कहा गया कि इस भावना से दोनों देशों का अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर हो जायगा, शीतयुद्ध की बरफ पिघल जायगी और विश्वशान्ति में सहायक स्नेह और सौहार्द का वातावरण स्थापित हो जायगा।

कैम्प डेविड से विदा होते हुए प्रकाशित संयुक्त वक्तव्य में यह कहा गया था कि "श्री ख्रुश्चेव तथा आइजनहावर इस बात पर सहमत हैं कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों

का निर्णय शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा वार्त्तालाप और चर्चा (Negotiations) के माध्यम से किया जाना चाहिए।" श्री ख्रुश्चेव ने इसी भावना से प्रेरित होकर साम्यवादी चीनियों को यह उपदेश दिया कि "हमें सब महत्त्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में युद्ध के साधन के प्रयोग का निवारण करना चाहिए। हम सदैव विध्वंसक (Predatory) युद्धों के विरोधी रहे हैं।" इस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि पूर्व और पश्चिम का तनाव और संघर्ष जल्दी ही दूर हो जायगा।

१९ से २१ दिसम्बर, १९५९ तक पेरिस में राष्ट्रपति आइजनहावर, फ्रेंच राष्ट्रपति चार्ल्स डिगाल, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री मैकमिलन और पश्चिमी जर्मनी के चांसलर कोनार्ड आडेनौर (Konard Audenaur) ने शीतयुद्ध और पूर्व-पश्चिम की समस्याओं पर विचार किया और अन्त में यह निश्चय किया कि चार बड़े राज्यों के शासनाध्यक्षों का शिखर सम्मेलन (Summit Conference) बुलाया जाना वांछनीय है। इसके बाद पश्चिमी देशों के उपर्युक्त नेताओं ने ख्रुश्चेव को इस आशय के पत्र लिखे कि "चारों देशों के अध्यक्षों की बीच-बीच में एक-दूसरे के देश में शान्ति और सुस्थिरता बनाये रखने वाली प्रमुख समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए" मिलना वांछनीय है। ऐसा एक शिखर सम्मेलन पेरिस में २७ अप्रैल, १९६० को होना चाहिए। इसमें सम्मिलित होने के लिए ख्रुश्चेव को निमन्त्रण दिया गया। श्री ख्रुश्चेव ने यह उत्तर दिया कि प्रथम मई को मजदूरों के पवित्र पर्व में सम्मिलित होने के कारण उन्हें यह तिथि अनुकूल नहीं पड़ती, अतः या तो इसे २१ अप्रैल किया जाय या ४ मई रखा जाय। अन्त में १६ मई, १९६० को शिखर सम्मेलन किया जाना निश्चित हुआ।

शिखर सम्मेलन के अपशकुन—(क) जर्मनी की समस्या—शिखर सम्मेलन की तिथि निश्चित होते ही ऐसे विपरीत निमित्त या अपशकुन दिखाई देने लगे, जिनसे शिखर सम्मेलन द्वारा शीतयुद्ध की समाप्ति में सन्देह होने लगा। पहला अपशकुन जर्मनी का था। १४ जनवरी, १९६० को पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर आडेनौर ने ख्रुश्चेव को लिखे गये एक पत्र में यह आरोप लगाया कि रूसी बर्लिन पर हमला कर रहे हैं, शिखर सम्मेलन का मुख्य विषय जर्मनी नहीं, किन्तु निःशस्त्रीकरण की समस्या होनी चाहिए। ख्रुश्चेव ने इसका कटु उत्तर देते हुए कहा कि यदि पूर्व-पश्चिम की वार्त्ता ने बर्लिन की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं किया तो वह पूर्वी जर्मनी से पृथक् सन्धि कर लेगा, पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया के साथ उसकी सीमा का निर्धारण करेगा।"

फरवरी १९६० में बर्लिन में रूस ने एक नया संकट उत्पन्न किया। पूर्वी जर्मनी में विद्यमान पश्चिमी देशों के सैनिक मिशनों (Military missions) को दिये जाने वाले पास पूर्वी जर्मन सरकार के नाम से जारी किये गये, अब तक यह इस प्रदेश पर अधिकार (Occupations) रखने वाले सोवियत अधिकारियों द्वारा जारी किये जाते थे। इस नई व्यवस्था का प्रधान कारण यह था कि रूस इस प्रकार पश्चिमी देशों से पूर्वी जर्मनी की सरकार को तथ्यानुसार मान्यता (De facto recognition) दिलवाना चाहता था। सं० रा० अमेरिका ब्रिटेन और फ्रांस ने १९ फरवरी, १९६० को इस व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने विरोध पत्र सोवियत सैनिक अधिकारियों को भेजे। १४

मार्च को सोवियत संघ इस बात पर सहमत हो गया कि पश्चिमी देशों के सैनिक अधिकारियों का पूर्वी जर्मनी में यात्रा के लिए दिये जाने वाले पासों पर 'सोवियत अधिकार का क्षेत्र' (Zone of Soviet Occupation) लिखा रहेगा।

१६ मार्च को सं० रा० अमेरिका की यात्रा में जर्मन चान्सलर आडेनौर ने यह घोषणा की कि १६ मई को शिखर सम्मेलन होने से पूर्व ही पश्चिम बर्लिन में इस आशय का जनमतसंग्रह हो कि वे बर्लिन में वर्तमान स्थिति बनाये रखना चाहते हैं या नहीं। इस पर दूसरे पक्ष की ओर से यह कहा गया कि यह मतसंग्रह बर्लिन के दोनों भागों में हो।

जर्मन समस्या के अतिरिक्त शिखर सम्मेलन का दूसरा बड़ा अपशकुन यू–२ विमान के उड़ान की घटना थी।

यू–२ विमान कांड—यू–२ संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा विशेष रूप से तैयार किये गये ऐसे जेट वायुयान हैं, जो ६०–७० हजार फीट (१२–१३ मील) की ऊँचाई पर उड़ते हैं। ५ मई, १९६० को सुप्रीम सोवियत में भाषण करते हुए रूसी प्रधान मन्त्री श्री ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि गत १ मई को रूस के हवाई अड्डों की जासूसी करते हुए एक यू–२ अमेरिकन जहाज को नीचे गिरा लिया गया है. रूस के पास ठीक निशाने पर लगाये जाने वाले राकेट हैं, यह विशुद्ध डकैती (Banditry) का कार्य है, इससे पहले ९ अप्रैल को भी अमेरिका के एक जहाज ने सोवियत आकाश का अतिक्रमण किया था।

इस पर सं० रा० अमेरिका के विदेश विभाग ने यह उत्तर दिया कि १ मई से उनका एक असैनिक वायुयान लापता है. यह **राष्ट्रीय हवाई आकाश प्रबन्ध** (National Aerial Space Administration) विभाग का १० मील से अधिक ऊँचाई पर ऋतु सम्बन्धी सूचनाओं का अन्वेषण करने वाला वायुयान है। इसके चालक ने रेडियो द्वारा अन्तिम सन्देश यह भेजा था कि उसका आक्सीजन का यन्त्र खराब हो रहा है, सम्भवतः इसकी खराबी से चालक के बेहोश हो जाने पर यह जहाज रास्ता भटककर रूस की सीमा में पहुँच गया है। अमेरिकी विदेश विभाग के प्रवक्ता श्री लिंकन ह्वाइट ने इस कांड के सम्बन्ध में रूस के कथन को सर्वथा मिथ्या घोषित करते हुए कहा—"सोवियत आकाश का अतिक्रमण जान-बूझकर करने का कोई इरादा नहीं था और न ही कभी ऐसा किया गया है।" इसी समय सं० रा० अमेरिका ने एक नोट में रूस से इस घटना की तथा इसके चालक के सम्बन्ध में जानकारी माँगी। उस समय तक ख्रुश्चेव ने विमान चालक के सम्बन्ध में कोई बात नहीं बतायी थी और सम्भवतः सं० रा० अमेरिका ने चालक को मृत समझकर अथवा उसकी सुरक्षा की दृष्टि से रूस पर जासूसी हवाई उड़ान करने के आक्षेप का खण्डन किया।

किन्तु ६ मई को ख्रुश्चेव ने अपने दूसरे भाषण में यह रहस्य उद्घाटित करके जगत् को विस्मित और स्तब्ध कर दिया कि इसका चालक पावर्स जीवित है। उसने यह स्वीकार कर लिया है कि वह रूस के हवाई अड्डों और राडार स्टेशनों की सूचना और फोटो लेने भेजा गया था। चालक की इस स्वीकारोक्ति के बाद सं० रा० अमेरिका को यह स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा कि उसने जासूसी उड़ान के लिए हवाई

जहाज भेजा था।

८ मई को राष्ट्रपति आइजनहावर की स्वीकृति से निकाले गये विदेश विभाग के एक वक्तव्य में यह कहा गया कि सम्भवतः एक शस्त्रहीन असैनिक यू–२ विमान ने "लौह आवरण के पीछे छिपी सूचनाओं को प्राप्त करने के लिए सोवियत प्रदेश पर उड़ान की," किन्तु जहां तक वाशिंगटन के अधिकारियों का प्रश्न है, उन्होंने इसके लिए कोई आज्ञा नहीं प्रदान की। इसके बाद इस वक्तव्य में कहा गया था कि यह कोई रहस्य नहीं है कि सब देश इस प्रकार की सूचनाओं का संग्रह करते हैं। "सोवियत यूनियन द्वारा अपने प्रदेशों में अत्यधिक गोपनीयता रखने के कारण राष्ट्रीय रक्षा की दृष्टि से ऐसे कार्यों की आवश्यकता है। राष्ट्रपति आइजनहावर ने १९५५ में आकस्मिक आक्रमण की सम्भावना कम करने के लिए खुले आकाश (Open skies) का प्रस्ताव रखा था। "**आकस्मिक आक्रमणों की सम्भावना कम करने के लिए ही पिछले चार वर्षों** से स्वतन्त्र जगत् की सीमाओं पर यू–२ विमान उड़ान करते रहे हैं।" बाद में राष्ट्रपति आइजनहावर ने ११ मई को हवाई जासूसी उड़ानों को न्याय्य ठहराते हुए यह कहा कि 'पर्ल हार्बर' की पुनरावृत्ति रोकने के लिए ऐसी उड़ानें आवश्यक हैं।

इस बीच में ख्रुश्चेव ने अपने भाषणों और वक्तव्यों में सं० रा० अमेरिका पर प्रबल आक्षेप किये और भविष्य में ऐसी जासूसी के विरुद्ध राकेटों द्वारा कड़ी कार्यवाही करने की चेतावनी दी, उसने सं० रा० अमेरिका के मित्र देशों—पाकिस्तान, टर्की, नार्वे को कहा—"आग से मत खेलिए, यदि कोई वायुयान इन देशों के अड्डों से आया तो रूस अपने प्रक्षेपणास्त्रों द्वारा उनके हवाई अड्डे नष्ट कर देगा।" १० मई को सोवियत रूस ने सं० रा० अमेरिका को विमानकांड पर प्रबल प्रतिवाद-पत्र देते हुए इस उड़ान की घटनाओं का विस्तृत विवरण दिया—"१ मई को मास्को समय के अनुसार रात के १२ बजकर ३६ मिनट पर सं० रा० अमेरिका के एक यू–२ विमान ने सोवियत सीमा का अतिक्रमण किया। इसका चालक फ्रांसिस पावर्स था, यह सोवियत सीमा के भीतर २००० किलोमीटर चला गया, ४ घण्टे तक सोवियत प्रदेश में उड़ता रहा। इसका उद्देश्य सोवियत संघ की राडार पद्धति के तथा विमान-विरोधी पद्धति के तथा प्रक्षेपणास्त्रों को चलाने के अड्डों के हवाई फोटो लेना था। इसके लिए इस पर कैमरे आदि की पूरी व्यवस्था थी (इसके द्वारा लिए फोटो ख्रुश्चेव ने प्रदर्शित भी किये थे)। इसके चालक से पास जहाज को उड़ाने के मार्ग का मानचित्र था, इससे यह स्पष्ट था कि यह जहाज टर्की में अडाना के हवाई अड्डे से उड़कर पाकिस्तान में पेशावर आया। पेशावर से सोवियत सीमा में प्रविष्ट होकर अरालसागर, कुस्तानाइ का मध्य रूसी प्रदेश, चेलियाबिंस्क, स्वर्डलोवस्क, आर्केंजलस्क, मुरमांस्क होते हुए इसने नार्वे में बूडो नामक हवाई अड्डे पर उतरना था। किन्तु इसे बीच में ही स्वर्डलोवस्क के पास 'घर लाने वाले राकेट' (Homing Rocket) द्वारा नीचे गिरा लिया गया।[९] इसके चालक पर मुकदमा

९. इस राकेट में राडार की ऐसी व्यवस्था होती है कि जिस लक्ष्य पर इसे छोड़ा जाता है, उससे इसे निरन्तर संकेत मिलते रहते हैं और इन संकेतों के आधार पर यह राकेट या प्रक्षेपणास्त्र अपने लक्ष्य का स्वयमेव निरन्तर पीछा करता हुआ उसे पकड़ लेता है। इस प्रकार के

चलाया जा रहा है और उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है ।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि रूस ने अमेरिकी जासूस को रंगे हाथ पकड़कर इस घटना से बड़ा प्रचारात्मक लाभ उठाया। उसने इससे यह सिद्ध किया कि रूस शांति-प्रेमी है, किन्तु सं० रा० अमेरिका अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बढ़ाने वाली ऐसी घटनाओं के लिए उत्तरदायी है। अमेरिका के नाटो (Nato), सीटो (Seato), सैण्टो (Cento)[१०] आदि संगठनों का उद्देश्य रूस पर आक्रमण करना है। यू-२ विमान सेण्टो के दो देशों तुर्की तथा पाकिस्तान से होता हुआ आया था। उसका अन्तिम लक्ष्य नार्वे पहुँचना था। इस घटना से रूस को इन सब देशों पर दबाव डालने, इनके हवाई अड्डे नष्ट करने की चेतावनी देने का अवसर मिल गया है। यद्यपि अमेरिका ने इन्हें रक्षा का पूरा आश्वासन दिया है किन्तु फिर भी ये देश अब यह अनुभव करने लगे हैं कि यू-२ विमानों को अपने हवाई अड्डों में ठहराना उनके लिए भारी खतरा मोल लेना है। इसका सबसे बड़ा परिणाम शीतयुद्ध में तेजी आना है और इस घटना ने चिरप्रतीक्षित शिखर सम्मेलन की भ्रूणहत्या कर दी।

रूस ने पहले इस मामले को शिखर सम्मेलन में उठाने का प्रयत्न किया। इसके विफल होने पर सुरक्षा परिषद् में इस प्रश्न पर बहस हुई। इसमें जहां एक ओर रूसी प्रतिनिधि ग्रोमिको ने सं० रा० अमेरिका पर प्रबल आक्षेप किये, वहां दूसरी ओर अमेरिकन प्रतिनिधि हेनरी केबट लाज ने रूस द्वारा की जाने वाली जासूसी के मनोरंजक और अकाट्य प्रमाण दिये। २३ मई, १९६० को रूस के विदेश-मन्त्री ग्रोमिको ने सुरक्षा-परिषद् में सोवियत यूनियन के आकाश पर जासूसी के लिए भेजे जाने वाले हवाई जहाजों को विश्व-शांति को संकट में डालने वाली, सं० रा० संघ के मौलिक सिद्धान्तों का विरोध करने वाली कार्यवाही घोषित करते हुए सं० रा० अमेरिका की निन्दा का प्रस्ताव रखा। ग्रोमिको का यह कहना था कि इन जहाजों में उद्जन तथा अणुबम भी रखे जा सकते हैं, अतः यह आक्रामक कार्यवाही है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से सं० रा० अमेरिका ने सोवियत रूस की आकाशीय सीमा का उल्लंघन किया है। अतः उसकी इस कार्य के लिए निन्दा होनी चाहिए। सं० रा० अमेरिका के प्रतिनिधि केबट लाज ने रूसी आरोपों का उत्तर देते हुए कहा कि सं० रा० अमेरिका ने एक शस्त्र-हीन, एक इंजन वाला विमान भेज कर कोई आक्रामक कार्यवाही नहीं की। रूस ने छोटी-सी मामूली घटना को लेकर तिल का ताड़ और राई का पहाड़ बना दिया

राकेट अपनी सीमा में आये किन्तु अधिक ऊँचाई पर उड़ने वाले विमानों पर बमवर्षकों की अपेक्षा अधिक सफलता के साथ निशाना लगा सकते हैं। खुश्चेव के शब्दों में अब बमवर्षक वायुयान संग्रहालयों की वस्तु बन गये हैं, भावीयुद्ध प्रक्षेपणास्त्रों (missiles) या राकेटों द्वारा लड़े जायेंगे।

१०. देखिये पृ० २८४ सेण्टो बगदाद पैक्ट संगठन (देखिये पृ० ५८७) का नया नाम है। १४ जुलाई १९५८ को बगदाद और इराक में हुई क्रान्ति के बाद इराक इस संगठन से पृथक् हो गया है, अतः टर्की, ईरान, पाकिस्तान, इंगलैण्ड और सं० रा० अमेरिका के इस संगठन को २१ अगस्त, १९५९ को केन्द्रीय सन्धि संगठन या सेण्टो (Central Treaty Organisation or Cento) का नया नाम दिया गया है।

है। यह केवल जासूसी की घटना थी, ऐसी जासूसी सभी देश करते हैं। रूस ने दूसरे देशों में अपने जासूसों का जाल बिछाया है, स्तालिन की मृत्यु के बाद दूसरे देशों में रूस के ३५० जासूस पकड़े जा चुके हैं। अतः उसके मुँह से यह आरोप शोभा नहीं देता। रूस ने मास्को के दूतावास में जासूसी के लिए अमेरिकी राजदूत को सं० रा० अमेरिका की महामुद्रा की एक काष्ठ अनुकृति भेंट की, इसके अन्दर एक छोटा-सा यन्त्र लगा था, जो सब वार्त्तालाप सुनकर उसकी सूचना बेतार की तार द्वारा रूसियों को भेजा करता था। लाज ने इस महामुद्रा वाले यन्त्र को अपने भाषण के समय सुरक्षा परिषद् के सदस्यों को भी दिखाया। इसके बाद लाज ने आकस्मिक आक्रमण से रक्षा के आधार पर अमेरिकी कार्यवाही को न्यायोचित सिद्ध किया। ११ सदस्यों की सुरक्षा परिषद् में जब रूस द्वारा उपस्थित किये अमेरिका की निन्दा के प्रस्ताव पर वोट लिये गये तो पक्ष में केवल रूस और पोलैण्ड ने वोट दिये, ट्यूनिसिया और सीलोन तटस्थ रहे। किन्तु ६ अन्य सदस्यों ने इसके विरुद्ध वोट दिया, अतः निन्दा का यह प्रस्ताव २६ मई को रद्द हो गया। इसके स्थान पर लंका, अर्जण्टायना, इक्वेडोर और ट्यूनिसिया द्वारा पेश किया गया, इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार हो गया कि सब देशों की सरकारों को पूर्ण निःशस्त्रीकरण, अणु आयुधों के निरोध तथा आकस्मिक आक्रमण की सम्भावनाओं के विरोध के लिए प्रयत्न करना चाहिए, सब देशों को एक दूसरे की प्रभुता और प्रादेशिक अखण्डता तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का ध्यान रखना चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ाने वाला कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

विभिन्न देशों द्वारा दूसरे देशों की जासूसी करने की पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। कौटिलीय अर्थशास्त्र जैसे पुराने ग्रंथों में इसका विस्तृत वर्णन है। किन्तु आज तक किसी देश ने इसे अमेरिका की भांति स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया। सं० रा० अमेरिका ने न केवल उसे स्वीकार किया है, किन्तु उसका प्रबल समर्थन किया है। उसका सबसे बड़ा दोष रंगे हाथों पकड़े जाना है। उसका दृष्टिकोण उसके विदेश-मन्त्री श्री हर्टर के शब्दों में इस प्रकार है—"सं० रा० अमेरिका की सरकार सोवियत सहयोग के अभाव में यदि अपने-आप आकस्मिक आक्रमण के खतरे की सम्भावना कम करने के लिए ऐसे उपायों का अवलम्बन न करती तो वह न केवल अमेरिकी जनता के प्रति अपितु सब स्वतन्त्र देशों के प्रति अपने उत्तरदायित्व के पालन में उपेक्षा करती।"

शिखर सम्मेलन की विफलता—सोवियत प्रधानमन्त्री श्री निकिता ख्रुश्चेव ने १५ सितम्बर से २८ सितम्बर १९५९ तक की सं० रा० अमेरिका की यात्रा में तथा तीन दिन (२५-२७ सितम्बर) तक अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर के मेरीलैण्ड पहाड़ियों में अवस्थित निवास कैम्प डेविड में मैत्रीपूर्ण वार्त्तालाप करते हुए शीतयुद्ध की समाप्ति पर बहुत बल दिया। उसके मतानुसार प्रत्येक पक्ष को शान्ति की खोज में आधा रास्ता आगे बढ़कर दूसरे पक्ष के साथ मिलना चाहिए। आणविक शक्ति तथा राकेट विज्ञान का उपयोग शान्ति के लिए करना चाहिए। "अन्यथा विश्व राख और समाधियों से ढक जायगा।" रूसी प्रधानमन्त्री ने बर्लिन समस्या पर भी राष्ट्रपति से विशद वार्त्ता की। ख्रुश्चेव तथा आइजनहावर के प्रीतिपूर्ण वार्त्तालाप और आइजनहावर को रूस

आने का निमन्त्रण देने के बाद ऐसी आशा की जाने लगी कि चार बड़े राष्ट्रों (सं० रा० अमेरिका, सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस) के शासनाध्यक्षों का शिखर सम्मेलन बुलाया जाय तो वह बर्लिन, जर्मनी तथा निःशस्त्रीकरण की जटिल समस्याओं का समाधान करने में सफल होगा। फ्रेंच सरकार ने २१ अक्टूबर, १९५९ को यह घोषणा की कि वह शासनाध्यक्षों के सम्मेलन के सिद्धान्त का स्वागत करती है। २६ अक्टूबर को फ्रेंच प्रधानमन्त्री देब्रे ने इस सम्मेलन को १९६० के वसन्त में पेरिस में बुलाने का तथा इसके लिए आवश्यक तैयारी का सुझाव देते हुए यह कहा कि ख्रुश्चेव की सं० रा० अमेरिका की यात्रा इस दशा में पहला कदम है और उसका पूरा लाभ उठाना चाहिए। ३१ अक्टूबर, १९५९ को सुप्रीम सोवियत में रूस की विदेशी नीति पर प्रकाश डालते हुए श्री ख्रुश्चेव ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष दूर करने के लिए शिखर सम्मेलन को आवश्यक बताते हुए इसे जल्दी बुलाने पर बड़ा बल दिया। ख्रुश्चेव का कहना था—"शीतयुद्ध की बर्फ में पहली दरारें दीखने लगी हैं।" ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री मैकमिलन ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने के लिए शिखर सम्मेलन कराने का भगीरथ प्रयत्न किया। पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद यह निश्चय हुआ कि १६, मई १९६० को पेरिस में फ्रांस, रूस, ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका के शासनाध्यक्षों का सम्मेलन बुलाकर बर्लिन, जर्मनी, निःशस्त्रीकरण जैसी जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया जाय। १९५५ के बाद यह दूसरा शिखर सम्मेलन था।

शिखर सम्मेलन शुरू होने से ठीक पन्द्रह दिन पहले यू–२ विमान-कांड हो गया। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पुनः बढ़ने लगा और शिखर सम्मेलन की सफलता की आशा धूमिल होने लगी। फिर भी किसी को इसकी भ्रूणहत्या की आशंका नहीं थी। ख्रुश्चेव ने इस सम्मेलन के एक सप्ताह पूर्व सुप्रीम सोवियत के सदस्यों को कहा था कि सं० रा० अमेरिका के इस कार्य से उन्हें 'अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने के प्रयत्नों में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए। शिखर सम्मेलन में यू–२ का विषय नहीं उठाया जायगा।" फिर भी १६ मई को जब पेरिस में शिखर सम्मेलन की प्रारम्भिक बैठक हुई तो ख्रुश्चेव ने यू–२ कांड के लिए सं० रा० अमेरिका की तीव्र भर्त्सना करते हुए निम्न माँगें रखीं—(१) सं० रा० अमेरिका को अपने उत्तेजनात्मक कार्य की निन्दा करनी चाहिए, इसके लिए क्षमा माँगनी चाहिये, इस कार्य को बन्द करना चाहिए तथा इस काण्ड के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्डित करना चाहिए। (२) यदि ऐसा नहीं किया जाता तो सोवियत यूनियन शिखर सम्मेलन में सं० रा० अमेरिका के साथ वार्त्ता करना निरर्थक समझता है और वह इसमें भाग नहीं ले सकता। इस सम्मेलन को छः या आठ महीने के लिए स्थगित कर दिया जाय, ताकि यह सं० रा० अमेरिका में राष्ट्रपति के चुनाव के बाद जनवरी १९६१ में हो। श्री आइजनहावर ने इस बात का आश्वासन दिया कि यू–२ की घटना के बाद इन उड़ानों को 'स्थगित' कर दिया गया है और भविष्य में इन्हें शुरू नहीं किया जायगा, उनकी सम्मति में सम्मेलन का कार्य बन्द करने के लिए इस घटना को आड़ बनाना उचित नहीं था, किन्तु ख्रुश्चेव इस पर सन्तुष्ट नहीं थे, वे अपनी माँगों पर अडिग बने रहे। मैकमिलन और डिगाल ने भी ख्रुश्चेव को मनाने और

सम्मेलन का यह गतिरोध दूर करने के निष्फल प्रयत्न किये। १७ मई को सम्मेलन आरम्भ होने के समय आइक, मैकमिलन और डिगाल इसके लिए निर्धारित स्थान एलीसी प्रासाद में पहुँचे, २० मिनट तक ख्रुश्चेव की प्रतीक्षा करते रहे और सोवियत प्रधानमंत्री के न आने पर खेदपूर्वक यह घोषणा करनी पड़ी कि "श्री ख्रुश्चेव द्वारा अपनाए गये रुख के कारण शिखर सम्मेलन की वार्त्ता आरम्भ करना सम्भव नहीं है।" इस प्रकार इस सम्मेलन की भ्रूणहत्या हो गयी। इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों ने एक-दूसरे को दोषी ठहराया। ख्रुश्चेव का यह कहना था कि "हम सम्मेलन में ऐसे आक्रामक के साथ कैसे विचार-विमर्श कर सकते हैं, जिसने अपना अपराध ही नहीं स्वीकार किया। शिखर सम्मेलन को टारपीडो करने का सारा उत्तरदायित्व सं० रा० अमेरिका पर है।" दूसरी ओर अमेरिकन राष्ट्रपति का यह कहना था कि सं० रा० अमेरिका ने अपनी उड़ानें बन्द कर दी हैं, सोवियत प्रधानमंत्री का व्यवहार यह व्यक्त करता है कि वे मास्को से पेरिस केवल सम्मेलन को विफल बनाने के लिए ही आये थे।

ख्रुश्चेव द्वारा ऐसा रुख अपनाये जाने के सम्बन्ध में कई प्रकार की अटकल-बाजियां की गईं। यह कहा जाता था कि क्रेमलिन में कम्यूनिस्ट पार्टी की उग्र नीति समर्थक स्टालिनवादी पक्ष ने सोवियत प्रधानमन्त्री को यह मार्ग अपनाने के लिए विवश किया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री मैकमिलन के कथनानुसार १० या ११ मई को मास्को में कुछ ऐसी घटना घटी, जिससे शिखर सम्मेलन के प्रति ख्रुश्चेव के रुख में सहसा परिवर्तन आ गया, क्योंकि ९ मई को ब्रिटिश प्रधानमंत्री के नाम लिखे पत्र में ख्रुश्चेव ने शिखर सम्मेलन की सफलता पर बहुत बल दिया था। पिछले दिनों रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी में हुए परिवर्तन भी इसमें सहायक हुए। संभवत: चीन के माओ-त्से-तंग का भी भारी दबाव था, क्योंकि वे अमेरिका के प्रति उग्र नीति के समर्थक हैं और 'साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष बन्द करने के पक्ष में नहीं हैं।'

शिखर सम्मेलन की विफलता के कारण युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त तथा शीतयुद्ध का अन्त चाहने वाली समस्त मानव जाति को गहरी निराशा हुई। किन्तु इसमें सन्तोष की बात यही है कि अब ऐसे सम्मेलन का विचार सर्वमान्य हो गया है। श्री ख्रुश्चेव बार-बार यह घोषणा करते रहे हैं कि रूस अगले शिखर सम्मेलन को सफल बनाने का प्रयत्न करेगा। आइजनहावर के बर्लिन-विषयक मतभेद उग्र होने तथा अमेरिका के नये राष्ट्रपति का चुनाव निकट होने के कारण १९ मई, १९६० को ख्रुश्चेव ने पूर्वी बर्लिन में कहा था—"हम संधिवार्त्ता की प्रतीक्षा करेंगे। यदि अगला राष्ट्रपति हमारे साथ संधि-चर्चा नहीं करेगा तो हम उसके बाद चुने जाने वाले राष्ट्रपति की प्रतीक्षा करेंगे।" शिखर सम्मेलन भंग होते ही उन्होंने पहले यह धमकी दी थी कि रूस पूर्वी जर्मनी से पृथक् सन्धि कर लेगा। किन्तु २० मई को उन्होंने बर्लिन में यह घोषणा की कि यह सन्धि नये शिखर सम्मेलन के बाद होगी और रूस अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने का कोई कार्य नहीं करेगा।" उपर्युक्त विषम परिस्थिति में यही आशा की किरण थी।

१० अक्टूबर, १९६० को न्यूयार्क में एक टेलिविज़न कार्यक्रम में ख्रुश्चेव ने यह

कहा था—"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सब प्रकार के तनाव उत्पन्न होते हैं, किन्तु समय बीतने के साथ ऐसे सम्बन्धों की कटुता दूर हो जाती है। इसकी परवाह न कीजिये कि समुद्र कितना तूफानी है। तूफान के बाद सदैव शान्ति आती है। यही अन्ततोगत्वा यू-२ विमान की घटना के सम्बन्ध में होगा। इसकी जासूसी उड़ान एक शत्रुतापूर्ण कार्य था, किन्तु कुछ समय बाद यह तूफान शान्त हो जायगा।"

८ नवम्बर, १९६० को हुए अमेरिकी राष्ट्रपति के निर्वाचन में सीनेटर जान फिटजैरल्ड केनेडी की सफलता के बाद शीतयुद्ध की समाप्ति की आशा कुछ बढ़ गयी है। इस अवसर पर ख्रुश्चेव ने केनेडी को बधाई देते हुए लिखा था—"हमें आशा है कि जब तक आप इस उच्च पद पर हैं, दोनों देश पुनः उस नीति का अनुसरण करेंगे, जो राष्ट्रपति रूजवैल्ट के समय में विकसित हो रही थी। यह नीति न केवल सोवियत संघ और सं० रा० अमेरिका के मौलिक हितों की पूर्ति करती है, किन्तु नये युद्ध की आशंका से मुक्ति की आकांक्षा रखने वाली समूची मानव जाति भी इसी नीति को चाहती है।"... "हमें पूरा विश्वास है कि शान्ति के बनाये रखने और सुदृढ़ करने में कोई दुर्लंघ्य बाधाएं नहीं हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम तैयार हैं। हम अपनी ओर से ऐसा प्रयत्न जारी रखेंगे कि जिससे निःशस्त्रीकरण की समस्या का तथ्य शान्ति सन्धि करके जर्मनी की समस्या का समाधान हो और समूची अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में सुधार हो।" केनेडी ने १० नवम्बर को इस बधाई का उत्तर भेजते हुए यह लिखा कि राष्ट्रपति का पद सम्भालने के बाद उसका मुख्य कार्य "न्यायपूर्ण और स्थायी शान्ति" की स्थापना करना होगा। श्री केनेडी के कार्यकाल में शीतयुद्ध पर क्यूबा के संकट तथा आंशिक अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि ने बहुत प्रभाव डाला है।

क्यूबा का संकट—यह मध्य अमेरिका में वेस्ट इन्डीज़ का सबसे बड़ा टापू तथा दुनिया में सबसे अधिक गन्ना पैदा करने वाला देश है। यहां पहले संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे संविधान वाली तथा उसकी नीति की समर्थक सरकार थी। २ जून, १९५९ को फिडेल कास्ट्रो (Fidal Castro) के नेतृत्व में यहां क्रान्ति हुई, और नया शासन स्थापित हुआ। यह साम्यवादी रूस का समर्थक तथा अमेरिका का विरोधी है। अक्टूबर १९६२ को यहां ऐसा संकट उत्पन्न हुआ कि रूस और अमेरिका में विश्वयुद्ध छिड़ने की सम्भावना प्रतीत होने लगी।

इसका कारण यह था कि मास्को में ३ सितम्बर, १९६२ को यह घोषणा की गई कि रूस ने क्यूबा को शस्त्रास्त्रों की सहायता देना स्वीकार किया है ताकि वह साम्राज्यवादियों के संकट से अपने देश की रक्षा कर सके। ४ सितम्बर को राष्ट्रपति केनेडी ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया कि सरकार को यह सूचना मिली है कि सोवियत रूस ने क्यूबा को २५०० मील तक मार करनेवाली विमानभेदी प्रक्षेपणास्त्र (Anti-aircraft missiles), इनको संचालित करने वाले राडार के उपकरण, १००० मील तक प्रक्षेपणास्त्र फेंकने वाली पनडुब्बियां प्रदान की हैं, इनसे अमेरिका की सुरक्षा को भारी खतरा पैदा हो गया है। ७ सितम्बर को सं० रा० अमेरिका की कांग्रेस ने राष्ट्रपति को आवश्यकता पड़ने पर १½ लाख रिजर्व सैनिकों को सैनिक सेवा के लिए बुलाने का अधिकार दिया।

२२ अक्टूबर को राष्ट्रपति केनेडी ने अमेरिकन जनता के नाम रेडियो पर एक सन्देश प्रसारित करते हुए यह बताया कि क्यूबा के टापू में सोवियत रूस की सैनिक सहायता से ऐसे अड्डे बनाए जा रहे हैं जहां से १००० समुद्री मील की दूरी तक प्रहार करने वाले प्रक्षेपणास्त्र छोड़े जा सकें।

प्रक्षेपणास्त्रों के अड्डों से यह प्रकट होता था कि दो प्रकार के अड्डे बनाये जा रहे हैं। (१) पहले अड्डे मध्यम श्रेणी के प्रक्षेपणास्त्रों (Medium Range Ballistic missiles) के लिए हैं, इनसे १००० समुद्री मील की दूरी तक के स्थानों को आणविक आयुधों से नष्ट किया जा सकता है। क्यूबा में ये अड्डे स्थापित हो जाने पर सं० रा० अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन, पानामा नहर, केप कैनेवेरल, मेक्सिको नगर, सं० रा० अमेरिका के दक्षिणपूर्वी भाग के तथा मध्य अमेरिका तथा कैरिबियन सागर के किसी भी शहर या बस्ती को प्रक्षेपणास्त्र द्वारा नष्ट किया जा सकता था। (२) दूसरे प्रकार के अड्डे अन्तर्वर्त्ती क्षेत्र वाले प्रक्षेपणास्त्रों के (Intermediate range ballistic Missiles) लिए थे। इनका प्रभावक्षेत्र २००० से २४०० मील की दूरी तक का था और इनसे छोड़े गये प्रक्षेपणास्त्र उत्तर में हडसन की खाड़ी और कनाडा के नगरों को तथा दक्षिण में लीमा (पेरू) तक के नगरों और बस्तियों को नष्ट कर सकते थे। इसके साथ ही क्यूबा में इस समय रूसी जेट बमवर्षकों को लाने वाले बक्से खुल रहे और इनके लिए अड्डे तैयार हो रहे थे।

इस परिस्थिति में २३ अक्टूबर, १९६२ को अमेरिकन राष्ट्रपति केनेडी ने क्यूबा में राकेट अड्डों की स्थापना की निन्दा करते हुए क्यूबा की नाकेबन्दी (Quarantine) की घोषणा की। इसका यह आशय था कि सं० रा० अमेरिका के जहाज क्यूबा के सब बन्दरगाहों को घेर लेंगे तथा यहां के अड्डों को आणविक अस्त्रों से सुसज्जित करने वाली सामग्री नहीं उतरने देंगे। उस समय यह कहा जाता था कि कुछ रूसी जहाज ऐसी सामग्री क्यूबा ला रहे हैं। नाकेबन्दी का उद्देश्य इस सामग्री को क्यूबा में पहुँचने से रोकना है। इसके बाद केनेडी ने यह मामला सुरक्षा परिषद् में तथा अमेरिकन राज्यों के संघ (Organization of American States) में भी भेजा तथा क्यूबा में आक्रामक रण सामग्री के पहुँचने पर रोक लगाने की दृष्टि से यह घोषणा की कि क्यूबा जाने वाले जिन जहाजों पर ऐसा सामान लदा होगा, उन्हें वापिस किया जा सकेगा।

राष्ट्रपति केनेडी की इस घोषणा ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महान् संकट उत्पन्न किया। सं० रा० अमेरिका का यह कार्य रूस को प्रबल चेतावनी थी कि वह कास्ट्रो को सहायता देना बन्द करे। यदि रूसी प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ऐसा न करता तो युद्ध अनिवार्य था। सौभाग्यवश रूसी प्रधानमन्त्री क्यूबा से सोवियत प्रक्षेपणास्त्रों के अड्डे हटाने को तैयार हो गए। २८ अक्टूबर, १९६२ को ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि रूस ने क्यूबा में प्रक्षेपणास्त्रों के अड्डों को उखाड़ने की आज्ञा दे दी है। राष्ट्रपति केनेडी को ख्रुश्चेव ने एक पत्र में कहा कि आप जिस सामग्री को आक्रमणात्मक कह रहे हैं, उसे क्यूबा से उखाड़कर रूस वापस मँगा लिया जाएगा। इससे तृतीय विश्वयुद्ध को उत्पन्न करने वाले महान् संकट की समाप्ति हुई और अणुयुद्ध की आशंका से संत्रस्त मानव जाति ने

संतोष की साँस ली ।

क्यूबा के अन्तर्राष्ट्रीय संकट के बड़े व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम हुए । पहला परिणाम रूस और चीन के सैद्धान्तिक मतभेदों की खाई का चौड़ा होना था । इस समय यद्यपि रूस और चीन दोनों साम्यवादी गुट के महान् राष्ट्र हैं, किन्तु दोनों में कई सैद्धान्तिक मतभेद हैं, ख्रुश्चेव शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व (Peaceful Co-existence) की नीति में विश्वास रखते हैं, उनका यह मत है कि अणु-आयुधों के युग में युद्ध की चर्चा मानवता के विनाश का आह्वान करना है, यद्यपि अमेरिका पूंजीवादी देश है और हम साम्यवादी हैं, फिर भी नवीन परिस्थितियों में हमें शान्तिपूर्ण रीति से रहना चाहिए । इसके सर्वथा विपरीत चीन साम्यवाद के पुराने सिद्धान्त—युद्ध और क्रान्ति द्वारा पूंजीवाद के उन्मूलन—में दृढ़ विश्वास रखता है । वह अपनी ६०-७० करोड़ की विशाल जनसंख्या के कारण अणु-युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त नहीं है, उसका विश्वास है कि यदि अणु-युद्ध हुआ तो २० करोड़ की आवादी वाले रूस और अमेरिका को अधिक हानि होगी, यदि इसमें चीन के २० करोड़ व्यक्ति भी मरे तो उसकी पचास करोड़ आबादी बच जाएगी, जबकि उन दोनों देशों की जनसंख्या का सफाया हो जाएगा ।

अतः वह युद्ध द्वारा साम्यवाद के प्रसार का कोई अवसर नहीं छोड़ना चाहता । क्यूबा में अमेरिकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध रूसी साम्यवाद का संघर्ष था । चीन इसे उग्र बनाना चाहता था, किन्तु ख्रुश्चेव की नीति से यह संघर्ष समाप्त हो गया । चीन की दृष्टि से साम्यवाद के प्रति रूस की यह बहुत बड़ी गद्दारी थी । इससे चीन का क्षुब्ध होना स्वाभाविक था ।

दूसरा परिणाम चीन का भारत पर आक्रमण था । भारतीय साम्यवादी दल के नेता श्री डांगे ने 'न्यू एज' में भारत पर चीन के आक्रमण के कारणों की सूक्ष्म मीमांसा करते हुए यह कहा है कि क्यूबा का अन्तर्राष्ट्रीय संकट सितम्बर में शुरू हुआ, इसी समय चीन ने ८ सितम्बर से भारतीय प्रदेश में घुसना शुरू किया । यह संकट अक्तूबर में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया । चीन ने इसका लाभ उठाने के लिए २० अक्टूबर को भारतीय सीमा पर लद्दाख और उत्तरपूर्वी सीमान्त प्रदेश (नेफा) पर बड़े पैमाने पर आक्रमण आरम्भ कर दिया, उसका यह विचार था कि अमेरिका और रूस क्यूबा के संघर्ष में उलझे होंगे, भारत को पश्चिम से कोई सहायता नहीं मिल सकेगी । चीन के दुर्भाग्य से यह संघर्ष शीघ्र ही शान्त हो गया, नवम्बर तक क्यूबा-काण्ड की शान्तिपूर्ण समाप्ति हो गई । अतः अमेरिका तथा ब्रिटेन ने भारत को वायुयानों द्वारा विशाल परिमाण में रणसामग्री भेजना शुरू किया, रूस ने मिग विमान देना स्वीकार किया । अतः चीन ने भारत के आक्रमण में युद्ध-विराम करना उचित समझा । इस प्रकार क्यूबा के संकट में चढ़ाव-उतराव ने चीन की भारतीय नीति पर प्रभाव डाला । क्यूबा का संकट द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संभवतः सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय संकट था । इसके निवारण का श्रेय अमेरिकन राष्ट्रपति केनेडी की नीतिज्ञतापूर्ण दृढ़ता और अद्भुत नैतिक साहस को तथा ख्रुश्चेव के शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति एवं शान्ति में अगाध विश्वास को है । इस विषय में प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि यदि ख्रुश्चेव को अन्त में अमे-

रिका के सामने झुककर क्यूबा से अपने प्रक्षेपणास्त्र वापिस मँगाने थे तो इन्हें वहां भेजने के नाटक को करने की क्या आवश्यकता थी। इस प्रश्न का उत्तर तत्कालीन ब्रिटिश परराष्ट्रमंत्री लार्ड ह्यूम (Home) ने इस प्रकार दिया है कि सोवियत संघ ने क्यूबा में मध्यम एवं अन्तर्वर्त्ती श्रेणी के प्रक्षेपणास्त्रों को भेजने तथा इनके अड्डे स्थापित करने का कार्य इसलिए किया कि वह सं० रा० अमेरिका को इन अड्डों से घेरकर आणविक शक्ति की दृष्टि से अधिक शक्तिशाली हो जाय। इस समय ख्रुश्चेव ने ऐसा कार्य इस लिए किया कि वह पूर्व-पश्चिम की समस्याओं पर केनेडी से बातचीत करने वाला था। वह यह बातचीत समानता के स्तर पर न करके, अपने को अधिक शक्तिशाली बनाकर करना चाहता था, ताकि सं० रा० अमेरिका को वह अपनी शर्तें मनवाने के लिए बाधित कर सके। उन्हें यह विश्वास था कि सब अमेरिकन नगरों को अपने प्रक्षेपणास्त्रों का सुगम लक्ष्य बनाने के बाद वे अमेरिका से मनमानी रियायतें प्राप्त कर सकेंगे। यह वस्तुतः स्वतन्त्र जगत की, विशेषतः सं० रा० अमेरिका की कड़ी अग्नि-परीक्षा थी। सौभाग्यवश रूस की यह योजना दो कारणों से विफल हुई। इस योजना का भेद पूरा होने से पहले ही खुल गया और रूस तथा अमेरिका के शक्ति-सन्तुलन में कोई अन्तर नहीं आया। दूसरा कारण राष्ट्रपति द्वारा दृढ़ संकल्प और संयम का प्रदर्शन था।[११] यह भी कहा जाता है कि ख्रुश्चेव ने कास्ट्रो के अनुरोध पर क्यूबा की सं० रा० अमेरिका के आक्रमण से रक्षा के लिए यह रणसामग्री भेजी थी। ख्रुश्चेव ने सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत में दिसम्बर १९६२ में यही घोषणा की थी। मास्को ने इस संकट को चाहे किसी कारण उत्पन्न किया हो, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इसकी समाप्ति केनेडी की दृढ़ता एवं ख्रुश्चेव के विवेक और बुद्धिमत्ता से हुई और इसने शीत-युद्ध के वातावरण को समाप्त करने में बड़ा भाग लिया। १९६२ में इसने दोनों देशों के विरोध को कम किया तथा १९६३ में अणुपरीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि ने मास्को तथा वाशिंगटन में सौहार्दपूर्ण वातावरण उत्पन्न किया।

अणुपरीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (Nuclear Test Ban Treaty)—२५ जुलाई, १९६३ को सं० रा० अमेरिका, सोवियत संघ और ग्रेट ब्रिटेन ने मास्को में, वायुमण्डल में, बाह्य अन्तरिक्ष में तथा समुद्र में अणुपरीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाने वाली सन्धि पर हस्ताक्षर किये। १९५५ की आस्ट्रिया की शान्ति-सन्धि के बाद पूर्व-पश्चिम का यह सबसे बड़ा समझौता था। इस पर २५ जुलाई, १९६३ को रूस की ओर से ग्रोमिको, अमेरिका की ओर से श्री हैरीमैन तथा इंगलैण्ड की ओर से लार्ड हैल्शम ने हस्ताक्षर किये और यह घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव घटाने तथा शान्ति को सुदृढ़ करने की दिशा में यह पहला बड़ा पग है। ५ अगस्त, १९६३ को तीनों देशों के विदेश-मन्त्रियों ने विधिपूर्वक इस सन्धि पर हस्ताक्षर किए। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों ने भूमि के भीतर किये जाने वाले (Underground) अणु-परीक्षणों के अतिरिक्त सभी प्रकार के ऐसे परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाना स्वीकार किया। १७ देशों की १६ महीने से चल

---

११. रिचर्ड पी० स्टैन्बिन्स—दी युनाइटिड स्टेट्स इन वर्ल्ड अफेयर्स १९६२, पृ० ६६

रही निःशस्त्रीकरण वार्त्ता का यह पहला ठोस परिणाम था और इसने दोनों देशों में शीतयुद्ध की समाप्ति में बड़ा सहयोग दिया है।

यह पाँच धाराओं की छोटी-सी, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में असाधारण महत्त्व रखने वाली संधि है। इसकी प्रस्तावना में तीनों देशों ने यह घोषणा की है कि उनका प्रधान उद्देश्य "सं० रा० संघ के लक्ष्यों के अनुसार कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में एक सामान्य और पूर्ण निःशस्त्रीकरण का समझौता यथासम्भव शीघ्र ही कराना है, जिससे शस्त्रास्त्रों के उत्पादन और निर्माण की होड़ बन्द हो सके। अतः इसकी **पहली** धारा में तीनों देशों ने यह निश्चय किया कि वे अपने अधिकार-क्षेत्र और नियन्त्रण में विद्यमान किसी भी प्रदेश के वायुमण्डल में, इसकी सीमाओं से बाह्य अन्तरिक्ष में प्रादेशिक अथवा महासमुद्रों के जल में कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे और ऐसे सब विस्फोटों को रोक देंगे। इसकी **दूसरी** धारा में इस संधि में संशोधन करने की व्यवस्था की गई है। कोई भी सरकार इसमें सशोधन का प्रस्ताव रख सकती है और हस्ताक्षर करने वालों में से यदि एक-तिहाई इसके पक्ष में हों तो इन संशोधनों पर विचार हो सकता है। **तीसरी** धारा में यह कहा गया है कि इस संधि पर सब देश हस्ताक्षर कर सकते हैं। हस्ताक्षर करने वाले देश इस पर अपनी संसद या राष्ट्रीय परिषद् से इसकी पुष्टि (Ratifications) प्राप्त करेंगे और उन्हें रूस, अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन के पास इन संपुष्टियों को जमा कराना पड़ेगा। **चौथी** धारा में यह कहा गया है कि यह संधि अनन्तकाल (unlimited duration) के लिए है। किन्तु हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक देश को यह अधिकार होगा कि वह अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हुए उस समय अपने को इस सन्धि की बाध्यता से मुक्त करले, जब वह यह निर्णय करे कि इस संधि के साथ सम्बन्ध रखने वाली ऐसी असाधारण घटनाएं घटित हुई हैं कि इनसे उस देश का सर्वोच्च हित संकट में पड़ गया। इस अवस्था में यह देश इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाले अन्य देशों को तीन महीने पहले इसका नोटिस देकर इससे पृथक् हो सकता है। यही इसकी पृथक् होने वाली धारा (Escape Clause) कहलाती है। यदि फ्रांस या चीन अपने अणुपरीक्षण जारी रखते हैं और इनसे भारत की या किसी अन्य देश की राष्ट्रीय सुरक्षा संकट में पड़ती है तो वे इस संधि पर हस्ताक्षर करने पर भी इससे पृथक् हो सकते हैं। **पाँचवीं** धारा में यह कहा गया है कि इस संधि के रूसी भाषा तथा अंग्रेजी के दोनों रूप समान रूप से प्रामाणिक समझे जायेंगे।

इस संधि में भूमिगत (Underground) परीक्षणों के अतिरिक्त स्थल, जल और आकाश में किये जाने वाले परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। भूमिगत परीक्षणों पर इस लिए प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है कि इन परीक्षणों को पकड़ने के लिए इनकी जांच करने की कोई सन्तोषजनक तथा सर्वसम्मत विधि अब तक नहीं निकल सकी तथा रूस ने इस बात का घोर विरोध किया कि इन परीक्षणों की जांच विस्फोट के स्थान पर जाकर की जाय। इससे अमेरिका को रूस के प्रदेश में जाकर अणुपरीक्षणों के स्थानों का निरीक्षण करने का अधिकार प्राप्त हो जाता। यह रूस के लिए अभीष्ट नहीं था। अतः उसने इसका विरोध करते हुए यह कहा कि ये निरीक्षण बेकार हैं क्योंकि

अब ऐसे यन्त्र बन चुके हैं जो दूरवर्ती स्थानों की भूमि के भी भीतर होने वाले विक्षोभों की हलचल को अंकित करते रहते हैं। सं० रा० अमेरिका का यह विचार था कि भूमि के अन्दर किये जाने वाले आणविक विस्फोटों को भूचाल के धक्कों (Earth tremors) से पृथक् करना संभव नहीं है।

अन्य देशों में से इस संधि पर सबसे पहले भारत ने हस्ताक्षर किए। अब तक इस पर १०२ देश हस्ताक्षर कर चुके हैं। फ्रांस और चीन ने इस पर हस्ताक्षर नहीं किये। फ्रांस के राष्ट्रपति डिगाल का यह कहना था कि वह अपने आणविक परीक्षणों को तभी बन्द करेगा, जब सं० रा० अमेरिका तथा सोवियत संघ अपने अणु आयुधों को नष्ट कर देंगे। चीन ने इस संधि का विरोध करते हुए रूस पर यह आरोप लगाया कि उसने सं० रा० अमेरिका के साथ इस चीनविरोधी सन्धि द्वारा अपने तथा साम्यवादी देशों के हितों को बलिदान कर दिया है। उत्तरी कोरिया तथा उत्तरी वियतनाम इस विषय में चीन के समर्थक हैं।

ख्रुश्चेव ने इस संधि पर हस्ताक्षर के समय कुछ अन्य प्रस्ताव रखे। पहला प्रस्ताव सेना पर किये जाने वाले भारी बजटों में कटौती का था। दूसरा प्रस्ताव पूर्वी तथा पश्चिमी जर्मनी के दोनों ओर सेनाओं की संख्या में कमी करना था। तीसरा प्रस्ताव नाटो तथा वारसा पैक्ट के देशों के मध्य अनाक्रमण समझौते का था। अंतिम प्रस्ताव पश्चिमी देशों से पूर्वी जर्मनी को स्वतन्त्र राष्ट्र स्वीकार कराने की चाल थी, पश्चिमी राष्ट्र ख्रुश्चेव के इस जाल में नहीं फंसे।

अमेरिकन राष्ट्रपति केनेडी ने इस संधि के सीनेट द्वारा स्वीकार किये जाने के लिए अपने संदेश में इसके पक्ष में निम्न युक्तियां दी थीं—(१) यह संधि विश्व की शान्ति को बढ़ाने वाली तथा आणविक शस्त्रों की प्रतियोगिता को रोकने वाली है। (२) यह पृथ्वी के वायुमण्डल को आणविक विस्फोटों से उत्पन्न होनेवाले दूषित एवं हानिप्रद तत्त्वों से बचायगी। (३) यह सं० रा० अमेरिका के हितों को सुरक्षित करने वाली है क्योंकि वह यदि कभी यह समझता है कि उसके हितों को इससे हानि पहुँचने की संभावना है तो वह इस संधि से पृथक् हो सकता है। (४) इससे अमेरिका की आणविक आयुधों की प्रगति में कोई बाधा नहीं पहुँचती क्योंकि वह भूमिगत परीक्षणों द्वारा इसका विकास कर सकता है। (५) यह संधि सं० रा० अमेरिका के लिए लाभदायक है, क्योंकि इस समय वह आणविक आयुधों की दृष्टि से रूस से आगे है और अब अणु-परीक्षणों पर रोक लग जाने के कारण इस विषय में उसकी श्रेष्ठता बनी रहेगी। (६) इस संधि के न होने से पहले दोनों पक्षों के परीक्षणों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, इस स्थिति में सं० रा० अमेरिका के जितने खतरे थे, वे इस संधि के बाद चोरी से किए जाने वाले परीक्षणों से होने वाले खतरों से बहुत कम हैं। यह सन्धि १८ वर्ष से अमेरिका द्वारा आणविक आयुधों की होड़ पर प्रतिबन्ध लगाने वाला पहला सफल प्रयत्न है।

राष्ट्रपति केनेडी ने २६ जुलाई, १९६३ को अमेरिकन जनता के नाम एक भाषण में इस संधि को मानव जाति की विजय तथा युगों से मनुष्य द्वारा शान्ति के लिए किए जाने वाले प्रयास में ऐतिहासिक चिह्न कहा था और इस संक्षिप्त संधि का मूल्यांकन करते

हुए कहा था—"यह सन्धि आणविक युद्ध के संकट को दूर नहीं करती, यह आणविक आयुधों की विशाल संख्या को कम नहीं करेगी, यह आणविक आयुधों के उत्पादन को कम नहीं करेगी, यह युद्ध में उनके उपयोग पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगायेगी । फिर भी यह सीमित संधि आणविक परीक्षणों को बहुत कम कर देगी ।......यह सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा इस पर हस्ताक्षर करने वाले सभी देशों को वायुमण्डल में वे अणुपरीक्षण करने से रोकेगी, जिनसे मानव जाति संत्रस्त और भयभीत है और यह सारे विश्व को आशा का प्रतीक प्रदान करने वाली है। ... यह संधि सतयुग (millenium) लाने वाली नहीं है।......यह संघर्षों को कम नहीं करेगी ।......किन्तु यह एक महत्त्वपूर्ण पहला पग है—शान्ति की ओर विवेक की दिशा में तथा युद्ध से विपरीत दशा में ।......आज या कल का युद्ध यदि आणविक युद्ध हो तो इतिहास में अब तक हुए सब युद्धों से भिन्न होगा । आणविक आयुधों की पूरे जोर से चलने वाली ३० मिनट की गोलाबारी ३० करोड़ अमेरिकनों, योरोपियनों, रूसियों तथा अन्य असंख्य व्यक्तियों को नष्ट कर सकती है और ख्रुश्चेव ने साम्यवादी चीनियों को चेतावनी दी है कि इस युद्ध के बाद बचने वाले मृत व्यक्तियों के भाग्य पर ईर्ष्या करेंगे क्योंकि वे विस्फोटों, विषों और अग्नि से विध्वस्त ऐसी दुनिया पायेंगे, जिसके (Horrors) की हम कल्पना भी नहीं कर सकते ।......इस समय एक अणुबम द्वितीय विश्वयुद्ध में फेंके गये सभी बमों से अधिक हानि पहुँचा सकता है । अतः चार आणविक शक्तियों का बहुत बड़ा दायित्व है कि आणविक आयुधों के प्रसार को रोकें ।......यह सन्धि इस दिशा में सराहनीय प्रयास है ।"[१२]

इस संधि के साथ ही सं० रा० अमेरिका तथा सोवियत संघ में सीधा टेलीफोन और रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता (U. S. Soviet Hot line Agreement) हुआ । इसका उद्देश्य क्यूबा जैसे संकटों के समय दोनों देशों में सीधा सम्पर्क स्थापित करके गलती से या आकस्मिक घटना से छिड़ने वाले युद्ध के संकट का निवारण करना था ।

राष्ट्रपति केनेडी के समय इन समझौतों से शीतयुद्ध के तनाव में बड़ी कमी हुई थी। उनकी हत्या (२२ नवम्बर, १९६३) के बाद उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति जानसन ने अपने शासनकाल में केनेडी की इस नीति को जारी रखा है ।

सोवियत रूस की विदेशनीति (१९४५–१९६३)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत रूस की विदेशनीति को दो कालों में विभक्त किया जा सकता है—अगस्त १९४५–मार्च १९५३ में स्तालिन की मृत्यु तक का पहला काल, (२) मार्च १९५३ से अब तक की नयी नीति । यह नीति मुख्य रूप से अमेरिकी नीति के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है । इसकी अधिकांश घटनाओं का विस्तृत वर्णन पिछले प्रकरण में हो चुका है, अतः यहां इन दोनों कालों में रूस की नीति

---

१२. कीसिंग्स आर्काइव्ज १९६३, पृ० १९५५४

के प्रमुख उद्देश्यों और प्रधान विशेषताओं पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा।

पहला काल (अगस्त १९४५–मार्च १९५३)—इस काल में सोवियत विदेश नीति का प्रधान सूत्रधार मार्शल स्तालिन था। उसकी पश्चिम के प्रति उग्र एवं कठोर नीति के कारण शीतयुद्ध उसकी मृत्यु तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। युद्ध समाप्त होने पर सोवियत यूनियन की स्थिति कई दृष्टियों से पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। पश्चिम में उसकी लाल सेनाएं मध्य योरोप तक के प्रदेश पर अधिकार किये बैठी थीं। पश्चिम और पूर्व में उसके दो बड़े शत्रु जर्मनी और जापान नष्ट हो गये थे। पश्चिमी योरोप की आर्थिक दुर्दशा के कारण जनता में बड़ा असन्तोष था। सरकारें अस्थिर थीं, इनमें कम्यूनिज्म के प्रसार की बड़ी सम्भावना थी, एशिया तथा अफ्रीका में योरोपियन साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रबल विद्रोह और तीव्र असन्तोष था। ब्रिटिश, फ्रेंच, डच साम्राज्य क्षीण एवं विनाशोन्मुख थे। रूस के साम्यवाद के प्रबल विरोधी पश्चिमी पूंजीपति राष्ट्र युद्ध से विध्वस्त, आर्थिक दृष्टि से अस्तव्यस्त और नाना प्रकार की घरेलू समस्याओं के कारण निर्बल एवं क्षीण हो चुके थे। रूस के लिए अपना प्रभाव बढ़ाने का, साम्यवाद को विश्वव्यापी बनाने का स्वर्ण अवसर था। मोलातोव ने ६ नवम्बर, १९४७ को यह ठीक ही कहा था "हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें सब सड़कें साम्यवाद की ओर ले जाने वाली हैं।"

स्तालिन का यह मत था कि इस समय पश्चिमी देशों पर डाला गया प्रबल दबाव साम्यवाद के प्रसार में सहायक होगा। अतः इस समय उसने सर्वत्र उग्र, आक्रमणात्मक अग्रगामी नीति का अनुसरण किया। इसके अनुसार मध्य पूर्व में टर्की और ईरान पर दबाव डालने, यूनान के गृह-युद्ध में भाग लेने, कोमिन्फार्म बनाने, चैकोस्लोवाकिया में कम्यूनिस्ट शासन स्थापित करने, बर्लिन का घेरा डालने, (पृ० ३७७) सं० रा० संघ में अमेरिका के साथ संघर्ष करने, फरवरी १९५० में कम्यूनिस्ट चीन के साथ समझौता करने और कोरिया के युद्ध की उसकी नीति पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। इस समय स्तालिन ने तीन बातों पर बल दिया—(१) प्रादेशिक विस्तार (२) साथी राज्यों पर राजनीतिक प्रभुता की स्थापना (३) विरोधी देशों में तोड़-फोड़ के कार्य। स्तालिन की युद्धोत्तर विदेशनीति की प्रधान विशेषताएं निम्न-लिखित थीं।

(१) पूर्वी योरोप में सोवियत प्रभुता का विस्तार—द्वितीय विश्वयुद्ध में नात्सी आक्रमण से बुरी तरह विध्वस्त होने के कारण रूस अपने पश्चिमी सीमान्त को इस तरह सुदृढ़ बनाना चाहता था कि भविष्य में ऐसी घटना की पुनरावृत्ति न हो सके। इसके लिए यह आवश्यक था कि वह पूर्वी योरोप में अधिक से अधिक प्रदेश प्राप्त करे और अपनी सीमाओं के साथ लगने वाले राज्यों में अपने अनुकूल साम्यवादी सरकारें स्थापित करे। इन्हें स्थापित करने में उसे अपनी लालसेना से बड़ी सहायता मिली। अस्थायी रूप से लालसेना ने युद्ध के समय मध्य और पूर्वी योरोप के बड़े भाग पर अधिकार कर लिया था, अब शनैः शनैः इन सीमाओं को स्थायी बना दिया गया। १९३९ से सोवियत रूस ने अपने क्षेत्रफल में २७ करोड़ ४० लाख वर्गमील की वृद्धि की। अपनी सीमा पर

उसने ३६ करोड़ वर्ग मील वाले क्षेत्र में मास्को के सात पृष्ठपोषक राज्य—पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, हंगरी, अल्बानिया, बल्गारिया और रूमानिया स्थापित किये। पूर्वी जर्मनी भी उसके संरक्षण में है। यूगोस्लाविया कुछ समय तक सोवियत गुट में रहने के बाद टीटो-स्तालिन मतभेद के कारण जून १९४८ में इससे पृथक् हो गया। इनसे सोवियत यूनियन को न केवल पश्चिमी सीमा की सुरक्षा प्राप्त हुई है, किन्तु इन देशों की आर्थिक साधन सम्पत्ति भी मिली है। जर्मनी के एकीकरण के पश्चिमी प्रस्ताव उसे इसीलिए स्वीकार नहीं हैं कि इनसे उसे मध्य योरोप में २०० मील पीछे पूर्व की ओर हटना पड़ेगा।

(२) **विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार**—साम्यवाद का एक मौलिक सिद्धान्त समूचे विश्व में साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रसार तथा पूंजीवाद का उन्मूलन है। मार्क्सवाद के मतानुसार पहले विश्वयुद्ध ने रूस में साम्यवाद को उत्पन्न किया और दूसरा विश्वयुद्ध अन्य देशों में वर्तमान बूर्जुआ राज्यों की समाप्ति करने वाला था। इस क्रान्ति में अग्रणी का कार्य मास्को को करना था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद त्रातस्की के विश्वक्रान्ति के विचार का जोसेफ स्तालिन ने स्वयमेव उग्र विरोध किया था (देखिये पृष्ठ २१३)। किन्तु अब वह इसका सुदृढ़ समर्थक था। इसे दूसरे देशों में फैलाने के लिए सभी प्रकार के उपायों का अवलम्बन किया गया। यूनान के कम्यूनिस्टों को गृह-युद्ध में पड़ोसी कम्यूनिस्ट देशों—अल्बानिया, बल्गारिया और यूगोस्लाविया ने सहायता की। थर्ड इण्टरनेशनल (पृ० २१०) की विश्वव्यापी क्रान्ति के कार्यों को करने के लिए १९४७ में वारसा में एकत्रित यूगोस्लाविया, बल्गारिया, रूमानिया, हंगरी, पोलैण्ड, रूस, फ्रांस, चैकोस्लोवाकिया और इटली की कम्यूनिस्ट पार्टियों के नेताओं ने बेलग्रेड में साम्यवादी सूचना संस्थान या कोमिन्फार्म (Communist Information Bureau—Cominform) की स्थापना की। इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में विभिन्न देशों की केन्द्रीय साम्यवादी दलों की केन्द्रीय समिति के दो प्रतिनिधि होते थे, इसका कार्य "पारस्परिक सहमति के आधार पर कम्यूनिस्ट पार्टियों के कार्य में समन्वय स्थापित करना था।" कोमिन्फार्म की स्थापना के घोषणापत्र में यह कहा गया था कि सं० रा० अमेरिका ने पिछला युद्ध 'विश्व की मण्डियों में प्रतियोगिता की समाप्ति के लिए लड़ा था', किन्तु रूस ने इसे "योरोप में लोकतन्त्र के पुनर्निर्माण तथा सुदृढ़ बनाने" के लिए लड़ा था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस का लक्ष्य पूर्व में और पश्चिम में अपने राज्य का विस्तार, सब सीमाओं पर अपने समर्थक राज्यों की सरकारें स्थापित करना, पुराने बूर्जुआ साम्राज्यों का विध्वंस तथा अपने नए सोवियत साम्राज्य का साम्यवादी विचारधारा के आधार पर निर्माण था।

(३) **पश्चिम का विरोध और शीतयुद्ध की उग्रता**—स्तालिन को पूंजीवादी पश्चिमी राष्ट्रों पर घोर सन्देह और अविश्वास था। युद्ध के समय यद्यपि चर्चिल, स्तालिन और रूजवैल्ट ने हिटलर को हराने में सहयोगपूर्ण नीति से काम लिया, किन्तु युद्ध समाप्त होते ही दोनों के उग्र मतभेद प्रकट हो गए। ये मुख्य रूप से प्रायः सभी युद्धोत्तर समस्याओं से सम्बन्ध रखते थे—जैसे जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली आदि शत्रुराज्यों के साथ सन्धियों की शर्तें, इटली के उपनिवेशों का और लीग के मैण्डेट वाले प्रदेशों का बँटवारा,

जर्मनी के निःशस्त्रीकरण और एकीकरण की समस्या, पश्चिमी देशों और रूस के 'स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र' सम्बन्धी विचारों का मौलिक अन्तर, क्षतिपूर्ति, मध्यपूर्व में प्रभुता पाने के लिए दोनों पक्षों में तीव्र प्रतिद्वन्द्विता। इस समय सोवियत यूनियन का यह विश्वास था कि पश्चिमी राष्ट्र उसके उन्मूलन का षड्यन्त्र करने में लगे हुए हैं। रूस की दृष्टि में ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, बर्लिन के घेरे के समय दी गई हवाई सहायता, जापान और जर्मनी का पुनः शस्त्रीकरण, शूमैन तथा प्लेवन योजनाएं, कोरिया का युद्ध, रूस के प्रति पश्चिम के घोर विरोध और उग्र शत्रुता के प्रमाण थे। इनके कारण वह उसके प्रति अत्यन्त सन्देहशील हो गया। अतएव वह पश्चिम की प्रत्येक कार्यवाही और गतिविधि का विरोध करने लगा, दोनों में शीतयुद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई।

(४) लौह आवरण (Iron Curtain) **की नीति**—पश्चिम के प्रति घोर सन्देह के कारण स्तालिन यह समझने लगा कि पश्चिम सोवियत यूनियन में कम्यूनिस्ट शासन को दुर्बल बनाने और उखाड़ फेंकने का प्रयत्न कर रहा है। उसके इस उद्देश्य को विफल बनाने का सर्वोत्तम उपाय रूस के चारों ओर इस प्रकार का लौह आवरण स्थापित करना है कि इसके भीतर कोई पश्चिमी प्रभाव प्रवेश ही न कर सके। स्तालिन सोवियत यूनियन तथा गैर-साम्यवादी देशों के मध्य किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहता था क्योंकि यह समझा जाता था कि रूसियों तथा विदेशियों के पारस्परिक सम्पर्क उस पर प्रतिकूल प्रभाव डालेंगे। १९४५ से बाह्य जगत् के साथ रूस के सम्पर्क को रोकने के लिए अनेक कानून बनाये जाने लगे। युद्ध के समय रूस में आए विदेशी सैनिकों के साथ अनेक रूसी स्त्रियों ने विवाह किया था, अब इनके अपने पतियों के पास विदेश जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। मोलोतोव ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा—"स्त्रियाँ बहुत अधिक बात करती हैं" और रूसी स्त्रियों का कर्तव्य "सोवियत सरकार के लिए सन्तान उत्पन्न करना है, न कि विदेशी सरकारों के लिए।" इसी प्रकार एक अन्य कानून द्वारा विदेशियों के साथ सोवियत नागरिकों के विवाहों को निषिद्ध बना दिया गया। जो सोवियत राजदूत पर्याप्त समय तक दूसरे देशों में रहते हुए विदेशियों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बना लेता था, उसे वापिस बुलाकर अन्य कार्यों में लगा लिया जाता था, घनिष्ठता बढ़ाने के लिए उसकी भर्त्सना की जाती थी। मास्कोस्थित विदेशी राजदूतों को सोवियत यूनियन में स्वतन्त्र रूप से घूमने फिरने की स्वतन्त्रता नहीं थी, वे निश्चित स्थानों पर निश्चित अधिकारियों से ही वार्तालाप कर सकते थे। गैर-कम्यूनिस्ट देशों के व्यक्तियों को रूस आने की आज्ञा बहुत कम दी जाती थी और रूसियों का रूस से बाहर जाना भी बहुत सीमित कर दिया गया था। विदेशी पत्रसंवाददाताओं पर बड़े कड़े प्रतिबन्ध थे, १९५१ में चैकोस्लोवाकिया में अमेरिका के ऐसोशियेटेड प्रेस के सम्वाददाता विलियम ओटिस की तथा १९५० में हंगरी में अमेरिकी व्यापारी राबर्ट वोगलर की गिरफ्तारी ने भलीभांति यह स्पष्ट कर दिया कि स्तालिन और उसके साथी स्टैटिन से ट्रीस्टे तक रूस में तथा विदेशी गैर-कम्यूनिस्ट जगत् के बीच एक ऐसा लौह आवरण बनाए रखना चाहते हैं, जिसे भेद कर बूर्जुआ राष्ट्रों से सामान्य

रूप से कोई व्यक्ति सोवियत यूनियन में प्रविष्ट न हो सके।

(५) **शान्तिवादी आन्दोलन**—द्वितीय विश्वयुद्ध में अपरिमेय जन-धन की क्षति उठाने वाले सोवियत यूनियन ने इस समय आणविक आयुधों तथा अणुबमों के आतंक से पीड़ित मानवता के परित्राण के लिए शान्ति आन्दोलन पर बहुत बल दिया और पूंजीवादी पश्चिम को युद्ध-लोलुप (War monger) कहकर उसे बदनाम करना शुरू किया। १५ से १९ मार्च, १९५० तक स्टाकहोल्म में हुई विश्व-शान्ति समिति की अपील में अणुबमों पर पाबन्दी लगाने के सम्बन्ध में कहा गया था—"हम इस बात की माँग करते हैं कि मानव-जाति के सामूहिक उन्मूलन और आतंक के अस्त्र के रूप में आणविक आयुधों पर बिना किसी शर्त के प्रतिबन्ध लगना चाहिए। हम इसकी माँग करते हैं कि इस पर कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाय। हम उस सरकार को युद्धापराधी समझेंगे, जो किसी देश के विरुद्ध पहली बार इस शस्त्र का प्रयोग करेगी।" इस अपील पर कुछ समय के भीतर ५० करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराए गए। १९४८ में पोलैण्ड के व्रोत्स्लाफ (Wroclaw) नामक नगर में बुद्धिजीवियों का पहला शान्ति सम्मेलन बुलाया गया और इसके बाद अगले वर्ष इसके पेरिस, प्राग, लन्दन, मास्को, मैक्सिको में अनेक सम्मेलन हुए तथा 'विश्व शान्ति समिति' की स्थापना हुई। कम्यूनिस्टों ने इस आन्दोलन में सब देशों के मजदूरों, स्त्रियों, बच्चों से सहयोग माँगा, इन्होंने जहाज से सामान उतारने वाले श्रमिकों में यह प्रचार किया कि अमेरिका से शस्त्रास्त्रों को लाने वाले जहाजों से माल न उतारा जाय और हड़ताल कर दी जाय। पिछले दस वर्षों में प्रचार की दृष्टि से यह आन्दोलन बहुत सफल हुआ है, पश्चिमी राष्ट्रों की साधारण जनता ने तथा एशिया और अफ्रीका की विशाल जनसंख्या ने इसका समर्थन किया है और इस कारण इन देशों में साम्यवाद लोकप्रिय हुआ है।

पश्चिमी देशों का यह कहना है कि रूस का शान्तिवाद का आन्दोलन निरा ढोंग है, यह तटस्थ तथा गैर-कम्यूनिस्ट देशों को अपनी ओर आकृष्ट करने तथा अपना समर्थक बनाने का सोवियत कूटनीति का चातुर्यपूर्ण दाँव है, रूस केवल अपने वचनों से मौखिक रूप में शान्तिवाद के प्रति सहानुभूति प्रकट करता है, क्रियात्मक रूप से इसके लिए कुछ नहीं करता। स्तालिन की मृत्यु पर्यन्त रूस की यह आलोचना सर्वथा उपयुक्त थी, उसके बाद रूसी नेताओं ने शान्ति स्थापित करने और समझौते के वस्तुतः कुछ कार्य किए, इनका आगे उल्लेख होगा।

स्तालिन की विदेशनीति के दुष्परिणाम—स्तालिन की मृत्यु (५ मार्च, १९५३) तक उसकी अग्रगामी, गतिशील, पश्चिम के साथ उग्र विरोध, लौह आवरण तथा समझौता विरोधी की नीति के दुष्परिणाम भलीभाँति प्रकट हो गए। इस नीति का अनुसरण करने पर पूर्वी योरोप में सोवियत प्रभुता की तथा रूस के पक्षपाती राज्यों की स्थापना हुई, यूनान के गृहयुद्ध में कम्यूनिस्टों की सहायता की गई, टर्की पर वास्फोरस और दर्रे दानियाल के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में मांत्र (Montreaux) का समझौता बदलने के लिए दबाव डाला गया। मार्शल योजना की सहायता लेना अस्वीकार कर दिया गया, ईरान से सोवियत सेनाओं के हटाने में देर लगाई गई, टीटो को मास्को के गुट से निकाला

गया, कोरिया और हिन्दचीन में युद्ध हुए। मास्को की इस आक्रामक विदेशनीति से आतंकित और भयभीत, सं० रा० अमेरिका तथा पश्चिमी राष्ट्रों ने रूस का बढ़ता हुआ प्रभाव रोकने तथा कम्यूनिज्म के प्रसार के विरोध के लिए अनेक उपाय किए। ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, डन्कर्क, ब्रूसेल्ज सन्धियां, नाटो (NATO), पश्चिमी योरोप की एकता के लिए बनाये गए अनेक संगठन स्तालिन की कठोर नीति का प्रभावशाली प्रत्युत्तर थे। १९४५–४७ तक योरोप की स्थिति स्तालिन के लिए बहुत अनुकूल थी, किन्तु १९५३ तक वह ऐसी नहीं रही। इसमें परिवर्तन आने का मुख्य कारण स्तालिन नीति की उपर्युक्त घटनायें थीं। मध्यपूर्व के टर्की तथा यूनान में हस्तक्षेप के कारण इस समय रूस को यहां वैसी ही बदनामी मिली, जैसी बाद में आइजनहावर सिद्धान्त के प्रयोग से अमेरिका को मिली (पृ० ३७२)। रूस ने पश्चिम के तीव्र वैमनस्य के कारण इस समय तटस्थ देशों के प्रति विरोध की नीति का अनुसरण किया, क्योंकि जो रूस के कट्टर समर्थक नहीं थे, उन्हें वह अपना शत्रु समझता था। उदाहरणार्थ भारत को उसकी तटस्थता के कारण स्तालिन का रूस अपना विरोधी मानता था। १९५२ में विशिंस्की ने श्री कृष्ण मेनन को कहा था—"अच्छे से अच्छे रूप में तुम सपने लेने वाले आदर्शवादी हो, बुरे से बुरे रूप में तुम अपनी स्थिति नहीं जानते और भयंकर अमेरिकी नीति के प्रच्छन्न समर्थक हो।" इसी कारण इस समय रूसी विश्वकोष में भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन को तथा महात्मा गांधी को पूंजीवाद का समर्थक बताया गया था। इस कठोर नीति के कारण, भारत जैसे तटस्थ देशों में उसके प्रति सहानुभूति कम हो गई। टीटो को मास्को समर्थक गुट से पृथक् किये जाने के कारण सोवियत क्षेत्र के अन्य राज्यों में राष्ट्रवादी साम्यवाद (National Communism) की प्रवृत्तियां प्रबल हुईं, इसकी अभिव्यक्ति १९५६–५७ में पोलैण्ड तथा हंगरी के उपद्रवों में हुई। रूस में लौह आवरण कठोरतापूर्वक लागू कर देने से अन्य देशों में इसके प्रति सन्देह और अविश्वास की भावनाएं उत्पन्न हुईं। स्तालिन की नीति से रूस को पूर्वी योरोप में प्रभाव-वृद्धि के अतिरिक्त कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। यह नीति न केवल विश्वक्रान्ति के लिए अन्य देशों में अनुकूल वातावरण बनाने में असमर्थ रही, किन्तु इसने इसके लिए प्रतिकूल और विरोधी वातावरण उत्पन्न किया। यह सोवियत गुट के समर्थकों की संख्या और शक्ति बढ़ाने में सर्वथा विफल हुई। स्तालिन की मृत्यु पर्यन्त (५ मार्च, १९५३) इस नीति में परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं थी, किन्तु उसके दिवंगत होते ही इसमें परिवर्तन आने लगे।

रूसी विदेशनीति का दूसरा काल

स्तालिन की मृत्यु के बाद की रूसी विदेशनीति—उपर्युक्त कारणों से अब रूसी विदेशनीति में बड़ा परिवर्तन आया, पश्चिमी एवं गैर-कम्यूनिस्ट देशों के प्रति विरोध की उग्रता और कठोरता में कमी हुई। स्तालिन की अन्त्येष्टि के समय उसके उत्तराधिकारी मालेन्कोव ने अपने भाषण में यह घोषणा की कि "लेनिन और स्तालिन की शिक्षाओं के अनुसार साम्यवादी और पूंजीपति देशों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व

(Peaceful Co-existence) स्थापित करने के लिए प्रबल प्रयत्न किया जायगा।" १५ मार्च, १९५३ को उसने सर्वोच्च सोवियत के अधिवेशन में अपने भाषण में कहा—"सोवियत विदेशनीति का संचालन व्यापार की वृद्धि और शान्ति को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से किया जायगा। कोई ऐसा विवाद नहीं है, जिसे शान्तिपूर्वक हल न किया जा सकता हो। यह सिद्धान्त सं० रा० अमेरिका सहित विश्व के सब देशों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" अब तक पश्चिम के विरुद्ध उग्र विषवमन करने वाले विशिंस्की ने सं० रा० संघ की असेम्बली की एक बैठक में भाषण देते हुए पश्चिम से यह कहा कि वह "मित्रता की सुरंग में आधे रास्ते तक आगे बढ़कर रूस" से मिले। इसके साथ ही पश्चिमी देशों के विरुद्ध रूस द्वारा किये जाने वाले विरोधी प्रचार की उग्रता में कुछ कमी कर दी गयी।

नयी नीति का परिणाम यह हुआ कि अक्टूबर १९५२ से चले आने वाले कोरिया युद्ध का गतिरोध समाप्त हुआ। १० अप्रैल, १९५३ को पानमुनजोन में रुग्ण एवं घायल युद्धबन्दियों का समझौता होने से यह युद्ध बन्द हो गया। आस्ट्रिया के साथ संधि हुई। टर्की और जर्मनी के प्रति मृदु नीति अंगीकार की गयी। फिनलैण्ड के सैनिक अड्डे खाली किये गये। १,८०,००० सोवियत सेना घटायी गयी, हिन्दचीन की समस्या का हल हुआ, जापान के साथ युद्ध की स्थिति समाप्त की गयी, उसके तथा पश्चिमी जर्मनी के साथ दौत्य संबन्ध स्थापित किये गए। यूगोस्लाविया के साथ मतभेदों को दूर किया गया, सोवियत रूस ने आणविक आयुधों के प्रतिबन्ध के प्रस्ताव रखे, १ अप्रैल १९५८ से कुछ समय के लिए अणुबमों के विस्फोट बन्द कर दिये। लौह आवरण शिथिल किया गया। यात्रा की कूटनीति (Travel Diplomacy) का श्रीगणेश हुआ, सोवियत रूस के उच्च नेता दूसरे देशों की यात्रा करके उन देशों से सद्भावना और मैत्री बढ़ाने लगे, शासनाध्यक्षों के सम्मेलनों (Summit Conferences) पर बल देने लगे। १८ अप्रैल, १९५६ को कोमिन्फार्म को भंग किया गया। इन सब कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी हुई। १९५३ से १९५६ तक शीतयुद्ध की प्रखरता में मन्दता आयी, किन्तु इसके बाद हंगरी (पृ० २९७) और स्वेज (पृ० २९३) की घटनाओं से यह पुनः प्रखर होने लगा। संक्षेप में स्तालिन के बाद की राजनीति पहले की अपेक्षा कुछ उदार, मृदु, उन्मुक्त, कठोर बन्धनों को शिथिल बनाने वाली, पश्चिम के प्रति कुछ कम विरोध तथा अधिक समझौता करने वाली थी। पहले अस्पष्ट और बाद में स्पष्ट शब्दों में सोवियत नेताओं ने स्तालिन की व्यक्तित्व-पूजा (Cult of Personality) की तथा कठोर दमन की नीति की भर्त्सना की। १४ फरवरी, १९५६ को ख्रुश्चेव ने अपने सुप्रसिद्ध भाषण में स्तालिन की नीति पर प्रकाश डालते हुए यहां तक कहा कि यदि उसे और बुल्गानिन को कभी स्तालिन बुलाता था तो उन्हें यह विश्वास नहीं होता था कि वे सकुशल अपने घर लौट सकेंगे। अब व्यक्ति-पूजा के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व (Collective leadership) की नीति ग्रहण की गयी। स्तालिन को देवता के पद से गिराते हुए सब विषयों में उसके प्रभाव और सिद्धान्तों को हटाने की निस्तालिनीकरण (Destalinization) की नीति ग्रहण की गयी। इसकी प्रधान विशेषताएं निम्नलिखित थीं :—

(१) लौह आवरण में शिथिलता, यात्राओं की कूटनीति—इस समय दूसरे देशों के साथ सम्पर्क बढ़ाने की नयी नीति ग्रहण की गयी। सोवियत यूनियन के विभिन्न सांस्कृतिक, संसदीय शिष्टमण्डल दूसरे देशों में जाने लगे और दूसरे देशों के ऐसे मण्डलों को अपने देशों में बुलाया जाने लगा। स्तालिन बाह्य देशों के साथ सम्पर्क का विरोधी था, वह संभवतः केवल एक बार तेहरान सम्मेलन के समय अपने देश से बाहर गया था और युद्ध सम्मेलनों में ही उसकी भेंट चर्चिल तथा रूज़वेल्ट से हुई थी। किन्तु अब सोवियत रूस के नये नेताओं ने दूसरे देशों का सद्भाव और मैत्री प्राप्त करने के लिए इनकी यात्रा आरम्भ की, दूसरे देशों के नेताओं को अपने यहां आने का निमन्त्रण दिया। जून १९५५ में हमारे देश के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू रूस गये और वहां उनका भव्य स्वागत किया गया। २० जून से ५ जुलाई, १९६० तक भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने रूस की यात्रा की। यह स्थिति स्तालिन के रूस में सर्वथा अकल्पनीय थी। श्री नेहरू के निमन्त्रण पर सोवियत प्रधानमन्त्री श्री बुल्गानिन और साम्यवादी दल के महामन्त्री निकिता ख्रुश्चेव नवम्बर-दिसम्बर, १९५५ में भारत आये। इससे दोनों देशों में सद्भाव और मैत्री की वृद्धि हुई। अप्रैल १९५६ में ये दोनों नेता ग्रेट ब्रिटेन गये। १९५९ के आरम्भ में प्रथम उपसोवियत प्रधानमन्त्री श्री मिकोयन ने १५ दिन तक अपने प्रबल विरोधी समझे जाने वाले सं० रा० अमेरिका की यात्रा की (४ जनवरी-२० जनवरी १९५९)। १७ जनवरी को राष्ट्रपति आइजनहावर द्वारा अमेरिका ने १९४५ में मोलोतोव के बाद पहली बार ह्वाइट हाउस में किसी रूसी राजनीतिज्ञ का स्वागत किया। मिकोयन ने दोनों देशों के व्यापार की वृद्धि पर बल देते हुए 'शीतयुद्ध' के स्थान पर 'शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता' (Peaceful Competition) पर बल दिया और स्वदेश वापिस लौटने पर ३१ जनवरी, १९५९ को सोवियत कम्यूनिस्ट पार्टी के २१ वें अधिवेशन में मास्को में कहा कि उसने अमेरिकी राजनीतिज्ञों के साथ वार्त्तालाप में सोवियत साम्यवाद के 'निरोध' (Containment), 'पीछे धकेलने' (Roll back) तथा साम्यवाद की दासता से 'मुक्ति' (Liberation) की कोई चर्चा नहीं सुनी। १५ सितम्बर से २८ सितम्बर, १९५९ तक सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव द्वारा की गयी सं० रा० अमेरिका की यात्रा का पहले उल्लेख किया जा चुका है। फरवरी-मार्च १९६० में ख्रुश्चेव ने दक्षिण पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों—भारत, बर्मा, इंडोनीशिया, अफगानिस्तान की यात्रा की, इन देशों के २० लाख व्यक्तियों ने उसका दर्शन किया और भाषण सुने। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस प्रकार की यात्राओं से दोनों देशों में सौहार्द बढ़ा और तनाव कम हुआ। इसके अतिरिक्त इस समय में रूसी नेताओं ने शासनाध्यक्षों के शिखर सम्मेलन बुलाने पर बार-बार बल दिया। ऐसा एक सम्मेलन जुलाई १९५५ में जेनीवा में हुआ, इसने हिन्द चीन की समस्या का हल किया। दूसरा सम्मेलन मई १९६० में हुआ, इसकी चर्चा पहले हो चुकी है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण हल—स्तालिन की नीति से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गतिरोध उत्पन्न हो गया था, क्योंकि दोनों पक्ष विवादास्पद विषयों में तनिक भी झुकने या समझौता करने को तैयार न थे। कोरिया की विराम संधि की

वार्त्ता का प्रश्न अक्टूबर १९५२ से लटका चला आ रहा था। यह १० अप्रैल, १९५३ को युद्धबन्दियों के प्रश्न पर समझौता होने से हल हो गया। युद्ध के बाद से आस्ट्रिया के साथ संधि नहीं हो सकी थी। अब इसके साथ संधिपत्र पर अन्य मित्रराज्यों के साथ १५ मई, १९५५ को रूस ने हस्ताक्षर कर दिये। पहले यह बताया जा चुका है कि युद्ध के बाद रूस ने तुर्की पर बासफोरस तथा दर्रे दानियाल जलडमरूमध्य अपने अधिकार में लाने के लिए बड़ा दबाव डाला था। अब उसने यह घोषणा की कि उत्तम पड़ोसी के सम्बन्ध बनाये रखने के लिए वह अंकारा से अपनी प्रादेशिक माँगें वापिस ले रहा है। यूगोस्लाविया के साथ मतभेद दूर किये गये, उसके, यूनान के तथा इज़राइल के साथ दौत्य सम्बन्ध पुन: स्थापित किये गये। शिखर सम्मेलन (जुलाई १९५५) में हिन्दचीन के प्रश्न का शान्तिपूर्ण निपटारा हुआ।

(३) **आर्थिक सहायता की नीति का श्रीगणेश**—अमेरिका ने अल्पविकसित देशों के विकास के लिए आर्थिक सहायता नीति का आरम्भ ट्रूमैन सिद्धान्त तथा मार्शल योजना से किया था, स्तालिन के साम्यवादी सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक विकास की अपेक्षा प्रचार और तोड़-फोड़ के कार्यों पर धनराशि का विनियोग अधिक लाभदायक था। किन्तु नई विदेशनीति ने दूसरे देशों में साम्यवाद के प्रसार के लिए अमेरिका का अनुसरण करते हुए आर्थिक सहायता की नीति ग्रहण की। अफगानिस्तान, भारत, बर्मा, मिस्र में रूस इस नीति का प्रयोग कर रहा है। उदाहरणार्थ भारत को रूस भिलाई में इस्पात का कारखाना तैयार करने में सहायता दे रहा है। १९५८ के अन्त तक भारत को रूस से ३० करोड़ डालर का ऋण मिल चुका था। विदेशी ऋणों में यह सं० रा० अमेरिका के बाद सबसे अधिक है। सं० रा० अमेरिका का ऋण मुख्य रूप से भारत की सामुदायिक विकास योजनाओं, खाद्यान्नों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए है। किन्तु रूस का ऋण स्थूल रूप में तथा स्थायी रूप से दिखाई देने वाले भिलाई के कारखाने, भारी मशीनों के कारखानों के तथा दवाइयां बनाने के कारखानों के लिए है। सोवियत वैज्ञानिक भारत में तेल के अनुसन्धान का कार्य कर रहे हैं। अत: सोवियत सहायता सं० रा० अमेरिका की सहायता को अपेक्षा न्यून होते हुए भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण, प्रचारात्मक और प्रभावशाली है। बर्मा को दिसम्बर १९५५ में बुलगानिन और ख्रुश्चेव की तथा अप्रैल १९५६ में मिकोयन की यात्रा के बाद रूस ने ३ करोड़ डालर एक प्राविधिक संस्था, एक चिकित्सालय, एक होटल, एक स्टेडियम बनाने के लिए दिये हैं। इंडोनीशिया को मास्को ने ३·६० लाख पौण्ड का ऋण दिया है। मिस्र को १९५८ में रूस ने ६५ विभिन्न योजनायें पूरी करने के लिए आवश्यक धनराशि ऋणों के रूप में प्रदान की है। १५ अप्रैल, १९५८ को वहां १५ प्राविधिक प्रशिक्षण संस्थाएं मास्को के सहयोग से स्थापित करने का निश्चय हुआ है। ७ अप्रैल, १९५८ के एक दूसरे समझौते में मिस्र ने डेढ़ लाख टन रूसी गेहूँ के बदले उससे अपनी व्यापारिक वस्तुओं का विनिमय करने का समझौता किया है। वाल्टर लिप्पमैन ने इस नीति के सम्बन्ध में यह सत्य ही लिखा है—"पहले रूस ने आणविक आयुधों पर पश्चिम के एकाधिपत्य का भंग किया है, अब वह अल्पविकसित देशों का आर्थिक नेतृत्व ग्रहण करके

पश्चिम के आर्थिक एकाधिकार को तोड़ने लगा है।"

(४) **दूसरे देशों के प्रति शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व** (Peaceful Coexistence) **की नीति**—पहले रूसी विदेशनीति का मुख्य सिद्धान्त था, जो हमारे मित्र और कम्यूनिस्ट नहीं हैं, वे हमारे शत्रु हैं। इस नीति के अनुसार संसार के सब राष्ट्र कम्यूनिस्ट और गैर-कम्यूनिस्ट देशों के दो वर्गों में बँटे हुए थे। गैर-साम्यवादी देशों की पूंजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन उसका प्रधान लक्ष्य था। नई नीति के अनुसार गैर-कम्यूनिस्टों को एक नहीं, किन्तु तीन वर्गों में बाँटा गया है—(१) संयुक्त राज्य अमेरिका, (२) अमेरिका के समर्थक और सहयोगी, (३) तटस्थ देश, जैसे भारत, इंडोनीशिया, बर्मा, मिस्र, सीरिया, यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान, स्विटजरलैण्ड। पहले रूस दुनिया में दो ही रंग के फूल देखता था—लाल और सफेद। अब वह इसमें लाल, पीले, नीले, हरे सभी प्रकार के फूल देखता है। पहले उसकी नीति लाल रंग के फूलों के सिवाय सब तरह के फूलों के समूलोन्मूलन की थी, अब वह शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व (Peaceful Coexistence) की नीति में विश्वास प्रकट करने लगा है। प्रसिद्ध चीनी साम्यवादी नेता माओत्से-तुंग के शब्दों में उद्यान में हर रंग के फूल खिलने चाहिएं, इसी में उसकी श्रीवृद्धि है। मिकोयन ने अपनी पिछली अमेरिकी यात्रा में सहअस्तित्व पर बड़ा बल दिया था।

किन्तु सहअस्तित्व की नीति अपना लेने पर भी मास्को अपने विरोधी राज्यों में फूट डालने और द्वैधीभाव की नीति बरतने का कोई अवसर नहीं चूकता। उसका सदैव यह प्रयत्न रहता है कि नाटो शक्तियों में मतभेद उत्पन्न हों और यह संगठन दुर्बल हो। वह पश्चिमी जर्मनी को एकीकरण का दाना फेंक कर उसे नाटो से पृथक् करना चाहता है, फ्रांस को जर्मनी से भयभीत कर दोनों की एकता भंग करने का प्रयास करता है। सुदूरपूर्व में जापान को सुविधाएं देकर अमेरिका-जापान मैत्री भंग करने का इच्छुक है।

(५) **उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध**—सोवियत रूस योरोपियन राष्ट्रों के तथा अमेरिका के साम्राज्यवाद का उग्र विरोधी है। सं० रा० संघ में तथा अन्यत्र वह सर्वदा साम्राज्यवादी शक्तियों की घोर निन्दा करता है। इन्हें स्वतन्त्र बनाने के सभी प्रस्तावों तथा आन्दोलनों का प्रबल समर्थक है। इससे उसे दोहरा लाभ है—एक तो साम्राज्यवाद से पीड़ित करोड़ों एशिया तथा अफ्रीकावासियों की सहानुभूति उसे प्राप्त होती है, इन देशों में साम्यवाद को लोकप्रिय बनाने में सहायता मिलती है। दूसरा लाभ यह है कि इन साम्राज्यों के विघटन से उसके प्रबल एवं कट्टर शत्रु पूंजीपति पश्चिम की प्रभुता क्षीण होती है।

नई नीति का मूल्यांकन—क्या सोवियत विदेशनीति की उपर्युक्त विशेषताएं उसमें आने वाले मौलिक परिवर्तनों को सूचित करती हैं? स्तालिन द्वारा प्रतिपादित नीतियों का विरोध और निस्तालिनीकरण (De-Stalinization) स्थायी है अथवा अस्थायी? क्या रूस में विश्वक्रान्ति का उत्साह शिथिल हो गया है, जो उसने शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को अपनाना शुरू किया है? क्या वास्तव में उसमें उदारवाद की प्रवृत्तियां प्रबल हो गई हैं?

इन सब प्रश्नों का यथार्थ उत्तर भविष्य ही देगा। अभी इन प्रवृत्तियों को क्रिया-

न्वित हुए बहुत कम समय हुआ है। अतः इनका सही मूल्यांकन सम्भव नहीं है। फिर भी विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक मनोरंजक कल्पनाएं की हैं। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक टायनबी ने उपर्युक्त नीति की व्याख्या के लिए कम्यूनिज्म की इस्लाम के साथ तुलना की है। उसका कहना है कि कम्यूनिज्म इस्लाम की भांति उग्र प्रचारक, सैनिकवादी आन्दोलन है, जिस प्रकार अनेक देशों को जीतने और जनताओं को मुसलमान बनाने के बाद इस्लाम का उत्साह शिथिल हो गया था और उसने अन्य धर्मों के साथ समझौता कर लिया था, वैसे ही कम्यूनिस्टों का जोश मन्द पड़ रहा है, उन्होंने दूसरे देशों के साथ मित्रतापूर्वक रहने के लिए शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति ग्रहण की है।

किन्तु राबर्ट श्रौत्स हुपे (Robert Strausz-Hupe) टायनबी का खण्डन करते हुए कहता है—"इस्लाम के उत्साह में मन्दता कई शताब्दियों बाद लाखों व्यक्तियों को मुसलमान बनाने और मारने के बाद, विरोधी शक्तियों के प्रबल होने से आयी थी। कम्यूनिज्म में अभी ऐसी कोई अवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती।" इस समय बर्न्ज़ और फ्लोरिंस्की का यही मत अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है कि इनसे सोवियत रूस की मौलिक नीति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आया। उदारवाद (Liberalism) की प्रवृत्ति अल्पकालिक थी। जिस प्रकार स्तालिन के समय अनेक बार शुद्धियां (Purges) होती थीं, बड़े नेताओं की पदावनति होती थी, यही स्थिति रूस में अब भी है। स्तालिन का परम विश्वासपात्र बेरिया मौत के घाट उतारा जा चुका है, स्तालिन की मृत्यु के बाद प्रधानमन्त्री बनने वाला मालेन्कोव कजाखस्तान के एक बिजलीघर का संचालक बना दिया गया है, दूसरा प्रधानमन्त्री बुलगानिन स्तावोपोल के प्रदेश की आर्थिक परिषद् का अध्यक्ष है, इसी प्रकार शेपिलोव तथा कागानोविच की भी भारी पदावनति हुई है। रूसी विदेशनीति का प्रमुख ध्येय पूंजीवादी समाज और वातावरण का उन्मूलन है, इसमें कोई परिवर्तन आने की सम्भावना नहीं है।

प्रश्न

1. What was the Truman Doctrine ? When and under what circumstances was it enunciated ? Would you agree with the view that the Truman Doctrine is the modern version of the Monroe Doctrine ? (Agra Uni. 1957, B.H. U. 1955)
2. 'The conflict between the two monolithic giants of the modern world is the dominant reality of the contemporary world politics'. Discuss the principal causes of friction between the U. S. A. and U. S. S. R. and suggest any remedies or solution for them. (Agra Uni. 1954)
3. Sketch briefly the part played by the U. S A. in International affairs since 1939. What are the international aims of the U. S A. at the present time ? (Agra Uni. 1953)
4. Every manifestation of the Soviet policy during the postwar period (1945-50) has made it clear that the Soviet Government of Stalin is pursuing precisely the same objectives that were

envisaged by Nicholas I and Alexander II. Do you agree ? Give reasons in support of your answer. (Agra Uni. 1952)

5. Give a critical analysis of Soviet diplomacy during the Second World War. (B. H. U. 1958)
6. Give a short resume of the 'Cold War' between 1947 and 1953. (B. H. U. 1957)
7. Discuss in brief the problem of the reunification of Germany. (B. H. U. 1957)
8. Estimate the strength and influence of the imperialist motive in the policy of the United States today. (B. H.U. 1956)
9. Give a brief account of the achievements and failures of post-Stalin diplomacy of the Soviet Union. (B. H. U. 1957)
10. Trace the origin and growth of the conflict between the United States of America and the U. S. S. R. after the World War II. (Raj. Uni. 1955)
11. Under what set of conditions was the Truman Doctrine enunciated ? Do you agree with the view that it is the modern version of the Monroe Doctrine ? (Agra Uni. 1960)
12. Give a critical sketch of the foreign policy of Russia since 1945. (Raj. 1960)
13. 'Conflict between two monolithic giants of the modern world is the dominant reality of the contemporary world politics'. Discuss the principal causes of friction between U. S. A. and the U. S. S. R., and suggest remedies or solutions if any. (Raj. Uni. 1960)
14. Write a short note on the Truman Doctrine. (Raj. Uni. 1960)

दसवां अध्याय

स्वतन्त्र भारत की विदेशनीति

विदेशनीति के आदर्श—१५ अगस्त, १९४७ को स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सब देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की, महाशक्तियों के परस्पर विरोधी गुटों (Blocs) से पृथक् रहने की तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाये रखने की नीति का अनुसरण किया है। इसे प्राय: पार्थक्य (Isolation) की, विभिन्न शक्तियों के साथ सैनिक समझौतों में संबद्ध न होने के कारण असंलग्नता (Non-alignment) की तथा असंश्लिष्टता (Non-entanglement) नीति कहा जाता है। यह मुख्य रूप से भारतीय संविधान में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सम्बन्ध में राज्य द्वारा पालन किये जाने वाले निर्देशों के अनुरूप है। संविधान की धारा ५१ में इस विषय में नीति का निर्देश करते हुए चार आदर्शों का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार राज्य निम्न बातों के लिए प्रयत्न करेगा—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की वृद्धि। (ख) राष्ट्रों में न्यायपूर्ण और सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना। (ग) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति तथा विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में संधियों के पालन के प्रति सम्मान बढ़ाना (घ) मध्यस्थता (Arbitration) द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के निपटारे को प्रोत्साहित करना। इनके अतिरिक्त भारतीय नेताओं ने बारम्बार यह घोषणा की है कि वे उपनिवेशवाद (Colonialism) और साम्राज्यवाद के उग्र विरोधी हैं, इनका शिकार बने देशों के लिए स्वतन्त्रता के समर्थक हैं। इसके साथ ही वे जातीय भेदभाव (Racial Discrimination) का भी उच्छेद करना चाहते हैं। दिसम्बर १९४८ में कांग्रेस पार्टी के विदेशनीति सम्बन्धी प्रस्ताव में इसके आधारभूत सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए कहा गया था—"ये सिद्धान्त विश्वशान्ति की वृद्धि, राष्ट्रों की स्वतन्त्रता, जातीय समानता और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की समाप्ति हैं। कांग्रेस कई पीढ़ियों से उपनिवेशवाद के विभिन्न रूपों से पीड़ित होने वाले एशिया तथा अफ्रीका के देशों की स्वतन्त्रता के लिए विशेष रूप से उत्सुक है। विश्वशान्ति और सहयोग के कार्य को बढ़ाने के उद्देश्य से भारत सं० रा० संघ में सम्मिलित हुआ है। भारत की विदेशनीति का निरन्तर यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह सब देशों के साथ मित्रतापूर्ण तथा सहयोगपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे और विश्व की शान्ति को संकट में डालने वाले, संसार को प्रतिद्वन्द्वी समूहों में विभक्त करने वाले दलों के साथ सैनिक तथा इस प्रकार के अन्य समझौते करने से बचा रहे।" इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय विदेशनीति के प्रमुख आदर्श निम्नलिखित हैं—शान्तिवाद, विभिन्न राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति आदर बढ़ाना, विभिन्न महाशक्तियों की गुटबन्दियों और सैनिक समझौतों से पृथक् रहना, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध, सं०

रा० संघ के सिद्धांतों के प्रति गहरी आस्था।

किन्तु अन्य देशों की विदेशनीति के समान भारत की विदेशनीति भी केवल कोरे उदात्त आदर्शों पर नहीं है, वह राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए आवश्यक कुछ मौलिक, ठोस तत्त्वों से निर्धारित हो रही है। भारत की विदेशनीति का निर्माण करने वाले प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं।

भारत की विदेशनीति का निर्माण करनेवाले प्रमुख आधारभूत तत्त्व

(१) **भौगोलिक परिस्थितियां**—श्री पणिक्कर ने लिखा है—"किसी देश की नीति उसकी भौगोलिक परिस्थिति से निश्चित होती है, सब नीतियों का लक्ष्य प्रादेशिक सुरक्षा होता है और उसका निर्धारण मुख्यरूप से भौगोलिक तत्त्वों से हुआ करता है।"[१] प्रकृति ने भारत को एशिया महाद्वीप के दक्षिण में हिन्द महासागर पर अरब प्रायद्वीप और हिन्दचीन प्रायद्वीप के मध्य केन्द्रीय स्थिति प्रदान की है, तीन दिशाओं में समुद्र ने इसकी परिक्रमा की है और उत्तर दिशा में नगाधिराज हिमालय ने उसकी सीमा का निर्धारण किया है। विदेशनीति की दृष्टि से ३५०० मील लम्बी समुद्री सीमा, ८२०० मील लम्बी स्थली सीमा से अनेक दृष्टियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है—(क) पिछली तीन शताब्दियों के इतिहास से स्पष्ट है कि हिन्द महासागर पर प्रभुत्व रखनेवाली सामुद्रिक शक्ति थोड़ी स्थल सेना के साथ भारत पर अधिकार करके उसके व्यापार और वाणिज्य पर एकाधिपत्य स्थापित कर सकती है। भारत में पुर्तगाली, डच, फ्रेंच और ब्रिटिश आदि योरोपियन शक्तियों ने समुद्री मार्ग से ही प्रवेश किया। मुग़ल शासक समुद्रों के स्वामी न होने से इनका प्रतिरोध न कर सके। इसी कारण औरंगजेब जैसे शक्तिशाली मुगल सम्राट के समय मक्का जाने वाली शाही खानदान की वेगमों की अस्मत और दौलत समुद्र के वक्षस्थल पर योरोपियन जलदस्यु बेखटके लूटते रहे, अंग्रेजों ने समुद्र द्वारा भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। (ख) हिन्दमहासागर का दूसरा महत्त्व यह है कि विदेशों के साथ भारत का व्यापार और वाणिज्य का अधिकांश भाग इसी समुद्र द्वारा होता है। यदि इस समुद्र में कोई विरोधी विदेशी नौशक्ति प्रबल हो जाय तो वह इस व्यापार को बन्द करके भारत की समूची अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न कर सकती है। अतः भारत की विदेशनीति के लिए यह परम आवश्यक है कि इस पर प्रभुत्व रखने वाली शक्ति के साथ उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हों। इस समय इस पर ग्रेट ब्रिटेन की नौशक्ति का साम्राज्य है, अतः भले ही ब्रिटिश युग में अंग्रेजों के साथ हमारा कितना ही विरोध और वैमनस्य रहा हो किन्तु जब तक भारत की नौशक्ति ब्रिटिश नौशक्ति के समकक्ष नहीं हो जाती (निकट भविष्य में इसकी सम्भावना बहुत कम है), तब तक हमें अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध बनाकर ही रखने पड़ेंगे, भारत के ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में बने रहने का एक कारण यह भी है (ग) हिन्दमहासागर का तीसरा महत्त्व रक्षात्मक है। इस विशाल समुद्रतट की रक्षा के लिए प्रबल नौशक्ति का विकास करना आवश्यक है।

---

१. के० एम० पणिक्कर—दि बेसिस आफ एन इंडोब्रिटिश ट्रीटी, पृ० ३५

केवल शक्तिशाली स्थल सेना पर निर्भर रहना मूर्खतापूर्ण नीति होगी।

भारत का ८२०० मील लम्बा स्थलीय सीमान्त इन देशों के साथ लगा हुआ है— पाकिस्तान, चीन, नैपाल, अफगानिस्तान और काश्मीर के साथ संलग्न सोवियत यूनियन का प्रदेश। कुछ घण्टों से ताशकन्द से नई दिल्ली पहुँचाने वाले हवाई जहाजों ने यद्यपि इस दिशा में दुर्गम पर्वतमालाओं की अलंघ्यता का महत्त्व घटा दिया है, फिर भी इन सब पड़ोसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक है। भारत की उत्तरी सीमा कम्यूनिस्ट देशों के साथ लगती है। अतः जिस प्रकार दक्षिण में समुद्री सीमा सुरक्षित बनाये रखने के लिए उसके लिए ग्रेट ब्रिटेन की मैत्री आवश्यक है, वैसे ही उत्तर में अपनी स्थिति सुरक्षित करने के लिए साम्यवादी देशों से अनुकूल सम्बन्ध रखना आवश्यक है। इसीलिए भारत पूर्व और पश्चिम के संघर्ष में दोनों पक्षों से मेल बनाये रखना चाहता है, किसी एक पक्ष के साथ सैनिक सन्धियों में सम्मिलित होना दूसरे पक्ष को रुष्ट करना तथा उस ओर की सीमा को अरक्षित बनाना होगा। भारत की तटस्थता, असंलग्नता और असंश्लिष्टता की नीति का एक बड़ा कारण यह भौगोलिक परिस्थिति हैं। श्री नेहरू ने इस बात पर बल देते हुए १७ मार्च, १९५० को कहा था—"हम एशिया के सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भाग हिन्द महासागर के मध्य में हैं। अतीत एवं वर्तमान कालों में हमारे सम्बन्ध पश्चिमी एशिया, दक्षिण पूर्वी एशिया तथा सुदूर पूर्वी एशिया के साथ हैं। यदि हम चाहें तो भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।"

गाई विण्ट (Guy Wint) ने १९४७ में यह लिखा था कि ब्रिटिश सत्ता समाप्त हो जाने के बाद भी भारत की विदेशनीति में भौगोलिक परिस्थितियों के कारण कोई अन्तर नहीं आयेगा "क्योंकि भौगोलिक परिस्थितियों के सुनिश्चित एवं यथापूर्व बने रहने के कारण इसके वास्तविक हित (Essential Interest) वैसे ही बने रहेंगे" ये हित मुख्यरूप से निम्नलिखित हैं—(क) भारत पर जिन समीपवर्त्ती अथवा अन्य देशों से आक्रमण हो सकता है, उन सबके साथ तटस्थता या मित्रता। ये देश ईरान, इराक, अफगानिस्तान, लंका, मलाया, हिन्दचीन, स्याम, डच ईस्ट इन्डीज हैं। (ख) मध्य पूर्व, बर्मा तथा डच ईस्ट इण्डीज से तेल की प्राप्ति (ग) भारत के सीमावर्त्ती राज्यों में बसने वाले भारतीयों का कल्याण और भारतीय व्यापार की वृद्धि। (घ) हिन्द महासागर में भारत की सुरक्षा और व्यापार के आधारभूत समुद्री तथा हवाई मार्गों की सुरक्षा। (ङ) बाह्य जगत् में और सर्वोच्च-सत्तासम्पन्न राष्ट्रों के मामले में अपने अतीत इतिहास और संस्कृति के अनुरूप महत्त्वपूर्ण भाग लेने की आकांक्षा।"[२]

(२) **आर्थिक और सैनिक तत्त्व**—इन्होंने भारत की विदेशनीति पर गहरा प्रभाव डाला है। आर्थिक दृष्टि से भारत का वैदेशिक व्यापार मुख्य रूप से ग्रेट ब्रिटेन, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के देशों तथा सं० रा० अमेरिका के साथ है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त तक हमारे कुल वैदेशिक व्यापार का तीन प्रतिशत भाग कम्यूनिस्ट देशों के साथ था। हमारे देश के औद्योगिक विकास की दृष्टि से आवश्यक भारी मशीनें और यन्त्र,

२. करुणाकर गुप्त—इण्डियन फारेन पालिसी, पृ० ७९

विविध प्रकार की प्राविधिक सहायता, सुगमता से और प्रभूतमात्रा में लन्दन और वाशिंगटन से प्राप्त हो सकती है।

आर्थिक तत्वों ने हमारी विदेशनीति को निम्न रूपों में प्रभावित किया है—(क) हमारे देश में खाद्यान्नों की भारी कमी है, इस कारण हमें स्वतन्त्रता प्राप्ति के पिछले बारह वर्षों में इनका बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से आयात करना पड़ा है। यह आयात मुख्य रूप से सं० रा० अमेरिका से हुआ है, अतः हमारी विदेशनीति उसके साथ अनुकूल सम्बन्ध बनाये रखने की है। यह कहा जाता है कि जून १९५० में उत्तर कोरिया द्वारा दक्षिण कोरिया पर आक्रमण के विरुद्ध सं० रा० संघ द्वारा की जाने वाली कार्यवाही के विषय में सं० रा० अमेरिका के प्रस्ताव का समर्थन भारत ने अमेरिका से खाद्यान्न संकट दूर करने के लिए मिलने वाली सहायता से प्रभावित होकर किया था[३]। (ख) भारत को अपनी औद्योगिक उन्नति अल्पकाल में ही करने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी पूंजी की आवश्यकता है, यह इस समय के प्रधान औद्योगिक देशों—सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, जापान से मिल सकती है, इन सब देशों से सहायता पाने के लिए आवश्यक है कि हम इनके पारस्परिक झगड़ों से पृथक् रहते हुए तटस्थता और असंलग्नता (Non-alignment) की नीति ग्रहण करें। (ग) भारत की आर्थिक और औद्योगिक उन्नति के लिए यह परम आवश्यक है कि शान्ति बनी रहे, दूसरे देशों से मिलने वाली सहायता निर्बाध रूप से मिलती रहे, इसे पाने के समुद्री मार्ग खुले रहें। १९५६ में स्वेज संकट के समय इस नहर के कुछ समय के लिए बन्द हो जाने से द्वितीय पंचवर्षीय योजना की पूर्ति के लिए विदेशों से आने वाली मशीनों की तथा अन्य सामग्री की ढुलाई के मार्ग के ४००० मील अधिक लम्बा होने के कारण बड़ी महंगी पड़ी, योजना का व्यय बढ़ गया, उसकी पूर्ति में विलम्ब होने लगा। अतः भारत अपनी अर्थव्यवस्था के विकास में बाधा डालने वाले सब प्रकार के युद्धों का घोर विरोधी है, उसका शांतिवाद कुछ अंशों में उसकी आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम है। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने १ जनवरी, १९५१ को इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कहा था—"हम यह अनुभव करते हैं कि युद्ध हमारे लिए साम्यवाद की अपेक्षा अधिक बड़ा संकट है।" (घ) आर्थिक दृष्टि से भारत का ९७ प्रतिशत व्यापार पश्चिमी देशों के साथ होने तथा भारत के उद्योगों में ब्रिटिश पूंजी अधिक लगी होने से हमारी विदेशनीति का ब्रिटेन के अनुकूल बने रहना आवश्यक है। भारतीय संसद् में जब यह आलोचना की गयी कि हम रूस के साथ व्यापार को क्यों नहीं बढ़ाते तो श्री नेहरू ने १२ जून, १९५२ को इसका उत्तर देते हुए कहा था—"यह बिल्कुल सत्य है कि पिछले दो वर्षों में हमारे आर्थिक तथा अन्य सम्बन्ध मुख्य रूप से ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों के साथ रहे हैं। भारत दूसरे देशों से बिल्कुल अलग नहीं रह सकता, उसे विदेशों से आवश्यक सामग्री प्राप्त करनी है। हम रूस से व्यापार करने के लिए तैयार हैं, किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि इस समय भारत के लिए पश्चिमी देशों से माल प्राप्त करना

---

३. करुणाकर गुप्त—इंडियन फारेन पालिसी, पृ० ७९

अधिक सुगम है।" १९५४ के बाद से भारत रूस से भी काफी मात्रा में प्राविधिक सहायता पाने लगा है।

सैनिक दृष्टि से भारत की स्थिति नगण्य है, क्योंकि वह औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। १९५१ में बुलिट ने ठीक कहा था कि जो देश जीप नहीं तैयार कर सकता, वह महाशक्ति कैसे हो सकता है[४]। यद्यपि २१ जून, १९५९ को जबलपुर के सरकारी कारखाने में पहला ट्रक बन गया है, किन्तु जब तक भारत में बड़े रणपोत, वायुयान और आणविक आयुध बनाने का सामर्थ्य नहीं होता, तब तक वह महाशक्ति नहीं बन सकता। अभी अपनी रण-सामग्री के लिए हमारा देश ब्रिटेन पर निर्भर है,इस देश का समूचा सैनिक प्रशिक्षण ब्रिटिश पद्धति के आधार पर हुआ है। अतः अपनी सैनिक क्षमता बनाये रखने के लिए भारत की विदेशनीति को ब्रिटेन के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है।

(३) ऐतिहासिक परम्पराएं—भारत की विदेशनीति इनकी उपेक्षा नहीं कर सकती। पिछली दो शताब्दियों के ब्रिटिश शासन ने भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध इतने प्रगाढ़ कर दिये हैं कि इनका सहसा विच्छेद नहीं हो सकता। भले ही अंग्रेज हमें सत्ता सौंप कर इस देश से चले गये हैं, किन्तु उनकी चलायी हुई संसदीय प्रणाली, उदारवाद (Liberalism), अंग्रेजी भाषा का प्रयोग, प्रशासन का ढांचा, कानून पद्धति, शिक्षा पद्धति, चिकित्सा पद्धति, अर्थव्यवस्था, सैनिक पद्धति तथा राजनीतिक संस्थाएं यथापूर्व विद्यमान हैं। इनके कारण ग्रेट ब्रिटेन से हमारा सम्बन्ध स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी पहले की भांति घनिष्ठ रूप से बना हुआ है, भारत गणराज्य होते हुए भी ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना हुआ है। हमारी नौसेना अपने युद्धाभ्यासों के लिए अब भी ब्रिटिश नौसेना के साथ सम्मिलित होती है, एक बार श्री नेहरू ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा था कि नौसैनिक अभ्यासों में किये जाने वाले कृत्रिम युद्धों के लिए यह आवश्यक है कि नौसेना के जहाजों को दो भागों में बाँटकर लड़ाई लड़ी जाय, इस समय तक भारत के पास इतने जहाज ही नहीं हैं कि वे दो हिस्सों में विभक्त हो सकें।" हिन्द महासागर में सोवियत नौसेना भी इस कार्य के लिए उपलब्ध नहीं है, अतः हमें अपनी नौसेना की क्षमता बनाये रखने के लिए ब्रिटेन का सहयोग वांछनीय है।

चीन के साथ हमारे सम्बन्ध श्री पणिक्कर के कथनानुसार पिछले हज़ार वर्षों के इतिहास में स्थापित होने वाले सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सम्बन्धों पर निर्भर हैं, समूचे दक्षिण पूर्वी एशिया के देश बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, वीतनाम, मलाया, लंका तथा भारत के बौद्ध धर्म की जन्मभूमि होने के कारण इसके साथ गहरा आध्यात्मिक सम्बन्ध अनुभव करते हैं। पाकिस्तान के साथ शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध भी ऐतिहासिक परम्पराओं का परिणाम है। मुस्लिम लीग द्वारा प्रवर्त्तित और हिंदूविरोध तथा वैमनस्य के जिस आन्दोलन के आधार पर और भीषण रक्तपात तथा हत्याकाण्ड वाले दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन के साथ पाकिस्तान का निर्माण हुआ था, उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का दोनों देशों द्वारा सुगमता से भुलाया जाना सम्भव नहीं है। भारत की वर्तमान विदेश

---

४. करुणाकर गुप्त—इंडियन फारेन पालिसी, पृ० १

नीति का एक प्रमुख तत्त्व, उपनिवेशवाद का विरोध भी ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज है, लगभग दो सौ वर्ष तक ब्रिटिश साम्राज्य का शिकार रहने से हम इसके दुष्परिणामों को भली भांति जानते हैं, अतः भारत की नीति इनका प्रबल विरोध करने की रही है, उसने सं० रा० संघ में इण्डोनीशिया, ट्यूनिस, मोरक्को, साइप्रस, अल्जीरिया, लिबिया आदि योरोपियन उपनिवेशों की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया है।

(४) **विचारधाराओं का प्रभाव**—हमारी विदेशनीति का एक बड़ा आधार कई प्रकार की विचारधारायें हैं। (क) प्रायः सामान्य रूप से इस बात पर बल दिया जाता है[5] कि भारत की असंलग्नता की और शान्तिवाद की नीति का मूल आधार भारत की परम्परागत सहिष्णुता और उदारता की नीति, वेदान्तवाद, बुद्ध तथा महात्मा गांधी की अहिंसा है। सब वस्तुओं में ब्रह्म का दर्शन करने वाली हिन्दू विचारधारा प्रत्येक नर को नारायण का अंश समझती है। उसकी दृष्टि में कोई भी व्यक्ति या विचारधारा एकान्तिक रूप से बिल्कुल बुरी या अच्छी नहीं होती, वह विरोधी के समूलोन्मूलन पर बल नहीं देती, किन्तु उसके सुधार और सहअस्तित्व में विश्वास रखती है। सहिष्णुता की इस प्राचीन परम्परा के कारण भारत में आस्तिक, नास्तिक, हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई मिलकर प्रेमपूर्वक रहते रहे हैं, आज भी भारत यह चाहता है कि इस संसार में साम्यवादी और गैर-साम्यवादी मिलकर प्रीतिपूर्वक रहें, इन दोनों में न तो कोई एकदम बुरा है और न कोई एकदम अच्छा, दोनों का एक दूसरे को समूलोन्मूलन का प्रयत्न करना सर्वथा अवांछनीय है। दोनों पक्षों की अतियों (Extremes) से बचते हुए भगवान बुद्ध द्वारा प्रदर्शित मध्यम मार्ग का अवलम्बन श्रेयस्कर है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सदियों से हमारे देश में चली आने वाली सहिष्णुता की परम्परा का हमारी विदेशनीति में स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव है।

गांधीवाद की अहिंसा का भी हमारी शान्तिवादी नीति पर प्रभाव पड़ा है। प्राध्यापक जी० एफ० हडसन ने लिखा है—गांधी के शान्तिवाद ने देश को यह विश्वास कराया है कि विश्व में शान्ति समझौते से स्थापित हो सकती है, न कि रक्षात्मक संगठन बनाने से। भारत का यह कर्त्तव्य है कि वह दो विरोधी दलों से अलग रहे और इनमें मध्यस्थ का कार्य करे[6]। किन्तु प्रायः इस प्रभाव को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाता है। श्री करुणाकर गुप्त ने लिखा है—"गांधी हेगेल की भांति मृत्यु के बाद पूरी तरह सम्मानित हुए, किन्तु उनका कोई ऐसा शिष्य नहीं था, जो उनके सिद्धान्तों को क्रिया रूप में परिणत करता। उनकी मृत्यु के एकदम बाद कम्यूनिस्टों तथा सम्प्रदायवादियों का दमन करने के लिए नवभारत ने तानाशाही उपाय बरते, १९४८–५१ के बीच में एक लाख व्यक्ति बिना मुकदमा चलाये जेलों में बन्द थे, ब्रिटिश राज्य के २०० वर्षों में ऐसा नहीं हुआ था।...कश्मीर और हैदराबाद में सेनाओं का प्रयोग किया गया।

---

५. देखिये इंडिया क्वार्टरली अप्रैल-जून १९५८ में श्री कृष्णलाल श्रीधरानी का लेख—दी फिलोसाफिक बेसेज ऑफ इंडियाज फारेन पालिसी, पृ० १९९-२००

६. करुणाकर गुप्त—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८

भारतीय बजट का ५० प्रतिशत से अधिक भाग सेना के लिए है। इन परिस्थितियों में इस बात पर वश्वास नहीं किया जा सकता कि भारत की विदेशनीति पर महात्मा गांधी की अहिंसा का कोई निर्णयात्मक प्रभाव पड़ा है।"[७]

विचारधाराओं की दृष्टि से सबसे अधिक प्रभाव पश्चिम के उदारवाद (Liberalism) का तथा मार्क्स के सिद्धान्तों का पड़ा है। भारतीय विदेशनीति के प्रमुख सूत्र-१२ शिक्षण पश्चिम की लोकतन्त्रीय परम्पराओं में हुआ है, किन्तु उन पर सोवियत रूस का गहरा असर है। दोनों की कुछ अच्छाइयों को वे पसन्द करते, और कुछ बुराइयों से बचना चाहते हैं। इसलिये वे अपने को किसी पक्ष से पूरी तरह से सम्बद्ध नहीं कर पाते। श्री नेहरू ने एक बार स्वयं कहा था—"हम यह देखते हैं कि लोकतन्त्र उपनिवेशवाद तथा जातीय पक्षपात (Racial prejudice) के प्रश्न पर इनसे समझौता कर लेते हैं। यदि हम पश्चिम से समझौता कर लेंगे तो हमें इन बुराइयों को भी स्वीकार करना पड़ेगा; इसके विपरीत रूस में सामाजिक न्याय और समानता पर बहुत बल दिया जाता है, किन्तु वहां इस समय बहुत बड़ी मात्रा में विचारों की स्वतन्त्रता का अभाव (Regimentation) तथा राजनीति में आतंक (Terror) के उपाय का अवलम्बन है। भारत को ये दोनों बातें पसन्द नहीं हैं, अतः विचारधारा के भेद के कारण उसकी नीति दोनों पक्षों से अलग-अलग रहने की है।"[८]

(५) **वैयक्तिक और राजनीतिक तत्त्व**—स्वतन्त्र भारत की विदेशनीति के प्रमुख निर्माता १९४७ से भारत के विदेश एवं प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू हैं, स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले ही महात्मा गांधी ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी और विदेश-मन्त्री घोषित किया था, पिछले तीस वर्षों में कांग्रेस के विदेशनीति सम्बन्धी प्रायः सभी प्रस्ताव श्री नेहरू जी द्वारा तैयार किये गये हैं। श्री नेहरू के विदेशनीति पर असाधारण प्रभाव का कारण न केवल उनका प्रधानमन्त्री और विदेश-मन्त्री होना है, अपितु उनका वैदेशिक विषयों का अनुराग और पांडित्य तथा भारतीय जनता में उनकी अद्भुत लोकप्रियता भी है। अतः इस समय भारतीय विदेशनीति के प्रधान सूत्रधार वही हैं।

विदेशनीति के मुख्य निर्धारक होते हुए भी श्री नेहरू इसके सर्वेसर्वा नहीं हैं। उन पर कुछ अन्य तत्त्वों का भी प्रभाव पड़ता है, जैसे मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्य, विदेश मन्त्रालय के वरिष्ठ अधिकारी, राजदूत, पार्लियामेंट तथा प्रेस। मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों में पहले सरदार पटेल का तथा श्री गोविन्द वल्लभ पन्त का प्रभाव पड़ता था। पाकिस्तान के प्रति नीति के निर्धारण में इनका काफी असर बताया जाता है। अन्य व्यक्तियों में श्री पणिक्कर, श्रीकृष्ण मेनन, तथा श्री राधाकृष्णन के नाम उल्लेखनीय हैं। नवम्बर १९५० में सरदार पटेल तिब्बत के सम्बन्ध में चीन के साथ कठोर नीति के समर्थक थे, किन्तु उस समय चीन में भारत के राजदूत श्री पणिक्कर के प्रयत्नों से कम्यूनिस्ट चीन के साथ भारत के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध सुदृढ़ हुए और एक सम्भावित उग्र संघर्ष से भारत की रक्षा ई। इसी प्रकार कोरिया के युद्ध की समस्या को शान्तिपूर्वक सुलझाने का कुछ

७-८. करुणाकर गुप्त— वक्त पुस्तक, पृ० १३—१४

श्रेय श्री पणिक्कर को है। श्रीकृष्ण मेनन प्रधानमन्त्री के विश्वस्त मित्र हैं, अतः कोरिया आदि के सम्बन्ध में वे श्री नेहरू की नीति को प्रभावित करते रहे हैं। श्री राधाकृष्णन को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने रूस और भारत के सम्बन्धों को श्री स्तालिन से भेंट करके मधुर बनाया।

विदेश मन्त्रालय का, अन्य देशों के समान, यहां भी विदेशनीति का निश्चय करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग होता है। इसके वरिष्ठ अधिकारी सामान्यतः इस नीति का संचालन करते हैं। लोकसभा में वैदेशिक विषयों की एक विमर्श समिति है। इसमें सब पार्टियों के प्रतिनिधि होते हैं। कई बार वैदेशिक मामलों पर लोकसभा में हुई बहसें बड़ी महत्त्वपूर्ण होती हैं, जैसे १९५६ में हंगरी के सम्बन्ध में तथा सितम्बर १९५८ में पाकिस्तान को प्रदेश देने के सम्बन्ध में, तथा ४, ८ मई १९५९ को तिब्बत के प्रति चीन की नीति के सम्बन्ध में हुए विवाद। कई बार लोकसभा के सदस्य अपनी अपीलों द्वारा भी विदेशनीति पर प्रभाव डालने का यत्न करते हैं जैसे, १९५०–५१ में इसके ८० सदस्यों ने सं० रा० अमेरिका से खाद्यान्न देने की अपील की थी, जुलाई १९५९ में जेनीवा सम्मेलन को सफल बनाने के लिए विदेश-मन्त्रियों से अपील की।

प्रेस तथा समाचार-पत्र भी विदेशनीति को प्रभावित करते हैं। भारत में प्रेस मुख्य रूप से पश्चिम का पक्षपाती है, क्योंकि विदेशों से भारत को समाचार देने वाली प्रधान एजेन्सियां रायटर्स और युनाइटेड प्रेस ऑफ अमेरिका पश्चिमी देशों की हैं। इनके समाचारों में पश्चिमी जगत् की प्रधानता होना स्वाभाविक है। इन समाचारों के आधार पर लिखे जाने वाले सम्पादकीय लेख भी प्रायः पश्चिम के समर्थक होते हैं। इन सब तत्त्वों का विदेशनीति के निर्माण पर प्रभाव पड़ता है। अतः श्री नेहरू जी ने यह ठीक ही कहा था—"भारत की विदेशनीति को नेहरू नीति कहना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। यह इसलिए ग़लत है कि मैंने केवल उस नीति का शब्दों में प्रतिपादन किया है, मैंने इसका आविष्कार नहीं किया।···यह भारतीय परिस्थितियों की उपज है।··· वैयक्तिक रूप से मुझे यह विश्वास है कि भारत के वैदेशिक मामलों की बागडोर यदि किसी अन्य व्यक्ति या पार्टी के हाथ में होती तो उसकी नीति वर्तमान नीति से बहुत भिन्न न होती।"

(६) **राष्ट्रीय हित** (National Interest)—किसी भी देश की विदेशनीति की आधारशिला राष्ट्रीय हित होता है, यह अनेक प्रकार के भौगोलिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, सैनिक तत्त्वों, प्राचीन परम्पराओं, आचार-विचार, विश्वास, रीतिरिवाज, धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक विचारधाराओं और व्यवस्थाओं पर निर्भर होता है। इनके आधार पर प्रत्येक देश के व्यक्ति, और शासक कुछ विशेष बातों को अपने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी समझते हैं और इसके आधार पर अपनी विदेशनीति का निर्माण करते हैं। अमेरिका के विदेश-मन्त्री चार्ल्स इवान्स ह्यू जेस (Charles Evans Hughes) के मतानुसार "विदेशनीतियों का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता, किन्तु ये राष्ट्रीय हितों के क्रियात्मक विचारों का परिणाम होता है।"[१] दिसम्बर १९४७ में स्वयं श्री जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में

भाषण देते हुए कहा था—"किसी देश की विदेशनीति की आधारशिला उसके 'राष्ट्रीय हित' की सुरक्षा है। भारत की विदेशनीति का ध्येय इसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा है।"

भारत का 'राष्ट्रीय हित' क्या है, इसका निर्धारण करना सुगम नहीं है। यहां राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक विचारों और संस्थाओं की दृष्टि से विविध प्रकार के स्वार्थ रखने वाले अनेक वर्गों का निवास है, फिर भी इन सबके सामान्य हित को भारत का राष्ट्रीय हित कहा जा सकता है। इसके कुछ मुख्य तत्त्व ये हैं—(क) शान्ति और सहअस्तित्व की नीति सब वर्गों के लिए समान रूप से हितकर है, क्योंकि शान्तिकाल में उद्योगधन्धों का विकास होता है, देश की आर्थिक उन्नति होने से सब वर्ग सुखी और संतुष्ट होते हैं। (ख) ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य होने में भारत को अनेक प्रकार के लाभ हैं, अतः यह उसके राष्ट्रीय हित के अनुकूल है। लारेंस रोसिंगर ने ब्रिटेन पर भारत की निर्भरता का वर्णन करते हुए, कुछ वर्ष पहले लिखा था—"भारतीय स्थलसेना, जलसेना और वायुसेना मूलतः ब्रिटिश प्रशिक्षण का परिणाम है, पिछली दोनों सेनाओं में अब तक महत्त्वपूर्ण पदों पर ब्रिटिश अफसर विद्यमान हैं। भारत के साथ वैदेशिक व्यापार में भी ब्रिटेन अन्य देशों से आगे बढ़ा हुआ है, १९४५ में ब्रिटेन ने भारत को १ अरब २० करोड़ पौंड का युद्ध-ऋण चुकाना था, इससे भारत स्टर्लिंग क्षेत्र से बंध गया है। भारत के व्यापारिक जीवन में ब्रिटिश जहाजरानी, बैंकिंग, समुद्री बीमा और विनियोग बड़े शक्तिशाली तत्त्व है। भारत में इस बात पर भी बल दिया जाता है कि वह अपने समुद्री तटों की रक्षा के लिए ब्रिटेन पर निर्भर है।"[१०] अतः भारत का राष्ट्रीय हित ब्रिटेन के साथ ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में बने रहने का है।

राष्ट्रीय हित का स्वरूप बड़ा विस्तृत और जटिल होता है। उसका निर्माण अनेक विरोधी, विभिन्न प्रकार की शक्तियों के संघर्ष से होता है। इसका स्वरूप सदा निश्चित नहीं होता, वह परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है, अतः एक देश की विदेशनीति में अनेक वदतोव्याघात और परस्पर विरोधी बातें दृष्टिगोचर होती हैं। भारत में भी ऐसी ही स्थिति है। उदाहरणार्थ भारत की नीति सामान्य रूप से उपनिवेशवाद विरोधी है, किन्तु मलाया में वहां की जनता का स्वाधीनता आन्दोलन कुचलने के लिए जब ब्रिटिश सरकार ने नैपाल से सेनायें मंगायीं तो भारत ने इन्हें अपने देश में होकर जाने का मार्ग दिया (सितम्बर १९५३)। यह वस्तुतः भारत के लिए बड़ी विचित्र बात थी।[११] लोकसभा में कम्यूनिस्ट सदस्यों ने इसका घोर विरोध किया और यह कहा कि

---

९. पैडलफोर्ड तथा लिंकन—इंटरनेशनल पालिटिक्स, पृ० ३०८—९

१०. रोसिंगर—इण्डिया एण्ड दी युनाइटेड स्टेट्स, पृ०११५

११. श्री नेहरू ने १८ मार्च, १९४६ को सिंगापुर में भाषण देते हुए कहा था—"भारत केवल अपने लिए ही स्वतन्त्रता नहीं चाहता। आप आधी दुनिया को स्वतन्त्र और आधी को परतन्त्र नहीं रख सकते। भारत स्वतन्त्र जगत् में स्वाधीनता चाहता है, वह जब स्वतन्त्र होगा तो उसकी सारी शक्ति सब पराधीन देशों की स्वतन्त्रता के लिए लगाई जायेगी। यह बात इण्डोनीशिया, मलाया तथा सभी देशों के लिए समान रूप से लागू होती है।" सात वर्ष बाद

इसका कारण ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के प्रति भारत की अवांछनीय भक्ति है। वस्तुतः इस घटना में भारत ने किसी महाशक्ति के दबाव से नहीं, किन्तु 'राष्ट्रीय हित' की दृष्टि से प्रेरित होकर ऐसा किया और साम्राज्यवाद के विरोध के ऊँचे आदर्श की अपेक्षा वास्तविक राजनीति (Real politic) की ठोस परिस्थितियों को देखते हुए ऐसा निश्चय किया। भारत की उत्तरी सीमा से लगा हुआ नैपाल, भारत और चीन के वशवर्त्ती तिब्बत का मध्यवर्ती राज्य है, इसकी अर्थ-व्यवस्था का मुख्य आधार इसकी जनता का सेना में भरती होना है। यदि इसमें बाधा डाली जाय तो नैपाल की समूची अर्थ-व्यवस्था उच्छिन्न हो जाय, वहां व्यापक असन्तोष, क्रान्ति और विद्रोह उत्पन्न हो जाय, यह भारत की सुरक्षा को संकट में डाल सकता है। अतः इस मामले में भारत ने न तो नैपाल की दरिद्र जनता के दुःखों से द्रवित होकर और न ही ब्रिटिश दबाव से, किन्तु आत्मरक्षा के राष्ट्रीय हित की दृष्टि से ऐसा कार्य किया।[१२] इसी प्रकार स्वेज के मामले में १९५६ में श्री नेहरू ने एंग्लो-फ्रेंच आक्रमण की तीव्र भर्त्सना करते हुए भी नासिर को मृदु नीति अपनाने का परामर्श दिया, क्योंकि भारत का राष्ट्रीय हित स्वेज नहर के खुला रहने में था।

इस समय भारत के राष्ट्रीय हित का निर्माण करने वाले प्रधान तत्त्व निम्नलिखित हैं—भारत की भौगोलिक स्थिति, उसकी स्थलीय सीमा का चीन और रूस से लगा होना, विस्तृत समुद्रतट की रक्षा समुद्री व्यापार की सुरक्षा के लिए ग्रेट ब्रिटेन पर निर्भर होना, आर्थिक विकास और उद्योगों की दृष्टि से पिछड़ा होना, सैनिक निर्बलता, औद्योगिक तथा सैनिक उन्नति के लिए चिरकाल तक शान्ति बनाये रखने की आकांक्षा, ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका के साथ सुदृढ़ आर्थिक सम्बन्ध, भारत को विदेशी पंजी की आवश्यकता, रण-सामग्री पाने के लिए भारत की ग्रेट ब्रिटेन तथा सं० रा० अमेरिका पर निर्भरता, एशिया के गैर साम्यवादी देशों में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने की अभिलाषा। इन सब तत्त्वों से प्रभावित होकर भारत ने राष्ट्रीय हित की दृष्टि से शान्ति और असंलग्नता की विदेशनीति ग्रहण की है। अब इसका स्वरूप स्पष्ट किया जायगा।

भारतीय विदेशनीति की विशेषतायें—उपर्युक्त मौलिक तत्त्वों से निर्धारित होने वाली हमारी विदेशनीति की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—(१) **असंलग्नता** (Non-alignment)—इस समय विश्व में महाशक्तियों के दो बड़े गुट हैं, सं० रा० अमेरिका का तथा सोवियत रूस का गुट। भारत की नीति इन दोनों गुटों से पृथक् रहते हुए, दोनों से मित्रता रखते हुए और सहायता पाते हुए अपनी उन्नति करने की है। वह इन दोनों पक्षों में से किसी के भी साथ सैनिक सन्धियां और समझौते करके महाशक्तियों की राजनीति में अपने को उलझाना नहीं चाहता। उसकी यह नीति सं० रा० अमेरिका के स्वतन्त्र होने के बाद वाशिंगटन द्वारा अपनायी गयी नीति (देखिए पृ० १८२) से बहुत साम्य रखती है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए १७ मार्च १९५० को श्री नेहरू ने लोक-

---

इसी मलाया की स्वतन्त्रता के दमन के लिए जाने वाले सैनिकों को भारत ने मार्ग की सुविधा प्रदान की।

१२. करुणाकर गुप्त—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २९

सभा में घोषणा की थी—"१५० वर्ष पहले पश्चिमी जगत् सब प्रकार के साम्राज्यवादी और क्रान्तिकारी युद्धों के कारण विघटित हो रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद स० रा० अमेरिका स्वाभाविक रूप से इन परिवर्तनों से प्रभावित हुआ। फिर भी विशेष देशों के साथ सहानुभूति होने पर भी इसने योरोप की अराजक परिस्थिति में लिप्त होने से अपने को बचाये रखा, क्योंकि उस अवस्था में उसके लिए यही स्वाभाविक था। यह उदाहरण यद्यपि आजकल की परिस्थितियों में सर्वथा उपयुक्त नहीं है, किन्तु फिर भी इसका बड़ा महत्त्व है।······नयी स्वतन्त्रता और स्वाधीनता पाये देश के लिए अनुसरण की जाने वाली यही स्वाभाविक नीति है।" श्री नेहरू इस नीति को न केवल हितकर समझते हैं, अपितु किसी गुट का पिछलग्गू बनने में देश के लिए आत्म-गौरव की हानि और अपनी स्वाधीनता का अपहरण करना समझते हैं। उन्होंने "सदैव इस या उस गुट के साथ इस आशा से मिलने का विरोध किया है कि उसका अनुयायी होने से उसे उसकी खाने की मेज से गिरने वाले कुछ टुकड़े प्राप्त होंगे।" किसी गुट के साथ सैनिक संधियों में बंध जाने के कारण सदा उसके इशारों पर नाचना पड़ता है, अपनी स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती है। श्री नेहरू के शब्दों में "चाहे कुछ हो जाय, हम किसी देश के साथ सैनिक संधि नहीं करेंगे। जब हम असंलग्नता का विचार छोड़ते हैं तो हम अपना लंगर छोड़कर बहने लगते हैं। किसी देश से बंधना आत्म-सम्मान खोना है, यह अपनी बहुमूल्य निधि का विनाश है।"

(२) **दूसरी विशेषता** शान्तिवाद का अवलम्बन है। भारतीय विदेशनीति अपने औद्योगिक विकास और उन्नति की दृष्टि से शान्ति की प्रबल समर्थक है। श्री पणिक्कर ने २५ अगस्त, १९५४ को कहा था—"यदि समय मिले तो भारत के लिए स्वयमेव, अपने ढंग से विश्व-शक्ति बनने का पूरा मौका है, भारत को इस बात की बड़ी चिन्ता है कि उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से मानव-जाति की उन्नति को संकट में डालने वाला कोई युद्ध न हो।" पहले यह बताया जा चुका है कि स्वेज नहर के अल्पकालीन संकट ने भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना को अधिक व्ययसाध्य और विलम्बित बना दिया था। पाकिस्तान द्वारा अनेक बार उत्तेजित होने पर भी भारत के शान्त रहने का यही रहस्य है। युद्ध से बचे रहने की इच्छा के कारण भारत दूसरे देशों के साथ सैनिक समझौतों में सम्मिलित नहीं होता। सम्भावित तृतीय विश्वयुद्ध के सम्बन्ध में अपनी शान्तिवादी नीति की १२ जून, १९५२ को घोषणा करते हुए श्री नेहरू ने कहा था—"हमारी पहली नीति तो यह होनी चाहिए कि हम ऐसी भीषण आपत्ति को घटित होने से रोकें, दूसरी नीति इससे बचने की होनी चाहिए और तीसरी नीति ऐसी स्थिति बनाने की होनी चाहिए कि यदि युद्ध छिड़ जाय तो हम इसे रोकने में समर्थ हो सकें। मैं यह चाहता हूँ कि एशिया में ऐसे देशों का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो, जो यह निश्चय करें कि चाहे कुछ हो, वे युद्ध में सम्मिलित नहीं होंगे······मैं चाहता हूँ कि ये देश कुछ भी घटित होने पर शान्त रहें, रणक्षेत्र में प्रवेश न करें, अन्य प्रदेशों में होने वाले युद्ध के क्षेत्र को सीमित करें, अपने प्रदेश की रक्षा करें और दूसरों के प्रदेश को सुरक्षित बनाने का भी यत्न करें।"

(३) **तीसरी विशेषता** विदेशनीति का बाह्य प्रभावों से पूर्णतया स्वतन्त्र होना तथा प्रत्येक विषय को उसके गुण-दोष की दृष्टि से सोचना है। जो देश किसी गुट में सम्मिलित हो गये हैं, उन्हें ऐसी स्वाधीनता नहीं है।

(४) **चौथी विशेषता** भारत द्वारा सेतुबन्ध का काम करना है। वह इस समय दो प्रबल विरोधी गुटों के मध्य एक निष्पक्ष और सब विषयों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने वाली शक्ति समझा जाता है। भारत यद्यपि सैनिक और औद्योगिक दृष्टि से बिल्कुल पिछड़ा हुआ देश है; किन्तु इस समय दोनों गुटों की शक्ति का लगभग सन्तुलन होने के कारण विविध अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में मध्यस्थ का कार्य करने की दृष्टि से भारत की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर दोनों गुटों में अमेरिका का पलड़ा अणुबम का आविष्कार कर लेने के कारण भारी था। किन्तु १९४९ में रूस ने न केवल अणुबम का आविष्कार किया, किन्तु संसार में सबसे अधिक आबादी वाले महादेश चीन में साम्यवादी शासन स्थापित हो गया और इससे दोनों पलड़े सन्तुलित हो गये। इस अवस्था में निर्बल होते हुए भी भारत द्वारा अ तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझा कर शान्ति स्थापित करने की संभावनायें बढ़ गई हैं। श्री नेहरू ने ३१ मार्च, १९५४ को इस स्थिति का स्पष्टीकरण किया था। कोरिया के युद्ध में तथा हिन्दचीन की समस्या में भारत ने शान्ति के दूत का कार्य बड़ी सफलता से किया।

अपनी स्वतन्त्र स्थिति होने के कारण भारत ने अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार कुछ मामलों में सोवियत यूनियन का साथ दिया और कुछ में पश्चिम का। वह निम्न विषयों में रूस का समर्थक रहा है—निःशस्त्रीकरण, जातीय भेदभाव, प्रादेशिक सुरक्षा के समझौते, जापान के साथ संधि। उसने इन विषयों का समर्थन किया है—१९५० में कोरिया में आक्रमण की निन्दा, १९५६ में हंगरी में सोवियत रूस के हस्तक्षेप तथा इमरे नेगी के प्राणदण्ड का विरोध। सितम्बर १९५१ में श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने अमेरिकनों को कहा था "जनरल असेम्बली की पिछली बैठकों में हमने ५१ में ३८ बार तुम्हारे साथ वोट दिये हैं। ११ बार वोट नहीं दिये, केवल दो बार विरोध में मतदान किया है।" कोरिया के मामले में भारत की स्वतन्त्र नीति ने जान मैथाई जैसे मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों को भी चक्कर में डाल दिया था, क्योंकि इसमें भारत ने पहले उत्तरी कोरिया के विरुद्ध कार्यवाही में सं० रा० अमेरिका का साथ दिया, बाद में चीन को आक्रान्ता घोषित करने के प्रस्ताव पर वाशिंगटन का समर्थन नहीं किया, मई १९५१ में चीन को सामरिक सामग्री भेजने पर प्रतिबन्ध लगाने वाले प्रस्ताव पर भारत तटस्थ रहा।

(५) **पांचवीं विशषता** सब देशों को मित्र बनाने की नीति है। इसका आदर्श "मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे" का है। पाकिस्तान के अपवाद को छोड़ कर सब देशों के साथ भारत के सम्बन्ध बहुत अच्छे हैं। भारत ने अधिक से अधिक देशों के साथ मित्रता की संधियां और व्यापारिक समझौते किये हैं। इनमें से कुछ ये हैं—भारत-स्विटजरलैण्ड मैत्री सन्धि (१४ अगस्त, १९४८), भारत-अफगानिस्तान शान्ति सन्धि (४ जन० १९५०), भारत-नैपाल मैत्री सन्धि (३१ जुलाई, १९५०), भारत-सिक्किम शान्ति

सन्धि (५ दिसम्बर, १९५०), भारत-इन्डोनीशिया मित्रता सन्धि (३ मार्च, १९५१), भारत-वर्मी मित्रता सन्धि (३ मार्च, १९५१), भारत-तुर्की मित्रता सन्धि (१४ दिसम्बर, १९५१), भारत-सीरिया मित्रता सन्धि (२५ फरवरी, १९५२), भारत-जापान शान्ति सन्धि (९ जून, १९५२), भारत-फिलिप्पाइन मित्रता सन्धि (११ जुलाई १९५२), भारत-इराकी मित्रता सन्धि (१० नवम्बर, १९५२), भारत-मस्कत मित्रता सन्धि (१५ मार्च, १९५३), भारत-मिस्र मित्रता सन्धि (६ अप्रैल, १९५५)। श्री नेहरू ने इस विषय में यह ठीक ही कहा था—"वस्तुत: मेरा यह विचार है कि इस विशाल विश्व में कोई ऐसा देश नहीं है, जिसके साथ हमारे सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण या विरोधी हों। स्वभावत: हम अपने आर्थिक तथा व्यापारिक सम्बन्धों के कारण कुछ देशों की ओर अधिक आकृष्ट होंगे, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं है कि हम सबके मित्र हैं।"

(६) **छठी विशेषता** भारत की नीति का भावात्मक (Positive) होना है। प्राय: इसे तटस्थता (Neutrality) की नीति का अनुयायी कहा जाता है। किन्तु यह ठीक नहीं है। तटस्थता अभावात्मक (Negative) होती है, वह किसी पक्ष में सम्मिलित नहीं होती, पूर्णरूप से शान्तिवादी (Pacifist) और पार्थक्यवादी (Isolationist) होती है। भारत की नीति ऐसी नहीं है, यह भावात्मक और गतिशील (Dynamic) है। तटस्थता की भांति निष्क्रिय नहीं, किन्तु पूर्णरूप से सक्रिय है। यह पहले से अपने को किसी पक्ष के साथ बांधना नहीं चाहती, किन्तु समय पड़ने पर चुपचाप बैठ कर तमाशा देखने वाली नहीं है। यह जिन शक्तियों और तत्त्वों को उत्तम समझती है, उनको सहायता करने के लिए सदा तैयार है, ऐसे समय में तटस्थता के नाम पर नपुंसकता नहीं प्रदर्शित करती। सितम्बर १९४९ में सं० रा० अमेरिका की कांग्रेस के समक्ष श्री नेहरू ने एक भाषण में कहा था—"जहां स्वाधीनता संकट में हो, न्याय खतरे में हो, आक्रमण की घटना हुई हो, हम वहां न तटस्थ रह सकते हैं और न तटस्थ रहेंगे।" यह गतिशील तटस्थता (Dynamic Neutrality) है।

तटस्थता का एक अर्थ पार्थक्यवाद (Isolationism) भी समझा जाता है, स्विटजरलैण्ड संयुक्त राष्ट्रसंघ में इसीलिए नहीं सम्मिलित हुआ कि इससे उसकी तटस्थता भंग होती है। भारत की तटस्थता ऐसी नहीं है। वह सं० रा० संघ का क्रियाशील सदस्य है, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का तथा अफ्रीका व एशिया के संगठनों का सदस्य है। उसका पार्थक्य केवल सैनिक समझौतों के सम्बन्ध में ही है।

भारत की असंलग्नता की नीति तटस्थता से इस अंश में भी भिन्न है कि यह आवश्यकता पड़ने पर युद्ध करने तथा विभिन्न गुटों से सैनिक सहायता लेने में संकोच नहीं करती। अक्टूबर १९६२ में चीन का विश्वासघाती हमला होने पर भारत ने मातृभूमि की रक्षा के लिए पश्चिम के सब बड़े देशों से सैनिक सहायता प्राप्त की।

चीनी आक्रमण के बाद अमेरिकन पत्रिका फारेन एफेयर्स में असंलग्नता की नीति की प्रामाणिक व्याख्या करते हुए प्रधानमंत्री श्री नेहरू ने लिखा था—असंलग्नता (Non-alignment) सब देशों के प्रति मित्रता की हमारी नीति को संक्षिप्त रूप में प्रतिपादित करती है, यह सैनिक संधियों से पृथक् रहने की नीति है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम

विवादग्रस्त विषयों के प्रति उदासीन हैं, किन्तु हमारी यह इच्छा है कि हम अपने लिए ऐसे सभी प्रश्नों पर पूरी स्वतन्त्रता के साथ और पहले से बनाये किसी दलीय पक्षपात से रहित होकर विचार कर सकें। मौलिक रूप से इसमें यह विचार था कि इस दुनिया में भलाई और बुराई मिली होती है, राष्ट्रों को भेड़ों और बकरियों में बांट कर उनकी निन्दा और प्रशंसा नहीं की जा सकती तथा यदि हम एक सैनिक गुट में मिलेंगे तो यह दोनों गुटों में संघर्ष के खतरे को कम नहीं करेगा, किन्तु अधिक बढ़ायेगा। वस्तुतः 'असंलग्नता' कार्य करने की स्वतन्त्रता है और यह हमारी स्वाधीनता का अग है।"[13]

पंचशील—यह इस समय भारतीय विदेशनीति की आधारशिला है। पंचशील बौद्ध धर्म का पारिभाषिक शब्द है। कोई व्यक्ति बौद्ध भिक्षु बनते समय जो पाँच व्रत धारण करता है, वे पंचशील कहलाते हैं। ये पांच व्रत अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य का पालन करना तथा मद्यपान का निषेध है।[14] ये व्रत एक व्यक्ति के लिए हैं, इसी प्रकार के पाँच शील या सिद्धान्त राष्ट्रों के लिए एक-दूसरे के साथ आचरण के सम्बन्ध में निश्चित किये गये हैं। ये पंचशील इस प्रकार हैं—(१) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता (Sovereignty) के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना (२) अनाक्रमण (३) एक-दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना (४) समानता तथा एक-दूसरे को लाभ पहुँचाना (५) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व (Peaceful Coexistence)।

इन पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन सर्वप्रथम २० जून, १९५४ को चीनी जनगणराज्य के प्रधानमन्त्री-चौ-एन-लाई के साथ तीन दिन के वार्त्तालाप के पश्चात् प्रकाशित किये गये भारत और चीन के प्रधानमन्त्रियों के संयुक्त वक्तव्य में किया गया था। इसमें यह कहा गया था "चीन और भारत ने दोनों देशों के सम्बन्धों के संचालन के लिए इन पाँच सिद्धान्तों के पालन का निश्चय किया है, वे एशिया तथा विश्व के अन्य देशों के साथ अपने सम्बन्धों में भी इनका अनुसरण करेंगे। यदि इनका प्रयोग न केवल विभिन्न देशों में अपितु सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी किया जाय तो इससे शान्ति और सुरक्षा का एक सुदृढ़ आधार बनेगा और वर्तमान संदेहों तथा आशंकाओं के स्थान पर विश्वास उत्पन्न होगा। इस समय एशिया के तथा जगत् के विभिन्न भागों में विविध प्रकार की सामाजिक और राजनीतिक पद्धतियां विद्यमान हैं, यदि उपर्युक्त सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाय और इनका पालन किया जाय, दूसरे के देश में कोई हस्तक्षेप न हो तो ये विभिन्नतायें शान्ति भंग करके संघर्ष उत्पन्न नहीं करेंगी। प्रत्येक देश की प्रादेशिक

---

१३ फारेन एफेयर्स एप्रिल १९६३, पृ० ४५६-७

१४. बौद्ध भिक्षु के पंचशील की प्रतिज्ञायें निम्नलिखित हैं—१. पाणातिपाता वेरमणी, सिक्खापदं समादियामि (मैं प्राणिहिंसा से विरत रहने का व्रत ग्रहण करता हूं)। २. अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि (चोरी से विरत रहने का व्रत०)। ३. कामेसु मिच्छाचार वेरमणी सिक्खापदं समादियामि (परस्त्रीगमनादि से विरत रहने का व्रत०)। ४. मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि (असत्य भाषण से विरत रहने का व्रत०)। ५. सुरामेरयापमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि (मद्यपान तथा प्रमाद स्थान जुए आदि से विरत०)।

अखण्डता, सर्वोच्च सत्ता और अनाक्रमण का आश्वासन मिल जाने पर विभिन्न देशों में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व रहेगा और मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बढ़ेंगे। इससे विश्व में विद्यमान वर्तमान तनाव कम होगा और शान्ति का वातावरण उत्पन्न होने में सहायता मिलेगी।"

२३ सितम्बर, १९५४ को इंडोनीशियन प्रधानमन्त्री अली सास्त्रोमिजोजो के सम्मान में आयोजित एक राजकीय भोज में श्री नेहरू ने उपर्युक्त पाँच सिद्धान्तों को पंचशील का नाम दिया था। पंचशील के सिद्धान्तों को भारत की यात्रा करने वाले विदेशों के अनेक उच्चपदासीन व्यक्तियों और शासनाध्यक्षों ने अपने वक्तव्यों में स्वीकार किया है। जैसे वीतनाम के लोकतन्त्रीय गणराज्य के प्रधान होचीमिन्ह ने (२७ अक्टूबर, १९५४), यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने (२३ दिसम्बर, १९५४)। २ अप्रैल, १९५५ को लोकसभा में की गई एक घोषणा के अनुसार उस समय तक इसे निम्न देशों ने स्वीकार कर लिया था—बर्मा, चीन, लाओस, नैपाल, वीतनाम, यूगोस्लाविया और कम्बोडिया। बाद में अफगानिस्तान, सीरिया, सौदी अरब ने भी इन सिद्धान्तों का समर्थन किया। अप्रैल १९५५ को बांडुग में एशिया तथा अफ्रीका के २९ राष्ट्रों ने पंचशील का विस्तार करके इसे दस सिद्धान्तों का या दशशील का रूप दिया, ये इस प्रकार थे—(१–२) मौलिक मानवीय अधिकारों के प्रति तथा सं० रा० संघ के चार्टर के सिद्धान्तों के प्रति सम्मान की भावना। ३. सब नस्लों की तथा छोटे-बड़े राष्ट्रों की समानता। ४. दूसरे देश के मामलों में हस्तक्षेप न करना। ५. सं० रा० संघ के चार्टर के अनुसार प्रत्येक देश को आत्मरक्षा करने का अधिकार। ६. किन्हीं महाशक्तियों द्वारा विशेष उद्देश्यों को पूरा करने के प्रयोजन से बनायी व्यवस्थाओं से पृथक् रहना तथा दूसरे देशों पर दबाव डालने से बचना। ७. आक्रमण के कार्यों को न करना; हमले की धमकियां न देना। ८. सब अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों—सन्धिवार्त्ता, समझौते, मध्यस्थता आदि से निपटारा करना। ९. पारस्परिक सहयोग और हितों की वृद्धि। १०. न्याय के प्रति तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान। इसके बाद पंचशील को आस्ट्रिया (४ जून, १९५५), रूस (२२ जून), पोलैण्ड (२७ जून), सं० रा० अमेरिका (२७ अक्टूबर), आस्ट्रेलिया (५ अक्टूबर, १९५८) ने स्वीकार किया। १४ दिसम्बर, १९५९ को ८२ राष्ट्रों की सं० रा० संघ की असेम्बली में भारत द्वारा उपस्थित किये जाने वाले पंचशील के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अब पंचशील के सिद्धांत विश्व के लगभग सभी राज्यों द्वारा मान लिये गये हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पंचशील के सिद्धान्त बड़े उदात्त आदर्श हैं। इसका पहला सिद्धान्त प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता (Sovereignty) के लिए पारस्परिक सम्मान की घोषणा करता हुआ सब प्रकार के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद की जड़ पर कुठाराघात करता है। साम्राज्य के विविध रूप—दूसरे देशों पर राजनीतिक प्रभुत्व, इनमें विशेष आर्थिक अधिकारों और सुविधाओं की प्राप्ति, दूसरे देशों के नागरिकों के विशेषाधिकार, सैनिक अड्डों की स्थापना, अपने समर्थक कठपुतली राज्य बनाना, उसके मामलों में हस्तक्षेप कर इन देशों की सर्वोच्च सत्ता को अपहरण

करना है। यदि सब देशों की सर्वोच्च सत्ता का पूरा ध्यान रखा जाय तो साम्राज्यवाद का स्वयमेव अन्त हो जाएगा। अनाक्रमण और दूसरे देश के मामलों में हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त संघर्ष के क्षेत्र को संकुचित करने वाले तथा शांति का वातावरण बढ़ाने वाले हैं। चौथे सिद्धान्त के अनुसार सब छोटे-बड़े राष्ट्रों की समानता स्वीकार करते हुए बड़े राष्ट्रों को छोटे राष्ट्रों की सहायता के लिए कहा गया है, यदि सब राष्ट्र एक-दूसरे का सहयोग करें तो पिछड़े हुए देशों की दरिद्रता और सब प्रकार के दुःख दूर किये जा सकते हैं। पंचशील का पाँचवां सिद्धान्त इस पर बल देता है कि विभिन्न देशों के सामाजिक और आर्थिक संगठनों में भेद होने पर भी इन्हें एक-दूसरे के उन्मूलन का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, किन्तु एक-दूसरे के साथ शांतिपूर्वक रहने की नीति ग्रहण करनी चाहिए। इस समय विश्व में दो प्रबल विरोधी विचारधारायें हैं, यदि वे बलपूर्वक अपने शत्रु का सफाया करना चाहें तो इसका परिणाम मानवजाति का विनाश ही होगा। अतः आणविक आयुधों के युग में यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का पालन किया जाय।

पंचशील के सम्बन्ध में प्रायः यह आपत्ति की जाती है कि यह केवल ऊंचे आदर्शों की कोरी घोषणामात्र है, इसमें इन सिद्धान्तों का पालन करवाने के लिए कोई उपयुक्त व्यवस्था, शासन-यन्त्र या संस्था नहीं है। यह १९२८ के युद्ध-विरोधी केलाग-ब्रीआं पैक्ट (देखिये पृ० १०७–१२) के समान है, केवल शब्दों के कोरे जादू से अन्तर्राष्ट्रीय शांति स्थापित करना चाहता है। यह सम्भव नहीं है, अतः इसकी उपयोगिता बड़ी संदिग्ध है। श्री नेहरू ने २९ दिस० १९५४ को लोकसभा में इस पर प्रकाश डालते हुए कहा था—"लोगों ने पंचशील का विरोध किया है, किन कारणों के आधार पर? वे यह कहते हैं—'आप यह कैसे विश्वास कर लेते हैं कि इन सिद्धान्तों का पालन भी किया जायगा?' निस्सन्देह यदि आप किसी बात पर विश्वास नहीं करते तो इसकी चर्चा करने और इसके बारे में लिखने का कोई लाभ नहीं है और फिर केवल यही बात रह जाती है कि आप अकेले रहें और लड़कर दूसरे पक्ष को परास्त करें—इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। यह दूसरे पक्ष के वचन पर विश्वास करने की बात नहीं है, किन्तु ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने का प्रश्न है, जिसमें दूसरा पक्ष अपने वचन का भंग न कर सके। यह सम्भव है कि दूसरा पक्ष अपने वचन का भंग करे और यह भी सम्भव है कि वह अपने को अधिक विषम स्थिति (Quandry) में पाये। यदि विश्व के विभिन्न देश पारस्परिक सम्बन्धों के लिए इन पाँच सिद्धान्तों को बार-बार दुहराते हैं तो वे इसके लिए एक वातावरण उत्पन्न करते हैं।"

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि पिछले दस वर्षों में पंचशील के सम्बन्ध में श्री नेहरू की उपर्युक्त आशा पूरी नहीं हुई। इसके पक्ष में सब से बड़ी बात यह कही जाती थी कि यद्यपि पंचशील के सिद्धान्त सं० रा० संघ के सिद्धान्तों से भिन्न नहीं थे, किन्तु साम्यवादी चीन को उसका सदस्य न बनाये जाने के कारण भूमण्डल की एक चौथाई जनता ने इसका पालन करना स्वीकार नहीं किया था, चौ-एन-लाई द्वारा उपर्युक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर कर देने के कारण अब चीन भी सीधा न सही, द्राविड़ी प्राणायाम

से संघ के सिद्धान्तों का हामी हो गया है। किन्तु १७ मार्च, १९५९ को दलाई लामा के लासा से पलायन और भारत में शरण ग्रहण करने के बाद जो घटनायें घटी हैं, उन्होंने श्री नेहरू को भी स्वयमेव इस विषय में सन्देहशील बना दिया है। दलाई लामा ने किन्हीं कारणों से पलायन किया हो, किन्तु भारत को उन्हें शरण (Asylum) देने का अधिकार था। इस पर साम्यवादी चीन ने भारत पर 'साम्राज्यवादी और विस्तारवादी' होने का आरोप लगाते हुए नई दिल्ली के विरुद्ध जो विषवमन किया वह पंचशील के दूसरे देशों की सर्वोच्च सत्ता के प्रति सम्मान के पहले तथा दूसरे देशों के मामलों में हस्तक्षेप न करने के तीसरे सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लंघन था।[१५] श्री कृपलानी ने पंचशील के प्रादुर्भाव के समय कहा था—"यह महान् सिद्धान्त पापपूर्ण परिस्थितियों की उपज है, क्योंकि यह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से हमारे साथ सम्बद्ध एक प्राचीन राष्ट्र (तिब्बत) के विनाश पर हमारी स्वीकृति पाने के लिए प्रचारित किया गया था।" अब यह कहा जा सकता है कि दलाई लामा की स्वतन्त्र सत्ता की मार्च १९५९ में समाप्ति के साथ पंचशील के आदि प्रवर्तक एक राष्ट्र द्वारा इसका भी परित्याग कर दिया गया है। रूस ने हंगरी में तथा इमरे नेगी के मामले में इन सिद्धान्तों का पालन नहीं किया। चीन ने २० अक्टूबर, १९६२ को हमारे देश पर बर्बर आक्रमण करके इस सिद्धान्त की अंत्येष्टि कर दी है।

विदेशनीति के लक्ष्य—भारतीय विदेशनीति का निर्माण करने वाले मौलिक तत्त्वों तथा इसकी विशेषताओं के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय विदेश-नीति के प्रधान लक्ष्य निम्नलिखित हैं—(१) राष्ट्रीय हित की सुरक्षा (२) विदेशी आक्रमणों से भारत को सुरक्षित बनाने के लिए विशेषत: पड़ोसी देशों से और सामान्य रूप से सब देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाना (३) विभिन्न महाशक्तियों के गुटों में तथा सैनिक सन्धियों में सम्मिलित न होने की असंलग्नता (Non-alignment) की नीति। (४) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध (५) भारत को महाशक्ति बनाने की आकांक्षा (६) एशिया और अफ्रीका के स्वतन्त्र राज्यों का संगठन सुदृढ़ करना (७) अपनी औद्योगिक प्रगति के लिए सब देशों से सहायता प्राप्त करना। (८) नैपाल के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध (९) पाकिस्तान के साथ विवादों का शांतिपूर्ण निपटारा करना

१५. २७ अप्रैल, १९५९ को लोकसभा में भाषण करते हुए श्री नेहरू ने कहा था—"पंचशील के सिद्धान्तों में एक दूसरे के प्रति सम्मान रखने की बात कही गयी है, यदि निराधार आरोप लगाए जायं और शीतयुद्ध की भाषा का प्रयोग किया जाय तो इससे पारस्परिक सम्मान को गहरी क्षति पहुँचती है।" इस अवसर पर श्री नेहरू ने तिब्बत की घटनाओं के बाद पंचशील की उपयोगिता के सम्बन्ध में की जाने वाली शंकाओं का समाधान करते हुए कहा था—"कुछ लोग यह पूछते हैं कि इन घटनाओं के बाद क्या आप अब भी पंचशील का पालन करेंगे? यह बड़ा विचित्र प्रश्न है। यदि ये सिद्धान्त ठीक हैं और हम ऐसा मानते हैं तो हम इनका पालन करेंगे, भले ही दुनिया में कोई इन्हें वांछनीय न समझे। चाहे कोई दूसरा इन सिद्धान्तों पर आचरण न करे, हमें तो इनका पालन करना चाहिए।...हम इन सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, दूसरे देश इन पर आचरण करें या न करें, हम इन पर आचरण करने का पूरा प्रयत्न करेंगे।"

(१०) भारत के वैदेशिक व्यापार के लिए सब समुद्री मार्गों को खुला रखना। (११) ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखना (१२) भारत से पुर्तगाली विदेशी बस्तियों का अन्त करना (१३) विदेशों में भारतीयों के हितों की सुरक्षा (१४) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण रीति से हल करने की उत्कंठा (१५) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विरोधी गुटों में शांतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना, इनके विवादों को मध्यस्थता द्वारा दूर करना, दोनों विरोधी गुटों को मिलाने के लिए सेतुबन्ध का कार्य करना।

विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत के कार्य

भारत यद्यपि सैनिक और औद्योगिक दृष्टि से बिल्कुल नगण्य राष्ट्र है (दे० पृ० ४१५), फिर भी उसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कई मामलों में अपना पर्याप्त प्रभाव डाला है। इसका मुख्य कारण इस समय विश्व का दो प्रबल शक्तिशाली किन्तु सन्तुलित गुटों में बँटा होना तथा भारत द्वारा निष्पक्ष स्वतन्त्र, शांतिवादी नीति का अनुसरण है। जब तुला के दोनों पलड़े बिल्कुल बराबर हों तो एक रत्ती-माशे का भार भी इस पर अपना प्रभाव डाल देता है। यही स्थिति भारत की है, निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र होने के कारण उसकी सैनिक शक्ति नगण्य होते हुए भी वह विश्व की राजनीति को प्रभावित कर रहा है। ग्रेट ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध पत्र न्यूज क्रानिकल ने १ जनवरी, १९५१ को अन्तर्राष्ट्रीय विषयों का सर्वेक्षण करते हुए लिखा था—"भारत साम्यवाद और सामाजिक लोकतन्त्र के दो विश्वव्यापी सिद्धान्तों के संघर्ष में निर्णयात्मक तत्त्व हो सकता है।" वस्तुतः वह कई अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में ऐसा तत्त्व रहा है। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

(१) **सेतुबन्ध और शान्ति स्थापना का कार्य**—इस समय पूर्व और पश्चिम के देशों में प्रबल संघर्ष और मतभेदों की चौड़ी खाई विद्यमान है, इनको पाटने का महत्त्वपूर्ण कार्य कई अवसरों पर भारत ने किया है। जिस प्रकार श्री रामचन्द्र ने भारत और लंका के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सेतुबन्ध स्थापित किया था, उसी प्रकार आजकल श्री नेहरू पश्चिम के मतभेद की खाई पाटने के लिए नये सेतुबन्ध का निर्माण कर रहे हैं। उन्होंने स्वयमेव कई बार कहा है—"हमारा काम पुलों को बनाना है, तोड़ना नहीं है।" दो अवसरों पर निश्चित रूप से भारत ने तृतीय विश्वयुद्ध के दावानल को प्रज्वलित होने से रोका है और दोनों पक्षों में शान्तिदूत का कार्य सफलतापूर्वक किया है। ये अवसर कोरिया का तथा हिन्दचीन का युद्ध थे।

(क) **कोरिया**—कोरिया भारत से बहुत दूर उत्तर-पूर्व में एक छोटा-सा देश है। लार्ड कर्जन ने एक बार सुदूरपूर्व में भारत के ब्रिटिश साम्राज्य की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा था—"दूरवर्ती कोरिया का भाग्य भी भारतीय धुरी के चारों ओर घूमता है।" उसकी यह भविष्यवाणी भारत के स्वतन्त्र होने पर अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। १९४७ में सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने कोरिया की समस्या हल करने के लिए बनाए गये सं० रा० अस्थायी आयोग (U. N. Temporary Commission on Korea, UNTCOK) का सदस्य भारत को बनाया। यद्यपि उस समय भारत इसके लिए बहुत उत्सुक न था, फिर भी उसके प्रतिनिधि श्री के० पी० एस० मेनन ने इसमें

इतनी अधिक दिलचस्पी ली कि उसे शीघ्र ही इसका प्रधान बना दिया गया। इस आयोग ने प्रधान रूप से भारत की प्रेरणा से निर्वाचन के लिए वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान प्रणाली तथा सारे देश में राष्ट्रीय आधार पर सं० रा० संघ की अध्यक्षता में चुनाव कराने के सिद्धान्त स्वीकार किये तथा सं० रा० अमेरिका का क्षेत्रीय आधार (Zonal Basis) पर सैनिक अधिकार रखने वाली महाशक्तियों के निरीक्षण में चुनाव कराने का सिद्धान्त अस्वीकार किया। भारत के प्रतिनिधि श्री मेनन ने आरम्भ से ही इस बात पर बल दिया कि कोरिया पर विचार समूची दृष्टि से किया जाना चाहिए, उसे उत्तर और दक्षिण के हिस्सों में बाँट कर सोचने का, विभाजन के परिणामों का स्वयमेव भुक्तभोगी होने के कारण भारत ने विरोध किया। इस समय इस मामले में भारत की दिलचस्पी का प्रधान कारण नवीन स्वतन्त्रता पाने के बाद एशिया के अन्य पराधीन देशों को स्वाधीन बनाने की आकांक्षा थी।

फरवरी १९४८ में भारत ने जनरल असेम्बली के कोरिया में चुनाव करने वाले प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिए सं० रा० संघ की अन्तरिम समिति (Interim Committee) का यह प्रस्ताव मान लिया कि "आयोग कोरिया के जिन हिस्सों में संभव हो वहां चुनाव करा दे।" यह बड़ा महत्त्वपूर्ण निर्णय था, कोरिया की अगली सब समस्यायें इससे उत्पन्न हुईं, इसका स्वाभाविक परिणाम कोरिया का उत्तर और दक्षिण के दो परस्पर विरोधी हिस्सों में विभक्त हो जाना था। भारत ने इसके विभाजन का उत्कट विरोधी होते हुए भी इस प्रस्ताव को आन्तरिक परिस्थितियों के कारण स्वीकार कर लिया। इस समय भारतीय कम्यूनिस्टों ने सरकार को सहयोग देना बन्द कर दिया था। वे सरकारी शासनयन्त्र को पंगु बनाने के लिए बड़े पैमाने पर हड़तालें और उपद्रव कर रहे थे। इस कारण इस समय भारत सरकार की नीति कम्यूनिस्ट-विरोधी थी. अतः कोरिया में उसने उत्तरी कोरिया के कम्यूनिस्टों के विरोध की परवाह न करते हुए उपर्युक्त निर्णय किया[१६]। इसके परिणाम-स्वरूप दक्षिण कोरिया में चुनाव होकर वहां सिंगमन री की सरकार स्थापित हो गयी। किन्तु भारत ने इसे समूचे कोरिया की राष्ट्रीय सरकार मानने से इन्कार किया और कोरिया के एकीकरण के लिए सं० रा० अमेरिका द्वारा उपस्थित किए एक आयोग बनाने के प्रस्ताव का समर्थन किया।

जून १९५० में उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण को रोकने के लिए जब सं० रा० संघ की जनरल असेम्बली ने सैनिक कार्यवाही करने का निश्चय किया तो भारत ने इसका समर्थन किया। श्री नेहरू ने ७ जुलाई को यह घोषणा की कि जब उत्तरी कोरिया ने दक्षिण कोरिया के विरुद्ध आक्रमण किया तो बिना किसी विशेष जांच के यह स्पष्ट था कि यह एक अच्छी तरह आयोजित और बड़े पैमाने पर किया गया आक्रमण था[१७]। इस अवस्था में भारत सरकार की स्वाभाविक नीति इस आक्रमण

१६. करुणाकर गुप्त—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०

१७. वही पुस्तक, पृ० ११, १२ : यह कहा जाता है कि इस समय कोरिया में सं० रा० आयोग में विद्यमान भारतीय प्रतिनिधि श्री सां०कोदण्डराव और डा० अनूपसिंह निष्पक्ष नहीं थे और इन्होंने भारत सरकार को पूरी और यथार्थ सूचनायें नहीं भेजीं।

को रोकने वाले प्रस्ताव का समर्थन करने की थी ।

एक बार सं० रा० संघ के सैनिक कार्यवाही का समर्थन करने के बाद श्री नेहरू ने इस युद्ध को सीमित और बन्द करने का पूरा प्रयत्न किया। भारत ने इस युद्ध में सं० रा० संघ की सहायता के लिए एक भी सैनिक दस्ता नहीं भेजा, क्योंकि वह इस युद्ध के दावानल को भड़काने की सामग्री देने में सहायता नहीं करना चाहता था। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात श्री नेहरू द्वारा संभवतः पेकिंग में भारतीय राजदूत श्री पणिक्कर की प्रेरणा से इस युद्ध को रोकने के लिए मास्को और वाशिंगटन में श्री स्तालिन और अकेसन को लिखे गये पत्र थे। यदि वाशिंगटन नेहरू के शान्ति प्रस्तावों का उतने ही उत्साह से स्वागत करता, जितने उत्साह से मास्को ने किया था तो कोरिया युद्ध बहुत जल्दी समाप्त हो जाता, यदि वह न भी समाप्त होता तो भी कम से कम रूस की ईमानदारी की परीक्षा भलीभांति हो जाती।

इसके बाद भारत ने इस बात पर बल दिया कि सं० रा० संघ की सेनायें उत्तरी कोरिया के आक्रान्ताओं को दक्षिणी कोरिया से भगाकर दोनों की सीमा ३८° अक्षांश रेखा पर रुक जायं, उससे आगे न बढ़ें; क्योंकि सं० रा० संघ की सेनाओं का उद्देश्य आक्रमण का निवारण करना है, न कि उत्तरी कोरिया पर नया आक्रमण करना। श्री पणिक्कर ने पेकिंग से श्री नेहरू को यह सूचित किया था कि यदि ३८° अक्षांश रेखा से उत्तर में संघ की सेनायें बढ़ीं तो साम्यवादी चीन इसमें सम्मिलित हो जायगा। इससे कोरिया युद्ध की जटिलतायें बहुत बढ़ जायेंगी। इस प्रामाणिक सूचना के आधार पर श्री नेहरू ने पश्चिमी राष्ट्रों को बराबर यह प्रेरणा की कि संघ की सेनायें ३८° अक्षांश की रेखा से आगे न बढ़ें। यदि यह सलाह मान ली जाती तो कोरिया का युद्ध बहुत पहले समाप्त हो जाता और उसमें इतने भीषण जन-धन का संहार न होता। जब सं० रा० अमेरिका ने यह नहीं माना, जनरल मैकआर्थर की सेनायें उत्तरी कोरिया में आगे बढ़ने लगीं और चीन ने उसकी सहायता की तो भारत ने सं० रा० के चीन को आक्रांता घोषित करने वाले प्रस्ताव पर वोट नहीं दिया। ३० नवम्बर, १९५० को अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा कोरिया युद्ध में अणुबम के प्रयोग की धमकी से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव चरम सीमा पर पहुँच गया। दिसम्बर १९५० में अरब एशियाई गुट के तथा जून १९५१ के भारत के विराम संधि करने और युद्ध बन्द करने के प्रस्ताव यद्यपि स्वीकार नहीं हुए, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनसे कोरिया की लड़ाई विश्वयुद्ध के दावानल में परिवर्तित होने से बच गई।

कोरिया युद्ध में भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य युद्धबन्दियों के प्रत्यावर्तन के सम्बन्ध में था। ५७५ बैठकों के बाद पानमुनजोम की विराम सन्धि होने पर भी कोरिया का संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। सं० रा० संघ की सेना द्वारा युद्ध में बन्दी बनाये गये हजारों सैनिक युद्धबन्दी होने पर कम्यूनिस्ट अत्याचारों से आतंकित होने के कारण अपनी मातृभूमि चीन और उत्तरी कोरिया वापस नहीं लौटना चाहते थे। चीन और रूस इन्हें वापिस लौटाने पर तुले हुए थे। भारत ने इस प्रश्न को हल करने के लिए कई प्रस्ताव रखे, किन्तु उन्हें रूस ने स्वीकार नहीं किया, अन्त में मार्च १९५३ के दोनों पक्षों द्वारा

स्वीकृत प्रस्ताव भारतीय प्रस्तावों से बहुत मिलते थे। इनके अनुसार स्वदेश वापिस लौटने के लिए अनिच्छुक बन्दियों की समस्या हल करने के लिए पाँच तटस्थ राष्ट्रों—भारत, स्विटजरलैण्ड, स्वीडन, पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, का एक आयोग (Neutral Nations Repatriation Commission) नियत किया गया, भारत इसका अध्यक्ष नियुक्त हुआ और जनरल थिमैया ने यह कठिन कार्य बड़ी योग्यतापूर्वक सम्पन्न किया। इस आयोग ने जनवरी १९४४ में सं० रा० संघ की कमान को उत्तर कोरिया के २२ हजार ऐसे युद्धबन्दी सौंपे, जो चीन या उत्तर कोरिया वापस नहीं जाना चाहते थे। सं० रा० संघ ने इन्हें मुक्त करते हुए १५००० चीनियों को फारमोसा जाने दिया और ७००० उत्तर कोरियन दक्षिण कोरिया में रह गये।

कोरिया युद्ध में भारत की नीति को सराहना करते हुए हमारे देश के भूतपूर्व अमेरिकी राजदूत चैस्टर बौल्स ने लिखा है—"नई दिल्ली ने ३८ वीं अक्षांश रेखा पर युद्ध बन्द करने के लिए बल दिया। इस चेतावनी की परवाह न करते हुए हम उत्तर में बढ़े। चीन की लाल सेना ने फौरन यलू नदी (कोरिया की उत्तरी सीमा) पार की। तीन वर्ष बाद अन्त में हमने विराम सन्धि को उसी ३८°वीं अक्षांश रेखा पर करना स्वीकार किया। इस बीच ९६००० अमेरिकन और पता नहीं कितने चीनी और कोरियन मारे गए तथा घायल हुए।"[१८]

(ख) **हिन्द चीन**—द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले इस पर फ्रांस का अधिकार था, युद्ध में इसे जापानियों ने जीत लिया। टोकियो द्वारा आत्मसमर्पण किये जाने पर अंग्रेजों ने इसके दक्षिणी भाग का तथा चीन ने उत्तरी भाग का सैनिक नियन्त्रण प्राप्त कर लिया। बाद में फ्रांस ने दक्षिणी प्रदेश ग्रेट ब्रिटेन से ले लिया तथा उत्तरी प्रदेश पाने के लिए राष्ट्रवादी चीन से संधि की। इस समय वीतनाम (अनाम) में स्वाधीनता प्राप्ति के लिए वीत मिन्ह नामक संस्था की स्थापना हुई और इसने फ्रेंच प्रभुता से पूर्ण स्वतंत्रता पाने के लिए प्रबल आन्दोलन छेड़ दिया तथा फ्रांस द्वारा दुबारा यहां सत्ता स्थापित करने का घोर विरोध किया। १९४९ में वीत मिन्ह सेनाओं ने चीनी कम्यूनिस्टों से सहायता पाकर फ्रेंच सेनाओं पर आक्रमण किया, इधर सं० रा० अमेरिका ने कम्यूनिस्टों का प्रसार रोकने के लिए फ्रांस को सहायता देनी शुरू की। पांच वर्ष के युद्ध के बाद यहां फ्रांस की बुरी तरह हार होने लगी, २० मार्च १९५४ को फ्रांस के प्रधान सैन्याधिकारी पाल एली (Paul Ely) ने अमेरिका को यह सूचित किया कि वह उसे तुरन्त भारी मात्रा में सहायता प्रदान करे, अन्यथा उसे कम्यूनिस्टों से सन्धि करने के लिए विवश होना पड़ेगा। ५ अप्रैल को अमेरिकी विदेश-मन्त्री डलेस ने सीनेट की विदेश विषयों की कमेटी को कहा कि अमेरिका हिन्द चीन को कम्यूनिस्टों के हाथ में नहीं पड़ने देगा। इसका अर्थ अमेरिका द्वारा युद्ध में कूदना और तीसरे विश्वयुद्ध का श्रीगणेश था।

इस संकटपूर्ण समय में भारत ने इसे रोकने तथा दोनों पक्षों में समझौता कराने के प्रयत्न किये। २४ अप्रैल, १९५४ को लोकसभा में श्री नेहरू ने हिन्दचीन की समस्या

---

१८. चैस्टर बौल्स—दी न्यू डाइमैन्शन्स आफ पीस, पृ० १६२

के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए उस समय हो रहे जेनीवा सम्मेलन में विचारार्थ छः प्रस्ताव रखे। **पहले** प्रस्ताव में शान्ति और सन्धिवार्ता का वातावरण बनाने के लिए सब सम्बद्ध देशों से यह कहा गया था कि वे धमकियां न दें और योद्धा देशों को युद्ध में तेजी न लाने की सलाह दी गई थी। **दूसरे** प्रस्ताव में युद्ध-विराम (Cease-fire) के प्रश्न पर सबसे पहले ध्यान दिया जाने का वर्णन था। **तीसरे** प्रस्ताव में सम्मेलन को कहा गया था कि संघर्ष समाप्त करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हिन्द चीन की पूर्ण स्वाधीनता फ्रेंच सरकार द्वारा स्वीकार कर ली जाय। **चौथे** प्रस्ताव में दोनों पक्षों को फ्रांस और हिन्द चीन द्वारा इस प्रश्न पर सीधा वार्तालाप करके इसे हल करने को कहा गया था। **पाँचवें** प्रस्ताव में सं० रा० अमेरिका, सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन और चीन को एक ऐसा पवित्र समझौता करने को कहा गया था, जिसके अनुसार वे लड़ने वाले दोनों पक्षों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किसी भी प्रकार की सहायता न दें। **छठे** प्रस्ताव में इस सम्मेलन की प्रगति सं० रा० संघ को देते रहने को तथा समझौता करने के लिए उसकी सहायता लेने की बात कही गई थी। इन प्रस्तावों का जेनीवा सम्मेलन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

हिन्दचीन युद्ध-विराम के लिए लोकसभा में की गई श्री नेहरू की अपील का दूसरे देशों ने स्वागत किया। श्री नेहरू ऐसी अपील करने वाले पहले राजनीतिज्ञ थे। यद्यपि भारत को "हिन्दचीन के शान्ति सम्मेलन में बुलाने" के प्रयत्न सफल नहीं हुए, किन्तु उसने इस युद्ध के बन्द करवाने के प्रयत्नों में कोई कमी नहीं की। उसके अनुरोध से कोलम्बो में मई १९५४ में होने वाले द० पू० एशिया के प्रधानमंत्रियों के सम्मेलन ने इस प्रश्न पर विशेष रूप से विचार किया। ब्रिटेन ने भी इस समय द० पू० एशिया में शान्ति स्थापित करने के प्रयत्नों में भारत से बड़ी सहायता ली। श्री कृष्ण मेनन जेनीवा सम्मेलन के समय वहां उपस्थित रहे, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ईडन ने श्री नेहरू को लिखे एक पत्र में मेनन के शान्ति-कार्य की विशेष रूप से सराहना की। जेनीवा सम्मेलन ने २१ जुलाई, १९५४ को युद्ध बन्द करने का समझौता किया। युद्ध-विराम की घोषणा होने के बाद उसकी राजनीतिक समस्याओं का समाधान अभी शेष था। इसके लिए तीन सदस्यों (भारत, पोलैण्ड तथा कनाडा) का एक शान्ति आयोग स्थापित किया गया। भारत के शान्ति स्थापना के कार्यों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए इस आयोग का प्रधान भारत को बनाया गया।

हिन्दचीन के सम्बन्ध में भारत द्वारा किए गये प्रयत्नों का मूल्यांकन करते हुए श्री चैस्टर बौल्स ने लिखा है—"भारत ने हिन्दचीन में फ्रांस के औपनिवेशिक साम्राज्य का समर्थन करने की निष्फलता के सम्बन्ध में हमें बार-बार चेतावनी दी थी, जनवरी १९५४ में जब श्री नेहरू ने विराम सन्धि करने पर बल दिया तो उत्तरदायी अमेरिकनों ने उन पर 'साम्यवादियों के साथ सहानुभूति' का दोषारोपण करते हुए यह कहा कि वह होची मिन्ह को उसकी निकट भविष्य में होने वाली हार से बचाना चाहता है। तीन महीने बाद दियेनबियेनफु का पतन हुआ और फ्रेंच सेना को लाल नदी के डेल्टा में

भीषण सैनिक पराजय का सामना करना पड़ा।[१९]

(ग) **अन्य कार्य**—अप्रैल १९५५ में जब किमाय और मात्सु टापुओं के सम्बन्ध में साम्यवादी चीन और सं० रा० अमेरिका में बड़ा तनाव और संघर्ष उत्पन्न हो गया, तो भारत ने इस विषय में अमेरिका को मृदुता की नीति अपनाने पर बल दिया और इसके परिणामस्वरूप आइजनहावर के वैयक्तिक निर्णय से एक बड़ा संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर हो गया।

विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए भारत ने सं० रा० संघ की बैठकों में निःशस्त्रीकरण पर बहुत बल दिया है। १९५८ के जनरल असेम्बली के तेरहवें अधिवेशन में उसने दो प्रस्तावों पर बल दिया —(१) समझौता होने की अवधि तक आणविक आयुधों के परीक्षण फौरन बन्द कर दिये जाएं। (२) आकस्मिक आक्रमणों को बन्द करने की सम्भावना के प्रश्न पर विचार किया जाय। इसी अधिवेशन में भारत ने यह प्रस्ताव रखा, कि निःशस्त्रीकरण आयोग में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों को सम्मिलित कर लिया जाय ताकि इसमें गत वर्ष आये हुए गतिरोध को दूर किया जा सके। यह प्रस्ताव असेम्बली ने प्रबल बहुमत से स्वीकार किया।

कांगो में राष्ट्रसंघ के आह्वान पर भारत ने अपनी सेनाएं भेजीं और इन्होंने वहां लोकतन्त्र की रक्षा की, उस देश की एकता और अखण्डता को सुरक्षित बनाया तथा इसे विघटित करने का प्रयत्न करने वाली कटंगा की सेनाओं को हराने का सराहनीय कार्य किया। कांगो के प्रधानमन्त्री श्री अदौला ने चीनी आक्रमण के बाद इन सेनाओं की वापिसी के समय भारतीय राष्ट्रपति के नाम २२ अक्टूबर, १९६३ के एक पत्र में इस कार्य के लिए आभार प्रकट करते हुए लिखा था कि पिछले दिसम्बर मास में कटंगा में भारतीय सेनाओं का कार्य, उनकी नम्रता और साहस प्रशंसनीय था। मुझे जनरल प्रेमचन्द तथा ब्रिगेडियर नोरोह्ना के नेतृत्व में लड़ने वाले भारतीय जवानों को श्रद्धांजलि देते हुए बड़ी प्रसन्नता है।···जादोतविल्ले तथा कोलवेज़ी में उनके प्रवेश ने वास्तव में हमारे देश की प्रादेशिक अखण्डता को पुनः स्थापित किया।······आपके देश की सहायता इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण है कि यह ऐसे समय में दी गई, जब आप के देश में (चीनी आक्रमण के कारण) आम लामबन्दी हो रही थी।[२०]

(३) **साम्राज्यवाद का विरोध**—भारत ने साम्राज्यवाद के दुष्परिणामों का भुक्तभोगी होने के कारण सं० रा० संघ में एशिया और अफ्रीका के पराधीन देशों की स्वतन्त्रता के लिए सतत प्रयत्न किया है। इण्डोनीशिया पर जब डचों ने द्वितीय युद्ध के बाद पुनः अपनी सत्ता स्थापित करनी चाही, तो भारत ने सं० रा० संघ में इसका विरोध किया और उसे स्वाधीनता दिलाने में बड़ा सहयोग दिया। इस देश के निवासी श्री नेहरू को डा० सुकर्ण के बाद अपनी स्वतन्त्रता का दूसरा जनक मानते हैं। भारत ने लिबिया, ट्यूनिशिया, मलाया, हिन्दचीन, गोल्डकोस्ट की स्वाधीनता का पूरा समर्थन किया, साइ-

---

१९. चैस्टर बौल्स—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६३

२०. हिन्दुस्तान टाइम्ज, १२ नवम्बर, १९६३, पृ० ७

प्रस के सम्बन्ध में उसने तुर्कों तथा यूनानियों में विभाजन का विरोध करते हुए इसका शासन द्वीपवासियों को सौंपने पर बल दिया है। वह अलजीरिया की स्वाधीनता का हामी था।

भारत ने न्यास प्रदेशों (Trust Territories देखिये पृ० २६१–२) के प्रशासन के सम्बन्ध में सं० रा० संघ के पूरे नियन्त्रण और निरीक्षण का समर्थन किया है। उसने इस बात पर भी बल दिया है कि स्वशासन न करने वाले (Non-self-governing) प्रदेशों का शासन चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिए, इन पर शासन करने वाली साम्राज्यवादी शक्तियों को संघ के प्रति उसी प्रकार उत्तरदायी होना चाहिए, जैसे न्यास के प्रदेशों वाली शक्तियां अपने न्यास प्रदेशों के लिए हैं। भारत स्वशासन न करने वाले प्रदेशों के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने वाली सं० रा० संघ की समिति (U. N. Committee on Information from Non-Self-Governing Territories) का सदस्य १९५८ से १९६१ तक के लिए चुना गया था। १९५८ में भारत को पश्चिमी समोआ भेजे जाने वाले निरीक्षक मण्डल (Visiting mission) का प्रधान तथा पश्चिमी अफ्रीका जाने वाले निरीक्षक मण्डल का एक सदस्य चुना गया है।

भारत की उपनिवेशवाद विरोधी नीति का एक बड़ा प्रमाण यह है कि १९४६ में लार्ड मौण्टबैटन की अध्यक्षता में बनाई गई श्री नेहरू की अन्तरिम (Interim) सरकार का एक पहला कार्य यह था कि उसने ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दक्षिण पूर्वी एशिया के फ्रेंच और डच उपनिवेशों में स्वतन्त्रता आन्दोलन दबाने के लिए भेजी गई भारतीय फौजों को वापिस बुला लिया।[२१]

(४) १९५५ में भारत ने सं० रा० संघ के नये सदस्यों के प्रवेश के सम्बन्ध में १९५० से चले आने वाले गतिरोध का अन्त करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। कोरिया युद्ध के समय से वाशिंगटन और मास्को संघ में अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए अपने विरोधी राष्ट्रों को इसका सदस्य बनाने का विरोध कर रहे थे। नवम्बर, दिसम्बर १९५५ में बुल्गानिन और ख्रुश्चेव के भारत आने पर श्री नेहरू ने उनसे इस विषय में समझौता करने की प्रेरणा की और अन्त में यह तय हुआ कि सं० रा० अमेरिका सोवियत रूस द्वारा समर्थित देशों के संघ में प्रवेश को वीटो द्वारा न रोके तथा इसी प्रकार सोवियत रूस भी पश्चिम द्वारा समर्थित देशों का विरोध न करे, कोरिया और वीतनाम को संघ का सदस्य बनाने का प्रश्न अभी न छेड़ा जाय। इस समझौते के अनुसार ८ दिसम्बर, १९५५ की संघ की असेम्बली ने २८ सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किये गए १८ नये देशों को संघ का सदस्य बनाने के प्रस्ताव को ५२–२–५ के बहुमत से पास कर दिया। इस अवसर पर श्री कृष्ण मेनन ने कहा था—"सं० रा० संघ में वर्तमान विश्व का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, जैसा विश्व को कुछ लोग बनाना चाहते हैं उसका संघ में प्रतिनिधित्व नहीं होना चाहिए।"

१० दिसम्बर को जब असेम्बली का प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् में पेश हुआ तो

---

२१. करुणाकर गुप्त—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७५

राष्ट्रवादी चीन के प्रतिनिधि ने इसमें दक्षिण कोरिया तथा वीतनाम देशों का नाम बढ़ाने का संशोधन रखा और मंगोलिया गणराज्य को सदस्य बनाने का विरोध किया। यह स्पष्ट रूप से पहले समझौते का उल्लंघन था। रूस ने चीनी संशोधन को अपने वीटो से रद्द कर दिया। इस पर जब मंगोलियन गणराज्य को सदस्य बनाने का प्रस्ताव आया तो चीन ने इस पर अपने वीटो का प्रयोग किया। इसके प्रत्युत्तर में रूस ने पश्चिम द्वारा समर्थित सभी देशों को सदस्य बनाने का प्रस्ताव अपने निषेधाधिकार द्वारा रद्द कर दिया। इस प्रकार राष्ट्रवादी चीन की हठधर्मी के कारण पहले किया गया समझौता भंग होने से एक अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हो गया। इसका समाधान करने में भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्ण मेनन ने कनाडा और पेरू के प्रतिनिधियों के साथ बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया और सोवियत रूस के साथ एक नये समझौते द्वारा यह निश्चय हुआ कि १८ देशों में से दोनों पक्षों के एक-एक देश—मंगोलियन गणराज्य तथा जापान को छोड़कर अन्य १६ देशों को इस समय सदस्य बनाना स्वीकार कर लिया जाय, इन दोनों के प्रश्न पर आगामी अधिवेशन में विचार हो। इस प्रकार भारत ने इस जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के हल करने में अपना सहयोग दिया।

(५) भारत के नेतृत्व में शान्तिप्रेमी एशिया और अफ्रीका के राज्यों का एक दल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान में बड़ा सहायक सिद्ध हो रहा है। भारत इस समय कई कारणों से इस दल का अग्रणी है। **पहला** कारण यह है कि उसने स्वतन्त्र होने के बाद साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का घोर विरोध किया है अत इससे पीड़ित एशिया और अफ्रीका के देश बड़े आशा भरे नेत्रों से उसकी ओर निहारते हैं। **दूसरा** कारण भारत की वीतनाम, कम्बोडिया, इण्डोनीशिया आदि को स्वाधीन कराने में दी गई महत्त्वपूर्ण सहायता है, इसलिए इन देशों का भारत के प्रति कृतज्ञ होना स्वाभाविक है। **तीसरा** कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ भारत के प्राचीनकाल से चले आने वाले गहरे सांस्कृतिक सम्बन्ध हैं, इनमें अधिकांश देश अपने धर्म और संस्कृति के लिए भारत के ऋणी हैं। बर्मा, लंका, तिब्बत, स्याम आदि देशों के लिए भगवान् बुद्ध का जन्म स्थान होने के कारण यह देश पावन धर्मभूमि है। भारत सरकार द्वारा बुद्ध जयन्ती आदि के समारोहों के कारण इन देशों में भारत के प्रति सद्भाव में वृद्धि हुई है। **चौथा** कारण भारत द्वारा एशिया के राष्ट्रवाद का प्रबल समर्थन तथा साम्राज्यवादी पश्चिम का विरोध है। श्री नेहरू ने अप्रैल १९४७ में दिल्ली के एशिया सम्मेलन (Asian Relations Conference) में यह घोषणा की थी—"एशिया के देश चिरकाल तक पश्चिमी देशों के दरबारों में प्रार्थी और भिक्षुक बने रहे हैं। अब यह अतीत की कथा हो जानी चाहिए। हम चाहते हैं कि हम अपने पैरों पर खड़े हों, जो हमारे साथ सहयोग करें, हम उनके साथ सहयोग करने को तैयार हैं। हम दूसरों के हाथों का खिलौना नहीं बनना चाहते।" एशिया के नवोदित राष्ट्रवाद का प्रतीक और प्रमुख प्रवक्ता होने के कारण मध्यपूर्व के तथा अफ्रीका के देश—मिस्र, सीरिया, जुलाई १९५८ की क्रान्ति के बाद का इराक, लेबानन तथा अफगानिस्तान मुसलमान होते हुए भी भारत की नीति के समर्थक हैं। **पाँचवां कारण** यह है कि वाशिंगटन और

मास्को दोनों ने भारत की केन्द्रीय स्थिति और विशाल जनसंख्या के कारण उसको अपना समर्थक बनाने का लाभ अब भली-भांति अनुभव कर लिया है। अमेरिका यह समझता है कि एशिया में लोकतन्त्र का सुदृढ़ दुर्ग भारत ही है, यदि उसके ३५ करोड़ व्यक्ति साम्यवादी हो गए तो साम्यवाद सारे संसार पर हावी हो जायगा, अतः भारत में इसके प्रसार को रोकने के लिए उसे पूरी सहायता देनी चाहिए। १६ जनवरी, १९५२ को भारत में अमेरिकी राजदूत चैस्टर बौल्स ने कहा था—"यदि भारत में लोकतन्त्रीय शासन असफल होता है तो सम्पूर्ण एशिया में समूचे स्वतन्त्र जगत् को भीषण धक्का लगेगा। मेरी सम्मति में साम्यवादियों द्वारा चीन जीते जाने से लगने वाले धक्के की अपेक्षा यह अधिक भयंकर होगा।" अतः अब सं० रा० अमेरिका भारत के लोकतन्त्र को सुदृढ़ बनाने के लिए प्रभूत परिमाण में आर्थिक सहायता दे रहा है। दूसरी ओर रूस भी भारत के महत्त्व को समझने लगा है और वह भारत की अधिकतम सहायता कर रहा है। दोनों पक्षों का समर्थन पाने से भारत का महत्त्व बढ़ गया है। छठा **कारण** भारत की साधन-सम्पन्नता, जनसंख्या, आर्थिक उन्नति और केन्द्रीय स्थिति है। लार्ड कर्ज़न ने लिखा था—"भारतीय साम्राज्य भूमण्डल के तीसरे सबसे महत्त्वपूर्ण सामरिक केन्द्र में अवस्थित है······उसकी केन्द्रीय स्थिति का सर्वोच्च प्रदर्शन उस द्वारा डाले जाने वाले राजनीतिक प्रभाव से सूचित होता है। वह अपने निकटवर्ती और दूरवर्ती पड़ोसियों पर इतना अधिक प्रभाव डालता है, कि उनका भाग्यचक्र इसी प्रभाव की धुरी पर घूमता है।" कर्ज़न की यह उक्ति आज भी सोलहों आने सही है, मध्यपूर्व में ब्रिटिश प्रभाव क्षीण होने से तथा लंका, बर्मा, मलाया से अंग्रेजों के चले जाने के बाद इस क्षेत्र में भारत का प्रभाव बढ़ गया है।

सुप्रसिद्ध ब्रिटिश पत्र 'टाइम्ज़' ने २७ जून, १९५३ को भारत की इस स्थिति का विवेचन करते हुए लिखा था—"श्री नेहरू पर कई बार यह आरोप लगाया जाता है कि उनका उद्देश्य दक्षिण पूर्वी एशिया का नेतृत्व करना है। उन्होंने सदैव ऐसी महत्त्वाकांक्षायें रखने का खण्डन किया है। फिर भी परिस्थितियों के सामान्य निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जायगा कि भले ही भारतीय इस नेतृत्व को न चाहें, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में उन्हें यह नेतृत्व स्वीकार करना पड़ेगा। सं० रा० संघ में लंका, बर्मा, इण्डोनीशिया और कई बार स्याम के प्रतिनिधि भारतीय प्रतिनिधियों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रखते हैं, भारत के विचारों का विरोध करने की अनिच्छा रखते हैं। भारत की यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि वह इसमें अपनी ओर से नहीं, किन्तु समूचे एशियाई समुदाय की ओर से बोलता है, उसने अरब-एशियाई गुट (Arab Asian Bloc) के बनाने में बड़ा भाग लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अंशों में एशिया के दृष्टिकोण का प्रवक्ता होने में भारत की प्रधानता का एक कारण यह है कि उसने पश्चिमी जगत् के साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशियाई देशों के राष्ट्रीय आंदोलनों का प्रबल समर्थन किया है। किन्तु यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले वही एशियाई देश हैं, जिनकी संस्कृति और सभ्यता का मूल स्रोत भारतवर्ष है।" पहले यह बताया जा चुका है (पृ० ३३१) कि सं० रा० संघ में एशिया अफ्रीका के राज्यों का एक गुट है। भारत ने इनके सहयोग से स्वेज

नहर, लेबानन (पृ० ३७२) आदि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का शान्तिपूर्ण हल करने में बड़ा सहयोग दिया है।

विदेशनीति की आलोचना और मूल्यांकन—पूर्व और पश्चिम दोनों से अलग रहने की स्वतन्त्र, तटस्थ, एव मध्यम मार्गी नीति का अवलम्बन करने से भारत दोनों पक्षों की कटु आलोचना का पात्र बना है। एक ओर सोवियत पक्षपाती वर्ग के प्रसिद्ध कम्यूनिस्ट नेता श्री रजनी पामदत्त ने अप्रैल १९४९ में भारतीय विदेशनीति के प्रधान निर्माता श्री नेहरू को एशिया का नया च्यांग-काई-शेक कहा था, वहां दूसरी ओर ब्रिटिश तथा अमेरिकन पत्रों ने भारत के सोवियत पक्षपाती रुख की भर्त्सना करने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी। मैन्चैस्टर गार्जियन ने ५ फरवरी, १९५१ को श्री नेहरू के कोरिया में शान्ति प्रयत्नों की खिल्ली उड़ाते हुए उन्हें 'डान क्विक्जोट' कहा था। यह कहा जाता है कि भारत की मध्यममार्गी नीति ने दोनों पक्षों को भारत का विरोधी बना दिया है। यह कहना भी सत्य नहीं है कि यह नीति स्वतन्त्र है। कम्यूनिस्ट पार्टी ने मार्च १९४८ में यह घोषणा की थी—"भारत की तटस्थता तो ऐंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवादियों के साथ सहयोग को छिपाने का आवरण मात्र है।" रोसिंगर ने १९५० में लिखा था[२२]—"नई दिल्ली ने अन्य निर्बल शक्तियों की अपेक्षा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय किया है। किन्तु ज्यों-ज्यों महाशक्तियों के संघर्ष में तनाव अधिक बढ़ता गया है, भारत सरकार स्वतन्त्र विदेशनीति का दावा करते हुए भी ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर झुकती गई है।" उसके ब्रिटिश पक्षपात के अनेक प्रमाण हैं, उसने साइप्रस के प्रश्न पर १९५४ तथा १९५५ में जनरल असेम्बली में वोट नहीं दिया, मलाया में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अत्याचारों का उतना प्रबल प्रतिवाद नहीं किया, जितना हिन्दचीन में फ्रेंच साम्राज्यवाद के विरुद्ध किया है, १९५२ में कृष्ण मेनन ने सं० रा० संघ में कोरिया के युद्धबन्दियों के सम्बन्ध में ईडन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।[२३] भारत का शान्तिवाद कोरा ढोंग है; दूसरों को अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समझौते की सीख देने वाला भारत अपने पड़ोसी पाकिस्तान के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सका।

उपर्युक्त आलोचनाएं अत्युक्तिपूर्ण, अतिरंजित और एकपक्षीय हैं। इनमें इतना सत्य अवश्य है कि भारत की नीति स्वतन्त्र होते हुए भी ब्रिटिश-पक्षपाती है, इसका वास्तविक कारण पहले स्पष्ट किया जा चुका है (पृ० ४१९)। हिन्द महासागर की रक्षा के लिए वह ब्रिटेन पर निर्भर है[२४], पिछले २०० वर्षों से उसकी सारी सैनिक व्यवस्था ब्रिटिश पद्धति पर अवलम्बित रही है, इन तथ्यों का अपलाप नहीं किया जा

---

२२. रोसिंगर—इण्डिया एण्ड दी युनाइटेड स्टेट्स, पृ० ३५

२३. करुणाकर गुप्त—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८५, पृ० ७९

२४. ट्रम्बल ने न्यूयार्क टाइम्ज (५ अक्टूबर, १९५२) में ठीक ही लिखा था—"भारतीय विदेश मंत्रालय में निश्चित रूप से यथार्थवाद की पर्याप्त मात्रा है, वह मलाया में अंग्रेजों को परेशानी में डालने वाले कार्य से बचना चाहता है।

सकता, किसी जादू की छड़ी से इन्हें तुरन्त बदला नहीं जा सकता। फिर भी भारत की स्वतन्त्र नीति में सन्देह नहीं किया जा सकता। अक्टूबर १९५६ में उसने स्वेज पर ब्रिटिश आक्रमण की तीव्र शब्दों में निन्दा की। जुलाई १९५८ में लेबानन और जोर्डन में अमेरिकन और ब्रिटिश फौजें उतारे जाने का भी भारत ने घोर विरोध किया। २२ फरवरी, १९५७ को सं० रा० संघ की राजनीतिक समिति ने साइप्रस के सम्बन्ध में भारत का शांतिपूर्ण, लोकतन्त्रीय और न्यायपूर्ण समाधान सं० रा० संघ के चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार ढूंढ़ने का प्रस्ताव पास किया। १९५८ के संघ के अधिवेशन में भी भारत ने साइप्रस की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का प्रबल समर्थन करते हुए उसके विभाजन का विरोध किया। यह कहना भी ठीक नहीं है कि भारत की तटस्थता की नीति ने उसे मित्रहीन बना दिया है, सुरक्षा परिषद् में काश्मीर के प्रश्न पर जब ऐंग्लो अमेरिकन गुट ने पाकिस्तान के पक्ष का समर्थन करने वाला प्रस्ताव पास कराना चाहा तो रूस ने इसे वीटो करते हुए भारत की सहायता की (देखिए पृ० २५५-५६)।

प्रत्येक देश की विदेशनीति का मुख्य लक्ष्य उसको सुरक्षा, समृद्धि और राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान करना तथा उसका गौरव बढ़ाना होता है। इन सब कसौटियों पर खरी उतरने के कारण भारत की विदेशनीति को सफल कहा जा सकता है। उसके कार्य की सराहना दोनों विरोधी पक्षों के प्रमुख नेताओं ने की है। सं० रा० अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने कोरिया में भारत की संरक्षक सेना (Indian Custodian Force) द्वारा किये गए शान्ति कार्य और मध्यस्थता की सराहना करते हुए कहा था—"अभी हाल के वर्षों में किसी अन्य सेना ने कोरिया में भारतीय फौजों की अपेक्षा अधिक नाजुक और कठिन कार्य नहीं किया है। इन अफसरों तथा सैनिकों का कार्य भारतीय सेना की उच्चतम ख्याति के अनुरूप था। वे उच्चतम प्रशंसा के पात्र हैं।" जुलाई १९५० में स्तालिन ने कोरिया में श्री नेहरू के शान्ति स्थापना के कार्य की सराहना की थी।[२५] सोवियत प्रधानमंत्री बुल्गानिन ने २१ नवम्बर, १९५५ को भारतीय संसद् में भाषण करते हुए कहा था—"सोवियत जनता भारतीय जनता द्वारा शान्ति स्थापना के लिए किये गए कार्य की बहुत सराहना करती है। भारत, चीनी जनता के गणराज्य तथा सोवियत यूनियन के सम्मिलित प्रयत्नों से कोरिया में युद्ध बन्द हुआ, हिन्दचीन में युद्ध का दावानल शान्त हुआ। भारत इस बात पर बल देता है कि चीनी जनता के गणराज्य को सं० रा० संघ में स्थान मिलना चाहिए। वह ताईवान के प्रश्न का भी ऐसा शान्तिपूर्ण हल चाहता है, जिसमें चीनी जनता के गणराज्य के राष्ट्रीय हितों तथा न्यायपूर्ण अधिकारों का ध्यान रखा जाय। भारत ने एशिया अफ्रीका के देशों के पहले सम्मेलन में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है।" भारत की विदेशनीति की सफलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि सं० रा० अमेरिका और सोवियत रूस—दोनों के शासनाध्यक्ष उसकी सराहना करते हैं।

चीनी आक्रमण तथा भारतीय विदेशनीति—अक्टूबर १९६२ में भारत पर साम्यवादी चीन ने बड़ा विश्वासघातपूर्ण, बर्बर, पूर्वयोजित एवं विशाल आक्रमण किया

२५ करुणाकर गुप्त—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४

और इसमें हमारी विदेशनीति की कड़ी अग्नि-परीक्षा हुई। उस समय अनेक विशेषज्ञों और राजनीतिज्ञों ने हमारी विभिन्न गुटों से अलग रहने की (Non-alignment) तटस्थ विदेशनीति की कई प्रकार की कटु आलोचना की। पहली आलोचना यह है कि यह राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने मेंस र्वथा असमर्थ रही है। सुप्रसिद्ध लेखक श्री ए० डी० गोरवाला ने १६ नवम्बर, १९६२ को इंडियन कौन्सिल आफ् वर्ल्ड एफेयर्स की एक बैठक में नई दिल्ली में भाषण देते हुए कहा—"विदेशनीति का लक्ष्य देश के हितों को सुरक्षित करना और बढ़ाना होता है। सबसे बड़ा हित राष्ट्र की अखण्डता (Integrity) है। इसमें हमारी नीति विफल सिद्ध हुई है। चीन ने हमारे विशाल प्रदेश पर अधिकार कर लिया है, भारी सैनिक सहायता से ही उसे जीता जा सकता है, किन्तु हमारे प्रधानमंत्री समझौते की बातें करने के आदी हैं। ···भारतीय भ्रान्तियों के जगत् में रह रहे हैं, वे सोवियत संघ पर बड़ा विश्वास कर रहे हैं कि वह उन्हें मिग-२१ विमान देगा। किन्तु वह भारत को जितने विमान देगा, उससे तीन गुने विमान चीन को भी देगा।" दूसरी आलोचना यह थी कि अपनी रक्षा के लिए पश्चिमी देशों के साथ सैनिक गुटबन्दियों में सम्मिलित न होकर भारत ने भारी भूल की है। श्री गोरवाला के शब्दों में "भारत को पश्चिम के साथ सैनिक सम्बन्ध सुदृढ़ करने में नहीं हिचकना चाहिए।"[२६] वयोवृद्ध नेता श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारियर ने भी यह मत प्रकट किया था कि भारत को पश्चिमी देशों के साथ अधिक घनिष्ठता से सम्बद्ध होना चाहिए। यह कहा जाता था कि जो देश सैनिक संधियों के द्वारा पश्चिमी देशों के साथ संबद्ध हैं, उन पर चीन आक्रमण करने का साहस नहीं करता। फारमोसा को चीन अपना बताता है, किन्तु सं० रा० अमेरिका का शक्तिशाली बेड़ा उसकी रक्षा कर रहा है, अतः वह उस ओर झांकने की भी हिम्मत नहीं करता। हांगकांग और मकाओ चीन के प्रदेश हैं, पर इनके स्वामी ग्रेट ब्रिटेन और पुर्तगाल नाटो संधि संगठन के सदस्य हैं, अतः वह इन पर हमला नहीं करता। फिलिप्पाइन द्वीपसमूह तथा दक्षिणी वियतनाम चीनी आक्रमण से सुरक्षित हैं क्योंकि वे दक्षिण पूर्वी एशिया संगठन (SEATO) के सदस्य हैं तथा उन्हें सं० रा० अमेरिका का सैनिक संरक्षण प्राप्त है। यदि भारत पश्चिमी देशों के साथ मिलकर किसी ऐसे संगठन का सदस्य होता तो चीन उस पर हमला करने की हिम्मत ही न करता और यदि करता तो शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होने के कारण उसे सेला, बोमदिला और वालोंग जैसी भीषण अपमानजनक और अपार जन-धन का नाश करने वाली, हमारी वीरता और गौरव को कलंकित करने वाली पराजयों का मुख न देखना पड़ता। इस घोर राष्ट्रीय अपमान का कड़वा घूंट हमें अपनी गुटों से अलग रहने वाली नीति के कारण ही पीना पड़ा और हजारों वर्ग मील के प्रदेश से हाथ धोना पड़ा।

तीसरी आलोचना यह की जाती है कि हमारी नीति अवास्तविक और गलत आधारों पर आश्रित थी। हमने १९५४ में चीन से पंचशील की सन्धि की, चाणक्य

२६. हिन्दुस्तान टाइम्ज़ नई दिल्ली, १८ नवम्बर १९६२, पृ० ३

नीति का सिद्धान्त है—पड़ोसी को शत्रु समझे, अत्यन्त विश्वस्त मित्र पर भी भरोसा न करे। हमने चीन पर विश्वास करके हिन्दी-चीनी भाई-भाई के नारे लगाए। दुनिया में पंचशील और शान्ति का ढिंढोरा पीटा, अपनी नीति का आधार शक्ति के स्थान पर शान्ति को बनाया, शान्ति की उपासना में, हमने देश की प्रतिरक्षा के लिए आवश्यक तैयारी करने तथा सैन्य सामग्री प्राप्त करने में घोर उपेक्षा की और इसी कारण हमें भारी पराजय और क्षति उठानी पड़ी। हमने जिस चीन के साथ पंचशील का पहला समझौता किया, उसीने इसका उल्लंघन करते हुए हमारे देश पर विश्वासघातपूर्ण बर्बर आक्रमण किया। हमारी विदेशनीति ने इस मौलिक सिद्धान्त को विस्मृत कर दिया कि शान्ति शक्ति से आती है। हिटलर को यदि मित्रराष्ट्रों ने हराया तो उत्कृष्ट सैनिक शक्ति से। क्यूबा के मामले में ख्रुश्चेव ने सैनिक शक्ति के कारण ही अमेरिका की बात मानी।

चौथी आलोचना यह की जाती है कि हमने अपनी विदेशनीति में जिन देशों को मित्र बनाने की चेष्टा की, उन्होंने हमारा साथ नहीं दिया और जिनकी आलोचना की, वही आड़े वक्त हमारे काम आये। उदाहरणार्थ, भारत ने साम्यवादी चीन को सदैव सं० रा० संघ का सदस्य बनाने का समर्थन किया, इस विषय में सं० रा० अमेरिका का घोर विरोध किया। स्वेज के मामले में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस की प्रबल निन्दा की और मिस्र के नासिर का समर्थन किया। हम सदैव सोवियत संघ के परम मित्र रहे, हमने स्वेज के मामले में ग्रेट ब्रिटेन की जैसी भर्त्सना और निन्दा की, वैसी कड़ी आलोचना हंगरी में रूस के तथा तिब्बत में चीन के हस्तक्षेप की नहीं की। हमने एशिया और अफ्रीका के नवीन राज्यों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया, इंडोनीशिया को स्वाधीनता दिलाने में बड़ा भाग लिया। किन्तु जब चीन ने हम पर हमला किया तो किसी मित्र ने हमारा साथ नहीं दिया। दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में मलाया के प्रधान मन्त्री अब्दुल टंकु-रहमान को छोड़ कर किसी अन्य देश के नेता ने भारत पर चीनी आक्रमण की स्पष्ट शब्दों में निन्दा नहीं की। मिस्र, इंडोनीशिया आदि देश इस मामले में मौन रहे। सोवियत संघ आरम्भ में काफी समय तक चुप रहा। उस समय रूस के प्रमुख पत्रों प्रावदा और इज़वेस्तिया ने चीन को आक्रान्ता घोषित करके उसकी निन्दा नहीं की, भारत से अनुरोध किया कि वह चीन के अपमानजनक प्रस्ताव स्वीकार करते हुए बिना शर्त के युद्ध बन्द कर दे[२७]। इसके विपरीत पश्चिमी देशों अमेरिका, इंगलैंड, कनाडा,

२७. २५ अक्टूबर, १९६२ को प्रावदा ने अपने अग्रलेख में भारत से यह आग्रह किया था कि वह चीन के "रचनात्मक प्रस्तावों को शान्तिपूर्ण समझौते के लिये" स्वीकार करले। सीमा विवाद में चीन का पक्ष लेते हुए उसने "कुख्यात मैकमोहन रेखा" की निन्दा की तथा इसे "ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की विरासत बताया"। ५ नव० के अग्रलेख में प्रावदा ने युद्ध बन्द कर देने पर तथा दोनों पक्षों द्वारा कोई शर्त न लगाते हुए परस्पर सन्धिवार्ता करने पर बल दिया। श्री ख्रुश्चेव ने भी प्रधानमन्त्री श्री नेहरू को एक पत्र में इसी प्रकार की वार्ता का सुझाव दिया। (कीसिंग आर्काइव्ज १९६३, पृ० १९१९५)। भारत के लिए यह स्थिति बड़ी चिन्तनीय और गम्भीर थी क्योंकि हमने रूस को अपना मित्र बनाने में कोई कसर बाकी नहीं

पश्चिमी जर्मनी ने हमें फौरन भारी परिमाण में हवाई जहाजों द्वारा रणसामग्री पहुंचायी। श्री जे० बी० कृपलानी ने कलकत्ता के एक भाषण में कहा था कि रूस चीन का भाई है और हमारा मित्र है, भाई का सम्बन्ध मित्र की अपेक्षा घनिष्ठ होता है। अतः सोवियत संघ हमें कैसे सहायता दे सकता है?" श्री कृपलानी का यह मत था कि रूस इस संघर्ष में तटस्थ और उदासीन है क्योंकि वह यह समझता है कि इस संघर्ष के लिए चीन ही पर्याप्त है। उसने चीन को आक्रान्ता नहीं समझा, जब कि पश्चिमी देश उसे ऐसा समझ कर हमें पूरी सैनिक सहायता दे रहे हैं।"

पांचवीं आलोचना यह थी कि[२८] हमारी नीति तटस्थता और असंलग्नता की कही जाती है, किन्तु जब हम कम्यूनिष्ट गुट के एक बड़े सदस्य से लड़ रहे हैं और दूसरे गुट के पश्चिमी देश हमें प्रचुर परिमाण में आर्थिक सहायता दे रहे हैं तो क्या हमारी नीति को तटस्थ कहा जा सकता है?

इसमें कोई संदेह नहीं है कि उपर्युक्त आलोचनाओं में सत्य का कुछ अंश है। इस नीति के सूत्रधार और सबसे बड़े समर्थक श्री नेहरू ने स्वयं स्वीकार किया था कि "हम कल्पनालोक में रह रहे थे, इस आक्रमण से हम वास्तविक जगत् में आये हैं।"[२९] चीन पर भरोसा रखने में तथा उसे अपना भाई बनाने में हमने बड़ा धोखा खाया। श्री नेहरू के शब्दों में "हमारी मित्रता के बावजूद चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के सामान्य नियमों की इतनी घोर उपेक्षा की है कि अब उसकी सदाशयता में हमारा विश्वास गम्भीर रूप से शिथिल हो गया है। उपलब्ध साक्षी के आधार पर अब हमें उसको अपनी स्वतन्त्रता का तथा संस्थाओं का शत्रु समझना चाहिए।"[३०] यह आलोचना भी सही है कि शान्तिमय विदेशनीति के कारण सैनिक तैयारी और रणसामग्री की ओर आवश्यक ध्यान नहीं दिया गया। श्री नेहरू के शब्दों में "अतीतकाल में हम निर्धनता और निरक्षरता की मानवीय समस्याओं में इतने उलझे हुए थे कि हमने प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं को तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम स्थान दिया। यह स्पष्ट है कि अब हम इस ओर अधिक ध्यान देंगे कि हम अपनी सशस्त्र सेनाओं को सुदृढ़ बनायें तथा जहां तक सम्भव हो, सेना के लिए आवश्यक सब शस्त्रों तथा अन्य सामग्री को अपने देश में ही तैयार करें।"[३१]

विदेशनीति की आलोचनाओं में उपर्युक्त सत्य होते हुए भी श्री गोरवाला तथा

छोड़ा था। श्री नेहरू ने ३१ अक्टूबर, १९६२ को कोलम्बिया ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन के प्रतिनिधि को एक प्रश्न के उत्तर में यह कहा था कि सोवियत रूस ने चीन के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला हमारा साथ नहीं दिया, इसका कारण क्यूबा का संकट है। दिसम्बर १९६२ से ही रूस ने इस विवाद में भारत का समर्थन आरम्भ किया और १९६३ में रूस-चीन के सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ने पर रूस ने भारत का पक्ष खुले रूप से लेना शुरू किया।

२८. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, ९ नव० १९६२, पृ० ७ में श्री जे० बी० कृपलानी का लेख देखिये।

२९. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, २६ अक्टूबर १९६२

३०. फारेन एफेयर्स, अप्रैल १९६३ में श्री नेहरू का लेख, चेंजिग इण्डिया, पृ० ४५८

३१. फारेन एफेयर्स, पृ० ४५९

कृपलानी की भांति यह मानना सत्य नहीं है कि हमारी विदेशनीति राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने में सर्वथा विफल सिद्ध हुई है। इसके विपरीत चीन के आक्रमण की कसौटी में यह बिल्कुल खरी उतरी है। निम्नलिखित विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा।

प्रत्येक देश की विदेशनीति का लक्ष्य राष्ट्रीय हित को बढ़ाना है। भारत की विदेशनीति का भी यही उद्देश्य है। भारत का राष्ट्रीय हित क्या है? यह मुख्य रूप से देश की अखण्डता, स्वतन्त्रता, प्रभुसत्ता और लोकतन्त्र की पद्धति का संरक्षण है, लोकतन्त्र को सुदृढ़ बनाने के लिए हमारे संविधान में सामाजिक और आर्थिक न्याय स्थापित करने की बात कही गई है और कल्याण राज्य स्थापित करने का लक्ष्य निश्चित किया गया है, जिसमें किसी प्रकार का शोषण या विषमता न हो, सब सुखी, समृद्ध और सन्तुष्ट हों। देश को समृद्ध एवं उन्नत बनाने के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ चलायी जा रही हैं। इनकी सफलता ही हमारा राष्ट्रीय हित है, क्योंकि जब तक हमारे देश में भीषण निर्धनता, बेकारी, विषमता और शोषण रहेगा, तब तक उग्र असन्तोष और क्रान्ति की संभावना बनी रहेगी। देश की आर्थिक उन्नति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—(क) देश का आयोजित आर्थिक विकास तभी हो सकता है, जब हमें विकसित देशों से प्रचुर मात्रा में पूंजी की तथा कारखानों की, मशीनों की तथा इन्हें चलाने वाले व्यक्तियों की सहायता मिल सके। (ख) यह सहायता हमें सभी देशों से मिलनी चाहिए, चाहे वे पश्चिमी गुट के लोकतन्त्रवादी देश हों या पूर्व के साम्यवादी गुट के हों। हमारा हित इसी में है कि हम अधिक से अधिक देशों से सहायता लेकर न्यूनतम समय में अपनी अधिकतम आर्थिक उन्नति कर सकें और औद्योगिक दृष्टि से शक्तिशाली बनें। वर्तमान समय में वही देश शक्तिशाली माना जाता है, जो अधिक से अधिक औद्योगिक उत्पादन कर सकता है। (ग) हमारी आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि विश्व में शान्ति बनी रहे।

यदि राष्ट्रीय हित को इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि हमारी असंलग्नता की तथा दोनों गुटों से सहायता लेने की नीति शान्ति एवं युद्ध दोनों कालों में बड़ी सफल सिद्ध हुई है। दिसम्बर १९६१ तक पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं में भारत को ३,००० करोड़ की विदेशी सहायता प्राप्त हुई, इसमें १४०० करोड़ की सहायता सं० रा० अमेरिका से, ४५० करोड़ की पश्चिमी जर्मनी से, १३८५ करोड़ की रूस से, १८३ करोड़ की ग्रेट ब्रिटेन से तथा ६५ करोड़ की सहायता जापान से मिली है। यदि हम पश्चिमी गुट से सैनिक समझौते में बंध जाते तो हमें यह सहायता केवल पश्चिमी देशों से मिलती, यह न केवल मात्रा में कम होती, किन्तु उन देशों के पूंजीपतियों के हित की दृष्टि से होने के कारण हमें पूरा लाभ न पहुँचाने वाली होती। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। चीन के साथ लड़ाई छिड़ने से पहले भारत उत्तरी सीमान्त की रक्षा की दृष्टि से शब्द से भी अधिक गतिवाले अतिस्वन (Supersonic) जेट विमान खरीदना चाहता था। उसने इसके लिए ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका से बात की और यह कहा कि वह उनसे ऐसे विमान इस शर्त पर खरीदेगा कि वे इन विमानों को तैयार करने के कारखाने भी भारत में स्थापित करने में सहयोग दें ताकि

इनका निर्माण भारत में शीघ्र होने लगे और युद्ध छिड़ने पर भारत को परमुखापेक्षी न होना पड़े। इंगलैण्ड और अमेरिका विमान बेचने को तैयार थे, किन्तु इनके निर्माण का कारखाना बनाने को तैयार नहीं थे। इस पर भारत ने रूस से बात की, रूस न केवल ऐसे मिग विमान बेचने को तैयार हो गया, किन्तु उसने इनके निर्माण के लिए कारखाना स्थापित करने की बात भी स्वीकार कर ली। भारत में ये विमान आ गये और इनको बनाने वाले कारखानों का निर्माण शुरू हो गया। एक पक्ष के साथ बंध जाने पर भारत को यह लाभ न प्राप्त होता।

इस समय भारत में जहाँ एक ओर सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और पश्चिमी जर्मनी के सहयोग से तारापुर के अणुबिजलीघर, दुर्गापुर और रूरकेला के इस्पात के कारखानों का निर्माण हो रहा है, वहाँ दूसरी ओर सोवियत रूस की सहायता से भिलाई का इस्पात कारखाना, हरिद्वार, हैदराबाद, मद्रास में बिजली का भारी सामान बनाने एवं ऋषिकेश में दवाई बनाने का कारखाना बन रहा है। रूस हमें भारी उद्योगों के उन कारखानों को तैयार करने में सहयोग दे रहा है, जिनके बारे में पश्चिमी देशों का सहयोग हमारे लिए लाभदायक शर्तों पर सुलभ नहीं है। चौथी पंचवर्षीय योजना के लिए रूस की सार्वजनिक क्षेत्र में मूल उद्योगों के लिए बड़ी सहायता देने की योजना है। एक अंकशास्त्री के मतानुसार सोवियत सहायता से बनाये जाने वाले कारखानों और संस्थाओं से तैयार किया जाने वाला माल सार्वजनिक क्षेत्र में निम्न मात्रा में होगा : लोहा तथा फौलाद २५ प्रतिशत; पेट्रोल निकालना १०० प्रतिशत; पेट्रोल साफ करना ७० प्रतिशत; बिजली का उत्पादन २५ प्रतिशत।[३२]

आर्थिक विकास के लिए हमें यह भारी सहायता हमारी विदेशनीति के परिणामस्वरूप न केवल शान्ति काल में मिली, किन्तु चीन का आक्रमण होने पर भी प्रचुर परिमाण में मिली है। सं० रा० अमेरिका और इंगलैण्ड ने चीनी हमला होने के बाद हमारे प्रधानमन्त्री की प्रार्थना पर जिस शीघ्रता और तत्परता के साथ न केवल रणसामग्री अत्यन्त उदार शर्तों पर प्रदान की किन्तु इसके साथ ही उसकी ढुलाई भी की, वह सदैव बड़ी कृतज्ञता के साथ स्मरणीय रहेगी।[३३] अमेरिकी राजदूत चैस्टर बौल्स के कथनानुसार सं० रा० अमेरिका की वायुसेना ने ९० घण्टे के भीतर १००० टन रणसामग्री को अमेरिका से भारत पहुँचा दिया, दूसरी ओर सोवियत रूस ने भी अपने मिग विमान देने का तथा इसका कारखाना बनाने का वचन पूर्ण किया है। एक गुट का सदस्य बन जाने पर भारत को यह लाभ नहीं प्राप्त हो सकता। अतः जहाँ तक आर्थिक उन्नति तथा प्रतिरक्षा द्वारा राष्ट्रीय हित को सुरक्षित रखने का सवाल है, भारत की विदेशनीति पूर्ण सफल सिद्ध हुई है।

वर्तमान विदेशनीति के आलोचक प्रायः यह कहा करते हैं कि यदि हम पश्चिमी गुट के साथ सैनिक सन्धि में आबद्ध होते तो चीन हम पर आक्रमण करने का दुस्साहस

---

३२. हिन्दुस्तान टाइम्ज, २९ जनवरी, १९६४, पृ० ९

३३. वही, ७ नवम्बर, १९६३

न करता और हमें हज़ारों वर्ग मील के प्रदेश से हाथ न धोने पड़ते। किन्तु ऐसी आलोचना करने वाले प्राय: सैनिक गुटबन्दी के दुष्परिणामों को भूल जाते हैं। इसका **पहला** दुष्परिणाम स्वाधीनता का विनाश है। जब हम किसी गुट के साथ बंध जाते हैं तो हमारी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है, हमें सैनिक सहायता देने वाले देश की इच्छा के अनुसार चलना पड़ता है, उसकी कठपुतली बनना पड़ता है, अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी बहुत सी बातें करनी पड़ती हैं। हम विभिन्न विषयों पर स्वतन्त्रतापूर्वक सोच नहीं सकते हैं। दूसरा दुष्परिणाम हमारे देश में विदेशी सेनाओं का आना और हमारी प्रभुसत्ता (Sovereignty) का खण्डित होना है। तीसरा दुष्परिणाम आत्मरक्षा के लिए परावलम्बी होना है। विदेशी सेना बुलाकर हम चीन को रोक सकते थे, किन्तु क्या यह समस्या का वास्तविक समाधान होता? शत्रु का सच्चा निवारण तो अपनी शक्ति से हो सकता है। यदि हम इस शक्ति का विकास नहीं करते तो हम सदैव दूसरों की कृपा पर जीवित रहेंगे और हमारा देश स्वाधीन होने पर भी विदेशी शक्तियों का सैनिक अड्डा बना रहेगा। हम में स्वयमेव अपनी शक्ति का विकास करके शत्रु को हटाने का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होगा। दूसरे की शक्ति से अपनी रक्षा करना न केवल हमें नपुंसक बनाने वाला है अपितु हमारे राष्ट्र के आत्मसम्मान तथा गौरव को गहरी क्षति पहुँचाने वाला है। इसे कोई भी स्वाधीनता-प्रेमी स्वाभिमानी राष्ट्र स्वीकार नहीं कर सकता। श्री नेहरू ने इस विषय में यह ठीक ही कहा था "हम अपने देश की रक्षा का भार किसी को कैसे सौंप सकते हैं? यदि हम अपने देश की आजादी की रक्षा स्वयं नहीं कर सकते तो हमें आज़ाद रहने का क्या अधिकार है?" अत: किसी सैनिक गुट में सम्मिलित होने की नीति हमारे राष्ट्रीय हित और गौरव की दृष्टि से वरणीय, वांछनीय और श्रेयस्कर नहीं हो सकती। भारत की तटस्थ नीति अपने एक मूल उद्देश्य—विश्व में शान्ति स्थापित रखने में सहायक सिद्ध हुई है। पश्चिमी जर्मनी के तत्कालीन प्रधान मन्त्री आडेनावर ने दिसम्बर १९६२ में जर्मन संसद में कहा था "यदि भारत सीटो (Seato) या सैण्टो (Cento) का सदस्य होता तो चीनी हमले के समय विश्वयुद्ध छिड़ जाता। मेरा निश्चित मत है कि भारत की तटस्थ नीति का लक्ष्य यह है कि प्रत्येक हमले को सीमित क्षेत्र में ही रखकर समाप्त कर दिया जाय। यह नीति पूरे विश्व के हित में है।"

हमारी नीति की सफलता का इससे अधिक पुष्ट प्रमाण क्या हो सकता है कि पूर्वी और पश्चिमी दोनों गुट मुक्तकंठ से इस नीति की सराहना करते हैं। चीनी हमले के बाद ६ नवम्बर, १९६२ को भारत में तत्कालीन अमेरिकी राजदूत श्री गालब्रेथ ने एक प्रेस सम्मेलन में कहा था—"फौजी सहायता देकर हम भारत को पश्चिमी देशों के सैनिक गुट में शामिल नहीं करना चाहते और न हम भारत की तटस्थ नीति को बदलने के ही समर्थक हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति श्री कैनेडी कई बार कह चुके हैं कि अमेरिका भारत की तटस्थनीति का स्वागत करता है।" अमेरिका द्वारा भारत की नीति का समर्थन करने के दो बड़े कारण हैं। **पहला** कारण तो यह है कि भारत एशिया में लोकतन्त्र का प्रबल समर्थक है, उसकी सफलता एशिया के अन्य देशों को प्रजातन्त्र का अनुयायी बनायेगी और उसकी विफलता साम्यवाद का मार्ग प्रशस्त करेगी। अमेरिका का हित

भारत को सफल बनाने में है। अतः गालब्रेथ ने यह ठीक कहा था कि हम भारत को सैनिक सहायता भारत की आज़ादी तथा जनतन्त्र की रक्षा के लिए दे रहे हैं। दूसरा कारण अपने कट्टर विरोधी साम्यवादी गुट को निर्बल बनाना है। यदि भारत अमेरिका के साथ सैनिक संधि में बंध जाता है तो इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि इस संघर्ष में चीन और रूस एक हो जायेंगे, उनमें घनिष्ठता बढ़ेगी, चीन का विशाल जन-बल तथा सं० रा० सोवियत संघ की वैज्ञानिक एवं सैनिक शक्ति मिलकर सं० रा० अमेरिका के लिए कठिन समस्या उत्पन्न करेंगे। अतः सं० रा० अमेरिका का हित इसी में है कि इन दोनों में मतभेद और फूट बनी रहे और भारत अपनी तटस्थता की नीति पर अचल बना रहे। अमेरिका में ब्रिटिश राजदूत सर डेविड आर्म्सबी गोर ने १ नवम्बर, १९६२ के कैलिफोर्निया के राष्ट्रमंडल क्लब में भाषण देते हुए कहा था—"हमारी इच्छा यह नहीं है कि हम भारत को स्वयं इच्छापूर्वक वरण की हुई गुटों से अलग रहने की नीति छोड़ने की प्रेरणा दें। ऐसा करने से चीनी और रूसी साम्य-वादियों को अपने पर्याप्त बड़े मतभेद समाप्त करने की तथा भारत और ऐसे सब देशों के विरुद्ध एक होने की प्रेरणा मिलेगी, जो इस समय भारत की सहायता कर रहे हैं। रूस और भारत में जितनी हद तक सहयोग जारी रहता है, वह रूस और चीन के मत-भेदों को बढ़ाने वाला है और साम्यवाद के विरोधियों को सान्त्वना प्रदान करने वाला है।"[३४] इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध पत्र मैंचेस्टर गार्जियन ने इसका समर्थन करते हुए १७ नवम्बर, १९६२ के अग्रलेख में लिखा था—"युद्ध में और युद्ध समाप्ति के प्रयत्न में भारत सरकार को इसमें बड़ा लाभ होगा कि वह सोवियत संघ का समर्थन या कम से कम उसकी लाभदायक तटस्थता (Benevolent neutrality) को प्राप्त करे। भारत के लिए यह उचित नहीं है कि वह ख्रुश्चेव को माओत्से तुंग की भुजाओं में अकेले—जहां वह जाना नहीं चाहता—छोड़ दे।...भारत की गुटों से अलग रहने की नीति तब तक अवश्य जारी रहनी चाहिये, जब तक सोवियत सरकार इस नीति को असंभव ही न बना दे।" श्री नेहरू इसे अच्छी तरह समझते हैं। संभवतः श्री कैनेडी और श्री मैकमिलन भी ऐसा ही मानते हैं।[३५]

दूसरी ओर सोवियत रूस भी हमारी तटस्थ नीति का बड़ा प्रशंसक है। १२ दिसम्बर, १९६२ को रूसी प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव ने सर्वोच्च सोवियत में भाषण करते हुए कहा था कि भारत की तटस्थ नीति ने विश्व के रंगमंच पर भारी राजनीतिक और नैतिक शक्ति प्राप्त कर ली है। आरम्भ में जब तक चीन और रूस से सैद्धांतिक मतभेद प्रकाश में नहीं आये थे, तब तक यह कहा जाता था कि रूस यह प्रशंसा दिखाने के लिए कर रहा है, भीतर से वह चीन को सहायता दे रहा है। किन्तु अब दोनों के मतभेद उग्र होने पर रूसी नेता और पत्र भारत की नीति की सराहना के साथ चीन की नीति की कटु आलोचना कर रहे हैं। रूसी पत्र प्रावदा ने कई बार लिखा है कि चीन ने

३४. हिन्दुस्तान टाइम्ज़, १९ नवम्बर, १९६२, पृ० ७

३५. टाइम्ज़ आफ इण्डिया, दिल्ली, १९ नवम्बर, १९६२, पृ० ६

भारत पर हमला करके भारत को अमेरिकी गुट में धकेलने का यत्न किया है और विश्वशान्ति के लिए भारी खतरा पैदा किया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत की सैनिक गुटों से अलग रहने की, असंलग्नता की (Non-alignment) नीति हमारे राष्ट्रीय हित को बढ़ाने वाली सिद्ध हुई है, चीनी आक्रमण हमारे लिए वरदान के रूप में आया है, उससे हम अपनी सैनिक निर्बलताओं से भली भांति परिचित हुए हैं और अपनी विदेशनीति के कारण ही हम दोनों गुटों से अपनी कमियां दूर करने के लिए पुष्कल परिमाण में सैनिक और आर्थिक सहायता पा रहे हैं, अमेरिका और रूस दोनों भारत के प्रवल पोषक हैं, सैनिक तैयारियों को रोके बिना हमारी पंचवर्षीय योजनाओं में नव-जीवन का संचार हुआ है, विश्व के अधिकांश देशों और साम्यवादी देशों के अधिकांश दलों ने भारत का समर्थन किया है, विश्व की राजनीति में चीन अकेला पड़ गया है, रूस के साथ उसके सैद्धांतिक मतभेद बढ़ गये हैं। इस संकट में निस्संदेह भारत की विदेशनीति की कड़ी अग्निपरीक्षा हुई और वह खरा कुन्दन साबित हुई।

प्रश्न

1. Describe the main objectives of India's foreign policy since Independence. How far has India contributed to the maintenance of world peace ? (Agra Uni. 1957)
2. Give a critical estimate of Pandit Nehru's foreign policy with special reference to its effects on India's position in world affairs. (Agra Uni. 1955)
3. Comment on India's role in international politics since Independence. (B. H. U. 1958)
4. Examine critically India's foreign policy in recent years with special reference to the 'Panchshila' (Five principles) recently advocated by Mr. Nehru. (B. H. U. 1955)
5. Describe the role of India in world politics since 1947. (Raj. Uni. 1958)
6. Write a critical note on the foreign policy of India from 1947 upto the present day. (Raj Uni. 1956)
7. Examine critically India's foreign policy in recent years with special reference to the Panchasheel or five principles of peaceful co-existence. (Raj. Uni 1960)
8. Describe the main objectives of India's foreign policy since Independence. How far has India realised these objectives ? (Agra Uni. 1962)
9. Examine the guiding principles of Indian foreign policy since independence. What are its successes and failures ? (Jabalpur 1961)

ग्यारहवां अध्याय

एशिया तथा अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें

नवयुग का आरम्भ—प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्धों ने एशिया तथा अफ्रीका में युगान्तकारी परिवर्तन किये हैं। इन युद्धों से पहले ये दोनों महाद्वीप विभिन्न योरोपियन देशों के साम्राज्य का अंग थे। अफ्रीका का एकमात्र स्थानीय स्वतन्त्र राज्य एबीसीनिया १९३५ में इटली के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया (दे० पृ० १६५-६)। एशिया के अधिकांश प्रदेश १९१४ तक ब्रिटिश, फ्रेंच, रूसी, डच साम्राज्यों के अंग बन चुके थे। इस समय तक यहां केवल चीन, जापान, स्याम, अफगानिस्तान और टर्की ही स्वाधीन बचे थे। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर एशिया और अफ्रीका में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र की पहली लहर आयी और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इसने प्रबल बाढ़ का रूप धारण करके दोनों महाद्वीपों को आप्लावित कर दिया। यह कहा जा सकता है कि १९१९ के बाद यहां साम्राज्यवाद की पराजय आरम्भ हुई और १९४५ के बाद इस का समूलोन्मूलन होने लगा। इससे एशिया और अफ्रीका में स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता के नवयुग का श्रीगणेश हुआ है। १९६० में अफ्रीका के सोलह देश स्वतन्त्र हुए हैं। १९६० को अफ्रीका का स्वाधीनता का वर्ष कहा जाता है।

एशिया के जागरण और विद्रोह का महत्त्व—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आजकल एशिया का महत्त्व बढ़ रहा है। १९वीं शताब्दी योरोपियन देशों की प्रभुता की शताब्दी थी, जनसंख्या अल्प होते हुए भी अपनी उत्कृष्ट वैज्ञानिक, औद्योगिक, आर्थिक और सैनिक शक्ति के कारण ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम, जर्मनी ने अपने देश की जनसंख्या और क्षेत्रफल से कई गुना अधिक जनसंख्या और क्षेत्रफल रखने वाले एशिया के अधिकांश देशों पर अपनी प्रभुता स्थापित की। किन्तु २०वीं शताब्दी में एशिया में योरोप के सम्पर्क से और स्वाधीनता के लिए संघर्ष से जो नवजागरण हुआ, उससे इस समूचे महाद्वीप में नई चेतना की लहर आई है। एशिया भूमण्डल का सबसे बड़ा महाद्वीप है, इसमें संसार की आधे से अधिक जनता निवास करती है। इसमें दुनिया की सबसे अधिक जनसंख्या वाले चीन और भारत बसे हुए हैं। पश्चिम की प्रभुता और साम्राज्य-के विरुद्ध एशिया के विद्रोह को अमेरिकन पत्रकार राबर्ट पेन (Payne) ने वर्त्तमान समय की सबसे बड़ी घटना कहा है और यह लिखा है कि एशिया को अब अपने महत्त्व का ज्ञान हो गया है और 'एशिया की शताब्दी' आरम्भ हो गयी है। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक अर्नाल्ड टायनबी (Toynbee) ने यह भविष्यवाणी की है[1] कि आजकल हम (पश्चिमी देश) साम्यवाद की चुनौती को अधिक महत्त्व दे रहे हैं। किन्तु जब भारत और चीन की

१. सिविलिज़ेशन आन ट्रायल (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९४८) पृ० २२१

अधिक शक्तिशाली सभ्यतायें पश्चिमी जगत् की चुनौती का उत्तर देने लगेंगी तो साम्य-वाद का महत्त्व कम हो जायगा। "अन्ततोगत्वा ये सभ्यतायें हमारे पाश्चात्य जीवन पर उससे कहीं अधिक गहरा प्रभाव डालेंगी, जितना प्रभाव रूस अपने साम्यवाद द्वारा हमारी सभ्यता पर डाल सकता है।" श्री जवाहरलाल नेहरू ने १९४७ में पहले एशियन सम्बन्ध सम्मेलन (Asian Relations Conference) में घोषणा की थी— 'एक परि-वर्त्तन हो रहा है, एशिया अपने स्वरूप को पुनः पहचान रहा है। हम परिवर्त्तन के महायुग में रह रहे हैं और इसमें नवयुग तब आयगा जब एशिया अन्य महाद्वीपों के साथ अपना उचित स्थान ग्रहण करेगा। विश्व-इतिहास के इस संकट में एशिया अवश्य महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।"

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से एशिया में नवीन परिवर्त्तन तेजी से होने लगे हैं। इस महाद्वीप में स्वतन्त्रता के आन्दोलनों ने सभी देशों में राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया है, ब्रिटिश, फ्रेंच तथा डच साम्राज्यवाद का उन्मूलन किया है। यहां न केवल पराधीनता की शृंखलाओं को तोड़ा गया है, किन्तु इनसे भी अधिक प्रबल एवं शताब्दियों से एशिया की अधिकांश जनता को पीड़ित और पंगु बनाने वाली निर्धनता, निरक्षरता, सामाजिक और जातीय भेदभाव और विषमता तथा महामारियों की लौह-शृंखलाओं से भी मुक्ति पाने का यत्न हो रहा है। वर्त्तमान एशिया के नवजागरण की प्रमुख प्रवृतियां निम्नलिखित हैं—

नवजागरण की प्रमुख प्रवृत्तियां—(१) साम्राज्यवाद की समाप्ति—बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में एशिया का अधिकांश भाग ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और हालैण्ड के अधिकार में था। सबसे प्रबल और शक्तिशाली साम्राज्य ग्रेट ब्रिटेन का था, भारत, बर्मा, लंका, मलाया पर उसका आधिपत्य था, भूमध्यसागर से प्रशान्त महासागर तक के समुद्री मार्ग के प्रमुख अड्डों माल्टा, स्वेज़, अदन, मलक्का और सिंगापुर पर उस का अधिकार था। पश्चिमी एशिया में उसने टर्की के खलीफा के विरुद्ध अरबों के साथ मैत्री बढ़ाई, मिस्र पर अपना प्रभुत्व सुदृढ़ किया, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उसे पेलेस्टाइन पर शासनादेश प्राप्त हुआ, अन्य अरब देश भी उसके प्रभाव में थे। एशिया के दक्षिण पूर्व में हिन्दचीन का प्रायद्वीप फ्रांस के साम्राज्य का अंग था, हिन्देशिया के टापुओं पर हालैण्ड का शासन था। सुदूरपूर्व में चीन के विभिन्न प्रदेशों को पश्चिमी शक्तियों ने अपने प्रभाव-क्षेत्रों (Spheres of Influence) में बांट रक्खा था। पश्चिमी देशों का अनु-सरण करते हुए जापान ने भी चीन के विभिन्न प्रदेशों को अपने साम्राज्य का अंग बनाना आरम्भ किया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एशिया के विभिन्न देशों में स्वाधीनता के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुए और दूसरे विश्वयुद्ध के बाद कुछ अपवादों को छोड़कर सारा एशिया पश्चिमी साम्राज्यवाद की पराधीनता के पाश से मुक्त हो चुका है।

(२) एशिया का व्यापक विद्रोह—एशिया ने न केवल पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह किया है, अपितु राजतन्त्र की पुरानी शासन प्रणाली, तथा सामन्तवाद की पुरानी सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ बगावत की है, भीषण दरिद्रता और शोचनीय निरक्षरता के उन्मूलन का अभियान आरम्भ किया है। एशिया की क्रान्ति राजनीतिक ही

नहीं, सामाजिक और आर्थिक भी है। यह इस समय विश्व के इतिहास में बड़ा महत्त्व रखती है। आस्ट्रेलिया के विदेश मन्त्री पी०सी० स्पैण्डर ने कहा था—"१ अरब से अधिक जनता एशिया में राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्तन करने में लगी हुई है। सर्वत्र नई राजनीतिक और आर्थिक नीतियों और नई संस्थाओं का विकास बड़ी तेजी से हो रहा है और यह विकास राष्ट्रीय विचार की प्रेरणा से तथा आर्थिक और सामाजिक सुधार की मांग के कारण भविष्य में भी जारी रहेगा।"

(३) **राष्ट्रीयता की भावना का प्रबल होना**—एशिया के नवजागरण की एक विशेष प्रवृत्ति राष्ट्रीयता की भावना का सभी देशों में शक्तिशाली होना है। युद्ध के बाद सब देशों में राष्ट्रीयता की प्रबल लहर आयी है और इसने नये राष्ट्रों को जन्म दिया है। इससे इजराइल का निर्माण हुआ है, मिस्र, सीरिया, इराक, ईरान, मलाया, हिन्दचीन, हिन्देशिया में जागृति और चेतना आई है। साम्यवादी चीन और जापान में इस भावना का प्रसार बढ़ रहा है। इस भावना के कारण सभी देशों में बड़ी क्रान्तियां हुई हैं। टर्की में मुस्तफा कमाल पाशा के, भारत में महात्मा गांधी के, बर्मा में औंगसान के, चीन में सनयात सेन और माओत्से तुंग के, फिलिप्पाइन्स में मैनुएला क्वेज़ोन के, इण्डोनीशिया में अहमद सुकर्ण के, हिन्दचीन में होची मिन्ह के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलनों का संचालन सफलतापूर्वक हुआ है।

एशिया के राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रधान स्रोत १९वीं शती में योरोप में विकसित राष्ट्रीयता की भावना है। फिर भी एशिया की **राष्ट्रीयता की कई विशेषतायें** हैं। **पहली** विशेषता यह है कि यह पश्चिमी देशों की राष्ट्रीयता की कुछ हानिप्रद प्रवृत्तियों से रहित है। पश्चिम में राष्ट्रीयता ने साम्राज्यवाद, जात्यभिमान (Racialism) तथा युद्ध के भीषण दुष्परिणामों को उत्पन्न किया है। पश्चिमी देशों ने अपने राष्ट्रीय गौरव की वृद्धि के लिए एशिया और अफ्रीका के देशों को पराधीन बनाया। मुसोलिनी यह चाहता था कि वह प्राचीन रोमन साम्राज्य की भांति वर्त्तमान इटली के विशाल साम्राज्य का निर्माण करे और इसलिए उसने अफ्रीका के स्वतन्त्र देश एबीसीनिया पर हमला किया। साम्राज्यों के निर्माण में होने वाले संघर्ष एवं प्रतिद्वन्द्विता के कारण प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्धों का सूत्रपात हुआ। किन्तु एशिया में राष्ट्रीयता ने ऐसे दुष्परिणाम उत्पन्न नहीं किये। किन्तु इसके साथ ही यहां अन्य अवांछनीय परिणाम—उत्तेजित भीड़ों द्वारा हिंसा के कार्य, व्यापक अराजकता—उत्पन्न हुए हैं। **दूसरी** विशेषता यह है कि एशिया की राष्ट्रीयता आर्थिक है तथा समाजसुधार के आन्दोलनों से सम्बद्ध है। एशिया के अधिकांश राष्ट्रवादी आन्तरिक मामलों में मौलिक एवं क्रान्तिकारी सुधारों के समर्थक हैं। वे विदेशी शासन के उन्मूलन तथा मौलिक सुधारों के लिए समान रूप से उग्र आन्दोलन करते रहे हैं और उनका यह मत रहा है कि इन सुधारों को क्रियान्वित करने के लिए विदेशी शासन की समाप्ति आवश्यक है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने १९३६ में कांग्रेस के सभापतिपद से भाषण करते हुए कहा था—"मैं भारत की स्वाधीनता के लिए आन्दोलन करता हूं क्योंकि मुझ में विद्यमान राष्ट्रवादी अंश के लिए विदेशी शासन असह्य है। मैं इस कारण और भी अधिक कार्य करता हूं कि यह सामाजिक और आर्थिक

परिवर्त्तन की दिशा में मेरे लिए एक अनिवार्य पग है। अतः एशिया के राष्ट्रवादी सामान्य रूप से क्रान्तिकारी हैं तथा वर्तमान व्यवस्था में मौलिक एवं उग्र परिवर्त्तन चाहते हैं। **चौथी** विशेषता एशिया की राष्ट्रीयता का असंकीर्ण, उदार, विशाल और सार्वभौम होना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, शान्ति, मानवीयता और विश्वबन्धुत्व (Cosmopolitanism) की भावना के अनुरूप होना है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने २३ मार्च, १९४७ को पहले एशियन सम्बन्ध सम्मेलन में यह घोषणा की थी कि "हम किसी संकीर्ण राष्ट्रीयता को नहीं चाहते। राष्ट्रीयता का प्रत्येक देश में स्थान है। इसका पोषण होना चाहिये, किन्तु इसे आक्रमणात्मक नहीं बनने देना चाहिये, इसे अन्तर्राष्ट्रीय विकास में बाधक भी नहीं होना चाहिये।" इण्डोनीशिया गणराज्य की पहली वर्षगांठ के अवसर पर सोएतन सजाहरिर (Soetan Sjahrir) ने कहा—"हमारी राष्ट्रीयता पूर्णता तक पहुंचने वाले मानवीय स्तर तक पहुंचने वाला पुल है······सामान्यरूप से मानवता में हमारा सुदृढ़ विश्वास है। हमारी राष्ट्रीयता मानवता के प्रति हमारे सम्मान का एक पहलू है। अतः दूसरे देशों के साथ हमारे सम्बन्ध उस अवस्था में अच्छे रहेंगे, जब वे हमारे राष्ट्रीय आदर्शों को समझ लेंगे। किन्तु उनके साथ इन सम्बन्धों का विकास तब कठिन हो जायगा, जब वे दकियानूसी राष्ट्रीयता की उपासना करेंगे तथा संकीर्ण मनोवृत्ति वाले उस राष्ट्रीय अभिमान और साम्राज्यवाद से चिपटे रहेंगे, जो विश्व एवं मानवता के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ है।[२]

(४) **उपनिवेशवाद का अन्तिम संघर्ष**—राष्ट्रीयता का संघर्ष प्रबल और सफल होने के साथ एशिया में उपनिवेशवाद की अन्त्येष्टि हो रही है, साम्राज्यवाद अन्तिम सांस ले रहा है। किन्तु उपनिवेशवाद समाप्त होने पर भी उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति नहीं समाप्त हो रही है। कई स्थानों पर साम्राज्यवाद अब भी बचा हुआ है और अपनी रक्षा का प्रयत्न कर रहा है। साम्राज्यवादी शक्तियों ने अपने साम्राज्य को बड़ी अनिच्छा से छोड़ा है। इस विषय में एकमात्र अपवाद ब्रिटेन की मजदूर सरकार थी, जिसने अद्भुत औदार्य के साथ भारत को स्वाधीनता प्रदान की, बर्मा को ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से पृथक् होने की सहमति दी और लंका को स्वतन्त्र उपनिवेश बनाया। किन्तु हालैण्ड और फ्रांस ने इंडोनीशिया और हिन्दचीन के अपने साम्राज्यों को बड़े कटु संघर्ष के बाद लाचारी में ही छोड़ा। अंग्रेजों ने द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होते ही हांगकांग के टापू पर पुनः अधिकार कर लिया। पुर्तगाली मकाओ के चीनी प्रदेश में अब तक डटे हुए हैं। भारत में वे दमन, दीव और गोआ के अपने पुराने उपनिवेशों को छोड़ना नहीं चाहते थे, किन्तु १५०५ से पुर्तगाल की दासता में ४५६ वर्ष रहने के बाद १८-१९ दिसम्बर १९६१ को ये प्रदेश स्वाधीन हो गये। किन्तु विशाल साम्राज्यों के समाप्त होने पर भी योरोपियन महाशक्तियों की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का अन्त नहीं हुआ, वे अब भी विभिन्न प्रश्नों पर इसी दृष्टिकोण से विचार करती हैं। ईरान का तेलविवाद (पृ० ३६४) मिस्र पर फ्रांस और इंगलैण्ड का १९५६ का आक्रमण (पृ० २९६) हिन्दचीन में फ्रांस

२. पामर एण्ड पर्किन्स—इण्टरनेशनल रिलेशन्स, (स्टीवेन्स १९५४) पृ० ७२१

का तथा पश्चिमी इरियन में हालैण्ड का संघर्ष (पृ० ३१६) इसी मनोवृत्ति के सूचक हैं।

(५) **नये साम्राज्यवाद का अभ्युदय**—१६वीं शताब्दी में रूस की जारशाही ने एशिया में अपने साम्राज्य का प्रबल विस्तार किया, मध्य एवं पूर्वी एशिया के विशाल प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित किया। किन्तु १६१७ में बोल्शेविक क्रान्ति होने पर लेनिन ने घोषणा की कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद का चरम रूप है और उसने न केवल इसके परित्याग की घोषणा की किन्तु इसे क्रियान्वित करते हुए जारशाही के रूस द्वारा पराधीन बनाये विभिन्न प्रदेशों को स्वतन्त्रता प्रदान की और एशिया की जनता से इस रूप में अपील की कि साम्यवादी साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी हैं। इससे रूस को यह लाभ हुआ कि इंगलैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड आदि योरोपियन देशों के उपनिवेशवाद से पीड़ित पराधीन एशियाई जनता ने रूस की ओर बड़ी आशाभरी दृष्टि से देखा और उसके नेताओं को अपना मुक्तिदाता, त्राता और उद्धारक समझा। सोवियत रूस ने इसका पूरा लाभ उठाया। किन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि रूस केवल योरोपियन शक्तियों के साम्राज्यवाद का विरोधी है। अपने स्वार्थ के लिए रूस के नये शासक पुराने ज़ारों की अपेक्षा कम साम्राज्यवादी नहीं हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि रूस ने किस प्रकार फिनलैण्ड पर आक्रमण किया तथा इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया के राज्यों को आत्मसात् किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तथा जापान की पराजय के पश्चात् एशिया में रूस का प्रभाव बढ़ने लगा, भीतरी मंगोलिया, सिंकियांग और मंचूरिया में तथा चीन के सीमावर्त्ती प्रदेशों में इस प्रभाव का विस्तार होने लगा। २५ नवम्बर, १६४६ को सं० रा० संघ की सामान्य सभा की पहली कमेटी में भाषण करते हुए राष्ट्रवादी चीन के प्रतिनिधि डा० टी० एस० त्सियांग ने कहा था—"१६वीं शताब्दी का साम्राज्यवाद जब चरम शिखर पर था, तब भी साम्राज्यवादी विस्तार के किसी आन्दोलन की तुलना सोवियत रूस के हाल के वर्षों में किये गये विस्तार से नहीं की जा सकती। स्टालिन रूसी इतिहास के सब इवानों, पीटरों, एलेक्जेण्डरों तथा निकोलसों से आगे बढ़ गया है।"[३]

(६) **तीसरी शक्ति का विचार**—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व रूस और सं० रा० अमेरिका के पक्षपाती दो बड़े गुटों में विभक्त हो गया। रूस का एशिया के एक तिहाई भाग पर शासन था और ६०-७० करोड़ की आबादी का साम्यवादी चीन इसके साथ था। एशिया के सभी देशों में साम्यवादी दल विद्यमान थे। दूसरी ओर सं० रा० अमेरिका ने जापान पर ६½ वर्ष तक अपना अधिकार रखा, ओकीनावा में इसका प्रबल सैनिक अड्डा है; फिलिप्पाइन द्वीपसमूह के साथ इसके विशेष संबन्ध हैं। दक्षिणी वियतनाम में अमेरिका का बहुत प्रभाव है। सारा विश्व दो गुटों में बंटा हुआ (Bipolar) प्रतीत होता है।

किन्तु एशिया के अधिकांश राज्य दो गुटों के इस सिद्धान्त (Bipolarity) को पूरी तरह नहीं स्वीकार करते। वे न तो साम्यवाद के अन्धभक्त हैं और न अमेरिकन

---

३. पामर एण्ड पर्किन्स—इण्टरनेशनल रिलेशन्स, पृ० ६६४

पूंजीवाद के कट्टर उपासक। वे किसी भी गुट के साथ पूरी तरह बंधना वांछनीय नहीं समझते, किन्तु इन दोनों गुटों से अलग रहने की नीति को श्रेयस्कर समझते हैं। ओवन लैटिमोर के शब्दों में उन्हें पूरा विश्वास है कि उनके देश इन दो पक्षों से भिन्न तीसरे देश (Third Countries) या तीसरी शक्ति हो सकते हैं और यह नीति विश्व के दो गुटों के विभाजन को जटिल सन्तुलन में परिणत करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और शांति में सहायक हो सकती है। भारत की असंलग्नता (Non-alignment) की नीति इसका सबसे बड़ा उदाहरण है और इसका पहले वर्णन किया जा चुका है (पृ० ४२१)।

(७) **विभिन्न शक्तियों की स्थिति में परिवर्तन**—द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले स्वेज से सिंगापुर तक समूचे दक्षिणी एशिया में ग्रेट ब्रिटेन की तूती बोलती थी। पिछली तीन शताब्दियों से किसी अन्य देश की अपेक्षा एशिया पर उसका अधिक प्रभुत्व था। भारत उसके साम्राज्य के मुकुट में सबसे देदीप्यमान मणि थी, बर्मा, लंका, मलाया उसको अधिक लाभ पहुंचाने वाले प्रदेश थे, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड उसके महत्त्वपूर्ण उपनिवेश थे। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उसे विभिन्न परिस्थितियों से विवश हो भारत, पाकिस्तान, बर्मा, लंका, मलाया को स्वतन्त्रता प्रदान करनी पड़ी, यहां उसका प्रभाव क्षीण हो गया। अब सुदूरपूर्व में केवल हांगकांग का टापू उसके अधिकार में है। इंगलैण्ड के बाद एशिया में फ्रांस और हालैण्ड के साम्राज्य थे। वे भी अब समाप्त हो चुके हैं और इसके साथ इनका प्रभाव नगण्य रह गया है। इनके अतिरिक्त सुदूरपूर्व में जापान की शक्ति प्रबल थी; किन्तु द्वितीय युद्ध से वह बिल्कुल समाप्त हो गई है।

उपर्युक्त योरोपियन साम्राज्यों के क्षीण होने से एशिया में नई समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। ब्रिटिश प्रभाव के कारण पहले दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्थिरता एवं शांति थी। ब्रिटेन के चले जाने से अब इस प्रदेश में शक्तिशून्यता (Power vaccum) की दशा उत्पन्न होने से बड़ी अस्थिरता उत्पन्न हो गई है। अब एशिया में तीन शक्तियों—सं० रा० अमेरिका, सोवियत रूस और साम्यवादी चीन का प्रभाव बढ़ रहा है। इनमें रूस और चीन साम्यवादी गुट के हैं। सं० रा० अमेरिका ने एशिया में ग्रेट ब्रिटेन का पुराना स्थान लेने का प्रयास किया है। सीटो, सैण्टो के संधि संगठनों का वह महत्त्वपूर्ण सदस्य है, दक्षिणी कोरिया और दक्षिणी वियतनाम को वह प्रबल सहायता दे रहा है। चीन में साम्यवादी शासन स्थापित हो जाने के बाद यहां अमेरिका का पुराना प्रभाव समाप्त हो गया है। साम्यवादी चीन इसे अपना सबसे प्रबल और कट्टर विरोधी समझता है। सं० रा० अमेरिका इस समय एशिया के सभी कम विकसित देशों को पुष्कल आर्थिक सहायता देकर इनमें अपना प्रभाव बढ़ा रहा है।

इस समय एशिया में सोवियत रूस सं० रा० अमेरिका का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी है। वह ब्रिटेन और जापान की पुरानी स्थिति प्राप्त करना चाहता है। चीन की साम्यवादी क्रान्ति से उसे बड़ा लाभ पहुंचा है, एशिया के लगभग सभी देशों में रूस का प्रभाव बढ़ रहा है। रूस को तथा चीन को इस विषय में सबसे बड़ा लाभ यह है कि वे पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार बने देशों के पक्ष का समर्थन करके तथा साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का प्रबल विरोध करके करोड़ों एशियावासियों की सहानुभूति और प्रशंसा

का पात्र बनते हैं और उनके साथ मित्रता प्रदर्शित करने में सफल होते हैं।

(८) साम्यवादी चीन और भारत की स्थिति—चीन की साम्यवादी क्रान्ति ने एशिया की तथा विश्व की राजनीति पर गहरा प्रभाव डाला है। आगे इसका महत्त्व स्पष्ट किया जायगा। यहां इतना कहना पर्याप्त है कि चीन और भारत एशिया के सबसे बड़े देश हैं। भारत विभक्त होने पर भी चीन के बाद सबसे बड़ी जनसंख्या तथा प्राकृतिक साधन रखने वाला देश है। दक्षिणी एशिया में हिन्द महासागर में इसकी केन्द्रीय स्थिति इसे असाधारण महत्व प्रदान करती है और विश्व के व्यापारिक महामार्गों तथा मण्डियों के साथ सम्पर्क बढ़ाने में सुविधा प्रदान करती है। भारत ने एशिया की समस्याओं के समाधान में बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया है, १९४७ में इसने पहला एशिया सम्मेलन बुलाया, १९४९ में इंडोनीशिया के सम्बन्ध में भारत ने सम्मेलन बुलाया था, कोरिया तथा हिन्दचीन की समस्याओं को सुलझाने तथा वाण्डुंग सम्मेलन बुलाने में भारत ने प्रमुख भाग लिया। सं० रा० संघ में वह सदैव उपनिवेशवाद का विरोधी रहा है तथा एशिया और अफ्रीका के देशों का नेतृत्व करता रहा है। किन्तु आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टि से भारत पिछड़ा हुआ है। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा वह अपनी इस कमी को दूर करने का प्रयत्न कर रहा है।

साम्यवादी चीन एशिया में भारत का सबसे बड़ा प्रतिस्पर्धी और प्रबल प्रतिद्वन्द्वी है। दोनों देश विभिन्न पद्धतियों और प्रणालियों के उपासक हैं, भारत समाजवाद में आस्था रखता हुआ भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को महत्त्वपूर्ण मानता है, मिश्रित अर्थ-व्यवस्था द्वारा अपने देश की आर्थिक उन्नति में लगा हुआ है और इसमें उसे बड़ी सफलता मिल रही है। साम्यवादी चीन कट्टर साम्यवादी है। उसे पाकिस्तान की तरह भारत की सफलता और उन्नति से ईर्ष्या है। आगे यह बताया जायगा कि १९६२ के भारत पर चीनी आक्रमण का एक कारण इस ईर्ष्या को भी समझा जाता है।

(९) जापान के प्रभाव की समाप्ति—द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले जापान एशिया की सबसे बड़ी शक्ति था। द्वितीय विश्वयुद्ध में उसने पर्लहार्बर में अमेरिकी बेड़े का प्रबल विध्वंस किया, दक्षिण पूर्वी एशिया में उसने फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन तथा हालैंड के विशाल साम्राज्यों को जीत लिया, बर्मा को जीतने के बाद जापानी सेनाएँ आसाम में कोहिमा तक पहुंच गई थीं। किन्तु इस युद्ध की समाप्ति जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर अणुबम गिराने से हुई और १९४५ में जब उसने आत्मसमर्पण किया तो उसके साम्राज्य का अधिकांश भाग उससे छिन चुका था, उसकी नौसेना और व्यापारिक जहाज नष्ट हो चुके थे, उसके बड़े शहर और कारखाने विध्वस्त हो चुके थे और सुदूरपूर्व और दक्षिण पूर्वी एशिया में सर्वोपरि शक्ति बनने की उसकी महत्त्वाकांक्षा और कल्पना बिल्कुल नष्ट हो गई। १९४५ से १९५२ तक जापान की सत्ता जनरल मैकआर्थर के कठोर शासन में केवल चार टापुओं तक ही सीमित रह गई। जापान अभूतपूर्व उत्कर्ष के बाद अपने अपकर्ष की निचली सीमा तक पहुंच गया। पूर्वी एशिया में यह स्थिति सर्वथा नवीन थी। जापान की शक्ति के अधःपतन के बाद उसका स्थान लेने वाला साम्यवादी चीन उत्पन्न हो गया।

(१०) **साम्यवाद का प्रसार**—एशिया में इस समय राष्ट्रीयता और साम्यवाद (Communism) की प्रवृत्तियां सबसे अधिक प्रबल हैं। इनमें राष्ट्रीयता का वर्णन ऊपर हो चुका है और यह बताया जा चुका है कि पश्चिम की राष्ट्रीयता की भावना से एशिया की राष्ट्रीयता की भावना कई महत्त्वपूर्ण अन्तर रखती है। यही स्थिति साम्यवाद के सम्बन्ध में है। एशिया का साम्यवाद पश्चिमी देशों के साम्यवाद से भिन्न है। पश्चिम में साम्यवाद सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से राष्ट्रीयता का विरोधी माना जाता है क्योंकि इसके प्रवर्त्तक श्री कार्लमार्क्स ने घोषणा की थी कि दुनिया के मजदूरो, एक हो जाओ। साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास रखते हैं और यह मानते हैं कि राष्ट्रीय राज्य का भविष्य में अन्त हो जायगा। किन्तु एशिया का साम्यवाद इससे सर्वथा भिन्न है। वह राष्ट्रीयता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, साम्राज्यवाद का प्रबल विरोधी है, भूमि-व्यवस्था में तथा अर्थ-व्यवस्था में मौलिक एवं क्रान्तिकारी सुधार चाहता है, वह जमींदारों और प्रतिक्रियावादियों का घोर विरोधी है। पूंजीवाद के सबसे बड़े पोषक तथा प्रतीक समझे जाने वाले सं० रा० अमेरिका को अपना कट्टर दुश्मन मानता है।

इस समय एशिया के बड़े भाग में साम्यवाद का प्रसार बढ़ रहा है। उत्तरी एशिया का बड़ा भाग रूस के साम्यवादी शासन में है, एशिया की सबसे बड़ी जनसंख्या वाला महादेश चीन माओत्से तुंग के नेतृत्व में मार्क्स के मत का अनुयायी बन चुका है। उत्तरी कोरिया तथा उत्तरी वियतनाम में साम्यवादी सरकारें हैं। वर्मा और इंडोनीशिया साम्यवाद के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। पश्चिमी एशिया के अरब देशों में बाथ पार्टी राष्ट्रीय साम्यवाद की प्रबल समर्थक है। भारत में शासन करने वाली कांग्रेस पार्टी समाजवाद की स्थापना को अपना लक्ष्य बना चुकी है, १९६२ में भारत पर चीन के आक्रमण के कारण यद्यपि यहां साम्यवादी आन्दोलन को गहरा धक्का लगा है, किन्तु फिर भी यहां साम्यवादी दल की शक्ति कम नहीं। साम्यवाद का खुला और स्पष्ट एवं प्रबल विरोध मलाया, थाईलैण्ड तथा दक्षिणी वियतनाम में है[४], मलयेशिया संघ के प्रधानमंत्री टुंकु अब्दुलरहमान कम्यूनिस्टों को कुचलने के लिए कटिबद्ध हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि इन देशों में चीनियों की बहुत बड़ी संख्या रहती है, इसे साम्यवादी चीन का समर्थक समझा जाता है। यहां साम्यवाद के प्रसार का अर्थ चीनी प्रभुता और सत्ता का विस्तार है। इसे रोकने के लिए ये देश साम्यवाद के कट्टर विरोधी हैं।

इस समय एशिया में साम्यवाद के सम्बन्ध में उग्र संघर्ष चल रहा है। रूस तथा चीन इसका प्रसार करने में लगे हुए हैं और सं० रा० अमेरिका की नीति इसको सीमित करने की तथा इसका प्रभाव न बढ़ने देने की है। रूस को तथा चीन को इसका प्रसार करने में कई कारणों से बड़ी सुविधायें हैं। सं० रा० अमेरिका पश्चिमी शक्ति है, वह एशिया पर साम्राज्य स्थापित करने वाली तथा एशियाई जनता को पराधीन बनाने वाले ग्रेट ब्रिटेन, हालैण्ड, फ्रांस की सहयोगी एवं मित्र है। अतः एशिया में उसे स्वाभा-

४. ब्रिग्गैज—कम्यूनिज्म इन साउथ ईस्ट एशिया, पृ० ३९४-५

विक रूप से साम्राज्यवाद का समर्थक होने से अच्छा नहीं समझा जाता। दूसरी ओर रूस का राज्य एशिया के उत्तर में काफी बड़े भाग में है, चीन तो एशिया का महादेश है। अतः एशियावासी इन दोनों से बड़ी गहरी आत्मीयता और सहानुभूति की भावना रखते हैं। **दूसरा** कारण यह है कि रूस बोल्शेविक क्रान्ति से पहले एशिया के देशों की भांति पिछड़ा हुआ था, उसने एशिया के साम्यवादी गणराज्यों को अत्यन्त पिछड़ी दशा से उठाकर उन्नति करने में प्रबल सहयोग दिया है। अतः उसका अनुभव एशिया के अन्य पिछड़े देशों के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा उन्नति में सहायक सिद्ध हो सकता है। **तीसरा** कारण रूस की विचारधारा द्वारा पश्चिमी साम्राज्यवाद से पीड़ित और पराधीन देशों की स्वतन्त्रता का समर्थन करना है। रूस सदैव इन देशों की स्वाधीनता की महत्त्वाकांक्षाओं का प्रबल पोषक रहा है। अतः इन देशों में साम्यवादी रूस तथा चीन के प्रति स्वाभाविक आकर्षण है। **चौथा** कारण यह है कि इन देशों को साम्यवादी रूस की आर्थिक स्वतन्त्रता पर बल देने वाली लोकतन्त्र की भावना पश्चिमी योरोप की लोकतन्त्र की भावना की अपेक्षा अधिक आकर्षक प्रतीत होती है। पश्चिमी देश राजनीतिक एकता और स्वतन्त्रता पर बल देते हैं। साम्यवाद आर्थिक स्वतन्त्रता पर अधिक बल देता है। एशियावासियों के लिए सूक्ष्म राजनीतिक अधिकारों की अपेक्षा रोटी अधिक महत्त्वपूर्ण है। सोवियत संघ सदैव इस बात का प्रचार करता है कि रूस में सबको आर्थिक स्वतन्त्रता है और सब जातियों के साथ भले ही वे सफेद, काले या पीले रंग की क्यों न हों—समानता का व्यवहार किया जाता है, इसके विपरीत अमेरिका आदि पश्चिमी देशों में गौरांग वर्ण वालों को अधिक अधिकार प्राप्त हैं, काले रंग के नीग्रो लोगों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, उनके साथ समान व्यवहार नहीं होता। सामान्यतः योरोपियन एशियावासियों को अपने से हीन समझते हैं, किन्तु रूस में ऐसा नहीं है। अतः रूस के प्रति एशियाई देशों में अधिक आकर्षण है। **पांचवां** कारण यह है कि साम्यवाद वहां अधिक पनपता है, जहां बेकारी, गरीबी, भुखमरी और बीमारी का साम्राज्य हो। एशिया के अधिकांश पिछड़े देशों में ऐसी स्थिति है, अतः यहां साम्यवाद का प्रसार अधिक हो रहा है। **छठा** कारण यह है सोवियत संघ के प्रचार को हालैण्ड और फ्रांस द्वारा अपने साम्राज्य की रक्षा करने तथा इन प्रदेशों में स्वाधीनता के आन्दोलन का विरोध करने से अधिक बल मिला है। इनके साथ संघर्ष में रूस ने सदैव उपनिवेशवाद से पीड़ित राज्यों का साथ दिया है। सं० रा० अमेरिका की नीति विषयक दोषों, भूलों और विफलताओं का भी रूस ने बड़ा लाभ उठाया है। पहली भूल अमेरिका द्वारा चीन की च्यांगकाई शेक की भ्रष्टाचारी सरकार का समर्थन था। दूसरी भूल सं० रा० अमेरिका द्वारा पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों—ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड—का समर्थन और पुरानी उपनिवेशवादी स्थिति को बनाये रखने का प्रयास था। सं० रा० अमेरिका ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जापान के साथ जो व्यवहार किया और जिस प्रकार उसे अपना वशवर्त्ती सैनिक अड्डा बनाने का प्रयत्न किया, उससे वाशिंगटन ने एशियावासियों की सहानुभूति खो दी।

सं० रा० अमेरिका ने साम्यवाद को रोकने के लिए एशिया के पिछड़े देशों को

विकास के लिए भारी परिमाण में सहायता देने की नीति का अनुसरण किया है। गरीबी और भुखमरी साम्यवाद के सबसे बड़े सहायक हैं। यदि कृषि एवं उद्योगों के विकास से इन देशों में निर्धनता की समस्या हल हो जाती है तो साम्यवाद का आतंक समाप्त हो जायगा। इस दृष्टि से सं० रा० अमेरिका ने पिछड़े देशों को प्रचुर परिमाण में सहायता दी है। रूस ने भी १९५४ से इन देशों को साम्यवाद की ओर आकर्षित करने के लिए सहायता दी है। १ जनवरी, १९५४ से १ जनवरी, १९६३ तक विभिन्न देशों को सं०रा० अमेरिका तथा रूस द्वारा दी गयी सहायता निम्नलिखित तालिका में प्रदर्शित की गयी है।[५] इसमें ऋण एवं अनुदान दोनों सम्मिलित हैं।

सं० रा० अमेरिका द्वारा दी गई सहायता	देश का नाम	रूस तथा साम्यवादी देशों द्वारा दी गई सहायता
१७८० लाख डालर	अफगानिस्तान	५१५० लाख डालर
४९०० ,, ,,	अर्जण्टायना	१०४० ,, ,,
११८२० ,, ,,	ब्राजील	७४० ,, ,,
२५२० ,, ,,	कम्बोडिया	६५० ,, ,,
७३० ,, ,,	श्रीलंका	६९० ,, ,,
२९० ,, ,,	क्यूबा	४७०० ,, ,,
११३० ,, ,,	ईथियोपिया	११४० ,, ,,
१५७० ,, ,,	घाना	२००० ,, ,,
१५० ,, ,,	गिनी	१२७० ,, ,,
३६० ,, ,,	आइसलैण्ड	५० ,, ,,
३५७३० ,, ,,	भारत	९८२० ,, ,,
३९५० ,, ,,	इंडोनीशिया	६४०० ,, ,,
१८० ,, ,,	इराक	२१८० ,, ,,
५० ,, ,,	माल्टा	१००० ,, ,,
४९० ,, ,,	नैपाल	५५० ,, ,,
१७४१ ,, ,,	पाकिस्तान	३३० ,, ,,
२९० ,, ,,	सोमालिया	६३० ,, ,,
६५० ,, ,,	सूडान	२५० ,, ,,
९५० ,, ,,	सीरिया	१९३० ,, ,,
२९३० ,, ,,	ट्यूनिसिया	४६० ,, ,,
१३११० ,, ,,	टर्की	१७० ,, ,,
६१७० ,, ,,	सं० अ० रा० (मिस्र)	७१५० ,, ,,
२५० ,, ,,	यमन	४४० ,, ,,

५. करेण्ट ईवेण्ट्स योअर बुक १९६३, पृ० ५८३-८४

उपर्युक्त तालिका से कई बातें स्पष्ट हैं। रूस, चीन तथा अन्य साम्यवादी देश एशिया और अफ्रीका के नई स्वतन्त्रता प्राप्त देशों तथा अपनी सीमा से लगे देशों, अफगानिस्तान, घाना, ईथियोपिया, गिनी, इंडोनीशिया, इराक, माल्टा, नैपाल, सीरिया, मिस्र, यमन को अमेरिका की अपेक्षा अधिक सहायता दे रहे हैं ताकि इनमें साम्यवाद का प्रभाव बढ़ सके। क्यूबा में यह सहायता बहुत अधिक है क्योंकि दक्षिण अमेरिका में वह साम्यवाद का सबसे प्रबल अड्डा है। आरम्भ में रूस की सहायता बहुत कम थी, किन्तु १९६१ तक समाप्त होने वाले तीन वर्षों में यह प्रतिवर्ष १ अरब (Billion) डालर से भी अधिक तथा अपने राष्ट्रीय उत्पादन का ०·५ प्रतिशत तथा अमेरिका द्वारा अविकसित देशों को दी जानेवाली सहायता के तुल्य हो गयी। किन्तु इसके बाद रूस ने यह अनुभव किया कि उसकी अर्थ-व्यवस्था पर इसका बोझ बहुत अधिक है तथा इस सहायता से उसे उतना लाभ नहीं पहुंच रहा। १९६२ में क्यूबा के अतिरिक्त अन्य देशों को रूस की सहायता कम हो गई। और उसने इस सहायता का भार अन्य साम्यवादी देशों पर डालना शुरू किया। चीन ने रूस के मुकाबले में अपना प्रभाव विस्तार करने के लिए एशिया और अफ्रीका के कई देशों को अधिक सहायता देनी शुरू की है।

अमेरिकी सहायता की तुलना में रूस और चीन की आर्थिक सहायता कम होते हुए भी प्रचारात्मक दृष्टि से अधिक प्रभावशाली है। इसके दो कारण हैं।[६] **पहला** तो यह कि अमेरिका आर्थिक सहायता देते हुए इसके दुरुपयोग को रोकने के लिए कुछ प्रतिबन्ध या नियन्त्रण लगाना आवश्यक समझता है, ताकि इसका पूरा लाभ देश की साधारण जनता को मिले और कुछ मुट्ठीभर राजनीतिक या पूंजीपति इसका वैयक्तिक लाभ की दृष्टि से उपयोग न करें। अमेरिका के विरोधी तथा साम्यवादी इस विषय में यह प्रचार करते हैं कि अमेरिका अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए अपनी सहायता के साथ इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगा रहा है, किन्तु साम्यवादी देश अपनी सहायता बिना किसी प्रतिबन्ध के दे रहे हैं। इस प्रचार का साधारण जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। **दूसरा** कारण यह है कि अमेरिका की आर्थिक सहायता को क्रियान्वित करने के लिए एशियाई देशों में आने वाले अमेरिकन विशेषज्ञों का जीवनस्तर ऊंचा होने के कारण वे जब बड़े ठाठबाट से बढ़िया बंगलों और होटलों में रहते हैं, शानदार मोटर गाड़ियों में घूमते हैं तो साम्यवादियों को यह कहने का अवसर मिलता है कि ये पूंजीपति निर्धन जनता से इतने दूर हैं कि वे उनका कल्याण नहीं कर सकते। रूसी विशेषज्ञ रिक्शा में बैठने में भी संकोच नहीं करते और इसका साधारण जनता पर बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। १९६३ तक अमेरिका यह अनुभव करने लगा कि यह आर्थिक सहायता साम्यवाद को रोकने में अभीष्ट लाभ नहीं पहुंचा रही। अतः इसमें भारी कटौती की जाने लगी।

बांडुंग सम्मेलन—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका में नव जाग-

---

६. जे. एच. ब्रिमेल—कम्यूनिज़्म इन साउथ ईस्ट एशिया, पृ० ३९८

रण की जो लहर आयी है, उसका सर्वोत्तम रूप बांडुंग के सम्मेलन में प्रकट हुआ। बांडुंग पश्चिमी जावा का एक प्रमुख नगर है, यहां अप्रैल १९५५ में एशिया तथा अफ्रीका के राष्ट्रों का पहला सम्मेलन बुलाया गया। यह सम्मेलन दिसम्बर १९५४ में बोगोर में भारत, बर्मा, लंका, पाकिस्तान, इंडोनीशिया के प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन में किये गये निर्णय के अनुसार बुलाया गया था। इस सम्मेलन को बुलाने के प्रयोजन निम्नलिखित थे—सद्भावना और सहयोग की वृद्धि, एशिया तथा अफ्रीका के देशों से विशेष सम्बन्ध रखने वाली आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार, वर्तमान विश्व में एशिया और अफ्रीका की स्थिति पर तथा इन देशों द्वारा विश्वशान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए किये जा सकने वाले कार्यों पर विचार-विमर्श करना। इस में एशिया तथा अफ्रीका के २९ राष्ट्रों के ३४० प्रतिनिधि सम्मिलित हुए, इसका उद्घाटन १८ अप्रैल, १९५५ को इंडोनीशिया के राष्ट्रपति डा० अहमद सुकर्ण ने किया। इसमें एशिया और अफ्रीका की समस्याओं पर विस्तृत विचार हुआ। भारत के प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने इस सम्मेलन में चीन के प्रधानमन्त्री चौ एन लाई के साथ प्रमुख भाग लिया।

इस सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों ने यह निश्चय किया कि वे आर्थिक विकास के लिए एक-दूसरे को विशेषज्ञों, अग्रगामी योजनाओं तथा उपयुक्त साधन-सामग्री द्वारा सहायता प्रदान करेंगे, आर्थिक विकास के कार्यक्रम को चलाने के लिए सं० रा० संघ द्वारा एक विशेष निधि की व्यवस्था होनी चाहिये, आणविक शक्ति का विकास एशिया तथा अफ्रीका के देशों के शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के लिए होना चाहिये। इन देशों को अपनी आर्थिक उन्नति तथा विशेष हितों की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा सं० रा० संघ की बैठकों में सम्मिलित होने से पहले विचार-विमर्श करके सामान्य हित की नीति निश्चित कर लेनी चाहिये, व्यापारिक उन्नति के लिए पारस्परिक समझौते करने चाहिएं तथा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को स्थिर करना चाहिये। इस सम्मेलन ने अफ्रीका में जातीय भेदभाव और पृथक्त्व (Racial Segregation) की नीतियों की घोर निन्दा की। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा मध्यपूर्व में तनाव और संकट का कारण पेलेस्टाइन की स्थिति को बताया गया तथा इसे विश्वशान्ति के लिए खतरा मानते हुए पेलेस्टाइन की अरब जनता के अधिकारों का समर्थन किया गया और पेलेस्टाइन के विषय में सं० रा० संघ के प्रस्तावों को क्रियान्वित करने तथा इस समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान करने पर बल दिया गया। सम्मेलन ने निःशस्त्रीकरण का समर्थन करते हुए मानव जाति के परित्राण के लिए अणुपरीक्षण पर तथा आणविक आयुधों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव पास किया।

इस सम्मेलन ने घोषणा की कि उपनिवेशवाद (Colonialism) के सभी रूपों का समूलोन्मूलन होना चाहिये। किन्तु उपनिवेशवाद की निन्दा करते हुए भी इसके रूपों के सम्बन्ध में सम्मेलन के प्रतिनिधियों में बड़ा मतभेद था। लंका के प्रधानमंत्री जान कोटेलवाला ने यह कहा कि उपनिवेशवाद की निन्दा करते हुए सम्मेलन को इसमें कम्यूनिस्ट शासन के उस प्रकार को भी सम्मिलित करना चाहिये, जो शक्ति, अन्तःस्रवण

(Infiltration) तथा विध्वंस (Subversion) द्वारा स्थापित किया जाता है। इस विषय पर सम्मेलन में बड़ा कटु तथा उग्र विवाद हुआ और इसके बाद यह निश्चय हुआ कि ऐसा शासन भी उपनिवेशवाद है। इस विषय में प्रतिनिधियों के मतभेदों को हल करने के लिए दस सिद्धान्तों का प्रस्ताव स्वीकार किया गया। इसमें पांच सिद्धान्त तो पंचशील वाले (देखिये ऊपर पृ० ४२५) हैं और पांच नये सिद्धान्त हैं। ये दस सिद्धान्त इस प्रकार हैं—(१) मानव के मौलिक अधिकारों के प्रति सम्मान। (२) सं० रा० संघ के चार्टर के उद्देश्यों और सिद्धान्तों के प्रति सम्मान की भावना। (३) बड़े और छोटे सभी राज्यों को तथा सब जातियों को समान समझना। (४) दूसरे देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना। (५) प्रत्येक राष्ट्र के इस अधिकार का सम्मान कि वह स्वयं अकेले ही अथवा सं० रा० संघ के चार्टर के अनुसार सामूहिक रूप से आत्मरक्षा कर सकता है। (६) महाशक्तियों द्वारा विशेष हितों की पूर्ति के विशेष उद्देश्य से की गई सामूहिक प्रतिरक्षा की व्यवस्थाओं का प्रयोग न करना तथा दूसरे देशों पर दबाव न डालना। (७) आक्रमण के कार्य न करना, इसकी धमकी न देना, किसी देश की प्रादेशिक अखण्डता या राजनीतिक स्वतन्त्रता भंग करने के लिए शक्ति का प्रयोग न करना। (८) सब अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान सन्धि वार्त्ता, संराधन (Conciliation), पंचनिर्णय, न्यायिक निर्णय आदि के शान्तिपूर्ण उपायों से करना अथवा अन्य ऐसे शान्तिपूर्ण उपायों से करना, जिन्हें विवाद करने वाले दल सं० राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुसार स्वयं चुने। (९) पारस्परिक हितों तथा सहयोग की वृद्धि। (१०) न्याय के प्रति तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान की भावना। सम्मेलन की सम्मति में इन सिद्धान्तों के पालन से विश्व में शान्ति और सहयोग की भावना बढ़ सकती है।

इस सम्मेलन के सम्बन्ध में बार्नेट ने लिखा है कि यह एशिया और अफ्रीका के पुनरुत्थान (Resurgence) का प्रतीक था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह एक ऐतिहासिक और अभूतपूर्व सम्मेलन था। इसमें एशिया और अफ्रीका के २९ देशों के प्रमुख नेता पश्चिमी महाशक्तियों के प्रभाव से मुक्त बैठक में सम्मिलित हुए। यह इस बात का प्रतीक था कि विश्व के मामलों में पश्चिमी देशों से भिन्न राष्ट्रों का प्रभाव बढ़ रहा है।[७]

एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को समझने के लिए इसे तीन बड़े क्षेत्रों में बांटा जा सकता है—मध्यपूर्व (Middle East), सुदूरपूर्व (Far East) तथा दक्षिण पूर्वी एशिया। यहां इन तीनों का पृथक् एवं संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

मध्यपूर्व की समस्याएं

मध्यपूर्व का स्वरूप—मध्यपूर्व तीन महाद्वीपों—एशिया, अफ्रीका, योरोप का संगम स्थल होने से इतिहास के उषाकाल से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा है। यहां मिस्री, हिट्टाइट, ईजियन, फिनिशियन, यूनानी, सुमेरियन,

---

७. ए. डोक बार्नेट—कम्यूनिस्ट चाइना एण्ड एशिया, पृ० १०४

असीरियन, बेबीलोनियन, खाल्दियन, हखामनी, सासानियन, अरब और तुर्क साम्राज्यों का उत्थान तथा पतन हुआ, विश्व के तीन बड़े धर्मों—यहूदीमत ईसाईमत और इस्लाम का जन्म हुआ। सामान्यतः मध्यपूर्व में पश्चिम दिशा में मिश्र से लेकर पूर्व दिशा में अफगानिस्तान तक का प्रदेश समझा जाता है। कई बार इसमें अफ्रीका के उत्तरी तट के अरब राज्य भी सम्मिलित कर लिये जाते हैं। गाई विण्ट ने लिखा है—"मध्य पूर्व के सीमित अर्थ में मिस्र तथा एशिया के अरब राज्य समझे जाते हैं, किन्तु प्रायः इसमें ईरान और टर्की तथा भूमध्यसागर पर अवस्थित लिबिया, ट्यूनिसिया, अल्जीरिया और मोरक्को का समावेश किया जाता है।[८] श्लीचर के मतानुसार यदि इसमें केवल मिस्र से अफगानिस्तान तक के प्रदेश को ही सम्मिलित करें, तो इसका क्षेत्रफल २७ लाख वर्ग मील है।[९] यह रूसरहित योरोप के बराबर और भारत के दुगने से कुछ अधिक है। किन्तु इसकी आबादी केवल ७।। करोड़ अर्थात् भारत की जनसंख्या के पंचमांश से भी कम है। इसका मुख्य कारण सौदी अरब, मिस्र और ईरान के विशाल मरुस्थल हैं।

मध्य पूर्व में ११ स्वतन्त्र राज्य, अनेक छोटे शेखों के प्रदेश तथा संरक्षित राज्य हैं। इनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—अदन का ब्रिटिश संरक्षित प्रदेश (क्षेत्रफल १,८५,००० व० मी०, जनसंख्या ६,५०,०००), अफगानिस्तान (२,५०,९६६ व० मी०, ज० १ करोड़ ३० लाख), बहरीन (२३१ व० मी०, ज० १ लाख २० हजार), साइप्रस (३,५८४ व० मी०, ज० ४,९२,०००) मिस्र (३,८६,१९८ व० मी०, ज० २,३२,४०,०००), ईरान (६,२८,००० व० मी०, ज० २,००८१,५१०), इराक (१,७१,५९९ व० मी०, ज० ५६,३८,१०९), इज़राइल (८०४८, व० मी०, ज० १,९७६,०००), जोर्डन (३७,२६४ व० मी०, ज० १४ लाख ७१ हजार), कुवैत, (८००० व० मी०, ज० १,७०,०००) ओमन तथा मरकत (८२,००० व० मी०, ज० ५,५०,०००), कतर (८,४९४ व० मी०, ज० १०,०००), सौदी अरब (८,७०,००० व० मी०, ज० १ करोड़ १० लाख) लेबानन, (४,३००० व० मी०, ज० १४,१५,९५९), सीरिया (६६,००० व० मी०, ज० ३२,९१,०००), टर्की (२,९६,५०३ व० मी०, ज० २,४१,११,७७८), यमन (७५,२९० व० मी०, ज० ५०,००,०००)।[१०]

आजकल मध्यपूर्व का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में असाधारण महत्त्व है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इस प्रदेश में टर्की के खलीफा की प्रभुता समाप्त होने के साथ ब्रिटेन और फ्रांस का वर्चस्व स्थापित हुआ। किन्तु इसके साथ ही यहां पश्चिमी साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने के लिए अरबों का राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यहां ब्रिटेन और फ्रांस की प्रभुता समाप्त हो गयी है। किन्तु इसका स्थान लेने के लिए सं० रा० अमेरिका और रूस में तीव्र संघर्ष चल रहा है। इस क्षेत्र में इनकी प्रबल प्रतिद्वन्द्विता ने इसे वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विश्व में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान

८. गाई विण्ट—मिडल ईस्ट क्राइसिस, पृ० १६

९. चार्ल्सश्लीचर—इंट्रोडक्शन टु इंटरनेशनल रिलेशन्स, पृ० ४३५

१०. स्टेट्समैन योअर बुक, १९५८

बना दिया है। यहां पहले इस प्रदेश को महत्त्वपूर्ण बनाने वाले कारणों का तथा इसे प्रभावित करने वाले सामान्य तत्त्वों का उल्लेख होगा और इसके बाद कुछ प्रमुख देशों की समस्याओं पर प्रकाश डाला जायगा।

मध्यपूर्व की महत्ता के कारण

(क) भौगोलिक स्थिति—इस समय इसकी असाधारण अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता के दो प्रधान कारण भौगोलिक स्थिति और इसका विशाल तेल भण्डार हैं। मध्यपूर्व न केवल तीन महाद्वीपों का संगम स्थल है, किन्तु अन्धमहासागर, भूमध्यसागर, कृष्ण महासागर और स्वेज नहर को भी परस्पर जोड़ने वाला है। इसके जलमार्ग योरोप को दक्षिणी और पूर्वी एशिया, आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा अफ्रीका से जोड़ते हैं। पश्चिमी योरोप के औद्योगिक कारखानों में तैयार होने वाला माल दक्षिण-पूर्वी एशिया को इसी प्रदेश के जलमार्गों से होकर जाता है और उसे अपने उद्योग-धन्धों को चलाने का एक प्रधान आवश्यक तत्त्व पेट्रोल भी इसी मार्ग से प्राप्त होता है। स्वेज नहर बन्द होने से पूर्व और पश्चिम का व्यापार ठप्प हो सकता है, जैसा अक्टूबर १९५६ में स्वेज नहर के संकट के समय हुआ था। यह पश्चिमी योरोप के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। यदि मध्यपूर्व में सोवियत प्रभाव बढ़ जाता है और पश्चिमी योरोप के लिए यह मार्ग बन्द हो जाता है तो तेल सुगमतापूर्वक उपलब्ध न होने तथा पूर्व में औद्योगिक माल की निकासी तथा वहां से कच्चे माल की उपलब्धि न होने से उसका समूचा आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त और विच्छिन्न हो जाता है। अतः पश्चिमी योरोप और अमेरिका इस क्षेत्र में अपने विरोधी सोवियत रूस की प्रभाव-वृद्धि को कभी सहन नहीं कर सकते।

स्वेज की भांति भूमध्यसागर का तथा इसे कृष्णसागर के साथ जोड़ने वाले दर्रे दानियाल और बास्फोरस जलडमरूमध्यों का भी बड़ा सामरिक महत्त्व है। इस समय इन पर टर्की का अधिकार है। पिछली शताब्दी से रूस इन्हें टर्की से हस्तगत कर भूमध्यसागर में आने का मार्ग खोलने का प्रयत्न करता रहा है। उसने क्रीमिया का युद्ध (१८५४–६) इसी उद्देश्य से लड़ा था। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर भी उसने टर्की पर इसके लिए बल डाला था (दे० पृ० ३६३), किन्तु पश्चिमी राष्ट्रों के तीव्र विरोध के कारण वह अभी तक इस उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। यदि रूस इन जलडमरूमध्यों पर अधिकार कर ले तो उसके जंगी जहाज पूर्वी भूमध्यसागर में से होकर एशिया और आस्ट्रेलिया को जाने वाले मार्ग की सुरक्षा को संकट में डाल सकते हैं। नाटो संधि (पृ० ३३७) के दक्षिणी पार्श्व की तथा अफ्रीका के उत्तरी तट की सुरक्षा की दृष्टि से रूस का यहां आना पश्चिम के लिए सर्वथा अवांछनीय है। इन जलडमरूमध्यों को रूस के हाथ में न जाने देने के लिए यह आवश्यक है कि यूनान और टर्की को रूसी माँगों का तथा आक्रमण का प्रतिरोध करने में समर्थ बनाया जाय। पहले यह बताया जा चुका है कि ट्रूमैन सिद्धान्त की तथा आइजनहावर सिद्धान्त की घोषणा इसी दृष्टि से की गई है (दे० पृ० ३६५)। इसी प्रकार पूर्वी भूमध्यसागर के तट पर यदि रूस को कोई अनुकूल देश प्राप्त हो जाय तो पश्चिम का मित्र टर्कीउत्तर और दक्षिण दोनों दिशाअ

से घिर जायगा, पश्चिमी देशों के लिए पूर्वी भूमध्यसागर में अपनी स्थिति बनाये रखना बड़ा कठिन हो जायगा। इस लिए पश्चिम को यह विशेष चिन्ता है कि सीरिया और लेबानन में सोवियत प्रभाव न बढ़ने पाये, इसी कारण आइजनहावर सिद्धान्त के अनुसार १५ जुलाई, १६५८ को लेबानन में अमेरिकी फौजें उतारी गयी थीं (देखिये पृ० ३७२)।

मध्यपूर्व के देशों का एक बड़ा महत्त्व यह भी है कि ये इस समय टर्की से अफगानिस्तान तक सोवियत यूनियन की दक्षिणी सीमा बनाते हैं। यदि इन देशों में अमेरिका को सैनिक अड्डे प्राप्त हो जाएँ तो युद्ध होने की स्थिति में वह सोवियत यूनियन पर सुगमतापूर्वक आक्रमण कर सकता है। इस दृष्टि से उसने बगदाद समझौते (केन्द्रीय सन्धि संगठन) का निर्माण किया है (देखिए पृ० ३४७)। इस समय अमेरिका के पास धाहरन (सौदी अरब) में एक बहुत बड़ा हवाई अड्डा है और यहां अमेरिकी सेना भी रहती है, जिद्दा, विलस फील्ड, मेल्लाहा, ओगीलो (लिबिया), अल फतह (साइरेनाइका) में इसके कुछ अन्य हवाई अड्डे हैं। उसके समुद्री बेड़े का कुछ भाग पश्चिमी हिन्दमहासागर में, रक्त एवं अरबसागरों में तथा ईरान की खाड़ी में चक्कर काटता रहता है। पूर्व से पश्चिम को यात्रियों तथा माल को ढोने वाली अमेरिकी हवाई कम्पनियों के मार्गों का जाल भी इस क्षेत्र में विस्तीर्ण है।

(ख) **विशाल तेल भण्डार**—मध्यपूर्व की महत्ता का दूसरा कारण वर्तमान औद्योगिक जीवन के एक प्रमुख आधार पेट्रोल का यहां प्रचुर मात्रा में पाया जाना है। विश्व के ज्ञात तेल का लगभग ६६ प्रतिशत ईरान की खाड़ी के आसपास के प्रदेशों—मुख्यरूप से कुवैत, ईरान, इराक और सौदी अरब में पाया जाता है। कर्नल नासिर के शब्दों में सं० रा० अमेरिका में पेट्रोल का औसत दैनिक उत्पादन ११ ढोल (Barrels) है, वेनेजुएला में २० ढोल तथा अरब क्षेत्र में ४००० ढोल। इससे इस क्षेत्र की महत्ता स्पष्ट है। अभी इससे भी अधिक तेल मिलने की आशा है। यह तेल योरोप के आर्थिक जीवन का प्राण है, सोवियत यूनियन के लिए प्रबल आकर्षण है और मध्यपूर्व के उद्योगहीन दरिद्र देशों की आय का अक्षय स्रोत है। योरोप की इस पर निर्भरता इसी से स्पष्ट हो जायगी कि १६५५ में पश्चिमी योरोप के देशों ने बाहर से ११ करोड़ ७० लाख टन पेट्रोल मंगाया था, १६६० तक इसके १७½ करोड़ टन तथा १६५७ तक ४१½ करोड़ टन तक बढ़ जाने की आशा थी। १६५५ में योरोप द्वारा आयात किये गए तेल का ८० प्रतिशत मध्यपूर्व से आया था, जब कि १६३८ में यह केवल १६ प्रतिशत था। यदि मध्यपूर्व की दृष्टि से देखा जाय तो उसने अपने तेल के कुल निर्यात का ६३ प्रतिशत पश्चिमी योरोप को भेजा था। यदि यह तेल योरोप को मिलना बन्द हो जाय तो उसके वायुयान, समुद्री जहाज, मोटरें, गाड़ियां और कल-कारखाने चलना भी बन्द हो जायेंगे। युद्धकाल में यदि वह प्रदेश पश्चिम के हाथ में न रहा तो उसका लड़ना असंभव हो जायगा, अतः पश्चिम इस प्रदेश पर अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहता है।

इस तेल के अतिरिक्त इसे निकालने वाली कम्पनियों ने भी इसे अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्रदान किया है। ये कम्पनियां ब्रिटिश, फ्रेंच और अमेरिकन हैं। १६३८ में

अमेरिकी कम्पनियों ने यहां २० लाख टन तेल का उत्पादन किया था, जब कि ब्रिटिश उत्पादन इसका छः गुना १ करोड़ २५ लाख टन था। किन्तु १९५४ में अमेरिकन उत्पादन ४० गुना बढ़कर ८ करोड़ टन हो गया और ब्रिटिश उत्पादन इसका आधा ४½ करोड़ टन ही बढ़ा। १९५६ तक मध्यपूर्व में उत्पन्न होने वाले तेल का ६० प्रतिशत अमेरिका के हाथ में आ गया, जब कि १९३९ में उसके पास केवल १२% ही था। दूसरी ओर ब्रिटेन द्वारा उत्पादित तेल की मात्रा १९३९ की ८० प्रतिशत से घट कर १९५६ में ३० प्रतिशत रह गयी। इस समय अमेरिका की १ अरब डालर की पूंजी मध्यपूर्व के तेल व्यापार में लगी हुई है, उसने रास अल तनूरा (सौदी अरब), कुवैत, बहरीन में तेल-शोधक कारखाने बनाये हैं, सौदी अरब से लेबानन के समुद्र तट (हैफा) तक पाइप लाइन बना ली है। इस प्रदेश में इतनी पूंजी लगी होने तथा तेल जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु की प्राप्ति का स्रोत होने के कारण अमेरिका इन देशों में अपना पूरा प्रभुत्व बनाये रखना चाहता है, यहां सोवियत प्रभाव की वृद्धि उसे सहन नहीं है। उपर्युक्त सभी कारणों से इस समय यह क्षेत्र दोनों महाशक्तियों के संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है।

इन दो कारणों के अतिरिक्त मध्यपूर्व की समस्याओं पर प्रभाव डालने वाले कुछ अन्य तत्त्व निम्नलिखित हैं :—

मध्यपूर्व पर प्रभाव डालने वाले तत्त्व

(१) **जनता**—इस प्रदेश की ९० प्रतिशत जनता का धर्म इस्लाम है, ४% ईसाई हैं, २% यहूदी हैं। साइप्रस, इजराइल और लेबानन के अतिरिक्त अन्य सभी देशों में मुस्लिम जनता का बहुमत है। यहा यद्यपि इस्लाम विभिन्न देशों को एकता के सूत्र में ग्रथित करने वाला है किन्तु इसमें दो परस्पर विरोधी सम्प्रदाय सुन्नी तथा शिया हैं। ईरान में शिया मुसलमानों का बहुमत है, अन्यत्र सुन्नियों का। इराक मे आधे मुसलमान शिया हैं। इसका यहां की राजनीति पर काफी प्रभाव पड़ता है। सौदी अरब में वहाबी सम्प्रदाय के मुसलमान हैं। सीरिया की ३२ लाख जनता में ५ लाख ईसाई, ५ लाख शिया तथा शेष सुन्नी हैं। इजराइल में बहुसंख्या यहूदियों की है, किन्तु कुछ मुसलमान, ईसाई तथा द्रूज (Druz) भी हैं। लेबानन में आधी जनसंख्या ईसाई है, किन्तु मैरोनाइट, ग्रीक आर्थोडाक्स, आर्मीनियन और रोमन कैथोलिकों में विभक्त हैं, मुस्लिम जनसंख्या शिया-सुन्नी सम्प्रदायों में बँटी हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि जहां इस्लाम इस प्रदेश में धार्मिक एकता स्थापित करने वाला है, वहां इसके तथा ईसाइयत के विभिन्न सम्प्रदाय भेद उत्पन्न करने वाले भी हैं।

इस प्रदेश की अधिकांश जनता अरबीभाषाभाषी है, अरबी इसे एकता प्रदान करने वाली है, किन्तु इसके साथ ही यहां ईरान में फारसी, टर्की में तुर्की, अफगानिस्तान में पश्तो, इजराइल में यहूदी भाषा प्रचलित है। यह प्रदेश आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ तथा कृषि-प्रधान है। इसकी अधिकांश जनता दरिद्र और दुःखी, शासनतन्त्र भ्रष्टाचारी तथा भूव्यवस्था जमींदारी-प्रधान है। ये सब परिस्थितियां साम्यवाद के प्रसार के लिए बहुत अनुकूल हैं। आमदनी का सबसे बड़ा स्रोत पेट्रोल की रायल्टी है, किन्तु तेल

के कुओं के सूखने पर यह स्रोत किसी भी दिन सूख सकता है।

(२) **अरब राष्ट्रीयता** (Arab Nationalism)—पिछली शताब्दी में पश्चिम के साथ सम्पर्क में आने से और उसके साम्राज्यवाद का शिकार होने से इस प्रदेश में यह भावना प्रबल हुई है। इसकी दो मुख्य विशेषताएं हैं—**पहली** विशेषता इसका पश्चिमी साम्राज्यवाद का उग्र विरोध तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। १८७९ में अंग्रेजों ने मिस्र के शासक खदीव इस्माइल की ऋणग्रस्तता का लाभ उठाते हुए मिस्र में अपना अधिकार बढ़ाना शुरू किया और १८८२ में वे इसके स्वामी बन गए, १८९६ तक उन्होंने सूडान जीत लिया। प्रथम विश्वयुद्ध में यद्यपि उन्होंने तुर्क साम्राज्य के विरुद्ध अरबों को भड़काते हुए उनमें राष्ट्रीयता उत्पन्न की, किन्तु इसकी समाप्ति पर तुर्क साम्राज्य के तीन अरब प्रदेश—पेलेस्टाइन, इराक तथा ट्रांसजोर्डन ब्रिटेन ने मैण्डेट के रूप में प्राप्त किए और सीरिया तथा लेबानन फ्रांस को प्राप्त हुए। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अरबों में विदेशी दासता का जुआ उतार फेंक देने का आन्दोलन बहुत प्रबल हुआ। दूसरी विशेषता सामाजिक और आर्थिक सुधारों पर बल देना है। पश्चिमी देशों ने अपने आर्थिक स्वार्थों को दृष्टि में रखते हुए इन पर राजनीतिक प्रभुता स्थापित की थी। ब्रिटेन ने मिस्र को अपनी सूती मिलों के लिए बढ़िया रुई प्राप्त करने के लिए इसमें इसके उत्पादन पर अधिक बल दिया तथा अन्य उद्योग-धन्धों के विकास की उपेक्षा की। साम्राज्यवादी शोषण से इन देशों की अर्थव्यवस्था का समुचित विकास नहीं हो पाया। अरब राष्ट्रीयता इनके विकास द्वारा इन देशों की दयनीय दरिद्रता और भुखमरी दूर करना चाहती है, इन्हें न केवल राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र, अपितु आर्थिक दृष्टि से उन्नत एवं समृद्ध बनाने के लिए उत्सुक है।

इस क्षेत्र में राष्ट्रीयता अनेक रूपों में प्रकट हुई है; इसका **पहला** रूप अब तक पश्चिमी देशों द्वारा इनके शोषण का प्रधान केन्द्र बने साधनों का राष्ट्रीयकरण है। उदाहरणार्थ १९५१ में ईरान के मुसद्दिक ने एंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी को ईरानी राष्ट्र की सम्पत्ति बनाने का कानून बनाया। २६ जुलाई, १९५६ को कर्नल नासिर ने स्वेज नहर का संचालन करने वाली ऐंग्लो-फ्रेंच कम्पनी का राष्ट्रीयकरण किया (पृ० २९५)। इन दोनों का उद्देश्य विदेशी कम्पनियों को प्राप्त होने वाली विशाल धनराशि का देशहित के कार्यों में विनियोग करना था। **दूसरा** रूप राजनीतिक स्वतन्त्रता पा लेने के बाद सन्धियों द्वारा अपने देशों में अवस्थित विदेशी फौजों को हटाना तथा विदेशी अड्डों की समाप्ति थी। ये फौजें विदेशी दासता का मूर्तिमान प्रतीक थीं, इनका बना रहना राष्ट्रीय गौरव के लिए घोर कलंक था। अतः मिस्र और ईरान ने अपने देशों से इन फौजों को हटाने के लिए प्रबल आन्दोलन किया (देखिए पृ० २९४)। जुलाई १९५८ में जब अमेरिकी और ब्रिटिश फौजें लेबानन और जोर्डन में आयीं (देखिए पृ० ३७४) तो समूचे अरब जगत् ने एक स्वर से इसकी घोर निन्दा की और इन्हें शीघ्र ही यहां से हटना पड़ा। **तीसरा** रूप अभी तक विदेशी शासन की दासता के पाश में आबद्ध देशों का स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उग्र आन्दोलन है, जैसा अल्जीरिया आदि में हो चुका है। **चौथा** रूप यहूदीवाद (Zionism) तथा इजराइल के राज्य का उग्र विरोध है।

आगे यह बताया जायगा कि इस राज्य की स्थापना कैसे हुई। सब अरब राज्य यहूदियों को मध्यपूर्व से मार भगाने पर तुले हुए हैं। उनके लिए इस राज्य का तात्पर्य उन्हें अपनी मातृभूमि से निकाला जाना और प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों द्वारा अरबों की एकता और स्वतन्त्रता के लिए दी गई प्रतिज्ञाओं का भंग है। **पांचवां** रूप पश्चिम का विरोध और उसके पक्षपातियों का सफाया है। ऐसे व्यक्तियों को वहां देश को दास बनाने वाला समझा जाता है। जुलाई १९५८ की इराकी क्रान्ति में कट्टर पश्चिमपक्षपाती ७० वर्षीय प्रधानमन्त्री नूरी अस्सय्यद की हत्या इसका स्पष्ट प्रमाण है। इस क्रान्ति से प्रचुर पेट्रोल वाले इस प्रदेश में पश्चिम के प्रभाव की समाप्ति और रूस के प्रभाव की वृद्धि हुई है, अमेरिका द्वारा सोवियत यूनियन के विरुद्ध सुरक्षा के लिए बनाये गये बगदाद पैक्ट की सुदृढ़ रक्षापंक्ति में एक बड़ी दरार पड़ गई।

(३) **अरब एकता** (क) अरब लीग—राष्ट्रीयता का **छठा** रूप सब अरब राज्यों की एकता (Pan Arabism) का आन्दोलन है। यह अरबीभाषाभाषी विभिन्न देशों को एक शासनसूत्र में ग्रथित करना चाहता है। इसका श्रीगणेश १९वीं शताब्दी की अरब जागृति से आरम्भ हुआ था। इसका उद्देश्य ४०० वर्ष से तुर्क साम्राज्य की दासता का भार वहन करने वाले अरबों में स्वतन्त्र होने, एक नस्ल, एक धर्म, एक भाषा के आधार पर इनका एक नया राज्य बनाना था। प्रथम विश्वयुद्ध में अरबों ने टर्की के खलीफा के विरुद्ध विद्रोह करके एशिया के सब अरबों के एक संगठित राज्य के उद्देश्य को पाना चाहा, किन्तु १९१९ के शान्ति समझौते ने एशिया के अरब जगत् को फ्रांस और ब्रिटेन के अधीन सीरिया, लेबानन, इराक, जोर्डन और पेलेस्टाइन के पाँच भागों में तथा यमन और सौदी अरब के स्वतन्त्र राज्यों में बाँट दिया। १९४१ तक फिलिस्तीन के अतिरिक्त अन्य चार देशों ने बहुत कुछ स्वाधीनता प्राप्त कर ली थी। १९४४ में अरब एकता के लिए सिकन्दरिया में एक सम्मेलन बुलाया गया। इसमें मिस्र, इराक, सीरिया, लेबानन, जोर्डन, सौदी अरब तथा यमन ने और फिलिस्तीन के अरब प्रतिनिधि ने भाग लिया, इसमें पारस्परिक मतभेदों को देखते हुए यह निश्चय हुआ कि अरब देशों का न तो कोई एकात्मक (Unitary) राज्य बन सकता है और न ही कोई संघ राज्य (Federation)। केवल सर्वोच्च प्रभुता सम्पन्न राज्यों के सामान्य उद्देश्यों को पूरा करने के लिए अरब लीग (League) ही बन सकती है। इस सम्मेलन ने इस लीग के संगठन की सिकन्दरिया प्रोटोकोल (Alexandaria Protocol) के नाम से प्रसिद्ध रूपरेखा तैयार की। इसके आधार पर बनाये गये प्रतिज्ञापत्र (Covenent) पर २२ मार्च, १९४५ को मिस्र, इराक, सौदी अरब, सीरिया, लेबानन, जोर्डन और यमन के सात राज्यों ने हस्ताक्षर किये। लिबिया इस लीग में मार्च १९५३ में तथा सूडान जनवरी १९५६ में, ट्यूनिशिया तथा मोरक्को अक्टूबर १९५८ में, कुवैत जुलाई १९६१ में, अल्जीरिया अक्टूबर १९६२ में सम्मिलित हुआ।

इस लीग का उद्देश्य सदस्य-राज्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध बढ़ाना, राजनीतिक कार्यवाहियों में सामंजस्य स्थापित करना, इनकी स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता की रक्षा करना, पराधीन अरबों को स्वतन्त्र बनाना, फिलिस्तीन पर अरबों का दावा स्वीकार करते हुए

इसे यहूदियों से मुक्त कराना, पारस्परिक विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा करना है। इसके संगठन में एक कौंसिल या मजलिस, कुछ विदेश समितियां तथा काहिरा में स्थायी सचिवालय है। सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों से निर्मित मजलिस की बैठकें वर्ष में दो बार मार्च तथा अक्टूबर में हुआ करती हैं। इसकी राजनीतिक समिति में सब सदस्य देशों के विदेश-मन्त्री होते हैं। १९५२ तक इसके पहले महामन्त्री मिस्र के अब्दुल रहमान आजम पाशा थे और दूसरे महामन्त्री मिस्र के भूतपूर्व विदेश-मन्त्री अब्दुल खालिक हसौना हैं।

(ख) **अरब राज्यों के एकीकरण के प्रयास**—अरब लीग का यह प्रयास रहा है कि वह उत्तरी अफ्रीका तथा पश्चिमी एशिया के सब अरबीभाषाभाषी राज्यों का एक संघ बनाये। यह मुस्लिम प्रभुता के उस स्वर्णिम अतीत को पुनः साकार बनाने की योजना है, जब सातवीं शताब्दी में पैगम्बर हज़रत मुहम्मद ने इस्लाम को जन्म दिया और नये धर्म में दीक्षित अरब योद्धाओं ने खलीफाओं के शासन काल में स्पेन से सिन्ध तक तथा मध्य एशिया से सूडान और सहारा तक के विस्तृत भूभाग में खिलाफत का साम्राज्य स्थापित किया था। मिस्र के कर्नल नासिर वर्तमान युग में इस स्वप्न को सत्य बनाना चाहते हैं और उन्होंने १ फर० १९५८ को मिस्र और सीरिया को संयुक्त बना कर संयुक्त अरब गणराज्य (अल्जम्हूरिया अल् अरबिया अल् मुत्तहिदा) इस दिशा में पहला पग उठाया; दोनों देशों का एक शासनाध्यक्ष, एक विधान सभा, एक संयुक्त सेना तथा एक झण्डा निश्चित किया। ९ मार्च, १९५८ को अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता हुआ यमन राज्य भी इसमें सम्मिलित हुआ तथा संयुक्त अरब राज्यों (United Arab States) का निर्माण हुआ। नासिर का यह लक्ष्य था कि इसमें शनैः शनैः इराक, अल्जीरिया, जोर्डन, सौदी अरब, लेबानन, कुवैत, मोरक्को, लिबिया, ट्यूनिशिया, मारीटानिया, चाड, सूडान, अदन, मस्कत-अमन, बहरीन, कातार के प्रदेश भी सम्मिलित हों। इन सब के सहयोग से सब अरब राज्यों का एकीकरण हो।

अरब राज्यों के एकीकरण की योजना तो सब को वांछनीय प्रतीत होती है, किन्तु उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए घोर मतभेद हैं। पहला मतभेद नेतृत्वविषयक है। नासिर का नेतृत्व सब को स्वीकार नहीं है। नासिर के अतिरिक्त अरब जगत् में अन्य क्रियाशील राजनीतिज्ञ हैं, जैसे सौदी अरब का राजा, ट्यूनीशिया का राष्ट्रपति हबीब बूर्गीबा, अल्जीरिया का प्रधानमंत्री बेनबेला, मोरक्को का राजा हसन। सौदी अरब के निरंकुश शासकों का नासिर से प्रबल विरोध यमन के मामले में स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है। बूर्गीबा और नासिर के बीच अरब विश्व के नेतृत्व के लिए प्रतिस्पर्धा है। बूर्गीबा का झुकाव फ्रांस की ओर है। बेनबेला नासिर का मित्र होते हुए भी इतना अहंवादी है कि अल्जीरिया में अपने साथियों से नहीं निभा सका। यह कहना कठिन है कि वह नासिर के साथ कब तक निभा सकेगा। मोरक्को का राजा हसन अमेरिका का पक्षपाती है। ट्यूनीशिया सं० अरब राज्य (मिस्र) का प्रभाव नहीं बढ़ने देना चाहता। जोर्डन पेलेस्टाइन के अरबों का स्वतन्त्र राज्य नहीं बनने देना चाहता। इराक कुवैत को हथिया कर इसे अपने राज्य का अंग बनाना चाहता है। दूसरा कारण विभिन्न राजनीतिक

दलों के आन्तरिक मतभेद हैं। सीरिया और इराक में नासिर से भी अधिक प्रगतिशील बाथपार्टी का प्रभाव है। कुवैत और सौदी अरब के उग्र प्रगतिदल का झुकाव भी बाथपार्टी के समाजवाद की ओर है। इराक में कुर्दिस्तान के मुल्ला मुस्तफा बरजानी का काफी प्रभाव है और मुल्ला का झुकाव रूस के साम्यवाद की ओर है। नासिर का यह मत है कि अरब राज्यों के लिए भारत के समान असंलग्नता (Non-alignment) की नीति श्रेयस्कर है।

उग्र आन्तरिक मतभेदों के कारण १ फरवरी, १९५८ को स्थापित हुआ मिस्र तथा सीरिया का संयुक्त राज्य अधिक समय तक नहीं चल सका। २६-२८ सितम्बर १९६१ को सीरिया में क्रान्ति हुई और वह इस राज्य से पृथक् हो गया, नासिर ने २९ सितम्बर को यह स्थिति स्वीकार की। किन्तु अपने देश का नाम मिस्र के स्थान पर संयुक्त अरब गणराज्य ही रहने दिया। २६ दिस० १९६१ को मिस्र ने यमन के साथ भी अपने संघ को समाप्त कर दिया। किन्तु अप्रैल १९६३ में मिस्र, इराक तथा सीरिया ने मिलकर पुनः अरब संघ का निर्माण किया। यह १९५८ के संघ की भांति सुदृढ़ तथा एकात्मक नहीं था किन्तु इसमें प्रत्येक सदस्य राज्य की पृथक् सरकार और पार्लियामैण्ट की व्यवस्था की गयी थी। इसका स्वरूप संघीय (Federal) था। नासिर की यह इच्छा है कि सं० रा० अमेरिका की भांति अरब राज्यों का संघ बने। नासिर का यह कहना था कि "हमने संघ को सुदृढ़ इकाई (Union) बनाने का प्रयत्न करने में भूल की। इसलिए हम असफल रहे। पूर्ण एकता अव्यावहारिक है। हमें इन देशों के प्रतिक्रियावादी तथा स्वेच्छाचारपोषक दलों से दूर रह कर प्रगतिशील राजनीतिक दलों के सहयोग से अरब राष्ट्र संघ बनाने का लक्ष्य पूरा करना है।" भविष्य ही यह बताएगा कि अरब राज्यों की एकता का प्रयास कहां तक सफल होता है। अरब राज्यों में एकता का एकमात्र आधार इजराइल का उग्र विरोध है। जनवरी १९६४ में इजराइल संकट का सामना करने के लिए अरब राज्यों का एक सम्मेलन काहिरा में हुआ। इसमें संयुक्त सैनिक कमान बनाने तथा जोर्डन नदी के पानी के बंटवारे के बारे में विचार किया गया।

(४) **यहूदीवाद** (Zionism)—इसका उद्देश्य फिलस्तीन में यहूदियों के एक राज्य को पुनः स्थापित करना था। यहूदी पिछली शताब्दी में योरोप के विभिन्न राज्यों में और अमेरिका में बसे हुए थे। रूस और रूमानिया में १८८१ में इन पर भीषण अत्याचार हुए और इन्हें वहां से भागना पड़ा, इनका कोई अपना देश या राज्य न था। अतः इनमें यहूदियों का एक नया राज्य फिलस्तीन में बसाने का विचार उत्पन्न हुआ। बाइबल के वर्णनानुसार जायन (Zion) जेरूसलम की उस पहाड़ी का नाम है, जहां यहूदियों के प्रसिद्ध राजा दाऊद और उसके उत्तराधिकारियों का राजकीय निवासस्थान था। यहूदी विभिन्न देशों के अत्याचारों से पीड़ित होकर अब पुनः इसे पाने के लिए तथा यहां अपना राज्य स्थापित करने के लिए आन्दोलन करने लगे, यह आन्दोलन इसीलिए जायनवाद (Zionism) या यहूदीवाद कहलाता है। १८९७ में थियोडोर हर्त्सल (Herzl) ने बाज़ेल (Basel) में पहली विश्व जायनवादी कांग्रेस (World Zionist Congress)

बुलायी थी। इस आन्दोलन के फलस्वरूप १८९४–१९१४ तक फिलस्तीन में एक लाख यहूदी बस गये। ग्रेट ब्रिटेन में प्रसिद्ध रसायन शास्त्री डा० वाइत्समान (Weizmann) यहूदी राष्ट्र के आन्दोलन के प्रबल पक्षपाती थे। प्रथम विश्वयुद्ध में उन्होंने टी० एन० टी० के प्रसिद्ध विस्फोटक के निर्माण की नई प्रक्रिया के आविष्कार से ब्रिटिश सरकार को बहुमूल्य सहायता पहुँचायी, इसके बदले जब ब्रिटिश सरकार ने उनसे मनोवांछित पुरस्कार मांगने को कहा तो उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा फिलस्तीन में यहूदियों का राज्य स्थापित करने को कहा। लायड जार्ज ने इसे स्वीकार कर लिया और २ नव० १९१७ को ब्रिटिश विदेश-मन्त्री आर्थर जेम्स बालफोर ने लार्ड राथ्सचाइल्ड को एक पत्र में यह लिखा—"ब्रिटिश सरकार फिलस्तीन में यहूदी लोगों के लिए राष्ट्रीय गृह (National Home) के विचार को पसन्द करती है, वह इस उद्देश्य की पूर्ति को सुविधाजनक बनाने में अपना सर्वोत्तम प्रयत्न लगायेगी। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि फिलस्तीन में विद्यमान वर्तमान गैर-यहूदी जनसमूहों के दीवानी और धार्मिक अधिकारों को हानि पहुँचाने वाला कोई कार्य नहीं किया जायगा।" यही सुप्रसिद्ध **बाल्फोर घोषणा** कहलाती है। यहूदी इससे अत्यन्त प्रसन्न हुए कि अब उनकी चिरवांछित मनोकामना पूरी होगी। किन्तु इससे पहले अंग्रेजों ने तुर्क साम्राज्य के विरुद्ध अरबों को लड़ने की प्रेरणा करते हुए उन्हें युद्ध के बाद स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया। २४ अक्टू० १९१५ को मिस्र के ब्रिटिश हाई कमिश्नर मैकमेहोन (McMahon) ने अपने एक पत्र में "एक अस्पष्ट सीमाओं वाले क्षेत्र में अरबों की स्वतन्त्रता स्वीकार करने का" वचन दिया था। अरबों का यह मत था कि यह क्षेत्र फिलस्तीन था और इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने युद्ध में विजय पाने के लिए यहूदियों और अरबों की सहायता पाने के उद्देश्य से एक ही क्षेत्र के लिए दोनों को परस्पर विरोधी आश्वासन दे दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों फिलिस्तीन को अपना विशेष प्रदेश समझने लगे। १३०० वर्ष से फिलस्तीन में बसे होने के कारण अरब इस प्रदेश पर अपना स्वत्व समझते थे, उन्हें आशंका थी कि यहां यहूदियों की संख्या बढ़ जाने से उनका महत्त्व घट जायगा, सम्पन्न, समर्थ और सुशिक्षित होने के कारण यहूदी उन्हें इस क्षेत्र से बाहर धकेल देंगे, अतः उन्होंने युद्ध के बाद यहां यहूदियों को बसाने का घोर विरोध किया।

किन्तु ब्रिटिश सरकार की सहायता से यहूदी यहां बसने लगे। १९३६ तक यहूदियों की संख्या ३,७०,४८३ हो गई। इस पर अरबों ने यह आन्दोलन किया कि यहूदियों का फिलस्तीन आना रोका जाय तथा इसे इराक और सीरिया की भांति स्वतन्त्र बनाया जाय। इसी समय हिटलर के अत्याचारों से पीड़ित होकर यहूदी बड़ी संख्या में फिलस्तीन आने लगे। यहूदियों की संख्या वहां कुल आबादी का एक तिहाई हो गयी। अरब आन्दोलन से प्रभावित होकर ब्रिटिश सरकार ने १७ मई, १९३९ को यह घोषणा की कि यहूदियों की संख्या एक तिहाई से अधिक नहीं बढ़ने दी जायगी; १ अक्टू० १९३९ के बाद छः महीने तक कोई यहूदी यहां नहीं आने दिया जायगा। किन्तु फिर भी यहूदी चोरी से आते रहे। दोनों पक्षों में तनातनी, संघर्ष, उपद्रव और हिंसात्मक कार्यवाहियां जारी रहीं। इन परिस्थितियों में इजराइल राज्य की स्थापना

का वर्णन पहले हो चुका है (दे० पृ० २७८)। इसने इस प्रदेश में शाश्वत यहूदी-अरब संघर्ष का बीजारोपण किया तथा सं० रा० अमेरिका द्वारा इजराइल को बहुत जल्दी मान्यता देने तथा उसे अन्य सहायता देने के कारण अरब राष्ट्र वाशिंगटन तथा उसके समर्थकों के उग्र विरोधी बन गये। यह तत्त्व इस समय मध्यपूर्व पर बड़ा प्रभाव डाल रहा है। अब यहां इस प्रदेश की कुछ प्रमुख समस्याओं का परिचय दिया जाता है।

मिस्र और ग्रेट ब्रिटेन के सम्बन्ध—मिस्र में ब्रिटेन की दिलचस्पी १८६९ में स्वेज नहर बनने के बाद हुई, क्योंकि यह पूर्व में ब्रिटिश साम्राज्य को इंगलैण्ड के साथ जोड़ने वाला बड़ा महत्त्वपूर्ण जलमार्ग था। इस पर नियन्त्रण रखने के लिए १८७५ में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री डिज़रायली ने स्वेज कम्पनी के हिस्सों का बड़ा भाग खरीदा। इस समय मिस्र का शासक खदीव इस्माइल बड़ा अपव्ययी था, १८७९ में जब उसने ब्रिटिश ऋणों को अदा करने में असमर्थता प्रकट की तो यह देश ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के आर्थिक नियन्त्रण में आ गया। जब १८८२ में मिस्रियों ने विदेशियों की प्रभुता के विरुद्ध विद्रोह किया तो फ्रांस ने इसे दबाने में अंग्रेजों को सहयोग नहीं दिया। अतः इसे दबाने के बाद ग्रेट ब्रिटेन ने इसको संरक्षण में लेकर इस पर पूरा क्रियात्मक अधिकार कर लिया, फिर भी यहां मिस्र का शासन था और यह टर्की के खलीफा के अधीन समझा जाता था। १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर टर्की के साथ लड़ाई होने के कारण ब्रिटेन ने मिस्र का टर्की के साथ चला आने वाला पुराना सम्बन्ध समाप्त कर दिया, उसे अपना संरक्षित राज्य (Protectorate) घोषित किया (१८ दिस०, १९१४), जर्मन पक्षपाती खदीव अब्बास हिल्मी द्वितीय को पदच्युत करके हुसैन कामिल को गद्दी पर बिठाया। १९१७ में इसके मरने पर इसका भाई फुआद मिस्र का सुल्तान बना।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मिस्र में जगलुल पाशा के नेतृत्व में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन हुआ। परिणामतः ब्रिटिश सरकार द्वारा मिस्र की समस्या पर विचार करने के लिए लार्ड मिलनर की अध्यक्षता में नियत किये गए आयोग ने यह सुझाव दिया कि मिस्र में ब्रिटेन के संरक्षण को समाप्त कर दिया जाय, मिस्र की स्वाधीनता स्वीकार करते हुए एक संधि द्वारा ब्रिटेन के तथा दूसरे देशों के हितों की सुरक्षा की गारण्टी दी जाय। २८ फरवरी, १९२२ को ब्रिटिश सरकार ने मिलनर आयोग के प्रस्तावों को स्वीकार करते हुए मिस्र की नीति के सम्बन्ध में एक घोषणा की, इसमें मिस्र पर ब्रिटेन के संरक्षण का अन्त कर दिया गया, उसे सर्वोच्च प्रभुतासम्पन्न स्वतन्त्र राज्य माना गया और निम्न विषयों में उस समय तक ब्रिटिश सरकार का पूरा अधिकार माना गया, जब तक कि स्वतन्त्र और मैत्रीपूर्ण संधि-चर्चा द्वारा ग्रेट ब्रिटेन और मिस्र में समझौता नहीं हो जाता। ये विषय इस प्रकार थे—(क) मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य के मार्गों की सुरक्षा, (ख) प्रत्यक्ष या परोक्ष विदेशी आक्रमणों से तथा हस्तक्षेप से मिस्र की रक्षा, (ग) मिस्र में तथा सूडान में विदेशी हितों तथा अल्पसंख्यकों का संरक्षण। समझौता होने तक स्थिति यथापूर्व ही रहनी थी। ब्रिटिश सरकार की यह घोषणा मिस्रियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सन्तुष्ट न कर सकी, अतः मिस्र ने इस घोषणा को स्वीकार नहीं किया।

१९२४ से १९३६ तक दोनों पक्षों में कोई समझौता नहीं हो सका। जगलुल पाशा तथा उसकी वफ्द पार्टी ने पूर्ण स्वतन्त्रता का आन्दोलन छेड़ दिया। १९२४ में इन्होंने सब ब्रिटिश फौजों के मिस्र खाली करने और सूडान मिस्र को सौंपने पर बल दिया। इसी बीच १९ नव० १९२४ को मिस्र के गवर्नर जनरल सर ली स्टैक की तथा मिस्री सेनाओं के सेनापति की हत्या से उत्पन्न विषम परिस्थिति में वफ्द पार्टी को मंत्रि-मण्डल छोड़ना पड़ा। फुआद ने देश का शासन अपने हाथ में ले लिया। १९२६ के चुनावों में उदारवादी नेता अब्दुल खालिक सरवत पाशा को सफलता मिली, इसने वफ्द पार्टी के साथ मिलकर सरकार का निर्माण किया, और इंगलैण्ड जाकर ब्रिटिश विदेश-मंत्री चैम्बरलेन के साथ यह समझौता किया कि ब्रिटिश फौजें केवल स्वेज की रक्षा के लिए रहें, मिस्र की विदेशनीति ब्रिटिश हितों के अनुकूल हो। इस समझौते का वफ्द पार्टी के नेता नहस पाशा ने इतना तीव्र विरोध किया कि अब्दुल खालिक को त्यागपत्र देने को बाधित होना पड़ा। अब नहस पाशा ने विशुद्ध वफ्द पार्टी का मन्त्रिमण्डल बनाया, किन्तु मिस्र के राजा फुआद और ब्रिटिश हाई कमिश्नर के विरोध के कारण उसे जून, १९२८ में पदच्युत कर दिया गया। १९२९ में नहस पाशा पुनः मंत्रिमण्डल में आया और ब्रिटेन जाकर उसने अंग्रेजों के साथ समझौता कर लिया। अब उसके साथ वही हुआ, जो उसने अब्दुल खालिक के साथ किया था। उसे देशद्रोही घोषित किया गया और उसका स्थान १९३० में इस्माइल सिदकी पाशा ने ले लिया। यह तीन वर्ष तक मिस्र का तानाशाह बना रहा। इस बीच ब्रिटेन के साथ कोई समझौता नहीं हो सका।

१९३३ में पोर्ट सय्यद में एक ब्रिटिश अध्यापिका द्वारा एक मुस्लिम लड़की को ईसाई बनाने का यत्न करने पर देश में ईसाई-विरोधी उपद्रवों की बाढ़ आ गई, मिस्र में पश्चिम-विरोधी भावना बड़ी प्रबल हुई। १९३५ में एबीसीनिया पर इटली का आक्रमण होने पर ग्रेट ब्रिटेन ने स्वेज नहर की रक्षा के लिए विशेष सैनिक तैयारियां आरम्भ कर दीं। मिस्री राष्ट्रवादियों ने मिस्री सरकार की सलाह के बिना इन्हें करने का विरोध किया, ब्रिटिश-विरोधी उपद्रव शुरू हो गये, मिस्र समानता के आधार पर नई संधि की मांग करने लगा। ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने यह घोषणा की कि मिस्र में सब दलों की सरकार बनने पर उसके साथ संधि-चर्चा करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन तैयार है। १९३६ में १९२३ के संविधान के अनुसार हुए चुनावों में ८० प्रतिशत के बहुमत से वफ्द पार्टी की विजय हुई, नहस पाशा पुनः प्रधानमंत्री बना। इसी समय फुआद की मृत्यु होने पर उसका १६ वर्षीय पुत्र फारुक गद्दी पर बैठा।

नहस पाशा ने ब्रिटेन के साथ २ मार्च, १९३६ को सब मिस्री दलों के प्रति-निधियों के साथ संधि-चर्चा आरम्भ की। कई महीने तक चलने वाली इस संधि-वार्त्ता में कई बार इसके भंग होने की नौबत आई। किन्तु इटली के एबीसीनिया पर आक्रमण तथा पूर्वी अफ्रीका में उसकी प्रभाव-वृद्धि से आशंकित होकर दोनों पक्षों ने २६ अगस्त, १९३६ को नई संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। इस संधि के अनुसार दोनों ने युद्ध में एक दूसरे को सहायता देने का निश्चय किया। ग्रेट ब्रिटेन को युद्ध के समय समूचे मिस्र में सब सुविधाओं का लाभ उठाने का अधिकार दिया गया, ब्रिटेन ने मिस्र को राष्ट्रसंघ

का सदस्य बनाने में सहायता देने का वचन दिया, अंग्रेजों ने यह स्वीकार किया कि वे अपनी फौजें, स्वेज नहर के उत्तरी सिरे पर रखेंगे, शान्ति काल में इनकी संख्या दस हजार सैनिकों, ४०० चालकों (Pilots) से अधिक नहीं होगी। सूडान पर दोनों का संयुक्त शासन स्वीकार किया गया। ग्रेट ब्रिटेन ने यह वचन दिया कि मिस्र में जिन योरोपियन राज्यों को विशेषाधिकार तथा अतिरिक्त प्रादेशिक अधिकार (Extra Territorial Rights) प्राप्त हैं, उन्हें वह ये अधिकार छोड़ने को कहेगा, मिस्री सरकार ही विदेशियों के जान-माल की रक्षा की पूरी जिम्मेवारी लेगी। इस वचन के अनुसार १९३७ में विशेषाधिकार रखने वाली शक्तियों का सम्मेलन मोंत्र (Montreaux) में बुलाया गया, इसमें १९४९ तक इन्हें पूर्णरूप से समाप्त करने का निश्चय हुआ। मिस्र राष्ट्रसंघ का सदस्य बना और फारुक का मिस्र के पहले स्वतन्त्र राजा के रूप में राज्याभिषेक किया गया।

सितम्बर १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर मिस्र ने फरवरी १९४५ तक युद्ध-घोषणा नहीं की। जर्मनी के साथ ब्रिटेन का युद्ध घोषित होने के ४८ घंटे के भीतर उसने जर्मनी के साथ अपने दौत्य-सम्बन्ध भंग करके मिस्र के जर्मनों को बन्दी बना लिया किन्तु इटली द्वारा युद्ध में कूदने पर उसके विरुद्ध ऐसे कार्य नहीं किये। इस समय मिस्रियों का यह विचार था कि इस युद्ध से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्रिटिश-विरोधी धुरी शक्तियों के प्रति मिस्र में इतनी सद्भावना थी कि १९४२ में अंग्रेजों ने फारुक को उन्हें सहयोग देने वाला मंत्रिमण्डल बनाने को बाधित किया। राजा ने ब्रिटेन के दबाव में आकर नहस पाशा को प्रधानमंत्री बनाया।

द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने पर मिस्र राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता १९३६ की संधि के संशोधन की तथा अपने देश से ब्रिटिश फौजों के एकदम हटाने की मांग करने लगे। १९४६ में मिस्री प्रधानमंत्री सिदकी ने ब्रिटिश विदेशमंत्री बेविन के साथ एक समझौता करके यह तय किया कि ब्रिटिश सेनायें काहिरा और सिकन्दरिया से ३१ मार्च, १९४७ तक तथा शेष मिस्री-प्रदेश सितम्बर १९४९ तक खाली कर देंगी। किन्तु यह समझौता क्रियान्वित नहीं हो सका।

८ जुलाई, १९४७ को मिस्र ने सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत की कि मिस्री जनता की इच्छा के विरुद्ध ब्रिटेन ने मिस्र की भूमि में अपनी सेनायें रखी हुई हैं, सुरक्षा परिषद् इनको तत्काल पूर्णरूप से मिस्र से निकलवाए और सूडान में ब्रिटिश शासन को समाप्त करे। ब्रिटेन ने इसका यह उत्तर दिया कि ये सेनायें १९३६ की २० वर्ष के लिए की हुई संधि के अनुसार वहां विद्यमान हैं, सूडान के सम्बन्ध में १९४६ की संधि मिस्र ने रद्द कर दी है, अतः उसमें पहली संधि की व्यवस्थायें यथापूर्व चल रही हैं। ५ अगस्त से १० सितम्बर १९४७ तक इस प्रश्न पर विचार करने के बाद सुरक्षा परिषद् इस पर कोई निर्णय नहीं कर सकी।

इसके परिणामस्वरूप मिस्र में ब्रिटिश-विरोधी भावना और आन्दोलन बड़ा उग्र हो गया। इससे प्रभावित होकर अक्टूबर १९५१ में मिस्र के प्रधानमंत्री नहस पाशा ने १९३६ की संधि को रद्द करने की घोषणा की, १६ अक्टूबर १९५१ को मिस्री पार्लिया-

मेन्ट द्वारा पास किये गये एक आदेश द्वारा १८९९ का सूडान के संयुक्त शासन (Condominium) का समझौता तथा १९३६ की संधि के अनुसार स्वेज नहर के प्रदेश में ब्रिटिश सेनाओं के रहने की व्यवस्था समाप्त कर दी गई थी। इसके बाद ब्रिटिश सेनाओं द्वारा २० जून, १९५६ तक मिस्री प्रदेश खाली करने का पहले उल्लेख हो चुका है (दे० पृ० २९४)।

मिस्र की सैनिक क्रान्ति और कर्नल नासिर—इसी बीच सहसा २६ जुलाई, १९५२ को मिस्र की राजधानी काहिरा में एक सैनिक क्रान्ति हो गयी। इसके नेता जनरल नगीब और कर्नल नासिर थे। इस क्रान्ति का उद्देश्य शासन में स्थिरता लाना, इसमें न्यस्त स्वार्थों (Vested Interests) की प्रधानता दूर कर लोक-कल्याण की दृष्टि से शासन का संचालन करना था। यद्यपि मिस्र में १९२३ से संसदीय शासन पद्धति का लोकतन्त्र और मंत्रिमण्डलों का शासन चला आ रहा था, किन्तु सारी शासन शक्ति जमींदारों—पाशाओं के हाथ में थी, इनके आपसी षड्यंत्रों और हत्याओं के कारण शासन बड़ा अस्थिर था, इनका शासन अपने वर्गों के हित की दृष्टि से था, जनता को इससे कोई लाभ नहीं था। १९५२ की क्रांति से पहले दस वर्षों में मिस्र में १७ सरकारें और मंत्रिमण्डल बन चुके थे।[11] जनता इन सरकारों तथा राजा से ऊब चुकी थी। क्रांति के नेताओं ने फारुक को सिंहासन से हटाकर एक क्रांति परिषद् की स्थापना की, इसने मिस्री शासन की बुराइयों को हटाने के लिए सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पद्धतियों में बड़े सुधार किये। राजतन्त्र का, मोटी तनख्वाह पाने वाले राजनीतिक परामर्शदाताओं का तथा झगड़े बढ़ाने वाली राजनीतिक पार्टियों का अन्त कर दिया गया। यह नियम बनाया गया कि किसी व्यक्ति के पास २०० एकड़ से अधिक भूमि नहीं रह सकती, जिन जमींदारों के पास इससे अधिक भूमि थी, मुआवजा देकर वह उनसे छीन ली गयी और गरीब भूमिहीन किसानों में बाँट दी गयी। जनरल नगीब ने सूडान के सम्बन्ध में ब्रिटेन के साथ समझौता कर लिया। इसी समय नगीब का झुकाव पश्चिम की ओर होने के कारण उसे देशद्रोह के अभियोग में अपदस्थ कर दिया गया और सारी शासनसत्ता कर्नल नासिर के हाथ में आ गयी।

नासिर ने ब्रिटिश फौजों को मिस्र से हटाने के बाद अपने देश की उन्नति की ओर ध्यान दिया। बड़े परिमाण में सिंचाई तथा जल-विद्युत् की प्राप्ति के लिए एक ऊंचे आसवान बांध के निर्माण की योजना बनायी और इसे पूरा करने के लिए अपेक्षित विशाल धनराशि सं० रा० अमेरिका से प्राप्त करनी चाही। इसी समय नासिर सोवियत गुट से

११. मध्यपूर्व के अन्य सभी देशों की यही स्थिति थी। सीरिया में १९४५ से १९५४ तक २४ सरकारें बनीं, १९४९–५१ तक चार सैनिक षड्यन्त्र और शासनाध्यक्षों की हत्यायें हुईं। इराक में १९५२ से पहले के २० वर्षों में ५० सरकारें बन चुकी थीं। १९३६-५२ तक यहां आठ बार सैनिक षड्यन्त्रों द्वारा शासन परिवर्तन हुआ। १९४९ में चार बार तथा १९५३ में तीन बार सरकारें बदलीं। लेबानन में १९४३ से १९५४ के १२ वर्षों में १७ सरकारें बदलीं, केवल १९५२ में ऐसे सात तथा १९५३ में तीन परिवर्तन हुए। जोर्डन में १९४९ से १९५३ तक ८ सरकारें बदलीं (देखिये आर० के० करंजिया—अरब डान पुस्तकालय संस्करण, पृ० ४८-९)।

शस्त्र प्राप्ति के लिए यत्न कर रहा था और चैकोस्लोवाकिया से उसे मिस्री रूई के बदले में शस्त्र प्राप्त हो गये, उसने यह भी दावा किया कि सोवियत यूनियन उसे आसवान बांध के लिए विशाल धनराशि देने को तैयार है। इस पर वाशिंगटन ने क्रुद्ध और रुष्ट होकर उसे आर्थिक सहायता देने से इन्कार कर दिया। इसके बाद कर्नल नासिर ने फौरन स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की तथा इसके मुनाफे को आसवान बांध में लगाने की घोषणा की (२६ जुलाई, १९५६)। यह फ्रांस और ब्रिटेन के लिए अनभ्र वज्रपात था। इसके परिणामस्वरूप मिस्र पर इजराइल, फ्रांस और ब्रिटेन के आक्रमण का पहले उल्लेख किया जा चुका है (देखिये पृ० २९६)।

कर्नल नासिर ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के मामले में ब्रिटेन और फ्रांस के सम्मिलित प्रयत्न को पूर्णरूप से विफल बनाकर अरब जनता में बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त की। यह ठीक है कि अमेरिका के दबाव और रूस की धमकियों ने ही ब्रिटेन और फ्रांस के बढ़ते हुए कदमों को रोका, किन्तु अरबदेशों में नासिर के नेतृत्व का सिक्का जम गया। इसके बाद नासिर ने अरब समाजवाद (Arab Socialism) के सिद्धान्तों की घोषणा की तथा संयुक्त अरब गणराज्य की अर्थव्यवस्था में निम्न क्रान्तिकारी परिवर्तन किये—(१) मिस्र के ७५ बड़े बैंकों, बीमा आदि का कार्य करने वाली व्यावसायिक कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण किया गया। (२) सरकार ने देश की ७९ बड़ी प्राइवेट कम्पनियों के ५२ प्रतिशत शेयर अपने हाथ में ले लिये। (३) शेष कम्पनियों के डाइरेक्टरों की संख्या सात तक सीमित कर दी। इनमें से एक श्रमिकों का तथा एक स्टाफ का प्रतिनिधि होता है। इनका वेतन पांच हजार मिस्री पौण्ड से अधिक नहीं हो सकता और कोई व्यक्ति एक से अधिक कम्पनियों का डाइरेक्टर नहीं हो सकता। (४) कोई व्यक्ति १०० एकड़ से अधिक भूमि नहीं रख सकता। (५) दस हजार पौण्ड से अधिक की आय पर ९० प्रतिशत कर लगा दिया गया। (६) कम्पनियों की वार्षिक बचत का २५ प्रतिशत श्रमिकों के कल्याण के लिए सुरक्षित कर दिया गया। इन नीतियों के कारण ४०० से अधिक बड़ी उद्योग-वाणिज्य संस्थायें सरकारी क्षेत्र में आ गयीं।

अरब समाजवाद रूस और चीन के समाजवाद को हानिकर मानता है। मिस्र के नेताओं का मत है कि रूसी और चीनी नेता कल के कल्पित स्वर्ग को लाने के लिए आज जनता को अनावश्यक रूप से कष्ट दे रहे हैं और नासिर धर्म को 'जनता की अफीम' नहीं मानता।

नासिर ने एक बार यह लिखा था कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि "अरब एकता की आत्मा किसी वीर पुरुष का अवतार पाने के लिए अरब प्रदेश में भटक रही है, वह हमारे देश की सीमा पर पहुंची है, हमें इशारा कर रही है कि हम सक्रिय हों, इसे ग्रहण करें, इसे शरीर प्रदान कर सजीव बनायें।" नासिर ने इस कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया। १९५९ में सीरिया के साथ मिलकर संघ बनाया। यद्यपि यह १९६१ में टूट गया, किन्तु १९६३ में नये रूप में इसका पुनर्निर्माण हुआ है। यदि यह संघ शक्तिशाली हुआ तो विश्व की राजनीति पर गहरा प्रभाव डालेगा। क्योंकि पश्चिम को तेल की आवश्यकता है और यह उसका अक्षय स्रोत है। पश्चिमी देश जब तक इजराइल का

समर्थन करेंगे तब तक अरब राज्यों को सोवियत संघ की ओर झुकने का प्रलोभन बना रहेगा।[१२]

इस समय कर्नल नासिर अरब राष्ट्रीयता और एकता का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। उसकी समूचे अरब जगत् में वैसी ही प्रतिष्ठा और पूजा है, जैसी हमारे देश में महात्मा गांधी और श्री नेहरू की। न केवल मिस्र किन्तु मोरक्को से अरब तक समूचा अरबी भाषा-भाषी जगत् उसे अपना त्राता और रक्षक समझता है, इस समय शायद ही कोई ऐसी अरब दुकान हो, जिसमें उसका फोटो न टंगा हो, उसका नाम इतना मांगलिक माना जाता है कि पोर्ट सय्यद, दमिश्क, अम्मान, जेरूसलम और बेरुत में बच्चों का नाम गमल या नासिर अवश्य रखा जाता है।[१३] नासिर की नीति भारत की भांति दोनों पक्षों से अलग रहने की तथा दोनों पक्षों से सहायता लेने की है, उसने यद्यपि अपने देश में कम्यूनिस्ट पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा रखा है, फिर भी शनैः शनैः यहां इसका प्रभाव बढ़ रहा है।

इजराइल-अरब संघर्ष—इस समय मध्यपूर्व की एक प्रमुख समस्या यहूदियों तथा अरबों का उग्र संघर्ष है। पहले यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार फिलस्तीन में यहूदी समस्या उत्पन्न हुई, ग्रेट ब्रिटेन ने इसका प्रश्न सं० रा० संघ में उपस्थित किया और १५ मई, १९४८ से इस प्रदेश पर अपना मैण्डेट छोड़ने का संकल्प किया (देखिये पृ० २८५–६)। १३ मई, १९४७ को जनरल असेम्बली के विशेष अधिवेशन द्वारा नियत ११ राष्ट्रों (कनाडा, चैकोस्लोवाकिया, ग्वाटीमाला, हालैण्ड, पेरू, स्वीडन, युरेग्रुए, आस्ट्रेलिया, भारत, ईरान, यूगोस्लाविया) की फिलस्तीन विषयक विशेष समिति (U. N. Special Committee on Palestine) ने ३१ अगस्त को यह सर्वसम्मत निर्णय किया कि यहां ब्रिटेन के मैण्डेट को समाप्त कर दिया जाय और पहले सात राष्ट्रों ने इसके निम्न प्रकार से तीन भागों में विभाजन की सिफारिश की—(१) अरब राज्य, (२) यहूदी राज्य, (३) जेरूसलम को अन्तर्राष्ट्रीय न्यास प्रणाली के अन्तर्गत स्वतन्त्र रखा जाय। भारत ने विभाजन का विरोध करते हुए संघीय राज्य (Federal State) का प्रस्ताव रखा। ईरान और यूगोस्लाविया ने इसका समर्थन किया, किन्तु जनरल असेम्बली ने २९ नवम्बर, १९४७ को अरब राष्ट्रों का घोर विरोध होते हुए भी दो तिहाई बहुमत से विभाजन की योजना को स्वीकार कर लिया। रूस और अमेरिका इसके पक्ष में थे, अमेरिका ने इसके पक्ष में वोट देने के लिए फिलिप्पाइन्स, हैटी, साइबीरिया पर दवाब डाला। ११ दिसम्बर, १९४७ को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह १५ मई, १९४८ को फिलस्तीन में अपना मैण्डेट शासन समाप्त कर देगी। अब फिलस्तीन में इस तिथि के आने से पहले ही भीषण उपद्रव हो गये, यहूदी अपना राज्य बनाने के लिए विभाजन की योजना क्रियान्वित करने के पक्ष में थे और अरब इसका विरोध करने पर तुले हुए थे।

---

१२. हार्टमैन—दी रिलेशन्स आफ नेशन्स द्वितीय संस्करण १९६३, पृ० ५८६

१३. करंजिया—अरब डान, पृ० ५१

१४ मई, १९४८ को मध्यरात्रि में ब्रिटेन ने इस पर अपना मैण्डेट समाप्त कर दिया, इसी समय तेल अवीव में यहूदियों ने इजराइल राज्य की स्थापना की घोषणा की, अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने इसे तत्काल मान्यता प्रदान की,[१४] रूस और ग्रेट ब्रिटेन ने भी इसे स्वीकार कर लिया। यद्यपि इस समय इजराइल के नवीन राज्य पर चारों ओर से अरब राज्यों ने आक्रमण किये, किन्तु इजराइल ने अमेरिकी यहूदियों से पुष्कल मात्रा में आर्थिक सहायता प्राप्त की, चैकोस्लोवाकिया से शस्त्र प्राप्त किए, इसके आधार पर उसने अरब राज्यों से डटकर मुकाबला किया। इस समय यहूदियों की संख्या ६½ लाख थी और उनके पास ८,००० वर्ग मील का प्रदेश था, उसके साथ ट्रांस जोर्डन के राजा अब्दुला बिन हुसैन के नेतृत्व में लड़ने वाली अरब लीग के राज्यों की जनसंख्या ४ करोड़ तथा क्षेत्रफल २० लाख वर्गमील था। फिर भी इस संघर्ष में इजराइली अपनी साधन सम्पन्नता, विदेशी सहायता और उत्कृष्ट रणकौशल के कारण विजयी हुए और सं० रा० संघ के मध्यस्थ राल्फ बुंचे के प्रयत्नों से जब १९४९ में दोनों पक्षों में युद्ध बन्द हुआ तो इजराइल के पास सं० रा० संघ द्वारा तैयार की गई विभाजन योजना से २००० वर्ग मील अधिक प्रदेश था। सं० रा० संघ ने इसका क्षेत्रफल ५,६०० वर्ग मील तय किया था, अब इसके पास ७,६०० वर्गमील का प्रदेश है। इस युद्ध से मिस्र को गाजा-पट्टी मिली और जेरूसलम नगर दो हिस्सों में बंट गया, इसकी १ लाख की आबादी वाला बड़ा हिस्सा यहूदियों के पास है, ५० हजार की अरब आबादी वाला जेरूसलम जोर्डन के अधिकार में है। दोनों राज्यों की सीमा इस नगर में से होकर गुजरती है। इजराइल की नीति के कारण ९ लाख अरबों को १९५३ तक यह देश छोड़कर दूसरे अरब देशों में शरणार्थी बनना पड़ा है और इसके बदले यहां योरोप अफ्रीका तथा मध्य-पूर्व के अन्य देशों से ६ लाख यहूदी आकर बस गये हैं। १९४८ में यहां १३½ लाख अरब और ६½ लाख यहूदी थे, किन्तु १० वर्ष बाद १९५८ में १९ लाख ७६ हजार की कुल जनसंख्या में यहूदियों की संख्या १७ लाख हो गयी।[१५]

अरब राज्य जब युद्ध द्वारा यहूदी राज्य का उन्मूलन करने में समर्थ न हुए तो उन्होंने इसका आर्थिक दृष्टि से बहिष्कार कर दिया, इसके साथ सब अरब देशों ने व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ दिये। इराक ने इस राज्य के अन्तर्गत हैफा बन्दरगाह को किरकुक से पाइप लाइन द्वारा पेट्रोल भेजना बन्द कर दिया। किन्तु यहूदियों ने योरोपियन देशों के साथ व्यापारिक समझौते करके और अमेरिका के राज्य से तथा वहां के सम्पन्न यहूदियों से प्राप्त होनेवाले लाखों डालरों की सहायता से अरबों के आर्थिक बहिष्कार पर विजय पा ली। किन्तु अब तक उनकी एक जटिल समस्या का हल नहीं हो सका, मिस्र १९५० से स्वेज नहर में से इजराइल को माल ले जाने वाले जहाजों को नहीं गुजरने

---

१४. वाशिंगटन तथा पेलेस्टाइन के समयों में अन्तर के कारण ट्रूमैन द्वारा इसकी स्वीकृति वस्तुतः १४ मई की शाम को ही दे दी गयी थी (लैंगसम—वर्ल्ड सिन्स १९१९, पृ० ६७३)।

१५. स्टेट्समैन यीअर बुक, १९५९, पृ० ११६६

देता। जुलाई १९५६ में स्वेज नहर कम्पनी के मिस्र द्वारा राष्ट्रीयकरण किये जाने पर यहूदियों के लिए यह खतरा बहुत बढ़ गया था, इसलिए इजराइल ने मिस्र पर हमला किया था (दे० पृ० २९६)। इस मामले में सं० रा० संघ द्वारा हस्तक्षेप करने पर भी उसने अपनी सेनायें स्वेज नहर के पास वाली गाजापट्टी से तथा अकाबा की खाड़ी से १ मार्च, १९५९ को बड़े विलम्ब से इस शर्त के साथ हटायीं कि अकाबा खाड़ी तथा तीरान (Tiran)[१६] के जलडमरूमध्यों में इजराइल सहित सब देशों के लिए नौचालन की पूरी स्वतन्त्रता होगी, सं० रा० संघ उस समय तक गाजापट्टी तक अपना प्रशासन रखेगा, जब तक कि इसके भविष्य के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो जाता। १८ जुलाई, १९५९ को काहिरा में सौदी अरब के राजा ने यह घोषणा की कि स्वेज नहर विशुद्ध रूप से अरब जलमार्ग है, इसमें गुजरने का प्रयत्न करने वाले इजराइली माल के जहाजों को जब्त करने का कर्नल नासिर का कार्य "बड़ा चमत्कारपूर्ण" है। इस दशा में इस समस्या के जल्दी सुलझने की कोई आशा नहीं है और यह इस क्षेत्र में अरब-यहूदी संघर्ष को स्थायी बनाने का एक बड़ा कारण है।

यहूदियों तथा अरबों के संघर्ष को स्थायी बनाये रखने वाले अन्य भी कई कारण हैं। पहला कारण सीमान्त विवाद है। पेलेस्टाइन, उत्तर में लेबानन, पूर्व में सीरिया और जोर्डन तथा दक्षिण-पश्चिम में मिस्र के अरब राज्यों से घिरा हुआ है, ये इसके प्रबल विरोधी हैं, इनके साथ इसके सीमा विवादों से प्रायः अशान्ति बनी रहती है। यद्यपि ये राज्य अब यह समझने लगे हैं कि इजराइल का समूलोन्मूलन नहीं हो सकता, फिर भी ये उसके पास १९४७ में सं० रा० संघ द्वारा स्वीकृत विभाजन में निश्चित प्रदेश को ही रहने देना चाहते हैं, किन्तु इजराइल के पास इस समय उससे अधिक प्रदेश हैं, अरब देश इसे वापस लेना चाहते हैं। इस कारण इजराइल के पड़ोसी अरब राज्यों से प्रायः झगड़े होते रहते हैं। कई बार ये गम्भीर रूप आरम्भ कर लेते हैं। उदाहरणार्थ १६-१७ मार्च, १९६२ को टाइबेरियस झील (Tiberias) के प्रदेश में इजराइल का सीरिया के साथ ऐसा संघर्ष हुआ। सुरक्षा परिषद् में यह विवाद आने पर सं० रा० संघ के प्रेक्षक दल के प्रधान कार्लसम वान हार्न ने अपनी रिपोर्ट में दोनों दलों को दोषी ठहराते हुए इजराइल को अधिक दोषी बताया। सुरक्षा-परिषद् ने ९ अप्रैल को इस प्रदेश में शान्ति स्थापित करने के लिए हार्न के सुझावों का समर्थन किया और इजराइल के कार्य की निन्दा की। सोवियत संघ इजराइल की उग्र शब्दों में निन्दा करना चाहता था, किन्तु उसने

---

१६. अकाबा की खाड़ी रक्त सागर के उत्तर पश्चिम में इसका, सिनाई प्रायद्वीप और सौदी अरब के मध्य में बढ़ा हुआ भाग है, इजराइल राज्य की सीमा का दक्षिणी छोर इस खाड़ी के उत्तर में है, यहूदियों के लिए इसका सामरिक महत्त्व यह है कि यदि मिस्र उनके लिए स्वेज नहर नहीं खोलता तो भी वे एशिया और अरब से आने वाले जहाजों का माल इस खाड़ी में जहाजों को लाकर प्राप्त कर सकते हैं और स्वेज नहर के अभाव में भी अपना काम चला सकते हैं। तीरां रक्तसागर के उत्तरी सिरे पर अकाबा खाड़ी के प्रवेश द्वार पर सौदी अरब के अधिकार में एक टापू है, यहां से अकाबा खाड़ी में जाने वाले जहाजों को नियन्त्रित किया जा सकता है, अतः यहूदियों की दृष्टि से यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

सीरिया के कहने पर इस प्रस्ताव को वीटो नहीं किया और यह प्रस्ताव १०—० के बहुमत से पास हो गया। इस पर वोट देते हुए केवल फ्रांस तटस्थ रहा क्योंकि स्वेज पर आक्रमण के बाद से तथा अल्जीरिया में उसके विरुद्ध चल रहे स्वातन्त्र्य संघर्ष में अरब राज्यों द्वारा उसके विरुद्ध दिये जाने वाले प्रबल सहयोग के कारण वह उनके प्रतिकूल है तथा इजराइल के अधिक अनुकूल है तथा उसे युद्ध के लिए आधुनिक शस्त्रास्त्र प्रदान कर रहा है।

दूसरा कारण जुलाई १९६२ में इस रहस्य का उद्घाटन था कि सं० अरब गणराज्य ऐसे सैनिक प्रक्षेपणास्त्र तैयार कर रहा है कि वह इनसे इजराइल को शीघ्र ही पराभूत कर सकता है। इस समाचार से इजराइल में चिन्ता होना स्वाभाविक था। उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि उनके पास इन प्रक्षेपणास्त्रों का निवारण करने के लिए तथा मिस्र का आक्रमण विफल बनाने के लिए आवश्यक राकेट होने चाहिएं। सं० रा० अमेरिका का यह मत था कि इस प्रदेश में शान्ति तभी रह सकती है, जब यहां सैनिक शक्ति में सन्तुलन बना रहे। अतः उसने मध्यपूर्व के देशों को हथियार न देने की अपनी सामान्य नीति के विरुद्ध सितम्बर १९६२ में यह निर्णय किया कि वह अल्प दूरी तक जाने वाले तथा शत्रु के वायुयानों को मार गिराने वाले रक्षात्मक प्रक्षेपणास्त्र इजराइल को प्रदान करेगा। इजराइली यह चाहते थे कि उन्हें मिस्र की भांति अपने देश की भूमि से शत्रु की भूमि के अड्डों को नष्ट करने वाले (Ground to Ground missiles) प्रदान किये जायं। फिर भी उन्हें सं० रा० अमेरिका के कार्य से कुछ सन्तोष हुआ, किन्तु अरब राज्यों ने वाशिंगटन की इस सीमित सहायता को विरोधी कार्य समझा।

तीसरा कारण अरब शरणार्थियों की समस्या है। इस समय पेलेस्टाइन से निकाले गये दस लाख से अधिक अरब शरणार्थी के रूप में पड़ोसी राज्यों में अत्यन्त दयनीय दशा में असह्य कष्ट भोग रहे हैं और यह इजराइल तथा अरब राज्यों में तनातनी का कारण बने हुए हैं। इन्हें न तो इजराइल वापस लेना चाहता है और न ही अरब राज्य इन्हें अपने राज्यों में बसाने के इच्छुक हैं। इस समय इनकी देखभाल पेलेस्टाइन के शरणार्थियों के सं० रा० संघ के सहायता एवं कार्य अभिकरण (United Nations Relief and Works Agency, UNRWA) द्वारा हो रही है, यह कार्य १९६३ के अंत तक समाप्त हो जाना था। इस कार्य के अध्यक्ष डा० जानसन का यह विचार था कि शरणार्थियों की इच्छा जान कर उसके अनुसार इन्हें पेलेस्टाइन में अथवा अरब राज्यों में भेज दिया जाय। किन्तु दोनों पक्ष इस समाधान को मानने को तैयार न थे। अतः ११,७४,७६० शरणार्थियों की देखभाल करने वाले उपर्युक्त अभिकरण के कार्य की अवधि संघ ने २० दिसम्बर, १९६२ को पास किये गये प्रस्ताव द्वारा ३० जून, १९६५ तक बढ़ा दी[१७]। शरणार्थियों की समस्या भी इजराइल-अरब संघर्ष को उग्र बनाये हुए है।

इराक की १९५८ की क्रांति—१४ जुलाई, १९५८ को प्रातःकाल बगदाद

---

१७. स्टैविन्स—दी यनाइटिड स्टेटस इन वर्ल्ड एफेयर्स १९६२, पृ० १७८

रेडियो ने विश्व को स्तब्ध करने वाली तथा महान् अन्तर्राष्ट्रीय संकट की सूचना देने वाली यह घोषणा की कि—"खुदाताला की मदद से तथा जनता और सेना के सहयोग से, साम्राज्यवाद द्वारा प्रतिष्ठापित भ्रष्टाचारी ग्रुट के प्रशासन से इराक को मुक्त कर दिया गया है।" दजला फरात नदियों के उपजाऊ द्वावे में विद्यमान यह प्रदेश प्राचीन-काल में मैसोपोटामिया के नाम से विख्यात था, अपनी उर्वरता और केन्द्रीय स्थिति के कारण यह पहले सुमेरिया, असीरिया, बेबीलोनिया की सभ्यताओं और साम्राज्यों के तथा बाद में ईरानी, यूनानी, पार्थियन, रोमन, सासानी, अरब साम्राज्यों का केन्द्र बना था, १६३८ में तुर्कों ने इस पर अधिकार कर लिया। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले जर्मनी द्वारा प्रस्तावित योजना से संत्रस्त तथा मोसुल के पेट्रोल से तथा इसकी भौगोलिक महत्त्वपूर्ण स्थिति से आकृष्ट हुए ग्रेट ब्रिटेन ने तुर्कों को हराकर १९२० में यहां का मैण्डेट प्राप्त किया। लन्दन ने २३ अगस्त, १९२१ को यहां अरब के भूतपूर्व राजा शरीफ हुसैन के बेटे फैजल प्रथम को राजगद्दी पर बिठाया, किन्तु वास्तविक शासन-सूत्र अपने हाथों में रखा। राष्ट्रवादी अरबों ने ब्रिटिश प्रभुता से मुक्ति के लिए अनेक आन्दोलन और उपद्रव किये, परिणामस्वरूप, १९२७ तथा १९३० में इराक के साथ ब्रिटेन द्वारा की गई सन्धियों में इसकी स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई, किन्तु अपने लिए ब्रिटेन ने यहां अनेक प्रकार की—हब्बानिया आदि के हवाई अड्डे रखने और सेनाओं को गुजारने की सुविधायें प्राप्त कर लीं और १९४१ में कुछ समय के लिए जर्मन पक्षपाती प्रधान-मन्त्री रशीदअली के समय को छोड़कर स्वतन्त्र होने पर भी इराक में ब्रिटेन का प्रभुत्व बना रहा। इसका प्रधानमन्त्री नूरी अस्सय्यद पश्चिम का प्रबल पृष्ठपोषक था। पहले यह बताया जा चुका है कि इराक के सहयोग से कम्यूनिज्म के प्रसार को रोकने के लिए ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका ने इसकी राजधानी बगदाद के नाम से बगदाद पैक्ट बनाया था। इसका श्रीगणेश टर्की-इराक की रक्षा-सन्धि (२४ फरवरी, १९५५) से हुआ तथा ब्रिटेन (४ अप्रैल, १९५५), पाकिस्तान (१३ सितम्बर, १९५५), ईरान (५ नवम्बर, १९५५) के सम्मिलित होने से यह मध्य पूर्व में पश्चिमी देशों का सुदृढ़ संगठन बन गया।

१४ जुलाई, १९५८ को टर्की के इस्तम्बोल नगर में बगदाद पैक्ट के देशों के शासनाध्यक्षों का सम्मेलन होने वाला था, इसके हवाई अड्डे पर टर्की, ईरान और पाकिस्तान के शासनाध्यक्ष राष्ट्रपति बयार शाह तथा राष्ट्रपति सिकन्दर मिर्जा, इराक के राजा फैज़ल द्वितीय (फैज़ल प्रथम के पोते) तथा प्रधानमन्त्री नूरी अस्सय्यद इनके स्वागत में इनके वायुयान के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे कि इराक के क्रांतिकारियों ने इन दोनों की हत्या कर डाली। इस क्रांति का संगठन स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता प्रेमी सैनिक अधिकारियों ने ब्रिगेडियर कासिम के नेतृत्व में किया था। इसका उद्देश्य पश्चिम पक्षपाती व्यक्तियों की हत्या, राजतन्त्र की समाप्ति, राष्ट्र की एकता बनाये रखने वाले, तथा अन्य अरब देशों के साथ सहयोग करने वाले स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना करना था। ब्रिगेडियर कासिम ने सत्ता हस्तगत करते ही देश में मार्शल ला की घोषणा की, नूरी अस्सय्यद तथा पश्चिम के सब समर्थक सैनिक अधिकारियों को पदच्युत

किया गया, इन पर अभियोग चलाये गये, २७ जुलाई को एक अस्थायी संविधान की घोषणा की गई। ८ मार्च, १९५९ को कासिम की सरकार के विरुद्ध मोसुल (उत्तरी इराक) में कर्नल अब्दुलवहाब शवाफ ने विद्रोह कर दिया, किन्तु इसे कासिम ने शीघ्र ही दबा दिया।

इस समय इराक में कई दलों का उग्र संघर्ष है, कुछ व्यक्ति इराक के संयुक्त अरब गणराज्य के साथ शीघ्र मिलने तथा अरब एकता के प्रबल पक्षपाती हैं। यह समझा जाता है कि मोसुल का विद्रोह कराने में इनका हाथ था, इसलिए अरब गणराज्य के दूत विभाग के अनेक कर्मचारियों को २४ घण्टे में इराक छोड़ देने का नोटिस दिया गया, इसी प्रकार कुछ व्यक्ति कम्यूनिस्ट प्रभाव को बढ़ाने के पक्ष में हैं। कासिम की नीति राष्ट्रवादी इराक को सुदृढ़ और उन्नत बनाने तथा इसे पश्चिमी साम्राज्यवाद के प्रभाव से सर्वथा मुक्त करने की है। २४ मार्च, १९५९ को इराक ने बगदाद पैक्ट से पृथक् होने की घोषणा की[18], इसका मुख्य कार्यालय अब बगदाद के स्थान पर अंकारा बना दिया गया है। इस घोषणा के समय जनरल कासिम ने कहा था—"इराक बगदाद पैक्ट से पृथक् हो गया है, उसने इसकी सूचना ब्रिटेन, ईरान, पाकिस्तान और टर्की के राजदूतों को दे दी है, मेरा विचार है कि यह समाचार जनता के हृदयों को आनन्दित करने वाला होगा, क्योंकि ऐसे सैनिक और आक्रमणात्मक समझौतों की सदस्यता इराक की तटस्थता नीति के प्रतिकूल है।"

सं० रा० अमेरिका तथा सोवियत यूनियन का मध्यपूर्व में प्रभुता के लिए संघर्ष—पहले यह बताया जा चुका है कि इस समय इस प्रदेश की सामरिक महत्ता तथा पेट्रोल का अक्षय भण्डार होने के कारण वाशिंगटन और मास्को यहां प्रभुता पाने के

---

१८. बगदाद पैक्ट के एक मुख्य सदस्य के उससे निकल जाने के कारण ५ मार्च, १९५९ को सं० रा० अमेरिका ने ईरान, पाकिस्तान और टर्की—तीनों ने पृथक् रूप में छः धाराओं वाले द्विपक्षीय प्रतिरक्षा समझौते (Bilateral Defence Agreements) किए हैं। इनके अनुसार सं० रा० अमेरिका ने इन देशों को आक्रमण के विरुद्ध सब प्रकार की—सेनायें भेजने तक की—सहायता का वचन दिया है ताकि मध्यपूर्व में शान्ति और स्थिरता बनी रहे (धारा १)। इसमें १९५४ के अमेरिकी पारस्परिक सुरक्षा कानून (Mutual Security Act) के अनुसार सं० रा० अमेरिका ने इन देशों को आर्थिक और सैनिक सहायता देने का निश्चय इनकी "राष्ट्रीय स्वाधीनता और अखण्डता के संरक्षण तथा आर्थिक विकास की दृष्टि" से किया है। धारा ३ में यह कहा गया है कि इस सहायता का उपयोग २८ जुलाई, १९५८ को इन सरकारों द्वारा की गई घोषणा के अनुरूप उद्देश्यों और प्रयोजनों को पूरा करने के लिए किया जायगा। यह धारा बड़ी विवादास्पद है, पाकिस्तान के विदेश मन्त्रालय के सचिव श्री बेग के मतानुसार पाकिस्तान अपनी स्वतन्त्रता तथा अखण्डता पर कहीं से भी आक्रमण की आशंका होने पर इस सहायता का उपयोग कर सकता है। श्री नेहरू ने ६ मार्च, १९५९ को भारतीय लोकसभा में यह घोषणा की कि नई दिल्ली के अमेरिकी राजदूत द्वारा इस विषय में किये गए स्पष्टीकरण के अनुसार यह सहायता आइज़नहावर सिद्धान्त (दे० पृ० ३७२) के अन्तर्गत केवल अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के आक्रमण को रोकने के लिए ही है।

लिए संघर्ष कर रहे हैं। जब अमेरिका ने मिस्र को आसवान बांध बनाने के लिए आर्थिक सहायता देना स्वीकार नहीं किया तो ख्रुश्चेव ने २३ अक्टूबर, १९५८ को इस योजना को पूरा करने के लिए १० करोड़ डालर तक का ऋण देने की घोषणा की। अमेरिका ने इस प्रदेश के राष्ट्रों का सहयोग पाने के लिए अपनी थैली का मुँह खोला हुआ है। पहले यह बताया जा चुका है कि ट्रूमैन और आइजनहावर सिद्धान्तों द्वारा वह इन देशों को कितने भारी परिमाण में सहायता दे रहा है (देखिये पृ० ३६५, ३७०)। इस डालर कूटनीति (Dollar Diplomacy) द्वारा वाशिंगटन इन प्रदेशों पर हावी होने का प्रयत्न कर रहा है।

दूसरी ओर सोवियत रूस इन प्रदेशों की पश्चिमी साम्राज्य विरोधी भावना का पूरा लाभ उठा रहा है। २९ अक्टूबर, १९५६ को मिस्र पर इजराइल, फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन का आक्रमण होने पर उसने पश्चिमी देशों को अपनी सेनायें फौरन हटाने के लिए कहा था और न हटाने पर आणविक आयुधों के प्रयोग की धमकी दी थी। इससे सारे अरब जगत् में उसे जो वाहवाही, समर्थन और सहानुभूति मिली, वह अमेरिका को ब्रिटेन पर युद्ध बन्द कर देने का भारी दबाव डालने पर भी नहीं मिली।[१९] इसी प्रकार लेबानन और जोर्डन में जुलाई १९५८ में अमेरिकी तथा ब्रिटिश फौजें उतारे जाने पर इनकी वापिसी के लिए बल देने के कारण उसे अरब राज्यों की सद्भावना प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त इन देशों की दरिद्र जनता के लिए साम्यवाद तथा साम्यवादी रूस के प्रति गहरा आकर्षण है।

सोवियत यूनियन द्वारा अप्रैल १९५८ में संयुक्त अरब गणराज्य के साथ किया गया सांस्कृतिक समझौता रूस के इन देशों में नये ढंग से प्रभाववृद्धि का सूचक है। इसके अनुसार १९५८–५९ के शिक्षासत्र से काहिरा विश्वविद्यालय के तथा इस गण-राज्य के अनेक उच्च विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में रूसी भाषा के अध्ययन को सम्मिलित कर लिया गया है, अक्टू० १९५८ में ४० सोवियत वैज्ञानिक मिस्र की वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शिक्षा पद्धति की रूपरेखा तैयार करने के लिए बुलाये गए। काहिरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० मुहम्मद मुर्सी अहमद का कहना है[२०] कि दो कारणों से मिस्र को रूस से शिक्षा विशेषज्ञ बुलाने पड़े हैं। (१) १९५६ के स्वेज संकट के बाद मिस्र से अधिकांश अंग्रेज और फ्रेंच शिक्षक तथा वैज्ञानिक स्वदेश लौट गये हैं। मिस्र के पास इनकी कमी पूरी करने के लिए आवश्यक संख्या में योग्य व्यक्ति नहीं हैं। (२) मिस्री

---

१९. रैण्डोल्फ चर्चिल ने दी राइज एण्ड फाल आफ ईडन नामक प्रकाशित ग्रन्थ में यह बताया है कि स्वेज संकट के समय ब्रिटेन की आर्थिक दशा अच्छी न होने के कारण तत्कालीन ब्रिटिश अर्थमन्त्री श्री मैकमिलन १ अरब डालर का ऋण लेना चाहता था ताकि पौंड को अवमूल्यन से बचाया जा सके, आइजनहावर ने इसे इसी शर्त पर देना स्वीकार किया कि इंगलैंड स्वेज में अपनी लड़ाई बन्द कर देगा। (टाइम्ज ऑफ इण्डिया, दिल्ली संस्करण, १२ जुलाई, १९५९)

२०. करेण्ट हिस्टरी, जनवरी १९५९, पृ० १६–१७

सरकार द्वारा मिस्री प्राध्यापकों और वैज्ञानिकों को दिये जाने वाले वेतन से दुगना, सात आठ हजार डालर तक का वेतन दिए जाने पर भी उत्कृष्ट कोटि के अमेरिकी, ब्रिटिश वैज्ञानिक काहिरा आने को तैयार नहीं हैं। अतः मिस्र को अंग्रेजी भाषाभाषी होते हुए भी रूस से वैज्ञानिक और अध्यापक बुलाने पड़ रहे हैं, शिक्षा पद्धति में रूसी भाषा को स्थान देना पड़ रहा है। दूसरी ओर रूस ने अरब देशों में सोवियत प्रचारक और शिक्षक भेजने के लिए उजबेकिस्तान में तथा मध्य एशिया के अन्य राज्यों में अरबी तथा अन्य पूर्वी भाषाओं का अध्यापन आरम्भ कर दिया है। सितम्बर १९५८ में २० मिस्री शिक्षा-शास्त्रियों का शिष्ट-मण्डल अपनी शिक्षा पद्धति के सुधार के लिए आवश्यक नवीन विधियों का अध्ययन करने के लिए रूस भेजा गया है। यदि इन सब प्रयत्नों से अरब शिक्षा पद्धति पर रूस हावी हो गया तो मध्यपूर्व में उसका वैसा ही प्रभाव स्थापित हो जायगा, जैसा भारत में ब्रिटिश शिक्षा पद्धति के कारण, अंग्रेजों के यहां से चले जाने पर भी, उनका प्रभाव जमा हुआ है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेबानन और जोर्डन की घटनाओं (पृ० ३७६) के कारण तथा इराक की जुलाई १९५८ की क्रांति से इस प्रदेश में अमेरिकी प्रभाव को गहरा धक्का लगा है, फिर भी आइवर स्पेक्टर के शब्दों में अभी तक अरब जगत् में प्रबल सोवियत प्रचार के बावजूद उसकी जड़ें यहां अच्छी तरह नहीं जमी हैं, इनके जमने से पहले यदि अमेरिका अरब राष्ट्रीयता के तत्त्वों को समझने के लिए यहां अपने प्रशिक्षित प्रेक्षक भेजे और इनके द्वारा इसके अनुकूल कार्य करे तो इस क्षेत्र में उसका प्रभाव बना रह सकता है।[२१]

कासिम के विरुद्ध इराक में क्रान्ति—(फरवरी १९६३) पहले यह बताया जा चुका है कि १४ जुलाई, १९५८ को इराकी क्रान्ति में पश्चिम के पक्षपाती प्रधानमन्त्री नूरी अस्सय्यद की, राजा फैजल द्वितीय की तथा इनके पक्षपातियों की हत्या हुई और क्रान्ति के नेता ब्रिगेडियर अब्दुलकरीम कासिम ने शासन अपने हाथ में लिया। इसने बगदाद पैक्ट से पृथक् होने की घोषणा की, कम्यूनिस्टों के साथ मिलकर भूमि-व्यवस्था में कुछ सुधार किए। किन्तु इसका ४½ वर्ष का शासन इराक की जटिल समस्याओं को नहीं हल कर सका। इस समय राजनीतिक हत्याओं और प्राणदण्डों का बोलबाला बना रहा, प्रायः कासिम यह घोषणा किया करता था कि खुदाताला की मदद से हमें एक "नए भयंकर षड्यन्त्र का पता चला है। देश के कुछ भ्रष्टाचारी तत्त्व विदेशी शक्तियों की सहायता से हमें नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं।" इस घोषणा के बाद विरोधियों को पकड़कर गोली से उड़ा दिया जाता था। उसने नासिर के समर्थकों का दमन किया और साम्यवादियों को बढ़ावा दिया। सोवियत संघ से ८० करोड़ डालर की भारी सैनिक सहायता प्राप्त की। कुवैत के तेल की दृष्टि से समृद्ध प्रदेश को उससे हड़पने का प्रयत्न किया। इराक की एक-चौथाई जनसंख्या का निर्माण करने वाले कुर्दों को कासिम सन्तुष्ट नहीं कर सका और वे मुल्ला मुस्तफा बरजानी के नेतृत्व में पृथक् कुर्दिस्तान की

---

२१. करेण्ट हिस्टरी, जनवरी १९५९, पृ० १७

मांग करते रहे। कासिम ने अपने विरोधियों को बिना किसी जांच के बड़े पैमाने पर मरवाया। इससे इराक की जनता ने यह अनुभव किया कि वर्तमान शासन तो पुराने राजतन्त्र से भी अधिक अत्याचारपूर्ण और निरंकुश है। इसके विरुद्ध विद्रोह स्वाभाविक था।

९ फरवरी, १९६३ को बगदाद रेडियो ने यह घोषणा की कि जनरल कासिम और उसके प्रमुख साथियों की हत्या कर दी गई है। कासिम के शासन की समाप्ति ने पश्चिम को यह स्पष्ट कर दिया कि यहां साम्यवाद के लिए अनुकूल परिस्थिति होते हुए भी जनता अभी तक इसके लिए तैयार नहीं है।

अरब संघ (Arab Federation)—इराक की १९६३ की क्रान्ति ने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न किया। इससे इराक में नासिर-विरोधी तथा साम्यवाद के पक्षपाती तत्त्वों का सफाया हो गया और अरबों की एकता और संघ के निर्माण की एक बड़ी बाधा दूर हुई। उधर सीरिया यद्यपि मिस्र से १९६१ में पृथक् हो गया था किन्तु उसके शासन में स्थिरता नहीं आयी थी। सितम्बर १९६१ से मार्च १९६३ तक वहां तीन क्रान्तियां हुईं, अन्तिम क्रान्ति में नासिर-विरोधी तथा सीरिया के पृथक् रखने के पक्षपातियों का सफाया हो गया।

इन परिस्थितियों में मिस्र, इराक और सीरिया के राज्यों का अरब संघ बनना संभव हो गया तथा अप्रैल १९६३ में इसके निर्माण की घोषणा कर दी गई। इस संघ में तीनों देशों की सरकार, पार्लियामैण्ट और पुलिस पृथक् रखते हुए निम्न व्यवस्थाएं की गई—(१) संघ की एक संयुक्त सेना तथा संयुक्त विदेश सेवा हो। (२) काहिरा संघ का मुख्यालय हो। (३) तीनों देशों के राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति पृथक् होंगे। (४) संघ की विधानसभा के दो सदन होंगे। निचले सदन में प्रतिनिधित्व आबादी के आधार पर होगा तथा उपरले सदन में तीनों राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया जायगा।

नासिर का प्रयत्न सं० रा० अमेरिका की भांति अरब राज्य का संगठन बनाने का है। १९५८ का संघ १९६१ में भंग हो गया, १९६३ का अरब संघ कब तक चलता है, यह भविष्य ही बतलायगा। किन्तु यह स्पष्ट है कि यदि इस समय इराक और सीरिया के राजनीतिक दलों के झगड़े समाप्त हो जायें तो इसे बड़ी सफलता मिल सकती है। १९६३ में इराक इसमें इसलिए सम्मिलित हुआ है कि वह कुर्दों के विद्रोह में इन्हें दबाने के लिए काहिरा की सहायता चाहता है और सीरिया की बाथ पार्टी अपनी क्रान्ति को सफल बनाना चाहती है। बाथ पार्टी अरब एकता की समर्थक होती हुई भी मिस्र के साथ पूर्ण रूप से विलय को पसन्द नहीं करती। यदि तीनों देशों के राजनीतिक दलों के आपसी विवाद हल हो गए तो यह संघ न केवल स्थायी होगा, अपितु इसमें अभी तक पश्चिम के पक्षपाती जोर्डन और सौदी अरब के निरंकुश राजाओं को भी सम्मिलित होना पड़ेगा। अभी तक ये सामन्तवाद और स्वेच्छाचारी शासन के गढ़ हैं। किन्तु देर तक ऐसा बना रहना संभव नहीं है। अरब राष्ट्रीयता की भावना इन्हें इन राज्यों के साथ मिलने को बाधित करेगी और यदि सब राज्य मिलकर शक्तिशाली संघ बना लें

तो यह संघ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख स्थान ग्रहण करेगा, इस क्षेत्र में पश्चिम के साथ साम्यवाद के प्रभाव का सफल प्रतिरोध करेगा, उपनिवेशवाद का अन्त करेगा तथा आन्तरिक ईर्ष्याद्वेष, दलबन्दियों और मतभेदों को समाप्त करके शासन में स्थिरता और स्थायित्व लायेगा।

पहले यह बताया जा चुका है कि अक्टूबर १९६२ में यमन के अत्याचारी राजा इमाम अलबद्र की मृत्यु के बाद यहां किस प्रकार क्रान्ति हुई। इसमें सौदी अरब तथा जोर्डनने जब पुराने राजतन्त्र को बनाये रखने के लिए सैनिक सहायता भेजी तो सं० अरब राज्य (मिस्र) ने अब्दुल्ला सल्लाल के नेतृत्व में स्थापित राजतन्त्र-विरोधी गणराज्य सरकार को दस हजार से अधिक सैनिकों की सहायता भेजी। सल्लाल अरब एकता में दृढ़ आस्था रखता है और उसने यह घोषणा की है कि वह मिस्र, सीरिया और इराक के संघ में सम्मिलित होगा।

दक्षिण अरब संघ—अरब प्रायद्वीप की दक्षिण-पश्चिमी नोक पर सामरिक महत्व रखने वाला अदन का उपनिवेश तथा सुरक्षित राज्य चिरकाल से ब्रिटिश अधिकार में चला आ रहा है। इसके आस-पास अनेक छोटे अरब सुल्तानों, अमीरों तथा शेखों के प्रदेश हैं। ब्रिटिश सरकार ने इनके साथ संधियां की हुई हैं। अरब प्रायद्वीप में अपना प्रभाव घटने पर ग्रेट ब्रिटेन ने यह प्रयत्न किया है कि यहां अरब राज्यों का एक ऐसा संघ बना दिया जाय, जिससे अदन पर उसका प्रभुत्व सुदृढ़ बना रहे। ११ फरवरी, १९५९ को पहले पांच अरब अमीरों तथा सुल्तानों ने दक्षिण के अरब अमीरों का संघ बनाया, बाद में इसमें लहेज (अक्टूबर १९५९) निचले औलाकी तथा दाथीना के (फरवरी १९६०) तथा वहीदी (मार्च १९६३) के सुल्तान सम्मिलित हुए। ४ अप्रैल, १९६२ को संघ का नाम 'दक्षिण अरब का संघ' (The Federation of South Arabia) कर दिया गया। इस संघ का स्थानीय नेता बहुत विरोध कर रहे हैं। इनमें से एक ने कहा है—"यह एकता नहीं, किन्तु दासता है। हम पीछे जा रहे हैं। एक ब्रिटिश उपनिवेश से हम अब अंग्रेजों तथा शेखों का संरक्षित राज्य बन रहे हैं।"

कुर्दिस्तान की मांग—इराक, सीरिया तथा ईरान के सीमावर्ती प्रदेशों में २० लाख कुर्द रहते हैं, ये अपना स्वतन्त्र राज्य कुर्दिस्तान स्थापित करना चाहते हैं। इसमें इराक को सबसे अधिक परेशानी है, उसके तेल के कुएं कुर्द प्रदेश में हैं। कुर्दों की यह मांग है कि तेल से इराक को प्राप्त होने वाली सारी आमदनी कुर्दों के विकास पर व्यय की जानी चाहिये। इराकी सरकार उन्हें कुछ स्वायत्त शासन देने को तैयार है, किन्तु कुर्दों को इससे सन्तोष नहीं है। कुर्दों ने जब इसके विरुद्ध विद्रोह किया तो इराकी सरकार ने भयंकर बमबारी से इनका दमन करना चाहा। यह जटिल समस्या अभी तक सुलझ नहीं सकी।

सुदूरपूर्व की समस्याएँ

सुदूरपूर्व में एशिया के पूर्वी देशों और जापान, चीन और फिलिप्पाइन्स द्वीप-समूह का समावेश होता है। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले यहां चीन का विशाल प्रदेश

पश्चिमी शक्तियों के साम्राज्यवादी शोषण का एक मुख्य केन्द्र बना हुआ था, इसके बाद जापान ने चीन में अपना साम्राज्य स्थापित करते हुए पश्चिमी शक्तियों को यहां से खदेड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध में टोकियो ने सुदूरपूर्व तथा दक्षिण पूर्वी एशिया में अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर न केवल बालू की भीत पर बने प्रासाद की भांति जापानी साम्राज्य धराशायी हो गया, किन्तु उसका स्थान साम्यवादी चीन ने ले लिया। जो चीन पहले दुर्बल और योरोपियन देशों के आर्थिक साम्राज्यवाद का शिकार था, वही अब उनके लिए नया संकट बन गया है। चीन का क्षेत्रफल ९,३३,६०० व० मी० तथा जनसंख्या ६० करोड़ १९ लाख ३८ हजार ३५ है[२२]। यह जनसंख्या सोवियत यूनियन की जनसंख्या से तिगुनी और सं० रा० अमेरिका से चौगुनी है, उसकी साधन सम्पन्नता भी इन देशों से कम नहीं है। इतने बड़े देश का साम्यवादी होना इस समय सं० रा० अमेरिका के लिए एक बड़ी समस्या बना हुआ है और अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न कर रहा है। इन्हें समझने के लिए चीन-जापान के पिछले इतिहास पर संक्षिप्त दृष्टिपात करना आवश्यक है।

सुदूरपूर्व में पश्चिमी शक्तियों का प्रवेश—पिछली शताब्दी के मध्य में योरोपियन देशों ने इस क्षेत्र में अपने पांव फैलाने शुरू किये। उस समय तक चीनी और जापानी विदेशियों से घृणा करते थे, चीन का सम्राट और उनके अहम्मन्य अधिकारियों ने 'दिव्य साम्राज्य' को योरोप के 'बर्बर', 'विदेशी शैतानों' से सुरक्षित रखने के लिए चीन का दरवाजा इनके लिए बिल्कुल बन्द रखने का प्रयत्न किया। किन्तु योरोपियन इसे खोलने पर तुले हुए थे, और ब्रिटेन ने सर्वप्रथम इसे **अफीम युद्ध** (१८४०-४२) द्वारा खोलने में सफलता पायी। उन दिनों अंग्रेज भारत से अफीम ले जाकर चीन में बेचा करते थे, इसमें भारी मुनाफा था, जब चीनी सरकार ने अपनी जनता को इसके दुष्परिणामों से बचाने के लिए इसके आयात पर प्रतिबन्ध लगाया और चोरी से इसे लाने वाले अंग्रेज व्यापारियों को रोकने की चेष्टा की, तो इस लाभदायक व्यापार को बनाये रखने के लिए ब्रिटिश सरकार ने चीन से युद्ध छेड़ दिया, अपने उत्कृष्ट शस्त्रों और सुशिक्षित सेना के कारण चीन को हांगकांग टापू देने के लिए तथा बिना किसी प्रतिबन्ध के व्यापार करने के लिए पांच बन्दरगाह खोलने के लिए बाधित किया। बाद में यहां अमेरिकन, फ्रेंच, डच, जर्मन तथा अन्य विदेशी भी आने लगे। इन पांच सन्धि बन्दरगाहों (Treaty Ports) के अतिरिक्त विदेशी व्यापारियों का चीन में अन्यत्र प्रवेश निषिद्ध था। ब्रिटिश झण्डे के अपमान के तथा एक फ्रेंच मिशनरी की हत्या के प्रतिशोध के लिए लड़े गये १८५६-६० के दूसरे चीनी युद्ध के परिणामस्वरूप पेकिंग को छः अन्य बन्दरगाह विदेशियों के व्यापार के लिए खोलने पड़े, योरोपियनों को चीन के भीतरी भागों में यात्रा की तथा अफीम का व्यापार करने की अनुमति मिली।

जापान का जागरण—इसी समय सं० रा० अमेरिका ने जापान में बलपूर्वक प्रवेश कर उसकी मोहनिद्रा भंग की। इसका कारण उत्तरी प्रशान्त महासागर में ह्वेल

---

२२. स्टेट्समैन यीअर बुक, १९५८

का शिकार करने वाले अमेरिकन जहाजियों के साथ जापानियों द्वारा किया जाने वाला दुर्व्यवहार था। १८५३ में अमेरिकन नौसेनापति पेरी अपने जंगी जहाजों के साथ जापान पहुँचा और उसने अमेरिकी नाविकों के साथ सद्व्यवहार की मांग की। १८५४ में वह अधिक जहाज लेकर दुबारा आया, विदेशियों के आगमन से सारे जापान में सनसनी फैल गई, मन्दिरों में देवताओं के सम्मुख विदेशियों के विध्वंस की प्रार्थनाएं की गयीं, घण्टे-घड़ियाल बजाये गये, पर ये देवता अमेरिकी तोपों के गोलों से जापान की रक्षा नहीं कर सके तथा उसे बाधित होकर दो बन्दरगाह अमेरिकनों के लिए खोलने पड़े। बाद में नागासाकी और योकोहामा भी इनके लिए खोल दिये गए।

चीन की अपेक्षा जापान ने जल्दी ही यह अनुभव कर लिया कि पश्चिम के नवागन्तुकों के प्रभावशाली क्रियात्मक प्रतिरोध के लिए यह आवश्यक है कि पश्चिम के ज्ञानविज्ञान को सीखा जाय और उसके अनुरूप अपने देश का पश्चिमीकरण (Westernization) किया जाय। १८६७ तक जापान मध्यकालीन सामन्तवादी राज्य था, इसके बाद मिकाडो (जापानी सम्राट) मत्सूहितो के उत्साह और क्रियाशीलता से नवीन सुधारों द्वारा इसका बड़ी तेजी से आधुनिकीकरण होने लगा। स्कूलों में अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ की गयी, फ्रेंच और जर्मन आदर्श पर समूची कानून पद्धति का पुनर्निर्माण किया गया। १८७१ में सामन्तवाद की समाप्ति की घोषणा की गयी। १८७३ में बर्छों-भालों का परित्याग करते हुए, प्रशिया का अनुकरण करते हुए, अनिवार्य सैनिक सेवा के आधार पर आधुनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सेना का संगठन किया गया। १८८९ में प्रशिया के नमूने का एक नया संविधान बनाया गया।

जापान ने पश्चिमी सभ्यता का पाठ पढ़कर इसका पहला प्रयोग चीन पर किया। कोरिया जापान के तट के सामने चीन का एक वशवर्ती राज्य था, जापान इसे अपने उपनिवेशन के लिए प्राप्त करना चाहता था। इस पर दोनों देशों में **चीन-जापान युद्ध** (१८९४–९५) छिड़ गया, इसमें चीनी बुरी तरह पराजित हुए और उन्हें फारमोसा का टापू तथा कोरिया के साथ दक्षिणी मंचूरिया का लियाओतुंग प्रायद्वीप भी जापान को देना पड़ा। जापान के इस नवीन साम्राज्यवाद के 'पीले खतरे' से भयभीत होकर रूस, जर्मनी और फ्रांस ने मंचूरिया स्वयमेव प्राप्त करने के इच्छुक रूस की प्रेरणा से जापान को लियाओतुंग प्रायद्वीप चीन को लौटाने की 'सलाह' दी, इन तीन शक्तियों से युद्ध करने की अपेक्षा जापान ने इनका परामर्श मानना अधिक श्रेयस्कर समझा। शीघ्र ही इन तीनों देशों ने चीन की बन्दरबांट शुरू कर दी। जर्मनी ने दो जर्मन मिशनरियों की हत्या का बदला लेने के लिए शाण्टुंग प्रान्त में क्यौचौ (Kiaochao) पर अधिकार कर लिया, और १८९८ में इसे चीन को ९९ वर्ष के लिए पट्टे पर बर्लिन को देने के लिए बाधित किया गया। इसके बाद इसी प्रकार का पट्टा रूस ने पोर्ट आर्थर बन्दरगाह के लिए तथा मंचूरिया में रेल बनाने के लिए प्राप्त किया, फ्रांस ने चीन की यांगसीक्यांग नदी के दक्षिण में कोई प्रदेश किसी दूसरी शक्ति को न दिये जाने का वचन लिया, ग्रेट ब्रिटेन ने वे-हाई-वे (Wei-Hai-wei) के बन्दरगाह का पट्टा प्राप्त किया, यांगसीक्यांग की उर्वर घाटी अपने व्यापार के लिए सुरक्षित कराने का निश्चय किया।

१८९८ तक योरोपियन शक्तियों ने चीन के विविध क्षेत्रों को अपने 'प्रभाव-क्षेत्रों' (Spheres of Influence) में बांट लिया, रूस का प्रभावक्षेत्र मंचूरिया, जर्मनी का शाण्टुंग, ग्रेट ब्रिटेन का यांगसीक्यांग की घाटी और फ्रांस का इसके दक्षिण का प्रदेश था। विभिन्न देशों के प्रभावक्षेत्रों का यह अभिप्राय था कि इनमें उन देशों के पूंजी-पतियों को रेलें बनाने, खानें खोदने तथा अन्य व्यवसायों तथा उद्योगों का विकास करने की विशेष सुविधायें थीं। चीन की रत्नगर्भा वसुन्धरा तथा सस्ती मजदूर-शक्ति से पश्चिमी पूंजीपतियों को भारी मुनाफा होने की सम्भावना थी। सं० रा० अमेरिका चीन की इस बन्दरबांट में कुछ विलम्ब से पहुँचा, उसके विदेश-मन्त्री जान हे (John Hay) ने ६ सित० १८९९ को चीन की 'प्रादेशिक सुरक्षा और अखण्डता' बनाये रखने के लिए 'मुक्त द्वार नीति' (Open Door Policy) का प्रतिपादन किया, इसका यह अभिप्राय था कि चीन के सब प्रदेश और सब बन्दरगाह सब देशों के व्यापार तथा पूंजी विनियोग के लिए एक जैसी शर्तों पर खुले रहें।

पश्चिमी शक्तियों से अपने देश की रक्षा का पहला प्रयत्न चीन के २५ वर्षीय युवक सम्राट क्वांगसू ने १८९८ में किया, उसने जापान का अनुसरण करते हुए अपने देश के पश्चिमीकरण के लिए कालेजों की स्थापना की, पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के अध्यापन पर, रेलों के निर्माण पर, पश्चिम के साहित्यिक और वैज्ञानिक ग्रन्थों के चीनी अनुवादों पर तथा सेना और शासन-प्रबन्ध के पुनः संगठन पर बल दिया, किन्तु उसके ये सुधार कट्टर चीनियों को सह्य नहीं थे, उन्होंने न केवल इनका विरोध किया, किन्तु एक सेना-पति की सहायता से सम्राट् को बन्दी बना लिया। १९०० में बाक्सर विद्रोह के रूप में चीन ने पश्चिम के प्रति दूसरी बार प्रबल विरोध प्रकट किया, पेकिंग के विदेशी दूतावासों को घेर लिया, विदेशियों की सम्पत्ति का विध्वंस किया, मिशनरियों को मारा, चर्चों को लूटा, रेल की पटरियों को उखाड़ा। किन्तु जापान, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट-ब्रिटेन की सम्मिलित सेनाओं ने बाक्सर विद्रोह को दबा दिया, और क्षतिपूर्ति के रूप में चीन से ३२ करोड़ डालर वसूल करने के अतिरिक्त उससे अनेक प्रकार की नई सुविधायें प्राप्त कीं।

१९०४-६ का **रूस-जापानी** युद्ध चीन की नपुंसकता और पंगुता का प्रमाण था, उसकी भूमि पर उसके एक प्रदेश के लिए दो विदेशी शक्तियां लड़ें, चीन के लिए इससे अधिक लज्जा की बात क्या हो सकती थी। इसमें रूस के परास्त होने पर जापान को दक्षिणी मंचूरिया तथा पोर्ट आर्थर के बन्दरगाह मिले, कोरिया उसका प्रभावक्षेत्र समझा गया, इसे जापान ने १९१० से अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इंगलैण्ड ने जापान की सफलता से प्रभावित होकर उसके साथ मित्रता की संधि कर ली। जापान द्वारा रूस की प्रबल योरोपियन शक्ति के पराभव ने चीन तथा एशिया के सभी देशों में एक नये आशावाद का संचार किया, उनका पश्चिमी शक्तियों को अजेय मानने का मिथ्या भ्रम दूर किया, उनमें स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता की भावनाओं का प्रबल नव-जागरण उत्पन्न हुआ। इस जागरण से प्रभावित होकर १९०५-११ तक चीन ने कुछ सुधारों द्वारा अपने देश का कायाकल्प करना चाहा। १९१२ में उग्र सुधारवादियों की

क्रांति ने १६४४ से चीन का शासन करने वाले मांचू राजवंश का अन्त कर दिया। नानकिंग (दक्षिणी राजधानी) में डा० सनयात सेन को इसका पहला अस्थायी राष्ट्रपति बनाया गया (१ जनवरी, १९१२)। किन्तु मांचू सरकार के साथ समझौता करने के लिए भेजे हुए एक महत्वाकांक्षी सेनापति युआन-शिह-काई ने शीघ्र ही अपने को इसका राष्ट्रपति चुनवा लिया, उसने इसका नया सम्राट् बनने का प्रयत्न किया, किन्तु १९१६ में उसकी मृत्यु से उसकी यह योजना अधूरी रह गई।

डा० सनयात सेन चीन में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख नेता थे, उन्होंने इसके लिए १८९५ में कुओमिन्तांग (राष्ट्रवादी) दल की स्थापना की थी, उनका विश्वास था कि संसार की एक चौथाई जनसंख्या तथा विशाल खनिज सम्पत्ति रखने वाला चीन एक महान् राष्ट्र बन सकता है, उन्होंने नव चीन के निर्माण के लिए जनता के तीन सिद्धान्तों सन-मिन-चू (राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र तथा आजीविका या आर्थिक समानता) पर बहुत बल दिया। डा० सनयात सेन ने १९१७ में दक्षिणी चीन में कुओमिन्तांग स्थापित करने के बाद विभिन्न स्वतन्त्र स्थानीय शासकों के आधीन उत्तरी चीन को भी अपने साथ मिलाने का प्रयत्न किया, सोवियत रूस ने भी इस कार्य में सनयात सेन की सहायता की, माईकेल बोरोदिन को यहाँ भेजा, १९२४ में कुओमिन्तांग के उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों को स्वीकार करने वाले कम्यूनिस्टों को भी अपना सदस्य बनाने का निश्चय किया गया। किन्तु १९२५ में कुओमिन्तांग में फूट पड़ गई, उसका एक दल रूस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहता था, दूसरा इसका घोर विरोधी था। डा० सनयात सेन अपने जीवनकाल में दोनों दलों को किसी प्रकार इकट्ठा बनाये रख सके, किन्तु मार्च १९२५ में उनकी मृत्यु होने पर दोनों पक्षों का मतभेद उग्र हो गया। सनयात सेन की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी, टोकियो तथा रूस में सैनिक प्रशिक्षण और अनुभव प्राप्त करने वाले च्यांगकाई शेक ने कम्यूनिस्टों का विरोध होते हुए भी प्रधान रूप से रूसी सहायता के आधार पर १९२८ तक सारे देश में एक शासन सत्ता स्थापित की, समूचे चीन की राजधानी नानकिंग (दक्षिणी राजधानी) बनाई, पेकिंग (उत्तरी राजधानी) के पुराने शासन को समाप्त कर उसका नाम पेपिंग (Peiping उत्तरी शान्ति) रखा। किन्तु देश की एकता हो जाने पर भी च्यांग को शीघ्र ही जापान के साथ संघर्ष करना पड़ा।

चीन-जापान सम्बन्ध (१९१४–१९४५)—जापान ने इंगलैण्ड का मित्र होने के कारण प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर अगस्त १९१४ में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की और १८९८ में जर्मनी द्वारा हस्तगत किये शाण्टुंग प्रायद्वीप के क्योचौ प्रदेश पर आक्रमण किया, उसने इस हमले के लिए अपनी सेनायें जर्मन प्रदेश से १०० मील दूर चीन के प्रदेश में उसकी तटस्थता का भंग करते हुए उतारीं और जर्मन प्रदेश जीत लेने के बाद चीनियों के बार-बार कहने पर भी न केवल चीनी प्रदेश से उसने अपनी सेनायें नहीं हटायीं, किन्तु चीनी राष्ट्रपति युवान को २१ मांगें पेश कीं। इनका उद्देश्य चीन को जापान का वशवर्त्ती संरक्षित राज्य बनाना था। इस समय योरोपियन राष्ट्र प्रथम विश्वयुद्ध में उलझे हुए थे, अब जापानियों को चीन को अपने साम्राज्य का अंग बनाने

का "हज़ार वर्षों में यह पहला स्वर्ण अवसर" मिला था। युआन को ये मांगें गुप्त रखने को कहा गया था, फिर भी पेकिंग के पत्रों में ये मांगें प्रकाशित होने पर जब योरोपियन शक्तियों ने टोकियो के विदेश मन्त्रालय से इस सम्बन्ध में पूछताछ की तो जापान ने उन्हें ११ संशोधित मांगों की सूची दी। इस पर चीन ने जापानी मांगों के मूल पत्र को प्रकाशित कर दिया, इस पर टोकियो का यह कहना था कि उसकी ये मांगें नहीं, किन्तु केवल 'इच्छायें' थीं। सं० रा० अमेरिका तथा अन्य पश्चिमी देशों ने यह कहा कि वे अपनी संधियों को प्रभावित करने वाला कोई चीन-जापान समझौता नहीं मानेंगे। फिर भी मई १६१५ में जापान ने चीन को युद्ध की धमकी देकर उससे दो संधियों पर हस्ताक्षर करा लिये, इनमें उसे दक्षिणी मंचूरिया तथा आन्तरिक मंगोलिया में सब रेलें बनाने, दक्षिणी मंचूरिया की तथा किरिन-चांगचुन रेलों का ६६ वर्ष का पट्टा देने का, कोयले, लोहे की खानों के विकास की, तथा अन्य आर्थिक सुविधायें दी गयी थीं। चीनी संसद् द्वारा इन संधियों के पुष्ट न होने के कारण कुओमिन्तांग ने कभी इनकी वैधता स्वीकार नहीं की।

अगस्त १६१७ में जापान तथा सं० रा० अमेरिका के दबाव से चीन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा की। १६१६ में पेरिस की शान्ति परिषद् में चीनी प्रतिनिधि मंडल ने भी भाग लिया, यहां ग्रेट ब्रिटेन तथा जापान के मध्य युद्ध के समय हुई गुप्त संधियों के अनुसार, टोकियो जर्मनी के शाण्टुंग प्रायद्वीप पर अधिकार करना चाहता था, चीन इसका घोर विरोधी था, किन्तु अन्त में जापान की विजय हुई (दे० पृ०१६–२०)। इसने चीन में गहरी निराशा, रोष तथा असन्तोष उत्पन्न किया, शाण्टुंग जापान को देने के विरोध में सारे देश में जलूस निकाले गये, प्रदर्शन किये गये और जापानी माल के बहिष्कार के प्रभावशाली साधन का अवलम्बन किया गया। इसका जापान पर असर हुआ, अपने विदेशी व्यापार के घटने से चिन्तित होकर उसने चीन से समझौता करने का निश्चय किया, इसी समय १६२१ में अमेरिकन राष्ट्रपति हार्डिंग ने वाशिंगटन में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया। पहले (पृ० १६७–८) यह बताया जा चुका है कि इस सम्मेलन में चीन की प्रादेशिक अखण्डता तथा स्वतन्त्रता को और मुक्तद्वार नीति को सब महाशक्तियों ने स्वीकार किया, और शाण्टुंग के प्रश्न का भी समाधान हो गया, १६२३ में यह चीन को वापिस मिल गया।

मंचूरिया पर जापान का आक्रमण—इसके कारण—१८ सित० १६३१ को जापान ने मुकदन में रेलवे लाइन के पास चीनियों द्वारा किये गये बम विस्फोट की दुर्घटना का लाभ उठाते हुए मंचूरिया में चीन पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण का **पहला कारण** जापान में सैनिकवाद का प्रबल होना था। अप्रैल १६२७ को जापानी प्रधानमन्त्री तानाका (Tanaka) ने सम्राट् हिरोहितो के सम्मुख एक आवेदन-पत्र में जापान द्वारा विश्वविजय की एक विस्तृत योजना उपस्थित की थी, इसमें जापान की स्थिति, जनसंख्या, कच्चा माल मिलने आदि की कठिनाइयों का विस्तृत वर्णन करते हुए यह कहा गया था कि मंचूरिया और मंगोलिया चीनी प्रान्त नहीं हैं। चीन को जीतने के लिए हमें पहले इन दोनों प्रान्तों को जीतना चाहिये, विश्व को जीतने के लिए, पहले

चीन की विजय आवश्यक है। यदि हम चीन को जीतने में सफल होते हैं, तो शेष एशिया तथा दक्षिण समुद्र के देश हमसे डरेंगे और हमें आत्मसमर्पण करेंगे।···चीन के सम्पूर्ण साधनों पर अधिकार करके, हम भारत, पूर्वी द्वीपसमूह, लघुएशिया, मध्य एशिया तथा योरोप तक को जीतेंगे। किन्तु इसका पहला पग मंचूरिया और मंगोलिया का नियन्त्रण है।" यह रिपोर्ट **तानाका मेमोरियल** (Tanaka Memorial) के नाम से प्रसिद्ध है और अगले १४–१५ वर्षों में जापान के साम्राज्यविस्तार का मूल आधार यही था। इस समय जापान की शासन सत्ता मंत्रिमण्डल के हाथ से निकलकर सैनिक अधिकारियों के पास आ गयी, इन्हें जापान की पुरानी परम्परा के अनुसार सीधा सम्राट् तक पहुँचने का, सरकार से बिना पूछे युद्ध छेड़ने या बन्द करने का अधिकार था। १६३० में सैनिक दल ने सरकार पर भ्रष्टाचार और निर्बल विदेशनीति का दोषारोपण करते हुए मंत्रिमण्डल बनाने और भंग करने की सत्ता अपने हाथ में ले ली, साम्राज्यवादी विस्तार पर बल दिया, उदार एवं सहिष्णु राजनीतिज्ञों को आतंकवादी साधनों से समाप्त किया जाने लगा।

दूसरा कारण जापानियों का यह विश्वास था कि भगवान ने इन्हें यह दिव्य कार्य सौंपा है कि वे एशियाई जनता को पश्चिमी साम्राज्यवाद से मुक्त करें। **तीसरा कारण** जापान का आर्थिक संकट था। १६२६ की विश्वव्यापी मन्दी से सं० रा० अमेरिका जाने वाले नकली रेशम के निर्यात में मूल्य की दृष्टि से ४५% की कमी आ गई, बेकारों की संख्या एक लाख तक पहुँच गई, ६ करोड़ २० लाख जापानी जनता के पास अपने जीवननिर्वाह के लिए पर्याप्त जमीन नहीं थी, ऐसे संकट के समय मंचूरिया के ३,६०,००० वर्गमील का उर्वर तथा कोयले, लोहे, सोने-चाँदी, सीसे की खनिज सम्पत्ति वाले प्रदेश के लिए जापानियों का आकर्षण होना स्वाभाविक था। यह जापान के लिए कच्चा माल प्राप्त करने की तथा तैयार माल बेचने की बड़ी महत्त्वपूर्ण मंडी बन सकता था। **चौथा कारण** इसकी प्राप्ति से कम्यूनिस्ट रूस से प्राप्त होने वाली सुरक्षा थी, मास्को कुछ समय पहले चीन से मंगोलिया ले चुका था, यदि वह अब मंचूरिया भी ले लेता तो जापान के हाथ से एक महत्त्वपूर्ण प्रदेश जाता रहता। मंचूरिया पाने में जापान को यह भी लाभ था कि इसे जीतने के बाद इसे आधार बनाकर वह एशिया में आगे बढ़ सकता था। १६३१ में पश्चिमी शक्तियां भी आर्थिक मन्दी से उत्पन्न समस्याओं को सुलझाने में लगी हुई थीं। अतः जापान ने इस सुयोग का लाभ उठाने के लिए मुकदन में रेल की पटरी के निकट हुए धड़ाके को आड़ बनाते हुए मंचूरिया पर बड़े पैमाने पर आक्रमण कर दिया (१८ सितम्बर, १६३१)। ३ जनवरी, १६३२ तक जापानियों ने समूचे मंचूरिया को जीत लिया, उसे मंचुकुओ के नाम से स्वतन्त्र राज्य घोषित किया और उसकी सारी शासन सत्ता हाथ में रखते हुए १६११ में चीन की गद्दी से पदच्युत किये शासक हेनरी प्यूयी को इसका राजा बना दिया। पहले यह बताया जा चुका है कि चीन ने राष्ट्रसंघ में जापान की शिकायत की, किन्तु वह इस आक्रमण से चीन की रक्षा नहीं कर सका (देखिये पृ० ५६-५७)।

इसके बाद चीन में जापान के साम्राज्यविस्तार का मार्ग खुल गया। १६३३

में उसने चीन के पाँच उत्तरी प्रान्तों होपे[23] (Hopei), चाहार (Chahar), शाण्टुंग, शांसी और स्वियुआन (Suiyuan) में स्वराज्य के आन्दोलन को भड़काया। दिसम्बर १९३३ में यद्यपि जापान को राष्ट्रसंघ में तो सफलता नहीं हुई, किन्तु उसने चीन में नई विजयें कीं, तेल की दृष्टि से समृद्ध जेहोल को मंचूरिया का हिस्सा बताते हुए टोकियो ने इस पर भी अधिकार कर लिया, वह चीन की बड़ी दीवार के दक्षिण के चीनी प्रदेशों को इसलिये जीतने लगा ताकि यहां से "मंचूरिया पर होने वाले चीनी आक्रमणों" को रोका जा सके।

इस समय जापानी आक्रमणों से चीन की रक्षा करने की कुछ सामर्थ्य च्यांग-काई शेक में थी, किन्तु वह कम्यूनिस्टों को जापानियों से बड़ा शत्रु समझता हुआ अपनी सारी शक्ति उनके दमन में लगा रहा था, उसका यह नारा था 'विदेशी शत्रु को हराने से पहले आन्तरिक शत्रु को नष्ट करो।' किन्तु सामान्य चीनी जनता में जापान के विरुद्ध बड़ा रोष था, वह उसका प्रसार रोकना चाहती थी। १९३६ के अन्त में चांग शूये ल्यांग (Hsueh-Liang) ने च्यांगकाई शेक का अपहरण करके उसे बन्दी बनाया और उसे तभी मुक्त किया, जब वह कम्यूनिस्टों के साथ समझौता करके जापान से लड़ने को तैयार हो गया।

अब जापानियों को यह डर हुआ कि इससे कहीं उनकी चीन जीतने की योजना भंग न हो, अतः उन्होंने जर्मनी के साथ एण्टीकोमिण्टर्न पैक्ट (देखिये पृ० ९३) किया। इसी वर्ष जापानी चुनावों में उदार दल की विजय होने पर एक सैनिक विद्रोह हो गया, फरवरी १९३६ में एक दिन युवक सैनिक अफसर एक हजार सिपाहियों के साथ अपनी बैरकों से निकल कर टोकियो शहर में आ गये, इन्होंने कई सरकारी भवनों पर अधिकार कर लिया, देश के अनेक बड़े राजनीतिज्ञों की हत्या कर दी, तीन दिन तक सम्राट् की आज्ञा की अवहेलना करते हुए विद्रोह करने के बाद इन्होंने आत्मसमर्पण किया। अप्रैल १९३७ में नये चुनाव होने पर पुनः नरम दल की विजय हुई। किन्तु जापान के सैनिक तत्त्वों ने इनकी कोई परवाह न करते हुए **चीन में साम्राज्यवादी नीति** का पुनः श्रीगणेश किया। पेकिंग के पश्चिम में मार्को पोलो पुल के निकट चीनी और जापानी सेना में संघर्ष की घटना ने उन्हें इसका सुअवसर प्रदान किया।

मार्को पोलो पुल बड़ा महत्त्वपूर्ण सामरिक स्थान है। जापान जैसे उत्तर से आने वाले आक्रान्ता के लिए दक्षिण में बढ़ने के लिए पेकिंग पर केन्द्रित होने वाली रेलों पर नियन्त्रण आवश्यक है। पेकिंग से ९ मील दक्षिण-पश्चिम में युगलिंग (Yungting) नदी

---

२३. चीन के भौगोलिक नाम कुछ चीनी शब्दों का अर्थ जान लेने पर बड़ी सुगमता से समझ में आ जाते हैं। चीन में हो नदी का वाचक है, शान पर्वत का, पेनान, तुंग और सी क्रमशः उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम को सूचित करते हैं। अतः होपे का अर्थ नदी—उत्तर अर्थात् ह्वांगहो (पीत नदी) के उत्तर का प्रदेश हुआ। शाण्टुंग पर्वत—पूर्व अर्थात् पर्वतों के पूर्व का प्रदेश है, किंग राजधानी को कहते हैं। अतः पेकिंग उत्तर की राजधानी तथा नानकिंग दक्षिण की राजधानी है।

को पार करने वाला मार्को पोलो पुल तथा इसके साथ लगे लूगोचिग्रौ (Lukouchiao) नगर पर नानकिंग तथा हैंकौ से आने वाले दो महत्त्वपूर्ण रेलमार्ग मिलते हैं। इस पुल पर अधिकार करने से जापानियों के लिए उत्तर में पेकिंग पर अधिकार करने के तथा दक्षिण में आगे बढ़ने के मार्ग खुलते थे। अतः जापान के लिए इसे प्राप्त करना आवश्यक था। जापानियों का यह कहना है कि यहां चीनियों ने युद्धाभ्यास में आगे दौड़ते हुए एक जापानी सैनिक पर पहले गोली चलाई, चीनियों का यह कहना है कि जापानी सैनिकों को लूगोचिग्रौ के निकट वानपिंग में एक लापता जापानी सैनिक को ढूंढने के लिए जब प्रवेश की आज्ञा नहीं दी गई, तो उन्होंने चीनियों पर पहले गोली चलाई[२४]। इस घटना के बाद दोनों पक्षों में कोई समझौता न होने पर अघोषित युद्ध (Undeclared War) छिड़ गया और यह आठ वर्ष बाद दूसरे विश्वयुद्ध के अन्त के साथ १९४५ में ही समाप्त हुआ। दोनों पक्षों द्वारा इसकी घोषणा न करने का यह कारण था कि ऐसा हो जाने पर वे योद्धा (Belligerant) राष्ट्र समझे जाते और उन्हें सं० रा० अमेरिका से प्राप्त होने वाली युद्धसामग्री, तटस्थता कानून के अनुसार, न प्राप्त हो सकती (देखिये पृ० २०६)।

जुलाई के अन्त तक जापान ने मार्को पोलो पुल, पेकिंग तथा तियेन्त्सीन (Tientsin) जीत लिये और उसकी सेनायें दक्षिण जाने वाले दो रेलमार्गों से नानकिंग तथा हैंकौ की ओर बढ़ने लगीं। अक्टूबर के मध्य तक जापान का ह्वांगहो (पीत नदी) के उत्तर के पाँचों प्रान्तों पर अधिकार हो गया, ८ नवम्बर १९३७ को तीन महीने के भीषण युद्ध के बाद शंघाई का महत्त्वपूर्ण नगर भी जीत लिया गया। दिसम्बर १९३७ में टोकियो ने चीन की राजधानी नानकिंग पर भी अधिकार कर लिया और चीनी अपनी राजधानी हैंकौ में ले गये, २५ अक्टूबर, १९३८ को उसका भी पतन होने पर च्यांगकाई शेक ने अपनी नई राजधानी दुर्गम पर्वतमाला से तथा यंगत्सी क्यांग नदी के गिरिगह्वरों (Gorges) से सुरक्षित सचवान (Szechuan चार नदियों वाला) प्रान्त में चुंगकिंग को बनाया। च्यांगकाई शेक की नीति पीछे हटते हुए भूमि क्षरण नीति (Scorched Earth Policy) के अनुसार जापानियों के लिए कुछ भी न छोड़ना, उनके मार्गों को लम्बा करना तथा छापामार हमलों द्वारा उन्हें निरन्तर परेशान करते रहना था, उसे अमेरिका तथा अन्य देशों से बर्मा रोड द्वारा तथा रूस के साइबीरियन रेलवे को मिलाने वाले मार्ग द्वारा सैनिक सामग्री की सहायता मिलती रही, जापानी उसे १९४५ तक नहीं हरा सके। जापान से युद्ध समाप्त होने पर च्यांगकाई शेक का कम्यूनिस्टों से पुनः संघर्ष आरम्भ हो गया, सं० रा० अमेरिका ने दोनों पक्षों में समझौते का प्रयत्न कराने का प्रयत्न किया, किन्तु वह सफल नहीं हो सका।

चीन में साम्यवादी दल का अभ्युदय और उत्कर्ष—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद १९१८ में चीन में साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रचार और प्रसार चन-दू-श्यू (Chen-Tu-Hsiu) के सुप्रसिद्ध पत्र 'न्यू चाइना' के ओजस्वी लेखों से हुआ। सितम्बर १९२०

२४. हार्डी—ए शार्ट हिस्टरी ऑफ इंटरनेशनल एफेयर्स, पृ० ३३२

में चन ने मास्को से आये व्यक्तियों की सहायता से शंघाई में चीनी साम्यवादी दल (Chinese Communist Party) की नींव डाली तथा चीन के विभिन्न नगरों में तथा विदेशों में इसकी छोटी शाखायें (Cells) स्थापित होने लगीं। जुलाई, १६२१ में शंघाई में चीनी साम्यवादी नेताओं का पहला सम्मेलन हुआ, इसमें वर्तमान चीनी गणराज्य के अनेक नेता माओत्से तुंग, चौ एन लाई, चू तेह, लिउ शाओ ची सम्मिलित हुए। इसके बाद इस दल ने मास्को के साथ निरन्तर सम्बन्ध बनाए रखा। १६२२ में चीनी साम्यवादी दल ने अपना लक्ष्य मजदूरों, किसानों के अधिनायकतन्त्र की स्थापना, वैयक्तिक सम्पत्ति की समाप्ति तथा शनैः शनैः साम्यवादी समाज का निर्माण बनाया। इसने अपने सदस्यों को कुओमिन्तांग के सदस्यों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाते हुए राष्ट्रीय एकता तथा स्वतन्त्रता के कार्य में सहयोग देने को कहा। १६२२ से २७ तक माओ तथा च्यांग काई शेक में घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा, इस समय माओ न केवल साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के कृषक विभाग का अध्यक्ष था, अपितु वह कुओमिन्तांग की राजनीतिक ब्यूरो का भी सदस्य था, १६२५ में कुओमिन्तांग के प्रचार विभाग का अध्यक्ष और 'पोलीटिकल डेली' नामक पत्र का सम्पादक था। उस समय चन को साम्यवादियों का कुओमिन्तांग के राष्ट्रवादियों के साथ यह सहयोग पसन्द नहीं था, वह इस बात पर दुःख प्रकट करता था कि साम्यवादी राष्ट्रवादियों के लिए कुलियों का काम कर रहे हैं[२५] किन्तु रूसी प्रतिनिधि बोरोदिन ने उसे समझाया कि इस समय किसानों-मजदूरों द्वारा राजनीतिक सत्ता हस्तगत करने के लिए स्वतन्त्र मार्ग ग्रहण करने का परिणाम भीषण रक्तपात होगा।

किन्तु साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों का यह सहयोग देर तक नहीं चल सका। च्यांग को साम्यवादियों के साथ काम करने में कठिनाइयां अनुभव हुईं, दोनों राजनीतिक सत्ता और प्रभुता पर एकाधिपत्य पाना चाहते थे, किन्तु एक म्यान में दो तलवारें कैसे समातीं? शक्तिशाली राष्ट्रवादी दल ने साम्यवादियों को कुओमिन्तांग के महत्त्वपूर्ण पदों से हटाना शुरू किया, संयुक्त मोर्चा (United Front) भंग हो गया, गृहयुद्ध छिड़ गया, च्यांगकाई शेक ने साम्यवादी दल का १६२७ से शहरों में दमन करना शुरू किया। कम्यूनिस्ट नेता दुर्गम देहातों में चले गए और उन्होंने लेनिन के कथनानुसार कृषकों की सोवियतें बनाकर अपने क्रान्तिकारी संगठन को सुदृढ़ बनाना शुरू किया। इस समय माओ तथा चू तेह की नीति शहरों से दूर रहने, भूमि सुधार करने, बड़ी जमींदारियों को जब्त करके उन्हें पुनः किसानों में बाँटने, किसानों के कर तथा सूद की दर कम करने तथा किसानों को कुओमिन्तांग के विरुद्ध भड़काने की थी। माओ का कहना था—"जनता समुद्र है, हम मछलियां हैं; जब तक इसमें तैरते रहेंगे, तब तक हम बचे रहेंगे।" इस नीति से शीघ्र ही साम्यवादी बाढ़ एवं दुर्भिक्ष पीड़ित क्वांग सी, आन्वे, फूकियेन तथा हूपे प्रान्तों में प्रबल हो गए। १६३१ में इन्होंने क्यांग सी तथा उसके आसपास के प्रान्तों में एक सोवियत गणराज्य स्थापित किया। १६३२ तक ५

२५. क्लाड बस—दी फार ईस्ट, पृ० ५०१

करोड़ जनता द्वारा बसा हुआ चीन का छठा अंश इनके नियन्त्रण में आ गया। अपने शासित प्रदेशों में इन्होंने सर्वत्र जमींदारों से जमीनें छीन कर उनका किसानों में पुनः वितरण किया, ५०० रु० से अधिक द्रव्य रखने वालों की सम्पत्ति छीनी, सूदखोर महाजनों को गोली से उड़ाया, कृषकों को उधार देने वाली सहयोगी समितियां बनायीं, आवश्यक खाद्यान्नों तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य घटाये, साम्यवादी सेना का संगठन किया, इसमें सम्मिलित न होने वालों से कुलियों का काम लिया, स्त्री-पुरुषों को समानाधिकार देते हुए खानों, जंगलों, खेतों में उनसे समान रूप से काम लिया जाने लगा।

च्यांगकाई शेक ने साम्यवादियों का अन्त करने के लिए छः बार इन पर बड़े हमले किये, किन्तु उसे इनका दमन करने में कोई बड़ी सफलता नहीं मिली। १९३४ में साम्यवादियों ने यह अनुभव किया कि उनकी सेना राष्ट्रवादियों की सेना द्वारा चारों ओर से घिर जायगी, इससे बचने के लिए लाल सेना ने दक्षिणी चीन में क्वांगसी प्रान्त से उत्तर-पश्चिम में शेन्सी प्रान्त में जाने के लिए ८ महीने में तीन हजार मील तय करने वाला सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रयाण (Long March) किया। शेन्सी जाने में कई लाभ थे, यह रूस के निकट था, यहां सोवियत सहायता सुगमता से मिल सकती थी, यह उनके शत्रु च्यांगकाई शेक द्वारा अधिकृत प्रदेश से बहुत दूर था और वे जिन जापानियों को अपने देश से निकालना चाहते थे, उन द्वारा अधिकृत मंचूरिया के भी निकट था।

१९३७ तक च्यांगकाई शेक का लक्ष्य चीन के दो बड़े शत्रुओं—जापानियों तथा कम्यूनिस्टों में से पहले कम्यूनिस्टों का संहार करना था, उनके उत्तर चले जाने से उसे इनके दमन में कोई सफलता नहीं मिली। इस समय चीनी जनता टोकियो के आक्रमणों से आशंकित होकर जापान को अपना प्रधान शत्रु मान रही थी और उसके हमलों से रक्षा चाहती थी, कम्यूनिस्टों ने जापान विरोधी जलूसों, सभाओं का आयोजन करके जनता में जापान के विरुद्ध लड़ने की भावना उत्पन्न की, इसे परास्त करने के लिए पुनः संयुक्त मोर्चे (United Front) की मांग की, इस समय इनका प्रचार सेनाओं में भी इतना प्रभावशाली हो गया कि दिसम्बर १९३६ में शीआन (Sian) में सैनिक परिस्थिति का निरीक्षण करने के लिए आये च्यांग को उसके दो अधीनस्थ सेनापतियों—चांग शुए ल्यांग (Chang Hsueh Liang) तथा यांग हू चेंग ने बन्दी बना लिया और उसे कम्यूनिस्टों की सलाह के अनुसार उनके साथ मिलकर जापान के विरुद्ध लड़ने को बाधित किया। इस समय यदि कम्यूनिस्ट चाहते तो च्यांग का वध कर सकते थे, किन्तु स्तालिन के परामर्श से उन्होंने ऐसा करना उचित नहीं समझा।[२६]

अब कम्यूनिस्टों ने च्यांग के साथ मिलकर जापान के विरुद्ध युद्ध छेड़ा। इस समय कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्यों की संख्या १ लाख तथा उनका प्रभावक्षेत्र ३० लाख जनता का प्रदेश था। माओ की नीति पहले कुओमिन्तांग के साथ समानता का दर्जा पाने की तथा बाद में उसका स्थान ग्रहण करने की थी। वह कुओमिन्तांग के सिद्धान्तों को मानता हुआ भी साम्यवादी आदर्शों को छोड़ने को तैयार न था, उसका

---

२६. क्लाड बस—दी फार ईस्ट, पृ० ५०९

कहना था कि मेरी नीति ७० प्रतिशत साम्यवादी, २० प्रतिशत समझौतावादी तथा १० प्रतिशत जापान के विरोध की है। कम्यूनिस्टों ने जापानियों के विरुद्ध छापामार रण-नीति के अनुसार प्रबल आक्रमण आरम्भ कर दिये, इनके सम्बन्ध में एक जापानी सेना-पति ने यह ठीक ही कहा था—"यदि हम इनके विरुद्ध छोटे सैनिक दस्ते भेजते हैं तो वे कभी वापिस नहीं लौटते; यदि बड़ी सेना भेजते हैं तो उन्हें कभी कम्यूनिस्ट नहीं मिलते"। एक दूसरे सेनापति ने इसकी तुलना मधुमक्खियों से की थी, "इन्हें जितना हटाओ या इनसे जितना बचो, उतनी ही प्रबलता से ये आक्रमण करते हैं"।

दूसरा संयुक्त मोरचा १९३७ से १९४० तक ही चला, इसके बाद चुंगकिंग की सरकार ने यह अनुभव किया कि कम्यूनिस्ट राजनीतिक सत्ता के लिए अपनी स्थिति सुदृढ़ कर रहे हैं, उसने इनके येनान (शेन्सी) के मुख्य स्थान को सैनिक सामग्री भेजना बन्द कर दिया, इनकी आर्थिक और सैनिक घेरेबन्दी (Blockade) की नीति शुरू कर दी। १९४० में माओ ने 'नवीन लोकतन्त्र' (New Democracy) नामक अपनी पुस्तिका में चीनी क्रान्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए यह बताया कि यह दो अवस्थाओं में पूरी होगी, पहली अवस्था **'नवीन लोकतन्त्र'** की होगी, इसमें नये समाजवादी राज्य की स्थापना की दूसरी अवस्था पूरी होने तक बूर्जुआ पूंजीवाद से समझौता करना होगा, इसमें साम्यवादी दल के नेतृत्व में सब क्रान्तिकारी तत्त्वों की संयुक्त सरकार (Coalition) बनेगी तथा सरकारी और निजी उद्योगों वाली मिश्रित (mixed) अर्थव्यवस्था होगी।

१९४५ में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सं० रा० अमेरिका ने दोनों पक्षों में समझौते का प्रयत्न कराया, जनवरी १९४६ में यह समझौता संभव प्रतीत होता था, स्तालिन भी कम्यूनिस्टों को च्यांग के साथ संधि की सलाह दे रहा था, सं० रा० अमेरिका के जनरल मार्शल के सत्प्रयत्नों से दोनों पक्षों में युद्ध विराम का समझौता हो गया। किन्तु मार्शल के चीन से चले जाने के बाद दोनों पक्षों में पुनः गृहयुद्ध छिड़ गया, पहले वर्ष १९४७ के मध्य से १९४८ के मध्य तक तो कुओमिन्तांग का पलड़ा भारी रहा, किन्तु इसके बाद साम्यवादियों ने जापानियों द्वारा मंचूरिया में छोड़ी रण-सामग्री और रूसी सहायता द्वारा बड़ी तेजी से मुकदन, तियेन्त्सीन, पेकिंग, नानकिंग, शंघाई और कैण्टन जीत लिये। साम्यवादी नेताओं ने सर्वत्र सुव्यवस्था स्थापित की, भ्रष्टाचार का निरोध किया, स्थानीय जनता का पूरा सहयोग प्राप्त किया, स्थानीय संस्थाओं को यथा-पूर्व बनाये रखते हुए उनसे लाभ उठाने की नीति का अवलम्बन किया। १ जुलाई, १९४९ को माओत्से तुंग ने 'जनता के लोकतन्त्रीय अधिनायकतन्त्र' के विषय पर लिखे अपने सुप्रसिद्ध लेख में बताया कि नवीन लोकतन्त्र चार वर्गों—मजदूर, किसान, छोटे (Petty) बूर्जुआ तथा राष्ट्रीय बूर्जुआ का सम्मिलित संगठन होगा, इसका नेतृत्व साम्यवादी दल द्वारा किसान और मजदूर करेंगे, अतः चीन के नये लाल झण्डे में दल के सूचक एक बड़े तारे के साथ चार पीले छोटे तारे रखे गये। उसने कहा—"साथियो, हम साम्राज्यवाद के, जमींदार वर्ग के तथा नौकरशाही वाले पूंजीपतियों के वर्गों पर किसानों, मजदूरों, लघु बूर्जुआ तथा राष्ट्रीय बूर्जुआ का अधिनायकतन्त्र स्थापित कर रहे हैं।" सितम्बर के

अन्त तक साम्यवादी सेनाओं ने समूचे चीनी महाद्वीप को जीत लिया। च्यांगकाई शेक को अपने समर्थकों के साथ जान बचाकर जापान से प्राप्त हुए फारमोसा के टापू में जाकर शरण ग्रहण करनी पड़ी। १ अक्टूबर, १९४९ को पेकिंग में चीनी जनता के गणराज्य (Chinese People's Republic) की स्थापना की घोषणा की गयी।

साम्यवादियों को २२ वर्ष के उग्र संघर्ष के बाद सफलता मिलने के मुख्य कारण थे—कुओमिन्तांग की अक्षमता, भ्रष्टाचार, युद्ध से उत्पन्न हुई भीषण मुद्रास्फीति तथा अन्य आर्थिक समस्याओं को हल न कर सकने के कारण तथा जमींदारों और पूंजीपतियों का समर्थन करने से साधारण जनता की सहानुभूति खो देना, साम्यवादियों का सुदृढ़ और सुनियन्त्रित संगठन, उनमें अपने आदर्शों को क्रियान्वित करने का प्रचण्ड उत्साह, दृढ़ संकल्प, उत्कट श्रद्धा, अडिग विश्वास तथा अनथक लगन, लोकप्रिय भूमि-सुधार, उनका परिस्थितियों से पूरा लाभ उठाने का सामर्थ्य तथा जनता के सब वर्गों की सहानुभूति प्राप्त करने वाला आकर्षक कार्यक्रम। यह अयोग्यता, निष्क्रियता, उपेक्षा, उदासीनता का क्षमता, क्रियाशीलता, उत्साह, साहस, श्रद्धा और विश्वास के साथ संघर्ष था, इसमें दूसरे पक्ष की विजय सर्वथा स्वाभाविक थी।

साम्यवादी क्रांति के परिणाम—विश्व की राजनीति पर इस घटना ने बड़ा गहरा प्रभाव डाला। इसके मुख्य परिणाम निम्नलिखित हैं—(१) पहले विश्वयुद्ध के बाद संसार का एकमात्र साम्यवादी देश सोवियत रूस था। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद संसार की सबसे अधिक जनसंख्या वाले तथा रूस के बाद सबसे अधिक क्षेत्रफल रखने वाले चीन के साम्यवादी बन जाने से रूसी गुट की शक्ति में असाधारण वृद्धि हुई। यदि इसमें पूर्वी योरोप के सोवियत पक्षपाती राज्यों, पूर्वी जर्मनी, उत्तरी कोरिया, उत्तरी वीतनाम, बाह्य मंगोलिया को सम्मिलित किया जाय, तो सोवियत गुट के पास ९४ करोड़ ४९ लाख जनसंख्या तथा १,३५,१९,२५० वर्ग मील का क्षेत्रफल हो जाता है।[२७] इससे विश्व का शक्ति संतुलन, जो पहले जनसंख्या और क्षेत्रफल की दृष्टि से सं० रा० अमेरिका के गुट के पक्ष में था, वह अब सोवियत गुट के पक्ष में हो गया है। (२) साम्यवादी चीन की सफलता सुदूर पूर्व में सं० रा० अमेरिका की कूटनीति की बहुत बड़ी विफलता है। वाशिंगटन ने च्यांगकाई शेक को बनाये रखने के लिए रुपया पानी की तरह बहाया। जापान की विजय के बाद उसने इसे १४ करोड़ १३ लाख डालर के जहाज दिये, ७० करोड़ डालर उधार पट्टे के अन्तर्गत दिया तथा १९४८ के 'चीन कानून' के अनुसार १२।। करोड़ डालर का अनुदान दिया। किन्तु इतनी अधिक सहायता के बाद भी वह च्यांग द्वारा कम्यूनिस्टों को नहीं हरा सका, अपितु राष्ट्रवादी चीन के सेनापतियों की अयोग्यता के कारण इनमें बहुत सी सैनिक सामग्री, लड़ाई की लूट के रूप में साम्यवादी चीन को प्राप्त हुई। (३) चीन की साम्यवादी सरकार के एशिया में कम्यूनिज्म द्वारा प्रसार के कार्यों को रोकने के लिए सं० रा० अमेरिका ने सैनिक संधियां करने तथा सीटो बनाने (दे० पृ० ३४७) की नीति स्वीकार की। (४) इसके अभ्युत्थान ने सं० रा० अमेरिका

---

२७. हिन्दुस्तान थीअर बुक १९५९, पृ० ६३६

को भारत तथा जापान के उद्योग-धन्धों के विकास के लिए तथा पूर्व में इन्हें लोकतन्त्र का सुदृढ़ दुर्ग बनाने के लिए बड़े परिमाण में सहायता देने को बाधित किया है। अल्प-विकसित देशों की सहायता पर बल दिया जाने का भी यही कारण है। इन देशों में बहुत गरीबी, बेकारी और भुखमरी है, ये परिस्थितियां साम्यवाद के प्रसार के लिए बहुत अनुकूल होती हैं। साम्यवाद के निरोध के लिए इनका उन्मूलन आवश्यक है, अतः इन्हें दूर करने के लिए एशिया के अल्पविकसित देशों को सं० रा० अमेरिका द्वारा तथा कोलम्बो योजना द्वारा बहुत सहायता दी जा रही है। (५) साम्यवादी चीन की स्थापना से कई नई अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें उत्पन्न हो गयी हैं। इनमें दो उल्लेखनीय हैं—**पहली समस्या** साम्यवादी चीन को मान्यता देने तथा उसके प्रतिनिधि को सं० रा० संघ में बिठाने की है। इस प्रश्न पर सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन में प्रबल मतभेद है। इस विषय में अमेरिका के विरोधी रुख का स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है (देखिये पृ० ३८०–८१) सं० रा० अमेरिका के प्रबल विरोध के कारण पिछले १४ वर्षों में साम्यवादी चीन को सं० रा० संघ का सदस्य बनाने के सब प्रयत्न विफल हुए हैं। किन्तु जनवरी १९६४ में फ्रांस द्वारा चीन को मान्यता दिये जाने से चीन के संघ के सदस्य बनने की आशा कुछ उज्ज्वल हो गयी है। इसका कारण यह है कि फ्रांस के भूतपूर्व अफ्रीकी उपनिवेश यद्यपि स्वतन्त्र हो चुके हैं, किन्तु फिर भी इन पर फ्रांस का बहुत प्रभाव है और इनकी संख्या काफी है। चौ एन लाई ने १९६३–४ की अपनी अफ्रीका यात्रा के दौरे में विभिन्न अफ्रीकी देशों को अपने पक्ष में और प्रभाव में लाने का प्रयास किया है। इसके परिणामस्वरूप ट्यूनिशिया और बुरुण्डी ने उसके साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित करने की घोषणा की है। इस समय अफ्रीका के ३५ देशों में से १६ देशों के साथ उसके दौत्य सम्बन्ध हैं। यदि इनके साथ फ्रेंच प्रभाव में विद्यमान देश भी उसका साथ दें तो सं० रा० संघ में उसके पक्ष के समर्थकों की संख्या काफी हो जायगी। इस समय सं० रा० संघ में अफ्रीका एशिया के सदस्य देशों की संख्या ५८ है। किन्तु इनमें से ५० प्रतिशत सं० रा० अमेरिका की इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहते। १९६३ में चीन को सं० रा० संघ के सदस्य बनाने का प्रश्न उठने पर ५८ में से २५ ने साम्यवादी चीन के पक्ष में वोट दिया, फ्रेंच प्रभाव में विद्यमान १३ तथा तीन अन्य अफ्रीकी राज्यों ने तथा एशिया के ६ राज्यों ने लाल चीन को सदस्य बनाने के विरुद्ध वोट दिया, शेष तटस्थ रहे। अब यदि फ्रांस द्वारा मान्यता देने के बाद ये १६ राज्य भी पेकिंग को संघ का सदस्य बनाने के लिए वोट दें तो इनकी संख्या ४१ हो जायगी। इससे संघ में चीन का प्रवेश सुगम हो जायगा।

दूसरी समस्या फारमोसा की है। चीन से भागने के बाद ७ दिसम्बर, १९४९ को इस टापू के ताईपे नगर को च्यांगकाई शेक ने चीन के गणराज्य की राजधानी घोषित किया। १३८५७ व० मी० का यह टापू चीन के तट से ११५ मील दूर है, सोना, कोयला, खनिज पदार्थों, धान, चाय आदि से समृद्ध तथा अत्यन्त रमणीक है, १६वीं शती में इसे खोजने वाले पुर्तगालियों ने सुन्दर दृश्यों के कारण इसे यह नाम दिया था, पुर्तगाली भाषा में फारमोसा का अर्थ सुन्दर होता है। १८९५ में इसे जापान ने चीन से छीन लिया,

द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के आत्मसमर्पण के बाद यह चीन को वापिस लौटाया गया और इस समय अमेरिका की सहायता से यहाँ ६ लाख सेना रखने वाले च्यांगकाई शेक का शासन है। उसने इस टापू का नाम बदल कर ताइवान रख दिया है। इसके पश्चिम में फारमोसा जलडमरूमध्य में पेस्काडोर्स के ४८ छोटे द्वीप तथा चीन के तट के १२ मील दूर किमाय (Quemoy) और मात्सु के टापू हैं। इस समय इन सब पर च्यांग का अधिकार है, किन्तु साम्यवादी चीन इन्हें चीन का हिस्सा समझता है और इन पर अपना अधिकार करना चाहता है, उसका यह कहना है कि इन पर सं० रा० अमेरिका की नौसेना की सहायता से च्यांग का शासन उनके लिए बहुत बड़ा खतरा है। उसके इन टापुओं को हस्तगत करने के प्रयत्नों ने पिछले कई वर्षों में महान् अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न किये।

किमाय संकट---१६५० में कोरिया युद्ध के समय सं० रा० अमेरिका ने यह अनुभव किया कि साम्यवादी चीन के आक्रमण का प्रतिरोध करने में ताईवान और उसके आस-पास के टापू बड़े महत्त्वपूर्ण हैं इन्हें अपने अधिकार में रखने से जापान से फिलिप्पाइन तक के सब टापू उसके नियन्त्रण में आ जायेंगे। इस दृष्टि से राष्ट्रपति ट्रूमैन ने १६५३ में सातवें बेड़े को ताईवान तथा चीन की भूमि के बीच १०० मील चौड़े समुद्र में चक्कर लगाने का आदेश दिया। १६५५ में साम्यवादी चीन ने अपनी भूमि के समीपवर्ती टापुओं को जीतने के प्रयत्न किये। किमाय चीन के प्रदेश से १२ मील दूर समुद्र में आमाय (Amoy) बन्दरगाह के सामने है और मात्सू इससे १५० मील उत्तर में चीनी प्रदेश से १० मील दूर समुद्र में है। जब चीन ने इन टापुओं पर गोला-बारी शुरू की तो सं० रा० अमेरिका ने कांग्रेस के प्रबल बहुमत से 'फारमोसा प्रस्ताव' पास करते हुए फारमोसा तथा पेस्काडोर्स टापुओं की रक्षा के लिए सेना के प्रयोग का निश्चय किया। किमाय और मात्सू की रक्षा फारमोसा की सुरक्षा में आती है या नहीं, इसका निर्णय राष्ट्रपति के विवेक पर छोड़ दिया। १६५५ में 'फारमोसा प्रस्ताव' पास होने के बाद चीन द्वारा इन टापुओं पर गोलाबारी बन्द हो गयी तथा यह संकट शांत हो गया।

किन्तु अगस्त, १६५८ में इस संकट ने पुनः अन्तर्राष्ट्रीय शांति भंग कर दी। ३१ जुलाई को ४ दिन के लिए सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव पेकिंग आये, उन्होंने माओत्से तुंग से परामर्श किया। इसके बाद २३ अगस्त से चीन ने किमाय तथा मात्सू टापुओं पर भीषण गोलाबारी आरम्भ कर दी, ५ दिन बाद साम्यवादी चीनियों ने किमाय के कुओमिन्तांगी सेनापति को यह रेडियो सन्देश भेजा कि उसे फारमोसा से कोई सहायता नहीं मिल सकती, अतः उसे आत्मसमर्पण कर देना चाहिए। वस्तुतः उस समय चीनियों की गोलाबारी इतनी जबर्दस्त थी कि फारमोसा से अमेरिकी रक्षा बेड़े (Convoy) द्वारा सितम्बर के तीसरे सप्ताह में ही इन टापुओं में कुमुक पहुँच सकी।

इस बीच में ८ सितम्बर को ख्रुश्चेव ने आइजनहावर को एक पत्र लिखा, इसमें फारमोसा जलडमरूमध्य के बारे में चिन्ता प्रकट करते हुए यह कहा गया था कि चीन पर आक्रमण सोवियत यूनियन पर आक्रमण समझा जायेगा। आइजनहावर ने १३ सितम्बर को इसका उत्तर देते हुए कहा—"इस समय मुख्य प्रश्न यह है कि ऐसे झगड़े

का निर्णय शक्ति द्वारा नहीं होना चाहिए।" श्री नेहरू ने ७ सितम्बर को चीन के पक्ष का समर्थन करते हुए यह घोषणा की—"कोई देश अपने समुद्र तट से १२ मील दूर के टापू को आक्रमण का अड्डा बनना बर्दाश्त नहीं कर सकता।" १४ सितम्बर से इस पर वारसा में सं० रा० अमेरिका तथा साम्यवादी चीन के राजदूतों की वार्ता आरम्भ हुई। सं० रा० संघ की असेम्बली की बैठक में भी मुख्य चर्चा इसी विषय की रही। ७ अक्टूबर से चौ एन लाई ने मानवीय दयालुता के आधार पर कुछ समय के लिए अपनी गोलाबारी बन्द करने की घोषणा की। इससे यह संकट शांत हुआ, किन्तु इसका कोई भरोसा नहीं कि इस ज्वालामुखी का पुनः कब विस्फोट हो जाय।

चीन का भारत पर आक्रमण—१९६२ में एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सबसे बड़ी घटना साम्यवादी चीन द्वारा २० अक्टूबर को भारत पर किया गया सुनियोजित विशाल एवं भीषण आक्रमण था।[२८] साम्यवादी सरकार १९५४ से हिमालय के विभिन्न भारतीय प्रदेशों में अपनी सेना भेज रही थी और लद्दाख में तथा उत्तरपूर्वी सीमा प्रदेश में ५० हज़ार वर्गमील के भारतीय प्रदेश पर चीन का अधिकार बता रही थी। १९५९ तक भारत सरकार ने इस समस्या को शान्तिपूर्वक सुलझाने का प्रयत्न किया और साधारण जनता से इस विवाद को छिपाये रखा। इस बीच में लद्दाख के अक्साईचिन के भारतीय प्रदेश में चीनियों ने सिंकियांग और तिब्बत को जोड़ने वाली एक सड़क बना ली। अप्रैल १९६० में श्री नेहरू तथा चौ एन लाई की दिल्ली वार्ता में यह निश्चय हुआ कि दोनों सरकारों के अधिकारी विवादग्रस्त सीमा प्रदेशों के सम्बन्ध में आवश्यक सामग्री का अध्ययन कर सितम्बर १९६० तक अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करें। इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट हुआ कि चीन ५० हजार वर्गमील के भारतीय प्रदेश को अपना बताता है, इसमें १२ हजार वर्गमील के प्रदेश पर वह अपना अधिकार कर चुका है। १९५९ से वह भारतीय सीमा का उल्लंघन कर इसमें अपनी सैनिक चौकियां स्थापित कर रहा था, भारत सरकार ने इसका प्रतिरोध करने के लिए जब अपनी सैनिक चौकियां स्थापित करनी शुरू कीं तो सैनिक संघर्ष होने लगे। जुलाई १९६२ से स्थिति काफी गम्भीर हो गयी। २० अक्टूबर १९६२ का आक्रमण चीनियों की सुविचारित योजना के अनुसार लद्दाख तथा उत्तर-पूर्व सीमान्त के मोर्चे पर भारी तैयारी के साथ एकदम किया गया। उत्कृष्ट तैयारी, कुशल कूटनीति, बढ़िया तथा हल्के शस्त्र, अनुकूल भौगोलिक परिस्थिति, विशाल सैनिक संख्या के कारण चीनियों को सफलता मिली, एक महीने के भीतर चीन ने भारतीय सेना को भीषण क्षति पहुंचाते हुए १९ नव० तक सेला तथा वालोंग और बोमदिला जीत लिये, आसाम में वे मैदान के निकट तक पहुंच गये, लद्दाख में उन्होंने लगभग उस सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया, जिसे वे अपना बताते थे।

इस विजय के बाद चीनियों ने यह घोषणा की कि वे २० नव० की मध्यरात्रि के बाद युद्ध बन्द कर देंगे और उनके 'सीमान्त प्रहरी' (Frontier guards) १ दिसम्बर १९६२ से चीन और भारत की ७ नव० १९५९ की वास्तविक नियन्त्रण रेखा के पीछे

२८. भारत चीन विवाद के विस्तृत विवरण के लिए देखिये प्रथम परिशिष्ट

२० किलोमीटर (१२॥ मील) तक वापिस लौट जायेंगे। १ दिसम्बर से चीनी सेनाओं ने पीछे लौटना शुरू कर दिया। भारत सरकार ने चीन का उपर्युक्त शान्ति प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह धोखा दे रहा था, उसका वास्तविक अभिप्राय यह था कि लद्दाख के अक्साईचिन प्रदेश पर तथा १६५६ से १६६२ तक के बीच में भारतीयों द्वारा अपने प्रदेश में स्थापित चौकियों पर चीन का अधिकार मान लिया जाय। श्री नेहरू ने अपने १ दिसम्बर १६६२ के पत्र में इस बात पर बल दिया कि जब तक चीन अपनी सेनाओं को ८ सितम्बर १६६२ से पहले की स्थिति में नहीं ले आता तब तक उससे कोई संधि वार्त्ता नहीं हो सकती। इस समस्या को सुलझाने के लिए एशिया तथा अफ्रीका के छः देशों—बर्मा, कम्बोडिया, लंका, घाना, इण्डोनीशिया तथा सं० अरब गणराज्यों के प्रतिनिधियों ने १०-१२ दिसम्बर तक कोलम्बो में कुछ प्रस्ताव रखे। भारत ने इन प्रस्तावों को मान लिया तथा चीन ने नहीं माना और उसकी सेनायें अभी तक भारतीय प्रदेश में डटी हुई हैं।

चीन द्वारा भारत पर आक्रमण के कारण—भारत ने चीन को अपना मित्र बनाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी थी। वह साम्यवादी चीन को मान्यता देने वाला बर्मा के बाद दूसरा देश था और उसे सं० रा० संघ का सदस्य बनाने के लिए भारत ने सदैव प्रयत्न किया, इस विषय में उसने पश्चिमी देशों को नाराज़ करने की भी परवाह नहीं की, उसे सन्तुष्ट करने के लिए तिब्बत का बलिदान किया, १६५४ में श्री जवाहर लाल नेहरू ने चौ एन लाई के साथ पंचशील की संधि की, हिन्दी-चीनी भाई-भाई के नारे लगाये गये। फिर भी चीन ने अपने घनिष्ठ मित्र पर यह विश्वासघातपूर्ण आक्रमण क्यों किया? इसका उत्तर भारतीय और विदेशी परराष्ट्रसम्बन्धविशारदों और नेताओं ने विभिन्न प्रकार से दिया है। भारत के प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने २७ नव० ६२ को ब्रिटिश टेलीविज़न के लिए एक भेंट में कहा था कि चीनी आक्रमण तीन कारणों से हुआ है। पहला, चीन का विस्तारवाद (Expansionism) है, चीन जब कभी शक्तिशाली होता है तो वह अपने साम्राज्य का विस्तार करता है और उन सभी प्रदेशों को अपने शासन में लाने का प्रयत्न करता है, जिन पर उसका कभी शासन रह चुका हो। दूसरा कारण चीन की यह इच्छा है कि वह भारत को लोकतन्त्रात्मक पद्धति से उन्नति करने में सफल न होने दे, इसलिये वह युद्ध द्वारा भारत पर सैनिक तैयारियों का इतना बोझ डाल देना चाहता है कि भारत सफल न हो सके। तीसरा कारण तिब्बत के प्रति हमारी नीति है तथा दलाईलामा को शरण देने के कारण उसे हमसे रोष है। ४ नव० १६६२ को सं० रा० अमेरिका के सुदूरपूर्वी मामलों के सहायक सचिव हैरिमैन ने कहा कि चीनी आक्रमण के कई उद्देश्य प्रतीत होते हैं।[२६] **पहला** उद्देश्य लद्दाख में प्रदेश की प्राप्ति है। **दूसरा** उद्देश्य अपने देश की आर्थिक विफलताओं से उत्पन्न अप्रतिष्ठा को धोना है। **तीसरा** उद्देश्य भारत को बदनाम करना तथा उसके आर्थिक विकास में बाधा डालना तथा कृषि और उद्योगों की उन्नति से उसका ध्यान हटाना है। ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य

२६. हिन्दुस्तान टाइम्स, ७ नवम्बर, १६६२, पृ० ७

वायट (Wyatt) ने कहा था कि चीन इस आक्रमण से एशिया को यह बताना चाहता है कि वह पूर्व का स्वामी तथा रूस से स्वतन्त्र है, युद्ध को अनिवार्य समझने वाले कम्यूनिस्ट जगत् का नेता है।[३०] मध्यपूर्व तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के मामलों के अमेरिकन सहायक सचिव फिलिप्स टैलबोट के मतानुसार चीनी आक्रमण का उद्देश्य उत्तर-पूर्वी सीमान्त प्रदेश में दबाव डालकर लद्दाख में सुविधायें प्राप्त करना था।[३१] स्टैब्बिन्स के मतानुसार ये कारण निम्नलिखित थे—अन्तर्राष्ट्रीय नैराश्य (Frustration), आंतरिक अशान्ति, एशिया में चीन को सर्वोच्च शक्ति बनाने की चिन्ता, भारत को नीचा दिखाने की इच्छा तथा सोवियत यूनियन को परेशान करने की आकांक्षा।[३२]

श्री विद्याप्रकाश दत्त ने चीन द्वारा आक्रमण के मुख्य प्रेरक कारणों का विश्लेषण करते हुए कहा है कि अनेक ब्रिटिश विद्वानों और पत्रकारों के मतानुसार चीनी साम्यवादियों का लक्ष्य लद्दाख की सड़क को सुरक्षित बनाना था और इस हमले से उन्होंने भारत को यह सूचना दे दी[३३] कि इस सड़क पर और हिमालय के विभिन्न प्रदेशों पर उनका अधिकार नई दिल्ली को स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु केवल यही कारण हो, ऐसा नहीं प्रतीत होता। चीन को इसके लिए आक्रमण की आवश्यकता नहीं थी। वह लद्दाख में हमला शुरू होने से पहले अपनी दो सड़कें बना चुका था और यह जानता था कि भारत उसे शीघ्र ही सैनिक दृष्टि से वहां से नहीं हटा सकता। वस्तुतः यह आक्रमण इतने सीमित उद्देश्य के अतिरिक्त कई बहुत बड़े उद्देश्यों के साथ भी हुआ। पेकिंग भारत का ईर्ष्यालु पड़ोसी था, कई कारणों से वह उससे बहुत चिढ़ा हुआ था, वह साम्यवादी पद्धति का परम उपासक था तथा १९५८ से उसने अपने देश के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए एक **लम्बी छलांग** (Big leap) की नीति आरम्भ की थी, उसे यह विश्वास था कि उसकी यह नीति सफल होगी और एशिया के सब देश उस द्वारा दिखाये पथ का अनुसरण करेंगे। इसके विपरीत भारत लोकतन्त्रात्मक रीति से पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा अपनी प्रगति में लगा हुआ था। यह प्रगति मन्द होते हुए भी स्थायी थी। भारत में कृषि एवं उद्योगों का उत्पादन बढ़ रहा था। इस समय दोनों पद्धतियों की प्रतियोगिता चल रही थी। दुर्भाग्यवश चीन अपनी लम्बी छलांग में बुरी तरह असफल हुआ[३४]। इसका एशिया के

---

३०. हिन्दुस्तान टाइम्ज, १९ नव० १९६२, पृ० ७

३१. वही, ३ नवम्बर, १९६२, पृ० ७

३२. स्टैब्बिन्स—दी युनाइटेड स्टेट्स इन वर्ल्ड एफेयर्स, पृ० १८५

३३. करैण्ट हिस्टरी—मार्च १९६३, पृ० १४० तथा १७९

३४. १९५८ में चीन ने अपने कृषि और भारी तथा लघु उद्योगों की एक साथ विलक्षण उन्नति करने के लिए जो योजना बनायी थी, उसे आर्थिक उन्नति के लिए लम्बी छलांग की नीति कहा जाता है। इसमें चीन के देहाती क्षेत्रों को २७,००० कम्यूनों में बांटा गया, इनमें उत्पादन बढ़ाने के लिए भूमि, श्रम और पूंजी को इकट्ठा किया गया, कम्यूनों में राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनात्मक कार्यों को एक कर दिया गया। जनता को यह कहा गया कि वह कठोर श्रम द्वारा उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करे, माओ ने इस समय चीन को नया नारा दिया—'कू च्चान सानन्नियेन, हसिंग फू वान नियेन अर्थात् तीन वर्ष के कठोर परिश्रम से सुख के हजार वर्ष

दूसरे देशों पर बहुत बुरा असर पड़ना स्वाभाविक था। इससे चीन की साम्यवादी पद्धति के स्थान पर भारत के लोकतन्त्रीय योजनाबद्ध तरीके से आगे बढ़ने की श्रेष्ठता प्रतिपादित हो रही थी। चीन के लिए भारत की यह सफलता आन्तरिक दृष्टि से आर्थिक कठिनाइयों के कारण असन्तोष बढ़ाने वाली थी और बाह्य दृष्टि से दूसरे देशों में उसकी प्रतिष्ठा घटाने वाली और उसके नेतृत्व में संदेह प्रकट करने वाली थी। श्री नेहरू अपने देश की सैनिक और आर्थिक शक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक सम्मान प्राप्त कर रहे थे। जब चीनी अपना खून-पसीना बहाकर उन्नति कर रहे थे और सोवियत रूस उन्हें मझधार में छोड़कर अलग हो गया, उस समय भारत चीन के कट्टर शत्रु—सं० रा० अमेरिका से तथा उसके परम मित्र सोवियत रूस से अपनी कृषि और उद्योगों की उन्नति के लिए भारी परिमाण में सहायता प्राप्त कर रहा था। दोनों गुटों से पृथक् रहने वाले भारतीय लोकतन्त्र की राजनीतिक और आर्थिक सफलता चीन के लिए समूचे एशिया में उसके नेतृत्व और प्रभाव के लिए प्रबल चुनौती और खतरा थी। अतः चीन की नीति का यह लक्ष्य हो गया कि वह नेहरू को नीचा दिखाये, भारत की गुटों से अलग रहने की नीति को बदनाम करे, भारत की शक्ति और स्थिति को प्रबल हानि पहुंचाये। "भारत पर चीन का आक्रमण बड़े शान्त और क्रूर विचारों से किया गया, इसके निम्न उद्देश्य थे—हिमालय में पेकिंग की शक्ति और अधिकार को स्थापित करना, भारत की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचाना, नेहरू को नीचा दिखाना, चीन को एशिया में सबसे बड़ी वास्तविक शक्ति सिद्ध करना, चीनी भाइयों के स्थान में 'नेहरू के नेतृत्व में भारतीय प्रतिक्रियावादियों को सहायता करने वाले' ख्रुश्चेव को पाठ पढ़ाना और संसार की शक्तियों को यह सूचना देना कि दुनियां में तब तक शान्ति नहीं रह सकती, जब तक कि चीन को महाशक्ति के रूप में स्वीकार न किया जाय और उससे ऐसा व्यवहार न हो।"[३५]

चीनी आक्रमण के समय सं० रा० अमेरिका में भारत के राजदूत श्री बी० के० नेहरू ने एक टेलीविज़न भेंट में चीनी आक्रमण के निम्नलिखित कारण बताये थे—(१) चीन भारत द्वारा की गई आर्थिक प्रगति से ईर्ष्या रखता था और उसे रोकना चाहता था। इसका सर्वोत्तम उपाय यह था कि उसके साधनों को विकास कार्यों में न लगा कर, प्रतिरक्षा के निरर्थक कार्यों में लगाया जाय। युद्ध छेड़ कर उसने ऐसी स्थिति उत्पन्न की। (२) चीन के पास तेल की कमी है, इस विषय में वह रूस पर निर्भर था। यदि वह हिमालय पार करके आसाम पर अधिकार कर ले तो उसे इस प्रदेश के तेलकूप

प्राप्त करो।' किन्तु तीन वर्ष की समाप्ति पर १९६१ में यह प्रतीत हुआ कि लम्बी छलांग की नीति असफल रही है। कृषि का तथा उद्योगों का उत्पादन बढ़ने के स्थान पर घटने लगा, १९५९ में अन्न का उत्पादन २७०० लाख टन था, १९६० में यह घट कर १६०० लाख टन रह गया। चीन को अपने देश की जनता का पेट भरने के लिए वरमा से चावल तथा कनाडा और आस्ट्रेलिया से गेहूं मंगाने को बाधित होना पड़ा। औद्योगिक क्षेत्र में भी उत्पादन घटने से चीन की आर्थिक कठिनाइयां बढ़ गईं। इनके संक्षिप्त परिचय के लिए देखिये सेमिनार सं० ५० पृ० २८–३१। करैण्ट हिस्टरी सितम्बर १९६२, पृ० १६२–१६७।

३५. करैण्ट हिस्टरी, मार्च १९६३, पृ० १७९

मिल सकते थे। (३) दक्षिण पूर्वी एशिया में तथा दोनों गुटों से पृथक् रहने वाली (Non-aligned) शक्तियों में भारत को प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा के कारण पेकिंग दिल्ली से रुष्ट था। वह इसे सैनिक दृष्टि से पराजित करके संसार को बताना चाहता था कि एशिया का नेता भारत नहीं, किन्तु चीन है। (४) चीन सोवियत रूस द्वारा भारत को दी जाने वाली सहायता से रुष्ट था और वह ऐसी स्थिति पैदा करके रूस को खुल्लम-खुल्ला उसका पक्ष लेने के लिए तथा भारत की सहायता न करने के लिए बाधित करना चाहता था।

चीनी आक्रमण के उद्देश्यों का सबसे विशद विश्लेषण चीनी मामलों के विशेषज्ञ आक्सफोर्ड के सुदूरपूर्व अध्ययन केन्द्र (Centre For Far Eastern Studies) के संचालक श्री जी० एफ० हडसन ने किया है।[३६] उनके मतानुसार इस समय जागृत एवं प्रबुद्ध एशिया के नेतृत्व के लिए संघर्ष है। रूस एशिया में पश्चिमी देश समझा जाता है, अतः उसका एशिया का नेता बनना संभव नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध तक जापान एशिया का नेता बन रहा था, किन्तु उसमें पराजित होने के बाद उसके नेतृत्व की संभावना धूमिल हो गयी है, यद्यपि वह औद्योगिक विकास में एशिया के अन्य सभी देशों से आगे बढ़ा हुआ है। अतः एशिया के नेतृत्व के लिए दो ही देश—चीन और भारत रह जाते हैं। दोनों पश्चिम के साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के कट्टर विरोधी हैं, एशिया के देशों की स्वतन्त्रता के प्रबल पोषक हैं। यह समानता होने पर भी दोनों की विचार-धारा में मौलिक मतभेद है। चीन साम्यवाद का उपासक है, भारत लोकतन्त्र का भक्त है। चीन ने सोवियत संघ की समग्राधिकारवादी राजनीतिक पद्धति (Totalitarian Political System) को ग्रहण किया है, भारत पश्चिमी देशों की राजनीतिक लोकतन्त्र-पद्धति, वैयक्तिक स्वतन्त्रता और कानून के शासन (Rule of Law) का समर्थक और अनुयायी है। भारत अपनी आर्थिक उन्नति लोकतन्त्रीय पद्धति की योजनाओं से कर रहा है और चीन लम्बी छलांग की नीति से। यदि चीन की लम्बी छलांग सफल हो जाती तो वह एशिया के सब देशों को अपनी पद्धति की उत्कृष्टता सिद्ध करने में सफल हो जाता। लम्बी छलांग की नीति की विफलता से उसकी प्रतिष्ठा और नेतृत्व को धक्का लगा। इस क्षति को वह भारत के विरुद्ध सैनिक आक्रमण से पूरा कर सकता था क्योंकि उसकी स्थलीय सेना एशिया में सबसे बड़ी है और तिब्बत में इसके प्रयोग में फारमोसा की भांति अमेरिका की ओर से भी उसे कोई खतरा नहीं था। भारत को सैनिक दृष्टि से हराकर वह एशिया में अपनी शक्ति और नेतृत्व की धाक बिठा सकता था, अतः उसने भारत पर आक्रमण किया।

चीन द्वारा युद्ध-विराम के कारण—चीन द्वारा भारत पर आक्रमण जितना रहस्यमय था, उतना ही रहस्यमय उसकी सहसा इस युद्ध को बन्द कर देने की घोषणा थी। उस समय चीन की इस घोषणा ने सबको स्तब्ध कर दिया। युद्ध बन्द कर देने के

---

३६. नैशनल हैरल्ड ३० दिस० १९६२ के मैगजीन सैक्शन में हडसन का लेख–बिहाइण्ड दी हिमालयन वार

कारणों के संबन्ध में बड़ा मतभेद है। फिर भी मोटे तौर से इसके ये कारण समझे जाते हैं—(१) चीन द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफलता। एक महीने के भीतर तवांग, सेला, वालोंग और बोमदिला में भारतीय सेनाओं को बुरी तरह हराने के बाद समूचे एशिया में उसकी उत्कृष्ट सैनिक शक्ति की तथा नेतृत्व की धाक जम गई, भारत की सैनिक निर्बलता सब देशों को स्पष्ट हो गई, भारत बुरी तरह बदनाम हुआ। चीन ने लद्दाख में अपना प्रभुत्व सुदृढ़ कर लिया। अपने दो बड़े उद्देश्य पूरा करने के बाद उसे लड़ाई लम्बी करने में कोई लाभ नहीं था। दूसरा कारण सर्दी का बढ़ना और सैनिकों को सामान पहुंचाने के रास्तों का लम्बा होना था। दिसम्बर-जनवरी की भीषण सर्दी पड़ने से पहले ही चीनी अपने सुरक्षित स्थानों में लौट गये और इसके साथ ही उन्होंने पेकिंग रेडियो से अपने शान्तिप्रेमी होने का ढिंढोरा भी खूब पीटा। आक्रमण के कारण हुई बदनामी को उन्होंने युद्ध-विराम की घोषणा द्वारा धोने का यत्न किया। तीसरा कारण मास्को का दबाव था, सोवियत रूस चीन के आक्रमण को उचित नहीं समझता था। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिये कि १ नव० १९६३ को प्रकाशित साम्यवादी चीनी पत्र पीपल्ज़ डेली ने रूस पर यह आरोप लगाया था कि ख्रुश्चेव ने १९६२ में भारत पर चीनी आक्रमण होने से एक सप्ताह पूर्व चीनी राजदूत को यह आश्वासन दिया था कि वह इस विषय में पेकिंग की सहायता करेगा, किन्तु इसके विपरीत उसने दिस० १९६२ में सुप्रीम सोवियत में भाषण करते हुए चीन की आलोचना की। पीपल्ज़ डेली का यह लेख प्रावदा के १९ सित० १९६३ के उस लेख के उत्तर में था, जिसमें भारत पर आक्रमण के लिए तथा कोलम्बो प्रस्तावों को पूर्ण रूप से स्वीकार न करने के लिए पेकिंग की निन्दा की गयी थी। पीपल्ज़ डेली का यह कहना था कि पहले सोवियत रूस ने उस विवाद में तटस्थता का ढोंग किया और अब वह 'सं० रा० अमेरिका के साम्राज्यवाद के पिट्ठू भारतीय प्रतिक्रियावादियों' का खुल्लमखुल्ला समर्थन कर रहा है।[३७] **चौथा** कारण क्यूबा के अन्तर्राष्ट्रीय संकट (देखिये ऊपर पृ० ३९४) का टल जाना था। चीन का यह विचार था कि यह संकट देर तक चलेगा, इसमें अमेरिका और रूस उलझे रहेंगे और उन्हें भारत की सहायता करने का अवसर नहीं मिल सकेगा। किन्तु इस संकट के शीघ्र ही टल जाने से अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति चीन के अनुकूल नहीं रही और उसे अपना आक्रमण रोकना पड़ा। **पांचवां** कारण सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य पश्चिमी देशों द्वारा तत्काल एवं भारी परिमाण में दी गई सैनिक सहायता थी। चीन का संभवतः यह विचार था कि गुटों से पृथक् रहने की नीति (Nonalignment) के कारण न तो भारत पश्चिमी देशों से सहायता माँगेगा और न ही वे देश उसे सहायता देंगे। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, ज्योंही भारत ने सहायता की प्रार्थना की तो हवाईजहाजों द्वारा रणसामग्री भारत पहुंचाने में मित्रराष्ट्रों ने तनिक भी विलम्ब नहीं किया। इस सहायता के कारण भारत को पराभूत करना सुगम नहीं था अतः चीन ने युद्ध बन्द करना उचित

---

३७. टाइम्ज़ ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, ३ नव० १९६३, पृ० १

समझा।[३८] छठा कारण भारतीय जनता द्वारा एक होकर सुदृढ़ एवं संगठित रूप से चीनी आक्रमण का प्रतिरोध करना था। चीनी आक्रमण से पहले भारत में अनेक साम्प्रदायिक और भाषा संबन्धी विवाद चल रहे थे, चीनी इनका लाभ उठाना चाहते थे।[३९] परन्तु जब देश पर यह विश्वासघातपूर्ण तथा बर्बर आक्रमण हुआ तो सारे देश ने एक स्वर से, भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी तक ने इसका विरोध किया। देश की यह एकता चीन के लिए विस्मयजनक थी और इसने भी उसे पीछे हटने को बाध्य किया। **सातवां** कारण विश्व के लोकमत का इस विषय में चीन विरोधी होना था। संसार के लगभग सभी देशों ने भारत पर चीन के वर्बर आक्रमण की घोर निन्दा की। चीन का समर्थन केवल अल्बानिया, उत्तरी कोरिया तथा उत्तरी वियतनाम ने किया। युद्धविराम से चीन ने आक्रान्ता होने की कलंककालिमा को धोने का प्रयास किया। **आठवां** कारण ताइवान के राष्ट्रवादी चीन से आक्रमण की संभावना थी। **नवां** कारण चीन में अनाज की कमी तथा यह आशंका थी कि इस लड़ाई के लम्बा चलने पर आस्ट्रेलिया तथा कनाडा चीन को गेहूं देना बन्द न कर दें।

चीन के इस आक्रमण ने हमारे लिए अनेक नवीन समस्यायें उत्पन्न करदी हैं। इस समय हजारों वर्गमील के भारतीय प्रदेश को चीन बलपूर्वक ले चुका है और हमारा सबसे बड़ा मित्र प्रबल शत्रु का रूप धारण कर चुका है। उसका प्रतिरोध करने के लिए यह वांछनीय है कि हम उसकी विदेशनीति को तथा उसके कूटनीतिक दांवपेंचों को भली-भाँति समझें। चीन के एक पुराने सैनिक विषयों के दार्शनिक सन वू (Sun Wu) ने कहा है—'अपने को जानो तथा अपने शत्रुओं को समझो तो सौ लड़ाइयों में सौ विजयें तुम्हारी होंगी'। इस दृष्टि से चीन की विदेशनीति को समझना हमारे लिए अत्यावश्यक है।

चीन की विदेशनीति (क) मौलिक एवं प्रेरकतत्त्व—चीन की विदेशनीति पर उसके वर्तमान भाग्यविधाताओं विशेषत: माओ की विचारधारा का प्रबल प्रभाव है। चीनी विदेशनीति का **पहला** प्रेरणा स्रोत उसके नेताओं का यह अगाध विश्वास है कि

---

३८. चीन के पुराने सैनिक तत्त्ववेत्ता सन-वू की यह उक्ति इस विषय में स्मरणीय है—यदि तुम्हारी सेनायें शत्रु से दस गुना हों तो उसे घेर लो। यदि पांच गुना हों तो उस पर हमला करो। यदि उनकी संख्या तुम्हारे बराबर हो तथा लड़ने की शक्ति उत्कृष्ट हो तो उससे मुठभेड़ (engage) करो, अन्यथा संघर्ष से बचो। ज्योंही सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन की उत्कृष्ट सैनिक सामग्री भारत को मिलने लगी तो चीन ने पुरानी रणनीति के अनुसार पीछे हटना उचित समझा।

३९. चीनी मामलों के विशेषज्ञ श्री हडसन ने लिखा है कि पेकिंग ने भारतीय राजनीति में बढ़ने वाले तनावों और विवादों को ध्यान से देखा, इस समय नेहरू की विलक्षण सत्ता का उत्तराधिकारी बनने के लिए संघर्ष हो रहा था, दक्षिण में (द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम) तामिल प्रदेश के पृथक् होने की मांग कर रहा था, पाकिस्तान से भारत के झगड़े सुलझे नहीं थे, नैपाल से विवाद चल रहा था, भूटान और सिक्किम का रुख भी संदिग्ध था। चीन को यह आशा था कि भारत की सैनिक पराजय से ये सब झगड़े बढ़ जायेंगे और गड़बड़ मच जायगी (नैशनल हैरल्ड, ३० दिसम्बर, १९६२ के अंक में हडसन का लेख— बिहाइण्ड दी हिमालयन वार, पृ० ४)।

चीन विश्व की महाशक्ति है और उसे महाशक्ति की भूमिका अदा करनी है। प्रधान मंत्री श्री चौ एन लाई ने यह दावा किया है कि किसी भी महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विवाद के समाधान में चीन की बात अवश्य सुनी जानी चाहिये। चीनी विचारधारा के अनुसार 'किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय, विशेषतः एशिया से सम्बन्ध रखने वाली समस्या का समाधान तब तक सम्भव नहीं है, जब तक चीनी जन गणराज्य इसमें भाग न ले। साम्यवादी क्रान्ति की सफलता के बाद चीनियों ने सदैव यह घोषणा की है कि उनकी क्रान्ति सर्वोत्तम है, एशिया के अविकसित देशों की 'उपनिवेशवाद के शिकंजे में फंसी हुई जनता के लिए आदर्श उदाहरण है और उन्हें 'चीनी जनता द्वारा अपनाये मार्ग' का अनुसरण करते हुए अपनी मुक्ति करनी चाहिये। चीन एशिया के लिए मनरो सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, इसके अनुसार सब पश्चिमी शक्तियों को एशिया से हट जाना चाहिए, इसके मामलों में हस्तक्षेप का उन्हें कोई अधिकार नहीं है, एशियावासियों को अपनी सब समस्याओं का समाधान चीन के नेतृत्व में स्वयमेव करना चाहिये। चीन को अपनी विशाल जनसंख्या, भूप्रदेश एवं अपरिमित साधन सम्पत्ति के आधार पर महाशक्ति का दर्जा बनाये रखना है और एशिया का नेतृत्व करना है।

दूसरा तत्त्व परम्परागत प्रवृत्तियों का तथा आधुनिक राष्ट्रवाद का है। चीनी सभ्यता और इतिहास कई हजार वर्ष पुराना है, पिछले दो हजार वर्षों में चीन ने शक्तिशाली होने पर सुदूरपूर्व, मध्य एशिया और दक्षिणपूर्वी एशिया में विशाल साम्राज्य स्थापित किये थे। साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी साम्यवादी क्रान्तिकारी अपने इतिहास की विस्तारवादी परम्परा को, चंगेजखां और कुब्लैखां आदि की विश्वविजयों को नहीं भूले। प्राचीन चीनी अपने देश को सभ्यता का केन्द्र समझते थे और इसीलिए उसे सभ्य जगत् का मध्य बिन्दु मानते थे, इस कारण उनकी दृष्टि में वे उन्नत एवं उत्कृष्ट तथा अन्य जातियां वर्बर थीं। १६वीं शती में योरोप की महाशक्तियों ने उन्हें परास्त कर, उनसे जबर्दस्ती अनेक अपमानजनक संधियां स्वीकार कराके तथा उनकी मातृभूमि पर अपने साम्राज्य और अड्डे स्थापित करके उनकी इस भावना को गहरी ठेस पहुंचायी थी। राष्ट्रीयता के रूप में चीन में इसकी प्रबल प्रतिक्रिया हुई और साम्यवादी शासन इस राष्ट्रीय अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए चीन को विश्व की महान् शक्ति बनाकर पश्चिमी शक्तियों तथा जापान के प्रभाव, प्रभुत्व और वर्चस्व का समूलोन्मूलन करना चाहता है। साम्यवादी क्रान्तिकारियों ने जापान और पश्चिम के विरुद्ध जनता की राष्ट्रीयभावना को जागृत करके चीन को आत्म-सम्मान तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त करायी है। माओत्से तुंग ने १६४६ में घोषणा की थी—"हमारा राष्ट्र अब कभी अपमानित राष्ट्र नहीं होगा, हम उठ खड़े हुए हैं।"

विदेशनीति का तीसरा प्रेरक तत्त्व साम्यवादी विचारधारा है। पेकिंग के नेताओं का यह दृढ़ विश्वास है कि इस समय साम्यवाद और पूंजीवाद में विश्वव्यापी क्रान्तिकारी संघर्ष चल रहा है, इसमें अन्तिम विजय साम्यवाद की होगी, इसे शीघ्र लाने के लिए उनका यह पवित्र कर्तव्य है कि वे साम्यवाद और लेनिनवाद के सिद्धान्तों का प्रसार करें, विश्व की क्रान्ति को सफल बनाने का प्रयत्न करें और साम्यवादी शासन

के राजनीतिक क्षेत्र को बढ़ाने का प्रयास करें। यद्यपि १९५४ के बाद चौ एन लाई ने चीन के नये साम्राज्यवाद से आतंकित देशों को आश्वस्त करने के लिए यह कहा था कि वे अपनी क्रान्ति को दूसरे देशों में निर्यात की जाने वाली वस्तु नहीं समझते। किन्तु वास्तव में उनका चरमलक्ष्य सब देशों में इसका प्रसार करना है और इसके लिए वे सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग वांछनीय समझते हैं।

चीन के साम्यवाद में कई विचारधाराओं का संगम हुआ है। **पहली विचारधारा** मार्क्स की है, मार्क्स का चीन में कम अध्ययन होने पर भी उसकी निम्नलिखित मान्यताओं को मौलिक महत्त्व दिया जाता है—द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद (Dialectical and Historical Materialism), विश्वव्यापी वर्गयुद्ध, सब देशों के सर्वहारा वर्ग द्वारा म्रियमाण पूंजीवाद का अनिवार्य अन्त। **दूसरी धारा** लेनिनवाद की है। इसे चीन में मार्क्सवाद से अधिक महत्त्व दिया जाता है, इसके निम्न सिद्धान्तों का आदर किया जाता है—(१) साम्राज्यवाद क्षीण होने वाले पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था है। (२) पूंजीवादी देशों के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष में उपनिवेशवादी (Colonialism) तथा अर्धउपनिवेशवादी (Semicolonial) देशों की महत्ता। (३) विश्वक्रान्ति में साम्राज्यवाद के विरोध की महत्ता (४) सर्वहारा (Proletariat) वर्ग क्रान्ति का नेतृत्व करने वाले उस दल को समझना, जो अनुशासित अभिजात (elite) तथा लोकतन्त्रीय केन्द्रीय (Democratic Centralist) हो। (५) कृषक वर्ग की क्रान्तिकारी महत्ता को स्वीकार करना। (६) यह विचार स्वीकार करना कि कम विकसित देशों में क्रान्ति समाजवादी दशा में प्रवेश करने से पहले बूर्जुआ लोकतन्त्रीय दशा में से होकर गुज़रती है और यह दशा प्रधान रूप से साम्राज्यवाद-विरोधी होती है। **तीसरी विचारधारा** स्तालिनवाद की है। चीनी साम्यवादी इसके निम्न सिद्धान्त स्वीकार करते हैं—(१) राज्य की शक्ति का समग्राधिकारवादी (Totalitarian) संगठन, (२) राज्य द्वारा संचालित आर्थिक विकास, (३) राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के साथ व्यवहार की स्तालिन द्वारा प्रतिपादित नीति।

चीनी साम्यवाद का निर्माण करने वाली **चौथी** और सबसे महत्त्वपूर्ण विचारधारा माओत्से तुंग के विचार अथवा **माओवाद** है। चीनियों का यह दावा है कि माओ ने मार्क्सवाद और लेनिनवाद को अपने नवीन विचारों के योगदान से समृद्ध किया। माओवाद के कुछ नये विचार ये बताये जाते हैं—(१) क्रान्ति का दो अवस्थाओं में से गुजरते हुए पूरा होना, पहली अवस्था बूर्जुआ लोकतन्त्र की है और दूसरी समाजवाद की (२) संक्रमण काल में 'नये लोकतन्त्र' का विचार। (३) 'मजदूर-किसानों' की अपेक्षा सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में कृषक वर्ग के समर्थन को महत्त्व दिया जाना। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति के अग्रणी कारखानों में काम करने वाले मजदूर थे, चीनी क्रान्ति की सफलता किसानों के सहयोग से हुई, अतः माओ ने कृषकों को अधिक महत्त्व दिया है। (४) साम्राज्यवाद के विरोध में चार वर्गों—राष्ट्रीय पूंजीपतियों, दुकानदार आदि छोटे पूंजीपतियों, मजदूरों और किसानों का संयुक्त मोर्चा बनाने की आवश्यकता (५) क्रान्ति को सफल बनाने तथा सशस्त्र संघर्ष करने के लिए सुदृढ़ प्रादेशिक आधार पर क्रान्तिकारी सेना के

निर्माण की आवश्यकता।

इन नये विचारों के अतिरिक्त माओवाद के कुछ मौलिक सिद्धान्त भी हैं।

पहला शक्ति का दर्शन (Philosophy of Power) है। चीनी शक्ति के उपासक हैं और वे इसे विभिन्न सैनिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिणाम समझते हैं। इनमें से वे मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। उनका यह विचार है कि यदि वे मनुष्यों के मनों को बदलने में सफल हों तो सामाजिक शक्तियों का नियन्त्रण और संचालन उनके हाथ में आ सकता है। यह सिद्धान्त मार्क्सवाद के इस मौलिक मन्तव्य के प्रतिकूल है कि समाज मनुष्यों के विचारों का निर्माण करता है, माओ का मत है कि विचार समाज का निर्माण करते हैं। विचारों के बाद माओ सैनिक शक्ति को महत्त्व देता है। वह सैनिक और राजनीतिक शक्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध समझता है। इस विषय में १९३८ में कही गयी उसकी यह उक्ति प्रसिद्ध है—"राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली में से उत्पन्न होती है, बन्दूक से कोई भी वस्तु उत्पन्न की जा सकती है।" चीनी साम्यवादियों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शक्ति का प्रयोग करने में कोई नैतिक झिझक या बाधा नहीं है। इसीलिये वे युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास रखते हैं और उन्हें अणुबम के प्रयोग में कोई संकोच नहीं है। आगे यह बताया जायगा कि इस समय रूस और चीन का एक बड़ा सैद्धान्तिक मतभेद यह है कि रूस मानव जाति का विध्वंस करने वाले अणुबमों का प्रयोग उचित नहीं समझता, उसने सं० रा० अमेरिका के साथ अणुपरीक्षण प्रतिबन्ध संधि पर हस्ताक्षर किये हैं (देखिये ऊपर पृ० ३९७–४००) किन्तु चीन ऐसे परीक्षणों का समर्थक है। चीन शान्ति की नीति का उसी समय तक समर्थक है जब तक यह उसे अनेक मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक लाभ प्रदान करे, अन्यथा वह अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए युद्ध करना आवश्यक मानता है। माओ ने १९३६ में लिखा था—'वर्गयुक्त समाज के आरम्भ से ही विकास की एक निश्चित दशा में वर्गों, राष्ट्रों, राज्यों अथवा राजनीतिक समूहों में विरोधों के समाधान के लिए युद्ध संघर्ष का सबसे उच्चतम रूप है। इतिहास में दो ही प्रकार के युद्ध हैं—क्रान्तिकारी और क्रान्तिविरोधी। हम पहले के समर्थक और दूसरे के विरोधी हैं। केवल क्रान्तिकारी युद्ध ही पवित्र है। हम पवित्र राष्ट्रीय क्रान्तिकारी युद्धों के तथा पवित्र वर्ग-क्रान्तिकारी युद्धों के समर्थक हैं। चीनियों का यह विश्वास है कि एक नया विश्व-युद्ध 'साम्राज्यवादी शिविर का पूर्ण विध्वंस तथा समूची पूंजीवाद व्यवस्था का पूर्ण विनाश करने वाला होगा। अतः वे युद्ध एवं शक्ति के प्रयोग आवश्यक समझते हैं, नीति के रूप में वे भले ही इसका प्रयोग न करें, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उन्हें इसके उपयोग में कोई संकोच नहीं है। भारत के विरुद्ध पेकिंग ने इसी आधार पर अक्टूबर १९६२ में शक्ति का प्रयोग किया।

दूसरा मन्तव्य समूचे विश्व को दो वर्गों में विभक्त करना है। लिउ शाओ ची ने १९४८ में लिखा था—'आज संसार दो परस्पर विरोधी शिविरों में बंटा हुआ है। एक ओर विश्व के साम्राज्यवादियों का शिविर है, इसमें अमेरिकन साम्राज्यवादी उनके साथी और संसार के सब देशों के प्रतिक्रियावादी व्यक्ति हैं। दूसरी ओर संसार का

साम्राज्यवाद विरोधी शिविर है, इसमें सोवियत संघ पूर्वी योरोप के नए लोकतन्त्र चीन, दक्षिणपूर्वी एशिया, यूनान के मुक्ति आन्दोलन तथा संसार के सब देशों की जनता की लोकतन्त्रीय शक्तियां सम्मिलित हैं। अमेरिकन साम्राज्यवाद संसार की सब प्रतिगामी शक्तियों का अड्डा और सोवियत संघ सब अग्रगामी शक्तियों का अड्डा बना हुआ है।" इस दृष्टिकोण के अनुसार संसार में तटस्थ राष्ट्रों या दलों का कोई स्थान नहीं। रूस और चीन का साथ न देने वाले सभी भाड़े के टट्टू (Hirelings) पागल कुत्ते (Raving dogs) तथा साम्राज्यवादी हैं। ऐसे सब दलों और सरकारों के स्थान पर साम्यवादी सरकारें बननी चाहियें। १९५४ तक चीन दोनों पक्षों की मध्यवर्त्ती स्थिति नहीं मानता था। १९४८ में लिउ शाओ ची ने बड़ी स्पष्टतापूर्वक कहा था कि **तटस्थ रहना असम्भव** है। १९४९ में माओ ने घोषणा की कि तटस्थता धोखे की टट्टी है और तीसरे मार्ग की कोई सत्ता नहीं है।[४०] इस दृष्टिकोण के अनुसार भारत जैसे दोनों गुटों से अलग रहने वाले देशों की नीति को चीन ठीक नहीं समझता। १९५४ से १९५८ तक उसने नीति के रूप में इस सिद्धान्त को कुछ समय तक स्वीकार किया, किन्तु भारत पर आक्रमण यह सूचित करता है कि वह अपने दो पक्षों के मौलिक मन्तव्य में आस्था रखता है और इसीलिये पेकिंग रेडियो और चीनी समाचार-पत्र ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध आजीवन संघर्ष करने वाले श्री जवाहरलाल नेहरू जैसे भारतीय नेताओं को साम्राज्यवादी और प्रतिगामी कहने में कोई संकोच नहीं करते।

तीसरा मन्तव्य क्रान्तिकारी परिवर्तन और लचकीली नीति का है। माओ यह मानता है कि विश्व में निरन्तर क्रान्तिकारी संघर्ष चल रहा है, सभी कुछ चंचल और परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन में चीन भी स्थिर नहीं रह सकता, उसकी कोई स्थायी नीति नहीं हो सकती। उसे सदैव उन परिवर्तनों तथा क्रान्तियों का समर्थन करना है जो उसकी शक्ति तथा साम्यवादी क्रान्ति को अग्रसर करने वाली हों। उन्हें किसी भी समस्या के समाधान में दिलचस्पी नहीं है, उन्हें केवल यही देखना है कि वे इस परिस्थिति का लाभ कैसे उठा सकते हैं। अतः चीनी सरकार की कोई स्थायी विदेशनीति नहीं है, उस में बहुत लचकीलापन है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण उसका पाकिस्तान के साथ गठबंधन है। पाकिस्तान साम्यवादविरोधी सीटो सैन्टो संधि संगठनों का सदस्य है। चीन उसके विरुद्ध विषवमन करता रहा है, किन्तु भारत पर आक्रमण करने के बाद उसने भारत के कट्टर शत्रु पाकिस्तान को अपना मित्र बनाने में कोई संकोच नहीं किया।

माओ ने विदेशनीति के लचकीलेपन पर बड़ा बल दिया है, वह क्रान्ति को एक ऐसा लम्बा संघर्ष समझता है, जिसमें आगे बढ़ने के साथ आवश्यकता पड़ने पर पीछे भी हटा जाता है। माओ ने छापामार युद्धनीति की व्याख्या करते हुए जो संक्षिप्त नियम प्रतिपादित किया था, वह साम्यवादी चीन की विदेशनीति के सम्बन्ध में भी पूर्ण रूप से सत्य है—"शत्रु आगे बढ़ता है, हम पीछे हटते हैं। शत्रु खाई खोदता है, हम उसे परेशान करते हैं। वह थकता है, हम उस पर हमला करते हैं। वह पीछे हटता है, हम

---

४०. बार्नेट—कम्युनिस्ट चायना एण्ड एशिया

उसका पीछा करते हैं"।[४१] माओ ने यह भी लिखा है—"किसी घटना या विकास की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग इस प्रकार की बातें हैं—हमला करने के लिए रक्षा करना, आगे बढ़ने के लिए पीछे हटना, सामने की स्थिति (frontal position) लेने के लिए घेरा डालने (flanking) की स्थिति ग्रहण करना, सीधा जाने के लिए टेढ़ा-मेढ़ा चलना।" पीछे हटने की आवश्यकता और औचित्य को उसने घूंसेबाज़ी के उदाहरण से स्पष्ट करते हुए लिखा है—"हम सब यह जानते हैं कि घूंसेबाज़ी के मुकाबले में बुद्धिमान घूंसेबाज़ प्रायः एक कदम पीछे हट जाता है, जबकि उसका मूर्ख विरोधी पहली बार में अपनी सारी शक्ति और चतुराई लगा देता है। प्रायः इसका परिणाम यह होता है कि पीछे हटने वाला आगे बढ़ने वाले को परास्त कर देता है।"[४२] अतः चीनी जब पीछे हटते हैं तो उसका लक्ष्य आगे बढ़ना होता है। नवम्बर १९६२ में जब चीनी फौजें भारतीय सेनाओं को हराने के बाद पीछे हटीं तो उनका लक्ष्य आगे बढ़ना और अपनी विजय को अन्य साधनों से स्थायी बनाना था।

विदेशनीति के लक्ष्य—चीन की विदेशनीति के लक्ष्यों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) राष्ट्रीय हित या स्वार्थ (२) विश्वव्यापी क्रान्ति का दूरवर्ती लक्ष्य। राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति को चीनी अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं, इस विषय में वे अधिक उग्र, अधीर और समझौता न करने वाले हैं। वे इनके लिए सैनिक शक्ति के प्रयोग तक के सभी साधनों का उपयोग करते हैं, किन्तु दूसरे देशों में साम्यवादी क्रान्तियां कराने के लिए वे इतनी दूर तक जाने को तैयार नहीं हैं।

पेकिंग का **पहला राष्ट्रीय हित** अपने देश के पुराने सभी प्रदेशों को साम्यवादी शासन में लाना है। जब यह शासन स्थापित हुआ, उस समय तिब्बत, फारमोसा (ताइवान) पेस्काडोर्स आदि के टापू, हांगकांग, मकाओ, पेकिंग के अधिकार में नहीं थे, चीनी भारत और बर्मा के सीमान्त प्रदेशों के अनेक भागों तथा बाहरी मंगोलिया पर दावा कर रहे थे। माओत्से तुंग ने १९३० में कहा था कि साम्राज्यवादी शक्तियों ने चीन के वशवर्ती अनेक राज्यों तथा उसके प्रदेशों को उससे छीन लिया है। इनमें उसने निम्न स्थानों का वर्णन किया—कोरिया, ताइवान, र्‍यूक्यू द्वीपसमूह (ओकीनावा) पेस्काडोर्स, पोर्ट आर्थर, बर्मा, भूटान, नेपाल, हांगकांग, अन्नाम (उत्तरी वियतनाम) तथा मकाओ। उसके मत में बाहरी मंगोलिया भी चीन को लौटा दिया जाना चाहिए। इन सब प्रदेशों को चीनी पुनः प्राप्त करना चाहते हैं।

१९४९ में साम्यवादी क्रान्ति सफल होने के बाद चीन ने तिब्बत पर हमला किया और इस विषय में उसके प्रबल विरोध की अवहेलना की। भारत को अंग्रेजों द्वारा तिब्बत के साथ की गई संधियों के अनुसार कुछ अधिकार प्राप्त थे। चीन ने इसकी

---

४१. बार्नेट—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७५

४२. भारतीय नीति के सुप्रसिद्ध ग्रंथ पंचतंत्र में इसे मेढ़े और शेर के उदाहरणों से स्पष्ट करते हुए कहा गया है—यदपसरति मेषः कारणं तत्प्रहर्तुं, मृगपतिरपि कोपात् संकुचत्युत्पतिष्णुः। हृदयनिहितवैराः गूढमन्त्रोपचाराः, किमपि विगणयन्तो बुद्धिमन्तः सहन्ते॥

कोई परवाह नहीं की। ताइवान और पेस्काडोर्स टापुओं की रक्षा यदि अमेरिका का बेड़ा न कर रहा हो तथा अमेरिका उन पर आक्रमण होने पर युद्ध छेड़ने की धमकी न दे तो चीन इन्हें लेने में कभी भी संकोच न करे। चीन ने भारत का लद्दाख का सीमान्त प्रदेश लेने के लिए अक्टूबर १९६२ में हमारे देश पर आक्रमण इसलिये किया कि उसे हिमालय के इस स्थलीय प्रदेश में अमेरिकी बेड़े जैसी कोई बाधा नहीं थी। हांगकांग और मकाओ में वह इंगलैण्ड और पुर्तगाल के विरुद्ध किसी समय संकट खड़ा कर सकता है, किन्तु अमेरिका के डर से ऐसा नहीं कर रहा। रूस के साथ सैद्धान्तिक संघर्ष बढ़ जाने पर उसने बाहरी मंगोलिया तथा अन्य कई सोवियत प्रदेशों पर दावा करना शुरू किया है।

चीन का **दूसरा मौलिक राष्ट्रीय हित** राष्ट्रीय सुरक्षा का है। इस दृष्टि से साम्यवादी चीन एशिया से सभी पश्चिमी शक्तियों को निकालना चाहता है और जापान या भारत जैसे किसी अन्य एशियाई राष्ट्र को सुदृढ़ सैनिक शक्ति नहीं बनने देना चाहता। उत्तरी कोरिया तथा उत्तरी वियतनाम को वह अपने देश की रक्षा के लिए बहुत आवश्यक समझता है और यहां किसी विदेशी शक्ति का अड्डा नहीं बनने देना चाहता। अतः १९५० में जब सं०रा० संघ की सेनाओं ने ३८वीं अक्षांश रेखा पार की तो पेकिंग उत्तरी कोरिया के युद्ध में कूद पड़ा।

चीनी विदेशनीति के साधन—चीन अपनी विदेशनीति के उपर्युक्त उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को पूरा करने के लिए अनेक प्रकार के साधनों (Instruments of Policy) का प्रयोग करता है। इनमें प्रमुख सैनिक शक्ति का दबाव, राजनीतिक कार्य, कूटनीति, प्रचारात्मक मनोवैज्ञानिक युद्ध, आर्थिक प्रतियोगिता और मूलोच्छेद (subversion) है। इनमें से सभी साधनों का प्रयोग एक साथ संभव नहीं है। विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार इन साधनों का उपयोग किया जाता है। इन साधनों के प्रयोग के समय चीन को अपने देश की आन्तरिक परिस्थिति को भी ध्यान में रखना पड़ता है, इसे दृष्टि में रखते हुए ही वह अपने प्रादेशिक दावों, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा एशिया में चीनी तथा साम्यवादी प्रभाव की वृद्धि के लक्ष्यों को पूरा करता है। आगे किये जाने वाले विदेशनीति के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि आरम्भ में १९४९ से १९५४ तक चीन ने सैनिक दबाव और सैनिक शक्ति के प्रयोग की उग्र नीति (Hard Line) का अवलम्बन किया, इसके बाद कुछ समय तक उसने शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और आर्थिक प्रतियोगिता की मृदु नीति (Soft Line) अपनाई। यह स्थिति १९५५ से १९५८ तक रही। १९५९ से उसने पुनः उग्र एवं कठोर नीति का अवलम्बन किया, इसका सर्वोत्तम उदाहरण भारत पर सैनिक दबाव का बढ़ाना तथा सशस्त्र आक्रमण करना था।

चीन की विदेशनीति के साधनों में सैनिक शक्ति और मूलोच्छेद (Subversion) महत्त्वपूर्ण हैं। यहां इन दोनों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

(क) सैनिक शक्ति—एशिया में चीन का प्रभाव बढ़ने का एक बड़ा कारण उसकी प्रबल सैनिक शक्ति है। पहले यह बताया जा चुका है कि माओ समूची राजनीतिक शक्ति का मूलस्रोत सैनिक शक्ति समझता है, चीन के वर्तमान साम्यवादी नेताओं

के जीवन का अधिकांश एवं सर्वोत्तम भाग सैनिक संघर्ष में बीता है, अतः उन्होंने इसकी महत्ता समझते हुए इसे शक्तिशाली बनाने में तथा अपने समूचे देश को सैनिक शिविर बनाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी, इसीलिए वह इस समय पूर्वी और दक्षिण पूर्वी एशिया की सबसे बड़ी सैनिक शक्ति है और इस प्रदेश में सैनिक सन्तुलन बनाये रखने के लिए सं० रा० अमेरिका अपने मित्रों को प्रबल सैनिक सहायता दे रहा है, किन्तु चीन को सोवियत संघ का समर्थन प्राप्त है।

वायु एवं नौसेना बहुत शक्तिशाली न होते हुए भी चीन की सैनिक शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत उसकी विशाल एवं सुशिक्षित स्थल सेना है। इस समय उसकी जन-मुक्ति सेना (People's Liberation Army) के कुल सैनिकों की संख्या २५ लाख आंकी जाती है। उसकी स्थल सेनाओं में १० से १२ हजार की संख्या वाले १५० डिवीजन हैं। इस मुक्ति सेना के अतिरिक्त ५ लाख सैनिक आन्तरिक सुरक्षा तथा सीमाओं की रक्षा के कार्यों में लगे हुए हैं। इन नियमित सेनाओं के अतिरिक्त वहां आपत्काल में बुलाई जा सकने वाली नागरिक सेना (Militia) की संख्या बहुत अधिक है। १९५५ से चीन में १८ वर्ष की आयु वाले नवयुवकों के लिए अनिवार्य सैनिक सेवा (Conscription) का नियम बना दिया गया है। यह अनुमान किया जाता है कि संकट पड़ने पर चीन को १५ से ४९ वर्ष की आयु वाले १६ करोड़ व्यक्तियों में से सैनिक कार्यों के लिए आठ करोड़ व्यक्ति प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकार सुरक्षित सेना, (Reserves) नागरिक सेना (Militia) तथा नियमित सेना की संख्या वहां ८ करोड़ ३० लाख से भी अधिक है। सैनिक जनबल की दृष्टि से विश्व का कोई भी देश चीन का मुकाबला नहीं कर सकता, चीन का आक्रमण होने पर भारत की सेना केवल पांच लाख थी। चीन की सेना कोरिया के युद्ध में पड़कर आधुनिक रणकला से परिचित हो चुकी है, उसके हथियार उच्चकोटि के हैं, रणकला का प्रशिक्षण भी बहुत बढ़िया है और १९६२ में भारत पर आक्रमण में उसकी स्थल सेना के संगठन, नेतृत्व, रणनीति और हथियारों की उत्कृष्टता भलीभांति सिद्ध हो चुकी है।

चीन के पास अभी तक अणुबम नहीं है, वह इसके परीक्षण कर रहा है और अगले कुछ वर्षों में जब वह इसे बनाने में समर्थ हो जायगा तो उसकी सेना विश्व के किसी भी राष्ट्र से टक्कर लेने में समर्थ हो जायगी। किन्तु यदि वह अणुबम न भी बना पाये तो भी उसे इसकी विशेष चिन्ता नहीं है। इस समय संसार के सभी महादेश अणुबम की विभीषिका से संत्रस्त हैं, किन्तु अपनी विशाल जनसंख्या के मद में चीन को इसकी कोई चिन्ता या भय नहीं है। चीन में भारत के भूतपूर्व राजदूत श्री पणिक्कर ने लिखा है[४३] कि जब कोरिया के युद्ध से अलग रखने के लिए चीन को अमेरिका की ओर से अणुबम के प्रयोग की धमकी दी जा रही थी तो उन्हें चीन के एक उच्च सेनापति ने कहा था—"अमेरिकन हम पर बम गिरा सकते हैं, हमारे उद्योग नष्ट कर सकते हैं, किन्तु हमें स्थल पर नहीं हरा सकते। हमने सब हिसाब लगा लिया है। वे हम पर

---

४३. के० एम० पणिक्कर—इन टू चायनाज़, पृ० १०८

अणुबम भी गिरा सकते हैं। किन्तु इससे क्या होगा ? वे हमारे कुछ लाख आदमी मार सकते हैं। बलिदान के बिना राष्ट्र की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकती······चीन खेतों पर रहता है ? अणुबम वहाँ क्या करेंगे ?" चीन ने तिब्बत, कोरिया तथा भारत में अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग करके विदेशनीति के लक्ष्यों को पूरा करने का प्रयत्न किया है।

(२) **मूलोच्छेद या खोखला करना** (Subversion)—सैनिक शक्ति के अतिरिक्त चीनियों का अपने उद्देश्यों की प्राप्ति का दूसरा साधन मूलोच्छेद है। मूलोच्छेद का अर्थ है कि प्रच्छन्न या गुप्त रूप से अन्दर ही अन्दर विरोधी देश की शक्ति की जड़ों को खोखला करना। यह सैनिक और राजनीतिक दो प्रकार का है। सैनिक मूलोच्छेद का अर्थ है कि विरोधी देश की आन्तरिक कलह का लाभ उठाते हुए उस देश की सरकार का विरोध करने वाले दल को शस्त्र आदि की सैनिक सहायता देकर उसकी जड़ें खोखली करना, जैसे लाओस में चीन वहां की सरकार के विरोधी पाथेट लाओ दल को लड़ने के लिए सैनिक सहायता दे रहा है।

राजनीतिक मूलोच्छेद (Political subversion) सैनिक मूलोच्छेद से अधिक सूक्ष्म, शक्तिशाली और प्रभावकारी है। कम्यूनिस्टों का उद्देश्य किसी प्रकार से क्रान्ति करके सत्ता हस्तगत करना है, इसमें राजनीतिक मूलोच्छेद बड़ा प्रबल अस्त्र है। इसे कई बार **जनता की कूटनीति** (People's Diplomacy) का हथियार भी कहा जाता है। इसके मुख्य तत्त्व-प्रचारात्मक साधन, सहानुभूति रखने वाले संगठनों का निर्माण, सांस्कृतिक शिष्टमंडल (Cultural delegations), कम्यूनिस्ट पार्टियां, असन्तुष्ट नेता और आर्थिक सहायता है। इन सब साधनों का प्रयोग ऐसी कुशलता से किया जाता है कि विदेशों में साम्यवाद का विरोध करने वाली सरकारों की जड़ें भीतर ही भीतर खोखली हो जाएं, वहां साम्यवाद एवं साम्यवादी चीन के अनुकूल वातावरण उत्पन्न करके साम्यवादी शासन स्थापित किया जा सके।

मूलोच्छेद का **पहला** उपाय प्रचारात्मक साधन रेडियो, समाचार-पत्र, साहित्य का व्यापक प्रयोग है। इसका उद्देश्य जनमानस को ऐसा बदल देना है कि वह साम्यवादी चीन की बात को ठीक समझने लगे। यह कार्य रेडियो, सचित्र पत्रिकाओं और पुस्तिकाओं के व्यापक एवं निःशुल्क वितरण से होता है। उदाहरणार्थ चीनी आक्रमण के दिनों में चीन ने पेकिंग रेडियो से अंग्रेजी, हिन्दी तथा एशिया की विभिन्न भाषाओं के माध्यम से यह प्रबल प्रचार किया कि भारत चीन पर हमला कर रहा है, न कि चीन भारत पर। इस प्रचार का दूसरे देशों पर इतना असर हुआ कि भारत को तटस्थ देशों को अपना पक्ष समझाने और बताने में बड़ी कठिनाई हुई और इसके लिए यहां से विशेष प्रतिनिधि मंडल भेजने पड़े। पेकिंग का विदेशी भाषा प्रेस जापानी, वियतनामी, बर्मी, हिन्दी आदि एशियाई भाषाओं में बड़ा सुन्दर एवं आकर्षक प्रचारात्मक साहित्य छापता है, पीपल्ज चायना और चायना पिक्टोरियल एशिया की प्रधान भाषाओं में छपते हैं और एशियाई देशों में इनका बड़ी उदारता से वितरण होता है। **दूसरा उपाय** चीन से सहानुभूति रखने वाले संगठनों—जैसे शान्ति समितियां (Peace Commi-

ttees), एशिया-अफ्रीका एकता समितियां (Asia African Solidarity Committees), मैत्री संघ (Friendship Societies) का संगठन करना है। **तीसरा** उपाय सांस्कृतिक शिष्टमण्डलों (Cultural delegations) का आदान-प्रदान है। इनमें पेकिंग, भारत तथा गैरकम्यूनिस्ट एशियाई देशों से कलाकारों, संगीतज्ञों, नृत्य मण्डलियों को, वैज्ञानिकों, लेखकों, श्रमिक नेताओं, स्त्रियों तथा युवकों के संगठन के प्रतिनिधियों को, विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के दलों को अपने यहां आमन्त्रित करता है और अपने कलाकारों और लेखकों आदि के दल विदेशों में भेजता है। इन्हें चीन को ऐसे ढंग से दिखाया जाता है और इनका वहां इतना अधिक स्वागत और आतिथ्य किया जाता है कि स्वदेश लौटने पर ये चीन की प्रशंसा और गुणगान करते नहीं थकते। १९५५ से १९५९ तक हमारे देश में ऐसे सांस्कृतिक शिष्टमण्डलों की बाढ़ आ गई थी। चीन से लौटने वाले व्यक्तियों ने चीन की मुक्त कण्ठ से सराहना करते हुए लेख लिखे, व्याख्यान दिये और सारा देश 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के नारों से गूंज उठा : इससे भारत की साधारण जनता में चीन के प्रति अनुरक्ति बढ़ गई। चीन शिष्टमण्डलों की जन कूटनीति (People's Diplomacy) से अपने प्रति सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों के समूह सभी क्षेत्रों में उत्पन्न कर लेता है और इनकी सहायता से विभिन्न देशों में साम्यवादी क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

चौथा उपाय विभिन्न देशों के साम्यवादी दल हैं। ये दल पहले मास्को के प्रभाव में थे, १९४९ से इन पर साम्यवादी चीन का प्रभाव पड़ रहा है, और वह इनका पथ-प्रदर्शन कर रहा है। पेकिंग का प्रभाव उन देशों के साम्यवादी दलों में अधिक है। जिनमें चीनी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। (पृ० ५१५) मलाया और थाईलैंड ऐसे देश हैं। मलाया में साम्यवादी दल की स्थापना चीनी साम्यवादियों ने की और आजकल इसके ९५% से अधिक सदस्य चीनी हैं। कोरिया, वियतनाम, लाओस तथा कम्बोडिया के साम्यवादी दलों में भी चीन का बड़ा प्रभाव है। वियतनाम के होचीमिन्ह ने यद्यपि शिक्षा मास्को में ग्रहण की है, किन्तु इस समय उसे साम्यवादी चीन से ही भारी आर्थिक तथा सैनिक सहायता मिल रही है। किन्तु एशिया के दो बड़े असाम्यवादी देशों—भारत और इंडोनीशिया में पेकिंग की अपेक्षा मास्को का प्रभाव अधिक है। भारत पर चीन का आक्रमण होने के बाद यहां के साम्यवादी दल के पेकिंग के पक्षपाती सदस्यों को बन्दी बना लिया गया और हमले से उत्पन्न परिस्थिति के कारण अब उनका प्रभाव क्षीण हो रहा है। विभिन्न देशों में विद्यमान साम्यवादी दल पेकिंग का समर्थन करके देश की आन्तरिक नीति को उसके अनुकूल बनाने का यत्न करते हैं। पेकिंग का यह प्रयत्न है कि ये साम्यवादी दल शक्तिशाली बनें और देश के शासन की बागडोर अपने हाथ में लें अथवा सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध प्रबल असन्तोष उत्पन्न करें। लाओस की कम्यूनिस्ट पार्टी Neo Lao Hak Xat ने पाथेट लाओ के सहयोग से ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है। मलाया, बर्मा और फिलिप्पाइन द्वीपसमूहों में भी साम्यवादी दलों ने छापामार युद्ध छेड़कर साम्यवादी शासन स्थापित करने की चेष्टा की है। सिंगापुर, इंडोनीशिया के साम्यवादी दल किसी भी समय शक्तिशाली होने पर

षड्यन्त्र द्वारा संसदीय शासन की अन्त्येष्टि कर समग्राधिकारवादी साम्यवादी शासन स्थापित कर सकते हैं। किन्तु १९५८ के बाद एशिया के अनेक देशों—पाकिस्तान, बर्मा, इंडोनीशिया, थाईलैंड, लाओस में गैरसाम्यवादी सैनिक नेताओं ने सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथ में ले ली है और साम्यवादी गतिविधियों पर कड़ी पाबन्दी लगा दी है। चीन तथा रूस से सहायता पाने पर भी सब देशों में साम्यवादी दलों की शक्ति और भविष्य इस पर निर्भर है कि वे वहां की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से कितना लाभ उठा सकते हैं। साम्यवादी दलों के नेता मई दिवस पर, अक्टूबर की क्रान्ति के पुण्य पर्व पर पेकिंग के पवित्र तीर्थ की यात्रा करते हैं और चीन से क्रान्ति के नये विचार एवं सिद्धान्त, प्रबल प्रेरणा, अगाध विश्वास और अविचल निष्ठा की भावना लेकर वापस लौटते हैं। यह आर्थिक सहायता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। पेकिंग इन साम्यवादी दलों को क्रान्ति के प्रधान साधन समझता है।

पाँचवां उपाय विभिन्न देशों के असन्तुष्ट नेताओं का चीन द्वारा किया जाने वाला समर्थन है। एशिया के कई देशों के अपनी सरकारों द्वारा पीड़ित नेताओं ने साम्यवादी चीन में शरण ग्रहण की है। ऐसे नेताओं में नेपाल के के० आई० सिंह, बर्मा का कचीन नेता ना संग, स्याम का प्रिटि फनोवयोंग है। इनमें से केवल के० आई० सिंह ही चीन से स्वदेश लौटा है। इन नेताओं के अतिरिक्त चीन में बर्मा के कचीन और थाईलैण्ड के थाई बसे हुए हैं। ये बर्मा और थाईलैण्ड में घुसकर वहां के कचीनों तथा थाईयों को इन देशों से पृथक् होने की तथा वहां की सरकार के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न करते हैं।

किन्तु इस विषय में सबसे शक्तिशाली **छठा** उपाय चीन से बाहर दूसरे देशों में बसे हुए १ करोड़ प्रवासी चीनी (Overseas Chinese) हैं। दक्षिणी एशिया के विभिन्न देशों में बसे चीनियों की संख्या निम्नलिखित तालिका में दी गयी है।[४४]

देश का नाम	चीनियों की संख्या	कुल जनसंख्या का अनुपात
मलाया	२३,६५,०००	३७.८
सिंगापुर	९,६५,०००	७६.६
थाईलैण्ड	२३,६०,०००	११.३
ब्रिटिश बोर्नियो	२,७०,०००	२७.०
कम्बोडिया	२,३०,०००	५.५
दक्षिणी वियतनाम	७,८०,०००	६.२
उत्तरी वियतनाम	५०,०००	०.४
इंडोनीशिया	२२,५०,०००	२.०
बर्मा	३,२०,०००	१.६
फिलिप्पाइन्स	२,७०,०००	१.२
लाओस	१०,०००	०.६

४४. ए डोक बार्नेट—कम्यूनिस्ट चायना एण्ड एशिया, पृ० १७६

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि सिंगापुर, मलाया, थाईलैण्ड और ब्रिटिश बोर्नियो में इनकी संख्या काफी है। सिंगापुर तो चीनी शहर है, उसमें इनकी संख्या तीन चौथाई से भी अधिक है, यदि सिंगापुर और मलाया को मिला दिया जाय तो यह संख्या ४० प्रतिशत हो जाती है और मलय जाति का अनुपात चीनियों से कम रह जाता है। यह सौभाग्य की बात है कि चीन के साथ लगने वाले देशों—उत्तरी वियतनाम, बर्मा, लाओस, में चीनियों की संख्या कम है। समूचे दक्षिण पूर्वी एशिया में पूरी जनसंख्या में ये केवल पांच प्रतिशत हैं।

संख्या में कम होते हुए भी प्रवासी चीनियों का दो कारणों से अधिक महत्त्व है। पहला कारण इनकी आर्थिक समृद्धि है और दूसरा कारण साम्यवादी चीन द्वारा अपनी विदेशनीति के उद्देश्य पूरा करने के लिए इनका पंचमांगी दल के रूप में प्रयोग करना है। चीन के साथ संघर्ष होने पर ये गुप्त रूप से चीन के साथ मिलकर उसे बड़ी सहायता पहुँचा सकते हैं। १९६२ में भारत पर चीनी आक्रमण के समय इसी दृष्टि से भारत में चीनियों को नजरबन्द बना लिया गया था।

चीनी साम्यवादियों ने १९४९ में सत्ता हस्तगत करते ही यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि चीनी रक्त और संस्कृति वाले व्यक्ति विदेशों में कहीं भी रहते हों वे चीन का अंग हैं। उस समय सरकार की ओर से यह घोषणा की गई कि चीनी जनता का गणराज्य "विदेशों में रहने वाले चीनियों के न्यायोचित अधिकारों और हितों की रक्षा का अधिकतम प्रयत्न करेगा।" उस समय चीन की ओर से यह भी कहा गया "हम विदेशों में अपने चीनी भाइयों के साथ किये जाने वाले अपमान अथवा अन्याय को सहन नहीं करेंगे।" १९५१ में चौ एन लाई ने यह चेतावनी दी थी कि प्रवासी चीनियों के साथ अन्याय, भेदभाव या उत्पीड़न चीन के लिए चिन्ता का गम्भीर विषय होगा। १९५४ से साम्यवादी चीन की इस नीति में परिवर्तन आने लगा। सितम्बर १९५४ में चौ एन लाई ने यह घोषणा की कि "विदेशों में रहने वाले १ करोड़ २० लाख चीनियों के साथ चीन के विरोधी देशों में बड़ा दुर्व्यवहार और भेदभाव होता है। हम आशा करते हैं कि ये देश प्रवासी चीनियों के साथ ऐसा नहीं करेंगे और हम भी इन चीनियों को यह प्रेरणा करेंगे कि वे जिन देशों में रहते हैं, उनकी सरकारों के कानूनों का तथा सामाजिक पद्धतियों का सम्मान करेंगे।" बाण्डुंग सम्मेलन में चौ एन लाई ने प्रवासी चीनियों के आतंक से संत्रस्त एशियाई देशों को आश्वस्त करने का भगीरथ प्रयास किया ताकि वह इंडोनीशिया, भारत आदि तटस्थ देशों की सहानुभूति प्राप्त कर सके। इस सम्मेलन में इस जटिल प्रश्न पर इंडोनीशिया से समझौता करके चीन ने बड़ी वाहवाही और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त की। १९५५ में चौ एन लाई ने घोषणा की कि "कुछ लोग यह कहते हैं कि १ करोड़ प्रवासी चीनियों का उपयोग दूसरे देशों की सरकारों का तख्ता उलटने के लिए किया जा सकता है।······चीन का ऐसा कोई इरादा नहीं है कि वह पड़ोसी देशों में इनकी सहायता से पड़ोसी राज्यों की सरकारों को उलटने का प्रयत्न करेगा"। १९५४-५५ में चीन ने ऐसे आश्वासन भारत, बर्मा, इण्डोनीशिया, कम्बोडिया, थाईलैण्ड तथा फिलिप्पाइन्स को दिये। किन्तु फिर भी चीन

किसी भी समय में अपनी विदेशनीति के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए इनका उपयोग कर सकता है।

चीनी विदेशनीति की तीन विभिन्न अवस्थायें—अक्टूबर १९४९ में साम्यवादी शासन स्थापित होने के बाद चीन की विदेशनीति अब तक कई प्रधान अवस्थाओं में से होकर गुजरी है। श्री डोक बार्नेट[४५] ने इन्हें तीन अवस्थाओं में बांटा है—(१) क्रान्तिकारी एवं युद्ध पर बल देने वाली **उग्र नीति का युग** (१९४९–१९५३)—इस समय में पेकिंग ने एशिया के सभी देशों में साम्यवादी क्रान्ति कराने की स्पष्ट घोषणा की, विभिन्न चीनी प्रदेशों के एकीकरण के लिए युद्ध पर बल दिया तथा चीन से पश्चिम के प्रभाव को हटाने के लिए पूरी शक्ति का प्रयोग किया। इसका चरम विकास अक्टूबर १९५० में कोरिया के युद्ध में चीन का हस्तक्षेप था। १९५२ से इस नीति में परिवर्तन आने लगा और १९५३ में कोरिया के युद्धविराम के साथ प्रथम युग की समाप्ति हुई। (२) **शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति** (१९५४–१९५७)—कोरिया युद्ध की समाप्ति के समय चीन ने यह अनुभव किया कि उसके उद्देश्य शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व (Peaceful Coexistence) की नीति से अधिक अच्छी तरह सिद्ध हो सकते हैं। इस समय उसने कोरिया का युद्धविराम स्वीकार किया, हिन्दचीन में फ्रेंच साम्राज्यवाद के विरुद्ध चल रहे प्रबल संघर्ष की समाप्ति १९५४ में जेनीवा सम्मेलन द्वारा हुई। १९५५ के बाण्डुंग सम्मेलन में चौ एन लाई ने अफ्रीका तथा एशिया के देशों को चीन के शान्तिपूर्ण इरादों का पूरा विश्वास कराते हुए इनकी सहानुभूति और सद्भावना को प्राप्त कर बड़ी कूटनीतिक सफलता प्राप्त की। इस समय पंचशील के सिद्धान्तों पर तथा एशिया की एकता पर बल दिया गया। पेकिंग ने यह घोषणा की कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान युद्ध से नहीं, किन्तु शान्तिपूर्ण उपायों से होना चाहिये। एशिया पर चीन की नई विदेशनीति का प्रबल प्रभाव पड़ा। (३) **उग्र-नीति का युग** (१९५७–६२)—१९५७ में सोवियत रूस ने पहला स्पूतनिक छोड़ा, और इस समय अन्तः महाद्वीप प्रक्षेपणास्त्रों (I. C. B. M.) के बनाने में रूस ने बड़ी सफलता प्राप्त की, सैनिक प्रविधि में वह पश्चिमी देशों से आगे बढ़ गया। इस कारण इस समय से पेकिंग ने पुनः युद्ध पर बल देने वाली उग्र नीति का अवलम्बन किया। सहअस्तित्व पर बल देते हुए भी चीन ने एशिया के विभिन्न देशों पर सैनिक दबाव डालना शुरू किया। अक्टूबर १९६२ में यह नीति पराकाष्ठा पर पहुँची और चीन ने बड़े पैमाने पर भारत पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण किया। इसके बाद दिसम्बर १९६२ से उसने पुनः शान्तिवाद पर बल देना शुरू किया और एशिया और अफ्रीका के देशों में अपनी शान्तिपूर्ण नीति के प्रबल प्रचार का अभियान आरम्भ किया।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि चीन कठोर एवं मृदु, युद्ध एवं शान्ति, दण्ड तथा सन्धि की नीति का बारी-बारी से प्रयोग करता रहा है। किन्तु कठोर नीति का अनुसरण करते हुए भी उसमें शान्तिवाद के तत्त्व पाये जाते हैं और मृदुनीति में भी वह कई बार

४५. बार्नेट—पूर्वोक्त पुस्तक

उग्र उपायों का प्रयोग करता रहा है। बार्नेट के शब्दों में "पेकिंग की नीति कभी भी केवल चिकनी-चुपड़ी बातों (Blandishments) या केवल दबावों की नहीं रही। इसमें प्रलोभन, धमकी और मूलोच्छेद (subversion) का विभिन्न अनुपात में सम्मिश्रण रहा है"। नीति-सम्बन्धी कारणों से पेकिंग इन विभिन्न तत्त्वों में से समय की आवश्यकता के अनुसार कभी एक और कभी दूसरे तत्त्व पर अधिक बल देता रहा है। अब उपर्युक्त विभिन्न दशाओं में चीन की विदेशनीति का परिचय दिया जायगा।

(१) **उग्र युद्धवादी क्रान्तिकारी नीति का युग** (१९४९–१९५३)—१९४९ में साम्यवादी गणराज्य स्थापित होने पर चीन ने सर्वप्रथम दिसम्बर १९४९ में सोवियत संघ से दौत्य-संबन्ध स्थापित किये, फरवरी १९५० में 'मित्रता, संधि और पारस्परिक सहायता की चीन-सोवियत संधि' की और उसकी सहायता से सब देशों में साम्यवाद के प्रसार का बीड़ा उठाया। इस उद्देश्य से नवम्बर १९४९ में ट्रेड यूनियनों के विश्व-संघ के तत्त्वावधान में पेकिंग में एशिया तथा आस्ट्रेलेशिया के देशों का ट्रेड यूनियन सम्मेलन बुलाया गया। इसमें उपर्युक्त महाद्वीपों के वामपक्षी श्रमिक नेता सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में लिउ शाओ ची ने यह घोषणा की कि हमारे सम्मेलन को समूचे एशिया में राष्ट्रीय मुक्ति के युद्धों का समर्थन करना चाहिये, वियतनाम, बर्मा, इण्डोनीशिया, मलाया, फिलिप्पाइन्स के मुक्ति संघर्षों का वर्णन करते हुए उसने कहा कि 'चीनी जनता के पथ का अनुसरण करते हुए सशस्त्र संघर्ष द्वारा एशिया के अधिकांश भाग में क्रान्ति का विकास किया जाना चाहिये'। **'चीनी जनता के पथ'** का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसने चार बातों पर बल दिया—(१) मजदूर वर्ग को साम्राज्यवाद का विरोध करने वाले सभी दलों और संगठनों के साथ मिल जाना चाहिये। (२) मजदूर वर्ग को केन्द्र बनाकर साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी संयुक्त मोर्चा (United front) बनाना चाहिये। इसका केन्द्र साम्यवादी दल होना चाहिये और इसका नेतृत्व संशयालु समझौतावादी राष्ट्रीय बूर्जुआ या छोटे पूंजीपतियों के हाथ में नहीं होना चाहिये। (३) साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में सफलता के लिए ऐसा साम्यवादी दल आवश्यक है, जो मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों से परिचित हो तथा जनता से घनिष्ठ संबन्ध रखता हो। (४) जहां संभव हो, साम्यवादी दल के नेतृत्व में शत्रुओं से लड़ने के लिए राष्ट्रीय सेना का संगठन करना आवश्यक है। लिउ शाओ ची ने चीनी क्रान्ति के दो तत्त्वों को विशेष महत्त्व दिया। पहला साम्राज्यवाद के विरुद्ध मजदूरों, किसानों, छोटे पूंजीपतियों तथा बड़े अथवा राष्ट्रीय पूंजीपतियों के चारों वर्गों का संयुक्त मोर्चा साम्यवादी दल की अध्यक्षता में बनाया जाना है। दूसरा तत्त्व साम्यवादियों के नेतृत्व में ग्रामीण क्षेत्रों के सुनियन्त्रित अड्डों से सेनाओं का संगठन करना था। इनकी सहायता से सब देशों में साम्यवादी क्रान्तियों को सफल बनाना चीन इस समय अपना प्रमुख ध्येय समझता था।

१९४९ में चीनी साम्यवादियों ने दो उद्देश्यों पर बल दिया—(१) चीन में से विदेशी प्रभाव को बिल्कुल समाप्त कर दिया जाय। (२) चीन का एकीकरण करके सब चीनी प्रदेशों को साम्यवादी शासन में लाना। पेकिंग के अस्थायी संविधान में २९ सित० १९४९ को यह घोषणा की गयी कि सरकार चीन में साम्राज्यवादियों के सब विशेषा-

अधिकार समाप्त कर देगी। इस समय से चीनियों ने सोवियत संघ के अतिरिक्त अन्य सभी पश्चिमी देशों के व्यक्तियों को चीन से निकालना शुरू किया। दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए १९५० में पेकिंग ने तिब्बत पर आक्रमण किया और कोरिया के युद्ध में हस्तक्षेप किया।

जून १९५० में रूस के प्रभाव में विद्यमान उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया। इस आक्रमण से सारा विश्व स्तब्ध रह गया और सं० रा० संघ ने इसे रोकने के लिए सेनायें भेजीं (देखिये ऊपर पृ० २८१)। संघ की सेनायें ज्यों ही उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया की सीमा ३८ अक्षांश रेखा के पास पहुँचने लगीं तो चीन की चिन्ता बढ़ी। ३० सित० को चौ एन लाई ने घोषणा की कि चीनी जनता न तो विदेशी आक्रमण सहन करेगी और न ही वह यह बर्दाश्त करेगी कि साम्राज्यवादी उसके पड़ोसियों पर बर्बरतापूर्ण आक्रमण करेगा। चौ ने पेकिंग के भारतीय राजदूत श्री पणिक्कर को २-३ अक्टूबर की रात को यह बता दिया था कि यदि अमेरिकनों ने ३८ अक्षांश रेखा पार की तो साम्यवादी चीन इसमें हस्तक्षेप करने के लिए बाधित हो जायगा।[४६] सं० रा० संघ की सेनाओं द्वारा ३८ अक्षांश रेखा पार करने के एक सप्ताह बाद चीनी सेनाओं ने स्वयं सेवक दलों के रूप में इसमें हस्तक्षेप किया। चीन के इस हस्तक्षेप के कई कारण थे---**पहला** कारण रूसियों का दबाव था, वे चीन की सहायता से कोरिया में साम्यवादियों की पराजय को विजय में परिणत करना चाहते थे। **दूसरा** कारण पेकिंग की यह चिन्ता थी कि कोरिया पर साम्यवादविरोधी शासन स्थापित हो जाने से उसकी सुरक्षा को खतरा पैदा हो जायगा, कोरिया चीन पर आक्रमण का पहला पग होगा। नवम्बर १९५० में पेकिंग के एक प्रवक्ता वू हसियु चुआन ने कहा था कि इस युद्ध में सं० रा० अमेरिका जापानी साम्राज्यवादी आक्रान्ताओं के पथ का अनुसरण कर रहा है। यह पथ इस विचार पर आश्रित है कि "चीन जीतने के पहले मंचूरिया और मंगोलिया जीतना चाहिये। मंचूरिया और मंगोलिया जीतने के लिए पहले कोरिया तथा ताइवान जीतना आवश्यक है।"[४७] साम्यवादी चीन ने युद्धविराम के सब प्रस्तावों को ठुकराते हुए इस युद्ध में बड़े उत्साह से भाग लिया। किन्तु जून १९५१ तक यह स्पष्ट हो गया कि कोई भी पक्ष आसानी से दूसरे को नहीं हरा सकता। अब पेकिंग ने युद्धनीति बदलनी शुरू की और दोनों पक्षों में संधिवार्ता आरम्भ हो गयी। कोरिया पर आक्रमण के साथ ही चीन ने दूसरी शक्तियों के विरोध की परवाह न करते हुए तिब्बत में अपनी सेनायें भेज दीं तथा २४ अक्टूबर १९५० को पेकिंग रेडियो ने घोषणा की कि तिब्बत को मुक्त करने का आदेश दे दिया गया है।

१९५१-२ में कुछ कारणों से पेकिंग ने युद्ध की नीति में परिवर्तन वांछनीय समझा। **पहला** कारण व्यापारिक प्रतिबन्धों के कारण होने वाली आर्थिक कठिनाइयां थीं। इन्हें हल करने के लिए अप्रैल १९५२ में मास्को में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन

---

४६. बार्नेट—पूर्वोक्त पुस्तक, पृष्ठ ९४

४७. वही, पृष्ठ ९५

बुलाया गया। इससे साम्यवादी देशों का ग़ैर साम्यवादी देशों के साथ व्यापार का द्वार खुला। **दूसरा** कारण १९५२ में स्तालिन की यह घोषणा थी कि "पूंजीवाद और साम्यवाद का शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व संभव है।" अक्टूबर १९५२ में स्तालिन द्वारा लिखा एक निबन्ध 'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्यायें' प्रकाशित हुआ। इसमें यह सिद्ध किया गया था कि समाजवाद के प्रसार के साथ पूंजीवादी देशों की मण्डियां कम हो रही हैं, इससे पूंजीवादी जगत् में संकट और संघर्ष उत्पन्न होंगे और इनके कारण पूंजीवाद समाजवाद से पराभूत होगा। अतः साम्यवादियों को पश्चिम के साथ आर्थिक प्रतियोगिता करनी चाहिये और इस प्रकार बिना युद्ध के पूंजीवाद समाप्त हो जायगा। मार्च १९५३ में स्तालिन की मृत्यु के बाद यह प्रवृत्ति तीव्र हुई और इसकी पराकाष्ठा फरवरी १९५६ की सोवियत संघ की साम्यवादी दल की २०वीं कांग्रेस में हुई। यह संभावना १९४७ में आरम्भ की गई युद्धवादी नीतियों के विफल होने का तथा पश्चिम द्वारा साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए उग्र संकल्प का परिणाम था। तीसरा कारण चीन द्वारा यह अनुभव करना था कि सं० रा० अमेरिका एशिया में अपनी शक्ति निरन्तर बढ़ा रहा है। **चौथा** कारण घरेलू था। कोरिया के युद्ध ने चीन की अर्थ व्यवस्था पर भारी प्रभाव डाला। इस समय चीन अपनी पंचवर्षीय योजना आरम्भ कर रहा था। इसे सफलतापूर्वक चलाने के लिए दूसरे देशों का सहयोग आवश्यक था, इसके लिए उनके प्रति मृदु विदेशनीति अपनाना आवश्यक था। इस समय विदेशों में साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार की अपेक्षा अपने देश के आर्थिक विकास को अधिक महत्त्वपूर्ण समझ कर मृदु नीति अपनाते हुए दूसरे देशों के साथ व्यापारिक समझौते किये जाने लगे। १९५२ में चीन ने लंका के साथ चावल के बदले रबड़ लेने का समझौता किया।

१९४९ से ५२ तक पेकिंग एशिया के ग़ैर साम्यवादी देशों में केवल साम्यवादी दलों, विद्रोही समूहों तथा क्रान्तिकारी संगठनों से सम्बन्ध रखता था। उस समय तक इसने भारत जैसे चीन को अपना मित्र मानने वाले देशों से भी कोई सम्बन्ध नहीं बढ़ाये थे। किन्तु उपर्युक्त कारणों से नीति में परिवर्तन आने लगा और इसकी पहली सूचना पेकिंग में अक्टूबर १९५२ में होने वाले एशियन तथा पैसिफिक शान्ति सम्मेलन से मिली। इसमें १९४९ की ट्रेड यूनियन सम्मेलन के सर्वथा विपरीत क्रान्ति और हिंसा के स्थान पर शान्ति और सह-अस्तित्व की चर्चा की गयी। इसने सं० रा० संघ से अनुरोध किया कि वह वियतनाम, मलाया तथा अन्य देशों में युद्ध समाप्त करके संधिवार्ता द्वारा न्यायपूर्ण समझौता करवाये। इसने यह भी घोषणा की कि विभिन्न सामाजिक पद्धतियां शान्तिपूर्ण रीति से इकट्ठी रह सकती हैं। इसने चीनी विदेशनीति में कठोर, क्रांतिकारी युद्धवादी दशा का अन्त कर नवीन मृदु नीति का श्रीगणेश किया। जून १९५३ में कोरिया की युद्धविराम संधि से इस प्रवृत्ति को पुष्टि मिली।

(२) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति (१९५४–५७)—कोरिया युद्ध की समाप्ति के बाद एशिया की जटिलतम समस्या हिन्दचीन के प्रायद्वीप का संघर्ष था। यहां चीनी साम्यवादियों की सहायता से वियतमिन्ह फ्रांस की प्रभुता के विरुद्ध प्रबल युद्ध कर रहा था। १९५३ की समाप्ति तक यह युद्ध इस अवस्था तक पहुंच गया था

कि दोनों पक्ष इससे ऊब कर समझौता चाहने लगे थे। १९५४ के आरम्भ में चार बड़े देशों के विदेश-मंत्रियों के सम्मेलन ने हिन्दचीन के बारे में जेनीवा सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया। अप्रैल १९५४ में यह सम्मेलन आरम्भ होने पर यह स्पष्ट था कि वियतमिन्ह चीन का समर्थन पाकर लड़ रहा है, युद्ध और शान्ति की कुंजी चीन के हाथ में है और ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में पहली बार चीन के प्रतिनिधि चौ एन लाई सम्मिलित हुए। जब यह सम्मेलन चल रहा था तो दियेन-बियेन-फू में फ्रांस की प्रबल पराजय हुई। इससे वियतमिन्ह और चीन का पक्ष प्रबल हो गया। वियतमिन्ह यह चाहता था कि सारे वियतनाम के लिए एक सामान्य समझौता हो, क्योंकि इससे उन्हें समूचे देश पर अधिकार मिल जाता था। किन्तु चौ एन लाई ने इस समय शान्तिवादी नीति का अनुसरण करते हुए १७वीं अक्षांश रेखा पर वियतनाम का विभाजन तथा लाओस और कम्बोडिया की पृथक् व्यवस्था स्वीकार कर ली। पेकिंग ने यह समझौता इसलिये किया कि इससे उनके आधे वियतनाम के साम्यवादी राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति मिल रही थी और इसे अड्डा बनाकर आगे बढ़ा जा सकता था। इस सम्मेलन में चौ एन लाई ने यह अनुभव किया कि विभिन्न सरकारों के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों और संधियों से चीन की शक्ति अधिक बढ़ायी जा सकती है और इसके लिए पेकिंग ने प्रबल प्रयास आरम्भ किया।

चीन ने सर्वप्रथम अप्रैल १९५४ में तिब्बत के बारे में भारत से संधि की तथा इसमें पंचशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया (पृ० ४२५)। चौ ने चीन के शान्तिपूर्ण इरादों का विश्वास कराने के लिए नई दिल्ली में घोषणा की कि "संसार के सभी देश चाहे वे छोटे हों या बड़े, निर्बल हों या बलवान्—विभिन्न सामाजिक पद्धतियों के बावजूद शान्तिपूर्ण रीति से रह सकते हैं। प्रत्येक राष्ट्र की जनता के राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और आत्मनिर्णय के अधिकारों का सम्मान किया जाना चाहिये। प्रत्येक राष्ट्र की जनता को यह अधिकार है कि वे अपनी सामाजिक पद्धति को चुनें और इसमें दूसरे देश हस्तक्षेप न करें। क्रान्ति का निर्यात नहीं किया जा सकता।" यह पेकिंग की १९४९ की साम्यवादी क्रान्ति को सब देशों में फैलाने की लिउ शाओ ची की उपर्युक्त (पृ० ५१८) सिंहगर्जना के सर्वथा प्रतिकूल थी।

पंचशील को पश्चिम ने कोरा प्रचार समझा, किन्तु एशिया के देशों पर कई कारणों से इसका गहरा प्रभाव पड़ा। कोरिया युद्ध में अमेरिकन सेनाओं के साथ लड़कर चीन अपनी सैनिकशक्ति की महत्ता का प्रमाण दे चुका था, अतः उसके पड़ोसी उससे भयभीत और बेचैन थे। इसे दूर करने का सर्वोत्तम उपाय पंचशील की संधि करना था। इससे चीन के साथ समझौता करने में उनका कल्याण था। **दूसरा** कारण यह था कि चीन ने पश्चिम के साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध जो जिहाद छेड़ा था, उससे सभी एशियाई देशों की सहानुभूति थी क्योंकि वे सब उससे पीड़ित रह चुके थे। अब वे उससे पृथक् और स्वतन्त्र तथा शान्तिपूर्ण नीति से रहना चाहते थे। **तीसरा** कारण यह था कि कोरिया युद्ध के बाद साम्यवाद से सुरक्षा के लिए अमेरिका सीटो तथा बगदाद पैक्ट की सैनिक संधियों का जाल बुन रहा था। भारत जैसे तटस्थ

देश यह समझते थे कि इनसे शीतयुद्ध एशिया के इस भाग में लाया जा रहा है, वे सैनिक संधियों के प्रबल विरोधी थे, तटस्थता और असंलग्नता का समर्थन कर रहे थे। चीन ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया, उसने अपने हित की दृष्टि से पश्चिम द्वारा समर्थित सैनिक संधियों और अड्डों के विरुद्ध प्रबल प्रचार किये, उन्हें पश्चिम द्वारा एशिया को गुलाम बनाये रखने की नई चाल बताया और शान्ति का क्षेत्र विस्तीर्ण करने पर बल दिया तथा विदेशों के साथ दौत्य संबन्ध बढ़ाना शुरू किया। १९५० से १९५३ तक उसने केवल फिनलैंड और पाकिस्तान के साथ राजदूतों का आदान-प्रदान किया था। किन्तु जेनीवा सम्मेलन के बाद उसने एशिया-अफ्रीका के अधिकांश देशों में अपने राजदूत भेजे।

१९५४-५५ के तटवर्तीय टापुओं के संकट का पहले (पृ०५१९) उल्लेख किया जा चुका है। इस समय पेकिंग धमकी देकर तथा बमबारी करके यह देखना चाहता था कि अमेरिका इस प्रश्न पर कहां झुकने को तैयार है। जब उसे यह पता लगा कि वाशिंगटन इस पर युद्ध के लिए तैयार है तो उसने अपना कदम पीछे हटाते हुए अपने शान्तिवादी होने का ढोल पीटा। इस समय चीन की सबसे बड़ी कूटनीतिक सफलता बाण्डुंग सम्मेलन था। इसमें चौ एन लाई को एशिया और अफ्रीका के २९ देशों में अपने को शान्तिवादी सिद्ध करने तथा उनकी सहानुभूति और सहयोग पाने का स्वर्ण अवसर मिला। उसने पश्चिम की साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद विरोधी भावनाओं के विरुद्ध एशिया-अफ्रीका की एकता का नारा लगाया। चौ ने यह घोषणा की कि "चीनी दूतमण्डल यहाँ एकता बढ़ाने आया है, झगड़ा करने नहीं। हमारा ध्येय मतभेद पैदा करना नहीं, किन्तु सामान्य भूमि की खोज करना है और यह उपनिवेशवाद के कष्टों और मुसीबतों को दूर करने में पाया जा सकता है। साम्यवादी चीन एशिया और अफ्रीका के सब देशों से सामान्य संबन्ध स्थापित करना चाहता है।" इस अवसर पर चौ एन लाई ने दो कार्यों से अपने को शान्तिप्रेमी सिद्ध किया। (१) प्रवासी चीनियों के सम्बन्ध में इंडोनीशिया से संधि करके उसने ऐसे चीनियों की आशंकाओं से संत्रस्त एशियाई देशों को आश्वस्त किया। (२) ताइवान क्षेत्र में तनाव कम करने के लिए उसने संधिवार्ता का प्रस्ताव रखा। इस समय सर्वत्र चीन की प्रशंसा होने लगी और शान्तिवाद पर बल देने वाली प्रवृत्ति **बांडुंग भावना** (Bandung Spirit) की खूब चर्चा की जाने लगी। इसके बाद १९५७ तक चीन ने शान्ति की नीति पर बल दिया।

(३) **नई उग्रनीति**—१९५७ से चीन की विदेशनीति में पुनः उग्रता दृष्टिगोचर होने लगती है। न केवल सं० रा० अमेरिका और पश्चिमी देशों के साथ व्यवहार में वह कड़ा रुख अपनाता है, अपितु बांडुंग भावना के सर्वथा विपरीत वह एशियाई देशों के प्रति भी कठोर नीति अपनाता है। नवम्बर १९५७ में इस नीति का स्पष्ट प्रतिपादन मास्को में बोल्शेविक क्रान्ति की ४०वीं वर्षगांठ के अवसर पर एकत्र संसार के सभी साम्यवादी दलों के प्रतिनिधियों के सम्मेलन में हुआ। माओत्से-तुंग ने इसमें १८ नवम्बर को भाषण देते हुए पूर्व और पश्चिम के संघर्ष पर बल देते हुए कहा—"इस समय विश्व में दो हवाएँ हैं, पूर्वी हवा और पश्चिमी हवा। चीन में एक कहावत है "यदि पूर्वी हवा पश्चिमी हवा पर हावी नहीं होगी तो पश्चिमी हवा पूर्वी हवा पर

हावी हो जायगी"। मेरे विचार में वर्तमान स्थिति की यह विशेषता है कि पूर्वी हवा पश्चिमी हवा पर हावी है अर्थात् समाजवाद की शक्ति पूंजीवाद की शक्ति से अधिक है"। माओ की यह घोषणा नवीन नीति का सिंहनाद था।

इस नीति को अपनाने के कई कारण थे। **पहला** कारण रूस द्वारा पहला स्पूतनिक उड़ाकर तथा अन्त: महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र बनाकर पश्चिम पर अपनी सैनिक तथा वैज्ञानिक उन्नति की उत्कृष्टता की धाक बिठाना था। **दूसरा** कारण सोवियत गुट के देशों की विलक्षण आर्थिक उन्नति थी। **तीसरा** कारण यह था कि १९५६ के हंगरी के विद्रोह के बाद पूर्वी योरोप के कुछ देशों में साम्यवाद की नीति में कुछ संशोधनों की मांग हो रही थी। अतः चीन ने इसका प्रबल प्रतिरोध करते हुए नई उग्रनीति का श्रीगणेश किया। १९५८ के लेबानन के संकट में, चीन के तट के पास वाले टापुओं के संकट में, बर्लिन संकट में तथा १९५९ के लाओस के संकट में पेकिंग ने कड़ा रुख अपनाया। इसी समय से चीन भारत के साथ सीमा विवाद में कठोर नीति अपनाने लगा, तिब्बत में भी उसने कड़ी नीति बरतनी शुरू की, वहां ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि मार्च १९५९ में दलाई लामा को वहां से भागकर भारत में शरण लेनी पड़ी। २०-२१ अक्टूबर १९५९ को चीनी सेनाओं ने भारतीय सीमा के भीतर ४० मील तक घुसकर लद्दाख के गरम स्रोतों के पास भारतीय पुलिस के एक दल पर आक्रमण करके **नौ** व्यक्तियों को मारा तथा १० को बन्दी बनाया तथा भारतीय सीमा पर चीन के अतिक्रमण बढ़ने लगे और उसने अक्टूबर १९६२ में भारी तैयारी और विशाल सेनाओं के साथ भारत पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण आरम्भ कर दिया।

चीन और सोवियत रूस का विवाद—चीन की उपर्युक्त उग्रनीति के युग में शनैः-शनैः सोवियत रूस के साथ उसके मतभेद और विवाद प्रकट होने लगे। यद्यपि दोनों देश साम्यवादी हैं, दोनों का उद्देश्य पूंजीवाद का समूलोन्मूलन है और चीनी विदेश-नीति का एक प्रमुख ध्येय सोवियत रूस के साथ सब बातों में सहयोग करना है, तथापि १९६० से दोनों देशों में विभिन्न प्रश्नों पर सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ने लगे। १९६२ में जब सोवियत रूस ने भारत को मिग विमान देने का तथा इनको बनाने के कारखाने के निर्माण में सहायता देने का समझौता किया तो दोनों देशों के विवाद में कटुता आने लगी। क्यूबा के संकट में अपनाई गई रूसी नीति ने चीनियों को बहुत रुष्ट किया और भारत पर चीन के आक्रमण के सम्बन्ध में अपनाई मास्को की नीति से पेकिंग बहुत अप्रसन्न हुआ। १४ जून, १९६३ को चीन के साम्यवादी दल ने रूसी साम्यवादी दल के नाम लिखे पत्र में ख्रुश्चेव के राजनीतिक सिद्धान्तों पर बड़े कटु आक्षेप किये। दोनों देशों के मतभेदों के समाधान के लिए ५ से २० जुलाई १९६३ तक मास्को में बातचीत भी होती रही, किन्तु इसका कोई सन्तोषजनक हल नहीं निकल सका। ये मतभेद अप्रैल १९६४ में बड़े उग्र रूप में प्रकट हुए।

चीन और रूस के ये मतभेद पिछले ८-१० वर्षों में शनैः-शनैः उत्पन्न हुए हैं। चीन को रूस से कई शिकायतें हैं। **पहली शिकायत** यह है कि रूस चीन को अणु-आयुध नहीं प्रदान करता, उसे अणुबम का रहस्य नहीं बताता। रूस के लिए यह सर्वथा

स्वाभाविक है कि वह साम्यवादी होने पर भी अपने पड़ोसी से सावधान रहे। रूस भले ही वैज्ञानिक उन्नति की दृष्टि से चीन से आगे बढ़ा हो, किन्तु जनसंख्या की दृष्टि से उसका मुकाबला नहीं कर सकता। रूस की आबादी २१ करोड़ है, उसकी जन्म दर अधिक नहीं है, जबकि चीन की आबादी ६५ करोड़ है तथा १९८० तक इसके १ अरब हो जाने की आशा है। इस अधिक आबादी को बसने और फैलने के लिए जगह चाहिए। वह उत्तर में कम आबादी वाले रूसी प्रदेशों–साइबेरिया आदि में ही फैल सकती है। चीन की दूसरी शिकायत यह है कि रूस ने अत्याचारी ज़ारों के शासन में साम्राज्यवादी नीति द्वारा चीन के कुछ प्रदेश अन्यायपूर्ण सन्धियों द्वारा दबा लिये हैं। १८५८ की ऐगुन (Aigun) संधि द्वारा चीन को बाधित किया गया कि वह ब्रिटेन से उसकी रक्षा के लिए आमूर नदी के बाईं ओर प्रशान्त महासागर तक फैला प्रदेश रूस को प्रदान करे। १८६० की पेकिंग की संधि द्वारा रूसियों ने उसूरी नदी का विशाल प्रदेश चीन से ले लिया और यहां व्लाडीवोस्टक का सर्दियों में भी बन्द न होने वाला बन्दरगाह प्राप्त किया। १८८१ में रूसी साम्राज्यवादी मध्य एशिया के चीनी प्रान्त सिंकियांग में आगे बढ़े और उन्होंने इली घाटी के जिले पर अधिकार किया और सैंट पीटर्सबर्ग की संधि द्वारा इस प्रदेश का कुछ भाग अपने अधिकार में कर लिया। पेकिंग ज़ारशाही की साम्राज्यवादी संधियों द्वारा छीने गये उपर्युक्त प्रदेशों को वापिस लेना चाहता है, मंगोलिया में भी वह अपने प्रभाव का विस्तार चाहता है। चीन की **चौथी शिकायत** यह है कि रूस अपने साम्यवादी भाई की सहायता उतनी उदारता और तत्परता से नहीं कर रहा, जितनी अपने मित्र तटस्थ रहने वाले भारत, सं० अरब गणराज्य आदि देशों की कर रहा है। जुलाई १९६० में चीन की विभिन्न विकास योजनाओं और कारखानों के निर्माण में लगे सभी सोवियत वैज्ञानिकों, इंजीनियरों और विशेषज्ञों को तीन दिन के नोटिस पर मास्को ने चीन से रूस वापिस बुला लिया, वे लौटते हुए इनके नक्शे भी अपने साथ लेते गये और रूस ने उनके लिए पहले से तय की गई सामग्री और मशीनें देना बिल्कुल बन्द कर दिया[४८]। चीन की आर्थिक प्रगति को मंझधार में छोड़कर जाने वाले मास्को के प्रति पेकिंग का रोष स्वाभाविक है। **पांचवीं शिकायत** भारत के सीमा विवाद के सम्बन्ध में है, इसमें मास्को ने चीन का साथ नहीं दिया। (दे० ऊपर पृ० ४४२)। **छठी शिकायत** यह है कि मास्को पश्चिम के साथ कड़ी नीति नहीं बरत रहा, उसने उनके साथ शान्तिपूर्ण सहयोग की नीति अपनाई है। पेकिंग का यह विश्वास है कि 'साम्राज्यवादी कागज़ पर बने शेर (Paper Tigers) हैं। कोरिया के साथ तीन साल तक युद्ध करने पर जब अमेरिका ने चीन पर अणुबम नहीं गिराये तो उसे यह विश्वास हो गया कि पश्चिमी शक्तियां अणुबमों की धमकियां देती हैं, किन्तु उन्हें गिराने का सामर्थ्य नहीं रखतीं; अतः उनके साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहिये। किन्तु ख्रुश्चेव ने अपनी अमेरिका यात्रा में कैम्प डेविड में राष्ट्रपति आइज़नहावर से बातचीत के बाद (ऊपर पृ० ३८६) पश्चिमी देशों के साथ समझौते की नीति आरम्भ की। चीन के लिए यह

४८. सेमिनार सं० ५०, पृ० ४५

असह्य है कि रूस उसके सबसे अधिक कट्टर शत्रु से मित्रता की बात चलाये और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी करने का प्रयत्न करे। **सातवीं शिकायत** क्यूबा के सम्बन्ध में है। (पृ० ३९४) उसके मतानुसार रूस की नीति इसमें आदि से अन्त तक गलत रही है। पहले तो क्यूबा में रूस ने अपने प्रक्षेपणास्त्र भेजे, किन्तु बाद में अमेरिका के विरोध प्रकट करने पर उन्हें वापिस बुला लिया। पहला दोष 'दुस्साहस' का था और दूसरा अमेरिकी साम्राज्यवाद के आगे 'घृणित समर्पण' करने का। चीन की यह महत्त्वाकांक्षा है कि वह साम्यवादी जगत् का नेता बने। इस समय यह पद मास्को को प्राप्त है। योरोप के अधिकांश साम्यवादी देश उसके समर्थक हैं। किन्तु चीन का यह प्रयत्न है कि एशिया तथा अफ्रीका के देशों में वह अपना प्रभाव बढ़ाये और यहां के साम्यवादी दल उसका समर्थन करें।

इस समय चीन रूस के साथ अपने विवाद को सैद्धांतिक रूप दे रहा है क्योंकि दो साम्यवादी देशों में केवल ऐसा ही संघर्ष संभव है। चीन के साम्यवादी दल ने १४ जून, १९६३ के ६० हज़ार शब्दों के पत्र में इस पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए २५ बातों पर मतभेद प्रकट किया था। इनमें मतभेद के प्रमुख विषय ये थे—शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति, सं० रा० अमेरिका के साथ सम्बन्ध, कम विकसित देशों में क्रान्तिकारी आन्दोलन, साम्यवाद की स्थिति तक शान्तिपूर्ण रीति से पहुँचना, पूंजीवाद के साथ शान्तिमय प्रतियोगिता, निःशस्त्रीकरण, सर्वहारावर्ग की अधिनायकता, व्यक्तिपूजा (Personality Cult), यूगोस्लाविया के साथ सम्बन्ध, मार्क्स तथा लेनिन के सिद्धांतों के प्रतिकूल विचार रखना तथा इनका संशोधन करना।[४९]

प्रावदा ने १४ जुलाई को चीनी साम्यवादी पार्टी के उपर्युक्त आरोपों के उत्तर में सोवियत साम्यवादी दल का १८,००० शब्दों का उत्तर छापा। इसमें चीन के प्रमुख सैद्धान्तिक आक्षेपों का निराकरण किया गया। दोनों का **पहला** बड़ा मतभेद **युद्ध की अनिवार्यता** पर है। लेनिन का विश्वास था कि जब तक साम्राज्यवाद है, तब तक युद्ध अनिवार्य हैं, युद्धों के बिना पूंजीवाद का अन्त नहीं हो सकता। चीन का यह कहना है कि रूस ने लेनिनवाद के इस मौलिक सिद्धान्त को छोड़ दिया है। ख्रुश्चेव का कहना है कि वर्तमान काल का आणविक युद्ध दोनों पक्षों के लिए इतना प्रबल विध्वंस करने वाला है कि इसमें न केवल साम्राज्यवादी किन्तु साम्यवादी भी समाप्त हो जायेंगे। अतः साम्यवाद की रक्षा के लिए पूंजीवाद के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति वांछनीय है। क्यूबा के संबन्ध में अपनी नीति का समर्थन करते हुए ख्रुश्चेव ने कहा था कि यदि उस समय पूंजीवादी जगत् के साथ संघर्ष किया जाता तो पहले ही दिन सात करोड़ व्यक्ति स्वाहा हो जाते। "इस मौलिक तथ्य से आंख मूंदने वाले ही यह युक्ति कर सकते हैं कि युद्ध समाजवाद का सहायक होगा। समाजवाद का निर्माण अणुबमों के विस्फोट से विध्वस्त भूमि पर नहीं हो सकता।" **दूसरा** मतभेद आणविक युद्ध के संबन्ध में है। चीन

४९. इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिये कीसिंग्स आर्काइव्ज अगस्त १०-१७, १९६३, पृ० १९५६७

का यह मत है कि पहले विश्वयुद्ध ने रूसी क्रान्ति को तथा दूसरे विश्वयुद्ध ने चीनी क्रान्ति को जन्म दिया, तीसरा आणुविक युद्ध सारे संसार में पूंजीवाद का विध्वंस कर साम्यवाद को सफल बनाएगा। चीनी दो कारणों से अणुयुद्धों से भयभीत नहीं हैं। पहला तो यह कि चीनी जनता रूस और पश्चिमी देशों की भांति कारखानों वाले कुछ बड़े शहरों में केन्द्रित न होकर देहातों में खेतों पर फैली हुई है और दूसरा यह कि उसकी जनसंख्या बहुत अधिक है। चौ एन लाई ने कहा था कि 'चीन की ७० करोड़ जनता में से तेतीस करोड़ तो बच जायेंगे और वह आणविक युद्ध के मलबे से सुन्दर समाजवादी समाज का निर्माण करेगा।' इसके विपरीत ख्रुश्चेव का कहना है कि आणविक युद्ध से नये समाज का निर्माण नहीं हो सकता। 'मजदूर जनता का उद्देश्य शानदार रीति से मरना नहीं, अपितु नये सुखी जीवन का निर्माण करना है।' **तीसरा** मतभेद क्रान्ति के सिद्धान्त के बारे में है। चीनी लेनिन के इस सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं कि समाजवाद लाने के लिए क्रान्ति आवश्यक है, क्रान्ति में तथा गृहयुद्ध में साम्यवादियों को राजनीतिक सत्ता बल-पूर्वक हस्तगत कर लेनी चाहिये, विश्व में क्रान्ति फैलाने का प्रयास करना चाहिये। माओ ने चीनी अनुभव से इस पर बल देते हुए कहा है कि सशस्त्र संघर्ष एवं छापामार युद्ध का आश्रय लेना चाहिये और बूर्जुआवर्ग से मिलकर कोई सरकार नहीं बनानी चाहिये। चीन का रूस पर यह आरोप है कि उसने क्रान्ति के विचार को भुला दिया है, वह अब क्रान्तिकारी नहीं रहा, शान्ति और आर्थिक विकास पर बल देने लगा है। इसके विपरीत रूस का यह मत है कि साम्यवाद लाने के लिए क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य भी उपाय हैं। विभिन्न देशों की पार्लियामैण्टों के राजनीतिक दलों के साथ गठबन्धन करके भी साम्यवादी शासन स्थापित किये जा सकते हैं, जैसा कि १९४८ में चैकोस्लोवाकिया में हुआ था, इसके लिए गृहयुद्ध या क्रान्ति अनिवार्य नहीं है। क्रान्ति केवल सशस्त्र साधनों से ही नहीं होती, शान्तिपूर्ण और अहिंसक साधनों से भी संभव है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सच्ची शिक्षा यह है कि साम्यवादियों को क्रान्ति के सभी हिंसक और अहिंसक साधनों का समयानुसार प्रयोग करना चाहिये। **चौथा** मतभेद निःशस्त्रीकरण का है। चीनी निःशस्त्रीकरण के विरोधी हैं, वे रूस द्वारा की गयी अणुपरीक्षण प्रतिबन्ध संधि (पृ० ३९७) के कटु आलोचक हैं। किन्तु रूस यह समझता है कि अणुशस्त्रों का निर्माण मानवजाति के विनाश के लिए है, इन पर होने वाले भारी आर्थिक व्यय के भार से जनता दबी जा रही है। यदि निःशस्त्रीकरण पर समझौता हो जाय तो यह सारी धनराशि जनता के जीवन-स्तर को ऊंचा करने में लगाई जा सकती है। **पांचवां** मतभेद व्यक्तिपूजा का (Personality cult) है, १९५६ में ख्रुश्चेव ने स्तालिन द्वारा रूसी जनता पर किये गये भीषण अत्याचारों का विवरण विस्तार से रूसी जनता के सामने रखा और यह बताया कि स्तालिन को आराध्य देवता बनाने तथा उसकी पूजा करने से रूसी जनता को कितनी हानि उठानी पड़ी। उसने व्यक्ति की पूजा के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व पर बल दिया और स्तालिन की निन्दा का आन्दोलन आरम्भ किया। चीन इससे सहमत नहीं है, वह स्तालिन को राक्षस नहीं, किन्तु वीर नेता मानता है। **छठा** मतभेद सर्वहारावर्ग की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat) के बारे

में है। चीन का यह कहना है कि सोवियत समाज का बूर्जुआकरण (Bourgeoification) तथा उसका 'पतन' हो गया है क्योंकि वह उत्तम और उच्च जीवनस्तर पर बल दे रहा है और इसके लिए प्रयत्न कर रहा है। ऐसा समाज क्रान्ति का नेता नहीं बन सकता। इसके विपरीत रूस का यह कहना है कि क्रान्ति के लिए पेट पर पट्टी बांधना आवश्यक नहीं है। रूसी चीनियों के निम्न जीवन-स्तर पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं 'रस्सियों का बना जूता पहनना और एक सामान्य प्याले में बहुत पतला शोरबा (Watery soup) पीना ही साम्यवाद नहीं है।' यदि कोई मजदूर अच्छा जीवन बिताता है तो वह पूंजीपति नहीं हो जाता। **सातवां** मतभेद शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा युद्ध और शान्ति विषयक है। चीन का यह मत है कि जब तक दुनिया में साम्राज्यवाद है, तब तक युद्ध का अन्त नहीं हो सकता। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व मृगतृष्णा और भ्रममात्र है, शान्ति के लिए प्रयत्न करना क्रान्तिकारी संघर्षों के मार्ग में बड़ी बाधा है अतः नये विश्वयुद्ध को रोका नहीं जाना चाहिये और शान्ति के प्रयत्न नहीं होने चाहियें। सोवियत रूस के मत में शान्ति आवश्यक है, साम्राज्यवाद इतना क्षीण हो चुका है कि युद्ध और क्रान्ति के बिना भी उसका अन्त किया जा सकता है। पूंजीपति देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति श्रेयस्कर है। **आठवां** मतभेद क्यूबा के संकट के बारे में है। रूसियों का यह कहना है कि क्यूबा पर जब साम्राज्यवादी अमेरिका के आक्रमण की प्रबल संभावना थी, तब उन्होंने उसे प्रक्षेपणास्त्र भेजे और जब इनसे भयभीत होकर सं० रा० अमेरिका ने क्यूबा पर हमला न करने का आश्वासन दिया तो साम्राज्यवादियों की योजनायें विफल बनाने के बाद हमने अपने हथियार वापिस मंगवा लिये। मानवता के निरर्थक संहार से लाभ नहीं है, यदि अमेरिका क्यूबा पर हमला करेगा तो हम उसकी पूरी सहायता करेंगे।[५०]

दोनों साम्यवादी देशों के उपर्युक्त सैद्धान्तिक मतभेदों से चीन यह सिद्ध करना चाहता है कि मार्क्स और लेनिन का सच्चा और कट्टर अनुयायी पेकिंग है, मास्को मार्क्स के मूल मन्तव्यों में परिवर्तन और संशोधनवाद (Revisionism) का समर्थन करता है, अतः वह संशोधनवादी होने के कारण पथभ्रष्ट और काफिर है। यद्यपि ये मतभेद मौलिक और गम्भीर हैं, किन्तु इनका दूसरे देशों को कोई लाभ मिलने की कम संभावना है। ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की है कि ये हमारे पारिवारिक झगड़े हैं।

दक्षिण पूर्वी एशिया का स्वतन्त्र होना—द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले इस समूचे प्रदेश में स्याम (थाईलैण्ड) एकमात्र स्वतन्त्र राज्य था, इसके अतिरिक्त शेष सारा प्रदेश ब्रिटिश, फ्रेंच तथा डच साम्राज्यवाद का शिकार बना हुआ था; भारत, लंका, बर्मा, मलाया, ब्रिटेन के आधीन थे; हिन्दचीन फ्रांस के तथा इन्डोनीशिया का द्वीपसमूह हालैंड के साम्राज्य का अंग था। साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए ये सब देश आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक लाभदायक थे, क्योंकि संसार का अधिकांश प्राकृतिक रबड़, टिन, जूट आदि यहीं पैदा होता था; मैंगनीज, चाय, सागौन, क्विनीन, चीनी,

---

५०. कीसिंग्स आर्काइव्ज, १९६३, पृ० १९५७१

कालीमिर्च, कहवे के ये प्रदेश बहुत बड़े स्रोत थे। यहां ब्रिटिश, फ्रेंच और डच पूंजी प्रभूत मात्रा में लगी हुई थी और जहाजों द्वारा इस माल की ढुलाई, दलाली और बीमे से होने वाली आय इन देशों की समृद्धि का एक प्रधान स्रोत थी। इनकी समूची अर्थव्यवस्था शासक देशों के हित की दृष्टि से की गई थी, इनसे अपने कारखानों के लिए कच्चा माल पाने तथा इनमें अपना तैयार माल बेचने का पूरा प्रयत्न किया जाता था। यह सारा प्रदेश साम्राज्यवादी तथा औपनिवेशिक शोषण का प्रधान केन्द्र था।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इन सब देशों में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हो गये। भारत में महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग और सत्याग्रह का आन्दोलन अन्य देशों की अपेक्षा अधिक विकसित एवं प्रबल था, किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण अन्य देशों में भी राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल हो गये। इसका प्रधान कारण १९४२ में जापान द्वारा बड़ी तेजी से हिन्दचीन, इन्डोनीशिया, मलाया और बर्मा को फ्रेंच, डच और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्त कराना था। जापान इन देशों को योरोपियन शक्तियों की प्रभुता से स्वतन्त्र कर अपनी 'नई व्यवस्था' (New Order) और 'बृहत्तर पूर्वी एशिया के सहसमृद्धि क्षेत्र' (Greater East Asia Co-prosperity Sphere) में सम्मिलित करना चाहता था। उसने सर्वत्र 'एशियावासियों के लिए एशिया' का नारा लगाकर राष्ट्रीयता के विकास में बड़ा सहयोग दिया। जापानियों द्वारा इन देशों में किये गये व्यवहार से इस भावना को पोषण मिला, जापान द्वारा अपने शासनकार्य में स्थानीय व्यक्तियों द्वारा लिए गये सहयोग से विविध प्रदेशों में जनता को प्रशासन का अनुभव प्राप्त हुआ। जापान की हार के बाद ये प्रदेश स्वतन्त्र हो गये, जब इन पर पुनः साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा अधिकार करने का प्रयत्न किया गया तो इण्डोनीशिया तथा हिन्दचीन में स्वतन्त्रता के उग्र संघर्ष छिड़ गये, इनके परिणामस्वरूप युद्ध समाप्ति के १०–१२ वर्ष के भीतर ये सब प्रदेश स्वाधीन हो गये।

इस प्रदेश में सबसे पहले स्वतन्त्रता पाने वाले देश पाकिस्तान (१४ अगस्त १९४७), भारत (१५ अगस्त १९४७), बर्मा (४ जनवरी १९४८), लंका (४ फरवरी १९४८) थे। हिन्देशिया में सर्वश्री सुकर्ण और हट्टा ने यद्यपि स्वतन्त्र गणराज्य की घोषणा १७ अगस्त १९४५ को कर दी थी, किन्तु हालैंड ने इसे स्वीकार नहीं किया, उसने बड़े संघर्ष के बाद २८ दिसम्बर, १९४९ को ही उसे स्वाधीनता प्रदान की। हिन्दचीन में यहां के निवासी फ्रांस के साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने के लिए १९५४ तक लड़ते रहे, २१ जुलाई, १९५४ को जेनीवा सम्मेलन के परिणामस्वरूप इस प्रदेश को स्वतन्त्रता मिली। ३१ अगस्त, १९५७ को मलाया ग्रेट ब्रिटेन की प्रभुता से स्वतन्त्र हुआ। १८–१९ दिसम्बर १९६१ को भारत में गोआ, दमन, दीव की पुर्तगाली बस्तियां स्वतन्त्र हो गईं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया का महत्त्व— पश्चिम के साम्राज्यवाद से मुक्त होने वाले इस भूखण्ड का वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कई कारणों से बड़ा महत्त्व है। **पहला कारण** इसमें प्रभुता पाने के लिए साम्यवादी चीन का प्रबल प्रयास तथा इसे रोकने के लिए पश्चिमी शक्तियों के प्रयत्न हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि वियतनाम, कम्बो-

डिया, थाईलैण्ड, मलाया, वर्मा, इंडोनीशिया में चीनी काफी संख्या में बसे हुए हैं और इनके माध्यम से तथा साम्यवादी दलों के द्वारा चीन यहां अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा है। किन्तु सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन इस प्रदेश में साम्यवादी प्रभाव को इसलिए नहीं बढ़ने देना चाहते हैं कि यहां इसके बढ़ने से आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड का संबन्ध पश्चिमी जगत से कट जायगा। चीन अपनी विशाल जनसंख्या को बढ़ाने के लिए आस्ट्रेलिया के खाली महाद्वीप को ललचाई दृष्टि से देख रहा है। अतः पश्चिमी देशों ने इस प्रदेश में साम्यवाद के प्रभाव को रोकने के लिए सीटो (SEATO) संधि संगठन का निर्माण किया है (देखिये पृ० ३४८)। **दूसरा कारण** इस प्रदेश की सामरिक (Strategic) और भौगोलिक महत्ता है। यह प्रदेश भारतीय एवं प्रशान्त महासागरों के मध्य में अवस्थित है। इन दोनों महासागरों के सब मुख्य मार्ग इस प्रदेश में से होकर गुजरते हैं, इन सब का नियन्त्रण करने की दृष्टि से इस प्रदेश को बड़ा सामरिक महत्त्व प्राप्त है। यह एशिया और आस्ट्रेलिया के बीच में पुल या सेतुबन्ध है। यदि यह चीन के हाथ में आ गया तो उसका अगला लक्ष्य आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड होगा। अतः आस्ट्रेलिया इस प्रदेश की सुरक्षा में गहरी दिलचस्पी रखता है। **तीसरा कारण** आर्थिक महत्ता एवं इस प्रदेश के आर्थिक स्रोत हैं। बर्मा, थाईलैण्ड और हिन्दचीन में अन्न का भंडार है, इनमें चावल का उत्पादन बहुत अधिक है, वे दूसरे देशों के अन्न की आवश्यकता पूरी करते हैं। मलाया में इतना अधिक टिन (रांगा) और रबड़ है कि वह संसार की आवश्यकता पूरी कर सकता है, इंडोनीशिया, सारावाक और उत्तरी ब्रूनेई में तेल पाया जाता है।

उपर्युक्त कारणों से इस प्रदेश की महत्ता होते हुए भी द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से यहां अशान्ति और संघर्ष चला आ रहा है। इसके तीन बड़े कारण हैं। **पहला कारण** विभिन्न जातियों का निवास और इनके परस्पर विरोधी संघर्ष हैं। यह प्रदेश प्राचीन काल से विभिन्न जातियों के संगम और सम्मिश्रण का केन्द्र रहा है। मलाया की मूल जाति मलय है, किन्तु यहां चीनियों की संख्या पर्याप्त है। पहले यह बताया जा चुका है कि सिंगापुर तो चीनी शहर है। फिलिप्पाइन में अत्यधिक सांस्कृतिक एकता होते हुए भी आठ भाषाएं बोली जाती हैं। थाईलैण्ड में ८० प्रतिशत थाई हैं, किन्तु वहां के आर्थिक जीवन पर १७ प्रतिशत से कम चीनियों का नियन्त्रण है। बर्मा में बर्मी ७५% से अधिक नहीं हैं, वहां का आर्थिक जीवन भारतीयों और चीनियों के हाथ में है। मलाया में मलय ५० प्रतिशत से भी कम तथा इंडोनीशिया में जावीय (Javanese) ४५ प्रतिशत हैं। इन देशों में विभिन्न जातियों की सत्ता (Existence of Plural Society इन देशों की अशान्ति का प्रधान कारण है। **दूसरा कारण** लोकतन्त्रीय संस्थाओं की परम्पराओं का अभाव है, कुछ समय पहले तक ये प्रदेश पश्चिमी शक्तियों के हाथ में थे, उन्होंने जानबूझकर यहां उदार लोकतन्त्रीय संस्थाओं का विकास नहीं होने दिया और इनका अपने स्वार्थ के लिए शोषण किया, यहां निर्धनता भी बहुत अधिक है। इन सब का साम्यवादी लाभ उठा रहे हैं। लोकतन्त्र की परम्परायें सुदृढ़ न होने के कारण यहां सैनिक अधिनायकतन्त्रवाद (Military dictatorship) की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है।

तीसरा कारण आन्तरिक अव्यवस्था और अस्थिरता है। साम्यवादी इस प्रयत्न में रहते हैं कि शासन से असन्तुष्ट तत्त्वों को विद्रोह के लिए भड़कायें और विद्रोहियों को सहायता दी जाय। फिलिप्पाइन्स में हुक लोग, बर्मा में करेन, लाओस में पाथेट लाओ, दक्षिण वियतनाम में वियत कांग इसी प्रकार के तत्त्व हैं और इनसे निरन्तर अशान्ति और विद्रोह बने रहते हैं।

इस प्रदेश में १९६३ की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाएं मलायेशिया संघ का निर्माण तथा पाकिस्तान और चीन का गठबन्धन है। यहां इनका संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायगा।

मलायेशिया संघ का निर्माण—दक्षिण-पूर्वी एशिया में अभी तक साम्यवादी छापामारों (Guerillas) का सफलतापूर्वक उन्मूलन केवल मलाया में ही हो सका है। मलाया १९५७ में स्वतन्त्र हुआ। यह दक्षिण एशिया का बड़ा समृद्ध देश है। संसार का ४० प्रतिशत रबड़ तथा टिन यहां उत्पन्न होता है। इस देश की सबसे बड़ी जटिल समस्यायें साम्यवाद के प्रसार का भय तथा मलाया में चीनियों का मलाया की मूल-मलय जाति से भी अधिक संख्या में बसा होना है। इस समस्या के समाधान के लिए मलाया संघ के प्रधानमन्त्री टुंकु अब्दुल रहमान ने मई १९६१ में मलायेशिया की स्थापना का प्रस्ताव रखा। उस समय वह सिंगापुर में वामपक्षी दलों के प्रभाव की वृद्धि से चिन्तित था, सिंगापुर में कम्यूनिस्ट पक्षपाती शासन स्थापित हो जाने से मलाया को भारी खतरा था, यहां चीनियों की संख्या बहुत अधिक थी (दे० ऊ० पृ०५१४)। इनकी संख्या कम करने के लिए उसने मलाया और सिंगापुर के साथ मलय जाति वाले बोर्नियो टापू के ब्रिटिश राज्यों—सारावाक तथा उत्तरी बोर्नियो और ब्रूनेई को मिलाकर मलायेशिया का संघ राज्य बनाने का प्रस्ताव रखा। १ करोड़ की आबादी के इस राज्य को स्थापित करने में कई लाभ थे। **पहला** लाभ यह था कि इस कट्टर साम्यवादविरोधी राज्य की स्थापना से दक्षिण में चीनी साम्यवाद का प्रसार रुक सकता था। **दूसरा** लाभ यह था कि नये संघ में चीनियों की संख्या कम हो जाने से उनका प्रभाव घट जाता था। **तीसरा** लाभ यह था कि जापान के बराबर क्षेत्रफल रखने वाले तथा १ करोड़ की आबादी के नये शक्तिशाली राष्ट्र के निर्माण से इस क्षेत्र में राजनीतिक स्थिरता और शान्ति बढ़ने की सम्भावना थी। **चौथा** लाभ यह था कि सिंगापुर के मलाया सघ में सम्मिलित हो जाने से मलाया सिंगापुर के बन्दरगाह का प्रयोग कर सकता था और इसकी प्रतियोगिता में उसे पृथक् बन्दरगाह के विकास की आवश्यकता नहीं थी।

किन्तु मलायेशिया के निर्माण में कई बड़ी बाधायें थीं। **पहली** बाधा सिंगापुर की थी। सिंगापुर का प्रधानमंत्री ली कुआयु इसे मलाया के साथ मिलाना चाहता था, किन्तु वामपक्षी दल इसके विरोधी थे। अन्त में इस विषय में सं० रा० संघ के द्वारा जनमत संग्रह का निश्चय हुआ और ७१% ने मलायेशिया में सम्मिलित होने के पक्ष में वोट दिया। अतः यह बाधा दूर हो गयी। **दूसरी** बाधा फिलिप्पाइन्स द्वीपसमूह की थी। इसका यह दावा था कि समूचे उत्तरी बोर्नियो पर उसका अधिकार है क्योंकि अंग्रेज़ों ने इसे १८७८ ई० में सुलू टापू के सुल्तान से लिया था अतः अंग्रेजों को यहां से

हटते हुए यह प्रदेश सुलू के सुल्तान के उत्तराधिकारी फिलिप्पाइन्स टापू को सौंपना चाहिए। फिलिप्पाइन्स ने राष्ट्रपति मैकादगाल मफिलिण्डो (Maphilindo) अर्थात् मलाया, फिलिप्पाइन्स तथा इन्डोनीशिया का संघ बनाना चाहते थे। किन्तु बाद में उत्तरी बोर्नियो के प्रश्न पर फिलिप्पाइन्स का रुख नर्म पड़ गया। तीसरी बाधा इण्डोनीशिया का प्रबल विरोध था। वह उत्तरी बोर्नियो, ब्रूनेई तथा सारावाक (साबाह) के मलायेशिया में मिलाने का विरोध था, उसकी लोलुप दृष्टि इन प्रदेशों के तेल और रबड़ पर थी अतः उसने यह आग्रह किया कि संघ की स्थापना से पहले इन प्रदेशों के व्यक्तियों का मत इस विषय में जान लेना चाहिए। बोर्नियो तथा सारावाक के निवासियों की मलायेशिया में सम्मिलित होने की इच्छा का पता लगाने के लिए सं० रा० संघ का एक आयोग नियत किया गया तथा इसने यह रिपोर्ट दी कि इन राज्यों का ६० प्रतिशत बहुमत मलायेशिया के संघ में सम्मिलित होना चाहता है। अतः इस संघ की स्थापना का निश्चय हुआ। ब्रूनेई इसमें सम्मिलित नहीं हुआ क्योंकि इसका सुल्तान कुछ विशेषाधिकारों के साथ, तेल से प्राप्त होने वाली २० करोड़ की रायल्टी की धनराशि केवल ब्रूनेई के विकास पर व्यय कराना चाहता था। यह आशा है कि भविष्य में ब्रूनेई भी इसमें सम्मिलित हो जायगा।

१६ सितम्बर १९६३ को मलाया, सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो (साबाह) तथा सारावाक के राज्यों के नवीन मलायेशिया संघ की स्थापना की घोषणा की गई। किन्तु इसके साथ ही नवीन राज्य पर संकट के बादल घिर आये। इंडोनीशिया के राष्ट्रपति सूकर्ण ने २५ सितम्बर को जकार्त्ता में एक उत्तेजक भाषण में यह घोषणा की कि बोर्नियो में जनता की इच्छा 'संगीनों के पहरे' में जानी गई, यह इंडोनीशिया को नष्ट करने के लिए, इंग्लैण्ड का नया उपनिवेशवाद (Neo-colonilasm) है। उसने मलायेशिया से मुकाबले (Confrontation) की नीति की घोषणा की। उत्तेजित इंडोनीशियन भीड़ ने जकार्त्ता में ब्रिटिश दूतावास पर हमला किया। फिलिप्पाइन्स और इंडोनीशिया ने मलायेशिया से अपने दौत्य-सम्बन्ध तोड़ लिये और इस प्रदेश में भीषण तनाव और अशान्ति की स्थिति उत्पन्न हो गई।

पाकिस्तान की विदेशनीति—(१) **मौलिक सिद्धान्त**—हमारे पड़ोसी पाकिस्तान की परराष्ट्र नीति का मूल प्रेरणास्रोत भारत का भय और उसके निवारण के लिए मित्रों की खोज करना ही रहा है। कीथ कैलार्ड के शब्दों में "उसकी विदेशनीति पर निरन्तर केवल एक तत्त्व हावी रहा है—भारत के विरुद्ध सुरक्षा पाने की इच्छा।"[५१] अतएव वह भारतविरोधी नीति पर चलता रहा है, जो भारत का मित्र है, वह पाकिस्तान का शत्रु है; जो भारत का शत्रु है, वह पाकिस्तान का मित्र है।[५२] पाकिस्तान के

५१. कीथ कैलार्ड—पाकिस्तानस् फारेन पालिसी द्वितीय संशोधित संस्करण (१९५९), पृ० ३७

५२. इसका एक मनोरंजक उदाहरण यह है कि १९४९ में जब भारत के प्रधानमन्त्री को वाशिंगटन की ओर से वहां आने का निमन्त्रण मिला तो पाकिस्तान की ओर से यह घोषणा की

साथ चीन के गठबन्धन और मैत्री का भी यही रहस्य है। चीन-भारत के सम्बन्ध ज्यों-ज्यों बिगड़ते गये, त्यों-त्यों पाकिस्तान और चीन की मैत्री सुदृढ़ होती गई। भारत ने विरोधी गुटों और सैनिक संधियों से पृथक् रहने की नीति अपनायी तो इसके विरोध में पाकिस्तान सीटो और सैण्टो के संधि संगठनों में सम्मिलित हो गया। पाकिस्तान (क्षेत्रफल ३,६५,९२९ वर्गमील, आबादी ९,३७,२०,६१३) यह प्रचार करता है कि वह भारत (क्षेत्रफल १२,६२,२७५, आबादी ४३,९२,३५,०८२) की तुलना में छोटा-सा देश है, भारत उसकी सत्ता मिटाने पर तुला हुआ है, उसे सदैव भारत के आक्रमण का भय बना हुआ है। पाकिस्तान के विदेशमन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने २३ मार्च, १९६४ को न्यूयार्क में एक टेलीविजन भेंट में भारत के विरुद्ध विषवमन करते हुए कहा कि प्रधानमंत्री नेहरू पाकिस्तान के साथ 'नग्न आक्रमण' की नीति बरत रहे हैं और काश्मीर में पिछले १५ वर्ष में भारत के आक्रमणों का रिकार्ड ऐसा है कि चंगेजखां भी इससे ईर्ष्या करेगा।[५३]

भारत के विरुद्ध मित्रों की खोज में पाकिस्तान ने पहले ग्रेट ब्रिटेन से मैत्री बढ़ायी, क्योंकि अनेक ब्रिटिश अधिकारियों में उसके प्रति पक्षपात था। इसके बाद उसने कराची से काहिरा तक के मुस्लिम राज्यों के गुट को संगठित करने तथा इनका नेता बनने का प्रयत्न किया। किन्तु इसमें सफलता न मिलने पर वह अमेरिका के साम्यवाद विरोधी अभियान में सम्मिलित हुआ। कोरिया के युद्ध में वह वाशिंगटन का कट्टर समर्थक था। फरवरी १९५४ से वह अमेरिका से सैनिक मदद लेने लगा, उसके सीटो तथा सैण्टो संधि संगठनों का सदस्य बना। इसमें अमेरिका का उद्देश्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना, पाकिस्तान में रूस की मध्यएशिया की दक्षिणी सीमा के निकट सैनिक अड्डे प्राप्त करके यहां से रूस की सैनिक गतिविधि का निरीक्षण करना था, यू-२ के जासूसी विमान की उड़ान (दे० ऊ० पृ० ३००) पेशावर से शुरू हुई थी। किन्तु पाकिस्तान इस सैनिक गठबन्धन को भारत के विरोध में सहायक समझता था। पाकिस्तान के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री सुहरावर्दी ने पाकिस्तान की असेम्बली में फरवरी १९५७ में सैनिक संधियों का उग्र समर्थन करते हुए कहा था कि "ये पाकिस्तान के लिए अत्यावश्यक हैं क्योंकि उस पर भारत के आक्रमण का संकट सदा बना हुआ है। जिस देश पर हमले की आशंका हो, वह (सैनिक संधियों से) पृथक् रहने की नीति नहीं रख सकता, अतः हमें मित्र बनाने चाहिएं।"[५४] अतः सीटो तथा सैण्टो के संधि संगठनों में सम्मिलित होने में पाकिस्तान का मूल उद्देश्य भारत के विरुद्ध विशेषतः काश्मीर के प्रश्न पर

गई कि मास्को ने पाकिस्तानी प्रधानमन्त्री श्री लियाकतअली खां को अपने देश में आने का निमन्त्रण दिया है और इसे प्रधानमन्त्री ने स्वीकार कर लिया है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यह मास्को यात्रा नहीं हुई और एक वर्ष के भीतर लियाकतअली अमेरिका पहुंचकर पश्चिमी गुट से अपनी विचारधाराओं की समानता पर बल देने लगे।

५३. हिन्दुस्तान टाइम्ज़, २४ मार्च, १९६४, पृ० ९

५४. कीथ कैलार्ड—वही पुस्तक

पश्चिमी देशों का सहयोग और सहायता पाना था।

पाकिस्तान की चीन के साथ मैत्री—पश्चिमी देशों के साथ भारत के विरुद्ध सहायता पाने के साथ-साथ पाकिस्तान ने चीन से भी मैत्री संबंध बढ़ाने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी क्योंकि वह उसके साम्यवाद को अपने देश के लिए कोई खतरा नहीं समझता था और अपने प्रबल विरोधी भारत के साथ चीन का वैमनस्य बढ़ने पर उसे चीन के साथ मैत्री बढ़ाना बड़ा लाभकर प्रतीत हुआ। पाकिस्तान ने पेकिंग की सरकार को १९५० में मान्यता प्रदान की, १९५१ में राजदूतों का आदान-प्रदान किया और इसके बाद के वर्षों में रुई के आर्थिक स्वार्थ के कारण दोनों देशों में सम्बन्ध बढ़ने लगे। पाकिस्तान रुई बेचना चाहता था, पेकिंग इसे खरीदने को उत्सुक था। अतः दोनों देशों में व्यापार बढ़ा। इस समय पेकिंग ने अपने देश के मुस्लिम संगठनों के माध्यम से पाकिस्तान के मुस्लिम संगठनों से सम्पर्क स्थापित किया। किन्तु १९५४ में पाकिस्तान के साम्यवादविरोधी सीटो संगठन में सम्मिलित होने पर पेकिंग ने इसकी निन्दा की, किन्तु इससे दोनों देशों के सम्बन्ध बहुत नहीं बिगड़े क्योंकि पाकिस्तान के इसमें सम्मिलित होने का उद्देश्य नई दिल्ली और मास्को का विरोध था, न कि पेकिंग का।[५५] पेकिंग इस समय निरन्तर यह कहता रहा कि काश्मीर के प्रश्न का निर्णय संधिवार्त्ता से होना चाहिये, जबकि रूस इस समय पाकिस्तान में अमेरिकी सैनिक अड्डे स्थापित होने के कारण पाकिस्तान का कट्टर विरोधी था और काश्मीर के प्रश्न पर भारत का प्रबल समर्थक था।

१९५४ से १९५९ तक भारत और चीन के मैत्रीसम्बन्ध प्रगाढ़ रहे। इस बीच पेकिंग और पाकिस्तान के सम्बन्ध अधिक मैत्रीपूर्ण न होने पर भी पूर्ववत् बने रहे। १९५७ में पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री सुहरावर्दी ने घोषणा की कि "मैं चीन की मैत्री चाहता हूँ। मैं इस विषय में अकेला नहीं हूँ। मुझे इस बात का पूरा निश्चय है कि जब संकट का समय आयेगा, चीन हमारी सहायता करेगा।" सुहरावर्दी की यह भविष्य-वाणी अब पूरी हो रही है।

१९५९ से चीन और भारत के सम्बन्धों में कटुता बढ़ने लगी। इसके साथ ही चीन और पाकिस्तान की मैत्री घनिष्ठ होने लगी। इसी समय भारत में चीन के राजदूत ने नई दिल्ली को चेतावनी दी कि उसे दो मोर्चों पर लड़ना पड़ेगा। पाकिस्तान ने काश्मीर पर अपना प्रभुत्व सुदृढ़ करने के लिए चीन से काश्मीर और चीन की सीमा के बारे में समझौते की बात आरम्भ कर दी। १९६१ से पाकिस्तानी समाचारपत्रों ने यह प्रचार आरम्भ किया कि चीन के विरुद्ध किसी प्रतिरक्षा संगठन में पाकिस्तान को दिल-चस्पी नहीं है। दिसम्बर १९६१ में जब भारत ने गोआ, दमन तथा दीव को पुर्तगाल के उपनिवेशवादी अत्याचारी शासन से मुक्त किया तो पाकिस्तान में कुछ लोगों ने यह आन्दोलन किया कि इससे यह सिद्ध हो गया है कि पश्चिमी देश विश्वसनीय मित्र नहीं हैं क्योंकि उन्होंने नाटो संधि संगठन के अपने मित्र पुर्तगाल का इस संकट के समय साथ

५५. डोक बार्नेट—कम्यूनिस्ट चायना एण्ड एशिया, पृ० ३१५

नहीं दिया, अतः इस बात का भरोसा नहीं है कि काश्मीर के प्रश्न पर वे भारत के विरुद्ध पाकिस्तान का साथ देंगे। अतः पाकिस्तान को पश्चिमी देशों पर विश्वास न करके चीन के साथ मैत्री बढ़ानी चाहिये।

अक्टूबर १९६२ में भारत पर चीन का आक्रमण होने पर पाकिस्तान ने भारत के शत्रु चीन को घनिष्ठ मित्र बनाने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। इसके लिए उसने चीन से कई समझौते किये। पहला समझौता २ मार्च, १९६३ का **सिंकियांग और काश्मीर की सीमा विषयक अन्तिम समझौता** (Final Agreement on Delimitation and Demarcation of Sinkiang Kashmir Border) है। काश्मीर राज्य की सीमा चीन के मध्यएशियाई सिंकियांग प्रान्त से स्पर्श करती है। काश्मीर के भारत में सम्मिलित होने और इसके अंग बनने के बाद पाकिस्तान ने इस पर आक्रमण किया, १९४८ में लड़ाई बन्द होने पर पाकिस्तान ने काश्मीर के इस प्रदेश पर अवैध अधिकार कर लिया। कानूनी दृष्टि से यह भारत का भाग है। पाकिस्तान ने इस पर अपना अवैध स्वत्व सुदृढ़ करने के लिए चीन से समझौता कर लिया है।[५६] पाकिस्तान का यह कहना है कि इस प्रदेश में चीन के तथा उसके प्रादेशिक दावों में ३४०० वर्गमील का अन्तर था। इस समझौते से पाकिस्तान को १३५० वर्गमील का प्रदेश मिला है। इसमें ७५० वर्ग-मील का वह प्रदेश भी है, जो चीनियों के अधिकार में था। भारत ने इस समझौते पर विरोध प्रकट करते हुए कहा कि पाकिस्तान ने काश्मीर पर हमला करके इस प्रदेश पर अवैध अधिकार कर रखा है, उसे इस सीमान्त प्रदेश के सम्बन्ध में चीन से समझौता करने का कोई अधिकार नहीं है। श्री नेहरू ने लोकसभा में ५ मार्च, १९६३ को इस समझौते का बड़ा विरोध करते हुए कहा कि चीन, भारत और पाकिस्तान के काश्मीर के झगड़े का लाभ उठाते हुए अपने प्रदेश का विस्तार कर रहा है। पाकिस्तान का यह कहना बिलकुल असत्य है कि इससे चीन को २००० वर्गमील का प्रदेश प्राप्त हुआ है। पाकिस्तान द्वारा प्रकाशित नक्शों के अनुसार यह १३ हजार वर्गमील का प्रदेश है।

पाकिस्तान ने यह दावा किया है कि यह समझौता सीटो तथा सैण्टो का विरोधी नहीं है, सीमा सम्बन्धी विवाद को संधिवार्ता द्वारा शान्तिपूर्ण रीति से हल करके इसने सीटो और सैण्टो की सहायता की है, यदि वह ऐसा न करता तो यह सम्भव था कि जैसे भारत की सीमा का विवाद उत्पन्न हुआ है, वैसे ही इस सीमा पर संघर्ष पैदा होने से घोर अशान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हो जाता।[५७]

पाकिस्तान का यह दावा तो सत्य नहीं है, किन्तु इतना अवश्य सत्य है कि यह भारत की कठिनाइयों का लाभ उठाते हुए चीन के साथ उसके सम्बन्ध प्रगाढ़ बनाने का परिचायक है। उसने इसके साथ ही, पेकिंग के साथ कई अन्य समझौते भी किये हैं। जनवरी १९६३ में दोनों देशों में एक व्यापार समझौता हुआ। अगस्त में एक अन्य सम-

---

५६. कीसिंग्स आर्काइव्ज मई २५—जून १, १९६३, पृ० १९४२७-९ तक इस समझौते के विस्तृत विवरण तथा नक्शे के लिए देखिये।

५७. करैण्ट हिस्टरी फरवरी १९६४, पृष्ठ ७४

झौते द्वारा पाकिस्तान ने चीन के हवाई जहाजों को अपने प्रदेश के हवाई अड्डों में उतरने तथा उड़ने के कुछ अधिकार प्रदान किये। इस पर सं० रा० अमेरिका ने ढाका के हवाई अड्डे के सुधार के लिए दिये जानेवाले ४३ लाख डालर का ऋण देने के समझौते के स्थगित करने की घोषणा की। सितम्बर १९६३ में पेकिंग ने रावलपिण्डी से जूट के बदले सीमेण्ट देने का समझौता किया है। अक्टूबर १९६३ में साम्यवादी चीनी जनगणराज्य के समारोह में भाग लेने के लिए पाकिस्तान से पांच व्यक्तियों का शिष्टमंडल चीन गया। उपर्युक्त सभी उदाहरण पाकिस्तान की पेकिंगप्रेमी नई नीति के सूचक हैं।

पाकिस्तान और भारत के सम्बन्ध—१९४७ में भारत और पाकिस्तान का एक साथ जन्म हुआ और उसी समय से पाकिस्तान भारत को अपना कट्टर शत्रु मानता रहा है। पड़ोसी होने के नाते भारत से उसका कई विषयों में उग्र विवाद रहा है। इनमें से कुछ विवाद शान्तिपूर्वक सुलझाये जा चुके हैं और कुछ अभी तक बने हुए हैं। दोनों देशों में एक बड़ा विवाद **नहरी पानी का** था। इसे सितम्बर १९६० में विश्व बैंक के माध्यम से सुलझा लिया गया। इस विवाद का मूल आधार यह था कि पंजाब की पांचों नदियों के मूल स्रोत हिमालय के उस प्रदेश में हैं, जिस पर भारत का शासन है, पाकिस्तान के पंजाब और सिन्ध प्रान्तों में सिंचाई इन नदियों से निकाली गई नहरों के पानी पर आश्रित है। पाकिस्तान को यह आशंका है कि भारत किसी भी समय इन नदियों के पानी को रोक कर उसकी जनता को भूखा मार सकता है। अतः वह इस विषय में ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संधि चाहता था जिसके अनुसार उसे इन नदियों का पानी अविच्छिन्न रूप से मिलता रहे। विश्व बैंक के माध्यम से इस विषय में संधि द्वारा दोनों देशों के एक बड़े विवाद का हल हो गया। इस संधि की महत्त्वपूर्ण व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं—(१) भारत को तीन पूर्वी नदियों—सतलुज, व्यास और रावी के पानी के प्रयोग का पूरा अधिकार दिया गया। (२) पाकिस्तान को तीन पश्चिमी नदियों—चनाब, जेहलम, सिन्ध के पानी के पूरे प्रयोग का अधिकार देते हुए, काश्मीर और हिमाचल प्रदेश के लिए इन नदियों से कुछ पानी भारत को दिया गया। (३) विश्व बैंक ने तथा छः मित्र देशों—सं० रा० अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और पश्चिमी जर्मनी ने दोनों देशों को १९७० तक नई योजक नहरें (Link Canals) बनाने के लिए सहायता और ऋण देना स्वीकार किया, तब तक भारत द्वारा पाकिस्तान को यथापूर्व पानी देने का निश्चय हुआ। (४) भारत ने पाकिस्तान को ८३ करोड़ रुपया नई नहरें तथा बांध बनाने के लिए देना स्वीकार किया। इससे दोनों देशों में एक बड़े उग्र विवाद की समाप्ति हो गयी। श्री नेहरू ने इस अवसर पर कहा था कि—"यह दोनों देशों के सहयोग का प्रतीक है।"

किन्तु दोनों देशों के उग्र संघर्ष का मूल कारण—काश्मीर के प्रश्न का अब तक समाधान नहीं हो सका। भारत की स्वतन्त्रता का १९४७ का कानून बनाते हुए ब्रिटिश संसद ने धारा ६४ में यह व्यवस्था की थी कि कोई भी देशी राज्य हिन्दुस्तान या पाकिस्तान में उस समय सम्मिलित समझा जायगा, जबकि उसके शासक द्वारा इसमें सम्मिलित होने की प्रार्थना गवर्नर जनरल द्वारा स्वीकार करली जाय। इस व्यवस्था के अनुसार

५०० से अधिक देशी राज्य राजाओं की प्रार्थना पर हिन्दुस्तान या पाकिस्तान में सम्मिलित हो गये। किन्तु कुछ राज्यों में विशेष स्थिति होने से ऐसा नहीं हो सका। हैदराबाद और जूनागढ़ ऐसे राज्य थे, जिनका शासक मुसलमान और अधिकांश प्रजा हिन्दू थी। जूनागढ़ में हिन्दू प्रजा ने मुस्लिम नवाब के विरुद्ध विद्रोह करके भारत में सम्मिलित होने की घोषणा की। हैदराबाद की समस्या भारत सरकार की पुलिस कार्य-वाही से हल हो गई। किन्तु काश्मीर की समस्या का समाधान नहीं हुआ।

काश्मीर में राजा हिन्दू तथा काश्मीर की घाटी की अधिकांश प्रजा मुसलमान थी। यह दोनों राज्यों के साथ लगा हुआ था। काश्मीर के महाराजा ने पाकिस्तान के साथ यथापूर्व स्थिति (Standstill agreement) का समझौता किया, इसके अनुसार पाकिस्तान ने यह स्वीकार किया कि वह काश्मीर को ब्रिटिशकाल की भांति विभिन्न वस्तुयें अपने मार्गों द्वारा पहुंचाने की सुविधायें देता रहेगा। किन्तु शीघ्र ही पाकिस्तान ने इस समझौते की अवहेलना की, काश्मीर में नमक, तेल आदि आवश्यक वस्तुओं के भेजने पर प्रतिबन्ध लगाकर उस पर दबाव डालना शुरू किया कि वह पाकिस्तान के साथ मिल जाय। किन्तु जब इस दबाव से भी उसका उद्देश्य पूरा न हुआ तो उसने उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त के कबायली लोगों को भड़का कर, उनसे काश्मीर पर हमला करा दिया। इस पर अपने राज्य की रक्षा के लिए २६ अक्टूबर, १९४७ को काश्मीर के महा-राजा ने भारत में सम्मिलित होने की तथा बर्बर आक्रान्ताओं से रक्षा की प्रार्थना की। भारत सरकार ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए उसे सैनिक सहायता भेजी। उस समय पाकिस्तान ने अपने सैनिकों को भी काश्मीर पर हमले के लिए भेजा और उन्होंने काश्मीर के काफी बड़े हिस्से पर अधिकार कर लिया। पहले यह बताया जा चुका है कि भारत किस प्रकार यह झगड़ा सुरक्षा परिषद् में ले गया और वहां पिछले १४ वर्षों में इस पर क्या विचार होता रहा है (देखिये ऊपर पृ० २८७–९३)।

अक्टूबर १९६२ में भारत पर चीन का आक्रमण होने के बाद काश्मीर की समस्या का हल करने के लिए नये प्रयत्न किये गये। अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन चीन के साथ संघर्ष में भारत को विजयी देखना चाहते थे। क्योंकि भारत के पराभव का अर्थ न केवल भारत में, किन्तु एशिया में और विश्व में इनके प्रबल शत्रु साम्यवाद की विजय थी। भारत को इस समय अपनी रक्षा के लिए आवश्यक रणसामग्री चाहिये थी, उसकी इस प्रार्थना पर पश्चिमी देशों ने भारत को भारी परिमाण में सैनिक सहायता पहुंचानी शुरू की। भारत की सामरिक आवश्यकताओं के स्थानीय सर्वेक्षण के लिए राष्ट्रपति कैनेडी ने हैरिमैन को वाशिंगटन से तथा ब्रिटिश सरकार ने लन्दन से डन्कन सैण्डीज़ को भारत भेजा। इन्होंने न केवल सैनिक आवश्यकताओं की जांच की, किन्तु यह भी अनुभव किया कि भारत और पाकिस्तान के विवाद का समाधान शीघ्र होना चाहिए क्योंकि ऐसा न होने के कारण भारत को अपनी सेना का काफी बड़ा भाग पाकिस्तान के सीमान्त पर रखना पड़ता है और चीन के विरुद्ध वह अपनी पूरी शक्ति नहीं लगा सकता।

किन्तु इसी समय चीनी आक्रमण से रक्षा के लिए भारत को पश्चिमी देशों से प्राप्त होने वाली सैनिक सहायता पर पाकिस्तान में बड़ा असन्तोष और शोर मचा

पाकिस्तानी यह समझते थे कि उनका असली शत्रु भारत है, उसे सैनिक सहायता मिलने से वह सुदृढ़ हो रहा है और पाकिस्तान का खतरा बढ़ रहा है। पाकिस्तान में सं० रा० अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन का विरोध पराकाष्ठा पर पहुंच गया। पाकिस्तान को इससे बड़ा धक्का लगा कि उसके मित्र पश्चिमी देश पहले ही उससे शक्तिशाली भारत को सैनिक दृष्टि से और भी अधिक प्रबल बना रहे हैं। उन्हें अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन के इन आश्वासनों में तनिक भी विश्वास नहीं हुआ कि भारत को दी जाने वाली सहायता केवल चीनियों से लड़ने के लिए है, इसका प्रयोग पाकिस्तान के विरुद्ध नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा किया गया तो ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका उसकी ओर से भारत के विरुद्ध लड़ेंगे।[५८] पाक राष्ट्रपति अयूबखां ने ५ तथा ७ नवम्बर, १९६२ को दिए गए वक्तव्यों में पश्चिमी देशों द्वारा भारत को दी जाने वाली सैनिक सहायता का निर्णय पाकिस्तान के साथ विश्वासघात बताया। २१ नवम्बर को रावलपिण्डी में पाकिस्तानी राष्ट्रीय परिषद् का आवश्यक अधिवेशन आरम्भ होने पर सभाभवन के बाहर २० हजार की उत्तेजित भीड़ ने यह मांग की कि पाकिस्तान सीटो, सैण्टो तथा ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से पृथक् हो जाय।[५९] विदेशमन्त्री श्री भुट्टो ने अप्रैल १९६३ में यह घोषणा की कि पाकिस्तान की विदेशनीति को नई दिशा में मोड़ देना होगा और यदि उसके मित्र उसका साथ छोड़ेंगे तो वह भी अपने मित्रों का साथ छोड़ देगा।[६०]

पश्चिमी देशों ने पाकिस्तान की आशंकाओं को निर्मूल करने के लिए दोनों देशों में मैत्री सम्बन्ध बढ़ाने का प्रयत्न किया और यह सुझाव दिया कि दोनों देशों की प्रधान समस्या—काश्मीर को वार्त्ता द्वारा हल किया जाय। २९ नवम्बर, १९६२ को पाकिस्तान के राष्ट्रपति और भारत के प्रधानमंत्री काश्मीर के मामले पर तथा अन्य संबद्ध मामलों पर वार्त्ता द्वारा मतभेद दूर करने के लिए सहमत हो गए ताकि दोनों पड़ोसी शान्ति और मित्रतापूर्वक रह सकें। इसके अनुसार २७ दिसम्बर, १९६२ से १६ मई, १९६३ तक वार्त्ताओं के छः दौर चले। इनमें पाकिस्तान की ओर से विदेशमन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने तथा भारत की ओर से सरदार स्वर्णसिंह ने भाग लिया। किन्तु रावलपिण्डी में वार्त्ता का पहला दौर शुरू होने से पहले ही पाकिस्तान की ओर से घोषणा की गयी कि उसने चीन के साथ काश्मीर की सीमा का समझौता सिद्धान्त रूप में कर लिया है। यह भारत को समझौता करने की धमकी और दबाव था। इस दशा में इस वार्त्ता का सफल होना संदिग्ध था। इसके बाद नई दिल्ली, कराची, कलकत्ता, कराची और नई दिल्ली में पांच बार और वार्त्ता हुई, किन्तु यह समस्या हल न हो सकी। इसका मुख्य कारण भारत और पाकिस्तान के गम्भीर मतभेद तथा पाकिस्तान की असंभव और बेहूदा मांगें थीं। इस समय भारत काश्मीर की समस्या का स्थायी हल करने के लिए एक राजनीतिक समझौता (Political settlement) करने के लिए तथा दोनों देशों में

---

५८. करैण्ट हिस्टरी, फरवरी १९६४, पृ० ७२

५९. कीसिंग्स आर्काइव्ज, जुलाई २७—अगस्त ३, १९६३, पृ० १९५४१–२

६०. करैण्ट हिस्टरी, फरवरी १९६४, पृ० ७३

शान्ति बनाये रखने के लिए 'युद्धबन्दी घोषणा' (No war Declaration) करने के लिए तैयार था। काश्मीर सम्बन्धी राजनीतिक समझौते का यह अभिप्राय था कि युद्धविराम रेखा के समय पाकिस्तान ने काश्मीर के जितने प्रदेश पर अवैध रूप से अधिकार कर रखा है, वह उसे दे दिया जाय, इस रेखा को ठीक बनाए रखने के लिए कुछ अन्य प्रदेश भी उसे प्रदान किया जाय, किन्तु काश्मीर की घाटी पर तथा वर्तमान जम्मू प्रान्त पर भारत का वर्तमान स्वामित्व बना रहे। पाकिस्तान काश्मीर में जनमतसंग्रह (Plebiscite) की मांग पर अड़ा हुआ था। काश्मीर के 'राजनीतिक समझौते' के बारे में उसकी यह मांग थी कि इसका प्रादेशिक बंटवारा करते हुए न केवल राजनीतिक घटनाओं को किन्तु आबादी, धर्म, नदियों के नियन्त्रण तथा प्रतिरक्षा की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखना चाहिए। इसके अनुसार उसने काश्मीर की घाटी की मांग इसलिए की कि इसकी जनसंख्या प्रधान रूप से मुस्लिम है, लद्दाख उसे इसलिए मिलना चाहिए कि यह काश्मीर की घाटी से पाकिस्तान के करगिल तक के रास्ते को जोड़ने वाला है, जम्मू का हिन्दू प्रान्त पाकिस्तान को इसलिए मिलना चाहिए कि इसमें चनाब नदी का उपरला भाग है। सरदार स्वर्णसिंह के शब्दों में भारत पाकिस्तान को काश्मीर के ८५००० वर्गमील के प्रदेश में से ३२ से ३४ हजार वर्गमील तक का प्रदेश देने को तैयार था, किन्तु पाकिस्तान भारत को केवल ३००० मील का प्रदेश ही देना चाहता था।[६१] इस अवस्था में दोनों का समझौता संभव न था। भारत के युद्धबन्द करने के समझौते (No war Pact) के बारे में पाकिस्तान का यह मत था कि जब तक काश्मीर की समस्या हल नहीं होती, तब तक यह समझौता व्यर्थ है। भारत ने पहले काश्मीर, जूनागढ़, हैदराबाद, गोआ में शक्ति का प्रयोग किया है और यह समझौता उसे आजाद काश्मीर को बलपूर्वक हथियाने में बाधक नहीं बन सकता, क्योंकि प्रायः ऐसे पैक्ट इन्हें शुरू करने वाले तोड़ा करते हैं, जैसे जर्मनी और रूस की रिब्बनट्राप-मोलोतोव अनाक्रमण संधि।[६२] पाकिस्तान की इन अनुचित और बेहूदा मांगों के कारण काश्मीर की समस्या के समाधान का यह प्रयत्न भी विफल हुआ।

समझौते की वार्ता विफल होने के बाद भारत तथा पाकिस्तान के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ रहे हैं। पाकिस्तान शरारत पर तुला हुआ है। वह निरन्तर युद्धविराम रेखा का उल्लंघन करता रहता है और यह प्रदर्शित करना चाहता है कि भारत उस पर आक्रमण कर रहा है। फरवरी १९६४ में उसने पुनः सुरक्षा परिषद् में काश्मीर का प्रश्न उठाया और भारत पर बहुत कीचड़ उछाला। भारत के प्रतिनिधि शिक्षामंत्री श्री छागला ने इसका मुंह तोड़ उत्तर देते हुए कहा कि काश्मीर भारत का अंग है और यह भारत का घरेलू मामला है। सुरक्षा परिषद् की यह बैठक पाकिस्तान की प्रार्थना पर बिना किसी निर्णय के स्थगित हो गई। इस बीच पाकिस्तान ने पूर्वी पाकिस्तान से अल्पसंख्यकों को भारी संख्या में निकालने तथा बार-बार भारतीय सीमा पर आक्रमण करने की नीति

---

६१. कीसिंग्स आर्काइव्ज, पृ० १९५४४

६२. पाकिस्तान १९६२-६३, कराची (पाकिस्तान सरकार द्वारा प्रकाशित) पृ० १११

अपनायी। इससे लाखों नये शरणार्थी भारत आने लगे। पहले पाकिस्तान में हिन्दुओं पर अत्याचार होते थे, १९६४ में ईसाइयों, बौद्धों तथा जनजातियों को भी पाकिस्तानी अत्याचारों से पीड़ित होकर भारत में शरण ग्रहण करनी पड़ रही है।

इस समय पाकिस्तान राजनीतिक भयादोहन (Political blackmail) और झांसेपट्टी की दुरंगी नीति चल रहा है। एक ओर तो रूस और चीन के साम्यवादी हौए से संसार की रक्षा के लिए वह अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन आदि पश्चिमी देशों की सैनिक गुट-बंदियों में शामिल हुआ और उनसे उसने काश्मीर के मामले में भारत के विरुद्ध पूरा सहयोग पाने का प्रयास किया। दूसरी ओर उसने साम्यवादी चीन से दोस्ती बढ़ाई। चीन के भारत पर आक्रमण का वह दोहरा लाभ उठाना चाहता था। एक ओर उसने भारत की इस मुसीबत का फायदा उठाने के लिए अपने मित्र पश्चिमी देशों द्वारा भारत पर काश्मीर के बारे में संधिवार्त्ता करने पर दबाव डलवाया और उपर्युक्त असंभव मांगें रखीं। दूसरी ओर वह पश्चिमी देशों को लाल चीन से मैत्री बढ़ाने का भय दिखाकर उनसे अधिक से अधिक सुविधायें प्राप्त करना चाहता है। १७ जुलाई, १९६३ को विदेशमंत्री भुट्टो ने पाकिस्तान असेम्बली में यह घोषणा की कि "यदि पाकिस्तान पर हमला हुआ तो वह देश अकेला नहीं होगा। इसमें एशिया का सबसे बड़ा देश पड़ जायगा"। इस पर लन्दन के टाइम्ज़ ने यह टिप्पणी की थी कि इससे प्रतीत होता है कि रावलपिण्डी और पेकिंग में सैनिक सहायता का गुप्त समझौता हो चुका है।[63] पाकिस्तान ने इससे पश्चिमी मित्रों के लिए जटिल परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। वे चीन के आक्रमण के विरुद्ध भारत की पूरी सहायता कर रहे हैं क्योंकि उन्हें साम्यवाद की सफलता अभीष्ट नहीं है। दूसरी ओर पाकिस्तान उनका पुराना मित्र है, उन्होंने पाकिस्तान में रूस की गतिविधियों की देखभाल के लिए कई सैनिक अड्डे लिए हुए हैं। वे इन्हें भी छोड़ना नहीं चाहते। पाकिस्तान सुरक्षा परिषद् में काश्मीर का प्रश्न बार-बार उठाकर उनकी मित्रता की कड़ी परीक्षा लेता है, किन्तु वे न पाकिस्तान को नाराज़ कर सकते हैं और न भारत को। फरवरी १९६४ में उन्होंने पाकिस्तान को संतुष्ट करने के लिए इस प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् में विचार करना स्वीकार कर लिया किन्तु मार्च १९६४ में जब पाकिस्तान ने इस प्रश्न को दुबारा उठाना चाहा और भारत ने इसे मई तक स्थगित करना चाहा तो उन्होंने भारत की बात मानकर मई १९६४ तक उस पर विचार स्थगित कर दिया।

सुप्रसिद्ध जर्मन कूटनीतिज्ञ बिस्मार्क के बारे में कहा जाता था कि जिस प्रकार कुशल जादूगर अपने हाथ में कई गेंदों को एक साथ नचाते हुए रख सकता है, ऐसे ही वह कई विरोधी शक्तियों को एक समय में अपने साथ रख सकता था और संधि में आबद्ध कर सकता था। पाकिस्तान की कूटनीति के भाग्यविधाता इसी प्रकार दोनों गुटों की अधिक से अधिक महाशक्तियों को अपने हाथ में रखने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु रूस-चीन के वैमनस्य और भारत द्वारा सोवियत रूस का काश्मीर के मामले में पूरा सहयोग पा लेने से पाकिस्तान की इस कूटनीति में सफल होने की बहुत कम संभावना है।

---

६३. कीसिंग्स आर्काइव्ज, पृ० १९५४४

अफ्रीका का स्वतन्त्र होना—पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विशेषतः १८८० से १८९० के बीच में योरोपियन शक्तियों ने समूचे अफ्रीका के विविध प्रदेशों को आपस में बाँट लिया। १८८० में उनके पास १ लाख वर्गमील का प्रदेश था, दस वर्ष बाद ६ लाख वर्गमील का प्रदेश हो गया। १९१४ में अफ्रीका में विभिन्न शक्तियों के पास निम्नलिखित रूप में साम्राज्य थे :—(१) फ्रांस (४२ लाख वर्गमील, जनसंख्या २½ करोड़)—इसके मुख्य प्रदेश सहारा का विशाल मरुस्थल या फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका, अल्जीरिया, मोरक्को, ट्यूनिसिया, सुमालीलैंड, भूमध्यरेखावर्त्ती फ्रेंच अफ्रीका तथा मैडागास्कर का टापू था। इसका साम्राज्य क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़ा था। (२) ग्रेट ब्रिटेन (३३ लाख व० मी०, जनसंख्या ३½ करोड़) इसमें मिस्र, सूडान, पूर्वी अफ्रीका, रोडेशिया, बेचुआनालैंड, सुमालीलैंड तथा दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन थे। (३) जर्मनी (११ लाख वर्गमील, जनसंख्या १ करोड़ २० लाख) इसमें कैमरून्ज, जर्मन दक्षिण पश्चिम अफ्रीका, टोगोलैंड तथा जर्मन पूर्वी अफ्रीका थे। (४) बेल्जियम (९ लाख वर्गमील, जनसंख्या ७० लाख)—इसके पास अपने से ७७ गुना बड़ा बेल्जियम कांगो का विशाल साम्राज्य था। (५) पुर्तगाल (८ लाख वर्गमील, जनसंख्या ८० लाख) इसमें अंगोला तथा मोजम्बिक के प्रदेश थे। (६) इटली (६ लाख वर्गमील, जनसंख्या १० लाख) इसमें लिबिया, एरिट्रिया, और सुमालीलैंड थे। (७) स्पेन (७५ हजार व० मी०, जनसंख्या २ लाख) इसके पास स्पेनिश मोरक्को तथा स्पेनिश पश्चिमी अफ्रीका था।[६४] उस समय अफ्रीका का एकमात्र स्वतन्त्र ईसाई राज्य एबीसीनिया या ईथियोपिया (३½ लाख वर्गमील) था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद फ्रांस और ब्रिटेन द्वारा जर्मन साम्राज्य के विविध प्रदेशों को आपस में बाँटने का पहले वर्णन किया जा चुका है (दे० पृ० ४८–९) १९३६ में इटली ने अफ्रीका के अन्तिम स्वाधीन राज्य एबीसीनिया की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया (दे० पृ० १६५)।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद और विशेषतः एबीसीनिया की विजय के बाद अफ्रीका में स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता का आन्दोलन प्रबल हुआ, "अफ्रीका अफ्रीकावासियों का हो," यह नारा लगाया जाने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इसके विविध प्रदेश तेजी से स्वतन्त्र होने लगे और १९५८ में हुए अखिल अफ्रीका जनता सम्मेलन ने यह निश्चय किया है कि १९६३ तक समूचा अफ्रीका स्वाधीन हो जाना चाहिए। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर १९४५ में इस महाद्वीप में केवल चार राज्य स्वतंत्र थे—एबीसीनिया, लाइबीरिया, दक्षिण अफ्रीका का यूनियन और मिस्र। मिस्र में १९३६ की संधि के अनुसार ब्रिटिश सेनायें रहती थीं। १९४५ के बाद यहां सर्वप्रथम इटालियन उपनिवेश लिबिया (२४ दिसम्बर, १९५१) स्वतन्त्र हुआ। मिस्र यद्यपि १९२४ की संधि से स्वाधीन हो चुका था, किन्तु यहां ब्रिटिश फौजें विद्यमान थीं, इनको हटाने के लिए १९५४ में की गयी सन्धि का उल्लेख पहले किया जा चुका है। १ जनवरी, १९५४ को सूडान का स्वाधीन गणराज्य बन गया। फ्रांस ने अपने उपनिवेश ट्यूनिसिया की स्वतन्त्रता २० मार्च,

---

६४. जेम्ज एडवर्ड जिलेस्पी—योरोप इन पर्सपैक्टिव, पृ० ४७९

१९५६ की संधि से स्वीकार की। १९१२ से ५६ तक ४४ वर्ष की पराधीनता के बाद २ मार्च, १९५६ को फ्रांस ने मोरक्को को स्वतन्त्र कर दिया, इसको संरक्षित राज्य (Protectorate) बनाने वाली ३० मार्च, १९१२ की पुरानी संधि समाप्त कर दी। ७ अप्रैल, १९५६ को स्पेन ने भी मोरक्को के कुछ भाग पर अपने संरक्षण का परित्याग किया है। मोरक्को के एक बन्दरगाह तँजियर पर १८ दिस० १९१३ को फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन तथा स्पेन ने अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया था, २९ अक्टू० १९५६ को यह नियन्त्रण भी समाप्त कर दिया गया है। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर ब्रिटिश उपनिवेशों के समूचे स्वर्ण उत्पादन का ७० प्रतिशत उत्पन्न करने वाले और विश्व में सबसे अधिक कहवा उत्पन्न करने वाले गोल्ड कोस्ट ने ६ मार्च, १९५७ को ग्रेट ब्रिटेन से स्वाधीनता प्राप्त की तथा नाइजर नदी के मध्य भाग में ४थी से १३वीं शता० तक शासन करने वाले एक प्राचीन राज्य के नाम पर अपने देश का नया नाम घाना रखा है, इसमें ब्रिटिश टोगोलैंड का प्रदेश भी सम्मिलित है। अक्टू० १९५८ में फ्रेंच गिनी (Guinea) ने नये फ्रेंच-संविधान के विपक्ष में तथा अपने फ्रांस के साथ सम्बन्ध बनाये रखने के विरुद्ध प्रबल मतदान करते हुए अपनी स्वाधीनता की घोषणा की।

स्वतन्त्रता की तीन लहरें—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर अफ्रीका में केवल चार राज्य स्वतन्त्र थे—लाइबीरिया, दक्षिण अफ्रीका का यूनियन, मिस्र तथा एबीसीनिया। इनमें १३० लाख वर्गमील का क्षेत्र (भारत से दस गुना) तथा २८ करोड़ की आबादी थी। यह अफ्रीका महाद्वीप के कुल क्षेत्रफल का ११% तथा जनसंख्या का २६% था। इसके बाद स्वतंत्रता की पहली लहर ने अल्जीरिया के अपवाद को छोड़कर अरबों द्वारा आवासित उत्तरी अफ्रीका से उप-निवेशवाद और साम्राज्यवाद का सफाया किया। इसमें १९५१ में स्वतन्त्र होने वाला लिबिया तथा १९५६ में स्वाधीनता पाने वाले सूडान, मोरक्को तथा ट्यूनिसिया थे। इसके बाद स्वाधीनता की दूसरी लहर ने काले अफ्रीका अर्थात् नीग्रो लोगों द्वारा आवा-सित अफ्रीका पर प्रभाव डाला। १९५७ में ग्रेट ब्रिटेन ने घाना को स्वतन्त्रता प्रदान की तथा १९५८ में गिनी पंचम फ्रेंच गणराज्य से पृथक् हो गया। १९५९ तक अफ्रीका में ग्यारह राज्य स्वाधीन हो गये। इनमें अफ्रीका की ४० प्रतिशत जनता तथा २९% क्षेत्र था। किन्तु अभी तक सहारा के दक्षिण का तथा जम्बेसी नदी के उत्तर का मध्य अफ्रीका पराधीन था। १९६० में स्वतन्त्रता की तीसरी लहर से इस प्रदेश के अधिकांश पराधीन देश स्वतन्त्र हुए।

१९६० में स्वतन्त्र हुए अफ्रीकी राज्य—१९६० को अफ्रीका की स्वतन्त्रता का वर्ष कहा जाता था। आधुनिक अफ्रीका के इतिहास में इस वर्ष का उतना ही अधिक महत्त्व है, जितना १८७७ के वर्ष का, जब स्टैनली कांगो नदी के मुहाने पर इस महाद्वीप के अन्वेषण के बाद प्रकट हुआ था तथा उसके लेखों और कार्यों से प्रभावित होकर योरोपियन देशों में अफ्रीका के विभिन्न भागों में शासन स्थापित करने की भागदौड़ (Scramble for Africa) तथा होड़ शुरू हुई। जिस प्रकार उस वर्ष से अफ्रीका में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की प्रबल लहर शुरू हुई थी, इसी प्रकार १९६० से

अफ्रीका में स्वतन्त्रता के स्वर्ण विहान का अभ्युदय एवं फ्रेंच, बेल्जियन और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अवसान की प्रक्रिया का श्रीगणेश हुआ है। इस वर्ष के पहले ही दिन १ जनवरी, १९६० को फ्रेंच कैमरून स्वतन्त्र हुआ और इसने कैमरून गणराज्य का नया नाम धारण किया। यह प्रथम युद्ध से पहले जर्मन उपनिवेश था। इसके बाद राष्ट्रसंघ के शासनादेश (Mandate) के रूप में तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद न्यास प्रदेश के रूप में फ्रांस को दिया गया था। २७ अप्रैल, १९६० को फ्रेंच टोगोलैंड टोगो गणराज्य के नाम से स्वतन्त्र हुआ। यह भी न्यास प्रदेश था। २० जून, १९६० को सेनेगाल तथा फ्रेंच सूडान ने स्वतन्त्रता की घोषणा की और मिल कर मालीसंघ (Mali Federation) बनाया। २६ जून, १९६० को फ्रांस की आधीनता में रहने वाले मैडागास्कर टापू ने स्वतन्त्र होकर मालागासे (Malagasay) नामक गणराज्य का रूप धारण किया। अगस्त १९६० में निम्नलिखित फ्रेंच प्रदेशों में आठ स्वाधीन गणराज्य स्थापित हुए— आइवरी कोस्ट, अपर वोल्टा, दहोमी, नाईजर, गेबोन, कांगो (फ्रेंच), केन्द्रीय अफ्रीकन गणराज्य (Central African Republic) या उबन्गुई चारी (Ubangui Chari) तथा चाड। १९६० का वर्ष इस दृष्टि से स्मरणीय है कि इसमें अल्जीरिया के अपवाद को छोड़कर शेष १३ फ्रेंच उपनिवेश स्वतन्त्र हो गये।

इसी वर्ष बेल्जियम के प्रभुत्व से कांगो ३० जून, १९६० को स्वतन्त्र हो गया। किन्तु दुर्भाग्यवश यहां अभी तक स्थायी और सुदृढ़ शासन की स्थापना नहीं हो सकी तथा सं० रा० संघ इसकी जटिल समस्यायें हल करने में पूर्ण रूप से समर्थ नहीं हो सका। १ जुलाई, १९६० को सोमाली गणराज्य का जन्म हुआ। इस नये राज्य में संघ का न्यास प्रदेश सोमालिया (Somalia) भी सम्मिलित है, पहले यह इटली के प्रभुत्व में था। इसका दूसरा प्रदेश ब्रिटिश संरक्षण में रहने वाला ब्रिटिश सुमालीलैंड का प्रदेश है। रक्त सागर के तट पर संघ का एक अन्य न्यास प्रदेश एरिट्रिया था। पहले यह इटालियन उपनिवेश था, १५ सितम्बर, १९५२ को इसे स्वाधीनता मिली और यह एबीसीनिया के साथ मिल गया।

नाइज़ीरिया का ब्रिटिश उपनिवेश १ अक्टू० १९६० को स्वतन्त्र हो गया। इसका क्षेत्रफल ३,३९,१६८ व० मी० है और जनसंख्या (३ ३६,६३०००) अफ्रीका के देशों में सबसे अधिक है। यह अफ्रीका का समृद्धतम और महत्त्वपूर्ण उपनिवेश है। ग्रेट-ब्रिटेन इसे स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर एवं शनैः शनैः तैयार करता रहा है और यह समझा जाता है कि यह समूचे पश्चिमी अफ्रीका के लिए एक आदर्श राज्य होगा। इस प्रदेश में एक अन्य ब्रिटिश उपनिवेश सियर्रा लिओन (Sierraleone) २७ अप्रैल, १९६१ को स्वतन्त्र हो गया।

२६ नवम्बर, १९६० को मारीटानिया का प्रदेश भी स्वतन्त्र हो गया। पहले यह फ्रांस के आधीन था। यह १९६० में फ्रांस के उपनिवेशवाद से मुक्त होने वाला १४वां राज्य था।

अफ्रीका में सं० रा० संघ के तीन न्यास प्रदेश (Trust Territories) भी स्वतन्त्र हो चुके हैं। (क) **कैमरून**—प्रथम विश्वयुद्ध से पहले यह जर्मन उपनिवेश था। १९६१ में इस

पर फ्रच तथा ब्रिटिश सेनाओं ने अधिकार कर लिया। १६१६ में इसका अधिकांश भाग फ्रांस को शासनादेश के रूप में मिला और कुछ भाग ग्रेट ब्रिटेन को। फ्रेंच कैमरून को १ जन० १६६० को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। ब्रिटिश कैमरून उत्तरी तथा पश्चिमी दो हिस्सों में बंटा हुआ था। फरवरी १६६१ में हुए जनमत संग्रह द्वारा उत्तरी कैमरून नाईजीरिया के साथ मिलकर स्वाधीन हो गया तथा दक्षिणी कैमरून ने फ्रांस वाले कैमरून गणराज्य के साथ मिलने का निश्चय किया और १ अक्टूबर १६६१ को दक्षिणी कैमरून के ब्रिटिश न्यास प्रदेश ने कैमरून गणराज्य के साथ मिल कर कैमरून के संघीय गणराज्य का रूप धारण किया। (ख) **टांगानिक्या** का जर्मन उपनिवेश अंग्रेजों को शासनादेश (Mandate) प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मिला था। १६४६ से यह सं० रा० संघ का न्यास प्रदेश बना। ६ दिसम्बर, १६६१ को इसे स्वतन्त्रता मिली है। (ग) **रवाण्डा उरुण्डी**—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बेल्जियम को इन प्रदेशों का शासनादेश मिला था, १ जुलाई, १६६२ को ये दोनों प्रदेश स्वतन्त्र हो गये हैं।

८ वर्ष तक फ्रेंच प्रभुता के विरुद्ध निरन्तर उग्र एवं रक्तरंजित संघर्ष करने के बाद ३ जुलाई, १६६२ को अल्जीरिया को स्वाधीनता मिली। केनिया को उग्र संघर्ष के बाद दिसम्बर १६६३ में स्वतन्त्रता मिली तथा लौंग का टापू जंजीबार १० दिस० १६६३ को ७३ वर्ष के ब्रिटिश शासन के बाद स्वाधीन हुआ और १२ जन० १६६४ को यहां हुई क्रान्ति के बाद अफ्रीका में पहला साम्यवादी शासन स्थापित हो गया है।

उपनिवेशवाद के अन्तिम अवशेष—१६६३ के अन्त तक अफ्रीका के अधिकांश प्रदेश स्वतन्त्र हो चुके थे। अब केवल इनेगिने प्रदेश ही विदेशी शासन में रह गये हैं। इस समय ग्रेट ब्रिटेन के पास अफ्रीका के निम्नलिखित प्रदेश हैं—गैम्बिया, उत्तरी तथा दक्षिणी रोडेशिया, न्यासालैण्ड, बेचुआनालैण्ड, बसूतोलैण्ड तथा स्वाजीलैण्ड। फ्रांस के पास फ्रेंच सुमालीलैण्ड है। दक्षिण अफ्रीका जर्मनी के भूतपूर्व उपनिवेश दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका का स्वामी बना हुआ है।

इस समय अफ्रीका में दो साम्राज्यवादी देश ऐसे हैं, जो समय की लहर की उपेक्षा करते हुए अपने उपनिवेशों को स्वतन्त्रता देने का विरोध कर रहे हैं। पहला देश स्पेन है। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर इसके चार उपनिवेश हैं—मोरक्को में इफनी (Ifni) का छोटा सा इलाका, स्पेनिश सहारा, कैमरून तट के निकट फरनाण्डो पू (Fernando Poo) का टापू तथा रिओमुनी। वह इन सब प्रदेशों को अपनी स्पेन की भूमि का अंग मानता है। दूसरा प्रदेश पुर्तगाल है, वह यह आशा कर रहा है कि कैन्यूट के आदेशों की भांति उसके आदेशों के द्वारा उसके उपनिवेशों को आप्लावित करने वाली स्वतन्त्रता के ज्वार की लहरों को रोका जा सकता है। इसके पास अफ्रीका में निम्नलिखित प्रदेश हैं—पश्चिम में पुर्तगाली गिनी, गिनी की खाड़ी में साउ ताम (Sao Tome) तथा प्रिन्सिपे के टापू, दक्षिण अफ्रीका यूनियन के उत्तर में अंगोला तथा पूर्व में मोजम्बिक। पुर्तगाल भारत के गोआ की भांति, इन प्रदेशों को अपनी मातृभूमि का अंग मानता है तथा इनमें उसने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये किये जाने वाले आन्दोलनों को बुरी तरह दमन करने का प्रयत्न किया है। किन्तु सं० रा० संघ के अनेक विशेषज्ञों

का यह मत है कि इन प्रदेशों में असन्तोष की मात्रा निरन्तर बढ़ रही है और वहां कांगो जैसे भीषण विस्फोट की संभावना है। पुर्तगाल इन प्रदेशों के सम्बन्ध में संघ को रिपोर्ट भेजने के प्रस्तावों की निरन्तर अवहेलना करता रहता है।

स्वतन्त्र अफ्रीका की समस्यायें—उपर्युक्त अपवादों को छोड़कर १९६३ के अन्त तक अफ्रीका के अधिकांश प्रदेश स्वतन्त्र हो चुके हैं। अगले कुछ वर्षों में अन्य प्रदेशों के भी पराधीनता के पाश से मुक्त होने की आशा है। इन देशों की स्वतन्त्रता ने कई नये अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव और समस्यायें उत्पन्न की हैं। यह कहा जाता है कि अगली दशाब्दी में इनका प्राधान्य रहेगा। **पहला प्रभाव** सं० रा० संघ में पश्चिमी देशों की गुटबन्दियों से पृथक् रहने वाले नये शक्तिशाली गुट का निर्माण है। १९६० में सं० रा० संघ में प्रविष्ट हुए नये १७ सदस्यों में से १६ अफ्रीका के थे। १९६३ से आज तक संघ में अफ्रीका-एशिया के देशों की सदस्य संख्या ५८ हो गयी है। यदि ये संघ में संगठित और सुदृढ़ रूप में एक होकर कार्य करें तो कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव इनके सहयोग के बिना नहीं पास हो सकता। संघ पर इनका गहरा प्रभाव पड़ सकता है। किन्तु दुर्भाग्य-वश कांगो के प्रश्न पर अफ्रीकी राज्यों में गहरी फूट उत्पन्न हो गयी। फ्रांस के उपनिवेशवाद से मुक्त हुए देश प्रायः पश्चिमी देशों का साथ देते हैं। गिनी के राजदूत काबा सावरी ने कहा था कि ११ देश फ्रांस की कठपुतली बने हुए हैं और अफ्रीका के प्रति देशद्रोही हैं। इन राज्यों के मतभेद के कारण संघ के १५वें अधिवेशन में कांगो पर कोई प्रस्ताव पास नहीं हो सका। सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन का प्रस्ताव दो तिहाई बहुमत नहीं प्राप्त कर सका। किन्तु जब किसी प्रश्न पर ये देश संग-ठित हो जाते हैं तो वह संघ में भारी बहुमत से पास हो जाता है। उपनिवेशवाद के उन्मूलन का १५वें अधिवेशन में पास हुआ प्रस्ताव इसका सुन्दर उदाहरण है। इसमें पहली बार पुर्तगाल को संघ द्वारा साम्राज्यवादी (Colonial) देश घोषित किया तथा अंगोला और गोआ जैसे प्रदेशों को पुर्तगाल का भाग न मानते हुए पराधीन प्रदेश माना गया।

सं० रा० संघ में पिछले तीन-चार वर्षों में नये अफ्रीकी राज्यों की संख्या निर-न्तर बढ़ने से यह उसकी कुल सदस्य संख्या का एक चौथाई हो गयी है, पहले यह १/१५ थी। अफ्रीका के नये राज्य न तो धनी हैं, न शक्तिशाली और न ही राजनीतिक दृष्टि से अनुभवी। किन्तु संघ में इनकी संख्या एक चौथाई हो जाने से ये जनरल असेम्बली में बड़े प्रभावशाली हो गये हैं। जंजीबार के अपवाद को छोड़कर अभी तक कोई राज्य साम्यवादी गुट में नहीं सम्मिलित हुआ। स्टैब्बिस के शब्दों में विश्व की राजनीति में अफ्रीका का प्रादुर्भाव ऐसे तटस्थ तथा दोनों गुटों से असंबद्ध राज्यों के समूह में महत्त्वपूर्ण वृद्धि सूचित करता है, जो राज्य शीतयुद्ध से पृथक् रहने में अपना कल्याण समझते हैं, 'सैनिक गुटों में भाग नहीं लेते, सभी विवादास्पद प्रश्नों पर 'पूर्व तथा पश्चिम' में संधिवार्ता और समझौते पर बल देते हैं तथा अफ्रीका में एवं अन्यत्र अब तक पाये जाने वाले "पश्चिमी उपनिवेशवाद पद्धति के विद्यमान अवशेषों के उन्मूलन" पर बल देते हैं।[९५]

---

९५. स्टैब्बिन्स—दी युनाइटिड स्टेट्स इन वर्ल्ड एफेयर्स १९६२, पृ० २२४

दूसरी समस्या अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि होने की है। अफ्रीका में स्वतन्त्र होने वाले राज्यों में बड़ी राजनीतिक अस्थिरता है। इसके अनेक कारण हैं। नये राज्यों के लिए लोकतन्त्र की व्यवस्था सर्वथा नवीन है। इनमें निवास करने वाली जनजातियों में पुराने जमाने से उग्र संघर्ष चले आ रहे हैं। योरोपियन शक्तियों ने इन्हें दबाकर रखा हुआ था, उनके चले जाने से आपसी लड़ाई-झगड़े बढ़ रहे हैं। इनमें राष्ट्रीय एकता की भावना सुदृढ़ नहीं है। शिक्षा के अभाव में परिपक्व राजनीतिक नेतृत्व (Mature Political Leadership) नहीं है। सामाजिक परिस्थितियों को दृढ़ता और बुद्धिमत्ता से हल करने वाले दूरदर्शी नेताओं की कमी है। प्रशासन, स्वास्थ्य, खानों, कारखानों, सेना के क्षेत्र में काम करने वाले दक्ष शासकों, डाक्टरों, वैज्ञानिकों, शिल्पियों, सैनिक अधिकारियों का शोचनीय अभाव है। साक्षरता का प्रसार बहुत कम है। मध्यम वर्ग का अभाव है। इन सब कारणों से यहां आन्तरिक-शान्ति और सुशासन की बड़ी जटिल समस्या है। कांगो के उदाहरण से नये राज्यों की ये दुर्बलतायें स्पष्ट रूप से प्रकट हो गयी हैं और इनसे अफ्रीका महाद्वीप शीत-युद्ध की लपटों में आ गया है। पूर्व और पश्चिम दोनों पक्ष यहां अपने प्रभाव और सहायता का विस्तार करना चाहते हैं। अतः अफ्रीका दोनों पक्षों का संघर्ष स्थल बन गया है। इस समय कांगो पूर्व और पश्चिम का अखाड़ा बन रहा है। इससे भविष्य में अन्य राज्यों में ऐसी स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ गयी है। अब तक विश्व की राजनीति योरोप, अमेरिका तथा एशिया तक ही सीमित थी, अब अफ्रीका ने भी उसमें पदार्पण किया है और इस राजनीति ने वस्तुतः भूमण्डलीय (Global) रूप धारण किया है। २०वीं शती के उत्तरार्द्ध में अफ्रीका की समस्यायें विश्व की राजनीति में प्रमुख स्थान ग्रहण कर रही हैं।

प्रश्न

1. How has the Zionist problem influenced the course of international politics in the Middle East? (Agra Uni. 1957)
2. Discuss the part played by Middle East Oil in international diplomacy. (Agra Uni. 1956)
3. Express your thoughts on the awakening of Asia and world politics and its effects on world politics. (Agra Uni. 1954, 1956, 1958)
4. Give a brief history of the Anglo-Egyptian relations in the post 1945 period leading to the Suez Crisis of 1956. (Agra Uni. 1955)
5. Give a brief history of Palestine from 1936 onwards.
6. Write a short essay on international politics of the Middle East after World War II. (B. H. U. 1958)
7. Give a short *resume* of Sino-Japanese relations between 1930—36. (B. H. U. 1958)
8. Analyse critically the salient features of the International politics of the Middle East since the Second World War. (B. H. U. 1956)

9. Examine the consequences of the rise of the New Chinese Republic on the international situation in the Far East and Pacific. (B. H. U. 1955)

10. Discuss critically the impact of the emergence of Communist China upon international relations since 1949. (Raj. Uni. 1960.)

11. Give a brief account of the progress of Arab nationalism since the close of second World War, with special reference to Egypt. (Agra Uni. 1961,1963)

12. The 'Revolt of Asia' may prove to be the most significant development of the 20th century (Palmer and Perkins.) Comment. (Agra Uni. 1962)

13. Examine critically the foreign policy of Communist China since 1949. (Agra 1961)

14. Give a brief estimate of Indo-Pakistan relations, with special reference to the Kashmir dispute. (Agra 1963)

परिशिष्ट–१

भारत पर चीन का आक्रमण

१९६२ ई० की सबसे बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय घटना भारत पर चीन का सशस्त्र सेनाओं द्वारा २० अक्टूबर से विशाल पैमाने पर किया जाने वाला आक्रमण है। इस आक्रमण से न केवल दोनों देशों के अपितु विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नवयुग का श्रीगणेश हुआ। प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने पहली जनवरी, १९६३ के अपने एक भाषण में कहा था कि भारत के लिए नया वर्ष आज से आरम्भ नहीं होता, वह तीन महीने पहले से आरम्भ हो चुका है। २० अक्टूबर, १९६२ को हमारे लिए न केवल नववर्ष आरम्भ हुआ अपितु नवयुग का श्रीगणेश हुआ।

भारत की चीन के प्रति मित्रतापूर्ण नीति—चीन और भारत एशिया के दो महादेश हैं, जनसंख्या, भौगोलिक आकार एवं आर्थिक विकास की दृष्टि से इनका असाधारण महत्त्व है। दोनों की सभ्यता बहुत प्राचीन है, दोनों देशों में अतीत काल में गहरे सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। भारत ने १ अक्टूबर, १९४९ को चीन में जनवादी गणराज्य स्थापित होने के बाद उसके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने के लिए भगीरथ प्रयास किया। साम्यवादी चीनी सरकार को मान्यता देने वाले देशों में भारत अग्रगण्य था, उसने ३० दिसम्बर, १९४९ को इसे सरकारी तौर पर मान्यता प्रदान की तथा राष्ट्रवादी (Nationalist) चीन के स्थान पर साम्यवादी चीन को सं० रा० संघ का सदस्य बनाने का निरन्तर प्रयत्न किया। अगस्त, १९५० में जब जनवादी चीनी गणतन्त्र की सेनाएँ तिब्बत में प्रविष्ट हुईं और चीनी सरकार ने यह घोषणा की कि वह तिब्बत की समस्या को शान्तिपूर्वक तथा मैत्रीपूर्ण रीति से हल करना चाहती है तो भारत ने चीनी सरकार के इरादों की सराहना की। इसके बाद भारत ने निरन्तर चीन के साथ गहरे तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के विकास का प्रयत्न किया। इसके परिणामस्वरूप २९ अप्रैल, १९५४ को दोनों देशों का तिब्बत तथा भारत के बीच व्यापार का एक समझौता हुआ, इसमें भारत ने तिब्बत में ब्रिटिश काल से चले आ रहे अपने अतिरिक्त प्रादेशिक अधिकार तथा विशेषाधिकार (Extra-territorial Rights and Privileges) छोड़ दिए और तिब्बत को चीन का एक प्रदेश मान लिया। २० जून, १९५४ को भारत के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने नई दिल्ली में तीन दिन तक चीनी प्रधानमंत्री चौ एन-लाई के साथ वार्त्तालाप करके अपने संयुक्त वक्तव्य में पंचशील के सुप्रसिद्ध पाँच सिद्धान्तों का (देखिये पृष्ठ ४२५-८) प्रतिपादन करते हुए यह घोषणा की कि "चीन और भारत ने दोनों देशों के सम्बन्धों के संचालन के लिए इन पाँच सिद्धान्तों के पालन का निश्चय किया है। वे एशिया तथा विश्व के अन्य देशों के साथ अपने सम्बन्धों में इनका अनुसरण

करेंगे।" इस समय सारा देश हिन्दी-चीनी भाई-भाई के नारों से गूँज उठा तथा दोनों देशों में अत्यन्त सौहार्द और मैत्री के सम्बन्ध स्थापित हुए। किन्तु दुर्भाग्यवश यह स्थिति देर तक नहीं रही।

चीन का विश्वासघात—सीमा सम्बन्धी विवाद—चीन ने पंचशील के उपर्युक्त वक्तव्य पर जून, १९५४ में हस्ताक्षर किए। अभी इस समझौते की स्याही सूखने भी न पायी थी कि १७ जुलाई, १९५४ को चीन ने अपने एक नोट द्वारा भारत सरकार पर यह आरोप लगाया कि उसकी सेनाओं ने वू-जे नामक चीनी स्थान पर अवैध रूप से अधिकार कर लिया है। वू-जे उत्तरप्रदेश में बद्रीनाथ के निकट बड़ाहोती नामक एक चरागाह है, यह भारतीय सीमा के अन्तर्गत थी। भारत सरकार ने २७ अगस्त, १९५४ को उपर्युक्त नोट का उत्तर देते हुए कहा कि यह स्थान भारतीय प्रदेश में है, यहाँ भारतीय सीमा सुरक्षा सेना का शिविर है। तिब्बती अधिकारी यहाँ भारतीय प्रदेश में अनधिकृत रूप से घुसने का प्रयत्न कर रहे हैं, यह अनाक्रमण और मैत्रीपूर्ण सहअस्तित्व (Non-aggression and friendly coexistence) के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। इस प्रकार चीन ने जहाँ एक ओर पंचशील के सिद्धान्तों पर चलने की घोषणा की, वहाँ दूसरी ओर इनका उपहास करते हुए भारत के साथ विश्वासघात करते हुए विभिन्न भारतीय प्रदेशों का अतिक्रमण करना आरम्भ किया।

चीन और भारत की सीमा का स्वरूप—भारत और चीन के बीच २२०० मील तथा भूटान और तिब्बत के बीच में ३०० मील लम्बी सीमा है। यह सीमा विभिन्न सन्धियों और परम्पराओं द्वारा चिरकाल से निश्चित है, सामान्य रूप से हिमालय पर्वत-माला के उच्चतम शिखरों के साथ चलती है और जल विभाजक के भौगोलिक सिद्धान्त (Watershed principle) के अनुसार है। इसका यह तात्पर्य है कि हिमालय की अन्तिम तथा सबसे ऊँची पर्वतमाला के दक्षिणी भाग जिनका पानी बहकर भारत में आता है भारत में हैं तथा इस पर्वतमाला के उत्तरी भाग—जिनका पानी बहकर तिब्बत में जाता है, तिब्बत के अंग हैं, इनके बीच में ऊँचे पर्वतों के शिखर दोनों देशों की सीमा है। यह लम्बी सीमा तीन हिस्सों में बाँटी जा सकती है। पूर्वी क्षेत्र, मध्यवर्ती क्षेत्र तथा पश्चिमी क्षेत्र।

भूटान के पूर्व में यह सीमा मैकमोहन रेखा के नाम से पुकारी जाती है। यह हिमालय पर्वतमाला के उन उत्तुंग शिखरों से होती हुई गुजरती है जो उत्तर में तिब्बत के पठार और दक्षिण में ऊँचे पहाड़ों के बीच प्राकृतिक सीमा बनाते हैं, यह आसाम के उत्तरी-पूर्वी सीमान्त प्रदेश (उपूसी या North East Frontier Agency NEFA) की उत्तरी सीमा है। मध्यवर्त्ती क्षेत्र में तिब्बत और भारत के बीच की सीमा उत्तर-प्रदेश, हिमाचल प्रदेश तथा पंजाब से बनती है।

पश्चिमी क्षेत्र में जम्मू और काश्मीर की सीमा सिंकियांग तथा तिब्बत से लगती है। यह एक हजार एक सौ मील लम्बी है। इसका दो तिहाई भाग लद्दाख में है। यह सीमा १६८४ ई० तथा १८४२ ई० की सन्धियों द्वारा सुनिश्चित है। लद्दाख चीन के मध्य एशिया के सिंकियांग को तिब्बत के प्रान्त के साथ जोड़ने के लिए अक्साई चिन के पठार

में से होकर गुजरने वाला सुगम मार्ग प्रदान करता है। तिब्बत में विद्रोह होने पर चीन सिंकियांग के रास्ते से अपनी सेनाएँ बड़ी आसानी से भेज सकता था। अतः यद्यपि यह प्रदेश भारतीय था, फिर भी सामरिक दृष्टि से चीन इसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझता था।

१९५४ से चीन ने उपर्युक्त सीमा के विभिन्न भारतीय प्रदेशों में अपने सैनिक दस्ते और टुकड़ियां भेजनी आरम्भ कीं। जुलाई, १९५४ में बड़ाहोती (उत्तरप्रदेश) में सितम्बर, १९५५ में दमजान (उत्तरप्रदेश) में, सितम्बर, १९५६ में शिपकी दर्रे (हिमाचल प्रदेश) तथा १९५७ में लोहित क्षेत्र (उपूसी) में चीनी भारतीय सीमा में घुसे, सितम्बर, १९५८ तक उन्होंने अक्साई चिन के पठार में सड़क बना ली और वे लद्दाख के प्रदेश में घुसे, खुर्नाक के किले पर अधिकार करके उन्होंने भारत के सैनिक गश्ती दस्ते पर हमला करके उसे पकड़ लिया। सितम्बर, १९५८ में एक बड़ा चीनी सैनिक दल बड़ाहोती में घुस आया।

मार्च, १९५९ में दलाई लामा के तिब्बत से भागकर भारत में शरण ग्रहण करने के कारण चीन व भारत के सम्बन्धों में तनाव बढ़ने लगा। भारत में इस बात पर रोष था कि चीन ने तिब्बत में विद्रोह को नृशंस रीति से दबाया है और दलाई लामा को वहाँ से भागने के लिए विवश होना पड़ा है। चीन को भारत से यह नाराजगी थी कि उसने दलाई लामा को शरण क्यों दी। चीन ने भारत पर यह आरोप लगाया कि वह अमेरिकी साम्राज्यवादियों का खिलौना बन रहा है। अतः चीन ने १९५९ में भारतीय सीमा के विभिन्न प्रदेशों में अपने सैनिक दस्ते भेजना और चौकियां स्थापित करने का कार्य तीव्र कर दिया।

भारत सरकार अगस्त, १९५९ तक चीनियों द्वारा भारतीय सीमा के अतिक्रमणों का समाचार भारतीय जनता से छिपाती रही। इसमें उसका यह उद्देश्य था कि दोनों देशों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बने रहें तथा कूटनीतिक पत्रव्यवहार द्वारा इस समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान कर लिया जाय। उस समय तक यद्यपि यह ज्ञात हो चुका था कि चीन के मानचित्रों में भारत की उत्तरी सीमा का बहुत-सा प्रदेश पेकिंग के प्रभुत्व में दिखाया जाता है, किन्तु भारतीय जनता को यह पता नहीं था कि १९५४ से ही चीन भारत की उत्तरी सीमा के अनेक प्रदेशों का अतिक्रमण करता रहा है, उसने कई भागों पर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लिया है। भारत सरकार यद्यपि इस विषय में चीनी सरकार को निरन्तर प्रतिवाद पत्र भेज रही थी, फिर भी उसने विवाद को शान्तिपूर्वक सुलझाने की दृष्टि से इस पत्र-व्यवहार को उस समय प्रकाशित न करना ही उचित समझा।

अगस्त, १९५९ में शनैः शनैः भारतीय जनता को लोकसभा में किए गए प्रश्नों के उत्तरों से इस विवाद की अधिकृत और प्रामाणिक सूचना मिलने लगी। १३ अगस्त को लोकसभा में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रधान एवं परराष्ट्रमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने यह बताया कि "तिब्बत में चीनी सेनायें प्रचुर मात्रा में हैं, परन्तु उनके विचार में भारतीय सीमा पर उनका जबर्दस्त जमाव नहीं है। भारत सरकार इस विषय में पूर्णरूप से जागरूक है।" भारतीय प्रदेश की अखण्डता को सुरक्षित रखने का पूर्ण

आश्वासन देते हुए श्री नेहरू ने यह घोषणा की कि "जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, मैक-मेहोन रेखा ही हमारा संधि द्वारा, प्रथा द्वारा, अधिकार द्वारा और भूगोल द्वारा सुदृढ़ किया गया सीमान्त है।"

मैकमेहोन रेखा (Macmahon Line) भारत का ८५० मील लम्बा उत्तरपूर्वी सीमान्त है। यह रेखा भूटान की उत्तरपूर्वी सीमा से आरम्भ होकर बर्मा की सीमा तक चली गई है और पूर्वी हिमालय की उच्चतम पर्वतमाला का अनुसरण करती है, केवल एक स्थान पर ही उस जगह इस रेखा का भंग हुआ, जहाँ ब्रह्मपुत्र नदी दक्षिण की ओर आसाम में आने के लिए इस पर्वतमाला का भेदन करती है। इस रेखा के नामकरण का मनोरंजक इतिहास है। १९१३-१४ में शिमला में भारत की उत्तरपूर्वी सीमा के निर्धारण तथा तिब्बत की स्थिति पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन बुलाया गया था। इस में तिब्बत के प्रधानमन्त्री, चीनी सरकार का प्रतिनिधि तथा ब्रिटिश सरकार की ओर से सर हेनरी मैकमेहोन सम्मिलित हुए थे। शिमला सम्मेलन के निश्चयों के अनुच्छेद ९ में भारत और तिब्बत की सीमान्त रेखा श्री मैकमेहोन के द्वारा की गई संधिचर्चा के आधार पर निश्चित की गई, अत: इसे मैकमेहोन रेखा कहते हैं।

२८ अगस्त, १९५९ को श्री नेहरू ने लोकसभा को यह सूचना दी कि उत्तरपूर्वी सीमान्त एजेन्सी (NEFA) के सुबनसिरी डिवीज़न में २००-३०० चीनी सैनिकों ने २५-२६ अगस्त को भारतीय सीमा का अतिक्रमण करके लांगजू नाम की चौकी पर अधिकार कर लिया है। वहाँ उस समय केवल ८८ भारतीय थे। चीनी सैनिकों ने इन पर गोली चलाई और इन्हें पीछे हटने के लिए विवश किया। इससे पहले कमेंग डिवीज़न में ७ अगस्त, १९५९ को २०० चीनियों ने सीमा का अतिक्रमण करके हमला किया था, किन्तु भारतीयों ने इस प्रदेश को पुनः हस्तगत कर लिया। लांगजू के मैक-मेहोन रेखा के दक्षिण में होने के कारण ३१ अगस्त को राज्य सभा में श्री नेहरू ने इसे 'आक्रमण का स्पष्ट मामला' बताया और इसके साथ ही लद्दाख के अक्साई चिन प्रदेश में न केवल चीनियों द्वारा सीमा के अतिक्रमण का उल्लेख किया, किन्तु यह भी बताया कि चीनियों ने १९५७ में भारतीय प्रदेश में से होते हुए तिब्बत से सिंकियांग जाने वाले एक मार्ग का निर्माण कर लिया है। भारत सरकार की ओर से दो निरीक्षक दल इस प्रदेश का निरीक्षण करने के लिए १९५८ में भेजे गए। इनमें से एक दल को चीनियों ने पांच सप्ताह तक बन्दी बनाये रखा किन्तु दूसरे दल ने लौटकर यह सूचना दी कि यह सड़क भारतीय प्रदेश में से होकर जाती है।

७ सितम्बर, १९५९ को श्री नेहरू ने चीन के साथ १९५४ से चल रहे सीमा सम्बन्धी विवादों का पत्र-व्यवहार प्रथम श्वेतपत्र[1] के रूप में भारतीय संसद में उपस्थित

१. विश्व के कूटनीतिक इतिहास में इतने प्रचुर परिमाण में पत्रव्यवहार के उदाहरण बहुत कम हैं। जुलाई, १९५४ से अक्टूबर, १९६२ तक भारत सरकार ने दोनों देशों में पत्र-व्यवहार के सात श्वेत पत्र (White Papers) प्रकाशित किये हैं। इनमें दोनों देशों के ६०१ पत्र ११५४ पृष्ठों में छपे हैं। इनमें ३३२ भारत की ओर से तथा २६९ चीन की ओर से भेजे गये हैं। भारत पर चीन का आक्रमण होने के बाद इस पत्रव्यवहार में बहुत अधिक वृद्धि हुई है।

किया। इससे यह स्पष्ट था कि चीन के प्रधानमंत्री चौ-एन-लाई ने १९५६ तक मैकमेहोन सीमान्त रेखा को स्वीकार किया था, किन्तु बाद में यह रुख कड़ा होता गया तथा ९ दिसम्बर, १९५९ के पत्र में चौ-एन-लाई ने स्पष्ट रूप से यह कहा "चीन साम्राज्य-वादियों द्वारा बनाई मैकमेहोन रेखा को स्वीकार नहीं करता।" दोनों देशों के प्रधान-मन्त्रियों के पत्रों से इस विवाद के विकास पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

श्री नेहरू तथा चौ-एन-लाई का पत्र-व्यवहार—श्री नेहरू का पहला पत्र—चीनी नक्शों का प्रतिवाद—श्री नेहरू ने १४ दिसम्बर, १९५९ को श्री चौ-एन-लाई को लिखे एक पत्र में यह स्मरण कराया कि १९५४ में श्री चौ के भारत आने पर उनके साथ वार्तालाप में उनका ध्यान चीन में प्रकाशित ऐसे मानचित्रों की ओर आकृष्ट किया गया था, जिनमें भारत का बहुत-सा प्रदेश चीन में दिखाया गया है। उस समय चीनी प्रधान-मन्त्री की ओर से यह आश्वासन दिया गया था कि ये **मानचित्र साम्यवादी सरकार के स्थापित होने से पहले छपे हुए नक्शों की प्रतिकृतियां मात्र हैं और अभी तक इनके संशोधन का समय नहीं मिला।** १९५६ में चौ-एन-लाई के दुबारा भारत आने पर उनसे इस विषय में श्री नेहरू की बात हुई और उसका उस समय श्री नेहरू द्वारा लिखाया गया सारांश इस प्रकार था—"प्रधानमंत्री चौ ने मैकमेहोन रेखा के सम्बन्ध में यह कहा कि उनके विचार में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा स्थापित यह सीमान्त रेखा ठीक नहीं है, फिर भी क्योंकि यह एक सिद्ध सत्य (Accomplished fact) बन चुकी है, चीन में तथा भारत और बर्मा में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हैं, अतः **चीनी सरकार की यह सम्मति है कि मैकमेहोन रेखा को चीनियों द्वारा स्वीकृति प्रदान की जानी चाहिए।** किन्तु इस विषय में अभी तक चीनियों ने तिब्बती अधिकारियों से परामर्श नहीं किया। उनका ऐसा करने का विचार है।"

इसके बाद श्री नेहरू ने 'चाइना पिक्टोरियल' में प्रकाशित एक मानचित्र का उल्लेख करते हुए कहा कि इसमें भारत और भूटान के कई प्रदेश चीन की सीमा के भीतर दिखाए गए हैं, जब चीनी सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया गया तो उसने यह उत्तर दिया कि "ये नक्शे पुराने नक्शों के आधार पर छपे हैं और अभी चीनी सरकार ने चीन की सीमा का सर्वेक्षण और सम्बद्ध देशों से परामर्श नहीं किया और वह स्वयमेव सीमाओं में परिवर्तन नहीं करना चाहती"। श्री नेहरू के लिए यह उत्तर बड़ा आश्चर्यजनक था क्योंकि दोनों देशों में कोई बड़ा विवाद नहीं था। "चार वर्ष पहले राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्यों में संलग्न होने के कारण चीन को नक्शे संशोधित करने का अवकाश न होने की बात समझ आ सकती है किन्तु चीनी गणराज्य स्थापित होने के नौ वर्ष बाद तक भ्रांतिपूर्ण मानचित्रों का प्रकाशन हमारे लिए बहुत व्याकुलता उत्पन्न करने वाला (Embarrassing) है। इन विशाल प्रदेशों के भारत का भूभाग होने में कोई संदेह नहीं है और इस पर कोई विवाद नहीं है। मैं नहीं जानता कि इन सुप्रसिद्ध और सुनिश्चित सीमाओं को किस प्रकार के सर्वेक्षण प्रभावित कर सकते हैं।"

चीनी प्रधानमंत्री ने २३ जून, १९५९ को श्री नेहरू के उपर्युक्त पत्र का उत्तर देते हुए लिखा—"हमारे देश में आजकल प्रकाशित होने वाले मानचित्रों में चीनी सीमाएँ

कई दशाब्दियों से चीनी नक्शों में अंकित की जाने वाली सीमाओं के अनुसार छापी गई हैं। हमारा यह मत नहीं कि सीमान्त रेखा का प्रत्येक भाग पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर खींचा गया है किन्तु सम्बद्ध देशों से परामर्श किए बिना इसमें परिवर्तन करना अनुचित होगा। इसके अतिरिक्त इन परिवर्तनों से जनता में व्यामोह (Confusion) उत्पन्न होगा, इससे हमारी सरकार बदनाम होगी।" इसके बाद चीनी प्रधानमन्त्री ने यह दावा किया कि चीन और भारत के सीमान्त को कभी विधिपूर्वक निर्धारण (Formal Delimitation) नहीं किया गया। यह पंचशील के सिद्धान्तों के आधार पर "मित्रतापूर्ण वार्तालाप से हो सकता है।" सीमा सम्बन्धी विवादों को रोकने के लिए यथापूर्व स्थिति बनाए रखनी चाहिए। "मैकमेहोन रेखा चीन के तिब्बती प्रदेश के विरुद्ध अंग्रेजों की आक्रामक-नीति का परिणाम थी। कानूनी तौर से इसे वैध नहीं माना जा सकता। मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि चीन की केन्द्रीय सरकार ने इसे कभी स्वीकार नहीं किया।" १९५४ के वार्तालाप की युक्ति का उत्तर देते हुए चौ ने यह लिखा कि उस समय यह प्रश्न नहीं उठाया गया था क्योंकि इसके लिए परिस्थितियां परिपक्व नहीं हुई थीं और चीनियों के पास इस प्रश्न के अध्ययन का समय नहीं था।

श्री नेहरू का दूसरा पत्र—श्री नेहरू ने २२ मार्च, १९५९ के पत्र में श्री चौ-एन-लाई को उत्तर देते हुए चीन के इस कथन पर आश्चर्य प्रकट किया कि चीनी सरकार ने भारत और चीन की सीमान्त रेखा को कभी स्वीकार नहीं किया। "आप को यह ज्ञात ही है कि भारत का परम्परागत सीमान्त उच्चतम हिमालय की पर्वतमाला की जल-विभाजक शिखर शृंखला के भौगोलिक सिद्धान्त का अनुसरण करता है। अधिकांश हिस्सों में इसे तत्कालीन भारतीय एवं चीनी सरकारों के बीच हुए समझौतों का समर्थन प्राप्त है।" उदाहरणार्थ इसके तीन विशिष्ट भागों—सिक्किम, लद्दाख और मैकमेहोन रेखा पर निम्नलिखित स्थिति है—

(१) **सिक्किम**—सिक्किम और तिब्बत की सीमा १८९० के ऐंग्लो-चीनी समझौते द्वारा निश्चित की गई थी और १८९५ में भूमि पर इसका सीमांकन (Demarcation) किया गया था।

(२) **लद्दाख**—इस प्रदेश में चीन के साथ सीमा निर्धारण १८४२ की संधि द्वारा हुआ। यह संधि काश्मीर के राजा, चीन के सम्राट् और ल्हासा के लामागुरु के मध्य हुई थी। १८४७ में चीनी सरकार ने यह स्वीकार किया कि सीमान्तरेखा स्पष्ट रूप से निश्चित हो चुकी है। चीनी इस समय यहां जिस प्रदेश पर दावा कर रहे हैं; वह सरकारी नक्शों में सदा भारत का अंग दिखाया जाता रहा है। १८९३ के चीनी नक्शों में इसे भारतीय प्रदेश प्रदर्शित किया गया है।

(३) **मैकमेहोन रेखा**—यह शिमला में १९१३-१४ में भारत, चीन और तिब्बत के प्रतिनिधियों के समझौते से बनी थी। तिब्बत के प्रतिनिधि ने उस समय स्पष्ट रूप से यह कहा था कि उसे ल्हासा से यह आदेश मिला है कि सम्मेलन द्वारा नक्शे पर निर्धारित सीमा को वह स्वीकार कर ले। यह रेखा पूर्ण विचार-विमर्श के बाद खींची गई थी। तिब्बती प्रतिनिधि और अधिकारी इससे सहमत थे। चीनी प्रतिनिधि ने भारत-

तिब्बत सीमान्त पर कोई आपत्ति नहीं की थी। यह सीमान्त रेखा हिमालय की उस ऊँची शिखर श्रृंखला के साथ चलती है, जो तिब्बत और भारत की नदियों का महान् जल-विभाजक है।

इस प्रकार चीन के साथ हमारे सीमान्त के बड़े भाग का निर्णय करने वाली सीमान्त रेखा उपर्युक्त तीन हिस्सों में सन्धियों द्वारा निश्चित हो चुकी है। इन हिस्सों में हमारे नक्शों में प्रकाशित की जाने वाली सीमारेखा भूगोल, परम्परा और सन्धियों पर आधारित है। शेष भागों में भी यह सीमा परम्परागत है और सुनिश्चित भौगोलिक विशेषताओं का अनुसरण करती है। अतः हमारे देश की सीमा में कोई सन्देह नहीं है। फिर भी चीन में गलत नक्शों का प्रकाशित होना हमारे लिए चिन्ता का विषय है। पंचशील का प्रवर्त्तक होने से हमें सीमान्त-विवाद का समाधान मैत्रीपूर्ण रीति से करना चाहिए।

चीनी प्रधानमन्त्री ने उपर्युक्त पत्र का जवाब पाँच मास बाद दिया। इस बीच में तिब्बत से दलाई लामा के पलायन और भारत में तिब्बती शरणार्थियों के आने से दोनों देशों में तनाव बढ़ रहा था। ८ सितम्बर, १९५९ के इस पत्र में चौ-एन-लाई ने भारत पर यह आरोप लगाया कि "वह तिब्बत के सशस्त्र विद्रोहियों को संरक्षण दे रहा है। भारत-चीन सीमा के सम्बन्ध में चौ-एन-लाई ने पुनः यह मत रखा कि दोनों देशों का विधिपूर्वक सीमा-निर्धारण कभी नहीं हुआ, चीन तथाकथित मैकमेहोन रेखा को पूर्ण रूप से अस्वीकार करता है।" चीनी सरकार लद्दाख के विवाद-ग्रस्त प्रदेश में भारत की प्रभुता के 'एकपक्षीय दावे' को कभी स्वीकार नहीं कर सकती, भारतीय सेनाएँ 'सीमा का अतिक्रमण' कर रही हैं। चौ के मतानुसार भारत-चीन सीमा-विवाद के जटिल प्रश्न का प्रादुर्भाव चीन और भारत पर अंग्रेजों की आक्रामक नीति के कारण हुआ। ब्रिटेन चीन के तिब्बती प्रदेश को हड़पने की आकांक्षा रखता था, उसने इसे चीन के आधीन नाममात्र की स्वाधीनता प्रदान की तथा इसमें प्रादेशिक विस्तार के लिए भारत को अपना अड्डा बनाया। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए सीमा-विवाद के प्रश्न का हल होना चाहिए। भारत और चीन की सीमा का विधिपूर्वक निर्धारण (Formal Delimitation) न होने के निम्न प्रमाण दिये गये—(१) लद्दाख के सम्बन्ध में यद्यपि १८४२ में काश्मीर और तिब्बत के अधिकारियों में सन्धि हुई थी, किन्तु "चीन की तत्कालीन केन्द्रीय सरकार ने इस सन्धि में किसी व्यक्ति को भाग लेने नहीं भेजा और बाद में इस सन्धि की सम्पुष्टि (Ratification) भी नहीं की। इस सन्धि ने सामान्य रूप से यह व्यवस्था की कि लद्दाख और तिब्बत अपनी सीमाओं का पालन करेंगे, किन्तु इस सीमा का निर्धारण नहीं किया गया था। (२) अरि (ङरी खोर्सुम या दक्षिणी-पश्चिमी तिब्बत) में भी दोनों देशों ने कभी सीमा का निर्धारण नहीं किया। (३) भूटान के पूर्व में भारत सरकार तथाकथित मैकमेहोन रेखा पर बहुत बल देती है, किन्तु "शिमला सम्मेलन में कभी इसकी चर्चा नहीं हुई, इसे ब्रिटिश प्रतिनिधि ने तिब्बत के स्थानीय अधिकारियों के प्रतिनिधि के साथ चीनी सरकार के प्रतिनिधि को बिना बताये गुप्त रूप से २४ मार्च, १९१४ को तय कर लिया। यह रेखा चीन के तिब्बती

प्रदेश के विरुद्ध ब्रिटेन की आक्रामक नीति का परिणाम थी और "इसे चीन की केन्द्रीय सरकार ने कभी स्वीकार नहीं किया, अत. यह अवैध है। इस रेखा में नव्बे हजार किलोमीटर का विशाल प्रदेश आ जाता है। चीन इसे कैसे छोड़ सकता है ?" इसके साथ-साथ ही इस पत्र में यह भी शिकायत की गई थी कि भारतीय सेनाओं ने सीमा का अतिक्रमण करके अनेक चीनी प्रदेशों पर अधिकार करने का प्रयत्न किया है। लांगजू, शत्जे, खिजेमाने, तमादेन सभी चीनी प्रदेश हैं, किन्तु इन पर भारतीय सिपाहियों ने आक्रमण करके अधिकार कर लिया है। ऐसे अन्य स्थान बू-जे, पानगोंग, शिपकी दर्रा, परिगरु, सैंग, त्सुगशा, संगचा, लैपथल हैं। चीनी सरकार ने तिब्बत के विद्रोहियों को भागने से रोकने के लिए तिब्बत की दक्षिण-पूर्वी सीमा की रक्षा करने को कुछ सेनाएं भेजी हैं, पर इसका उद्देश्य शान्ति स्थापित करना है। भारत सरकार को चीनी प्रदेश से अपनी फ़ौजें फौरन हटा लेनी चाहिएं, इससे दोनों देशों के सम्बन्धों पर छाने वाले काले बादल शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जायेंगे।

भारत के प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने इस पत्र का उत्तर देते हुए २६ सितम्बर, १९५९ को इस बात पर आश्चर्य और दुःख प्रकट किया कि चीन ने "कई दशाब्दियों से तथा कुछ स्थानों में एक शताब्दी से निर्विवाद रूप से भारतीय माने जाने वाले प्रदेश के ४०,००० वर्गमील पर दावा किया है"। यह कहना मिथ्या है कि भारत ने इस सीमा को चीन से स्वीकार कराने के लिए उस पर सब प्रकार का दबाव डाला है। हमने १९५४ से चीनी सेनाओं द्वारा भारतीय सीमा के उल्लंघनों, लद्दाख के अक्साई चिन प्रदेश में सड़क बनाने तथा वहाँ भारतीय दल के बन्दी बनाने के समाचारों का प्रकाशन इस दृष्टि से नहीं किया कि सार्वजनिक उत्तेजना न फैले तथा 'विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान हो जाय'। सीमा निर्धारण के सम्बन्ध में श्री नेहरू ने यह लिखा कि यह सत्य है कि समूची उत्तरी सीमा का विधिवत् निर्धारण (Formal Delimitation) नहीं हुआ, कुछ प्रदेश इतने दुर्गम हैं कि वहाँ का सीमांकन (Demarcation) सम्भव ही नहीं। किन्तु समूचे सीमान्त प्रदेश का सन्धि द्वारा या प्रथा (Custom) द्वारा अथवा इन दोनों द्वारा सीमा निर्धारण हुआ है और अब तक चीनी सरकार ने परम्परागत सीमान्त प्रदेश में भारत सरकार के अधिकारक्षेत्र पर कोई विरोध नहीं प्रकट किया"।......सब चीनी सरकारों ने भारतीय सीमा को माना है। यह कहना ठीक नहीं कि पहली चीनी सरकारें निर्बल थीं।......इस सीमा के सम्बन्ध में चीन ने एक बार भी वैसा प्रतिवाद नहीं किया, जैसे उसने बर्मा की सीमा के सम्बन्ध में १९०६ तथा १९३७ में किया था।" लद्दाख की १८४२ की सन्धि के विषय में यह कहना सत्य नहीं कि इसमें चीन की केन्द्रीय सरकार ने कोई भाग नहीं लिया। इस सन्धि पर चीनी सम्राट् के प्रतिनिधि कल्मेन सोकोन के हस्ताक्षर हैं। यह सन्धि "राजा साहिब बहादुर, चीन के खगान तथा ल्हासा के लामा गुरु साहिब" के बीच की गई थी। इस सन्धि में सीमान्त रेखा निर्धारण न करने का कारण यह था कि दोनों देशों के सीमान्त सुनिश्चित और सुविदित थे। कनिंघम ने १८४६ में लिखा था कि लद्दाखियों ने १६८७ में मंगोलों को अपने देश से भगाकर पूर्वी सीमा को पत्थरों के ढेर लगाकर सुनिश्चित बना दिया था। १८४२ की सन्धि को चीनी

सरकार स्वीकार करती थी, यह बात इससे स्पष्ट होती है कि १८४७ में एक चीनी अधिकारी ने ब्रिटिश सरकार को यह सूचना दी थी कि इन प्रदेशों की सीमाएं "पर्याप्त रूप से और स्पष्ट रूप से सुनिश्चित हो चुकी हैं, इस पुरानी व्यवस्था का अनुसरण करना सर्वोत्तम होगा।" अरि या ङरी खोर्सुम (दक्षिणी-पश्चिमी तिब्बत) के पंजाब, हिमाचल और उत्तरप्रदेश के साथ लगने वाले सीमान्त का निर्धारण १९५४ के चीनी-भारतीय समझौते द्वारा हो चुका है, जिसमें स्पष्ट रूप से छः दर्रों—शिपकी, माना, नीति, कुंगरी-बिंगरी, दार्मा, लीपूलेख का उल्लेख है। शिमला सम्मेलन में चीनी प्रतिनिधि ने पूरी तरह भाग लिया था, इसमें मैकमेहोन रेखा पर विचार हुआ था। चीनी प्रतिनिधि ने २५ अप्रैल को आन्तरिक (Inner) और बाह्य (Outer) तिब्बत की तथा तिब्बत और चीन की सीमाओं पर कुछ आक्षेप किये थे, किन्तु तिब्बत और भारत की सीमा पर कोई आक्षेप नहीं किया था। २७ अप्रैल को चीनी प्रतिनिधि ने इस सम्मेलन के समझौते पर तथा सीमा प्रदर्शित करने वाले मानचित्र पर अपने स्वीकृति सूचक हस्ताक्षर किये थे। चीन ने बाद में आन्तरिक तिब्बत और चीन की तथा आन्तरिक और बाह्य तिब्बत की सीमाओं में संशोधन के प्रस्ताव रखे किन्तु मैकमेहोन रेखा पर कोई आपत्ति नहीं की। यह रेखा वस्तुतः एक स्वाभाविक, परम्परागत, जातीय (Ethnic) और प्रशासनात्मक सीमा को निर्धारित करने वाली है और "भारत सरकार द्वारा निर्बल तिब्बत पर जबर्दस्ती नहीं थोपी गई।" भारत ने केवल भूल से मैकमेहोन रेखा के उत्तर में तमदेन में अपनी एक चौकी स्थापित की थी, किन्तु यह भूल ज्ञात होते ही इसे हटा दिया गया है किन्तु चीनी सेनाएं भारतीय सीमा का अतिक्रमण करके बड़ाहोती, (बू-जे) अक्साई चिन, खुर्नाक, दुर्ग, मंडला, स्पंग्गुर, खिंजेमाने और लांगजू में जमी हुई हैं, चीनियों ने स्पीती क्षेत्र में शिपकी दर्रा, नीलंग जघंग क्षेत्र, संघचा, लेप्थला और दीचू घाटी में भारतीय सीमा का उल्लंघन करके प्रवेश किया। "यह कहना ठीक नहीं कि चीनी सेनाओं ने मैकमेहोन रेखा का कभी अतिक्रमण नहीं किया क्योंकि खिंजेमाने तथा लांगजू दोनों इस रेखा के दक्षिण में हैं।

इस पत्र में भी श्री नेहरू ने इस बात पर बल दिया था कि "तब तक कोई वार्ता नहीं सफल हो सकती, जब तक चीनी सेनाएं परम्परागत भारतीय सीमान्त को खाली नहीं कर देतीं। सिक्किम और भूटान पर चीन का कोई दावा नहीं माना जा सकता। चीन का यह दावा गलत है कि "भारतीय सेनाएं तिब्बत के विद्रोहियों का संरक्षण कर रही हैं।" पत्र के अन्त में श्री नेहरू ने पंचशील के सिद्धान्तों में गहरी आस्था प्रकट करते हुए लिखा कि दोनों देशों में शान्ति और मैत्री तभी रह सकती है "जब चीन भारत का अंग समझे जाने वाले हज़ारों मील के प्रदेश पर अपने दावों का परित्याग करे।"

चीन द्वारा अपना बताया जाने वाला भारतीय प्रदेश—२९ सितम्बर, १९५९ को भारत के विदेश मन्त्रालय ने चीन के सरकारी नक्शों के आधार पर आधारित एक मानचित्र प्रकाशित किया, इसमें भारतीय सीमा में अवस्थित उन प्रदेशों को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया था, जिन्हें चीन अपना बताता है। २५०० मील लम्बे भारत-चीनी सीमान्त पर चीन भारत और भूटान के ४०,००० वर्गमील के विशाल भूप्रदेश पर अपना

दावा कर रहा है, यह भारत के पश्चिमी बंगाल के राज्य से अधिक विस्तृत प्रदेश है। इसके अतिरिक्त चीनी पाकिस्तान द्वारा अधिकृत काश्मीर के गिलगित प्रदेश में ५००० वर्गमील के भूखण्ड पर भी दावा कर रहे हैं। उपर्युक्त नक्शे में उत्तरी सीमान्त के चार क्षेत्रों में चीन का दावा दिखाया गया है—(१) उत्तर-पूर्वी सीमा में मैकमेहोन रेखा के दक्षिण में ३२,००० वर्गमील का प्रदेश चीन अपना समझता है। इसमें नेफा (उत्तर-पूर्वी सीमान्त एजेन्सी) के चार राजनीतिक डिवीजनों में से तीन—सुवनसिरी, कमेंग और सियांग पूरी तरह आ जाते हैं और चौथे डिवीजन लोहित का भी बड़ा भाग आता है। एक स्थान पर भी चीनियों द्वारा दावा किए जाने वाले प्रदेश का दक्षिणी सिरा पर्वतमालाओं को पार करता हुआ ब्रह्मपुत्र के मैदान तक पहुँच गया है, इसमें जल विभाजक पर्वतमालाओं के सिद्धान्त की सर्वथा अवहेलना की गई है। (२) भूटान के पूर्वी सिरे पर ४०० वर्गमील का प्रदेश। (३) हिमाचल प्रदेश तथा उत्तरप्रदेश की ३२० मील लम्बी सीमा में चीन ने बड़ाहोती तथा नीलंग पर अपना दावा किया है। पंजाब और तिब्बत की सीमा पर ३० मील के स्पीती के प्रदेश को वह अपना मानता है। (४) काश्मीर-तिब्बत के ११०० मील लम्बे सीमान्त पर चीन ने अक्साई चिन, चांग चेनमो घाटी, पानगोंग त्सो, स्पंग्गुर त्सो और चंगेलिया क्षेत्र पर अपना दावा किया है। अक्साई चिन के पूर्वी भाग में उन्होंने तिब्बत को सिंकियांग से मिलाने वाली १०० मील लम्बी सड़क भी १९५६ में बना डाली है। (५) पाकिस्तान द्वारा अधिकृत काश्मीर के ३०० मील लम्बे सीमान्त पर उन्होंने ५००० वर्गमील के प्रदेश पर दावा किया।

श्री नेहरू ने १२ सितम्बर, १९५९ को लोकसभा में चीन के प्रादेशिक दावे को 'बेहूदा' और पूर्ण रूप से अमान्य बताया और यह घोषणा की "यह ऐसा दावा है, जिसे स्वीकार करना भारत के लिए सर्वथा असम्भव है। भले ही इसके कुछ भी परिणाम क्यों न हों। इस असाधारण दावे के सम्बन्ध में मध्यस्थता, समझौते या पंच निर्णय का कोई प्रश्न नहीं है। यह हमारे भूगोल में मौलिक परिवर्तन लाने वाला है, इसका अर्थ चीनियों को हिमालय उपहार में दे देना है। इसे कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता। सीमा सम्बन्धी छोटे-मोटे विवाद शान्तिपूर्वक हल किए जा सकते हैं, किन्तु हिमालय के समर्पण की माँग पर विचार नहीं किया जा सकता।" मैकमेहोन रेखा के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि इसे बनाने वाले का दृष्टिकोण यह था कि यह जल-विभाजक पर्वतों का अनुसरण करे और यह विचार सर्वथा समीचीन है।

लद्दाख की घटना—इसी बीच में २०–२१ अक्टूबर, १९५९ को दक्षिणी लद्दाख की चांग चेनमो घाटी में दोनों देशों के सम्बन्ध कटु बनाने वाली एक घटना हुई। चीनी सेनाओं ने भारतीय सीमा के ४० मील भीतर भारतीय पुलिस के एक गश्त लगाने वाले दल पर सहसा आक्रमण करके नौ व्यक्तियों को मार डाला और १० व्यक्तियों को बन्दी बनाया। यह घटना लनकला के सीमावर्ती दर्रे से ४५ मील पश्चिम में गरम सोतों के पास हुई थी। भारत सरकार ने चीनी सरकार से इस घटना का प्रतिवाद करते हुए गिरफ्तार किए भारतीयों की अविलम्ब रिहाई की माँग की और चीनी फौजों द्वारा

भारतीय प्रदेश खाली करने को कहा। चीनी सरकार का यह कहना था कि यह घटना चीनी प्रदेश में हुई है, भारतीय सैनिक जबर्दस्ती चीनी प्रदेश में घुस गए, उन्होंने चीनी रक्षकों को घेरकर उन पर गोली चलाई, चीनी सैनिकों को विवश होकर आत्म-रक्षा के लिए हथियार उठाने पड़े। भारत सरकार ने चीनी सरकार के इस वक्तव्य को कोरा झूठ समझा क्योंकि यह घटना भारतीय सीमा के ४० मील भीतर हुई थी, अतः भारतीयों के चीनी प्रदेश में घुसने का प्रश्न ही नहीं उठता। भारत सरकार द्वारा प्रबल प्रतिवाद करने पर १४ नवम्बर को चीन ने १० बन्दी बनाए भारतीय पुलिस के व्यक्ति भारत को सौंप दिए। इस प्रकार यद्यपि एक अप्रिय प्रसंग का पटाक्षेप हुआ, किन्तु इसकी कटु स्मृति ने दोनों देशों में पर्याप्त उत्तेजना उत्पन्न की।

इस पर चौ-एन-लाई ने ६ नवम्बर को प्रकाशित अपने एक पत्र में यह सुझाव दिया कि २५०० मील लम्बे सीमान्त के दोनों ओर १२½ मील तक के क्षेत्र से दोनों देश अपनी सेनाएं हटा लें और २५ मील का यह प्रदेश उस समय तक 'विसैन्यीकृत (De-militarized) रहे जब तक दोनों देशों में सीमा-प्रश्न का मित्रतापूर्ण समझौता न हो जाए। श्री नेहरू ने २० नवम्बर को चीन का यह सुझाव हिमालय की समूची सीमान्त रेखा के लिए अस्वीकार करते हुए लद्दाख के १२०० वर्गमील के क्षेत्र में सेनाएं हटाने का प्रस्ताव रखा। यहां भारतीय सेनाए उस रेखा तक पीछे हट जाएं जहां तक चीन अपनी सीमा का दावा करता है और चीनी सेनाएं उस सीमा तक हटें जहां तक भारत अपनी सीमा मानता है। यह व्यवस्था दोनों देशों के लिए न्यायपूर्ण और सैनिक संघर्ष कम करने वाली होगी।

चीनी सरकार ने श्री नेहरू के २६ सितम्बर के पत्र के उत्तर में २ जून, १९६० को दस हजार शब्दों का एक विस्तृत नोट भेजते हुए पुनः इस बात पर बल दिया कि दोनों देशों की २५०० मील लम्बी सीमा का कभी निर्धारण नहीं हुआ। इसका निर्धारण सन्धिवार्ता द्वारा होना चाहिए। इस नोट में चीन ने कुछ नई युक्तियों द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट किया। अक्साई चिन के चीनी होने का यह प्रमाण दिया गया कि यह स्वयमेव उईगूर भाषा का शब्द है, इसका अर्थ है 'श्वेत पत्थरों का रेगिस्तान'। किन्तु यदि इस आधार पर अक्साई चिन चीन का माना जाए तो कैलाश और मानसरोवर को भारतीय नाम होने के कारण भारत का अंग समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार मैकमेहोन रेखा के दक्षिण में तवांग प्रदेश के चीनी होने के सम्बन्ध में यह युक्ति दी गई थी कि छठा दलाई लामा तवांग से आया था। किन्तु ऐसे अनेक दलाई और पंचन लामा हैं जो तिब्बत के बाहरी प्रदेशों से आये हैं, क्या इस कारण वे सभी प्रदेश तिब्बत का अंग हो जाएंगे। चीन ने अपने २६ दिसम्बर, १९५९ के नोट में इस बात पर बल दिया था कि दोनों देशों के प्रधानमन्त्रियों को इस विषय में समझौता करने के सिद्धान्त निश्चित करने तथा २५०० मील लम्बी सीमा को निर्धारित करने के लिए परस्पर मिलना चाहिए। श्री नेहरू ने अपने ५ जनवरी, १९६० के पत्र में यह लिखा कि दोनों सरकारों के दृष्टिकोणों में इतना अधिक मतभेद है कि संधिवार्ता का कोई लाभ नहीं है, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने चौ-एन-लाई को दिल्ली आकर बातचीत करने का

निमन्त्रण दिया।

श्री नेहरू-चौ की दिल्ली वार्ता (अप्रैल १९६०)—श्री नेहरू के निमन्त्रण को स्वीकार करके चीन के प्रधानमन्त्री चौ-एन-लाई, उपप्रधान मन्त्री तथा विदेश मन्त्री मार्शल चेन-यी तथा अन्य अधिकारियों के साथ १९ अप्रैल, १९६० को दिल्ली आए। सात दिन (२० से २६ अप्रैल) में उन्होंने २० घण्टे तक श्री नेहरू तथा मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्यों श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री मोरारजी देसाई और श्री कृष्ण मेनन आदि से सीमा आदि के विषय में वार्ता की। इस वार्ता के बाद प्रकाशित संयुक्त विज्ञप्ति में यह कहा गया—"यह वार्ता दोनों देशों में उत्पन्न हुए मतभेदों को दूर करने में सफल नहीं हुई", फिर भी इस बात पर समझौता हो गया कि दोनों सरकारों के अधिकारी विवादग्रस्त सीमान्तों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथा अन्य तथ्य सम्बन्धी सामग्री का अध्ययन करके इसकी रिपोर्ट अपनी सरकारों को सितम्बर १९६० तक प्रस्तुत करेंगे। अधिकारियों की पहली बैठक जून १९६० में पेकिंग में होगी। इस निर्णय के अनुसार भारतीय अधिकारियों का एक दल पहली जून को पेकिंग चला गया।

दिल्ली वार्ता के बाद चौ-एन-लाई द्वारा प्रेस सम्मेलन में दिये वक्तव्य से प्रतीत होता था कि दोनों देशों में मैकमेहोन रेखा के सम्बन्ध में कम मतभेद है और लद्दाख में अक्साई चिन के सम्बन्ध में अधिक तीव्र विवाद है। चीन यदि पूर्वी क्षेत्र में भारत का दृष्टिकोण मान ले तो भारत को पश्चिमी क्षेत्र में चीन का दृष्टिकोण स्वीकार कर लेना चाहिए। चीन द्वारा पश्चिमी क्षेत्र को अधिक महत्त्व दिए जाने का यह कारण है कि यहां गिलगित में पाकिस्तान की सीमा उसके सिंकियांग प्रान्त के साथ स्पर्श करती है और चीन को यह भय है कि उसका प्रबल शत्रु अमेरिका, पाकिस्तान के इस प्रदेश में उसे हानि पहुंचाने के लिए अपने अडडे स्थापित कर सकता है। श्री नेहरू ने २६ अप्रैल को चौ के द्वारा समर्थित पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्रों के उपर्युक्त 'विनिमय' से असहमति प्रकट करते हुए कहा कि "दोनों पक्षों के पास विभिन्न प्रकार के तथ्य हैं, उनसे विभिन्न परिणाम निकलना स्वाभाविक है। दोनों पक्षों के तथ्यों में मौलिक भेद हैं, चीनियों का दावा है कि लद्दाख पर पिछले २०० वर्ष से उनका वास्तविक नियन्त्रण है और भारत का यह कहना है कि चीनी सेनाए इस प्रदेश में पिछले कुछ वर्षों में ही आई हैं।"

इसी बीच में चीन द्वारा लद्दाख में एक दूसरी सामरिक महत्त्व की सड़क बनाने का समाचार मिला है। यह सड़क २०० मील तक भारतीय प्रदेश में से होकर गुजरती है। उत्तर में यह हाजी लंगर से शुरू होती है, फिर पश्चिम और दक्षिण में कराकाश नदी की घाटी के साथ होती हुई दक्षिण-पश्चिम में लनकला के दर्रे तक पहुंचती है। इस मार्ग से भारतीय प्रदेश का ८००० से १०००० वर्गमील तक का प्रदेश भारत से विच्छिन्न हो जाता है, जबकि पहली सड़क से केवल ५००० वर्गमील का प्रदेश पृथक् होता था। यह सड़क संभवतः अक्टूबर, १९५९ के बाद बनाई गई है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हमारी हिमालय की सीमा पर इस समय हिमालय जैसा महान् सीमाविवाद उत्पन्न हो चुका है। इसमें यद्यपि दोनों पक्षों में

मौलिक मतभेद हैं, फिर भी इनके समाधान की आशा है क्योंकि दोनों देश मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखना चाहते हैं। श्री नेहरू शान्ति के परम उपासक हैं और श्री चौ-एन-लाई ने २५ अप्रैल, १९६० को दिल्ली में घोषणा की थी—"हम हज़ारों वर्षों से मित्र चले आ रहे हैं और लाखों वर्षों तक मित्र बने रहेंगे।"

सरकारी अधिकारियों की रिपोर्ट—दोनों प्रधानमन्त्रियों के उपर्युक्त सुझाव के आधार पर दोनों देशों के सरकारी अधिकारियों ने सीमाविवाद के विषय में विभिन्न सम्मेलनों में अपने प्रमाण उपस्थित किये। भारत की ओर से इसमें अपनी सीमा की पुष्टि में ६३० प्रमाण दिये गए, जबकि चीन की ओर से इनकी संख्या केवल २४५ थी। भारतीय प्रमाण तथ्यों पर आधारित, सुसंबद्ध और निर्विवाद थे, चीनी प्रमाण न तो तथ्यों पर आधारित थे और न ही सुसंबद्ध और निर्विवाद। चीन ने बार-बार इस बात पर बल दिया कि भारत, नेपाल और बर्मा द्वारा प्रस्तुत किए गए शानदार उदाहरण का अनुसरण करते हुए चीन के साथ समझौता कर ले। चीन ने बर्मा के साथ समझौते में मैकमेहोन रेखा को स्वीकार किया था, किन्तु भारत के साथ समझौते में वह इसे स्वीकार नहीं करना चाहता था, इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो गया कि सीमाविवाद में चीन के पास अपना पक्ष पुष्ट करने के लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं है।[2] चीन के पास भारत के प्रमाणों को खण्डित करने का एक ही तर्क था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के नक्शे और साक्षी हमें मान्य नहीं हैं। किन्तु जहां चीनियों को ब्रिटिश साक्षी अपना पक्ष पुष्ट करने वाली प्रतीत हुई वहां उन्होंने इसे प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने में कोई संकोच नहीं किया।[3]

इस रिपोर्ट से कई बातें स्पष्ट हुईं। पहली बात यह थी कि चीन ५० हजार वर्गमील के भारतीय प्रदेश को अपना बताता है, और इसमें १२ हज़ार वर्गमील प्रदेश पर वह अवैध रूप से अधिकार कर चुका है। दूसरी बात यह थी कि वह काश्मीर को भारत का अंग नहीं समझता। तीसरी बात यह थी कि भारत जिस सीमा को स्वीकार करता है, वह अत्यन्त प्राचीन काल से चली आने वाली, स्वाभाविक और सुस्पष्ट एवं विभिन्न संधियों और परम्पराओं से परिपुष्ट एवं समर्थित है। उदाहरणार्थ लद्दाख के क्षेत्र में चीनी प्रान्त सिंकियांग की सीमा छठी श० ई० से क्वेनलुन पर्वतमाला के दक्षिण में कभी नहीं रही, इस पर्वतमाला तक वह १९वीं शताब्दी में पहुंची है। इससे स्पष्ट है अक्साई चिन का पठार कभी चीन का अंग नहीं रहा। काश्मीर सरकार के इस प्रदेश पर शासन करने के तथा मालगुजारी वसूल करने के स्पष्ट प्रमाण थे। पश्चिमी क्षेत्र की सीमा १६८४ तथा १८४२ की संधियों से, मध्यवर्ती क्षेत्र की सीमा १८९०, १९१४ तथा १९५० के

---

२. इस रिपोर्ट का पूरा नाम है—**Report of the Officials of the Government of India and the People's Republic of China on the Boundary Question** यह भारतीय विदेश मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित हुई है। इसकी विस्तृत समीक्षा के लिए देखिए—**Hudson, G. F. China Quarterly (London) no. of October-December, 1961, pp. 217-221**

३. **Summary of the Officials Report, pp. 6-7**

पत्रों से तथा १९५४ के समझौते तथा पूर्वी क्षत्र की सीमा १९१४ के शिमला सम्मेलन से सुनिश्चित है।

इसके विपरीत चीनियों के पास १९५० ई० से पहले छपे चीन के सरकारी नक्शे के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं था। पश्चिमी क्षेत्र के सम्बन्ध में चीनियों द्वारा प्रस्तुत की गई साक्षी किन्हीं प्रमाणों से पुष्ट नहीं थी। मध्यवर्ती तथा पूर्वी क्षेत्र के सम्बन्ध में उनकी साक्षी प्रधान रूप से इस प्रदेश के मठों पर तिब्बत वालों की धार्मिक अध्यक्षता एवं देखरेख की थी, जबकि भारत ने इन प्रदेशों में शासन करने, मालगुजारी तथा टैक्स वसूल करने के प्रमाण पेश किए। इस रिपोर्ट से यह भी स्पष्ट हो गया कि चीनी नक्शों में बड़ी गलतियां हैं। चीन, वर्मा के जिस शानदार उदाहरण का अनुसरण करने के लिए भारत को कह रहा था, उसके विश्लेषण से यह प्रतीत हुआ कि १९५३ तक चीनी नक्शे वर्मा के २५ हज़ार वर्गमील प्रदेश को चीनी प्रदेश बता रहे थे।

चीन का आक्रमण—इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो गया कि दोनों पक्षों में सीमा के सम्बन्ध में गम्भीर मतभेद हैं। यह रिपोर्ट भारतीय संसद् में १४ फरवरी, १९६१ को पेश की गई। इसके बाद भी दोनों देशों में समझौते के कई प्रयत्न हुए, किन्तु चीन की ओर से भारतीय सीमा का उल्लंघन और भारतीय प्रदेश में सैनिक चौकियों की स्थापना का कार्य जारी रहा। जुलाई, १९६२ तक चीन और भारत के सीमा-विवाद की स्थिति काफी गम्भीर हो गई, चीनी लद्दाख में गलवान नदी की घाटी के निचले हिस्सों तक बढ़ आए, १० जुलाई को नई दिल्ली से यह घोषणा की गई कि यहां ४०० चीनी सैनिकों ने एक भारतीय चौकी को घेर लिया है तथा यह स्थान चीनियों द्वारा लद्दाख में अपनी सीमा माने जाने वाले प्रदेश से भी १० मील आगे भारतीय प्रदेश में है। दूसरी ओर चीन ने इस विषय में ८ जुलाई के भारतीय सरकार के नोट का प्रतिवाद करते हुए १० जुलाई को यह कहा कि भारत चीन के सिकियांग प्रदेश में चार सैनिक अड्डे स्थापित कर रहा है। जुलाई तथा अगस्त में चीन ने भारतीय सीमा में घुसने और सैनिक भेजने का सिलसिला जारी रखा।

सितम्बर, १९६२ में उत्तर-पूर्वी सीमान्त में चीन की सैनिक कार्यवाही बढ़ने लगी। ८ सितम्बर को चीनी सेनाओं ने मैकमेहोन रेखा लाँघकर भारतीय सीमा में प्रवेश किया। २० सितम्बर को ढोला के निकट थागला नामक पर्वत पर चीनियों ने भारतीय सेना पर हमला किया। १० अक्टूबर को पुनः इसी क्षेत्र पर चीनियों ने आक्रमण किया। भारत सरकार ने जब इस पर चीन से प्रबल विरोध प्रकट किया तो चीन ने उत्तर दिया कि ये स्थान उसकी सीमा में हैं, चीनी सेनाएं आत्म-रक्षा के लिए अपने प्रदेश में लड़ रही हैं।

उपर्युक्त आरम्भिक भारतीय चौकियों और सेना की पूरी थाह लेने के बाद २० अक्टूबर, १९६२ को ब्राह्ममुहूर्त में चीनी सेना ने विशाल पैमाने पर उत्तर-पूर्वी सीमान्त में तथा इससे १००० मील दूर लद्दाख के मोर्चे पर तोपखाने, हल्की तोपों और पहाड़ी तोपों के साथ प्रबल आक्रमण किया। उत्तर-पूर्वी सीमा पर चीनी सेनाओं ने २४ घण्टे में ही ढोला तथा खिंजमाने की भारतीय चौकियों पर अधिकार कर लिया। भारत के

तत्कालीन रक्षामन्त्री श्री मेनन का कहना था कि यहां चीनियों ने एक डिवीजन सेना के साथ हमला किया, उन्होंने हताहतों की परवाह न करते हुए चीनी सैनिकों की विशाल संख्या को युद्ध में झोंक दिया, वे टिड्डी दल की भांति भारतीय चौकियों पर टूट पड़े और चौगुना नुक्सान उठाकर विजयी हुए। चीनियों की विजय के प्रधान कारण निम्नलिखित थे—(१) भौगोलिक स्थिति चीन के पक्ष में थी। चीनी तिब्बत के ऊंचे पठार तथा पहाड़ी चोटियों से हमला कर रहे थे, भारतीयों को निचली घाटियों से हिमालय की ऊंची चोटियों तक चढ़कर अपने मोर्चों की रक्षा करने का विकट कार्य करना पड़ा। (२) दूसरा कारण यह था कि तिब्बत के समतल पठार में चीनी अपनी सेनाओं और लड़ाई के सामान को मैकमेहोन रेखा के पास तक ले आए थे, तिब्बत के सैनिक अड्डों से यहां तक यातायात की बड़ी सुविधा थी। किन्तु भारतीयों को सीमान्त तक रण-सामग्री और सेना पहुँचाने में २०० मील चौड़ी दुर्गम हिमालय की गिरिमालाएं पार करनी पड़ती थीं। इसमें केवल हेलिकाप्टरों तथा विमानों से बहुत थोड़ा सामान पहुँचाया जा सकता था।(३)तीसरा कारण यह था कि चीनी सिपाही तिब्बत में चिरकाल से इस आक्रमण की तैयारी कर रहे थे, उनकी सेनाएं अपने शरीर को १७-१८ हजार फीट की ऊंचाई पर लड़ने, दौड़ने, भागने, सामान लेकर चलने, पहाड़ों पर चढ़ने का पूरा अभ्यास कर चुकी थीं। किन्तु मैदानी प्रदेशों से आने वाले भारतीय इतनी अधिक ऊंचाई पर लड़े जाने वाले पहाड़ी युद्ध के लिए सर्वथा अनभ्यस्त थे। (४) चीन के पास पहाड़ों में लड़ने के लिए उत्कृष्ट हल्के तथा स्वयंचालित अस्त्र थे। वे गुरिल्ला युद्ध नीति का १९२९ से अभ्यास कर रहे थे, हिमालय के दुर्गम प्रदेश इसके लिए सर्वथा उपयुक्त थे। इन प्रदेशों में बसी मंगोलवंशी बौद्धधर्मानुयायी और तिब्बतियों से सादृश्य रखने वाली जातियों से उन्हें अपने कार्य में बड़ी सुविधा हुई।

इन सब कारणों से चीनी सेना मैकमेहोन रेखा पार करके उत्तर-पूर्वी सीमान्त प्रदेश में बड़ी तेजी से आगे बढ़ने लगी। ढोला पर अधिकार करने के बाद तीन दिन में छः-सात मील आगे बढ़कर उन्होंने बमला पर अधिकार कर लिया और इस प्रदेश में भारत के अन्तिम बड़े अड्डे तवांग की ओर बढ़े। २५ अक्टूबर को मैकमेहोन रेखा से १६ मील दक्षिण में तवांग पर चीनियों का अधिकार हो गया। २८ अक्टूबर से १४ नवम्बर तक कुछ शान्ति रहने के बाद युद्ध में फिर तेजी आ गई। १५-१६ नवम्बर को चीनी सेनाओं ने बड़े पैमाने पर हमले आरम्भ किए, इस समय यहां चीन के सम्भवतः तीन डिवीजन या ३०००० सिपाही लड़ रहे थे। १८ नवम्बर को मैकमेहोन रेखा के पूर्वी किनारे पर चीनियों ने २० हजार सैनिक युद्ध में झोंककर वालोंग पर अधिकार कर लिया और तवांग से दक्षिण में १४००० फीट ऊंचे सेला दर्रे के पास चीनियों ने संडासी की चाल (Pincer movement) द्वारा चतुर्थ भारतीय डिवीजन को घेर लिया और ८० मील दूर बोमदिला के भारतीय अड्डे से इसका सम्बन्ध विच्छिन्न कर दिया। १९ नवम्बर तक वे बोमदिला से भी आगे आसाम के मैदान के उत्तर में स्थित फुट-हिल्स कस्बे से चार मील उत्तर में थे। लद्दाख में चीनी जिस प्रदेश को अपनी सीमा मानते थे, उस पर उन्होंने अधिकार कर लिया।

इसी समय २१ नवम्बर को पेकिंग ने युद्ध-विराम की घोषणा की। इस समय मैकमेहोन रेखा के पूर्व में उनकी सेनाएं वालोंग जीत कर उससे १०-१५ मील दक्षिण में डिग्बोई के तैलकूपों से १०० मील दूर थीं। पश्चिमी सिरे पर वे भारतीय सीमा में मैकमेहोन रेखा के दक्षिण में १०० मील तक आकर आसाम के मैदान के पास पहुँच गई थीं, ब्रह्मपुत्र नदी से वे ४० मील उत्तर में थीं।

युद्ध-विराम तथा चीन के प्रस्ताव—२१ नवम्बर, १९६२ को चीन की सरकार ने लड़ाई बन्द करने की एकपक्षीय घोषणा करते हुए कहा कि (१) १ दिसम्बर १९६२ से चीनी सेनाएं उन द्वारा बनाई गई नियन्त्रण की वास्तविक रेखा से २० किलोमीटर पीछे हट जाएंगी। (२) पूर्वी क्षेत्र में चीनी सेनाएं अपनी वर्तमान स्थिति से उत्तर में न केवल नियन्त्रण की वास्तविक रेखा तक किन्तु उससे २० किलोमीटर पीछे हट जाएंगी। (३) मध्य एवं पश्चिमी क्षेत्रों में भी वे 'नियन्त्रण की वास्तविक रेखा' तक हट जाएंगी।

चीनियों के कथनानुसार 'नियन्त्रण की वास्तविक रेखा' वही है, जो ७ नवम्बर १९५९ को दोनों देशों की सीमा थी। भारत के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू का कहना है कि चीनियों ने ८ सितम्बर से भारतीय सीमा पर आक्रमण किया है, वे जब तक उस रेखा तक नहीं लौट जातीं, तब तक भारत चीन के साथ संधि-वार्ता नहीं कर सकता।

नियन्त्रण की वास्तविक रेखा का स्वरूप—चीन की उपर्युक्त युद्ध विराम की घोषणा बड़ी छलपूर्ण है और उसके प्रचार-कौशल की परिचायक है। इस प्रश्न की गहराई और सूक्ष्मता में न जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति चीन के प्रस्तावों को सुनकर यह कहता है कि जब चीन ७ नवम्बर, १९५९ की स्थिति स्वीकार करने को तैयार है तो भारत उससे ८ सितम्बर, १९६२ वाली स्थिति पर लौटने का आग्रह क्यों कर रहा है?

वस्तुतः चीन की 'वास्तविक नियन्त्रण की रेखा' धोखे की टट्टी है, जिसकी आड़ में वह अक्टूबर-नवम्बर १९६२ के युद्ध में जबर्दस्ती जीता हुआ प्रदेश अपने पास रखने की स्वीकृति भारत से लेना चाहता है। चीन के नक्शे और सीमाएं उनकी सेनाओं के साथ आगे बढ़ते हैं। इस समय चीनी पश्चिमी क्षेत्र में जिसे नियन्त्रण की वास्तविक रेखा कहते हैं, वह उन द्वारा लद्दाख में जीता हुआ प्रदेश है। इस समय उन्होंने सैनिक शक्ति द्वारा उस पर अधिकार कर लिया है। चौ-एन-लाई के कथनानुसार पश्चिमी और मध्य क्षेत्रों में यह (अर्थात् वास्तविक नियन्त्रण की रेखा) मोटे तौर पर प्रचलित परम्परागत रेखा से मिलती है। किन्तु यह प्रचलित परम्परा रेखा क्या है? यह बड़ा लचकीला शब्द है और चीन सदैव इस रेखा को भारतीय प्रदेश में निरन्तर आगे बढ़ाता गया है।

नवम्बर, १९५९ में वास्तविक नियन्त्रण की कोई निश्चित रेखा नहीं थी, किन्तु भारतीय क्षेत्र में चीनी सेनाओं के कुछ ठिकानों, चौकियों का एक सिलसिलामात्र था। ये चौकियां १९५९ के बाद से बढ़ती गईं, इन्हें प्रचलित सीमारेखा को बलपूर्वक बदलकर कायम किया गया, जबकि चीन की सरकार, भारत सरकार को यही आश्वासन

देती रही कि वह भारत के किसी इलाके पर दावा नहीं करती। नवम्बर, १९५९ में चीनी चौकियां इन जगहों पर थीं—स्पांगुर, खुर्नाक किला, कोंगकाला और मुख्य अक्साई चिन सड़क के साथ-साथ। तीन वर्ष के भीतर चीनियों ने इस क्षेत्र में सैनिक सड़कों और चौकियों का जाल सा बिछा दिया, जो उत्तर में दौलतबेग ओल्दी से शुरू होकर चिपचैप नदी घाटी के सहारे होता हुआ गलवान नदी के पार पैंगोंग्र और स्पांगुर झील के क्षेत्रों तक फैला था। कुछ स्थानों पर सैनिक चौकियों का यह जाल १९५९ की चीनियों की अवस्थिति से १०० मील से अधिक आगे तक बढ़ आया है।

इस प्रकार चीन १९५९ की वास्तविक नियन्त्रण रेखा को उस रेखा तक बढ़ा ले आता है, जिसकी उसने १९६० के दोनों देशों के अधिकारियों के सम्मेलन में माँग की थी और यह वही रेखा है जो २० अक्टूबर, १९६२ के बाद होने वाले अपने बड़े हमले के बाद चीन ने अपने कब्जे में की हुई है। इस रेखा में न केवल वे सब चीनी चौकियां सम्मिलित हैं, जो उन्होंने १९५९ के बाद के तीन वर्षों में कायम की हैं, बल्कि वे सब भारतीय चौकियां भी शामिल हैं जो इस क्षेत्र में २० अक्टूबर, १९६२ तक मौजूद थीं और यह रेखा उससे भी और पश्चिम की ओर बढ़ आती है और इस तरह ७ नवम्बर, १९५९ की स्थिति से भी ५००० से ६००० वर्गमील का अतिरिक्त इलाका इसमें सम्मिलित कर देती है।

यदि चीनी प्रस्ताव के अनुसार वास्तविक नियन्त्रण रेखा मान ली जाय तो भारतीय प्रधानमन्त्री के १४ नवम्बर, १९६२ को लिखे गए पत्र के साथ संलग्न स्मरण पत्र के अनुसार भारत को उस क्षेत्र में २० किलोमीटर पीछे हटना पड़ेगा, जिसे चीन ने असंदिग्ध रूप से भारतीय माना है, जबकि चीनी उस भारतीय प्रदेश में २० किलोमीटर पीछे हटेंगे, जिस पर वे दावा कर रहे हैं। इस प्रकार चीनी सेनाएं भारतीय क्षेत्र में १०० किलोमीटर से भी अधिक गहराई तक बनी रहेंगी। इसका प्रभाव यह होगा कि २० अक्टूबर, १९६२ तक के चीन द्वारा अधिकृत प्रदेश में उनकी चौकियों का जाल यथापूर्व बना रहेगा, किन्तु भारतीय चौकियां उस प्रदेश से भी समाप्त हो जायेंगी, जो असंदिग्ध रूप से भारतीय प्रदेश है। भारत को दौलतबेग ओल्दी, चुशूल और हैनले की महत्त्वपूर्ण चौकियां तोड़नी और समाप्त करनी होंगी।

अतः भारतीय प्रधानमन्त्री ने चीनी प्रधानमन्त्री के नाम लिखे १ दिसम्बर, १९६२ के पत्र में इसे अस्वीकार करते हुए कहा था—'जिसे आप ७ नवम्बर, १९५९ की वास्तविक नियंत्रण रेखा कहते हैं, वह अलग-अलग चौकियों का सिलसिला था। आप जानते ही हैं कि नवम्बर, १९५९ में किजिल, जिलगा, शिंगलुंग, देहरा, समजुंगलिंग अथवा इन ठिकानों के पश्चिमी क्षेत्रों में किसी तरह की चीनी चौकियां नहीं थीं और न स्पांगुर के दक्षिण या पश्चिम में चीनियों की किसी तरह की चौकियां हैं। इसके बावजूद आपकी सरकार का दावा है कि लद्दाख में ७ नवम्बर, १९५९ की वास्तविक नियन्त्रण रेखा उस नियन्त्रण रेखा के साथ है, जिसे आपकी सेनाओं ने २० अक्टूबर को भारी हमले के बाद कायम किया है। यह प्रारम्भिक युद्ध-विराम की आड़ में उस इलाके पर चीन का भौतिक अधिकार रखने का निश्चित प्रयत्न है, जिस पर चीन का दावा रहा है और जिसे प्राप्त

करने के लिए आपकी सेनाओं ने २० अक्टूबर, १९६२ से बड़े पैमाने पर हमला किया। हम इसे नहीं मान सकते।"

मध्य पूर्वी क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। उदाहरणार्थ मध्य क्षेत्र में बड़ाहोती कभी चीनी नियन्त्रण में नहीं रहा। यही दशा पूर्वी क्षेत्र में है। यहां ७ नवम्बर, १९५९ को कहीं भी चीनी शासन नहीं था। यह स्थिति ८ सितम्बर, १९६२ के चीनी हमले के बाद बदली है, अतः चीन को सन्धिवार्त्ता के लिए अपनी सेनाएं ८ सितम्बर, १९६२ से पहले की स्थिति में ले जानी चाहिएं।

कोलम्बो प्रस्ताव—श्रीलंका के प्रधानमन्त्री श्रीमती भंडारनायक के प्रस्ताव पर भारत और चीन के सीमा-विवाद की समस्या हल करने के लिए एशिया तथा अफ्रीका के छः देशों का सम्मेलन लंका की राजधानी कोलम्बो में १० दिसम्बर से १२ दिसम्बर तक हुआ। इसमें बर्मा, कम्बोडिया, लंका, घाना, इण्डोनेशिया तथा संयुक्त अरब गण राज्य के जनरल ने विन, राजकुमार नोरोदोम सिहानूक, श्रीमती भंडारनायक, ओफोरी आता, डा० सुबोन्द्रियो तथा अली साबरी सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन के प्रस्तावों को लेकर श्रीमती भंडारनायक पेकिंग गईं, वहां ३१ दिसम्बर से ७ जनवरी, १९६३ तक श्री चौ-एन-लाई के साथ इस विषय में विचार-विमर्श करने के बाद उन्होंने १२-१३ जनवरी को भारत के प्रधानमन्त्री के साथ वार्ता की। १९ जनवरी, १९६३ को प्रकाशित किये गए कोलम्बो प्रस्ताव इस प्रकार थे—(१) सम्मेलन की सम्मति में वर्तमान युद्ध-विराम भारत-चीन सीमाविवाद के समाधान आरम्भ करने का बड़ा अच्छा अवसर है। (२) पश्चिमी क्षेत्र के सम्बन्ध में सम्मेलन यह चाहता है कि चीन अपनी सेनाएं बीस किलोमीटर पीछे हटा ले, जैसा कि चीनी प्रधानमन्त्री ने भारतीय प्रधानमन्त्री के नाम अपने २१ तथा २८ नवम्बर, १९६२ के पत्रों में लिखा है। (३) सम्मेलन भारत सरकार से अनुरोध करता है कि वे इस क्षेत्र में अपनी वर्तमान स्थिति बनाए रखें। (४) सीमा-विवाद का अन्तिम निर्णय होने तक चीनी सेनाओं द्वारा खाली किए प्रदेश विसैन्यीकृत क्षेत्र (Demilitarised zone) होंगे। इसमें दोनों पक्षों के समझौते से गैर फौजी (Civil) चौकियां स्थापित की जाएंगी। (५) मध्य क्षेत्र में सम्मेलन सब समस्याओं को शान्तिपूर्ण रीति से सुलझाना चाहता है। इसमें ८ सितम्बर, १९६२ के पहले की स्थिति बनी रहनी चाहिए। (६) पूर्वी क्षेत्र में दोनों सरकारों द्वारा स्वीकृत वास्तविक नियन्त्रण रेखा को युद्ध-विराम के लिए स्वीकार कर लिया जाए। इसका यह अभिप्राय था कि अब भारतीय सेनाएं मैकमेहोन रेखा तक जा सकती थीं। इस क्षेत्र में केवल दो स्थानों—थागला तथा लांगजू के बारे में विवाद था, इन स्थानों के सम्बन्ध में भारत और चीन का समझौता होने के बाद ही सेना भेजी जा सकती थी।

कोलम्बो प्रस्ताव उपर्युक्त चीनी प्रस्तावों से कई महत्त्वपूर्ण अंशों में भिन्न थे। चीनी प्रस्तावों द्वारा सभी क्षेत्रों में भारतीयों को वास्तविक नियन्त्रण रेखा से २० किलोमीटर पीछे हटना पड़ता था। यह व्यवस्था भारत के लिए बहुत हानिकर थी, इससे उसे अपनी सेनाएं हिमालय के दर्रों और जलविभाजक पर्वतमाला से २० किलोमीटर पीछे रखना आवश्यक था, इससे उसके सभी दर्रे तथा सीमा असुरक्षित रहने की प्रबल

सम्भावना थी। चीन आक्रमणकारी देश था, उसे पीछे हटना चाहिए था। किन्तु चीनी प्रस्तावों में दोनों के पीछे हटने की व्यवस्था थी। कोलम्बो सम्मेलन ने केवल चीन की ही पीछे हटने की स्थिति मानी, भारत को कहीं पीछे नहीं हटना था। इन प्रस्तावों में दूसरा बड़ा अन्तर यह था कि चीन द्वारा खाली किए जाने वाले प्रदेश में दोनों देशों की गैर फौजी चौकियां स्थापित की जानी थीं।

यद्यपि कोलम्बो प्रस्ताव भारत की ८ सितम्बर, १९५९ से पहले की स्थिति में चीनी सेनाओं के लौट जाने की माँग को स्वीकार नहीं करते थे, इनमें चीन को आक्रान्ता नहीं घोषित किया गया था; फिर भी समझौते की दृष्टि से भारत सरकार ने इन प्रस्तावों को मान लिया।

चीन ने इन प्रस्तावों को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक रूप में अस्वीकार कर दिया। वह इन प्रस्तावों की निम्न बातें मानने को तैयार नहीं है— (क) पश्चिमी क्षेत्र के विसैन्यीकृत प्रदेश में दोनों देशों की असैनिक चौकियां होनी चाहिएं। उसका यह आग्रह है कि केवल उन्हें इस क्षेत्र में चौकियां रखने का अधिकार हो। इस क्षेत्र में भारत किसी प्रकार की कोई चौकी नहीं रख सकता। (२) पूर्वी क्षेत्र में कोलम्बो प्रस्तावों के सर्वथा विपरीत उनका यह आग्रह है कि भारतीय सेनाएं मैकमेहोन रेखा तक नहीं जा सकतीं। इस प्रकार चीन ने अपने दुराग्रह तथा हठधर्मी से कोलम्बो सम्मेलन के शान्ति प्रस्तावों को ठुकरा दिया है और निकट भविष्य में इसके शान्तिपूर्ण समाधान की आशा धूमिल हो गई है। इस विवाद का हल न होने के कारण किसी भी समय भारत पर चीनी आक्रमण होने की आशंका बनी हुई है।

परिशिष्ट—२

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विषयक

सामान्य ग्रन्थ सूची

(क) पत्र-पत्रिकाएं, वार्षिक विवरण

Keesing's Contemporary Archives, Weekly Diary of World-Events, 1931—with index continually kept up-to-date, Bristol.

Asian Recorder, A Weekly Digest of Asian Events with Index, New Delhi.

Asian Review, East India Association, London.

Contemporary Japan, Foreign Affairs Association of Japan, quarterly, Tokyo.

Current Digest of the Soviet Press, Weekly Joint committee on Slavic Studies, Washington D. C.

Encyclopaedia Britannica year book

Far East Digest, Monthly, Institute of Pacific Relations, New York.

Far Eastern Quarterly, Ann Arbor Mich : Far Eastern Association.

Foreign Affairs Record, Monthly, Ministry of External Affairs, New Delhi.

Foreign Affairs, Quarterly, Council on Foreign Relations, Inc., New York.

Headline Series, Outstanding series pamphlets by eminent scholars issued by Foreign Policy Association, New York.

International Affairs, Quarterly, Royal Institute of International Affairs, London.

International Affairs, Monthly, Soviet Society for the popularization of political and scientific knowledge, Moscow.

International Affairs, Quarterly, Asia Publishing House, Bombay.

International Organization, Quarterly, World Peace Foundation, Boston.

India Quarterly, Indian Council of World Affairs, New Delhi.

Journal of International Affairs, Semi annually, School of International Affairs, Columbia University, New York.

Middle East Journal, Quarterly, Middle East Institute, Washington, D. C.

Middle Eastern Affairs, Monthly, Council for Middle Eastern Affairs, New York.

Facts on File : Person's Index of World Events. Weekly 1940.

News : A Review of World Events. Semi-monthly, Moscow.

The World Today, Monthly, Royal Institute of International Affairs, London.

World Events : The Annual register of Events (Penguin Reference Books)

Current History, Monthly, Events Publishing Co., Philadelphia.

Current Events, Monthly, Dehra Dun.

The United States in World Affairs. Annual Study, Council On Foreign Relations, New York.

(ख) सामान्य ग्रन्थ

Barnett, A Doak, *Communist China and Asia* (Indian Reprint 1964)

Brimmel, J. H., *Communism in South East Asia* (Oxford Uni. P. 1959)

Carr, E. H., *International Relations Between the two World Wars* 1919—1939. Macmillan, London. 1952.

Friedman, Wolfgang, *An Introduction to World Politics*, Macmillan, London 1952.

Gathorne-Hardy, G. M., *A Short History of International Affairs* 1920-39, Oxford University Press, London, 1950.

Hill, Norman, *Contemporary World Politics*, Harper New York 1954.

Kalijarvi, T. V., *Modern World Politics 3rd ed*, Crowell New York 1953.

Keeton, G. W. and George Schwartzenberger, eds., *Year-Book of World Affairs*, Praeger, New York 1947—date.

Morgenthau, H. J., *Politics Among Nations Knopf*, New York 1954.

Palmer N. D. and H. C. Perkins, *International Relations* Houghton Mifflin, Boston 1953.

Royal Institute of International Affairs. *Survey of International Affairs.* Oxford University Press. 1925—date London.

Schuman, F. L., *International Politics 5th ed.*, McGraw-Hill New York 1953.

Schwarzenberger, George., *Power Politics*. 2nd rev. ed., Praegar. New York 1951.

Statesman's Year Book, Macmillan, London, Annual 1864—date.

Hartmann, F. H. ed.. *Basic Documents of International Relations*, McGraw-Hill, New York 1951.

———*Readings in International Relations* McGraw-Hill, New York 1963.

Padelford, N. J. ed., *Current Readings on International Relations*

5 Vols. 1947—9. Addison-Wesley Mass.

Hyamson, A. M., *A Dictionary of International Affairs*, Public Affairs Press, Washington P. C. 1947.

Theimer, Walter, *An Encyclopaedia of Modern World Politics.*, Rinehart, New York 1950.

Langer, W. L., *An Encyclopaedia of World History*, rev. ed., Macmillan, New York 1948.

Schleicher, Charles P., *Introduction to International Relations.* Prentice Hall New York 1955.

Padelford, N. J. and George A. Lincon, *International Politics.*, Macmillan, New York 1954.

Haas, Ernest. B. and Allen S. Whiting, *Dynamics of International Relations.*, McGraw-Hill New York 1956.

Robert Strausz-Hupe and Steffan T. Possony, *International Relations.* McGraw-Hill New York 1954.

Gupta, M. G., *International Relations since 1919.* 3 parts. Chaitanya, Allahabad 1959.

Tandon, M. P., *International Relations*, Allahabad Law Agency Allahabad 1958.

आर० एन० चौधरी—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, फ्रैंक ब्रदर्स, दिल्ली १९५७,

फ्रेडरिक एल. शूमां—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा १९५९.

Dutt, Vidya Prakash, *East Asia 1947—50* (Select documents on Asian Affairs, China, Korea and Japan), Oxford University Press, Bombay, 1958.

The Columbia Lippincourt Gazetteer of the World Columbia University Press, 1952.

Webster's Geographical Dictionary. Merrian Co. Springfield Mass. 1949.

Webster's Biographical Dictionary., Merrian Co. Springfield Mass. 1949.

Bartholomew, John, *The Advanced Atlas of Modern Geography*, McGraw-Hill 1950.

Collier's World Atlas and Gazetteer., Collier New York 1957.

Hammond's Standard World Atlas., Hammonel New York 1956.

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित १५ वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५ नये पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

14 SEP 1965 U.94/43	26 AUG 1969 K12/36	
31 OCT 1966 S/358/44	11 AUG 1970 K1/46	
21 DEC 1968 S/227/53		
20 MAY 1969 K.209/289		

६९/२९२